CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिन्दी
विश्व-भारती

ज्ञान विज्ञान का प्रामाणिक कोश

हिन्दी
विश्व-भारती

: ज्ञान-विज्ञान का प्रामाणिक कोश :

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिन्दी
विश्व-भारती

ज्ञान-विज्ञान का प्रामाणिक कोश

भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित
हिन्दी के सुप्रसिद्ध ज्ञानकोश का
संशोधित संस्करण

संपादक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

खंड
४

हिन्दी विश्व-भारती
ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की
प्रमुख प्रकाशन-संस्था

कमलाश्रम, चारबाग, लखनऊ-२२६००१

प्रकाशक
राजराजेश्वरप्रसाद
कमलाश्रम, चारबाग, लखनऊ

4630

नवीन संशोधित संस्करण

सर्वाधिकार स्वरक्षित

मूल्य
प्रति खंड : चालीस रुपये

State Museum Li
Lucknow

मुद्रक
मुद्रण-कला-मंदिर, लखनऊ,
तथा स्वस्तिक प्रिन्टिङ्ग प्रेस, लखनऊ ।

ग्रंथ-परिचय

अपने जन्म के ३६ वर्ष बाद, 'हिन्दी विश्व-भारती' का यह पुनर्संस्करण प्रस्तुत करते समय, अब फिर से नए सिरे से उसका परिचय देने की वैसे तो कोई आवश्यकता नहीं है, कारण देश में ऐसी कोई भी हिन्दी की शिक्षण-संस्था अथवा पुस्तकालय नहीं है, जिनके लिए यह प्रकाशन आज एक अपरिचित या अज्ञात वस्तु हो। परन्तु चूँकि केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के आदेशानुसार उसके नवीन स्वरूप का निर्माण करते समय ग्रंथ की मूल रूपरेखा और व्यवस्था में बहुत-कुछ उलटफेर करना पड़ा है तथा उसकी सजधज आदि में भी एक क्रांतिकारी परिवर्तन का समावेश हुआ है, अतः उसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

सबसे पहले तो हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि पठन-सामग्री एवं उपादेयता के नाते यह ग्रंथ एक 'एनसाइक्लोपीडिया' (या विश्वकोश) की कोटि में निर्विवादतः परिगणित हो सकता है, तथापि इसे एक 'ज्ञानकोश' कहकर पुकारना हमने कहीं अधिक उपयुक्त समझा है; कारण, यह अकारादि क्रम से निर्मित कोई निर्देश-ग्रंथ नहीं है, जैसा कि आम तौर पर लोग 'एनसाइक्लोपीडिया' (या ज्ञानकोश) का अर्थ लगाते हैं। वस्तुतः इसका प्रयोजन एक सर्वतोमुखी शिक्षक की पूर्ति करना है – उस शिक्षक की नहीं, जो विद्यालय की चहारदीवारी के घरौंदे में अपने को सीमित रखते हुए, निरी टकसाली पाठ्यपुस्तकों की जानकारी करा देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठे, प्रत्युत एक ऐसे जीवन-पथप्रदर्शक की, जो मानव-जीवन के विकास से सम्बन्धित समस्त पहलुओं का ज्ञान कराकर हमारी बहुमुखी उन्नति में सहायक बन सके।

इसी अभिप्राय से 'हिन्दी विश्व-भारती' के इस संस्करण का नियोजन और निर्माण उसे एक विशिष्ट साँचे में ढालकर किया गया है। इसके आगे सूचित १६ भाग हैं, जिनके अंतर्गत दी जानेवाली पाठ्य-सामग्री का संकलन इस प्रकार किया गया है कि पहले अधिक सरल, रुचिकर एवं बोधगम्य विषय पाठकों के सामने आएँ, तदनंतर क्रमशः अधिक गम्भीर विषयों के साथ उनका साक्षात्कार हो। यही नहीं, एक ही विषय या विभाग की सामग्री पाठक के लिए बोझिल न बन जाय, इस उद्देश्य से उसे कई अंशों में विभक्त करके अलग-अलग खंडों में बिखेर दिया गया है – इस बात का ध्यान रखते हुए कि उसका नैसर्गिक तारतम्य टूटने या बिगड़ने न पाए।

: 'हिन्दी विश्व-भारती' के विविध विभाग :

१. **विशाल मानव परिवार**—पृथ्वी के विभिन्न भूभागों में बिखरे हुए मानव-जाति के विशाल परिवार की विविध शाखाओं का परिचय । **(नृतत्व-शास्त्र)**

२. **प्रकृति पर विजय**—मनुष्य ने पहले-पहल औजार बनाना सीखा, तब से वायुयान, रेडियो, टेलीविजन और कृत्रिम उपग्रहों के निर्माण के इस युग तक मनुष्य द्वारा प्रकृति पर विजय पाने की अमर गाथा । **(आविष्कार, अनुसंधान, आदि)**

३. **विश्व की झाँकी**—दृश्य जगत् के अनन्त रूप—सर्वव्यापक आकाश—के अंचल में बिखरे हुए कोटि-कोटि नक्षत्रों, नीहारिकाओं एवं ग्रहों-उपग्रहों की कहानी । **(ज्योतिष)**

४. **जन्तु-जगत्**—भाँति-भाँति के रंग-रूप और विविध प्रकार के रहन-सहनवाले अनगिनत प्राणियों की अद्भुत जीवनलीला का मनोरंजक विवरण । **(जीव-विज्ञान)**

५. **मनुष्य की युगयात्रा**—संगी-साथी जानवरों को पीछे छोड़ता हुआ मनुष्य जिस दिन जंगलों से बाहर निकला था, तब से आज तक की उसकी विकास-यात्रा की गौरव गाथा । **(विकासवाद, इतिहास, आदि)**

६. **हमारी क्रीड़ाभूमि पृथ्वी**—जिस पर अपने जीवन का खेल रचकर हम इस ब्रह्माण्ड की यात्रा कर रहे हैं, उस धरती की भौतिक और भौगोलिक रूपरेखा का परिचय । **(भूविज्ञान और भूगोल)**

७. **वनस्पति-संसार**—जिनके बिना हमारी यह धरती एक विशाल मरुप्रदेश जैसी होती और किसी भी प्राणी का उस पर पैदा होना या जीवित रहना असंभव होता, उन अचरजभरे पेड़-पौधों की कहानी । **(वनस्पति-विज्ञान)**

८. **महापुरुष**—मनुष्य जाति के उन महान् प्रकाशस्तम्भों का परिचय, जो अपनी ज्योति द्वारा युग-युग तक हमारे अंधकारमय पथ को आलोकित कर संसार का पथ-निर्दशन करते रहेंगे । **(जीवन-चरित्र)**

९. **द्रव्य-जगत्**—उन तत्त्वों और प्राकृतिक शक्तियों की कहानी, जिनसे विश्व के भौतिक कलेवर की रचना हुई है, तथा जिनके समवाय से इस सृष्टि का संचालन होता है । **(भौतिक और रसायन विज्ञान)**

१०. **मानव-शरीर**—जीव-जगत् के एक सदस्य के नाते मनुष्य के स्थूल भौतिक कलेवर की रचना एवं क्रिया-प्रक्रियाओं का अध्ययन । **(शरीर-शास्त्र)**

११. **कला**—शिल्प, संगीत और नृत्य आदि के रूप में अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती हुई चिरंतन मानवीय पिपासा और उसके फलस्वरूप उपजी अद्भुत भावसृष्टि की कहानी । **(चित्रकला, शिल्प, संगीत, आदि)**

१२. **भारतभूमि**—अपनी मातृभूमि की भौतिक रूपरेखा और सांस्कृतिक विरासत की झाँकी । **(भारत-दर्शन)**

१३. **समाज**—मनुष्य-जीवन के सामुहिक स्वरूप और उससे उत्पन्न आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं का विवेचन । **(समाज-विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र)**

१४. **साहित्य**—दृश्य जगत् का अनुभव-ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ विचारों और भावनाओं के कल्पनालोक में अनुभूत भावों को भाँति-भाँति के प्रबन्ध-जाल में बुनकर अक्षरबद्ध अथवा छंदोबद्ध करने का जो प्रयास मानव मस्तिष्क द्वारा किया गया है, इसकी रोचक कहानी । **(विश्व-साहित्य)**

१५. **मनोविज्ञान**—जिसकी बदौलत उन्नति की दौड़ में अन्य जीवधारियों को पीछे छोड़कर मनुष्य कहाँ से कहाँ उठ गया है, उसकी उस अद्भुत संपत्ति 'मस्तिष्क' या 'मन' की रहस्यमयी क्रिया-प्रक्रियाओं का परिचय । **(मनोविज्ञान)**

१६. **सत्य की खोज**—एक अद्भुत पहेली की तरह हजारों वर्षों से मनुष्य की बुद्धि को उलझन में डाले हुए इस अचरजभरे सृष्टि-प्रपंच के रहस्यों के संबंध में संचित तत्व-ज्ञान का विवेचन । **(दर्शन तथा अध्यात्म)**

लेखक-मंडल

डॉ० गोरखप्रसाद, डी०एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, आचार्य, गणित-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, डी० एस-सी० (लंदन), अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय; तदनंतर उप-कुलपति, सागर-विश्वविद्यालय ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पी-एच०डी०, डी० लिट्, अध्यक्ष, प्राच्यविद्या - विभाग काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय ।

श्री वीरेश्वर सेन, एम० ए०, वाइस-प्रिंसिपल, राजकीय कला-महाविद्यालय एवं तदनंतर डायरेक्टर, डिजाइन सेंटर, लखनऊ ।

डॉ० शिवकण्ठ पांडे, डी० एस-सी०, आचार्य, वनस्पति-विज्ञान-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम०एस-सी० एल-एल० बी०, आचार्य, भौतिक विज्ञान, धर्मसमाज-कॉलेज, अलीगढ़ ।

श्री श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०,प्राध्यापक, जीवविज्ञान-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

श्री मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, प्रिंसिपाल, कान्यकुञ्ज कॉलेज, लखनऊ ।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य, इतिहास-विभाग, विक्रम-विश्वविद्यालय ।

डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० सत्यनारायण, पी-एच० डी० (हाइडेलबर्ग), प्रख्यात लेखक, पत्रकार एवं भू० संसद सदस्य ।

श्री रामनिहोर चतुर्वेदी,एम० ए०,एल०टी०, प्रिंसिपाल, महात्मा गांधी विद्यालय, बछरावाँ (रायबरेली)

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० शंकरलाल यादव, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी - विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० जे० एन० राय, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, वनस्पति-विज्ञान विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० सी० एस० अवस्थी, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय ।

श्री रामनारायण कपूर, बी० एस-सी०, मेटलार्जिस्ट, इंडियन आयर्न एण्ड स्टील कं०, पश्चिमी बंगाल ।

श्री हरीश चन्द्र निगम, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, जीव-विज्ञान-विभाग, क्रिश्चियन-कॉलेज, लखनऊ ।

श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न, अतिरिक्त जिला जज, मध्य प्रदेश ।

श्री तिलकसिंह परमार, एम०ए०, साहित्य-रत्न, भूतपूर्व संपादक, 'पांचजन्य' ।

श्री चन्द्रोदय दीक्षित, एल-एल० एम०, संपादकीय विभाग, 'पायनियर' लखनऊ ।

श्री रामकृष्ण अवस्थी, एम० ए०, संपादकीय विभाग, 'नेशनल हेराल्ड,' लखनऊ ।

श्री शिवप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, बी०एड०, प्राध्यापक, महात्मा गांधी महाविद्यालय, बछरावाँ ।

श्री रमेशदत्त मिश्र, एम० ए०, दर्शन-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

श्री भुवनेश्वर, लेखक एवं नाटककार ।

श्री नीलकण्ठ तिवारी, एम० ए०, कवि एवं गीतकार ।

श्री ब्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ ।

श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र, 'अरुण', लेखक एवं पत्रकार, लखनऊ ।

श्री रमाकान्त शास्त्री, भूतपूर्व संपादक, 'संघर्ष', लखनऊ ।

श्री सदाशिव शुक्ल, बी० ए०, अध्यापक, मंसादीन शुक्ल इन्टर कॉलेज, लखनऊ ।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, प्राध्यापक, आई० टी कॉलेज, लखनऊ ।

श्री गोविन्दनारायण नातू, एम० म्यु०, प्रिंसिपाल, भातखण्डे संगीत-महाविद्यालय, लखनऊ ।

श्री एम० एस० कल्याणपुरकर, नृत्य-निपुण, अध्यक्ष, नृत्य-विभाग, भातखण्डे संगीत-महाविद्यालय, लखनऊ ।

श्रीमती वंण्डी वोहरा ।

विषयानुक्रम

: जन्तु-जगत् :

सब से ऊँची कक्षा के जीव--(१) भाँति-भाँति के स्तनपोषी : [श्री श्रीचरण वर्मा]

नाना प्रकार के स्तनपोषी और उनकी विशेषताएँ—भोजन और दाँत का सम्बन्ध—स्तनपोषित वर्ग के मुख्य समूह—अंडे देनेवाले विचित्र स्तनपोषी—बतखचोंचा या प्लेटीपस—काँटेवाला चींटाहारी एकिडना—थैलीवाले स्तनपोषी :: मार्सूपियल्स—कँगारू—ओपौसुम—कृन्तक दन्तविहीन स्तनपोषी :: स्लॉथ, चीटाहारी, आर्मेडिल्लो, पैंगोलिन, आदि--स्लॉथ, जिसकी सारी दुनिया ही उल्टी है—साल या पैंगोलिन—कीटाणुभक्षी स्तनपोषी—उड़नेवाला कीटाणुभक्षी :: कोबीगो—छछूँदर—झाऊचूहा—कुतरनेवाले जीव या रोडेन्ट्स—कुतरनेवाले जन्तुओं में सब से अधिक हानिकारी चूहे हैं—उड़नेवाली गिलहरियाँ—कुतरनेवालों में सब से बड़ा और चतुर जंतु :: बीवर--उड़नेवाले स्तनपोषी :: चमगादड़—खुरवाले शाकाहारी स्तनपोषी :: अंगुलेटा—स्थल का सब से भारी जन्तु :: हाथी—दरियाई घोड़ा (हिप्पोपोटेमस) और गैंडा—संसार का सब से ऊँचा प्राणी :: जिराफ—मनुष्य द्वारा पालतू बना लिए गए भाँति-भाँति के उपयोगी स्तनपोषी—स्तनपोषी इन चार मुख्य रीतियों से हमारी सेवा करते हैं—भोजन-सामग्री देनेवाले जीव—खाल, ऊन और बाल देनेवाले जानवर—बोझा ढोनेवाले पशु—स्तनपोषियों का मांसाहाही वर्ग :: 'कार्नीवोरा'—जंगल का राजा :: सिंह—पृथ्वी का सब से बड़ा और भारी जीव :: ह्वेल।

पृ० १२१९-१२४८

सब से ऊँची कक्षा के जीव--(२) मानवसम स्तनपोषी : [श्री श्रीचरण वर्मा]

वनमानुष—सब से बड़ा वनमानुष :: गोरिल्ला—गोरिल्ला की शक्ति—गोरिल्ला का सुखी पारिवारिक जीवन—सब से बुद्धिमान् वनमानुष :: शिम्पैंजी—शिम्पैंजी का घर और उनका रहन-सहन—शिम्पैंजी की समझ—एशिया का सब से बड़ा वनमानुष :: औरंग-उटाँग—औरंग का बुद्धि-बल :: पिंजड़े से छुटकारा पाना—सब से छोटा वनमानुष :: गिव्बन, जो छलाँग मारकर वृक्षों पर कूदता फिरता है—गिव्बन की विवेक-शक्ति—बबून और मैन्ड्रिल—नर मैन्ड्रिल का चित्र-विचित्र शृंगार मादाओं को मोहित कर लेता है—नई और पुरानी दुनिया के बन्दर—अर्द्ध-वानर :: प्रधानभागीय कक्षा का निम्नतम वर्ग।

पृ० १२४९-१२५८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पक्षियों का संसार--(१) भाँति-भाँति के उपयोगी पक्षी : [श्री श्रीचरण वर्मा]

उन पर कवि और कलाकार दोनों ही लट्टू हैं—पक्षियों की उपयोगिता—उपयोगी पक्षियों के विभिन्न समूह—कीड़े-मकोड़े खानेवाले पक्षी—घासपात के बीज खानेवाले पक्षी—वे पक्षी, जो चूहे आदि नन्हें जीवों का भक्षण करते हैं—वे पक्षी, जो शिकार के काम में आते हैं—वे पक्षी, जो मेहतर का काम करते हैं—वे पक्षी, जो संदेशवाहक का काम करते हैं।

पृ० १२५९-१२६३

पक्षियों का संसार--(२) सब से बड़े पक्षी, जो उड़ने में असमर्थ है : [श्री श्रीचरण वर्मा]

मानवाकृतिवाले पेन्गुइन--जमीन पर दौड़नेवाले पक्षी--कैसोवरी और ऐमू—अफ्रीका और अमेरिका के शुतुर्मुर्ग—शुतुर्मुर्ग-फार्म—अद्‌भुत प्रणयलीला—डेढ़-डेढ़ सेर के अण्डे—मोआ, डोडो और रॉक।

पृ० १२६४-१२७१

पक्षियों का संसार--(३) सब से सुन्दर और सब से भौंडे पखेरू : [श्री श्रीचरण वर्मा]

'उड़ते हुए पुष्प' या 'सजीव रत्न'—'स्वर्ग के पक्षी'—पक्षी-जगत् के कतिपय सब से भौंडे सदस्य—हार्नबिल या धनेश—हार्नबिल की अद्‌भुत निर्माण-कला—टूकन—एडजूटण्ट स्टार्क या लगलग—एक अद्‌भुत पक्षी :: होत्जिन—पक्षी-संसार का एक अनूठा सदस्य :: 'पेलिकन'—बक और बुज्जा परिवार के अनोखे सदस्य।

पृ० १२७२-१२७८

पक्षियों का संसार--(४) हमारे देश के पक्षी : [श्री श्रीचरण वर्मा]

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ अत्यन्त सुन्दर नमूने :: मोर और उनकी जाति के पक्षी—फ्लेमिंगो या हंसावर—सारस—हुदहुद और नीलकंठ—मछमरनी और कौड़िल्ला—पीलक और पतेने—कठफोड़ और शकरखोर—गलीज चीजें खानेवाले कुरूप पक्षी—गिद्ध और चील—उकाब और बाज—उकाब, जो भेड़ों तक को उठा ले जाते हैं—विविध जाति के उल्लू—साधारण कौआ—मदमाती किन्तु आलसी कोयल—कोयल के नवजात बच्चे की करतूत—पपीहा (चातक)—भारत के सब से बुद्धिमान् पक्षी :: तोते और उनके भाई-बन्धु—पक्षी-संसार का सब से कुशल कारीगर :: बया—हंस—गानेवाले पक्षी।

पृ० १२७९-१२९६

पक्षियों का संसार--(५) पखेरुओं की अद्‌भुत जीवन-लीला : [श्री श्रीचरण वर्मा]

अंडों की विशिष्ट आकृति और रंग का रहस्य—चिड़ियों के बच्चों की प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा—पक्षियों की अद्‌भुत गृह-निर्माण-कला।

पृ० १२९७-१३०१

उरंगमों की दुनिया--(१) करोड़ों वर्ष पूर्व के उरंगम : [श्री श्रीचरण वर्मा]

ठंडे रक्तवाले प्राणी—उरंगमों की पहचान—जिस समय उरंगम पृथ्वी पर राज्य करते थे—धरती पर शासन करनेवाले उरंगम—आसमान पर शासन करनेवाले उरंगम—महासागरों पर शासन करनेवाले उरंगम—वर्तमान उरंगम।

पृ० १३०२-१३०६

उरंगमों की दुनिया--(२) मगर और कछुए : [श्री श्रीचरण वर्मा]

घड़ियाल और नाक—मगर और मनुष्य का युद्ध—क्या मगर पत्थर निगलता-उगलता है—कछुए और कूर्म—भाँति-भाँति के कूर्म—मछली का शिकार करनेवाला अनोखा कूर्म—स्थलचर कच्छप या 'कमठ'—सब से बड़े कमठ—कीचड़ में रहनेवाले कछुए।

पृ० १३०७-१३१४

उरंगमों की दुनिया--(३) विषैले तथा विषहीन सर्प : [श्री श्रीचरण वर्मा]

सर्प से भय—सर्प की शरीर-रचना—साँप बिना हाथ-पैर के कैसे चलता है—स्वभाव और गुण-धर्म—सर्पों के वर्ग, वंश, लक्षण तथा निवास-क्षेत्र—नाना प्रकार के सर्प—छोटे अंधे सर्प—विशालकाय सर्प :: अजगर—पाइथन—बोआ—एनाकोण्डा—बिना विषदंत के अन्य सर्प—सर्पों में विष-संचार की व्यवस्था—पीछे की ओर विषैले दाँत-वाले सर्प—अग्रविषदन्तधारी सर्प :: नागराज या शेषनाग—फनवाला गेहुअन नाग—करैत—विष थकनेवाले भयानक सर्प—मणि जैसे सुन्दर विषधर—'उड़नेवाले सर्प'--विषैले और विषहीन सर्पों के पहचानने की रीति।

पृ० १३१५-१३३१

उरंगमों की दुनिया--(४) छिपकलियाँ, गिरगिट, गोह, आदि : [श्री श्रीचरण वर्मा]

छिपकलियों के लक्षण—सब से प्राचीन छिपकली :: 'टुआटेरा'—रंग बदलनेवाली छिपकली :: कैमीलियन—घरेलू छिपकलियाँ—उड़नेवाली छिपकली—झालरदार छिपकलियाँ—नई दुनिया की अनोखी छिपकलियाँ—विषैली छिपकलियाँ—बिना पैरवाली छिपकलियाँ—काँच-सर्प—बृहदाकार छिपकलियाँ—बिसखोपरा और गोह—संसार की सब से बड़ी गोह :: 'कमोडो ड्रेगन'।

पृ० १३३२-१३४४

: विशाल मानव परिवार :

अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियाँ--(१) नीग्रो और अर्द्ध-नीग्रो : [श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण']

अफ्रीका की आदिम जातियों का वर्गीकरण—नीग्रो जाति के लक्षण—वस्त्र और आभूषण—शृंगार-प्रसाधन :: गोदना आदि—अस्त्र-शस्त्र—झोपड़े और मकान—आहार—समाज-संगठन—जातीय गुण और प्रतिभा—धार्मिक विश्वास—उन्नति की ओर।

पृ० १३४७-१३५३

अफ्रीका कीं कृष्णवर्ण जातियाँ--(२) अबीसीनिया के दानाकिल : [डॉ० सत्यनारायण]

भयावनी प्राकृतिक पृष्ठभूमि—जीवित प्रेत—घर-बार और सम्पत्ति—पानी के लिए संघर्ष—धूर्तता और कपट में ये किसी से कम नहीं हैं।

पृ० १३५४-१३५७

अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियाँ--(३) दक्षिणी अफ्रीका के जुलू : [श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण']

दिनचर्य्या का आरम्भ--दिन के कार्यक्रम की योजना—प्रातःकालीन भोजन--काम-धंदे का आरम्भ—दिन भर के श्रम के बाद वापस घर की ओर—रात्रि का भोजन और खेल-कूद एवं नृत्य—जुलू-प्रदेश—जुलू-जाति का आदि इतिहास—पराक्रमी सूरमा—कृष्णवर्ण अफ्रीकी जातियों में सब से सभ्य--धार्मिक विश्वास और रस्में—जुलू बस्ती या 'क्राल'—व्यवहार और रीति-रिवाज—उद्योग-धंदे—विवाह और उत्तराधिकार संबंधी रिवाज—स्यानों का आतंक—'सभ्यता' का घातक संपर्क।

पृ० १३५८-१३६८

अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियाँ--(४) सूदान के बाशिन्दे : [डॉ सत्यनारायण]

मरुभूमि और दलदलों का देश—उत्तरी सूदान के बाशिन्दे—दक्षिणी सूदान के निवासी—नूबियन जाति के लोग—'बर्बर' जाति के लोग—मिश्रित जातियों का अनूठा अजायबघर।

पृ० १३६९-१३७५

दक्षिणी-पूर्वी अंचल की कुछ जातियाँ—मलय, सेमांग, सकाई, वेद्दा, मावरी आदि : [श्री 'अरुण']

'मलय' जाति के लोग—सेमांग—सकाई—सकाई लोगों के अनोखे रीति-रिवाज—वेद्दा—फारमोसा के आदिवासी—न्यूजीलैण्ड के मावरी।

पृ० १३७६-१३८९

उत्तरी और मध्य एशिया के खानाबदोश—समूदी, ऑस्तिआक, किरगीज और कज्जाक : [श्री 'अरुण']

समूदी—आकृति और पहनावा, आदि—जातीय गुण और मान्यताएँ—रहन-सहन, काम-धंदा, आदि--प्रथाएँ—ऑस्तिआक—ऑस्तिआकों के कुत्ते—रहन-सहन, आहार, वेशभूषा, आदि--धार्मिक विश्वास :: 'शमन' ओझा—वैवाहिक रस्में—किरगीज :: मध्य एशिया के प्रसिद्ध अश्वारोही—किरगीज लोगों की आवासभूमि—जन्मजात अश्वारोही—आकृति, डीलडौल और वेषभूषा—कज्जाक—महान् घुड़सवार—नवयुग का आरंभ।

पृ० १३९०-१४०४

: साहित्य :

साहित्य का प्रादुर्भाव क्यों और कैसे हुआ : [श्री व्रजमोहन तिवारी]

दो प्रकार की दृष्टि :: बाह्य और आन्तरिक—अंतर्दर्शन ही साहित्य का मूल स्रोत—अक्षरों की महिमा और साहित्य के प्रचार में मुद्रण-कला का योग--साहित्य और संस्कृति।

पृ० १४०७-१४१०

भाषा का उद्भव और विकास :

[श्री ब्रजमोहन तिवारी]

शब्दों का विकास—भाषा का आदि स्रोत—भाषाओं का वर्गीकरण :: उनके विविध परिवार—इंडो-योरपियन परिवार—काकेशन परिवार—चीनी परिवार—यूराल-अल्ताई परिवार—सैमिटिक परिवार—द्रविड़-परिवार—वास्क तथा सुमेरियन भाषाएँ—अफ्रीकी, अमेरिकन और प्रशान्त महासागरीय परिवार।

पृ० १४११-१४१४

मानव ने लिखना कैसे सीखा—(१) विविध वर्णमालाओं का विकास :

[श्री ब्रजमोहन तिवारी]

वर्णमाला की आवश्यकता और महत्व—ध्वनि-बोधक और भाव-बोधक चिह्न—प्राचीन चित्र-लिपि के प्रमुख पाँच रूप—अमेरिका के आदिवासियों के भाव-बोधक चित्र—ध्वनि-बोधक चित्र—चीनी चित्र-लिपि—जापानी लिपि—क्यूनीफार्म लिपि का आविर्भाव—मिस्री चित्र-लिपि का विकास—वर्णाक्षरों का प्रादुर्भाव—रूजे की महत्वपूर्ण खोज—सैमिटिक वर्णमाला के विविध रूप—तीन प्रधान शाखाएँ—मोआवाइट प्रस्तर—अरामियन लिपि का प्रचार—दक्षिणी सैमिटिक या ईथियोपिक—यूनान की वर्णमाला—अबू सिम्बेल के अभिलेख—अरामियन, फ्रीजियन, कारियन, लीसियन, सिप्रिओट, आदि—इटालिक वर्णमालाएँ—'बृहत्', 'अनवरुद्ध' और 'अंसियल लिपियाँ'—विभिन्न जातीय लिपियाँ—रूसी वर्णाक्षर—रूनिक और औघेम लिपि—ईरानी वर्णमाला का विकास—अरामियन ही से ईरानी वर्णमालाएँ निकलीं—ईरानी वर्णाक्षरों की चार शाखाएँ—पैह्लवी वर्णमाला—पैह्लवी के विविध रूप—जैन्द या पारसी लिपि—ईरानी लिपि में अशोक का महत्वपूर्ण अभिलेख—आर्मीनियन और जार्जियन वर्णमालाएँ।

पृ० १४१५-१४३८

मानव ने लिखना कैसे सीखा—(२) भारतीय लिपियों का विकास :

[श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी]

भारतीय वर्णाक्षर भारतीय मस्तिष्क की ही उपज हैं—खोज-संबंधी अड़चनें—प्राचीन भारत में लेखन-कला—ब्राह्मी और खरोष्ठी—पाश्चात्य विद्वानों का भ्रमपूर्ण मत—खरोष्ठी लिपि—ब्राह्मी की शाखाएँ।

पृ० १४३९-१४४५

संस्कृत-वाङ्मय—(१) देवभाषा संस्कृत का बृहत् साम्राज्य :

[श्री भगवतशरण उपाध्याय]

संस्कृत का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है—मातृसंस्कृत अथवा पूर्वप्राकृत—संस्कृत के विविध युग—संस्कृत और प्राकृत—संस्कृत 'शिष्ट' जनों की ही बोली थी—संस्कृत आर्य वाङ्मय का मेरुदण्ड है—संस्कृत-वर्णमाला और देवनागरी—ब्राह्मी लिपि—प्राकृत और अपभ्रंश।

पृ० १४४६-१४५१

[श्री भगवतशरण उपाध्याय]

संस्कृत-वाङ्मय—(२) वैदिक संहिताएँ :

ऋग्वैदिक गायक—वैदिक साहित्य के तीन खण्ड—संहिताएँ—ऋग्वेद-संहिता—अनुक्रमणियाँ—ऋचाओं की प्राचीनता—मंत्रों की दुरूहता—ऋग्वैदिक मंत्रों का निर्माण क्योंकर हुआ—वैदिक देवता—ऋत का देवता :: वरुण—आर्यों का महान् राष्ट्रीय देवता :: इन्द्र—यज्ञ का आधार :: अग्नि—ज्योतिर्वसना उषा, जिसकी प्रशस्ति में वैदिक काव्यधारा उमड़ पड़ती है—महिला ऋषि—आख्यायिकाएँ—सामवेद—कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद—वाजसनेयि-संहिता—अथर्ववेद।

पृ० १४५२-१४६०

संस्कृत-वाङ्मय--(३) वेदों का काल-निर्णय : [श्री भगवतशरण उपाध्याय]

वेदों की तिथि को कल्पनातीत पूर्वकाल तक ले जाने के प्रयास में अड़चनें—लोकमान्य तिलक और जैकोबी का मत—मैक्समूलर और विन्टरनित्स की मान्यताएँ—वोगजकोई से प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्री की गवाही—पुराणों का ऐतिह्य—आर्यों का दक्षिण-प्रसार—संस्कृत-साहित्य के विकासक्रम की साक्षी—सिन्धु-काँठे की पुरातत्त्व-सामग्री की गवाही।

पृ० १४६१-१४६६

संस्कृत-वाङ्मय--(४) ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् : [श्री भगवतशरण उपाध्याय]

'ब्राह्मण' क्या हैं—मुख्य-मुख्य 'ब्राह्मण'—'ब्राह्मणों' का काल-निर्णय—ब्राह्मण-काल की परिस्थिति—आरण्यक और उपनिषद्—चौदह प्रमुख उपनिषद्—विषयानुसार उपनिषदों का वर्गीकरण—औपनिषदिक चिन्तन की ऊँचाई।

पृ० १४६७-१४७३

संस्कृत-वाङ्मय--(५) वेदाङ्ग और सूत्र-साहित्य : [श्री भगवतशरण उपाध्याय]

वेदाङ्ग—सूत्र-साहित्य—कल्प, गृह्य, श्रौत और धर्म सूत्र—शिक्षा-वेदाङ्ग :: प्रातिशाख्य और अनुक्रमणियाँ—निरुक्त और निघंटु—छन्द और ज्योतिष-वेदाङ्ग—व्याकरण-वेदाङ्ग।

पृ० १४७४-१४७६

संस्कृत-वाङ्मय--(६) इतिहास-पुराण :: रामायण-महाभारत : [श्री भगवतशरण उपाध्याय]

इतिहास-पुराणों की प्राचीनता—'पंचम वेद'—गाथा-नाराशंसी :: वीरगाथाएँ—सूत और कुशीलव—आदिकाव्य रामायण—रामायण का कथानक—रामायण का समय—आदिकवि वाल्मीकि—महाभारत—'जय' महाकाव्य—महाभारत का कथानक—महाभारत के अन्य स्कन्ध—हरिवंश-पुराण—महाभारत का समय—पुराण—पुराणों में वर्णित विषय—अठारह पुराण—तन्त्र-साहित्य—आगम और निगम।

पृ० १४७७-१४८८

संस्कृत-वाङ्मय--(७) कालिदास से पहले का काव्य : [श्री भगवतशरण उपाध्याय]

रामायण-महाभारत का काव्य-रूप—पाणिनि—पतंजलि का युग—प्रशस्ति-काव्य—अश्वघोष—'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित'—अश्वघोष की काव्य-शैली—मातृचेट :: अवदान—'दिव्यावदान'—'जातकमाला' :: आर्यशूर—आर्यशूर की शैली—नागार्जुन, आर्यदेव, आदि—अन्य बौद्ध लेखक—वात्स्यायन का 'कामसूत्र'।

पृ० १४८९-१४९५

संस्कृत-वाङ्मय--(८) कालिदास से पहले का नाटच-साहित्य : [श्री भगवतशरण उपाध्याय]

पुत्तलिका-नाटच—संस्कृत-नाटक की रूपरेखा—रूपक के विभिन्न भाग—प्राचीनतम रूपक—भास—शूद्रक।

पृ० १४९६-१४९९

संस्कृत-वाङ्मय--(९) कविकुलगुरु कालिदास : [श्री भगवतशरण उपाध्याय]

भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग—प्रशस्ति-काव्य :: हरिषेण, वत्सभट्टि, आदि—कालिदास—कालिदास का समय—

कालिदास के ग्रंथ—ऋतुसंहार—मेघदूत—कुमारसंभव—रघुवंश—कालिदास के नाटक—मालविकाग्निमित्र—विक्रमोर्वशीय—अभिज्ञान शाकुन्तल—विचार-संकलन—कालिदास की शैली।

पृ० १५००-१५१३

संस्कृत-वाङ्मय—(१०) उत्तरकालीन काव्य और नाटक :

[श्री भगवतशरण उपाध्याय]

भारवि :: 'किरातार्जुनीय'—भट्टि :: 'रावणवध'—कुमारदास :: 'जानकीहरण'—विशाखदत्त :: 'मुद्राराक्षस'—हर्षवर्द्धन :: 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'नागानन्द'—माघ :: 'शिशुपालवध'—शतक-युग—भर्तृहरि—अमरु—भवभूति—महेन्द्रविक्रम, भट्टनारायण, मुरारी, राजशेखर, आदि—काश्मीर की काव्य-परम्परा—मेण्ठ—भौमक, हलायुध, शिवस्वामी, वासुदेव, रत्नाकर, अभिनन्द, आदि—क्षेमेन्द्र—इतिहासपरक काव्य—'हर्षचरित', 'गौडवहो', 'नवसाहसांकचरित,' 'भुवनाभ्युदय', आदि—बिल्हण :: 'विक्रमांकदेवचरित'—'चौरपंचाशिका'—कल्हण :: 'राजतरङ्गिणी'—'राजतरङ्गिणी' की सामग्री और उसका ऐतिह्य—कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण—'राजतरङ्गिणी' की काव्य-शैली—अन्य ऐतिहासिक काव्य—मंख, जयरथ, लोलिम्बराज, अमरचन्द्र आदि—श्लेषात्मक काव्य :: सन्ध्याकर नन्दी, धनञ्जय, कविराज, हरदत्त, चिदम्बर, वेंकटाध्वरिन्, आदि—श्रीहर्ष :: 'नैषधचरित'—जैन काव्य—जयदेव :: 'गीतगोविन्द'—शृंगारिक कृतियाँ—सुभाषित—धार्मिक स्तोत्र—नीतिपरक काव्य-रचनाएँ—प्राकृत गेय काव्य—संस्कृत-काव्यधारा का अंतिम दौर।

पृ० १५१४-१५४५

संस्कृत-वाङ्मय—(११) गद्य-साहित्य :

[श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा]

आरम्भिक गद्य—प्रशस्ति-लेख—आख्यायिका और कथा-ग्रन्थ—सुबन्धु, दण्डी और बाणभट्ट—सुबन्धु :: 'वासवदत्ता'—बाणभट्ट :: 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी'—दंडी :: 'अवंतिसुन्दरी' और 'दशकुमारचरित'—उत्तरकालीन गद्य।

पृ० १५४६-१५५०

ः मनुष्य की युगयात्रा ः

सभ्यताओं का उदय—(६) असीरिया की सभ्यता :

[डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी]

युद्धरत सैमिटिक-प्रधान जाति—टिगलथ-पिलेसर प्रथम—असुरनासिरपाल, आदि—टिगलथ-पिलेसर चतुर्थ तथा सारगन द्वितीय—सेनाकिरिब—असुरबनिपाल—असीरियन शक्ति का ह्रास और निनवे का विनाश—असीरियन समाज-व्यवस्था—कृषि और व्यापार—घरेलू जीवन—धार्मिक विचार, शिक्षा और साहित्य—कला-कौशल—राजनीतिक विधान—सैनिक संगठन—पतन के कारण।

पृ० १५५३-१५६१

सभ्यताओं का उदय—(७) प्राचीन ईरान की सभ्यता :

[डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी]

शुष्क जलवायु का प्रदेश—एलाम—मीडियन आर्य—हुवक्षत्र—परशियन जाति और उनका राजा कुरश (कोरेश)—कम्बुजिया द्वारा साम्राज्य-विस्तार—महाप्रतापी दारा प्रथम—योरप पर चढ़ाई—यूनान पर आक्रमण :: मराथान

का युद्ध—अक्षयर्ष (जेरक्सीज) :: प्लेटिआ और सलामिस के युद्ध—विद्रोहों का ताँता :: दारा द्वितीय—अरतंक्षयर्ष द्वितीय और तृतीय :: मिस्र-विजय—दारा तृतीय :: अलेक्जैण्डर द्वारा ईरान की विजय—ईरानी सभ्यता :: ईरानी लोगों का रूप और पहनावा, भाषा और आचार-व्यवहार—विवाह-सम्बन्धी रिवाज और स्त्रियों की स्थिति—शिक्षा-दीक्षा—विलासिता की वृद्धि के साथ पतन का आरम्भ—राजनीतिक संगठन—सम्राट् और केन्द्रीय शासन-व्यवस्था—प्रान्तीय शासन-व्यवस्था और 'क्षत्रप'—न्याय और दण्ड-व्यवस्था—सैनिक संगठन—धर्म और देवी-देवता।

पृ० १५६२-१५७६

सभ्यताओं का उदय—(८) प्राचीन ग्रीस :: स्पार्टा और एथेन्स : [डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी]

'हेलास' के उद्भव में भौगोलिक परिस्थिति का हाथ—ईजियन संस्कृति—हेलनीज आए—नगर-राज्यों का उदय—ग्रीक देवी-देवता—सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक गठन—कुलीन-तंत्र :: नगर-राज्यों के चार प्रमुख दल—स्पार्टा :: विविध सामाजिक श्रेणियाँ—लाइकर्गस :: नए विधान और राज्यनियंत्रक समिति का निर्माण—आर्थिक असाम्य को मिटने के लिए क्रान्तिकारी कदम—अपूर्व सामाजिक सुधार—बच्चों की छँटनी :: दुर्बल शिशु का सर्वथा त्याग—शिक्षण-क्रम और युवकों का आदर्श—कठोर संयम का जीवन—सीमित विकास—एथेन्स का नगर-राज्य—कानून-निर्माता ड्रेको और सोलन—एथेन्स के आदर्श स्पार्टा से भिन्न थे—फारस के साथ युद्ध :: एथेन्स की शक्ति का उदय—डीलियन लीग—पेरीक्लीज का युग :: एथेन्स के वैभव की पराकाष्ठा :: 'पेलोपोनेशियन युद्ध'—स्पार्टा द्वारा एथेन्स की स्वतंत्रता का अपहरण—'कॉरिन्थियन युद्ध'—मकदूनिया का उदय :: सिकन्दर या अलेक्जैण्डर।

पृ० १५७७-१५९१

सभ्यताओं का उदय—(९) प्राचीन यूनान की सांस्कृतिक साधना : [श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा]

यूनानी संस्कृति के प्रसार की तीन प्रमुख धाराएँ :: 'एकियन', 'इओलिक' और 'डोरिक'—यूनान पर भारत का बहुमुखी प्रभाव—ग्रीक देवी-देवता—यूनानी कला का स्वर्ण-युग—घरों की रचना और स्त्रियों का जीवन—दास-प्रथा—साहित्य, दर्शन, इतिहास—प्राचीन यूनान के त्रिशिखर :: सुकरात, प्लेटो और अरिस्टॉटल।

पृ० १५९२-१६००

जन्तु जगत्

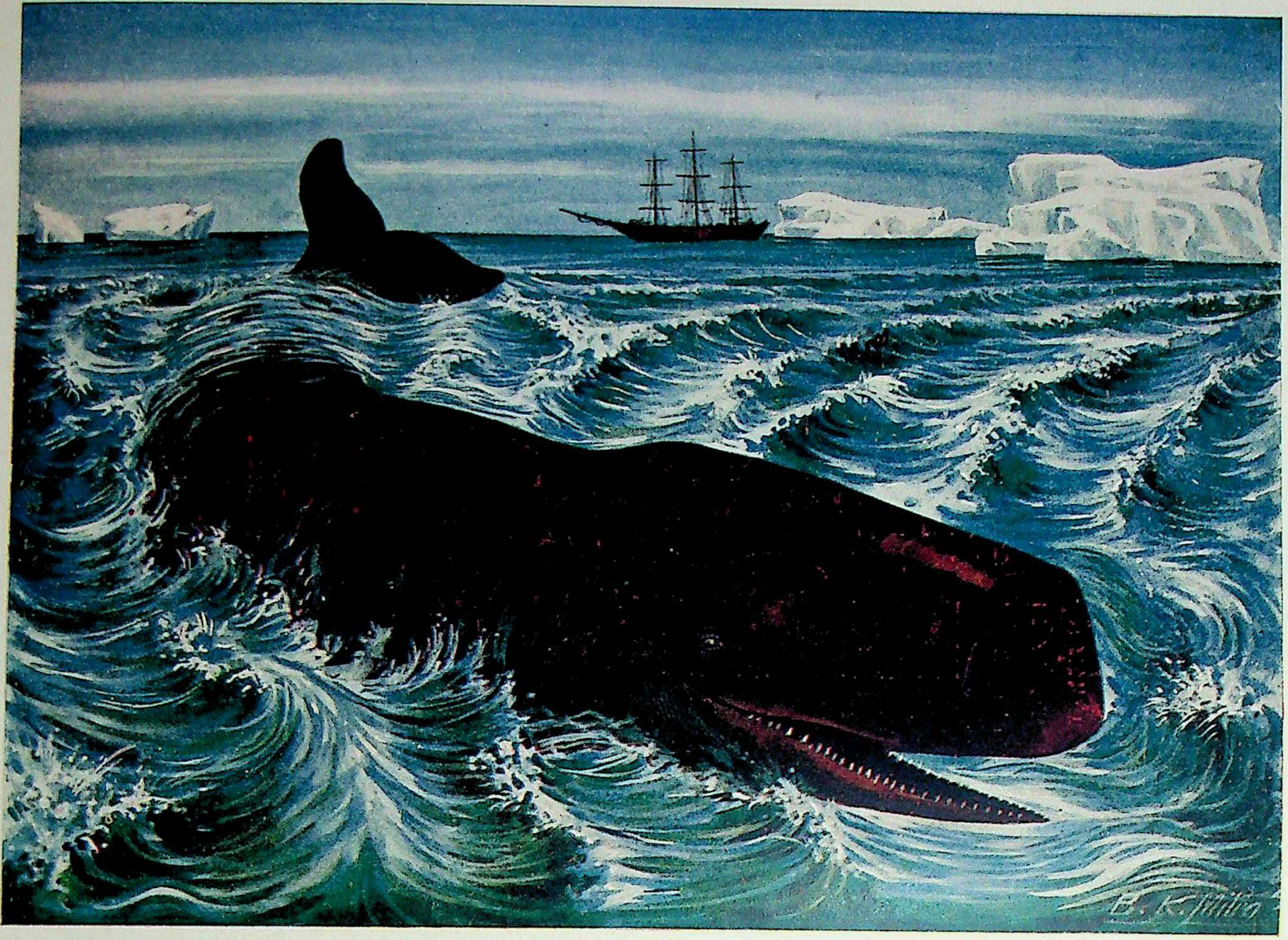

संसार का सब से बड़ा प्राणी :: 'ह्वेल' या 'तिमि'

जो देखने में मत्स्य-जैसा एवं शत-प्रति-शत जलचर होने पर भी वस्तुतः उसी स्तनपोषी समुदाय का सदस्य है, जिसमें हाथी, वानर और मनुष्य जैसे उच्च श्रेणी के जीवधारी सम्मिलित हैं। इस विशालकाय प्राणी की अनेक जातियाँ हैं, जैसे 'रोरक्वाल ह्वेल' या 'नीली तिमि', 'स्पर्म व्हेल' या मोमी तिमि', आदि। प्रस्तुत चित्र में इस प्राणी की 'स्पर्म व्हेल' नामक जाति का एक नमूना दिग्दर्शित है।

सब से ऊँची कक्षा के जीव—(१)

भाँति-भाँति के स्तनपोषी

पिछले एक खंड में इसी विभाग के अंतर्गत ‘जानवरों के मुख्य-मुख्य वर्ग और समुदाय–जन्तु-संसार की वर्तमान झाँकी’ शीर्षक अध्याय में प्रकृति के अद्‌भुत जन्तु-संग्रहालय के विविध जन्तु-परिवारों पर संक्षेप में एक सरसरी नजर हम डाल चुके हैं। आइए, अब विस्तार के साथ प्रत्येक परिवार के मुख्य-मुख्य सदस्यों से परिचय प्राप्त करने का प्रयास करें। इस संबंध में अधिक उन्नत प्राणियों से आरंभ करके क्रमशः निम्नतर श्रेणी की ओर बढ़ना रोचक होगा । अतः हम सब से ऊँची श्रेणी के वर्ग ‘स्तनपोषित समुदाय’ से (जिसका सदस्य होने का सौभाग्य मनुष्य को भी प्राप्त है) अपना यह अध्ययन आरंभ करते हैं।

कौन-सा ऐसा भारतवासी है, जो गाय, घोड़ा, हाथी, कुत्ता, बिल्ली, शेर, चीता, हिरन, बन्दर, खरगोश, छछूँदर, चूहा आदि जीवों को न जानता हो ? किन्तु क्या हममें से सभी लोग इस तथ्य से परिचित हैं कि ये तथा इसी प्रकार के और भी कई एक जीव एक ही विशाल समूह के सदस्य हैं, जिसे प्राणिशास्त्र की शब्दावली में जीवधारियों के ‘स्तनपोषित वर्ग’ की संज्ञा प्रदान की जाती है ? और तो और, स्वयं हम मानव भी इसी विशाल समूह के अन्तर्गत सम्मिलित हैं ! इस समूह के कितने ही जीव ऐसे हैं, जो बड़े ही विचित्र और अद्‌भुत हैं और जिनसे साधारण लोग परिचित नहीं हैं । स्तनधारी समुदाय के ये सभी सदस्य लगभग ७,००० उपजातियों में पृथ्वी पर फैले हुए हैं । इनमें से कुछ चुनी हुई उपजातियों का ही उल्लेख हम यहाँ कर सकते हैं, क्योंकि इन थोड़े-से पृष्ठों में इतनी अधिक जातियों का वर्णन करना नितांत असम्भव है ।

नाना प्रकार के स्तनपोषी और उनकी विशेषताएँ

स्तनपोषियों में इतनी अधिक विचित्रता तथा भिन्नता के पाए जाने का मुख्य कारण यही है कि उनकी रहन-सहन के ढंग बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं । उनमें से अधिकतर स्थल पर निवास करते हैं, परन्तु कुछ वृक्ष पर जीवन बितानेवाले भी हैं, जैसे बन्दर, गिलहरी, स्लॉथ इत्यादि; तथा कुछ वायु में विचरण करनेवाले भी हैं, जैसे चमगादड़, जिनके उड़ने के लिए अंग होते हैं । कुछ गिलहरियाँ ऐसी भी हैं, जो वृक्षों से धीरे-धीरे हवा में फिसलती हुई जमीन पर उतर आती हैं । बहुत-से स्तनपोषी जलवासी भी हैं, जैसे ह्वेल, समुद्री गाय, सूँस, दरियाई घोड़ा (हिप्पोपोटेमस) आदि । कुछ ऐसी उपजातियाँ भी हैं, जो चूहे और छछूदर की तरह करीब-करीब अपनी सारी जिन्दगी धरती के भीतर ही बिता देती हैं, तथा कुछ जीव ऐसे भी हैं, जो अपने जीवन का कुछ समय बाहर तथा कुछ जमीन के भीतर भिटों में गुजारते हैं, जैसे भेड़िया, सेही और चरागाह के कुत्ते सिनोमिस, इत्यादि । बहुतेरे प्राणी ठंडे पहाड़ों और बर्फ पर रहने के आदी हो गए हैं और कुछ को अत्यन्त गरम बालुकामय प्रदेशों में ही रहना अच्छा लगता है ।

नाना प्रकार के ये सब स्तनपोषी जीव अपने शरीर के बालों द्वारा अन्य समूह के जीवों से सहज में ही पृथक् किए जा सकते हैं । इनके मुख्य लक्षण “जानवरों के मुख्य-मुख्य वर्ग और समुदाय—जन्तु-संसार की वर्तमान झाँकी” नामक लेख में हम आपको पहले ही बतला चुके हैं । यहाँ हम इतनी ही याद दिला देना चाहते हैं कि इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि इन सब में मादाओं के स्तन होते हैं, जिनके द्वारा दूध

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पिलाकर वे अपने बच्चों का पालन करते हैं। इनकी एक विशेषता यह भी है कि इनमें एक कक्षा के जीवों के अतिरिक्त सभी के जरायु से बच्चे पैदा होते हैं, अण्डे द्वारा नहीं। किसी-किसी के शरीर पर बालों की जगह सेही और एकिडना की भाँति मोटे-मोटे काँटे होते हैं। किसी के शरीर पर कड़े छिलके की तहें या सिन्ने जैसे मोटे पर्त चढ़े रहते हैं, यथा साल या पैंगोलिन तथा आर्मेडिलो के बदन पर। ये कड़े काँटे और पर्त भी उन्हीं पदार्थों के बने होते हैं, जिनसे बाल बनते हैं। शत्रुओं से सुरक्षित रहने के लिए और उनसे युद्ध करने के लिए इस वर्ग के जीवों में नाना प्रकार के साधन देखने में आते हैं। दाँत, नख, सींग और खुर आदि इसी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र हैं। गैंडे के शृंग तथा ढोरों के सींग के ऊपर चढ़ा रहनेवाला खोल खुर और नख की तरह चर्म की ऊपरी तह से ही बनता है। बहुत से जानवरों के सींग हड्डियों के भी बने होते हैं। साधारण मवेशियों के सींग में भी बीच का भाग हड्डी का ही होता है। हिरन की तरह के कुछ जीवों के सींग हर साल गिर जाते हैं और उनकी जगह नए सींग आ जाते हैं; परन्तु भेड़, बकरी और गाय में साधारणतया आजीवन एक ही जोड़ा सींग बना रहता है। इस समूह की बहुत-सी उपजातियों में सींग केवल नरों के ही होते हैं, मादा के नहीं।

भोजन और दाँत का सम्बन्ध

स्तनधारियों के दाँत उनकी महत्वपूर्ण सम्पत्तियों में से हैं, जो भिन्न-भिन्न उपजातियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं और जिनसे पता चलता है कि वे किस प्रकार का भोजन करते हैं। अधिकतर स्तनधारी दाँतवाले होते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिनके दाँत बिल्कुल ही नहीं होते। कुछ ऐसे हैं, जिनमें युवावस्था में दाँत नहीं पाये जाते, जैसे बिना बालवाली ह्वेल और अंडे देनेवाले एकछिद्रीय स्तनपोषी 'प्लेटीपस' एवं लम्बी चोंच का चींटी खानेवाला जानवर 'आर्डवार्क'। आम तौर से इन पशुओं में चार प्रकार के दाँत होते हैं:—(१) सामने की ओर छेनी जैसे तेज कुतरनेवाले कृन्तक दंत; (२) उनके इधर-उधर एक-एक नोकीला रदनक दाँत या कीलें; (३) कीलों के पीछे गालों में अगले चबानेवाले दाँत, जिन्हें अग्र-चर्वणक या दूध-डाढ़ें भी कहते हैं; (४) सब से पीछे असली डाढ़ें या मुख्य चबानेवाले दाँत। अधिकांश स्तनधारियों में बचपन में निकलनेवाले दाँत—जो दूध के दाँत कहलाते हैं—गिर जाते हैं और उनकी जगह स्थाई दाँत निकल आते हैं।

दाँतों की रचना और जन्तु की आहार-संबंधी आदतों में गहरा संबंध है। स्तनपोषियों में हमें विशेष रूप से इस बात का परिचय मिलता है। इस समुदाय के सभी जानवरों के दाँत समान नहीं होते। जिसका जैसा आहार है, उसके ही अनुरूप उसके दाँत होते हैं। उदाहरणार्थ, ह्वेल और सूँस से मिलते-जुलते एक समुद्री जलजीव 'डालफिन' में, जो विशेषकर मछलियाँ ही

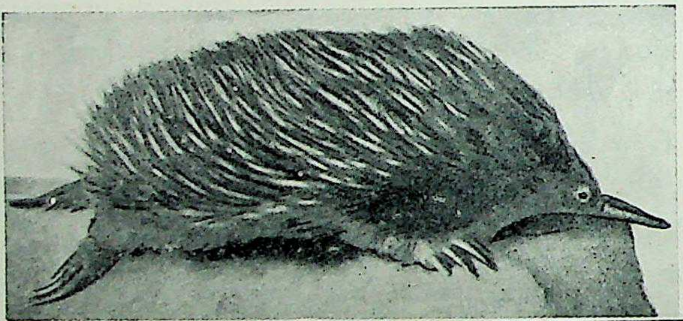

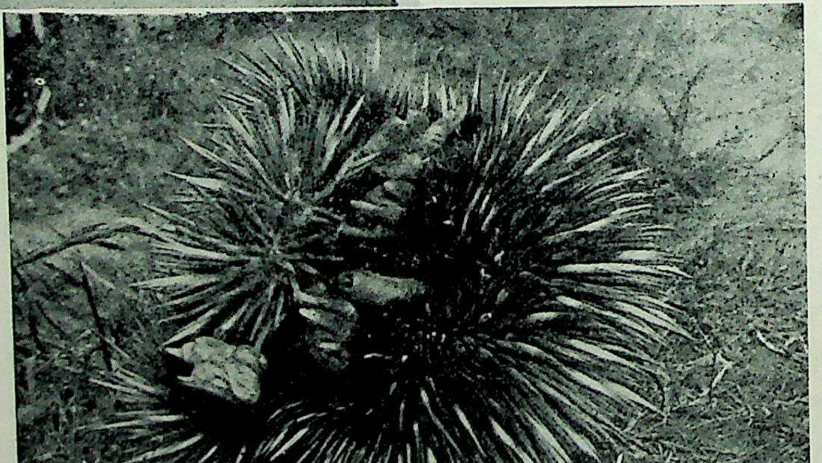

अंडा देनेवाले स्तनपोषियों का प्रतिनिधि 'एकिडना' नामक यह कँटीला चींटाहारी ऑस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा उनके निकट के द्वीपों में रहता है। इसकी पीठ पर पीले काँटे होते हैं, जिनके छोर काले होते हैं। इन कड़े काँटों को देखकर इसके शत्रु हिम्मत हार जाते हैं। खटका होने पर एकिडना लिपटकर गोल गेंद-सा हो जाता है और उस समय जान नहीं पड़ता कि वह कोई जानवर है या कटीला पौधा (दे० निचला चित्र)।

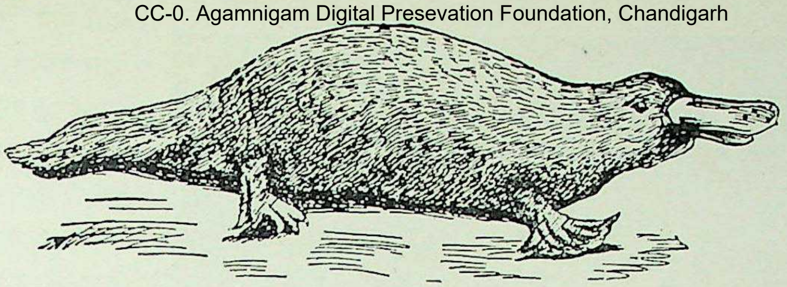

ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया में मिलने वाला यह दूसरा अजीब प्राचीन जन्तु बतखचोंचा या प्लेटीपस कहा जाता है । इसकी भी विशेषता यह है कि यह अंडा देनेवाला स्तनपोषी है । अपनी चौड़ी चोंच से नदी की मिट्टी को कुरेदकर यह जीव उसमें के कीड़े-मकोड़े और सीपी, घोंघा इत्यादि को खाया करता है। अपने रहने के लिए यह नदी के किनारे बिल बना लेता है। अपने घोंसले की खोज में आनेवाले दुश्मनों को धोखा देने के लिए यह झूठी सुरंगें भी बना लेता है।

खाता है; बहुत से तेज और नोकीले दाँत पाए जाते हैं। इधर कुत्तों के सदृश मांसाहारी जानवरों के रदनक दाँत या कीलें बड़ी-बड़ी होती हैं ताकि वे शिकार को पकड़कर चीर डालें । उनके कुतरनेवाले दाँत छोटे और करीब-करीब बेकार होते हैं और डाढ़ों में काटने या कुचलने के लिए पैने किनारे होते हैं। गाय-बैल आदि घास खानेवाले जीवों के सामने के दाँत चौड़े होते हैं, जिससे वे सहज में पौधों को काट या कुतर सकें । उनमें कीलें होती ही नहीं, किन्तु चबाने के लिए डाढ़ें चौड़ी होती हैं । खरगोश की तरह के कुतरनेवाले प्राणियों के कृन्तक दन्त जीवन भर बढ़ते रहते हैं और लगातार कुतरने से वे ऐसे घिसते रहते हैं, जिससे उनकी तीक्ष्ण धार और लम्बाई काम के योग्य बनी रहती है। छछूँदर जैसे कीड़े-मकोड़े खानेवाले प्राणी अपने निकले हुए कृन्तक दाँतों से कीड़ों को पकड़ते और अगली तथा पिछली डाढ़ों के नोकीले भागों से उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। सर्वभक्षी जन्तुओं के दाँत ऐसे होते हैं कि वे मांस और सागपात दोनों ही को अच्छी तरह खा और चबा सकते हैं ।

स्तनपोषित वर्ग के मुख्य समूह

रचना और भोजन के अनुसार वैज्ञानिकों ने समस्त स्तनपोषित जीवों को कई कक्षाओं में बाँट दिया है । आगे दी हुई सूची से आपको इस वर्ग की विविध कक्षाओं का सरसरी तौर पर ज्ञान हो सकता है ।

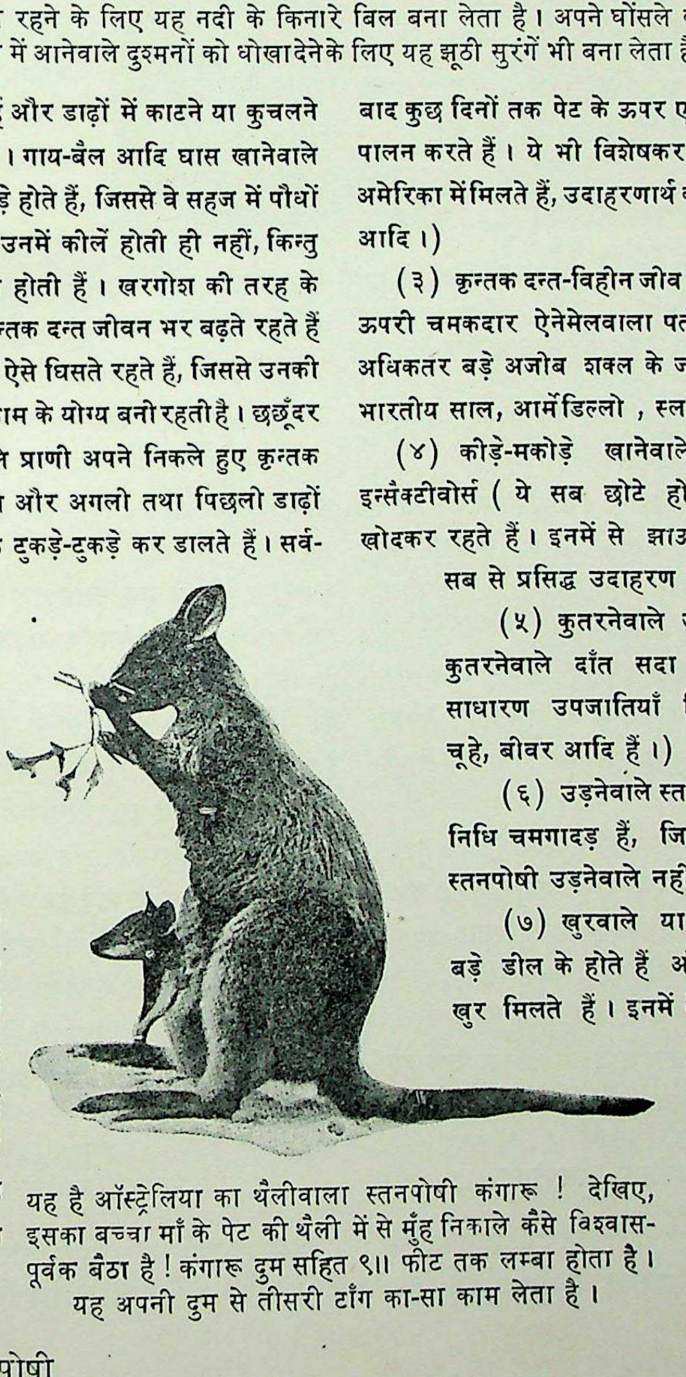

यह है ऑस्ट्रेलिया का थैलीवाला स्तनपोषी कंगारू ! देखिए, इसका बच्चा माँ के पेट की थैली में से मुँह निकाले कैसे विश्वासपूर्वक बैठा है ! कंगारू दुम सहित ९॥ फीट तक लम्बा होता है। यह अपनी दुम से तीसरी टाँग का-सा काम लेता है ।

(१) अंडे देनेवाले एकछिद्रीय जन्तु (इनमें ऑस्ट्रेलिया - निवासी बतखचोंचा या प्लेटीपस तथा कँटीला चींटाहारी एकिडना सम्मिलित हैं ।)

(२) थैलीवाले स्तनपोषी या मार्सूपियल्स (ये अपने बच्चों को जन्म के बाद कुछ दिनों तक पेट के ऊपर एक थैली में रखकर उनका पालन करते हैं । ये भी विशेषकर ऑस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका में मिलते हैं, उदाहरणार्थ कँगारू, ओपोसुम, वलाबी आदि ।)

(३) कृन्तक दन्त-विहीन जीव ईडेनटेट्स (इनके दाँतों पर ऊपरी चमकदार ऐनेमेलवाला पर्त नहीं होता । इनमें से अधिकतर बड़े अजीब शक्ल के जीव हैं, जैसे पैंगोलिन या भारतीय साल, आर्मेडिलो , स्लॉथ आदि ।)

(४) कीड़े-मकोड़े खानेवाले कीटाणुभक्षक अथवा इन्सैक्टीवोर्स (ये सब छोटे होते हैं और धरती में बिल खोदकर रहते हैं । इनमें से झाऊ-चूहा, छछूँदर और श्रू सब से प्रसिद्ध उदाहरण हैं ।

(५) कुतरनेवाले जीव या रोडैन्ट्स (इनमें कुतरनेवाले दाँत सदा बढ़ा करते हैं। इनकी साधारण उपजातियाँ गिलहरी, सेही, खरगोश, चूहे, बीवर आदि हैं ।)

(६) उड़नेवाले स्तनपोषी (इस कक्षा के प्रतिनिधि चमगादड़ हैं, जिनके अतिरिक्त और कोई स्तनपोषी उड़नेवाले नहीं कहे जा सकते ।)

(७) खुरवाले या अंगुलेटा (ये अधिकतर बड़े डील के होते हैं और इनमें नख के बजाय खुर मिलते हैं । इनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनके पैरों की उँगलियों की संख्या विषम होती हैं, जैसे घोड़ा, गधा, जेबरा, गैंडा और तापीर, तथा कुछ ऐसे हैं, जिनकी उँगलियाँ सम होती हैं, जैसे ऊँट,

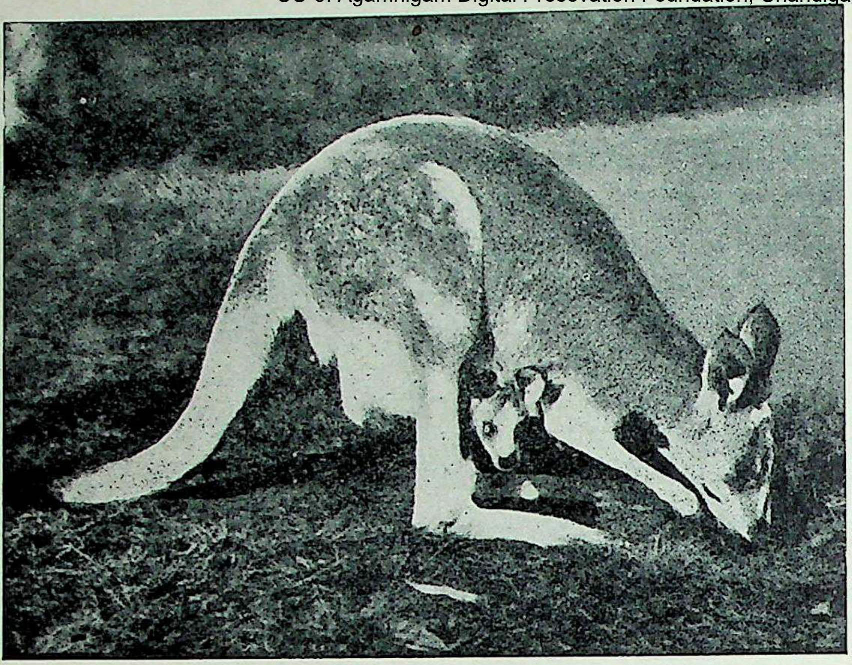

शरीर-रचना के लिहाज से कँगारू एक विचित्र बेडौल प्राणी है। उसके आगे का धड़ हलका और पिछला भारी होता है। देखिए, उसकी मोटी दुम मानो टाँग का काम देकर कैसे उसे सहारा देती है!

जिराफ़, हिप्पोपोटेमस, सुअर, हिरन, भेड़, बकरी आदि। इसी समुदाय में हाथी भी सम्मिलित हैं।)

(८) मांसाहारी या कार्नीवोरा (ये अपने तीक्ष्ण दाँतों और सुदृढ़ चंगुलों के द्वारा अन्य पशुओं को फाड़कर खा जाते हैं—शेर, भेड़िया, लोमड़ी, कुत्ता, बिल्ली, भालू, सील, वालरस इत्यादि इसी समूह के जीव हैं।)

(९) जल-निवासी स्तनपोषी (इनमें समुद्री गाय तथा ह्वेल जैसे विशाल प्राणी सम्मिलित हैं, जो जल में ही निवास करते हैं तथा जिनमें से कुछ इस संसार के सब से बड़े प्राणी हैं।)

(१०) प्राइमेट्स या प्रधानभागीय जीव (इनके हाथ-पैरों में नख होते हैं और ये अपने अँगूठे को मोड़कर उँगलियों से मिला सकते हैं। उनकी मुख्य विशेषता इनका बड़ा मस्तिष्क है। इन्हीं में दुनिया के सारे वानर, वनमानुष, और मानव भी सम्मिलित हैं।)

आइए, अब क्रमानुसार इन कक्षाओं के कतिपय चुने हुए उदाहरण लेकर उनकी विचित्रताओं पर प्रकाश डालें।

अंडे देनेवाले विचित्र स्तनपोषी

सब से प्राचीन और निम्न श्रेणी के स्तनपोषी जीव आॅस्ट्रेलिया तथा उसके निकटवर्ती द्वीपों के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाये जाते। आॅस्ट्रेलिया ही ऐसा देश है कि जहाँ दुनिया के कतिपय सब से प्राचीन और निराले जन्तु बचे रह गए हैं। वे सारी दुनिया से अलग कटे हुए इन द्वीपों में उस पुरातनकाल के स्मारक-चिह्न के रूप में सुरक्षित हैं, जब कि पृथ्वी पर उरंगम-समुदाय के प्राणियों से क्रमशः पक्षियों और उन्नत पशुओं का विकास हो रहा था। ये बेचारे विकास के पथ पर थोड़ी ही दूर चलकर रह गए। इन्होंने कुछ लक्षण तो अवश्य स्तनपोषियों के प्राप्त कर लिए, किन्तु साथ ही साथ उरंगमों और पक्षियों के भी कुछ गुण या लक्षण उनमें अवशिष्ट रह गए। इन एकछिद्रीय जीवों की रचना एक रहस्यपूर्ण समस्या है। स्थान की कमी के कारण हम इस विषय पर यहाँ अधिक प्रकाश नहीं डाल सकते। केवल इतना ही कह देना यथेष्ट है कि ये अद्भुत जीव चिड़ियों और उरंगमों की तरह अंडे देते हैं, साथ ही जब उनके बच्चे अंडों से निकल आते हैं, तो उन्हें माता के दुग्ध-पान पर भी कुछ समय तक निर्वाह करना पड़ता है। इस कक्षा के जीवों में दूध निकलने के लिए अन्य स्तनपोषियों के समान स्तन नहीं होते, वरन् माताओं के पेट की खाल पर कतिपय सूक्ष्म छिद्र होते हैं, जिनसे दूध निकला करता है। पृ० १२२०-१२२१ के चित्रों को देखिए। इस वर्ग के प्राणियों के मुँह की रचना चिड़ियों की चोंच के समान होती है। शरीर से मल और मूत्र के बाहर निकलने के लिए इनके शरीर में एक ही मार्ग रहता है, इसीलिए ये एकछिद्रीय कहलाते हैं। युवावस्था में ये दन्तविहीन होते हैं और इनके नरों की पिछली टाँगों में अंकुश होते हैं।

इन अंडा देनेवाले स्तनधारियों की दो जातियाँ मिलती हैं—एक प्लेटीपस या बतखचोंचा और द्वितीय काँटेवाला चोंटाहारी 'एकिडना'।

बतखचोंचा या प्लेटीपस

प्लेटीपस पूर्वी आॅस्ट्रेलिया और टस्मानिया में नदियों, झीलों और तालाबों के किनारे बिलों में रहते हैं। इनके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कोई-कोई बिल ५० फीट तक बढ़ते चले जाते हैं। बिल के छोर पर एक फुट चौड़ी एक छोटी-सी कोठरी होती है, जिसमें यह जीव घास बिछा लेता है और उसी में एक से तीन तक अंडे देता है। अधिकतर इस बिलनुमा घर के दो दरवाजे होते हैं—एक जमीन के ऊपर बना रहता है, जो घास पत्तों से ढका रहता है और दूसरा पानी के भीतर होता है, जिससे यह जीव अँधेरे में निकलकर पानी के छोटे-छोटे जानवरों को बतख की तरह चुगकर खाता है।

इसका शरीर करीब १४ इंच लम्बा तथा दुम ५ इंच लम्बी होती है। चोंच की चौड़ाई २ इंच और लम्बाई २॥ इंच होती है। पैरों की उँगलियों के बीच में तैरने के लिए झिल्ली-सी होती है और उनके सिरे पर खोदने के लिए मजबूत और तीक्ष्ण नख रहते हैं। जब बच्चे अंडे से निकलते हैं,तो माता उनको अपनी दुम द्वारा पेट पर चिपकाकर उन्हें दूध पिलाती है। बाल्यावस्था में उनके छोटे-छोटे दाँत होते हैं, जो जवान होने से पहिले ही गिर जाते हैं। पक्षी, उरंगम और स्तनपोषी तीनों समुदायों से सम्बन्ध रखनेवाला यह विचित्र प्राणी जब प्रथम बार योरप लाया गया था, तो लोग समझते थे कि किसी मसखरे ने किसी अपरिचित जन्तु के मुँह में चतुराई के साथ बतख की चोंच ठूँस दी है !

काँटेवाला चींटाहारी एकिडना

उपर्युक्त समूह का दूसरा प्रतिनिधि काँटेदार एकडिना चींटियों तथा अन्य छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े खाकर ही अपना पेट पालता है। उसकी लम्बी जीभ पर चिपचिपा लस होता है, इसलिए जहाँ उसने जीभ निकाली नहीं कि सैंकड़ों चीटियाँ उस पर लिपटती चली आती हैं। यह जीव शत्रु के सामने गेंद-सा गोल बनकर अपने काँटों को सेही की भाँति खड़ा कर लेता है, जिससे शत्रु डरकर उसे छोड़ देता है। इसका शरीर चौड़ा और चपटा होता है। काँटों के अतिरिक्त बीच-बीच में इसकी पीठ पर बाल भी होते हैं, किन्तु नीचे की ओर, अर्थात् पेट पर, केवल बाल ही रहते हैं। इसकी दुम बड़ी नहीं होती तथा प्लेटीपस के समान इसके बाहरी कान भी नहीं होते। इसकी टाँगें छोटी और तेज तथा मजबूत नाखूनों से युक्त होती हैं। जमीन खोदने की इसमें अद्वितीय शक्ति होती है। कड़ी-से-कड़ी भूमि को भी यह देखते-ही-देखते तेजी से खोद डालता है और उसमें घुस जाता है। इसे धरती खोदते देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह दलदल में घुसा जा रहा हो। यह जीव अंडे देता है, परन्तु इसकी विशेषता यह है कि अपने इन अंडों को यह एक थैली में––जो उसके शरीर पर होती है––रख लेता है। वहीं उसका बच्चा अंडे से निकलता है और कई सप्ताह तक वह वहीं थैली में बन्द पड़ा रहता है। इसके उपरान्त माता उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख देती है।

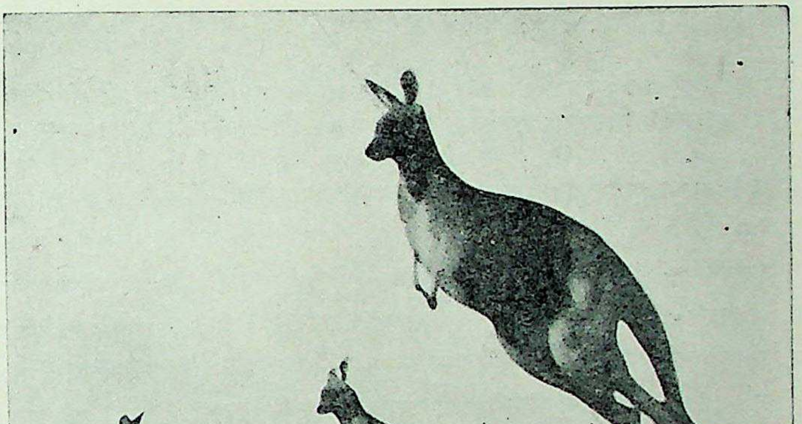

कँगारू के लिए २५-३० फीट तक की लम्बी छलाँग मारकर ऊँची-ऊँची झाड़ियों को लाँघ जाना एक मामूली-सी बात है। इनकी इस अद्भुत कुदान को देखिए ! जान पड़ता है, जैसे आसमान में उड़े चले जा रहे हों !

एक-दूसरे को थामकर वृक्ष की डाली पर अपने आपको साधे हुए भालू की-सी शक्ल के ये जीव 'कोआला' के नाम से पुकारे जाते हैं। ये वृक्षवासी स्तनपोषी मार्सूपियल्स वर्ग के हैं।

माता से अलग होने के थोड़े ही समय बाद वह स्वावलम्बी हो जाता है।

इसकी अनोखी उँगलियाँ ही इसकी सब से विचित्र निधि हैं। पिछली टाँग की उँगलियाँ चलते समय बाहर की ओर उल्टी मुड़ी रहती हैं और अगले पैर की सामने को। ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया में मिलनेवाली जाति के पैर में पाँच उँगलियाँ होती हैं, किन्तु न्यूगिनी में मिलनेवाली एक उपजाति में केवल तीन ही उँगलियाँ रहती हैं और दूसरी एक उपजाति में पाँच भी होती हैं। एक जानवर ऐसा भी मिला है, जिसमें अगले पैरों में पाँच-पाँच तथा पिछले में चार-चार उँगलियाँ हुआ करती हैं। उँगलियों के इस अन्तर के ही कारण एक लेखक ने इसे "वह जानवर जिसकी उँगलियों की संख्या निश्चित नहीं है" कहकर संबोधित किया है।

थैलीवाले स्तनपोषी—मार्सूपियल्स

थैलीवाले स्तनपोषियों का स्थान इतना नीची कोटि का तो नहीं है कि वे अंडे देनेवाले स्तनपोषियों में गिने जा सकें, किन्तु उनके बच्चे अत्यन्त अपूर्ण अवस्था में माता के गर्भ से जन्म लेते हैं। अतः इन्हें भी हमें निम्न श्रेणी का ही मानना पड़ता है। पैदा होते समय इनके बच्चे बहुत ही छोटे और असहाय होते हैं। बड़ा होने पर भेड़ के बराबर आकार का कँगारू का बच्चा जन्म के समय मात्र १ इंच का रहता है! बड़े-से-बड़े कँगारू का बच्चा भी माँ के गर्भ में केवल चार-पाँच सप्ताह तक रहता है और तब सात-आठ मास तक माता के पेट की थैली में ही उसका लालन-पालन होता है।

बच्चों के लिए निर्मित उक्त जेबनुमा थैली का होना ही इन जीवों की मुख्य विशेषता है। इस थैली को सहारा देने के लिए कुल्हे की हड्डी से दो लम्बी पतली हड्डियाँ आगे को V की शक्ल में निकली रहती हैं। ये हड्डियाँ नरों के शरीर में भी होती हैं। उपर्युक्त थैली के अन्दर मादाओं में स्तन होते हैं। बच्चों के पैदा होते ही माताएँ उन्हें थैली के अन्दर रख लेती हैं। इन थैलियों के अंदर वे बहुत समय तक अपने चूसनेवाले होंठ माँ के स्तनों से लगाये हुए पेट की दीवार से चिपटे रहते हैं। जब तक बच्चों के अंगों की पूरी वृद्धि नहीं हो जाती, वे स्तनों को मुँह में दबाये पड़े रहते हैं। जन्म के समय वे स्वयं स्तनों से दूध नहीं खींच सकते, अतः प्रकृति ने ऐसा सुप्रबन्ध कर दिया है कि स्तन बच्चे के मुँह में सहज ही घुसकर फूल जाते हैं और उनमें से दूध अपने आप उनके मुँह में टपकने लगता है। आठवें महीने में बच्चे थैली के बाहर सिर निकालकर बाह्य जगत् का दृश्य देखते हैं। तत्पश्चात् थैली के बाहर कूदकर माँ के आसपास खेलते-कूदते हुए वे चलने-फिरने भी लगते हैं। परन्तु जरा-सा भी खटका होते ही वे चट् से उछलकर फिर माँ की थैली में घुस जाते हैं। इस कक्षा के कुछ प्राणी थैलीविहीन भी होते हैं।

मार्सूपियल्स समूह के कई वंश ऑस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा निकटवर्त्ती द्वीपों में पाए जाते हैं। एक वंश अमेरिका की नई दुनिया में भी मिलता है। इनकी साठ के लगभग उपजातियाँ हैं, जो कद में १ से ५ फीट तक लम्बी होती हैं। उनकी शक्लें भी तरह-तरह की होती हैं। ये सब शाकाहारी होते हैं। लोग इनका मांस खाते हैं और इनके चमड़े का प्रयोग करते हैं। इन अनोखे जीवों में सर्वविख्यात कँगारू नामक प्राणी है। यह

हमारे देश की जन्तुशालाओं में प्रायः देखा जा सकता है। दूसरा एक जीव औपौसुम है। आइए, इनका कुछ और परिचय आपको दें।

कँगारू

कँगारू को देखते ही उसके विचित्र और बेडौल शरीर की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुए बिना नहीं रहता। प्रकृति ने उसके साथ एक निराला ही उपहास किया है। उसको उछलने में कुशल बनाने के लिए कुदरत ने उसके अगले और पिछले शरीर में बहुत अन्तर रक्खा है। आगे का धड़ तो करीब कुत्ते के डौल का होता है और पिछला धड़ खच्चर के समान भारी होता है। इसकी मोटी-सी, लम्बी और भारी दुम भी एक विचित्र अंग है। वह बैठने में तीसरी टाँग का काम देती है। यदि आप उसको बैठा हुआ देखें, तो यही कहेंगे कि वह तिपाई पर बैठा है। अगली टाँगें कमजोर और छोटी होती हैं, जो उसके चरते या चलते समय शरीर के आगे के भाग को साधे रहती हैं। ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिमा का बड़ा भूरा कँगारू कद में ५ फीट ऊँचा और वजन में २॥ मन के लगभग तक भारी होता है। उसकी दुम की लम्बाई ४ फीट से भी अधिक होती है। साधारणतः वह धीरे-धीरे चलता है। पर यदि उसे जल्दी होती है, तो दौड़ने के बजाय अजीब तरह से अपनी दुम के सहारे उछलता-कूदता, छलाँगें मारता हुआ वह भागने लगता है। १० फीट ऊँची झाड़ियाँ भी आसानी से वह फाँद जाता है। कहते हैं, पीछा किए जाने पर २५-३० फीट तक का फासला एक छलांग में पार कर जाना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं है।

स्वभाव में कँगारू भेड़-बकरी की तरह डरपोक होता है। खरगोश की तरह वह भी ठीक अपने सामने की चीज को नहीं देख पाता। परन्तु उसकी देखने, सूँघने और सुनने की शक्ति तीक्ष्ण होती है। यह जीव केवल ऑस्ट्रेलिया के क्षेत्र ही में मिलता है।

औपौसुम

अमेरिका में भी एक थैलीवाला स्तनपोषी प्राणी मिलता है। वह 'औपौसुम' कहलाता है। वर्जीनिया का औपौसुम ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ज्यादातर वृक्षों ही पर रहता है और बंदर की तरह अपनी दुम से डालों को पकड़ सकता है। कद में वह घरेलू बिल्ली के बराबर होता है। उसकी दुम की लम्बाई फुट भर होती है। उसके बाल नरम और लम्बे होते हैं। वे कपड़ा बुनने के काम में आते हैं। कुछ लोग इसका मांस भी खाते हैं। इसकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि कँगारू की तरह इसके भी बच्चे अपूर्ण अवस्था में पैदा होते हैं और वे रेंगकर अपनी माता की थैली में घुस जाते हैं। एक बार में पाँच से चौदह तक बच्चे इसके पैदा होते हैं और मादाएँ साल में दो या तीन बार बच्चा देती हैं। इस प्रकार इनकी आबादी तेजी से बढ़ती है। दूसरी बात यह है कि जब इसे शत्रु का भय या अन्य किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका होती है, तो यह ढोंग रचकर ऐसा चुपचाप पड़ जाता है, मानो मर गया हो! इसका शत्रु उसकी इस आदत से परिचित न होने पर उसको मरा जानकर उसकी

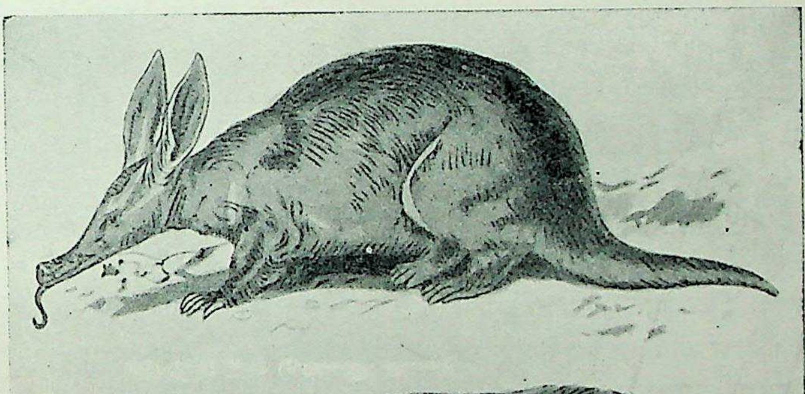

प्रस्तुत चित्र में ऊपर ईडेनटेट्स वर्ग का बड़ा चींटाहारी और नीचे आर्डवार्क नामक चींटी खानेवाला अन्य एक स्तनपोषी दिग्दर्शित है। दोनों अपना निर्वाह दीमक और चींटियों को खाकर ही करते हैं। इनकी विचित्र लंबी जिह्वा पर ध्यान दीजिए! ये लसलसी होती हैं। इन्हीं से वे चींटियाँ पकड़ते हैं!

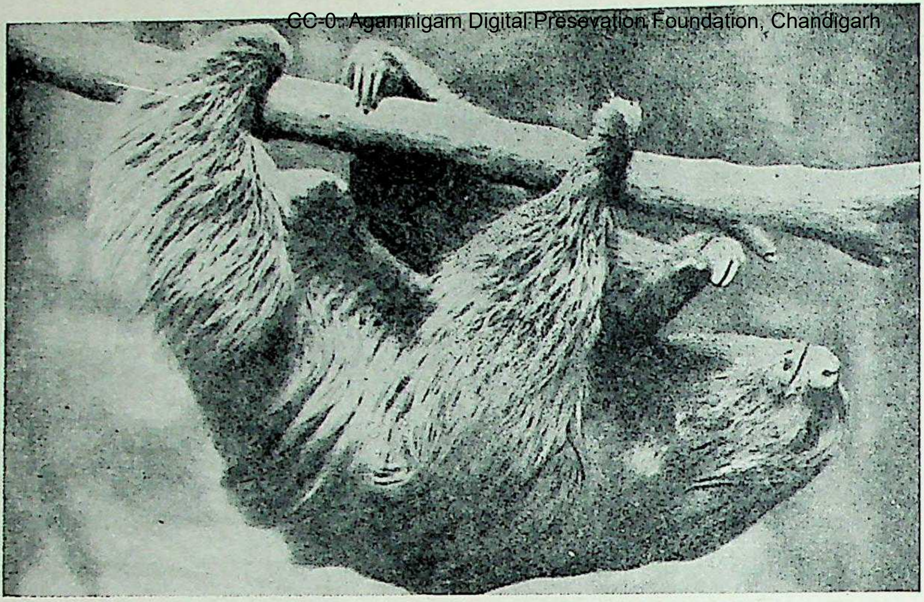

यही है उत्तरी तथा मध्य अमेरिका का उल्टा लटकनेवाला अद्भुत स्तनपोषी स्लांथ। यह इसी प्रकार पेड़ पर लटके हुए प्रायः सोता रहता है और यहाँ से वहाँ जाते समय टाँगों को डाली पर लपेटकर आगे को सरकता चला जाता है। वस्तुतः इस औंधे लटके हुए पशु की सारी दुनिया ही उल्टी है! वक्ष-जीवन के कारण इसके बालों में वनस्पतियाँ तक उग आती हैं।

तरफ से अपना ध्यान हटा लेता है। इस प्रकार मरने का बहाना किये पड़ा हुआ औपौसुम अवसर पाते ही चट से खतरे से दूर भाग जाता है। औपौसुम दिन में अधिकतर छिपा रहता है। वह सूर्यास्त के पश्चात् बाहर निकलकर रात भर इधर-उधर कीड़े-मकोड़े तथा अन्य भोजन-सामग्री की खोज में घूमता फिरता है।

औपौसुम की दुम उसके लिए बड़ी ही उपयोगी वस्तु है। इस प्राणी के छोटे बच्चे अपनी दुम से एक बहुत ही अच्छा काम लेते हैं। वे अपनी माँ की पीठ पर लद जाते हैं तथा अपनी छोटी दुमों को माँ की दुम के चारों ओर लपेट लेते हैं। माता अपनी दुम को पीठ के ऊपर मोड़ लेती है, जिससे कि बच्चे मजबूती से उसे यथास्थान पकड़े रहें। माँ जो बोझ अपने साथ लादे फिरती है, उसे जानकर हमको अचम्भा होता है! छोटी-सी बिल्ली के बराबर आकार का औपौसुम कभी-कभी चूहे के बराबरवाले १०-१२ बच्चे अपनी पीठ पर चिपटाए रहता है।

ऑस्ट्रेलिया में पाया जानेवाला 'कोआला' और ग्लाइडर के समान हवा में तैरते हुए एक से दूसरे वृक्ष तक जा पहुँचनेवाले 'फैलेन्जर मार्सूपियल' भी जन्तु-जगत् के स्तनपोषित वर्ग के निराले उदाहरण हैं। कोआला की शक्ल भालू की-सी होती है। यह निरन्तर वृक्षों पर ही रहता है और पूर्णतया शाकाहारी है। पृ० १२२४ पर इसका चित्र देखिए।

कृन्तक दन्त-विहीन स्तनपोषी — स्लॉथ, चींटाहारी, आर्मेडिल्लो, पैंगोलिन, आदि

ये प्राणी भी निम्न कोटि के स्तनपोषियों में से हैं, लेकिन ऊपर वर्णित दोनों कक्षाओं के जन्तुओं से ये बिल्कुल ही भिन्न हैं। इनके बच्चे उन्नत स्तनधारियों की तरह अपनी माता के गर्भ में जरायु (नार) द्वारा जुड़े रहते हैं। इन सब को दन्त-विहीन या बिना दाँतवाले इसलिए कहते हैं कि इनके जबड़ों में सामने के दाँत नहीं होते। प्रायः इनके जबड़ों में डाढ़ें होती हैं। इस वर्ग में चींटाहारी और पैंगोलिन ही ऐसे प्राणी हैं, जिनमें किसी भी प्रकार का कोई भी दाँत नहीं होता। इनके सिर और मस्तिष्क छोटे होते हैं। स्लॉथ और चींटाहारी की तरह इस समुदाय के कुछ जीव बालों से ढके होते हैं। आर्मेडिल्लो की तरह के कुछ प्राणियों के शरीर पर कड़ी जोड़दार हड्डियों की-सी ढाल मढ़ी होती है। पैंगोलिन या साल के शरीर कड़े सिन्नों की प्लेटों से सुरक्षित रहते हैं। इस वर्ग के पाँचों वंश के प्राणी या तो स्थलचर हैं अथवा वृक्षवासी। स्लॉथ, चींटाहारी और आर्मेडिल्लो नई दुनिया के रहनेवाले हैं। सिन्नेवाले चींटाहारी एशिया और अफ्रीका में मिलते हैं और आर्डवार्क केवल अफ्रीका में ही पाए जाते हैं। स्लॉथ को छोड़कर इस वर्ग के शेष सब जीव मांसाहारी या कीटाहारी ही हैं। चींटाहारी, पैंगोलिन और आर्डवार्क अधिकतर दीमक पर ही निर्भर रहते हैं। इनमें से दो—स्लॉथ और पैंगोलिन—के बारे में यहाँ कुछ अधिक बातें हम आपको बताएँगे।

स्लॉथ, जिसकी सारी दुनिया ही उल्टी है

दक्षिणी और मध्य अमेरिका के जंगलों में बहुतेरे अद्भुत जानवर बसे हुए हैं, किन्तु उनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जो शक्ल-सूरत तथा स्वभाव में स्लॉथ से अधिक अनूठा हो। ये आलसी जीव अपना सारा जीवन वृक्षों पर ही व्यतीत

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करते हैं। ये डालों पर उलटे लटकते हुए ही वृक्षों पर एक से दूसरी जगह तक चले जाते हैं। ये दिन भर तो वृक्ष की घनी पत्तियों की ओट में छिपे रहते हैं और रात होने पर यही पत्तियाँ उनका आहार बन जाती हैं। वृक्षों से ये जमीन पर पानी पीने के लिए भी नहीं उतरते। इनकी तृषा रसीले फल-फूल और पत्तियों से ही शांत हो जाती है। यदि कोई इन्हें पेड़ों से उतारकर जमीन पर डाल दे, तो हाथ-पाँव फैलाकर ये चित्त लेट जाते हैं और इनके लिए उठना असम्भव हो जाता है! इनकी वह दशा देखकर बड़ी ही हँसी आती है! उल्टे लटकने के अतिरिक्त इनमें और भी कई अनोखे गुण हैं। इनके लम्बे, मोटे, घने बालों में एक हरी-सी चमक होती है, जिससे ये पत्तियों में ऐसे छिप जाते हैं कि इनके शत्रु इन्हें जल्दी देख नहीं पाते। इनके बाल अन्य स्तनपोषियों से भिन्न रीति से इस तरह शरीर पर सधे रहते हैं कि जब ये पेड़ पर उल्टे लटके रहते हैं, तो वर्षा का पानी उन पर से जल्दी नीचे बह जाता है। इतना ही नहीं, इन बालों में हरे रंग की हजारों नन्हीं-नन्हीं वनस्पतियाँ तक उग आती हैं! ये ही इनके बालों की हरी चमक का कारण होती हैं। इसीलिए कहा जाता है कि यह एक ऐसा जानवर है, जो अपने शरीर पर मानो बगीचा लगाए रहता है!

साल या पैंगोलिन

साल या पैंगोलिन वंश के जन्तु भारत, जावा, बोर्नियो फिलिपाइन, दक्षिणी चीन और अफ्रीका में पाये जाते हैं। इनके सारे शरीर पर ठेठ दुम तक एक पर एक खपरैल के समान दुर्भेद्य कड़ी प्लेटें या सिन्ने लगे रहते हैं। ये प्लेटें इतनी कड़ी होती हैं कि कहा जाता है कि पिस्तौल की गोली भी ये सह लेती हैं। आक्रमण होने पर पैंगोलिन अपने मुँह और दुम को धड़ के नीचे टाँगों के बीच लपेटकर गोल गेंद-सा बन जाता है। उस समय उसके शरीर पर के प्लेटों के तीक्ष्ण छोर ऊपर को उठ जाते हैं। फिर भला किस शत्रु का इतना साहस हो सकता है कि उस पर मुँह मारे! ये जीव भारतवर्ष के पर्वतीय प्रदेशों में सब जगह मिलते हैं, किन्तु अधिक संख्या में नहीं। उत्तरी भारत में यह 'सिल्लू', दक्षिणी भागों में 'साल' और 'बनरोहू' तथा बंगाल में 'काठपोह' कहा जाता है। साल केवल रात्रि में ही बाहर निकलता है। वह अपनी लम्बी और चिपचिपी जीभ से दीमक और चींटी आदि को पकड़कर खाता है। दिन भर वह अपने बिल या भिटे में छिपा रहता है। भिटे में ८-१० फीट की गहराई पर कोई ६ फीट परिधि की एक कोठरी होती है, जिसमें इनका एक जोड़ा रहता है। कहा जाता है कि बिल में घुस जाने पर यह जानवर द्वार को

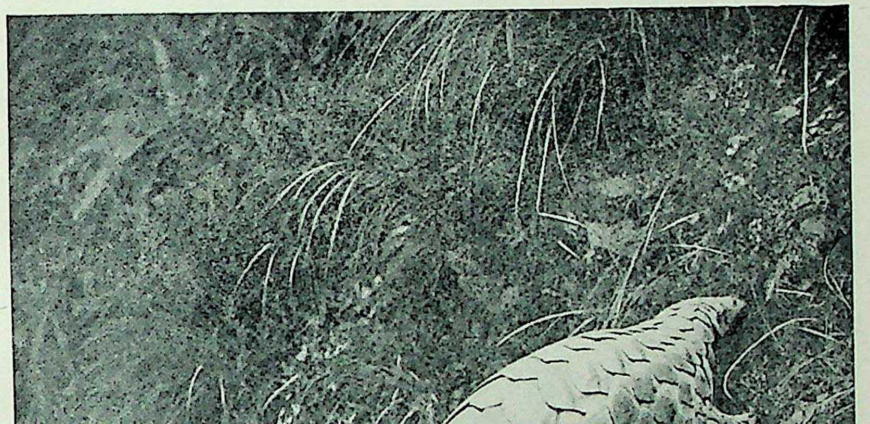

यही अद्भुत जन्तु पैंगोलिन है, जिसे हमारे यहाँ 'साल' कहते हैं। इसके शरीर के ऊपर कड़े सिन्नों की पंक्तियाँ होती हैं! ये ही उसकी रक्षा के प्रमुख साधन हैं। आक्रमण होने पर यह लिपट कर गोल हो जाता है, जिससे सिन्नों की नोकें ऊपर को खड़ी हो जाती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मिट्टी से बन्द कर लेता है। इनकी मादाएँ जाड़े में प्रायः एक या दो बच्चे देती हैं।

लंका और भारत के पैंगोलिन दुम सहित ३॥ फीट के लगभग लम्बे होते हैं, किन्तु मलाया का पैंगोलिन भारतीय साल की अपेक्षा पतली और लम्बी दुमवाला होता है। इनकी आँखें और बाहरी कान बिलकुल छोटे होते हैं। इनकी टाँगें छोटी पर नाखून अत्यंत मजबूत और खोदने योग्य होते हैं, जिनकी सहायता से ये बड़ी ही सुविधापूर्वक अपना भिटा खोद लेते हैं। आर्मेडिल्लो की तरह पैंगोलिन भी अगले पैरों के नखों को मोड़कर और नीचे दबाकर चलता है।

कीटाणुभक्षी स्तनपोषी

स्तनधारियों की बहुत-सी उपजातियाँ कीटाणुभक्षक हैं, किन्तु एक समूह में इसप्रकार से अपना भरण-पोषण करनेवाली इतनी अधिक जातियाँ मौजूद हैं कि उनके लिए एक अलग कक्षा नियुक्त हो गई है और उसका नाम कीटाणुभक्षी या 'इन्सेक्टीवोरा' पड़ गया है। इनमें से छछूँदर, झाऊचहे और वृक्षवासी छछूँदर या टुपैया भारतवर्ष में पाए जाते हैं और अन्य सब दूसरे देशों में मिलते हैं। ऑस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका में इनका एक भी प्रतितिधि नहीं है।

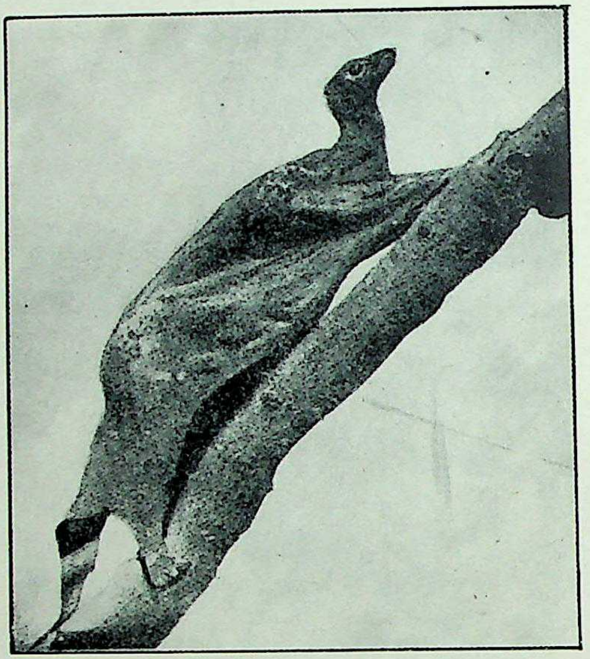

'कोबीगो' नामक यह उड़नेवाला स्तनपोषी मलाया, श्याम तथा उनके निकटवर्त्ती द्वीपों में पाया जाता है। इसके नीचेवाले सामने के दाँत समस्त जन्तु-जगत् में बिलकुल निराले हैं। मानो वे दाँत नहीं बल्कि नन्हीं-नन्हीं कंघियाँ जैसे हैं। ये प्राणी अपने हाथ-पैरों को फैलाए हुए हवा में सरकते हुए एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक ७० गज दूर तक चले जाते हैं!

इस उपजाति के अधिकतर जन्तु छोटे, लम्बे मुँहवाले तथा नरम बालवाले होते हैं। कुछ उपजातियों में शरीर पर काँटे भी होते हैं। इनके शरीर में गन्धदायक ग्रंथियाँ होती हैं। कुछ ऐसे भी प्राणी हैं, जो इस वर्ग में शरीक होने पर भी शुद्ध शाकाहारी हैं।

उड़नेवाला कीटाणुभक्षी——कोबीगो

उपर्युक्त वर्ग में सबसे अनूठा कोबीगो नाम का एक प्राणी है, जो मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, टेनासरिम और फिलिप्पाइन्स आदि में मिलता है। इसकी खाल शरीर के दोनों तरफ सिर से अगली टाँगों तक, अगली टाँगों से पिछली टाँगों तक, और पिछली टाँगों से दुम तक फैली रहती है। जब वह अपने पैर और दुम को फैलाता है, तो यह खाल छाते की तरह उसके शरीर को हवा में साध लेती है। इस प्रकार फैलाई हुई झिल्ली के सहारे यह प्राणी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक २०० फीट की दूरी तक हवा में बहता हुआ निकल जाता है! इस उड़नेवाली झिल्ली के अतिरिक्त उसमें और अन्य कीटाणुभक्षकों से एक और भेद है। वह यह है कि यह कीड़े-मकोड़े नहीं खाता, बल्कि पत्तियों ही से अपनी गुजर करता है। इसी कारण इसके दाँत अन्य जीवों से भिन्न होते हैं।

छछूँदर

छछूँदर और उसकी दुर्गन्ध से सभी लोग अच्छी तरह से परिचित हैं। वह रात में नालियों द्वारा घरों में घुस आती है और 'चिट्-चिट्' आवाज करती हुई कोने-कोने में फिरा करती है। एक बार वह जहाँ से निकल जाती है, वहीं अपनी निराली दुर्गन्ध वह छोड़ जाती है! कहावत है कि उसकी घोर बदबू के कारण ही साँप और बिल्ली तक उसे छोड़ देते हैं। यदि कभी धोखे से यह उनके मुँह में चली भी जाती है, तो वे इसे फौरन् ही अपने मुँह से बाहर उगल देते हैं!

छछूँदर जिस तेजी से अपना बिल खोद सकती है, इसका अनुमान संभवतः आपको न होगा। यदि आपने उसे कभी बिल खोदते नहीं देखा है, तो शायद आपको विश्वास न होगा कि वह १० सेकंड ही में अपना बिल खोदकर आपकी निगाह से गायब हो सकती है! वह तीन मिनट में १ फीट के हिसाब से अपना बिल खोद लेती है! कहा जाता है कि एक छछूँदर ने तो २५ घंटे में ६८ फीट लम्बी एक सुरंग खोद ली थी और दूसरी ने एक ही रात में १०० गज लम्बी सुरंग तैयार करली थी! ऐसी फुर्तीली होने के लिए उसमें शक्ति कहाँ से आती है? निश्चय ही वही छोटे-छोट कीड़े जिन्हें

वह बहुत बड़ी मात्रा में खा जाती है, उसे इतना बल देते हैं। अन्दाज लगाया गया है कि यदि वह पा जाय तो बोझ में अपने से दुगने कीड़े दिन-भर में वह समाप्त कर देती है! हानिकारक कीड़ों को नष्ट करने में छछूँदर निश्चय ही हमारे लिए एक बहुत लाभदायक जीव है।

झाऊचूहा

झाऊचूहे की दो उपजातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं। एक दक्षिण में नीलगिरि पर्वतमाला पर मिलती है, दूसरी उत्तर प्रदेश और पंजाब में रहती है। झाऊचूहे योरप, चीन और एशिया के अन्य भागों में भी मिलते हैं। वे कद में ८-९ इंच के होते हैं। उनकी टाँगें और आँखें छोटी-छोटी होती हैं। शरद् ऋतु में वे मोटे हो जाते हैं और शीतकाल के आगमन पर सूखे पत्तों के घोंसले में छिपकर वे समाधि लगा लेते हैं। वे इसी प्रकार सोते हुए जाड़ा बिता देते हैं। यह जीव कीटाणुभक्षक समूह में होते हुए भी अवसर पाने पर बिना खोलवाले घोंघे, केंचुए, मेढक, सर्प और चुहियों को भी अपने आहार में सम्मिलित कर लेता है।

चूहों के पकड़ने में वह बिल्ली से भी अधिक दक्ष होता है। जिस घर में वह पहुँच जाता है, उसमें चूहों का नाम भी नहीं रह जाता। उसमें एक बड़ा गुण सर्पनाशक होने का भी है। साँप के विष से उसे कोई हानि नहीं होती। वह साँप को सहज में वशीभूत कर लेता है और उसे चबा डालता है। झाऊचूहा रक्षा के लिए अपने काँटों का ही आश्रय लेता है। उसकी पीठ पर कुछ ऐसे पुट्ठे होते हैं, जिनके द्वारा वह अपने काँटों को खड़ा कर लेता है और गोल गेंद जैसा बनकर शरीर के सारे कोमल अंगों को पेट के नीचे छिपा लेता है। उत्तरी भारत के झाऊचूहे के काँटों का रंग काला और सफेद होता है और उनके नीचे मोटे-मोटे बाल भी होते हैं। उसकी दुम छोटी, घ्राणेन्द्रिय अति तीव्र और दृष्टि निर्बल होती है। उसके मुँह में कीलदन्त नहीं होते।

'श्रू' के नाम से पुकारा जानेवाला यह स्तनधारी २-२॥ इंच का ही होता है। इतना छोटा तथा देखने में भोला और संकोची होते हुए भी यह बड़ा सख्त लड़ाकू होता है और अपने से कई गुनी बड़ी चुहियों से निर्भयतापूर्वक भिड़ जाता है। यदि कहीं दो श्रू एक ही पिंजड़े में बंद हो जाय, तो उनमें घमासान युद्ध होता है और बहुधा एक दूसरे को मारकर खा जाता है। ये छोटे जीव नई दुनिया और पुरानी दुनिया दोनों ही में बहुतायत से मिलते हैं।

कुतरनेवाले जीव या रोडेन्ट्स

स्तनपोषी वर्ग के कुतरनेवाले प्राणी सारे भूखण्ड पर फैले हुए हैं। उनकी जनसंख्या और उपजातियों की तादाद सबसे बढ़ी-चढ़ी है। उनमें से ज्यादातर कद में छोटे और जमीन पर रहनेवाले हैं। लेकिन भाँति-भाँति की गिलहरियाँ एवं कुछ जाति के चूहे और चुहियाँ ऐसे भी हैं, जो पेड़ों पर रहते हैं। कुछ गिलहरियाँ ऐसी भी हैं, जो अपनी लटकती हुई ढीली खाल की सहायता से एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक हवा में उड़ जाती हैं। इस वर्ग के कुछ प्राणी पानी में रहनेवाले भी हैं, जैसे बीवर तथा जलवासी चूहे। वस्तुतः इस वर्ग के सदस्यों की सबसे अच्छी पहचान इनके दाँत हैं। सामने के दाँत बड़े और छेनी की तरह चौड़े रहते हैं। कीलें होती ही नहीं, उनका स्थान खाली रहता है। डाढ़ें चबाने योग्य होते हैं। इनके दाँत कठोर वस्तुओं को कुतर-कुतरकर काटने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं। इसी लक्षण के कारण उनकी कक्षा का नाम कुतरनेवाले जीवों की कक्षा अथवा 'रोडेन्शिया' रक्खा गया है। इस श्रेणी के जानवर अपना निर्वाह फल-फूल, अनाज, बीज, जड़, और वृक्षों की छाल आदि से करते हैं, किन्तु इनमें से कुछ सर्वभक्षी भी हैं।

कुछ कुतरनेवाले जीव ऐसे हैं, जिनमें ऊपर के जबड़े में दो ही कृन्तक दन्त होते हैं, जैसे चूहे, गिलहरी, सेही इत्यादि। कुछ ऐसे हैं, जिनके ऊपरी जबड़े में चार कृन्तक होते हैं, जैसे खरगोश, खरका और पाइका। चूहा, खरगोश, गिलहरी, सेही इत्यादि जीवों से तो अधिकतर भारतवासी

भली-भाँति परिचित हैं, इसलिए यहाँ हम दो-चार ऐसे जन्तुओं का ही हाल लिखेंगे, जिनको साधारण लोग नहीं जानते। किन्तु इसके पहले हम आपका ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट करना चाहते हैं कि ये छोटे-छोटे जीव हमें कितना अधिक नुकसान पहुँचाते हैं।

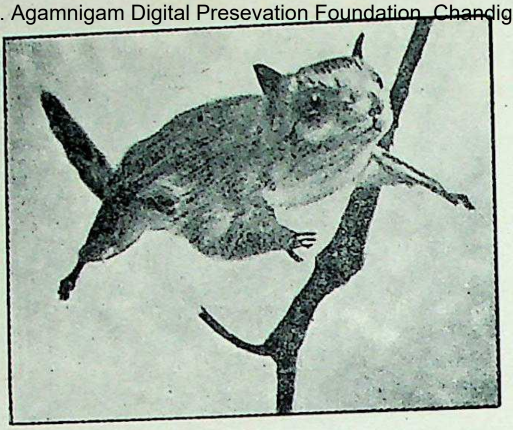

यह है बरमा की छोटी उड़नेवाली गिलहरी, जो उड़ने के लिए बिल्कुल तैयार है। उसके फैले हुए हाथ-पैर और चौड़ी उठी हुई दुम को देखिए। यह चिड़ियों की तरह तो नहीं उड़ पाती, लेकिन हवा में तैरती हुई बड़ी ही सरलता से लम्बे-लम्बे फासलों को पार करके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर पहुँच जाती है।

कुतरनेवाले जन्तुओं में सबसे अधिक हानिकारी चूहे हैं

नाना प्रकार के चूहे—भूरे, काले, घरेलू, खेत के या जंगल के—सभी हमारे काम की वस्तुओं को खाते और नष्ट करते हैं। सब खेती करनेवाले जानते हैं कि चूहे और सेही आलू और शकरकंद आदि तक खोदकर खा जाते हैं। सेही फल और नाज के पौधे तक काटकर गिरा देते हैं और गिलहरी फलों को कुतर डालती है। परन्तु आप यह जानकर स्तम्भित रह जाएँगे कि अकेला भूरा चूहा कितना नुकसान हमें पहुँचाता है। भारतीय घरेलू चूहा एक बहुसन्तानी जीव है। तीन मास की आयु से ही इसकी मादा बच्चे देने लगती है और प्रतिवर्ष कम-से-कम तीन बार उसके बच्चे पैदा होते हैं। प्रत्येक बार वह १०-१२ बच्चों को जन्म देती है। इससे हम अनुमान करें तो एक जोड़े के सन्तान की संख्या तीन वर्ष में २ करोड़ से भी अधिक हो जायगी ! यदि एक चूहा प्रतिवर्ष एक सेर अनाज खा डाले, तो इन २ करोड़ चूहों के लिए ५ लाख मन अनाज चाहिए ! इतने अनाज का मूल्य २॥ सेर प्रति रुपया के हिसाब से कितने रुपए का हुआ !

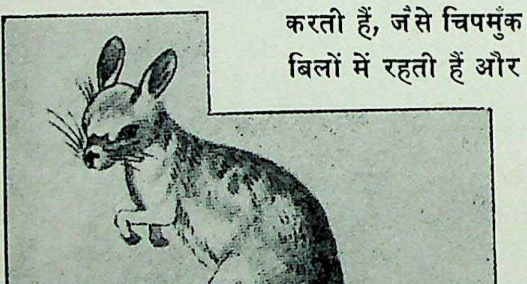

'हिरनामूसा' के नाम से पुकारा जानेवाला यह लघु स्तनपोषी मध्य एशिया, लंका, पूर्वी-दक्षिणी योरप और अफ्रीका में मिलता है। इसका शरीर ६-७ इंच लम्बा और दुम ८ इंच के करीब होती है। कँगारू की तरह यह भी पिछले पैरों पर बैठ जाता है और दुम के सहारे उछलकर ऐसे वेग से छलाँगे मारता है, मानो उड़ा जा रहा है। कहते हैं कि वह तीव्रगामी घोड़े की गति से भाग सकता है !

परन्तु कुतरनेवाले जीव हमें सदैव हानि ही नहीं पहुँचाते हैं, उनसे मनुष्य को कुछ फायदा भी होता है। प्राचीन काल ही से मनुष्य इनमें से सभी को खाता रहा है और अमेरिका के प्राचीन निवासी—रेड इंडियन—तो अब भी ऐसा ही करते हैं। गिलहरी और खरगोश उन लोगों के प्रिय आहार हैं। वे सेही के काँटों के आभूषण बनाते हैं। कस्तूरी चूहे और बीवर के नर्म बाल तो आजकल सभ्य संसार में भी वस्त्रों की सजावट के काम में आते हैं और इनका व्यापार भी होता है। हमारे देश में भी कोई-कोई लोग जंगली चूहा, खरगोश और सेही को चाव से खाते हैं।

उड़नेवाली गिलहरियाँ

कुतरनेवाले जीवों का दूसरा समूह गिलहरियों का है। गिलहरियों में से बहुत-सी ऐसी हैं, जो अपना अधिक समय वृक्षों पर ही काटती हैं। कुछ पहाड़ी चट्टानों पर रहना पसन्द करती हैं, जैसे चिपमुंक। कुछ ऐसी भी हैं, जो भूमि पर ही बिलों में रहती हैं और कुछ उड़नेवाली गिलहरियाँ भी हैं, जो कभी-कभी हवा में उड़कर एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक पहुँच जाती हैं। गिलहरियों की चंचलता और फुर्ती प्रसिद्ध है। वे थोड़ी देर भी एक ठिकाने पर विश्राम करते नहीं देखी जातीं। 'चिट्-चिट्', 'चुक-चुक' करती हुई कभी यहाँ तो कभी वहाँ, कभी इस डाल पर तो कभी उस डाल पर कूदती-फुदकती वे नजर आती हैं। एक डाल से दूसरी डाल पर कैसे अचूक निशाने से वे कूद जाती हैं ! इसमें उन्हें कभी भी धोखा नहीं होता। वे कभी-कभी चिड़ियों के अंडे लूटकर खा जाती हैं। कड़े-से-कड़े फलों के छिलकों को भी

पल भर में अपने तेज दाँतों से वे कुतर डालती हैं। अपने अगले पंजों में पकड़कर भोजन को कुतरती हुई वे कैसी सुन्दर लगती हैं ! अपने बच्चों के लिए पेड़ों पर छोटी-छोटी टहनियों और पत्तियों के घोंसले भी वे बना लेती हैं।

भारतवर्ष में धारीदार गिलहरी, जंगली गिलहरी और कलाट गिलहरी के अलावा कतिपय भूरी उड़नेवाली गिलहरियाँ भी मिलती हैं। उत्तरी भारत में एक जाति की उड़नेवाली गिलहरी मिलती है और दक्षिण में दूसरी जाति की। दक्षिणवर्ती जाति की उड़नेवाली गिलहरियाँ लंका से जापान तक के सभी देशों में मिलती हैं। ये सब १८-२० इंच लम्बी हुआ करती हैं, परन्तु कुछ छोटे कद की उड़नेवाली गिलहरियाँ भी हैं। एक जाति तो स्कैन्डीनेविया और रूस से लेकर जापान तक फैली हुई है। सबसे छोटी उड़नेवाली गिलहरी, जो बोर्नियो में मिलती है, छोटे चूहे के बराबर होती है। ये अजीब गिलहरियाँ जंगलों में ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के घने भागों में निवास करती हैं। सन्ध्या के समय और रात्रि में वे खेल-कूद करने को बाहर निकलती हैं। वे अँधेरे में अच्छी तरह देख सकती हैं। दिन भर वे गुड़ी-मुड़ी होकर किसी वृक्ष की खोह या अपने घोंसले में पड़ी सोया करती हैं। वे भूमि पर बहुत कम आती हैं और जब आती हैं, तो केवल उछल-उछलकर ही चल पाती हैं। परन्तु जब वे एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर जाना चाहती हैं, तो पेड़ की सबसे ऊँची डाल पर चढ़कर हवा में कूद पड़ती हैं और मानो वायु में तैरती हुई अन्य पेड़ पर जा उतरती हैं। जौर्डन नामक जन्तु-वैज्ञानिक ने भारत की उड़नेवाली गिलहरी के बारे में लिखा है:—

"मैंने अनेकों बार उन्हें उड़ते देखा है। एक बार एक गिलहरी एक पेड़ से दूसरे पर उड़ी और उसने ६० गज से कुछ अधिक फासला पार कर लिया ! दूसरे पेड़ के पास पहुँचते-पहुँचते वह भूमि से कुछ ही ऊँची रह गई थी, इसलिए उसे उड़ान के अन्त में नीचे की एक शाखा पर पहुँचने के लिए ऊपर को उठना पड़ा। इस प्रकार गिलहरियों को ऊपर उठते हुए मैंने कई बार देखा है।"

इन सुन्दर स्वप्निल आँखोंवाले वृक्षवासी जीवों के शरीर में उड़ने के लिए दोनों बगल में कलाई से टखने तक लटकती हुई खाल होती है, जो आगे की ओर कलाई से निकले हुए एक काँटे से चिपटी रहती है। जब गिलहरी हवा में उतरना चाहती है, तो वह अपनी टाँगों को फैला लेती है, ताकि उसकी यह लटकनेवाली खाल छाते की तरह फैल जाय और शरीर को हवा में साधे रहे। अपनी चौड़ी चपटी दुम से भी वह उड़ने में साहायता लेती है।

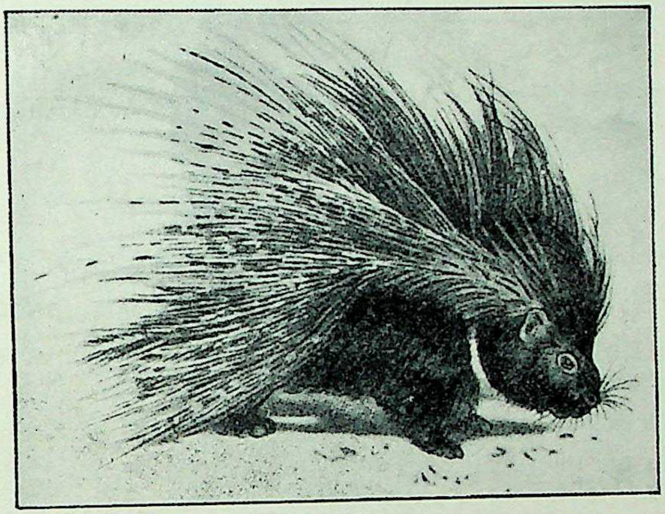

कुतरनेवाले स्तनपोषियों में सेही अपने ढंग का एक अनोखा जीव है। इसकी पीठ और दुम पर लम्बे, कड़े और फँसनेवाले काँटे होते हैं। ये काँटे खटका या आहट होने पर बिल्कुल सीधे खड़े हो जाते हैं। शत्रु के बिल्कुल समीप आ जाने पर सेही अपनी दुम को ऐसा झटका देता है कि काँटे शत्रु के मुँह पर चुभ जाते हैं।

कुतरनेवालों में सबसे बड़ा और चतुर जंतु—बीवर

स्तनधारियों में मनुष्य के अतिरिक्त सबसे प्रसिद्ध सहवासप्रिय जन्तु बीवर ही माना जाता है। एक ही घर में कई बीवर मिलकर रहते हैं और एक ही स्थान में उनके बहुत-से घर हुआ करते हैं। इस तरह उनके दल-के-दल बड़ी-बड़ी बस्तियों में निवास करते हैं। बीवर के जीवन की सभी मनोरंजक बातों का हाल लिखा जाय, तो एक अलग किताब बन जाय। उसकी शरीर-रचना, स्वभाव, परिश्रमशीलता, बुद्धि, सहयोग, सहकारिता सभी बातें ध्यान देने योग्य हैं।

बीवर की एक उपजाति उत्तरी अमेरिका में और दूसरी योरप में मिलती है। दोनों ही जातियों की जनसंख्या अब बहुत कम हो गई है, क्योंकि कुछ समय पहले तक बीवर के समूर और खाल की बड़ी माँग होने के कारण उनका बेतरह शिकार किया जाता रहा है। इसका कुछ अन्दाज हमें इस बात से हो सकता है कि लगभग १७५ वर्ष पूर्व कनाडा के क्यूबेक नगर से १ लाख से अधिक खालें प्रति वर्ष बाहर भेजी जाती थीं ! आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य के हाथ से ऐसा विध्वंस

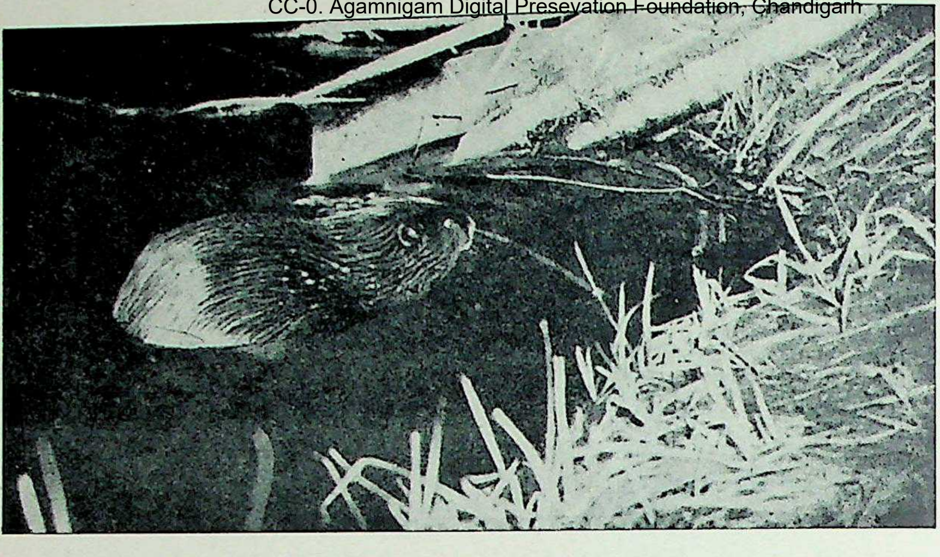

प्रस्तुत फोटोग्राफ में एक बीवर और उसके द्वारा काटी गई लकड़ी की कुछ डालियाँ दिखाई दे रही हैं। यह अनोखा जन्तु लकड़ियों से एक प्रकार का बाँध बना लेता है और इस तरह पानी को घेरकर उसके आस-पास अपनी बस्तियाँ बसाता है।

होने पर भी बीवर जाति पृथ्वी पर कायम बनी रही ! इसका एक मुख्य कारण यही समझ में आता है कि ये जीव छिपकर रहते हैं। अब तो कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह नियम बना दिया है कि उन्हें कोई न मारे।

बीवर सदा अपना घर नदी के तट पर ही बनाता है और प्रति वर्ष वह अपने गृह को बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि उसके घर का व्यास २० फीट या उससे भी अधिक हो जाता है और वह बाहर से देखने में गुम्बद के समान दिखलाई पड़ता है। छेनी जैसे दाँतों से वह वृक्षों की लकड़ियों और टहनियों को मनमानी लम्बाई की काटकर उन्हें अपने घर बनाने के काम में लाता है। उन्हें वह एक दूसरे के ऊपर ऐसा फँसाकर लगाता और मिट्टी से बाँध देता है कि गुम्बद के ऊपर से वर्षा का एक बूँद भी जल उनके अन्दर नहीं जा पाता। उसका घर तो पानी की सतह के ऊपर रहता है, किंतु बाहर जाने के लिए उसमें से एक द्वार इस तरीके से वह बनाता है कि वह सदा जल के भीतर ही डूबा रहे। इसी मार्ग से आवश्यकता पड़ने पर वह जल में शरण लेता है और इसी से घर में भोजन-सामग्री भी पहुँचाता है। पानी के भीतरवाले इस मार्ग की उपयुक्तता के लिए आवश्यक है कि उसके द्वार के सामने बराबर जल भरा रहे तथा जाड़े में जब बर्फ जमे तो जल इतना गहरा रहे कि बर्फ की तह द्वार तक पहुँचकर उसे बन्द न कर सके, साथ ही गरमी में जल इतना कम न हो जाय कि द्वार खुल जाय। इस बात की व्यवस्था यह जीव जिस प्रकार से चतुराई के साथ करता है, उसे देखकर हमें उसकी बुद्धि पर चकित रह जाना पड़ता है !

बीवर की चतुराई इस बात से प्रकट होती है कि वह अपना घर बनाने के लिए ऐसी जगह ढूँढ़ता है, जहाँ ऊपर उल्लिखित सभी बातें सुलभ हों। किन्तु यदि उसे कोई ऐसा स्थान नहीं मिलता, तो वह पानी को रोके रहने के लिए बाँध बना लेता है ! बाँध तैयार हो जाने पर जब वहाँ गहरा जल भर जाता है, तब वह अपनी गृह-निर्माण-क्रिया आरम्भ करता है। उसके घर बनाने की क्रिया में सबसे मुख्य और कठोर मेहनत का काम बाँध बनाना ही है, जिसमें असीम परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता होती है। बाँध बनाने में बीवर ऐसी चतुराई से काम लेता है, जैसे वह इंजीनियरी की अच्छी-से-अच्छी रीतियों से परिचित हो ! वह नदी के प्रवाह की ओर बाँध का किनारा ढालू रखता है और दूसरी ओर का सीधा ! पानी के जोर को तोड़ने के लिए इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं होता। जल विज्ञान का इससे भी अधिक उसका ज्ञान इस बात से प्रकट होता है कि साधारण नदियों में तो बीवर बाँध को सीधी रेखा में बनाता है, किन्तु जब बाँध बहुत लम्बा हो या ऐसी जगह बनाना पड़े, जहाँ ढाल के कारण जल का बहाव तेज हो, तो बाँध में ऊपर की ओर वह थोड़ी-सी गोलाई दे देता है, जिससे बाँध दृढ़ बना रहता है और जल का जोर टूट जाता है ! कभी-कभी ऐसे बाँधों के पीछे काफी बड़े तालाब और झीलें बन जाती हैं, जिनमें ये प्राणी अपनी बस्तियाँ बसाते हैं। वहीं वे अपना भोजन भी सुगमतापूर्वक खोज लेते हैं। बाँध बनाने के लिए बीवर किनारे पर एक फुट से भी अधिक व्यास के पेड़ों को, पिछली टाँगों पर खड़े होकर, अपने तीक्ष्ण दाँतों से चारों ओर कुतर-कुतरकर गिरा डालता है। कहा जाता है कि बीवर इन पेड़ों को इस प्रकार कुतरते हैं कि वे जल ही में या जिस ओर वे चाहें उसी ओर गिरें ! दो-तीन रातों ही के परिश्रम से एक जोड़ा बीवर एक छोटा-मोटा पेड़ गिरा डालता है !

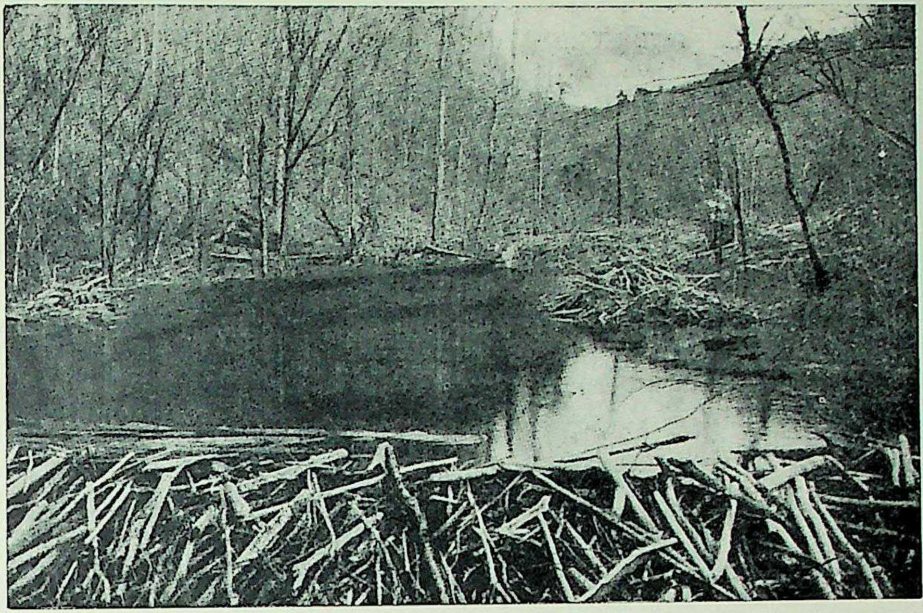

इस फोटोचित्र में वृक्षों की लकड़ियों को काट-काटकर बनाए गए एक कृत्रिम बाँध का दृश्य दिखाई दे रहा है। इसी कृत्रिम बाँध की बदौलत नाले का पानी रुककर यह छोटा-सा सरोवर बन गया है, जिसके तट पर बीवरों की बस्तियाँ बसी हुई हैं!

वृक्ष के गिर जाने पर वे उसके छोटे-छोटे टुकड़े काट लेते हैं।

यदि वृक्ष किनारे से दूर होते हैं, तो बीवर और भी कई चमत्कार दिखाते हैं। वे दूर-दूर तक लम्बी नहरें खोद डालते हैं, और काटी हुई टहनियों को घसीटकर किनारे पर लाकर जल में गिरा देते हैं और उन्हें बहाकर उस स्थान तक पहुँचाते हैं, जहाँ बाँध का निर्माण करना निश्चित किया रहता है! निश्चित स्थान पर पहुँचकर सैकड़ों बीवरों को इन लकड़ियों को चुनने, दबाने, खड़ा करने या एक दूसरे में फँसाने में बड़ी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। बिना किसी निर्देश के दल का प्रत्येक जन्तु कैसे अपना-अपना कर्त्तव्य निभाता है, यह हम नहीं जान सकते! यह भी पशु-बुद्धि के अनेकों आश्चर्यजनक करतबों में से एक है।

उड़नेवाले स्तनपोषी—चमगादड़

स्तनपोषी समुदाय में चमगादड़ ही ऐसे प्राणी हैं, जो पक्षियों के सदृश वास्तव में उड़ सकते हैं। प्रकृति ने उन्हें उड़ने के अवयव भी प्रदान किए हैं। परन्तु वे पक्षी नहीं हैं, क्योंकि उनके मुँह में दाँत होते हैं, और उनमें बच्चों के पालन-पोषण के लिए मादाओं के दो स्तन होते हैं। इनके उड़ने के अंगों में भी चिड़ियों की तरह पर नहीं होते। उड़ने के लिए इनके अगले अंग की चार उँगलियाँ छाते की तीलियों की तरह लम्बी हो गई हैं और शरीर के बगल से लेकर उनके छोर तक दोनों ओर वे पतली खाल या झिल्ली से मढ़ी रहती हैं। उनके हाथों के अँगूठे छोटे होते हैं और उन पर झिल्ली नहीं होती। उनके छोर पर पकड़ने के लिए नख होता है। टाँगों की उँगलियों में भी मजबूत नाखून होते हैं, जिनके सहारे वे उल्टे लटक जाते हैं। लटकते समय झिल्ली छाते की तरह बन्द होकर उनके शरीर के चारों ओर लिपट जाती है।

चमगादड़ यथासम्भव भूमि पर नहीं उतरता, क्योंकि जमीन पर बैठ जाने पर न तो वह ठीक से चल ही सकता है और न आसानी से उड़ ही सकता है। सभी जानते हैं कि वह अन्धेरे में ही निकलता है। जब अन्य साधारण पशु और पक्षी विश्राम करते हैं, तब इस प्राणी के जागरण का समय होता है। दिन भर वह अपना मुँह छिपाए किसी अन्धेरी गुफा या जनशून्य गृह की छतों से अथवा किसी पेड़ के खोखलों में या घने वृक्षों की डालियों में उल्टा लटका रहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसकी आँखें इतनी निर्बल होती हैं कि सूर्य के प्रकाश में वे खुल ही नहीं सकतीं। चमगादड़ों की दो जातियाँ हैं—एक कीटभोजी और दूसरी फलाहारी। कीटभोजी साधारणतः छोटे होते हैं और पृथ्वी के प्रायः सभी भागों में पाए जाते हैं। उनकी लगभग ६०० उपजातियों का अब तक पता चला है। इनके कान बड़े होते हैं और कुछ जातियों में नथुनों के चारों ओर पत्ती के आकार की-सी झिल्ली लगी रहती है। यही झिल्ली उनकी घ्राण-शक्ति को विशेष रूप से तीक्ष्ण बनाती है। फलाहारी चमगादड़ बड़े होते हैं और वे पुरानी दुनिया के गरम भागों में ही निवास करते हैं। इनका थूथन लोमड़ी के समान लम्बा होता है और इनकी झिल्ली का फैलाव ५ फीट तक पहुँच जाता है। इनके कान बहुत छोटे होते हैं और दुम भी बहुत छोटी-सी होती

है अथवा बिल्कुल होती ही नहीं । ये झुंड में रहते हैं और दिन भर पेड़ों में ही उल्टे लटके रहते हैं ।

ये सब अधिकतर एक ही वंश में सम्मिलित किए जाते हैं और इन्हें लोग अकसर 'उड़नेवाली लोमड़ी' भी कहते हैं । उत्तरी भारत में इन्हें 'बादून' और दक्षिणी भारत में 'गदल के नाम से भी पुकारते हैं ।

खुरवाले शाकाहारी स्तनपोषी--अंगुलेटा

इन स्तनपोषियों का मुख्य लक्षण यह है कि इनकी उँगलियाँ खुर से मढ़ी होती हैं या खुर-जैसे नखों से वे सुरक्षित रहती हैं । इनमें पेड़ पर चढ़नेवाले हाइरेक्स के सिवाय शेष सब स्थलवासी हैं और एक जगह से भाग या चलकर दूसरी जगह पहुँच जाते हैं । सभी खुरवाले जीव शाकाहारी होते हैं । पहले हाइरेक्स और हाथी इस खुरवाली श्रेणी से अलग गिने जाते थे, किन्तु अब वे भी इसी कक्षा में सम्मिलित कर लिए गए हैं । इस प्रकार इस कक्षा के जीव चार उपकक्षाओं में विभाजित किए जाते हैं--

(१) सम उँगलियोंवाले--इनमें गाय-बैल-भैंस आदि ढोर, भेड़-बकरी, भाँति-भाँति के हिरन, नीलगाय, लामा, ऊँट, जिराफ, सुअर और हिप्पोपोटेमस आदि शामिल हैं ।

(२) विषम उँगलियोंवाले—इस वर्ग में घोड़ा, गधा, जेबरा, तापीर और गैंडा सम्मिलित हैं ।

(३) हाइरेक्स—ये स्तनपोषी सिर्फ अफ्रीका में ही पाए जाते हैं और अपने कद तथा शक्ल में कुतरनेवाले जीवों से मिलते हैं, किन्तु इनके दाँत और मस्तिष्क विषम उँगलियोंवाले जीवों से मिलते हैं । ये जीव हाथी और गैंडे के बीच के समझे जाते हैं ।

(४) सूँड़वाले--इस वर्ग का एकमात्र वर्तमान प्रतिनिधि हाथी है, जिसकी दो जातियाँ—एक अफ्रीकी और एक भारतीय—मिलती हैं ।

आइए, अब स्तनपोषी समुदाय के इस विशाल परिवार के कतिपय चुने हुए बड़े सदस्यों के बारे में कुछ बातें आपको बताएँ । ये जन्तु-संसार के सबसे बड़े प्राणियों में से हैं।

स्थल का सबसे भारी जन्तु—हाथी

भला ऐसा कौन भारतवासी होगा, जो हाथी से परिचित न हो ? भारत से बाहर के बहुतेरे देशों के निवासियों के लिए यह प्राणी एक अद्भुत, अनोखा और बड़ा ही विचित्र जीवधारी है । परन्तु हमारे लिए तो वह सबसे सुपरिचित पशुओं में से एक है । हाथी को धरती के प्राणियों में सब से विशाल होने का गौरव प्राप्त है । सभी लोग जानते हैं कि उसके एक विचित्र सूँड़ होती है, जिससे वह हाथ का-सा काम लेता है । वह उससे वृक्ष की शाखाओं को तोड़कर नीचे नहीं गिराता, बल्कि उसे ऊँची उठाकर उससे ही अपने चारे को लेकर मुँह में रख लेता है । प्यास लगने पर उसी में पानी भरकर वह मुँह में उँडेल लेता है । जहाँ वह उससे भारी-भारी शहतीरों तक को उठाकर इधर-उधर रख देता है, वहाँ पैसे-जैसी नन्हीं वस्तु को भी उससे उठा लेता है !

आजकल हाथी केवल अफ्रीका और दक्षिणी एशिया में ही पाए जाते हैं । हम भारतवासी हाथी को देखकर सहज ही बतला सकते हैं कि वह देशी है अथवा विदेशी । अफ्रीका का हाथी भारतीय हाथी की अपेक्षा बड़ा और बलवान् होता है और उसके कान बहुत बड़े होते हैं । जब वह उन्हें पीछे को मोड़ लेता है, तो उनसे उसके कन्धे ढक जाते हैं । सूँड़ पर गौर करने से भी दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। अफ्रीका के हाथी की सूँड़ के छोर पर नीचे और ऊपर दो उँगलियाँ-सी निकली रहती हैं । एशियाई हाथी में उसके ऊपरी छोर पर केवल एक ही उँगली-सी होती है । इसके अतिरिक्त अफ्रीका वाले हाथी की पिछली टाँगों में तीन-तीन उँगलियाँ-सी होती हैं और एशियावाले में चार-चार । अफ्रीका का सबसे ऊँचा हाथी ११ फीट ८॥ इंच तक ऊँचा नापा गया था । एशिया के हाथियों में अब तक जो सबसे ऊँचा मिला है, वह १० फीट ६ इंच ही ऊँचा था । उनके बहुमूल्य दाँत के लिए हाथियों का शिकार भी किया जाता है । नर और मादा दोनों ही में दाँत होते हैं, किन्तु मादाओं में वे छोटे ही रह जाते हैं और मुँह के बाहर निकले हुए नहीं दिखलाई पड़ते। हाथी का एक दाँत ११-११॥ फीट तक लम्बा पाया गया है, जिसका कि भार २ मन से कुछ ही कम था ! हाथी-दाँत से बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ, जैसे चूड़ियाँ, शतरंज के मोहरे, खिलौने इत्यादि बनाए जाते हैं ।

दरियाई घोड़ा (हिप्पोपोटेमस) और गैंडा

हाथी के बाद सबसे भारी स्थलचर जानवर दरियाई घोड़ा या 'हिप्पोपोटेमस' है, जो अपनी छोटी-सी दुम सहित १६ फीट लम्बा होता है ! हिप्पो चर्बी और मांस का ऐसा भांडार होता है कि उसके पेट के घेरे का नाप लगभग उसकी लम्बाई के ही बराबर होता है । पूर्ण जवान हिप्पो ऊँचाई में तो लगभग ५ फीट का ही होता है, परन्तु उसका बोझ लगभग ११२ मन होता है ! स्थल के प्राणियों में सबसे बड़ा मुँह हिप्पो को ही प्राप्त हुआ है । उसमें दो भयानक फाड़ने-

वाले दाँत होते हैं । मुँह खोलने पर उसकी आकृति बड़ी ही डरावनी-सी लगती है ।

हिप्पो दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका के अतिरिक्त दुनिया में और कहीं नहीं पाया जाता । इस विशाल जन्तु को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उसको पृथ्वी पर चलने-फिरने में अवश्य ही कठिनाई होती होगी । किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह स्थल पर मनुष्य के बराबर ही तेज दौड़ सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह अपना समय अधिकतर पानी में ही व्यतीत करता है ।

गैंडा भी हाथी और हिप्पो के समान एक भारी-भरकम पशु है । इसकी दो उपजातियाँ भारतवर्ष में भी मिलती हैं। गैंडे की नाक पर एक या दो विचित्र श्रृंग होते हैं । इस सींग का स्थान जैसा अनोखा है वैसी ही उसकी रचना भी अद्‌भुत् है । अन्य पशुओं के सींग के समान उसमें हड्डी नहीं होती । वह एक बहुत मोटे और लम्बे बाल की नाई खाल से उगता है । एशिया में मिलनेवाले गैंडों में एक सींगवाला भारतीय गैंडा सब में बड़ा होता है । उसकी ऊँचाई कंधे तक ६ फीट होती है। जनरल किनलौख ने एक बार एक ऐसा गैंडा मारा था, जिसकी लम्बाई दुम को छोड़कर ८ फीट १ इंच थी। अफ्रीका का गैंडा भारतीय गैंडे से बड़ा होता है । उसका बोझ ८० मन से भी अधिक होता है । उसकी काली और श्वेत दो जातियाँ मिलती हैं । श्वेत गैंडा १२ फीट तक लम्बा होता है ।

संसार का सबसे ऊँचा प्राणी--जिराफ

जिराफ हाथी से भी अधिक ऊँचा होता है । उसको सृष्टि का सबसे ऊँचा जन्तु होने का गौरव प्राप्त है । उसका रूप भी

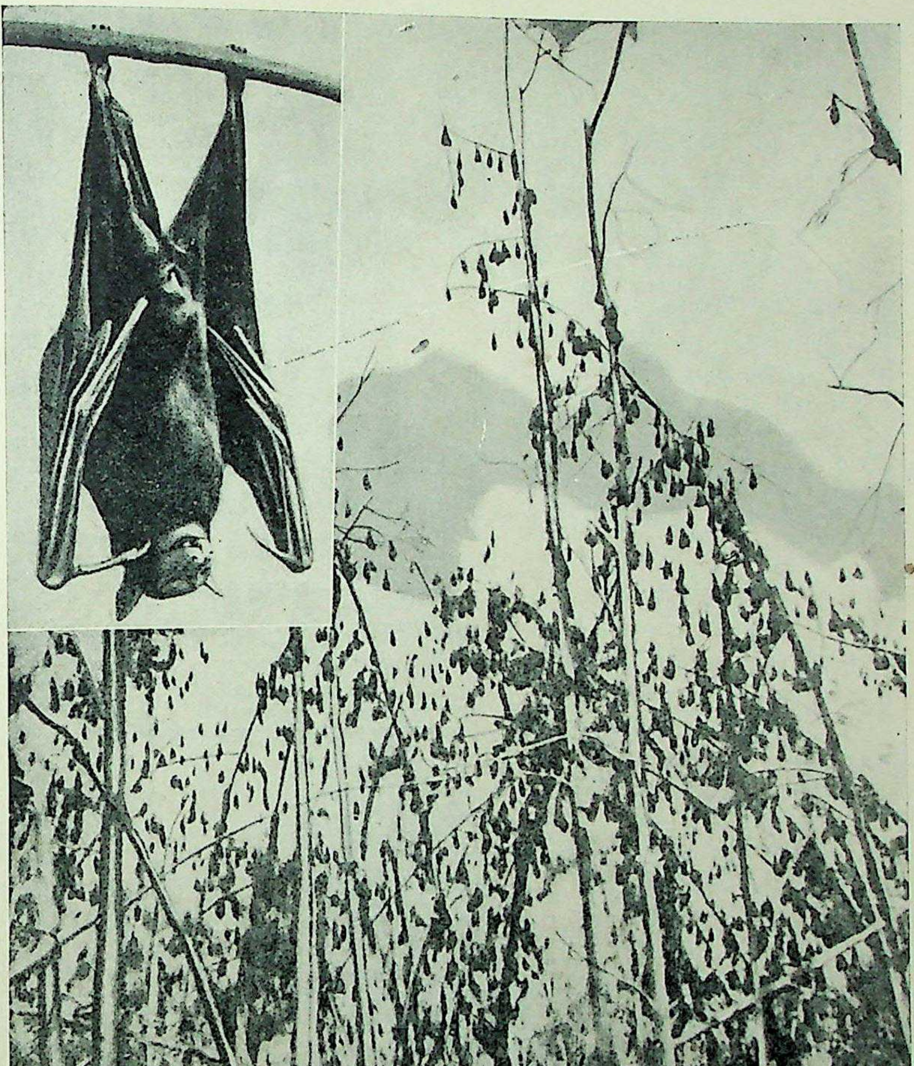

क्या आप पहचान सकते हैं कि इस पेड़ में क्या फला हुआ है ? ये फलफूल नहीं, केवल चमगादड़ के एक डेरे का चित्र है, जिसमें सैकड़ों चमगादड़ पेड़ पर से लटकते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं ! इस चित्र में केवल थोड़े ही से पेड़ नजर आ रहे हैं । पूरा डेरा तो २५ एकड़ तक फैला हुआ भी हो सकता है । कितने चमगादड़ इस एक जगह पर विश्राम करते होंगे, इसका अनुमान आप स्वयं कर लीजिए । ये दिन भर सोते रहते हैं और शाम के बाद भोजन की खोज में उड़ते हैं । ऊपर के कोने में इस औंधे लटकते हुए जीव का चित्र देखिए ।

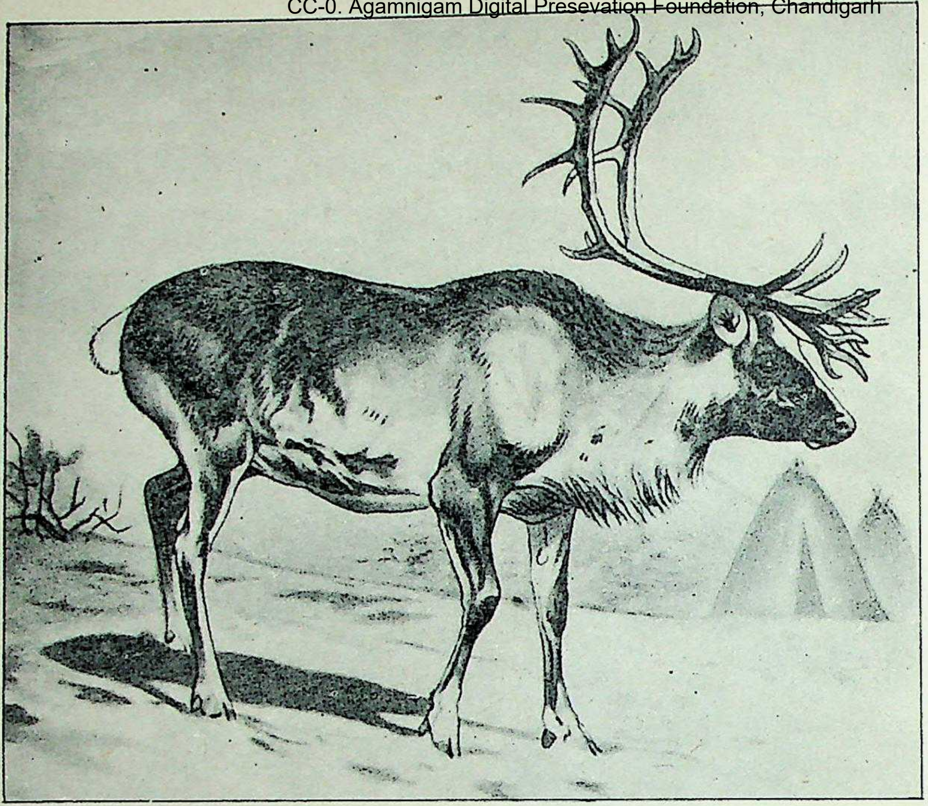

खुरवाले स्तनपोषियों के मृग-समूह के 'रेनडियर' नामक बारहसिंघे ने उत्तरी ध्रुवप्रदेशों के बर्फीले क्षेत्र को ही अपना आवासक्षेत्र बना लिया है। वह वहाँ के निवासी एस्किमो लोगों के लिए अति उपयोगी है। रेनडियर एस्किमो को मांस, दूध और खाल तो देता ही है, साथ ही उनके लिए वह घोड़े की तरह बोझा ढोने का भी काम करता है। यह पशु उस वीरान प्रदेश में जमी हुई काई को ही खाकर अपनी गुजर कर लेता है।

अजीब है। जन्तु-जगत् के किसी भी प्राणी से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। उसको देखने से यह बोध होता है कि प्रकृति ने ऊँट, हिरन और बैल तीनों के अंगों का एक अनोखा सम्मिश्रण करके उसे रचा है। कदाचित् आपने उस बुढ़िया की कहानी सुनी होगी, जिसने एक जंतुशाला में पहलेपहल जिराफ को देखकर कहा था, "क्या यह असली जानवर है? मुझे तो विश्वास नहीं होता!" सम्भव है कि आप भी पहले-पहल इस विचित्र जीव को देखकर यही विचार करेंगे, क्योंकि वास्तव में वह ऐसा ही अजीब है। उसकी लम्बी-पतली टाँगें, अत्यन्त लम्बी गर्दन, हास्यजनक छोटे-छोटे सींग और बड़ी-बड़ी भूरी आँखों को ध्यान से देखिए। क्या वह एक बहुत बड़े नकली खिलौने का भ्रम दर्शक के मन में नहीं पैदा करता? दौड़ते समय तो वह और भी अजीब दिखलाई देता है। उस समय वह अपनी पिछली टाँगों को सामनेवाली टाँगों के आगे डालता है और अपनी लम्बी गर्दन को नीचे-ऊपर करके एक अजीब मसखरे के-से ढंग से हिलाता जाता है।

जिराफ इतना ऊँचा होता है कि यदि दो हाथी भी एक दूसरे पर खड़े हो जायँ, तब भी वह उनके ऊपर गर्दन ऊँची कर सकता है! उसकी ऊँचाई १९ या २० फीट तक होती है। हाथी के समान वह भी झुंडों में रहा करता है। जिराफ अफ्रीका के मध्य भागों में ही पाया जाता है। उसकी लम्बी गर्दन और चित्तीदार नारंगी रंग उसे वहाँ के पुराने वृक्षों के जंगलों में रहने में विशेष सहायता देते हैं। उसे इन वृक्षों की पत्तियाँ बहुत प्रिय हैं, परन्तु वे भूमि से काफी ऊँचाई पर होती है। कहा जाता है कि जिराफ युगों से अपनी गर्दन उन पत्तियों तक पहुँचाने की चेष्टा करता रहा, इसीलिए धीरे-धीरे उसकी गर्दन लम्बी होती चली गई, यहाँ तक कि उसने अपना वर्तमान रूप धारण कर लिया। जिराफ के मनोहर रंग की उपयोगिता का वर्णन एक प्रसिद्ध शिकारी गॉर्डन कोमिंग ने निम्न शब्दों में किया है:—

"जान पड़ता है कि सृष्टि को सुशोभित करने के लिए जो नाना प्रकार के जीव रचे गए हैं, उनमें और उनके निवास-स्थानों के दृश्यों में एक अद्‌भुत समानता है। उदाहरणस्वरूप जिराफ ही को ले लीजिए। वह अफ्रीका के बड़े पुराने जंगलों में रहता है, जहाँ बहुत से हरे और सूखे वृक्ष होते हैं। मैं प्रायः वहाँ पहुँचकर धोखा खा जाता था। मैंने अपने जंगली नीग्रो साथियों की भी परीक्षा की, परन्तु वे भी भ्रम में पड़कर दूर से जिराफ को कभी तो किसी पेड़ का तना समझते थे और कभी वृक्षों के तनों को ही जिराफ बतलाते थे!" स्पष्ट है कि उसके शरीर का हलका नारंगी रंग और उस पर पड़े हुए वे धूमिल धब्बे वृक्षों की छाया में उसे लगभग अदृश्य बना देते हैं और शत्रुओं से उसकी रक्षा करने में सहायक होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मनुष्य द्वारा पालतू बना लिए गए भाँति-भाँति के उपयोगी स्तनपोषी

स्तनपोषित वर्ग के विभिन्न प्रकार के जानवरों में से बहुतेरे ऐसे हैं, जो मनुष्य के लिए अति उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनमें से कई को तो मनुष्य ने पालतू भी बना लिया है। गाय, कुत्ता, घोड़ा, बकरी इत्यादि इसी प्रकार के पशु हैं, जिनको मनुष्य अत्यंत प्राचीन काल से घरेलू बना चुका है। कुछ ऐसे भी हैं, जो अब तक पूर्ण रीति से घरेलू नहीं बन पाए हैं, किन्तु आशा है कि धीरे-धीरे कुछ समय में वे भी पालतू बन जायँगे। जो पशु मनुष्य के लिए सबसे जरूरी हैं उनमें से कुछ हमारी बस्तियों के आसपास ही इकट्ठे रहते हैं। वे किसानों के प्रति दिन के साथी हैं और सदा उनकी रखवाली में ही अपना जीवनयापन करते हैं। उनकी स्वतन्त्रता सीमित है। उनका आहार भी उन्हें उनके मालिक ही देते हैं। इस प्रकार उनका जीवन भी मानव-जीवन के समान ही बहुत-कुछ कृत्रिम बन गया है। ये जीव मनुष्य का बोझा ढोते, उसकी गाड़ियाँ खींचते और उसे दूध, मांस, ऊन आदि प्रदान करते हैं। मनुष्य की उन्नति में उन्होंने बहुत बड़ा भाग लिया है। यदि मनुष्य ने कुत्ते के समान बफादार तथा घोड़े, बैल, गाय और बकरी की तरह लाभदायक जन्तुओं को पालतू बनाकर अपने अधीन रखने में सफलता न पाई होती, तो आज उसका जीवन कदापि इतना सुगम और सरल न होता। हम सभी जानते हैं कि प्रागैतिहासिक काल में हमारे पूर्वज जंगली थे। वे देश-देश में भटका करते थे। अपने भोजन और वस्त्र के लिए उन्हें अपनी आखेट-संबंधी कुशलता का ही सहारा लेना पड़ता था। समय बीतने पर जब उन्होंने आवारागर्दी की जिन्दगी छोड़ी और इकट्ठे होकर छोटी-छोटी बस्तियों में रहना शुरू किया, तो कभी-कभी कदाचित अपने दिल बहलाव के लिए वे जानवरों के नन्हें-नन्हें बच्चों को पकड़कर अपने साथ रखने लगे होंगे। धीरे-धीरे जब ये पालतू बच्चे बड़े हुए होंगे, तो उनके भी बच्चे हुए होंगे और इसी तरह घरेलू जानवरों की पहली नस्लें बनी होंगी।

मनोरंजन के लिए पाले गए इन जानवरों से मनुष्य ने शीघ्र ही नाना प्रकार के लाभ उठाना सीख लिया। शिकार न मिलने पर अब उसे भूखा रहने की जरूरत नहीं रह गई,

मनुष्य द्वारा पालतू बना लिए गए खुरवाले पशुओं में भेड़ का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह पशु न केवल अपने मांस द्वारा मनुष्य की उदर-पूर्ति करता है, प्रत्युत उसके वस्त्रों के लिए ऊन की पूर्ति करने का भी वही प्रमुख साधन है। यही नहीं, उसकी खाल भी हमारे लिए एक कीमती वस्तु है। प्रस्तुत चित्र में ऑस्ट्रेलिया की जगत्-विख्यात् मेरीनो नामक भेड़ और उसका झुंड दिग्दर्शित है। यह भेड़ अपने ऊन के कारण बहुत कीमती समझी जाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्योंकि पाले हुए बैल, बकरी या भेड़ को ही मारकर अब वह अपनी हाँडी गरम कर सकता था। इसी तरह पकड़कर रक्खी गई गाय से इच्छानुसार उसे दूध भी मिलने लगा और ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र बनाने के लिए पालतू भेड़ों से ऊन तथा चमड़ा आदि भी उसे प्राप्त होने लगा। इस प्रकार मनुष्य और पशुओं का पारस्परिक सम्बन्ध लगातार घनिष्ट होता चला गया और बहुत-से लाभदायक जानवरों को मनुष्य ने पालतू बना लिया। उसका यह कार्य अब भी जारी है।

मनुष्य का सबसे पहला मित्र संभवतः कुत्ता था। अब भी कुत्ता और बिल्ली ही दुनिया भर में सबसे प्रसिद्ध घरेलू जानवर हैं। बिल्ली तो केवल हमारे मनोरंजन का ही एक साधन है, यद्यपि वह चूहे और चुहियों को कम करने में भी सहायक होती है; किन्तु कुत्ता मनुष्य का विश्वसनीय मित्र है। वह उसकी सम्पत्ति का पहरुआ ही नहीं है, वरन् उसको और भी बहुत-से काम सिखा लिए गए हैं। उसकी बहुत-सी चतुराइयाँ आपने सरकसों में देखी होंगी। कहीं कहीं कुत्तों से बर्फ की गाड़ी खींचने तक का काम लिया जाता है। कई देशों की पुलिस उनसे अपराधी को घेरने और पकड़ने का कार्य भी कराती है। भाँति-भाँति के शिकारों को घेरना तथा उन्हें उठाकर अपने मालिक के पास ले आना तो उनके लिए एक मामूली-सी बात है।

स्तनपोषी इन चार मुख्य रीतियों से हमारी सेवा करते हैं—

(१) भोजन-सामग्री देकर	(२) वस्त्र के लिए सामग्री देकर
(अ) मांस	(अ) ऊन और बाल
(आ) दूध	(आ) खाल और समूर
(३) काम में सहायता देकर	(४) अन्य उपयोगी वस्तुएँ देकर
(अ) शिकार में	(अ) हड्डी, हाथीदाँत, सींग
(आ) माल ले जाने अथवा सवारी ढोने में	(आ) सरेस
	(इ) तेल, चर्बी आदि

उपर्युक्त विवरण से यह न समझना चाहिए कि स्तनपोषी हमारे लिए लाभप्रद ही हैं। बहुतेरे ऐसे भयंकर जीव भी पृथ्वी पर मिलते हैं, जो हमारे प्राणों के घातक हैं। वे अवसर प्राप्त होने पर हम पर आक्रमण करने से कभी नहीं चूकते। यह अवश्य है कि दुनिया की आबादी बढ़ जाने तथा जंगलों के नष्ट हो जाने से मनुष्य के इन शत्रुओं की संख्या बहुत कम हो गई है। बंदूक लिए हुए मनुष्य वनों में निरंतर उनका मुकाबला करता है। अनेकों पशु ऐसे भी हैं, जिन्हें मनुष्य ने, शिकार के शौक में, अहानिकारक होते हुए भी इतनी संख्या में नष्ट कर डाला है कि कई एक का तो इस पृथ्वीतल से नाम-निशान भी मिट गया है और कई केवल नाम मात्र के लिए ही बचे रह गए हैं। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका में बिसन, कनाडा में बीवर और भारतवर्ष में गैंडा तथा सिंह बहुत थोड़ी-सी संख्या में शेष रह गए हैं। अगर इनके मारने के लिए कानूनी रोक-टोक न कर दी गई होती, तो ये सब भी अपना अस्तित्व न जाने कब के खो बैठते। स्पष्ट है कि अन्य जन्तुओं की तरह इन पशुओं के भी अस्तित्व की बागडोर आज मनुष्य के ही हाथों में आ गई है।

भोजन-सामग्री देनेवाले जीव

दूध और उससे बनी हुई चीजें जगत् के सभी भागों में मानव-आहार का प्रधान अंग हैं। दूध देनेवाले पशुओं में गाय और भैंस सर्वश्रेष्ठ हैं, लेकिन बकरी, लामा, ऊँट और बारहसिंघे (रेनडियर) का दूध भी अन्य देशों में यथेष्ट परिमाण में काम में लाया जाता है। मनुष्य के सब भोजनों में दूध ही ऐसी चीज है, जो अकेला ही उसके जीवन को कायम रख सकता है। प्रारम्भिक बाल्यावस्था से ही हम उसका सेवन कर सकते हैं। प्रकृति का प्रबन्ध ऐसा उत्तम है कि पृथ्वी के प्रत्येक भाग में कोई-न-कोई दूध देनेवाला जानवर जरूर मिलता है। पहाड़ों पर बसनेवालों को भेड़ और बकरी, मैदान में रहनेवालों को गाय-भैंस, रेगिस्तान के लोगों को ऊँट और अत्यन्त ठंडे बर्फीले प्रदेशों के निवासियों को रेनडियर से दूध मिलता है।

दूध-दही के लिए तो मनुष्य गाय-भैंस को पालते ही हैं, किन्तु कदाचित् आपको इस बात का अनुमान न होगा कि मांस के लिए भी जानवर कितनी बड़ी संख्या में पाले जाते है। दुनिया में गोश्त की माँग का सबसे बड़ा हिस्सा सम-उँगलियोंवाले पशुओं से ही पूरा होता है। भेड़-बकरी के अलावा गाय और सुअर ही मांस देनेवाले मुख्य जानवर हैं। संयुक्त-राज्य (अमेरिका) में हिसाब लगाया गया है कि हर साल २० करोड़ से अधिक मवेशी, १ करोड़ ५० लाख से अधिक भेड़ें और बकरियाँ, और ८ करोड़ से भी अधिक सुअर वहाँ मारे जाते हैं!

संसार में सबसे अधिक मवेशी (गाय, भैंस, आदि) भारत, संयुक्त राज्य (अमेरिका), अर्जेन्टाइन, रूस और ब्राजील में पाए जाते हैं। वे देश, जहाँ भेड़ें अधिक मिलती हैं, संयुक्त राज्य (अमेरिका), ब्राजील, जर्मनी और ऑस्ट्रेलिया हैं। सुअर पालनेवाले देशों में सबसे आगे ऑस्ट्रेलिया, रूस, संयुक्त राज्य (अमेरिका), अर्जेन्टाइन और दक्षिणी अफ्रीका

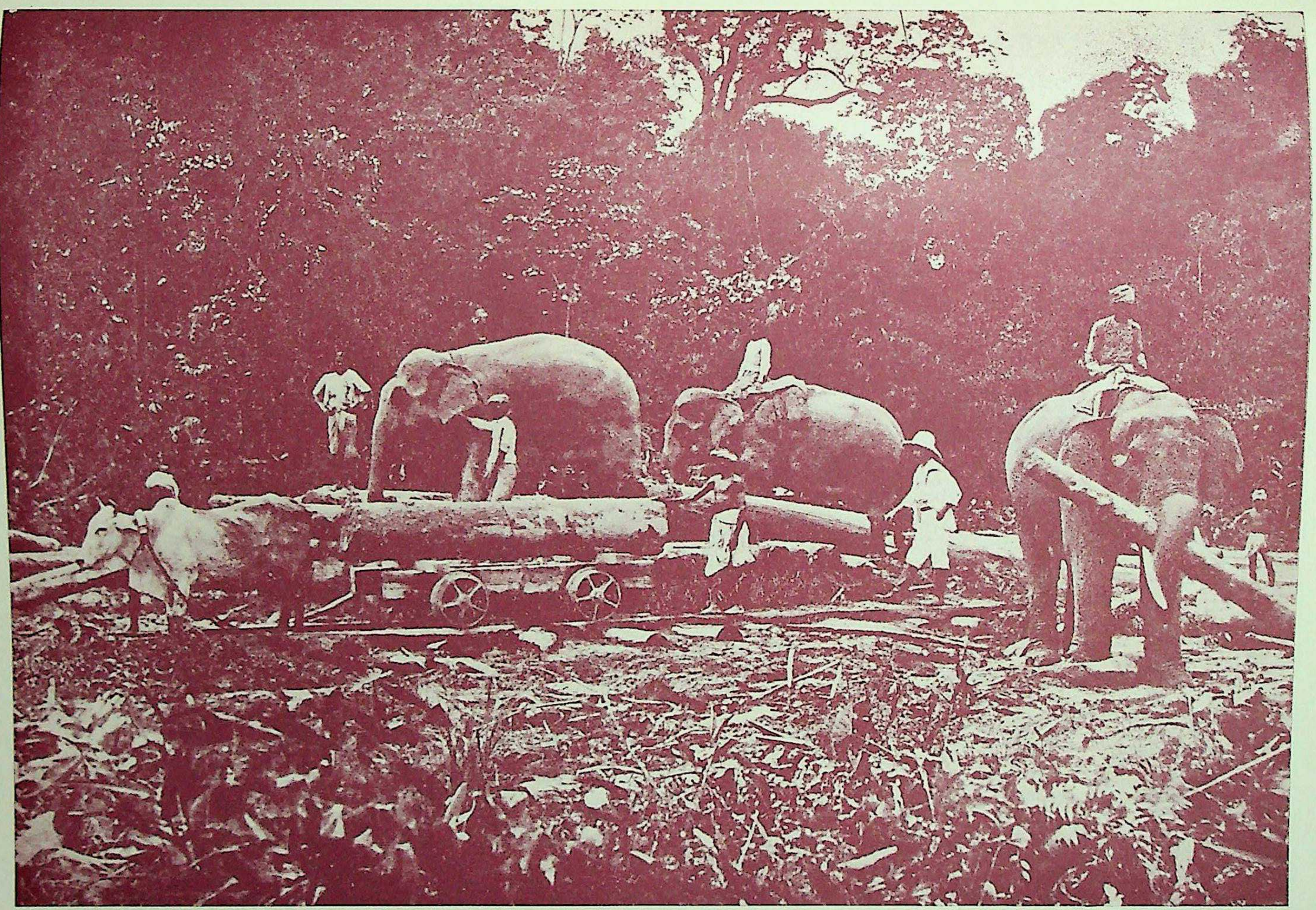

स्तनपोषी स्थलचर प्राणियों में सब से बड़ा जीव 'हाथी', जो पालतू बन जाने पर अनेक भारी परिश्रम के काम करने में मनुष्य का मददगार होता है ।

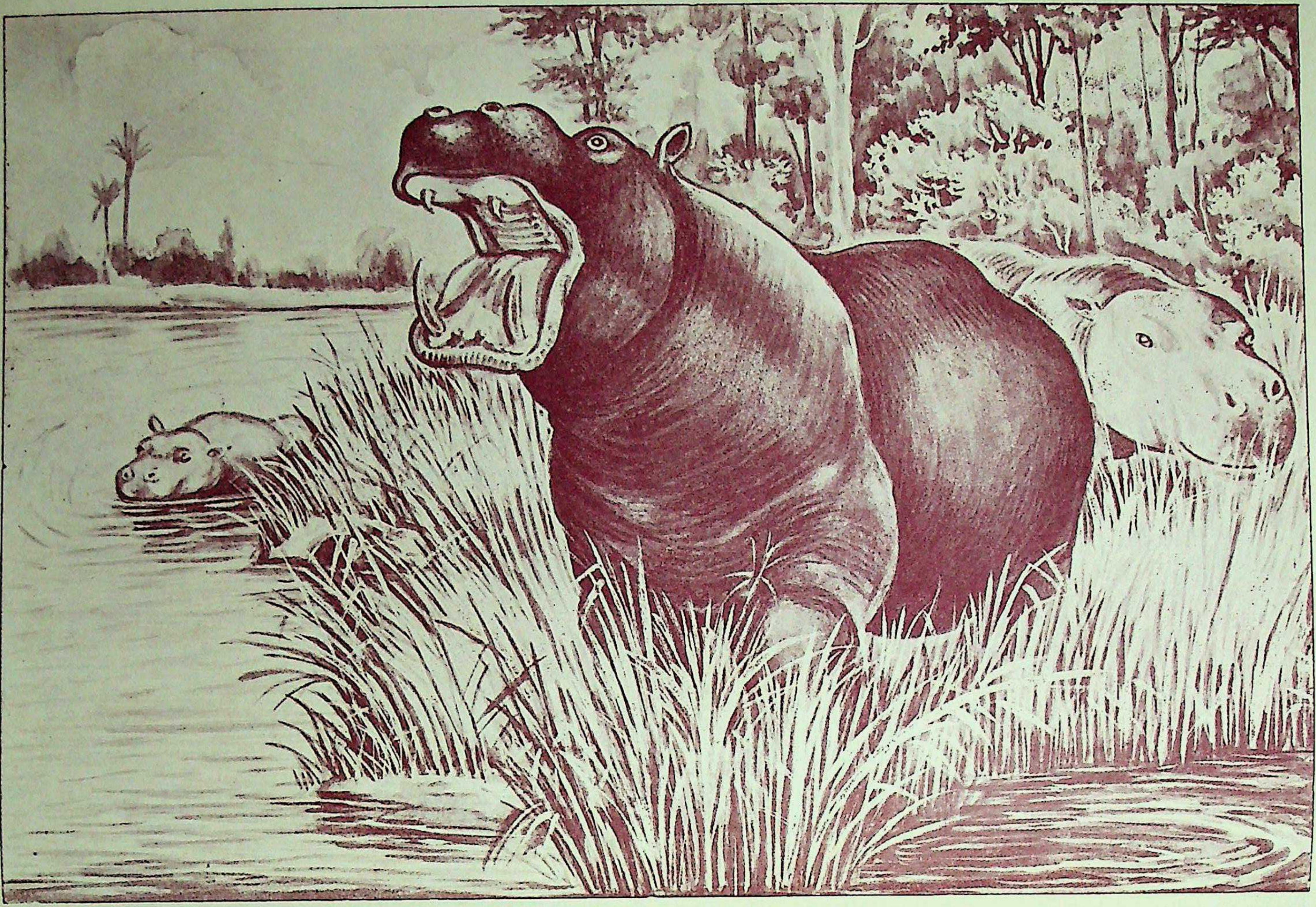

डीलडौल और वजन के लिहाज से हाथी के बाद सब से बड़ा स्तनपोषी 'हिप्पोपोटेमस' (दरियाई घोड़ा), जो एक जल-स्थलचर प्राणी है ।

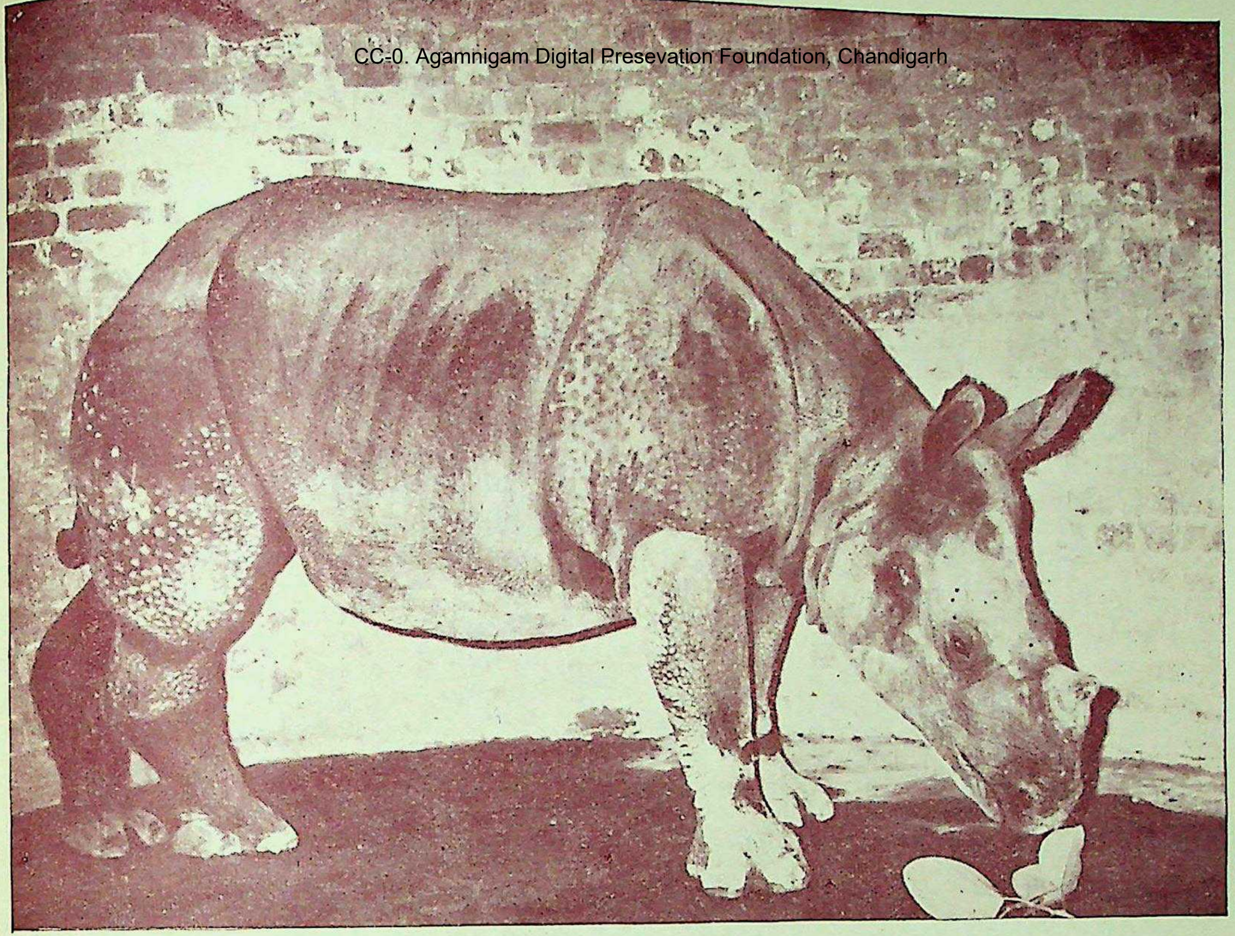

थूथन पर अनूठा शृंग उगाए रहनेवाला स्तनपोषी 'गैंडा' :: यह अभी हाल में लखनऊ के जन्तु-संग्रहालय में आया है। यह अभी पूर्ण वयस्क नहीं है, इसी से इसके थूथन पर का शृंग इतना छोटा है (फो०--पी० के० टंडन।)

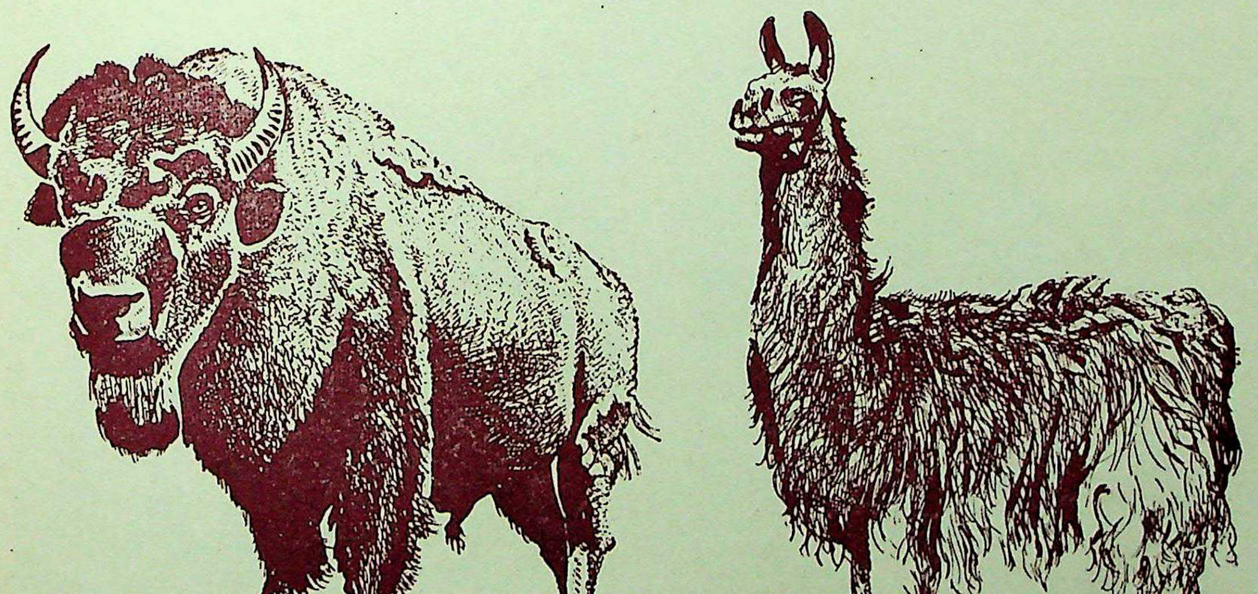

खुरवाले स्तनपोषियों के दो अनूठे सदस्य--(बाईं ओर) 'बिसन' नामक जंगली भैंसा और (दाहिनी ओर) 'लामा'।

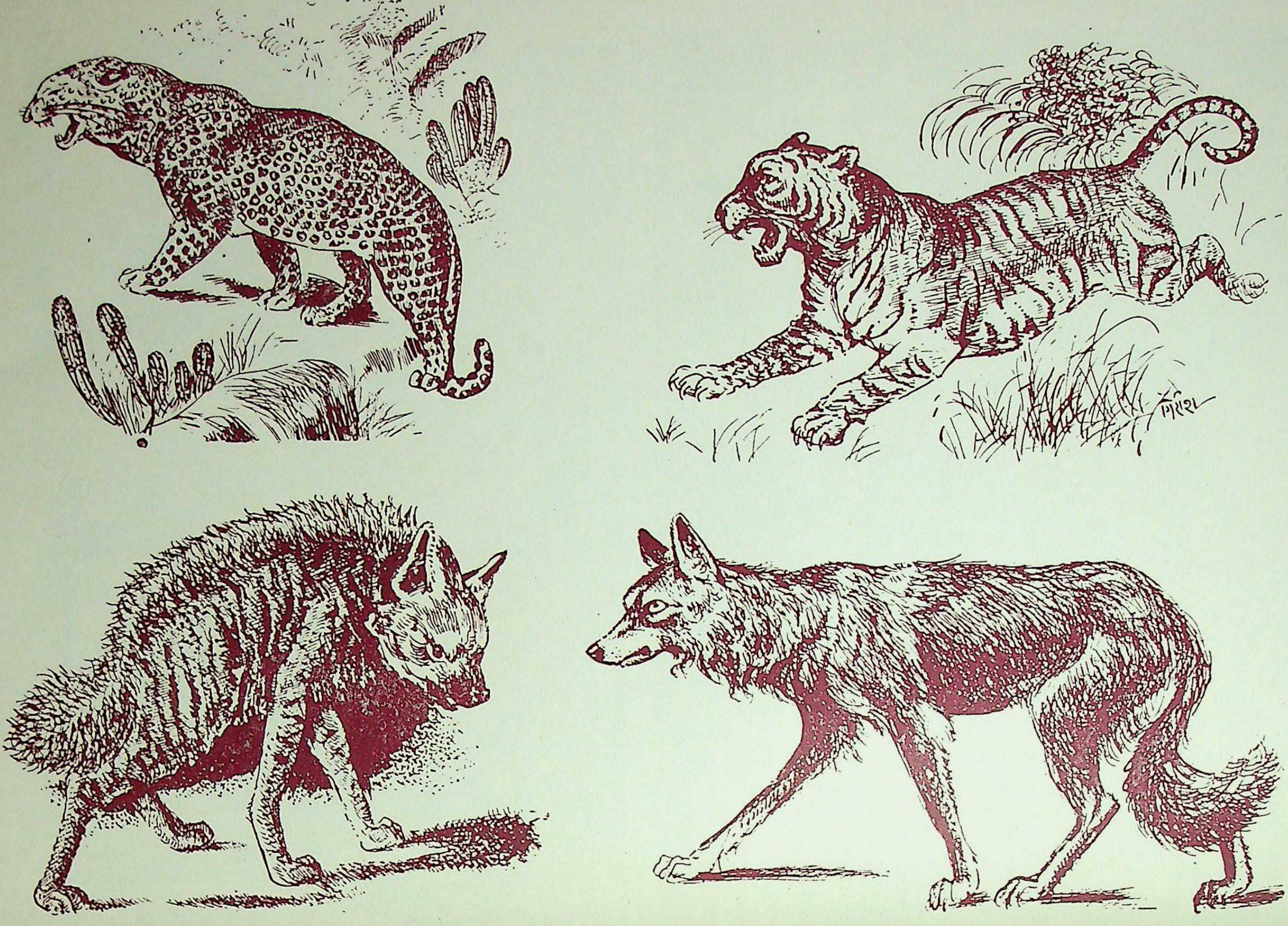

स्तनपोषियों के मांसाहारी वर्ग के चार भयावने सदस्य——(ऊपर बाईं ओर से दाहिनी ओर को) तेंदुआ और बाघ (टाइगर), (नीचे) लकड़बग्घा, और भेड़िया।

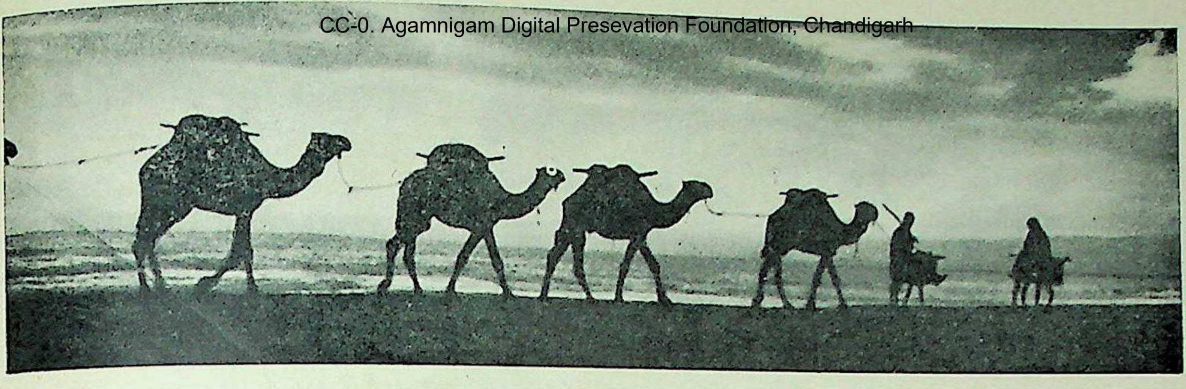

ऊँट को 'रेगिस्तान के जहाज' की जो उपमा दी गई है, सो बिल्कुल यथार्थ है। यदि ऊँट न हो, तो रेगिस्तान की बालू से पार पाना मनुष्य के लिए कठिन हो जाय। प्रकृति ने इस जानवर को ऐसा बनाया है कि हर तरह से यह रेगिस्तान के अनुकूल है। प्रस्तुत चित्र में मरुभूमि की मंजिल तय करते हुए असबाब से लदे हुए ऊँटों का एक कारवाँ दिखाई दे रहा है।

का स्थान है। इनके अलावा और भी कई खुरवाले पशु भिन्न-भिन्न देशों में पाए जाते हैं। दक्षिणी अमेरिका में ऊँट के छोटे भाई 'लामा' और 'अलपाका' का भी गोश्त खाया जाता है। उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों के निवासी रेनडियर का ही मांस खा लेते हैं। रेनडियर पहले अलास्का में नहीं पाया जाता था। संयुक्त राज्य (अमेरिका) की सरकार ने एस्किमो लोगों के फायदे के लिए सन् १८७९ में साइबेरिया से ५०० रेनडियर ले जाकर वहाँ छुड़वा दिए थे। उनकी संख्या वहाँ अब लगभग कई लाख हो गई है और अब वे उस देश के ही लिए नहीं, बल्कि और देशों के लिए भी मांस भेजते हैं। योरप और ऑस्ट्रेलिया में खरगोश भी मांस देनेवाले पशुओं में स्थान पाए हुए है।

प्रागैतिहासिक मनुष्य जंगली घोड़ों का भी शिकार किया करता था, क्योंकि जंगली घोड़े का मांस ही उसका मुख्य आहार था। पाषाण-काल के मनुष्यों की एक गुफा के द्वार के सामने करीब १ लाख ऐसे जंगली घोड़ों की हड्डियाँ मिली हैं। दो दीवारों की-सी शक्ल के ढेर लगे हुए थे, जिनमें से एक १५० फीट लम्बा और १० फीट ऊँचा था तथा दूसरा ४० फीट लम्बा और १० फीट ऊँचा था!

खाल, ऊन और बाल देनेवाले जानवर

जानवरों की खालों का प्रयोग मनुष्य बहुत दिनों से करता आया है। उसने अपना शरीर ढँकने के लिए सबसे पहले खाल ही को पहना था। आजकल जो जानवर मांस के लिए मारे जाते हैं, उन्हीं की खालें चमड़े की पूर्ति का हमारा प्रमुख साधन हैं। इसके अलावा उन जानवरों की खालों का भी प्रयोग किया जाता है, जो खाए नहीं जाते। कमाने और साफ किए जाने के बाद चमड़े से जूते, वस्त्र, जीन, साज, पेटियाँ, किताबों की जिल्दें, सूटकेस तथा सैकड़ों और भी कई

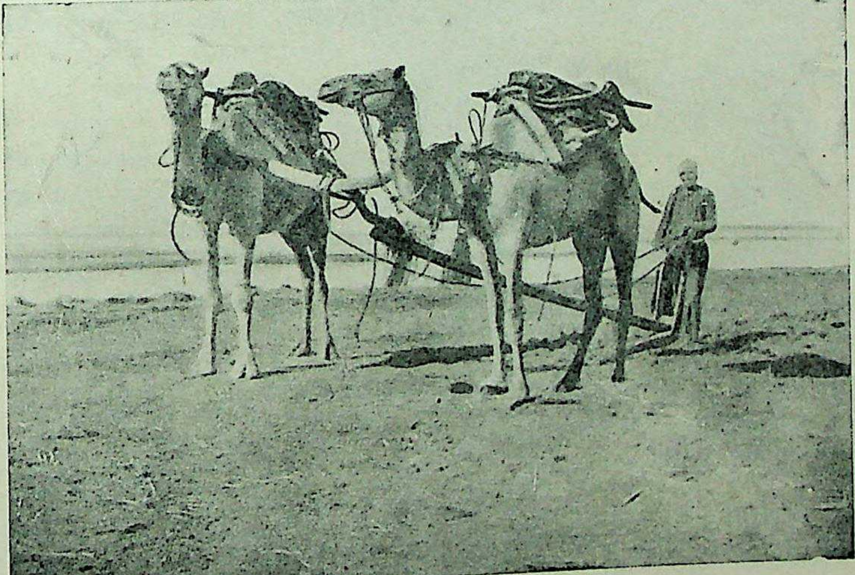

ऊँट केवल 'रेगिस्तान का जहाज' मात्र नहीं है, वह कृषि आदि कार्यों में भी रेगिस्तान-वासियों का सहायक है। मिस्र देश में ऊँटों से हल चलाने का काम लिया जाता है। हमारे देश में राजस्थान और दिल्ली प्रदेश में ऊँटों को गाड़ी में भी जोता जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चीजें बनाई जाती हैं। मनुष्य ने चमड़े की प्राप्ति के लिए कितना अत्याचार किया है, इसका एक ही उदाहरण यहाँ सुन लीजिए। अमेरिका में गृह-युद्ध के पश्चात् जब 'यूनियन पैसिफिक रेलरोड' बनाई गई और गोरीचमड़ीवाले लोग भीतरी मैदानों में सुविधापूर्वक विचरने लगे, तो वहाँ अधिकता से मिलनेवाले 'बिसन' नामक भैंसे का इस निर्दयता से उन्होंने शिकार किया कि १५ वर्ष के अन्दर उस 'रेलरोड' के दोनों ओर दूर तक बिसन का नाम भी न रहा! कहते हैं कि केवल १८७६ ई० में ही अकेले फोर्ट बेन्टन के बन्दरगाह से ८० हजार बिसन की खालें बाहर भेजी गई थीं! उस समय से उनकी संख्या लगातार कम होती गई, यहाँ तक कि १८८४ ई० में एक भी खाल बाहर नहीं भेजी जा सकी, क्योंकि वह उपलब्ध ही नहीं थीं।

स्तनपोषियों के बालों से भी हमारे कई काम निकलते हैं। मोटे बाल पलंग और कुर्सियों के गद्दों और गद्दियों में भरे जाते हैं। उन्हें जमाकर नमदे भी बनाए जाते हैं और बड़े-बड़े कीमती कालीन भी उन्हीं से तैयार किए जाते हैं। नरम बाल से (जिसे ऊन कहते हैं) कपड़े बनते हैं। ऊनी कपड़े मजबूत तो होते ही हैं, इसके अलावा वे हमें सर्दी और पानी से भी बचाते हैं। भेड़ की ऊन सर्वोत्तम तथा सबसे उपयोगी है। इसके अलावा बकरा, अलपाका और ऊँट से भी ऊन मिलती है। कुछ जाति की बकरियाँ दूध के लिए पाली जाती हैं और कुछ केवल अपने नरम बालों के लिए ही। काश्मीर और अंगोरा के बकरे अपने ऊन के लिए बहुत कीमती समझे जाते हैं। जगत्-विख्यात काश्मीरी दुशाले और पश्मीने इन्हीं के ऊन से बनते हैं।

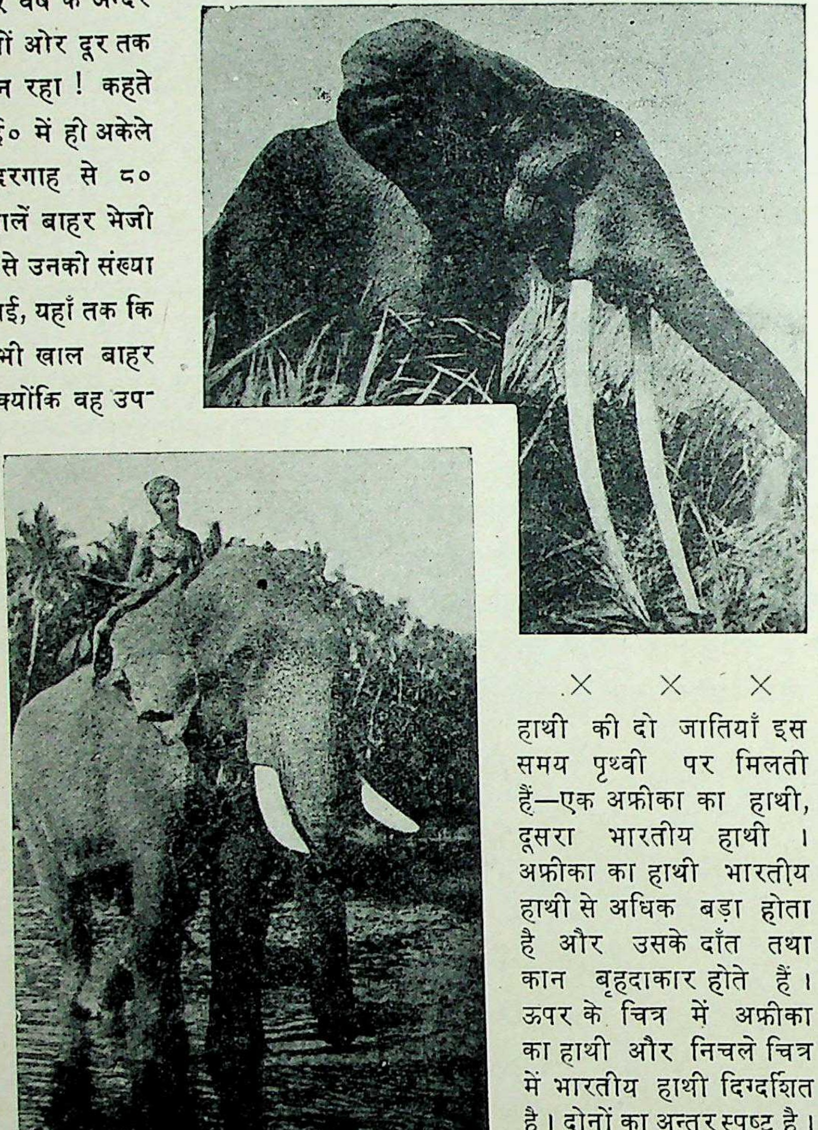

× × ×

हाथी की दो जातियाँ इस समय पृथ्वी पर मिलती हैं—एक अफ्रीका का हाथी, दूसरा भारतीय हाथी। अफ्रीका का हाथी भारतीय हाथी से अधिक बड़ा होता है और उसके दाँत तथा कान बृहदाकार होते हैं। ऊपर के चित्र में अफ्रीका का हाथी और निचले चित्र में भारतीय हाथी दिग्दर्शित है। दोनों का अन्तर स्पष्ट है।

मांस, खाल और बाल के अलावा स्तनपोषियों की हड्डी, सींग, खुर और आँतों से भी हमारी कई काम की वस्तुएँ तैयार होती हैं। हड्डियों का चूरा खेतों को अधिक उपजाऊ बनाने के काम आता है। सींग और खुर से सरेस, ग्लू और जिलेटिन बनती है। सींग से खिलौने, कंघे, छड़ी, डिबियाँ आदि बहुत-सी काम की चीजें बनाई जाती हैं। हमारे देश में कटक सींग की वस्तुएँ बनाने के लिए मशहूर है। भेड़ की आँतों से उम्दा जाति की ताँत तैयार की जाती है, जो टेनिस के बल्लों में लगाई जाती है।

बोझा ढोनेवाले पशु

भार वाहक पशुओं में पहला स्थान घोड़े का है, जो सूखी जमीन पर दौड़ने के लिए सबसे उपयुक्त पशु है। जंगली घोड़े अब बहुत ही कम देशों में पाए जाते हैं। कहा जाता है कि पहले-पहल घोड़े एशिया में ही पालतू बनाए गए थे। आज उनकी ५० से भी अधिक नस्लें मिलती हैं। हलके कार्यों या बच्चों की सवारी के लिए टट्टू उपयुक्त है। तेज दौड़नेवाले घोड़ों की नस्लें और बोझा ढोने या गाड़ी खींचनेवाले घोड़ों की नस्लें अलग-अलग होती हैं।

गधा एशिया और अफ्रीका में मिलता है और ज्यादातर वह खुश्क जगहों या रेगिस्तानों में ही खुशहाल रहता है। घोड़ों की अपेक्षा गधे अधिक सहनशील होते हैं तथा वे बहुत कम खुराक-पानी पर ही अपना निर्वाह कर लेते हैं।

खच्चर एक दोगला जानवर है, जो घोड़े और गधे के मेल का फल है ! वह घोड़े के बराबर दौड़ने में तेज तो नहीं होता, परन्तु अपने पैरों का बड़ा पक्का होता है। इसीलिए वह पहाड़ों पर चढ़ने के लिए अधिक काम का है। दुनिया के गरम प्रदेशों में वह बोझा ढोने का बहुत काम करता है।

हाथी से राजा-महाराजाओं की सवारी और शोभा के अतिरिक्त भारी चीजों को ढोने का काम भी कराया जाता है। उसकी महान् शक्ति और सूँड़ दोनों ही उसकी मुख्य पूँजियाँ हैं, जिनकी सहायता से वह हमारे लिए वनों में पेड़ उखाड़ता है और भारी-भारी लट्ठे एक जगह से दूसरी जगह ले जाता है। हाथी का विशेष हाल हम पहले लिख ही चुके हैं।

ऊँट एशिया और अफ्रीका के रेगिस्तानों में घोड़े का ही प्रयोजन सिद्ध करता है। इस जीवको प्रकृति ने बालुकामय प्रदेशों के ही बिल्कुल उपयुक्त बनाया है। उसके पैर ढीले, चौड़े और गुदगुदे होने के कारण नरम बालू में गहरे नहीं धँसते। उसके नथुनों पर लटकनेवाला मांस आँधी या तुफान से उड़नेवाली बालू को नाक में नहीं घुसने देता। उसके आमाशय में पानी भरने के लिए कई कोठरियाँ होती हैं, जिनमें वह कई दिनों के लिए पानी भर लेता है। इन कोठरियों के मुँह संकोचनीय पेशियों से बन्द रहते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें से पेट में पानी जाता रहता है। इसीलिए ऊँट बिना पानी पिए ही लम्बी-लम्बी यात्राएँ करने में अपना सानी नहीं रखता। सचमुच ही 'रेगिस्तानी जहाज' उसका उपयुक्त नाम है। ऊँट की दो जातियाँ हैं—एक दो कूबड़वाली और दूसरी एक कूबड़वाली।

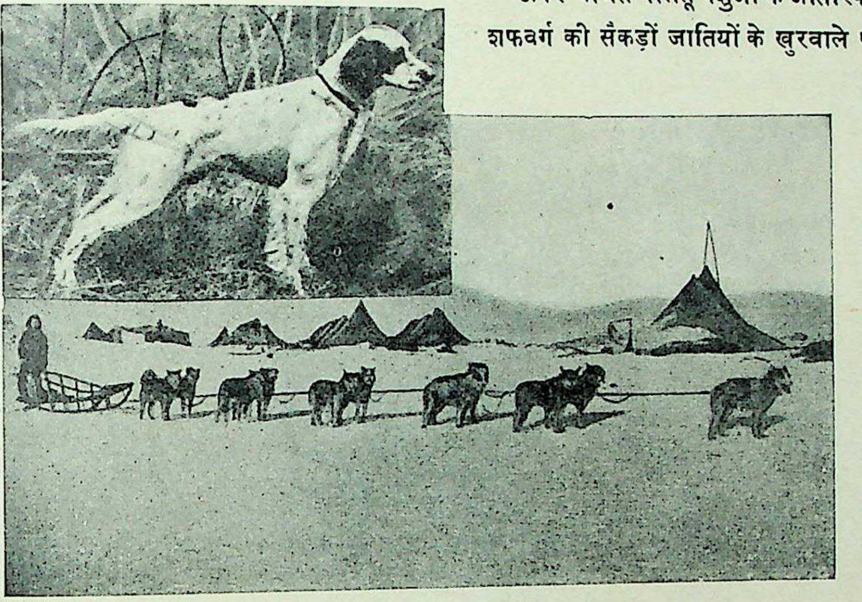

पालतू पशुओं में मनुष्य का सबसे पहला मित्र कदाचित् कुत्ता ही रहा होगा। चित्र के नीचे के भाग में एस्किमो की बर्फ पर फिसलनेवाली गाड़ी में ११ कुत्ते जुते हुए दिखाई दे रहे हैं। आगेवाला कुत्ता बिना लगाम के ही अपने मालिक की आवाज के संकेत पर गाड़ी को ठीक राह पर ले जाता है !

इनके अतिरिक्त दक्षिणी अमेरिका की एंडीज पर्वतमाला में लामा, अलपाका, बिकूना इत्यादि; उत्तरी ध्रुवप्रदेशों में रेनडियर; तिब्बत के ऊँचे पठारों में याक; तथा भारतवर्ष में भैंसा और बैल आदि भी बोझा ढोने व गाड़ी खींचने के लिए काम में लाए जाते हैं। रेनडियर नरम बर्फ पर काफी तेज चाल से चल सकता है और कड़ी-से-कड़ी ठंडक भी सह लेता है। बैल दलदलों और कच्चे रास्तों में—जहाँ घोड़े अटक जाते हैं—अपने फैलनेवाले खुरों के कारण बड़ी आसानी से चले जाते हैं। भैंसे उनसे भी अधिक दलदली जगह के लिए उपयोगी हैं।

ऊपर वर्णित पालतू पशुओं के अतिरिक्त 'अंगुलेटा' या शफवर्ग की सैकड़ों जातियों के खुरवाले पशु काफी संख्या में अभी जंगली दशा में भी पृथ्वीतल पर विद्यमान हैं, जिनमें मृग-समूह के अनेक सदस्य और कई प्रकार की जंगली भेड़-बकरियाँ तथा बनैला सुअर, जंगली साँड़, जंगली भैंसा एवं जेबरा, नीलगाय आदि प्रमुख हैं। मृग-समूह की बारहसिंघा, साँभर, चीतल, काकड़, हंगल, आदि कई आकर्षक उपजातियाँ हमारे देश में मिलती हैं, जिनमें सबसे अनूठा 'कस्तूरी-मृग' है, जो हिमालय में मिलता है। इसकी ही नाभि-ग्रंथि से कस्तूरी (मुश्क) नामक सुगंधित द्रव्य प्राप्त होता है। हिमालय के ऊँचे क्षेत्रों में जंगली भेड़-बकरियों की भी कई एक अनूठी जातियाँ हमारे देश में पाई जाती हैं, जिनमें साकिन, न्यान, थेर, मारखोर, उरियल, भरल, गुरल, सेराव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जंगली साँड और भैंसे के भी नमूने गौर, गयाल, अरना भैंसा आदि के रूप में हमारे देश के उत्तरी-पूर्वी पहाड़ी क्षेत्रों में उपलब्ध हैं, और नीलगाय, बनैले सुअर आदि भी हमारे देश के ग्रामवासियों के लिए कोई अपरिचित

जानवर नहीं हैं, कारण वे हमारी खेती की फसलों को उजाड़नेवाले जंगली पशुओं में प्रमुख हैं। बनैला सुअर एक खतरनाक जानवर होता है। वह अपने कटारनुमा दाँत से मनुष्य पर घातक प्रहार कर बैठता है।

स्तनपोषियों का मांसाहारी वर्ग—'कार्नीवोरा'

अब हम स्तनपोषी समुदाय के उस वर्ग के जीवधारियों का परिचय आपको देना चाहते हैं, जो अन्य जानवरों का शिकार करके उनके मांस से अपना भरण-पोषण करते हैं एवं इसी कारण से जिनकी गणना खतरनाक पशुओं में की जाती है। हिंसाजीवी स्तनपोषियों के इस विशाल समूह में सिंह, बाघ, चीता, लकड़बग्घा, भेड़िया, लोमड़ी, कटास, कुत्ता, बिल्ली, भालू, सील, वालरस आदि अनेकों बड़े और छोटे जानवर सम्मिलित हैं। इस वर्ग के सभी प्राणियों के कुक्कुरदन्त अर्थात् चीरने-फाड़नेवाले दाँत अपेक्षाकृत बड़े और बहुत मजबूत होते हैं, ताकि वे अपने शिकार को पकड़कर चीर सकें। उनके जबड़े भी शक्तिशाली होते हैं और उनकी दृष्टि तथा घ्राणशक्ति विशेष रूप से विकसित होती है, ताकि वे दूर ही से शिकार की टोह पा जाएँ। दाँत और जबड़े के अतिरिक्त शिकार को दबोचने के इनके प्रमुख अस्त्र तेज नाखूनों से युक्त पंजे होते हैं, जिनकी विशेषता यह होती है कि आवश्यकतानुसार उनके नाखून पंजों में छिपाए भी जा सकते हैं और उन्हें बाहर भी उभारा जा सकता है। उनके पैरों के तलवे गद्दीनुमा होते हैं, जिनकी बदौलत वे बिना आहट दिए ही शिकार पर जा टूटते हैं। चूँकि जानवरों का शिकार ही इनके भरण-पोषण का एकमात्र साधन है, अतः इस वर्ग के प्राणी प्रकृति से ही खूँख्वार, आक्रमण के समय अत्यन्त फुर्तीले, अचूक निशानेबाज और चालाक होते हैं।

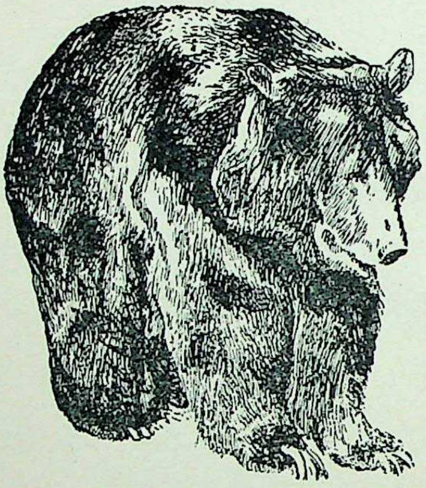

अमेरिका का यह भालू, जो 'ग्रिजली बेयर' कहलाता है, एक भयंकर जीव होता है। यह एक अजीब ढंग से मछलियों का शिकार करता है।

स्तनपोषी समुदाय के इस विशाल समूह में अनेक प्रकार के जन्तु सम्मिलित हैं, अतः सुविधा के लिए वैज्ञानिकों ने इस समूह को विविध उपपरिवारों में बाँट दिया है। ये उपपरिवार आगे दिए गए क्रमानुसार हैं। स्थानाभाववश यहाँ प्रत्येक का विस्तृत परिचय देने में हम असमर्थ हैं।

१. बिड़ाल-परिवार—इस परिवार में जन्तु-संसार के कतिपय सबसे भयावने प्राणी सम्मिलित हैं। जंगल का राजा सिंह, बाघ (टाइगर), गुलहा या तेंदुआ, स्याहगोश, साह, लमचित्ता, आदि खतरनाक जंतु इसी बृहत् परिवार के सदस्य हैं। इसी में भाँति-भाँति की जंगली और घरेलू बिल्लियाँ भी सम्मिलित हैं। इस परिवार के सदस्यों की खाल रोएँदार होती है। सिंह को छोड़कर अधिकांश प्राणियों में वह भाँति-भाँति की चित्तियों, लकीरों, या पट्टियों से युक्त होती है, जिससे वे चितकबरे से दिखाई देते हैं। ये जीव अधिकतर रात्रि के समय ही शिकार की टोह में निकलते हैं। वे घोर अंधकार में भी दूर तक की वस्तुओं को देख पाने के सामर्थ्य से युक्त होते हैं, जिसका एक कारण यह है कि आवश्यकतानुसार ये अपने नेत्र की पुतली को फैलाकर विस्तृत कर लिया करते हैं। इस समूह के जीव एशिया और अफ्रीका ही में विशेष रूप से फैले हुए हैं। इनमें सिंह का क्षेत्र बहुत सीमित है। वह आज के दिन केवल भारतवर्ष के सौराष्ट्र प्रदेश और अफ्रीका के जंगलों ही में पाया जाता है। इसी तरह बाघ भी विशेषतया भारतवर्ष और एशिया के अन्य कुछ भागों में ही मिलता है। हाँ, तेंदुए की कई जातियाँ सारे एशिया और अफ्रीका में फैली हैं। अमेरिका की नई दुनिया में इस वर्ग के 'जागुआर' और 'प्यूमा' नामक दो हिंसक प्राणी मिलते हैं। साह, लमचित्ता आदि— जो बर्फीले इलाके के तेंदुए हैं—हिमालय की श्रेणियों में ऊँचाई पर बहुतायत से पाए जाते हैं।

२. कटास-परिवार—इस समूह में कटास, मुश्क-बिल्ली, ताड़-बिल्ली या मुसंग, एवं नेवला आदि कतिपय छोटे मांसभक्षी जीव सम्मिलित हैं, जिनमें से कुछ वृक्षों पर भी चढ़ जाते हैं। इनमें से एक 'मुश्क-बिल्ली' के शरीर की ग्रंथि से एक तीव्र गंधवाला पदार्थ निकलता है। ये सब प्राणी छोटे-छोटे जीवधारियों, विशेषकर चिड़ियों और उरंगमों, को मारकर अपना निर्वाह करते हैं।

३. कुक्कुर-परिवार—इस परिवार के प्रमुख सदस्य भेड़िया, लोमड़ी, गीदड़, और कुत्ता हैं। इन सब के कुक्कुर-

दन्त बड़े मजबूत और तीक्ष्ण होते हैं तथा मुँह लंबे होते हैं। इनमें कुत्ता तो हजारों वर्षों से मनुष्य द्वारा पालतू बना लिया गया है, पर शेष अभी जंगली दशा में ही रहते हैं। इस वर्ग के सभी सदस्य अपनी चालाकी और चतुराई के लिए प्रख्यात हैं। कुत्ते की होशियारी के बारे में इसी लेख में अन्यत्र लिखा ही जा चुका है और लोमड़ी की चालाकी की कहानियों से भी भला कौन परिचित न होगा? इस समूह का सबसे खतरनाक प्राणी निस्संदेह भेड़िया है, जो गुट बनाकर शिकार को घेरने के लिए मशहूर है। ये प्राणी मनुष्य पर भी वार करने से नहीं चूकते। उत्तरी योरप के भेड़िए चालाकी में मशहूर हैं, जो भारतीय भेड़िए से बड़े और अधिक खूंख्वार होते हैं।

४. लकड़बग्घा-परिवार—इस परिवार का एकमात्र प्राणी मध्यम कद का वह घिनौना किन्तु अत्यन्त खतरनाक पशु है, जो प्रायः कब्रस्तानों में से मुर्दों को चुरा ले जाता है। इस भौंडे जानवर के शरीर का अगला भाग पुष्ट और बड़ा तथा पिछला झुका हुआ और दुबला-पतला-सा होता है। पिछले हिस्से के झुकाव के कारण इसके अगले पैरों से पिछले पैर छोटे होते हैं। यद्यपि यह जानवर मुख्यतया मुर्दाखोर है, परन्तु मौका पाने पर वह छोटे-छोटे जीवित पशुओं, यहाँ तक कि मानव-बालकों को भी चुराकर उठा ले जाने से नहीं हिचकता! इस पशु की मुख्य विशेषता इसका अत्यन्त शक्तिशाली जबड़ा है, जो बड़ी-बड़ी हड्डियों को चबा डालने के अद्वितीय सामर्थ्य से युक्त होता है।

५. भालू - परिवार—मांसभक्षी स्तनपोषी वर्ग के प्राणियों में यह परिवार अपने ढंग का निराला है। इसके तीन प्रमुख उपपरिवार हैं, जिनमें से प्रथम में कई जातियों के भालू या रीछ, दूसरे में 'पांडा' और 'रैकन', तथा तीसरे में बिज्जू, वाह, चितराला, ऊदबिलाव आदि हैं। इस समूह के सबसे बड़े और खतरनाक प्राणी निस्संदेह भालू ही हैं, जिनकी अनेक जातियाँ पृथ्वीतल पर फैली हुई हैं। हमारे देश के हिमालय-क्षेत्रीय काले और भूरे भालू मशहूर हैं। इनमें भूरा भालू बर्फीले क्षेत्रों में ही पाया जाता है। भालुओं की सबसे बड़ी और भयावनी जाति अलास्का में पाई जाती है, जो खड़ी स्थिति में कद में आठ फीट तक पहुँचते पायी जाती है। आपको यह जानकर अचंभा होगा कि भालुओं की एक जाति श्वेत वर्ण की भी होती है। ये उत्तरी ध्रुवक्षेत्रों में पाए जाते हैं। इस ग्रंथ के प्रथम खंड में उनका एक चित्र हम प्रकाशित कर चुके हैं।

६. सील-वालरस-परिवार—ये प्राणी जलवासी हैं और केवल ध्रुवक्षेत्रों में ही पाए जाते हैं। इनका मुख्य आहार समुद्री मछलियाँ हैं। इस परिवार के सदस्यों के स्थलवासी स्तनपोषियों की तरह हाथ-पैर नहीं होते। इसके बजाय उनके शरीर में तैरने में मदद देनेवाले डैने जैसे अंग होते हैं। इस वर्ग के वालरस नामक प्राणी के मुख के दोनों ओर दो कराल दाँत निकले रहते हैं।

उपर्युक्त जीवों के अतिरिक्त, जलवासी स्तनपोषितों का एक महत्त्वपूर्ण समूह और है, जिसमें ह्वेल (तिमि) जैसे महाकाय प्राणी सम्मिलित हैं। यद्यपि ये जंतु 'कार्नीवोरा' श्रेणी के स्तनपोषितों से सर्वथा अलग हैं, परन्तु सुविधा के लिए इनका भी यहाँ उल्लेख कर देना हम अनुचित नहीं समझते।

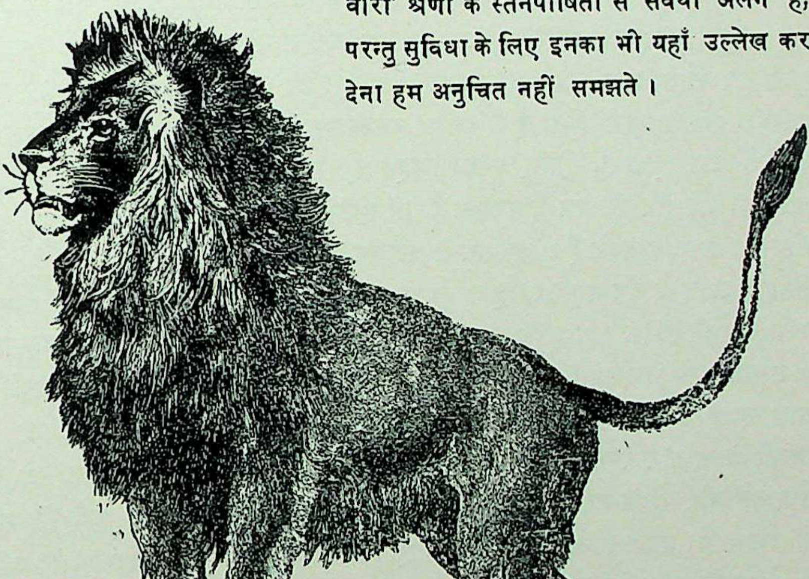

जानवरों का सम्राट् सिंह, जो वजन में छः मन का होने पर भी मानो बिजली की तरह तड़पकर अपने शिकार पर आक्रमण करता है।

७. तिमि या ह्वेल-परिवार—स्तनपोषित वर्ग के इस अंतिम परिवार के भी सभी प्राणी जलवासी हैं, जिनमें प्रमुख भाँति-भाँति की ह्वेल (तिमि) हैं, जिनका परिचय आगे दिया गया है। ह्वेल के अतिरिक्त इस समूह के अन्य सदस्य सूँस, डाल्फिन आदि कुछ स्तनपोषी जीव हैं।

जंगल का राजा—सिंह

स्तनपोषित वर्ग के उपर्युक्त परिवारों और उपपरिवारों के सभी प्राणियों का यदि अलग-अलग विस्तृत परिचय दिया जाय, तो एक पूरी पुस्तक भर जाय। अतः स्थानाभाववश केवल सामूहिक रूप से ही उनका उल्लेख करके हमें यहाँ संतोष कर लेना पड़ा है। हाँ, इस विशाल समूह के दो सदस्यों का कुछ विवरण अलग से प्रस्तुत करने का मोह हम नहीं छोड़ सकते। उनमें से एक तो है 'ह्वेल' या तिमि, जो जन्तु-जगत् का वर्तमान सबसे बड़ा प्राणी है; दूसरा है 'सिंह', जिसे 'जन्तुओं का राजा' भी कहते हैं। सिंह या शेर बबर अब गुजरात और अफ्रीका में ही पाया जाता है। किन्तु कुछ समय पहले यह अरब, पूर्वी योरप और मध्य एशिया में भी मिलता था। वह ७ फीट या इससे भी अधिक लम्बा होता है और उसकी दुम लगभग गज भर लम्बी होती है। उसका भार ६ मन के लगभग होता है। शेर की गर्दन अत्यन्त भयप्रद होती है। नर की गरदन पर बालों का एक घेरा होता है, जिसे 'अयाल' कहते हैं। रात के सन्नाटे में जब शेर घने वन में गरजता है, तो छोटे-बड़े सभी जीव भय से काँप उठते हैं। बलवान से बलवान बैलों और भैंसों के ऊपर छलाँग मारकर वह जा कूदता है और उनकी गर्दन में अपने तीक्ष्ण दाँत घुसेड़ देता है, जिससे विवश होकर वे तत्काल ही धराशायी हो जाते हैं। वन का कोई भी जीव उसके शारीरिक बल की समता नहीं कर सकता। उसकी शान्त और गम्भीर आकृति, राजसी चाल एवं अतुलनीय बल और पौरुष जानवरों की दुनिया में उसके उच्च पद के प्रमाण हैं। बाघ भी ऊँचाई में शेर के ही बराबर होता है। उसकी लम्बाई ९ या १० फीट होती है और शरीर का भार ५-६ मन से कम नहीं होता। उसकी अगली टाँगों का घेरा २ फीट के लगभग होता है और गर्दन वृक्ष के तने के समान मोटी होती है। ऐसा विशाल जन्तु तड़पकर जब गाय, बैल, हिरन आदि पर आक्रमण करता है, तो उसके धक्के से ही वे मूर्छित हो जाते हैं। बाघ सिंह की भाँति अपने पंजों से थप्पड़ नहीं मारता। वह दोनों पंजों से शिकार को जकड़ लेता है और तब अपने दाँतों से उसे चीर-फाड़ डालता है।

पृथ्वी का सबसे बड़ा और भारी जीव—ह्वेल

इस अध्याय के आरंभ में मुखपृष्ठ का रंगीन चित्र देखिए। क्या यह अचंभे की बात नहीं है कि पृथ्वी के सबसे बड़े प्राणी जलचर हैं, स्थलचर नहीं, और वे एक प्रकार के स्तनपोषी जीव हैं, जिन्हें 'ह्वेल' कहते हैं? इनकी कई जातियाँ हैं। इनमें सबसे बड़ी रौरक्वाल नामक नीली ह्वेल है, जो साधारणतया ८५ फीट लम्बी होती है। एक बार हमारे देश के मलाबार तट पर इसी जाति की एक १०० फीट लम्बी ह्वेल पाई गई थी! यह ह्वेल ग्रीनलैंड की ह्वेल से भी अधिक लम्बी-चौड़ी होती है। ग्रीनलैंड की ह्वेल की लम्बाई ६० फीट से ८० फीट तक और मोटाई लगभग ४० फीट होती है। ह्वेल के दीर्घ शरीर की विशालता के अनुमान के लिए उसके भार पर तनिक ध्यान दीजिए। उसका भार लगभग ४,२०० मन तक पहुँचता है! यदि आप किसी ऐसी तराजू की कल्पना कर सकें, जिसके एक पलड़े पर ह्वेल रक्खी जा सके तो उसके संतुलन के लिए दूसरे पलड़े पर डेढ़-डेढ़ मनवाले २,८०० मनुष्यों की आवश्यकता पड़ेगी! इस प्रकार उस पलड़े पर आदमियों का एक मेला-सा लग जायगा! जानवरों में ह्वेल का मुँह सबसे बड़ा होता है। उसके जबड़ों की लम्बाई १६ फीट के लगभग और चौड़ाई लगभग ७ फीट होती है। दो लम्बे आदमी उसके मुँह के भीतर एक दूसरे के ऊपर सीधे खड़े हो सकते हैं! जब ह्वेल अपने मुँह को फैलाती है, तो उसमें १२ फीट ऊँचा एक द्वार-सा खुल जाता है और उसके मुँह की गुफा में सवारियों सहित एक छोटी-सी नाव सुविधा से प्रवेश कर सकती है!

इन विशालकाय प्राणियों के सम्मुख स्थल का सबसे बड़ा प्राणी हाथी भी बच्चे जैसा जान पड़ता है! ह्वेल के इतने बड़े आकार का भी कारण है। स्थलनिवासी पृष्ठवंशियों का शरीर टाँगों की हड्डियों के कारण अधिक बड़ा नहीं हो सकता। हड्डी की वजन साधने की शक्ति उसकी मोटाई पर निर्भर है और यदि किसी पशु के समस्त शरीर का भार टाँगों ही को साधना पड़े, तो उसकी हड्डियों का बोझ उसके शरीर के सम्पूर्ण बोझ की अपेक्षा अधिक बढ़ता जायगा। जल में रहनेवाले जंतुओं के साथ यह कठिनाई नहीं है। उनमें हड्डियों की आवश्यकता बोझ को साधने के लिए नहीं होती, बल्कि वे केवल एक टेक और ढाँचे का काम देती हैं। ह्वेल को यदि स्थल पर जीवन व्यतीत करना पड़ता, तो उसको अपना शरीर साधने के लिए कितनी मोटी टाँगों की आवश्यकता होती, इसका अनुमान करना कुछ सहज नहीं है।

सब से ऊँची कक्षा के जीव—(२)

मानवसम स्तनपोषी

जिस प्रकार जन्तु-जगत् की निसेनी के सबसे ऊँचे सिरे पर जीवधारियों का स्तनपोषित समुदाय अवस्थित है, उसी प्रकार स्वतः स्तनपोषित वर्ग के अन्तर्गत सबसे ऊँची श्रेणी पर मनुष्य और उससे मिलते-जुलते वे उन्नत कक्षा के जीव हैं, जिन्हें हम वनमानुष, वानर और अर्द्धवानरों की संज्ञा प्रदान करते हैं । 'प्रधानभागीय कक्षा' के नाम से पुकारे जानेवाले स्तनपोषित वर्ग के इस समूह के जीवों का बहुत-कुछ परिचय आप द्वितीय खंड में 'मनुष्य की युगयात्रा' नामक विभाग में पा ही चुके हैं । अतः यहाँ हम उनमें से कतिपय चुने हुए नमूनों के संबंध में ही कुछ और हाल बताने जा रहे हैं ।

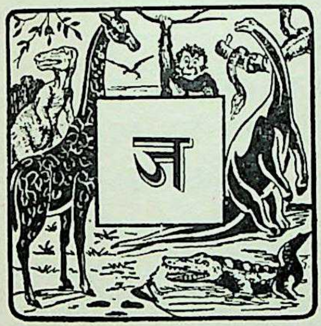

जन्तु-जगत् की प्रधानभागीय कक्षा में मनुष्य के बाद सबसे ऊँचे जीवों में कई प्रकार के दुमदार तथा बिना दुमवाले कपि, वनमानुष, बबून और अर्द्धवानर सम्मिलित हैं । अधिकतर लोग दुमदार या बेदुमवाले, बड़े और छोटे सभी प्रकार के वनमानुष, बबून, मैन्ड्रिल, लंगूर तथा नाना प्रकार के साधारण बन्दरों के लिए 'वानर', 'बन्दर', 'कपि' शब्दों का बिना किसी भेद के प्रयोग करते हैं; परन्तु वर्तमान प्रकृतिवादी चारों प्रकार के बड़े बेदुमवाले वनमानुषों तथा कुत्तों जैसी सूरतवाले बबून और मैन्ड्रिल को शेष सब बन्दरों से अलग गिनते हैं । इन्हें वे अंग्रेजी शब्द 'एप' द्वारा पुकारते हैं और शेष समस्त वानरों के लिए 'मंकी' शब्द का प्रयोग करते हैं । अतः हमारे लिए भी यही उचित है कि हम भी इनके लिए अपनी भाषा में भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक शब्द निर्धारित कर लें । अंग्रेजी के 'एप' शब्द के स्थान पर 'कपि' और 'मंकी' की जगह 'बन्दर' या 'वानर' शब्द अधिक उपयुक्त है । इसी प्रकार 'वनमानुष' नाम से बेदुमवाले बड़े मानवसम कपियों को ही पुकारना उचित है । इस ग्रंथ में इन शब्दों का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया गया है ।

वनमानुष

वर्तमान काल में वनमानुष पृथ्वी के दो ही भागों में देखे जाते हैं । इनकी दो जातियाँ—गोरिल्ला और शिम्पैंजी—तो अफ्रीका महाद्वीप में मिलती हैं, और अन्य दो—गिब्बन तथा औरंग-उटाँग—दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा उसके निकटवर्त्ती द्वीपों में पाई जाती हैं । इन चारों जातियों के वनमानुषों की शारीरिक रचना और मनुष्य से उनकी समता का वर्णन हम इस ग्रंथ के दूसरे खंड में कर चुके हैं । अतः यहाँ उन बातों को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती । केवल इतना ही कहना उचित प्रतीत होता है कि कपि और बन्दरों के भी मस्तिष्क होते हैं; परन्तु उनके मस्तिष्क उसी अपूर्ण अवस्था में होते हैं, जिसमें कि मानव-शिशु का मस्तिष्क होता है । कपि भी हमारी ही तरह सोचनेवाला प्राणी ज्ञात होता है, लेकिन उसके विचार हमारे विचारों के समान स्पष्ट नहीं, बल्कि धुंधले-से प्रतीत होते हैं । उसकी गति और क्रियाएँ भी मस्तिष्क के उसी स्थान से सँभाली जाती हैं, जहाँ से हमारी क्रियाएँ नियंत्रित होती हैं ।

सबसे बड़ा वनमानुष—गोरिल्ला

गोरिल्ला वनमानुषों में सबसे बड़ा समझा जाता है और बहुत-सी बातों में वह मनुष्य से सादृश्य रखता है । बड़े कद का नर गोरिल्ला ५' ५" से ६' ६" तक ऊँचा होता है । उसकी

मोटाई--विशेषकर सीने की मोटाई--लम्बाई की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। मादा का कद लगभग ४′ २″ होता है। गोरिल्ला का शरीर मनुष्य से कहीं भारी होता है, किन्तु उसका मस्तिष्क साधारण मनुष्य से भी ५ छटाँक हल्का होता है।

देखने में गोरिल्ला वनमानुष-वंश के सभी प्राणियों से भयानक और कुरूप होता है। उसका रंग गहरा काला या मिश्रित काला-भूरा होता है। उसका सिर बड़ा होता है और मुँह काफी चौड़ा होता है, जिसमें बड़े-बड़े दाँत दिखाई देते हैं। उसका माथा लम्बा और आँखें गड्ढे में घुसी हुई तथा छोटी-छोटी होती हैं। उसकी ठोढ़ी पर लम्बे-लम्बे बाल होते हैं। उसकी भुजाएँ और जबड़े भारी और मजबूत होते हैं। उसकी बाँहें टाँगों से बहुत लम्बी होती हैं। वह सीधा खड़ा तो हो जाता है, किन्तु मनुष्य की तरह दो पैरों से वह नहीं चलता। उसे अपने हाथ-पैरों से ही चलना पसन्द है। चलते समय वह अपने पैरों के तलवों को तो हमारे ही समान काम में लाता है, किन्तु उसकी हथेलियाँ जमीन से नहीं छूतीं। हाथों की उँगलियों को वह मोड़ लेता है तथा उनके जोड़ों पर जोर देकर चलता है। वृक्षों पर चढ़ने में वह अपने पैरों से भी हाथों की तरह ही काम लेता है। उसकी लम्बी भुजाएँ धरती पर चलते समय लाठी या बैसाखी का काम देती हैं। यह प्राणी मानो हमारे पुराणों में वर्णित राक्षसों का एक नमूना है। साथ में दिए गए चित्र में इसकी भयानक आकृति देखिए!

गोरिल्ला की शक्ति

गोरिल्ला अफ्रीका के विषुवत् क्षेत्र के पश्चिमवर्ती प्रदेश के अज्ञात जंगलों और कैमरून की पहाड़ियों में ही पाए जाते हैं। अफ्रीकावासियों ने उनका नाम 'पौंगो' रक्खा है। भीमकाय शरीर के होते हुए भी ये प्राणी पेड़ों पर बड़ी सुगमता से गिलहरी की भाँति चल-फिर सकते हैं। अपने मचानरूपी मकान की पत्तों से ढँकी हुई छतों पर वे आनन्द-विभोर होकर विचरते रहते हैं और आसानी से इस डाली से उस डाली पर कूद जाते हैं। बहुतेरे यात्रियों ने इन भयंकर पशुओं के साथ अपने युद्ध का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है तथा तत्संबंधी बड़ी-बड़ी डींगें मारी हैं। एक फ्रान्सीसी शिकारी ने १८६१ ई० में लिखा था कि एक दिन उसने देखा कि एक गोरिल्ला ने एक अभागे निग्रो को एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ से उसकी गर्दन इतनी सरलता से मरोड़ डाली, जितनी आसानी से हम किसी मुर्गी के बच्चे की गर्दन मरोड़ सकते हैं! उसी का यह भी कहना है कि गोरिल्ला शिकारियों से बन्दूक तक छीन लेता है और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। उसके दाँत इतने मजबूत होते हैं कि उनसे वह बन्दूक की नली को कुचल डालता है! ये बातें चाहे कहानी-सी ही प्रतीत होती हों, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि गोरिल्ला बड़ा ही शक्तिशाली जीवधारी है। परन्तु इतना बलवान होने पर भी वह मनुष्य को देखकर बहुधा भागकर छिप जाता है। हाँ, जब कोई उसके बच्चों पर आक्रमण करता है, या किसी अन्य कारणवश जब उसे क्रोध आ जाता है, तब वह निधड़क होकर अपने शत्रु पर आक्रमण करता है, चाहे वह कितने ही अच्छे-से-अच्छे हथियारों से सुसज्जित क्यों न हो। कहते हैं, गहरी नींद में निमग्न गोरिल्ला के भी निकट हम बेखटके नहीं पहुँच सकते, फिर उसका शिकार करना तो बहुत साहस का काम है!

बेट नामक एक अंग्रेज यात्री ने गोरिल्ला के निवास-प्रदेश में कई वर्षों तक भ्रमण किया है। उक्त विद्वान् को इन जीवधारियों की रहन-सहन का अध्ययन करने का काफी सुअवसर प्राप्त हुआ है। उसका कथन है कि गोरिल्ला घने जंगलों के बाहर बहुत कम आते हैं। लेकिन कभी-कभी वे हिम्मत करके गाँवों के बाहरी पेड़ों पर फलों के लिए हमला कर बैठते हैं। उनके झुंड बागों की बड़ी दुर्दशा कर डालते हैं। गाँव-निवासी इस डर के मारे उन्हें नहीं रोक सकते कि कहीं फलों की रक्षा के पीछे उनकी अपनी जान पर ही न आ बीते। इन भीमकाय कपियों को फल, गन्ना, शहद और चिड़ियों के अंडे अत्यन्त स्वादिष्ट लगते हैं।

गोरिल्ला का सुखी पारिवारिक जीवन

गोरिल्ला का पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखी और आनन्दमय होता है। वे जोड़ा मिलाकर रहते हैं और जब तक उनके बच्चे अपना अलग घर बसाने योग्य नहीं हो जाते, तब तक हमारी ही तरह वे भी अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। वे पेड़ों की डालियों को झुका और मोड़कर एक चबूतरा-सा बना लेते हैं और उसी पर छोटी-छोटी डालियाँ और पत्ते बिछा लेते हैं। इस प्रकार बनाई गई पेड़ पर की शैय्या पर माता अपने छोटे बच्चों के साथ विश्राम करती है। पिता पेड़ के नीचे भूमि पर झाड़-झंखाड़ बिछाकर ही लेट रहता है या उस वृक्ष के नीचे कोई उपयुक्त स्थान ढूँढ़कर बैठा रहता है। रात के समय पिता अपने परिवार की चौकीदारी करता है। जब उसकी पत्नी और बच्चे पेड़ पर सोते रहते हैं, तब वह नीचे खड़ा हुआ अपलक पहरा दिया करता है और जरा भी खटका होने पर आक्रमण के लिए प्रस्तुत हो जाता है। वह दृश्य कितना मनोहर होता होगा, जब बड़े तड़के माता-पिता

और बच्चे अपने भोजन की खोज में डालियों पर कूदते-फाँदते, लटकते और झूलते हुए वन में मीलों तक निकल जाते होंगे ! ये जीव पूर्ण रूप से शाकाहारी होते हैं तथा बाँस की कोमल कोपलें ही इनके भोजन का प्रधान भाग हैं।

स्वीडन के एक शिकारी का कहना है कि इनमें सन्तान-प्रेम के अतिरिक्त और भी कई ऐसी बातें हैं, जिनसे वे बहुत कुछ हमारे नातेदार प्रतीत होते हैं। एक समय उक्त शिकारी अपने साथियों के साथ गोरिल्लों के एक परिवार के सामने आ पड़ा। उन्हें देखकर सफेद बालवाले एक बूढ़े नर गोरिल्ला को छोड़कर बाकी सब प्राणी भाग चले। गोरिल्लों का यह वृद्ध सरदार भागनेवालों को बचाने की इच्छा से शिकारियों क विरोध करने को आगे बढ़ा और वीरता से तब तक वह उनका सामना करता रहा, जब तक उनको बन्दूक की गोली का निशाना न बन गया ! मनुष्यता के सर्वोच्च गुण--प्रेम, कर्त्तव्य, लगन और साहस--का भला इससे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण हमें जन्तु-जगत् में मिल सकता है !

लन्दन की जन्तुशाला का जॉनी नामक प्रसिद्ध गोरिल्ला—यह जब जंगल से पकड़ा गया था, तो केवल एक या दो दिन का ही था। जन्तुशाला में यह इधर-उधर कूदता-फिरता था और बिल्ली के बच्चे के साथ खेलता था। उसके पास यदि कोई पत्ता खड़खड़ाता, तो चौकन्ना होकर वह उछल पड़ता और फिर हिम्मत करके दूर से उसको उठाकर सूँघता था। गुलगुलाने पर यह जोर से हँस पड़ता और प्रसन्न होने पर ताली बजाता था। दिन भर में उसे जो कुछ फल मिलते थे, उनके अतिरिक्त वह कई बोतल दूध और पानी पी लेता था।

एक और विचित्र बात इन कपियों के विषय में यह है कि वे अन्य बानर-जातियों की भाँति न तो आपस में बात करते मालूम देते हैं और न उनकी तरह चें-चें ही करते हैं। पिता गुस्से में केवल जोर से भूँकता और आक्रमण करते समय गुर्राता है। माता जोखिम को निकट आते देखकर चीख पड़ती है। इन आवाजों के तथा खोए हुए बच्चों के करुण आर्त्तनाद के अतिरिक्त इन जीवधारियों की किसी और बोली का आभास हमें नहीं मिलता।

आजकल बहुत-से बड़े अजायबघरों में मरे हुए गोरिल्लों के शव तो देखे जा सकते हैं, किन्तु जीवित गोरिल्ला देखना सम्भव नहीं है, क्योंकि ये प्राणी जंगलों में रहने के इतने आदी हो गए हैं कि इन्हें पकड़कर जंतुशालाओं में बन्द करने से इनका जीवित रहना बहुत ही कठिन हो जाता है। वे वहाँ शीघ्र ही मर जाते हैं। जर्मनी के ब्रसलो नगर की जंतुशाला में एक गोरिल्ला पकड़कर लाया गया था। पकड़ते समय वह २ वर्ष का था। जंतुशाला में ७ वर्ष से अधिक समय तक वह जीवित न रह सका। अभी तक कोई भी पकड़ा हुआ गोरिल्ला इससे अधिक जीवित नहीं रहा है। लंदन की पशुशाला में कई छोटे-छोटे गोरिल्ले पकड़कर लाए गए, किन्तु उनमें से एक ही दो वर्ष तक जीवित रहा और अपने खेल-तमाशों से लन्दनवासियों को प्रसन्न करता रहा।

सबसे बुद्धिमान् वनमानुष—शिम्पैंजी

अफ्रीका में पाया जानेवाला दूसरा वनमानुष शिम्पजी है। इसकी 'चाय-पार्टी' का एक चित्र हम आपको इस ग्रंथ के दूसरे खंड में दिखला चुके हैं। प्रधानभागियों में निस्सन्देह मनुष्य के अतिरिक्त सबसे बुद्धिमान् प्राणी यही है। इसकी आकृति और आकार भी मनुष्य से अधिक मिलते-जुलते हैं। शिम्पैंजी कद में गोरिल्ला से बहुत छोटे होते हैं। इनमें नर-मादा में भी उतना भेद नहीं होता। इनकी ऊँचाई ४'-५" तक होती है। इनके शरीर भारी, भुजाएँ विशाल और हाथ-पैर बलिष्ठ होते हैं। इनके दाँत अन्य वनमानुषों के-से मजबूत और लम्बे नहीं होते, परन्तु कान बड़े होते हैं और भृकुटियाँ उतनी निकली हुई नहीं होतीं, जितनी गोरिल्ला की। इनके बाल लम्बे, काले या बादामी रंग के होते हैं तथा चेहरा काला और कुछ-कुछ मांस के समान गुलाबी रंग का होता है। शिम्पैंजी अपना अधिकांश समय वृक्षों पर ही व्यतीत करते हैं और जब भूमि पर उतरते हैं, तो गोरिल्ला के समान आसानी से सीधे नहीं खड़े हो पाते। वे खड़े होकर थोड़ी दूर तक दौड़ भी लेते हैं, लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि गोरिल्ला और शिम्पैंजी आसानी से सीधे खड़े होकर चल-फिर सकते हैं। यह अवश्य है कि वे चौपायों के समान अपनी हथेलियाँ पृथ्वी पर रखकर

नहीं चलते, बल्कि हाथों की मुट्ठी बाँधकर तथा उन्हें जमीन पर उल्टी रखकर उन पर आगे के शरीर का सहारा देते हुए तेजी से दौड़ते-भागते हैं।

शिम्पैंजी का घर और उनकी रहन-सहन

इन कपियों का भी निवासस्थान अफ्रीका में विषुवत् रेखा का निकटवर्त्ती वनप्रदेश है। ये वहाँ गेम्बिया, सिरालियोना से लेकर टांगानाइका झील तक फैले हुए हैं। इनकी बहुत-सी जातियाँ हैं, जिनमें दो मुख्य हैं—एक बालवाले और दूसरे गंजे शिम्पैंजी, जिनके लगभग सारे मुँह पर बाल नहीं होते। गोरिल्ला की तरह शिम्पैंजी भी वृक्षों पर अपनी शैय्या बनाता है, जिस पर उसकी पत्नी और बाल-बच्चे सोते हैं। वह उनके निकट उनकी रक्षा के लिए उपस्थित रहता है।

शिम्पैंजी का भी भोजन फल और पत्ते ही हैं। ये मांस नहीं खाते, परन्तु अभ्यास करने से वे मांस भी स्वाद लेकर खाने लगते हैं। उनके मस्तिष्क की रचना अन्य वानरों से उच्च प्रकार की होती है। इसीलिए वे सबसे अधिक बुद्धिमान भी होते हैं। शरीर के किसी स्थान से अचानक रक्त बहने लगने पर वे उस स्थान को अपने हाथों से दबाकर रक्त को बन्द करने की चेष्टा करते हैं! यदि खून बन्द न हो, तो घाव पर घास तोड़कर लगा देते हैं!

शिम्पैंजी की समझ

शिम्पैंजी बड़े सीधे होते हैं और आसानी से पालतू बना लिए जाते हैं। उनमें सीखने और अनुकरण करने की बड़ी योग्यता होती है। जिन्होंने पालतू शिम्पैंजी को देखा है, वे करीब-करीब मनुष्य की-सी उनकी समझ देखकर दंग रह जाते हैं। हमारे देश में जिस प्रकार मदारी बन्दर का नाच दिखाते हैं, उसी प्रकार योरप में शिम्पैंजी का तमाशा दिखाया जाता है। उनकी चतुराई का अन्दाज इन बातों से आपको हो सकता है कि वे दरवाजा खोलना, अपने पिंजड़ों को बुहारना तथा चम्मच या प्याले द्वारा दूध, चाय आदि पीना ही नहीं सीख जाते, बल्कि सायकिल चलाने और कपड़े पहनने का भी अभ्यास उन्हें कराया जा सकता है! बच्चोंवाली गाड़ी में एक शिम्पैंजी बैठ जाता है और दूसरा उस गाड़ी को घसीटकर चलाता है! कहा जाता है कि उन्हें थोड़ा-बहुत गिनती का भी ज्ञान हो जाता है। वे स्त्री-पुरुष में भी भेद कर लेते हैं और पुरुष की अपेक्षा स्त्री से अधिक नम्रता का बर्त्ताव करते हैं। शिम्पैंजी की बुद्धि-परिक्षा विषयक एक प्रयोग का उल्लेख खंड २ में किया जा चुका है।

एशिया का सबसे बड़ा वनमानुष—औरंग-उटाँग

एशिया के वनमानुषों में औरंग-उटाँग ही सबसे बड़ा है, किन्तु अफ्रीका महाद्वीप में पाये जानेवाले गोरिल्ला से यह छोटा होता है। यह एक मनोरंजक बात है कि काले मनुष्यों के देश के निवासी गोरिल्ला का रंग जहाँ काला होता है, वहाँ औरंग-उटाँग का रंग एशिया के मनुष्यों की तरह मटमैला भूरा होता है। यह विशालकाय वनमानुष सुमात्रा तथा बोर्नियो द्वीप में ही निवास करता है। 'औरंग-उटाँग' मलाया प्रदेश की भाषा का शब्द है और इसका अर्थ होता है 'वन का मनुष्य' अर्थात् वनमानुष।

इस कपि की दो नस्लें पाई जाती हैं। साधारण नस्ल के नर ४'-४'' ऊँचे होते हैं तथा मादा इनसे कुछ छोटी होती हैं दूसरी बड़ी नस्ल, जो उत्तरी बोर्नियो में मिलती है, ६' लम्बी होती है, परन्तु अब यह जाति प्रायः लुप्त-सी हो गई है। गर्नसी के अजायबघर में इस बड़ी नस्ल के औरंग का एक नमूना रक्खा हुआ है। यह प्राणी ५'-८'' लम्बा है। उसके सीने की चौड़ाई ५४'', कमर की ४८'' और गर्दन की २८'' है। कहा जाता है कि जब वह हाथ फैलाकर खड़ा होता था, तो एक हाथ की उँगली से दूसरे हाथ की उँगली तक का उसका फैलाव ८'-९'' होता था! औरंग की गर्दन मोटी होने का कारण यह है कि उसकी गर्दन की खाल और मांस-पेशियों के बीच एक थैली लटकती रहती है। यह थैली आवाज को गुंजाने में उसे सहायता देती है।

ये प्राणी आलसी और भारी डील के होते हैं। इनकी भुजाएँ लम्बी और बलिष्ठ होती हैं तथा खड़े होने पर टखने के निकट तक वे पहुँच जाती हैं। किन्तु इनकी टाँगें छोटी ही होती हैं और झुकी रहती हैं। औरंग का चेहरा भद्दा और बेडौल होता है तथा मुँह का आकार भी बड़ा होता है। भौं और पलकों के दो-चार बालों के अतिरिक्त इसके चेहरे पर बाल बिल्कुल नहीं होते। इसकी नाक चपटी होती है और आँखें एवं कान छोटे तथा मनुष्य के-से ही होते हैं। सीने पर लाल रंग के कुछ बाल बिखरे हुए उगते हैं। पीठ, कंधे और जाँघों पर भी लाल रंग के मोटे-मोटे घने बाल लटकते रहते हैं। ये बाल १०''-१२'' लम्बे होते हैं। औरंग के मस्तिष्क की घाइयाँ बहुत-कुछ हमारी ही तरह की होती हैं।

औरंग अपना अधिक समय पेड़ पर ही बिताता है। उनकी शाखाओं पर वह अपने लम्बे हाथ-पैरों के सहारे झूलता-कूदता हुआ वैसी ही तेजी और चंचलता से चलता-फिरता है, जैसे कि हम लोग जमीन पर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हैं। जब वह धरती पर उतरता है, तब गोरिल्ला और शिम्पैंजी के ही समान मचक-मचककर चलता है। वह फल-मूल और पत्तियों के अतिरिक्त कुछ नहीं खाता। औरंग नम्र, सीधा-सादा और निर्दोष प्राणी है तथा सहज ही में पालतू बन जाता है। वह मनुष्य पर जल्दी आक्रमण नहीं करता। जगत्प्रसिद्ध जन्तुभूगोलवेत्ता वालेस तथा उनके साथियों ने एक बार बोर्नियो के वनों में एक मादा औरंग को पेड़ पर बैठे देखकर उसके निकट पहुँचने का विचार किया। उन्हें समीप आते देखकर वह उन पर वृक्ष की डालियों तथा नारियल के आकार के काँटेदार फलों की १० मिनट तक वर्षा करती रही। बीच-बीच में गुस्से में वह जोर से गुर्राती भी जाती थी। संभवतः उस मादा औरंग से वालेस के परिचय का अन्त खराब न हुआ होगा, क्योंकि उन्होंने इसके बाद का कुछ भी हाल नहीं लिखा है!

औरंग का बुद्धि-बल——पिंजड़े से छुटकारा पाना

औरंग बड़ा बलशाली होता है और कहा जाता है कि वह युद्ध में मगर तक को मार डालता है। जंतुशाला में पला हुआ औरंग कभी-कभी रखवाले का हाथ इतनी मजबूती से पकड़ लेता है कि हाथ छुड़ाना बहुत ही मुश्किल हो जाता है। एक औरंग में दो मनुष्यों का बल होता है। एक बार एक जंतुशाला के औरंग ने अपने पिंजड़े के सीखचों को हाथों से मरोड़ डाला और उन्हें तोड़कर लम्बी-सी छेनी बना ली, जिसे उसने अपने बगल के पिंजड़े में फेंक दी। इस दूसरे पिंजड़े का औरंग और भी होशियार था। उसने उसी छेनी से अपने पिंजड़े के बहुत-से सीखचे काट डाले और उसके बीच से निकल भागा तथा जंतुशाला की छत पर चढ़ गया! जब चौकीदार ने देखा, तो सीढ़ी लगाकर वह उस पर चढ़ने लगा। इस पर उस औरंग ने सीढ़ी ऐसी जोर से पकड़कर हिलाई कि चौकीदार साहब पृथ्वी पर लुढ़कते दिखाई दिए! थोड़ी देर बाद छत पर से उतरकर वह पेड़ पर पत्तों और डालियों का अपना बिस्तर बनाकर आनन्द की नींद सोया! सुबह बड़ी मुश्किल से फिर से वह पकड़ा जा सका।

लन्दन के जन्तु-संग्रहालय का सबसे अधिक बुद्धिमान शिम्पैन्जी——ऑर्थर। यह स्वतः अपना कोट और टोप पहन लेता था और मनुष्य को देखकर बाल भी काढ़ लेता था। कहा जाता है कि यह बड़ी सुगमता से काँटे, छुरी और चम्मच से अपना भोजन करना सीख गया था तथा आदमी ही की तरह ताश के पत्ते हाथ में लेकर बड़ी गम्भीरता से उन्हें फेंकता था।

सबसे छोटा वनमानुष——गिब्बन——जो छलाँग मारकर वृक्षों पर कूदता फिरता है

अब चौथे प्रकार के सबसे छोटे मानवसम कपि का हाल भी सुन लीजिए। इन्हें हम साधरणतया 'गिब्बन' के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में ये दो प्रकार के हैं—एक असली गिब्बन, दूसरे सियामंग। गिब्बन सियामंग से छोटे तथा उनकी अपेक्षा सुकुमार होते हैं। ये खड़े होने पर लगभग ३०" ऊँचे होते हैं, परन्तु सियामंग ३' या इससे भी कुछ अधिक लम्बे होते हैं। इनकी लगभग एक दर्जन या अधिक उपजातियाँ हिमालय के पूर्वी हिस्से से लेकर बरमा, मलाया प्रायद्वीप और उसके निकटवर्त्ती द्वीपों में होते हुए चीन के दक्षिणी प्रान्तों तथा इन्डोचीन तक पाई जाती हैं। कपियों में केवल यही ऐसे हैं, जो जमीन पर सीधे खड़े होकर चलते हैं।

इनका सिर छोटा और गोल होता है। शरीर पर कोमल ऊन के-से बाल होते हैं। इनमें से कोई तो बिल्कुल काले रंग के होते हैं, किन्तु किसी का मुख सफेद होता है और किसी का वर्ण भूरा या हल्का बादामी होता है। इनकी भुजाएँ इतनी लम्बी होती हैं कि खड़े होने पर हाथ की उँगलियाँ धरती से छू जाती हैं। बाँहों का अगला हिस्सा पिछले भाग से बड़ा होता है तथा पैरों से भी लम्बा होता है। सब वनमानुषों में से गिब्बन और सियामंग ही उपयुक्त वृक्षवासी हैं। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर और दूसरे से तीसरे पर बड़ी फुर्ती और चपलता से कूदते और छलाँगें मारते हुए ये दूर तक निकल जाते हैं। ये बीस, तीस या चालीस फीट तक कूद जाते हैं। एक हाथ से डाल पकड़कर जोर का झोंका लेते हुए ये ऐसी छलाँग मारते हैं, मानो हवा में उड़े जा रहे हों, साथ ही दूसरे हाथ से दूर के दूसरे पेड़ पर जा लगते

हैं । ये इसी प्रकार जंगल में वृक्षों पर मनमानी क्रीड़ाएँ करते फिरते हैं । ये पहाड़ों तथा छोटे-छोटे टीलों पर भी रहते हैं और बैठे-बैठे ही सोते हैं । स्थल पर जब ये कपि मनुष्य की तरह सीधे खड़े होकर चलते हैं, तो अपनी लम्बी भुजाओं को ऊपर उठा लेते हैं अथवा गर्दन के ऊपर उन्हें पीछे मोड़ लेते हैं, मानो तेजी से चलने के लिए इन्हें अपने शरीर को साधना पड़ता हो ।

इनकी आवाज बड़ी ही तेज होती है । जब कभी दो-चार गिब्बन एकत्र हो जाते हैं, तो बड़ा शोर मचाते हैं । इनका भोजन कीड़े-मकोड़े होते हुए भी मांस से ये घृणा करते हैं। जल या अन्य द्रव पदार्थों का सेवन ये बड़ी अनोखी रीति से करते हैं ! ये द्रव पदार्थ में अपने हाथों की उँगलियाँ डुबाकर चाटते हैं । इनका स्वभाव साधारणतया दीन होता है और मनुष्य से इन्हें बड़ा डर लगता है । उसको देखकर ये शीघ्र ही पेड़ पर चढ़ जाते हैं । प्रतीत होता है कि इनका मस्तिष्क अच्छी तरह विकसित है । नीचे लिखी हुई कथा से स्पष्ट हो जायगा कि गिब्बन में केवल स्वाभाविक बुद्धि ही नहीं, बल्कि विचार तथा विवेक-शक्ति का भी समावेश है । गिब्बनों का अन्य बन्दरों की भाँति यह स्वभाव होता है कि ठिकाने से रक्खी हुई वस्तुओं को वे तितर-बितर कर देते हैं । वस्तुओं को बिगाड़ने तथा भाँति-भाँति के उपद्रव करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है ।

गिब्बन की विवेक-शक्ति

बेनेट नामक जंतुशास्त्री के पास एक पालतू गिब्बन था जिसको साबुन की टिकियों से विशेष रुचि थी । मौका पाने पर वह साबुन जरूर उठा ले जाता । एक-दो बार साबुन की टिकिया उठा ले जाने पर बेनेट साहब ने उसे बहुत डाँटा । एक दिन उसी कमरे में, जहाँ वह गिब्बन रहा करता था, साहब मेज-कुर्सी लगाकर बैठ गए । जब गिब्बन ने उन्हें लिखने में अत्यंत तल्लीन समझा, तो उसने उनकी ओर नजर बचाकर देखते हुए साबुन की ओर हाथ बढ़ाया । बेनेट साहब उसका मतलब समझकर भी नीचे को देखते हुए अपने काम में लगे रहे । गिब्बन ने उन्हें काम में लगा समझकर टिकिया उठा ली और अपनी जगह पर जाने लगा । जब वह आधी दूर तक पहुँच गया, तो उसके स्वामी ने धीमी आवाज में प्रश्न करना आरम्भ किया । गिब्बन के जी में यह शंका हुई कि उसकी चोरी प्रकट हो गई है और वह तुरंत ही लौट पड़ा और टिकिया को पहले की जगह पर रखकर अपने स्थान पर जा बैठा । इससे प्रकट है कि इनमें भी थोड़ी-बहुत विवेक-बुद्धि है ।

बबून और मैन्ड्रिल

अब हम कुछ अन्य मानवसम प्राणियों का परिचय आपको देना चाहते हैं । इन कपियों को हम साधारणतया बबून या मैन्ड्रिल कहते हैं, परन्तु इनमें और भी कई नस्लें हैं । इनका मुँह बहुत-कुछ कुत्ते-जैसा होता है, इसलिए ये 'साइनोकिफैला' (कुत्ते की-सी खोपड़ीवाले जीव) के नाम से पुकारे जाते हैं । ये अधिकतर जमीन, चट्टानों या टीलों पर ही वास करते हैं और भोजन की खोज में कभी-कभी पेड़ों पर भी चढ़ जाते हैं । इन्हें इकट्ठे होकर समूहों में रहना पसंद है और ये बड़े ही नटखट होते हैं । रात भर में ये पूरा खेत का खेत साफ कर डालते हैं । जब ये किसी खेत पर हमला करते हैं, तो इनमें से एक, जो अनुभवी और बड़ा समझाजाता है, पहरे पर खड़ा रहता है । उसके भूँकने से शेष सब समझ जाते हैं कि कोई खटका है और तब सब उलटे पाँव भाग पड़ते हैं ।

बबून सहारा के दक्षिण में अफ्रीका के सभी क्षेत्रों में तथा अरब में भी मिलते हैं । किसी समय भारतवर्ष में भी वे पाए जाते थे । प्राचीन मिस्रवासी उन्हें बड़ा पवित्र समझते थे और उनकी पूजा करते थे ! उनकी भुजाएँ और टाँगे बराबर होती हैं और वे चारों हाथ-पैरों से ऐसे चलते हैं, मानो चौपाए हों । उनकी दुम न बहुत लम्बी ही होती है और न बहुत छोटी ही । किसी-किसी की दुम के छोर पर बालों का एक गुच्छा होता है । बबून जब सीधा खड़ा होता है, तो उसकी लम्बाई ढाई-तीन फीट होती है । उसकी भृकुटियों की हड्डियाँ उठी होती हैं और आँखें मनुष्य के समान सामने की ही ओर देखनेवाली होती हैं । उसके स्तनों की स्थिति, कंधों की आकृति और भुजाएँ बिल्कुल हमारे ही जैसी होती है, अतः सुदान के लोग उसे 'निस-निस' कहते हैं, जिसका अर्थ है 'छोटा आदमी' ।

ये जीवधारी शरीर से छोटे होते हुए भी बड़े बलवान होते हैं । सीनेल नामक जंतुशास्त्री ने लिखा है कि उनके पुत्र के बँगले में एक मादा बबून रहती थी । वह पालतू थी और सारे बँगले में स्वतन्त्रतापूर्वक घूमा करती थी । एक दिन उसे यह सूझा कि मकान की सफाई होनी चाहिए । बस फिर क्या था ! मालिक भी घर पर न थे। उसने कमरों की सब वस्तुएँ--कुर्सी, मेज, पलंग किताबें आदि--उठा-उठाकर बाहर फेंक दीं ! इस सेवा के लिए उसको सजा दी गई और पिंजड़े में वह बन्द कर दी गई ।

मैन्ड्रिल पश्चिमी अफ्रीका, विशेषतया गिनी तट, का निवासी है । यह बबून से बहुत बड़ा होता है । खड़ा होने

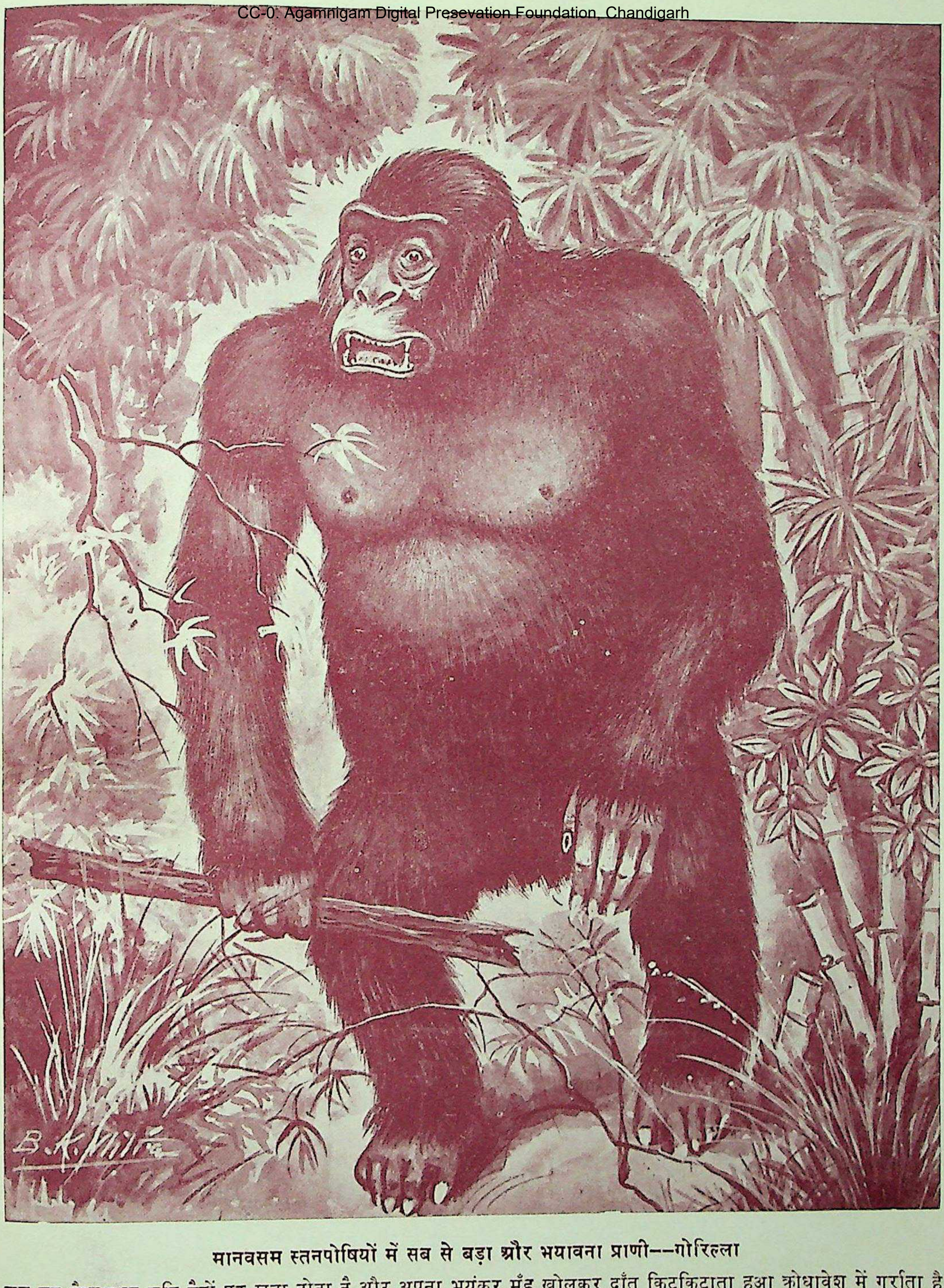

मानवसम स्तनपोषियों में सब से बड़ा और भयावना प्राणी--गोरिल्ला

जब यह दैत्याकार कपि पैरों पर खड़ा होता है और अपना भयंकर मुँह खोलकर दाँत किटकिटाता हुआ क्रोधावेश में गुर्राता है एवं अपनी छाती ठोंकता है, तो उसके आगे बड़े-से-बड़े सूरमा के भी छक्के छूट जाते हैं ! निश्चय ही हमारे पुराणों में राक्षसों और दैत्यों की जो कल्पनाएँ की गई हैं, उनका आधार यह भयावना कपि ही रहा होगा ! परन्तु शत्रुओं के लिए ऐसा कराल होकर भी यह पशु अपने परिवार का जबर्दस्त संरक्षक और ममताग्रस्त होता है।

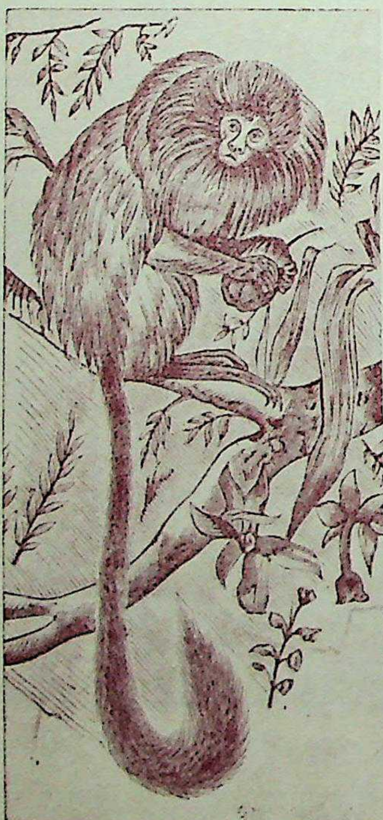

(सबसे ऊपर की पंक्ति में) एशिया के दो मानवसम कपि या वनमानुष—बाईं ओर, भारी-भरकम औरंग-उटाँग, जो सुमात्रा और बोर्नियो के टापुओं में वृक्षों पर रहता है। दाहिनी ओर, हल्के शरीरवाला गिब्बन, जो पृथ्वी पर चलते समय अपनी लंबी भुजाओं को ऊपर उठा लेता है, पर पेड़ों पर कूदते समय ३०-४० फीट तक लंबी छलाँग मार लेता है। (नीचे की पंक्ति में) बाईं ओर, गिलहरी बंदर या मार्मोसेट; बीच में, गुर्रानेवाला बंदर; दाहिनी ओर, 'मकड़ी बंदर'।

पर यह ५' लम्बा होता है, पर इसकी दुम २' से अधिक लंबी नहीं होती और नीचे लटकने के बजाय वह ऊपर की ओर सीधी खड़ी रहती है। इसकी भौं के ऊपर की हड्डियाँ उठी हुई होती हैं तथा चेहरा भारी, भौंहें ऊँची और आँखें गड्ढे में बैठी हुई होती हैं। इसके शरीर का रंग बबून से गहरा होता है। ऊपरी भागों में इसके बाल नरम और जैतूनी खैरे रंग के तथा नीचे के भागों में उससे कुछ हल्के रंग के होते हैं। चेहरे तथा हाथ-पैरों पर बाल नहीं होते, पर कनपटी के बाल चोटी की भाँति ऊपर को उठे रहते हैं। इसकी दाढ़ी पीली होती है।

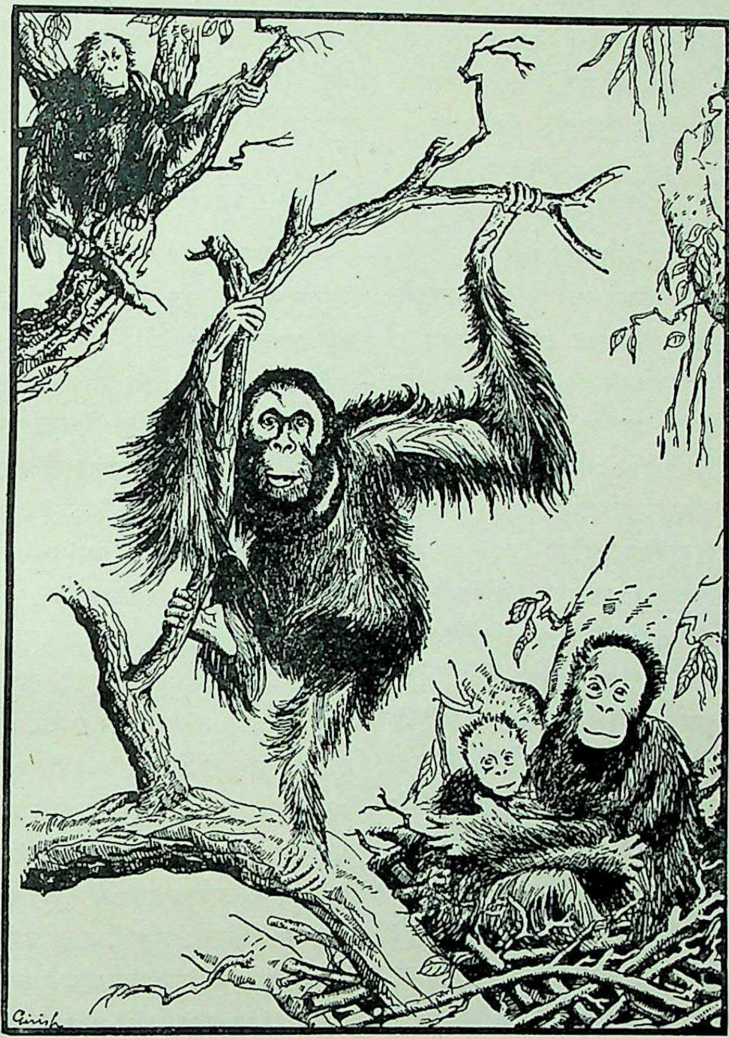

प्रस्तुत चित्र में एक औरंग-उटाँग परिवार दिग्दर्शित है। वृक्ष के ऊपर स्थित इस वनमानुष के विचित्र घोंसले को देखिए, मादा औरंग-उटाँग किस प्रकार अपने शिशु को छाती से चिपकाए उस पर बैठी है!

नर मैन्ड्रिल का चित्र - विचित्र श्रृंगार मादाओं को मोहित कर लेता है

मैन्ड्रिल की वेशभूषा में सब से अनूठी बात नर का चटकीला रंग है। उसकी दाढ़ी पीली और चोटी काली होती है। चेहरा ऊपर से लेकर नाक तक गहरा नीला और बैंजनी होता है। बीच-बीच में नसें-सी होती हैं, जिनसे धारियाँ-सी पड़ जाती हैं। चेहरे के बीचोबीच में माथे के मध्य से लेकर नाक की कोर तक गहरे लाल रंग की रेखा होती है, जिससे चेहरे की शान और भी बढ़ जाती है। जबड़े पर गुलाबी और बैंजनी रंग के धब्बे होते हैं। ऐसे रंग इनके चेहरे पर ही नहीं होते, बल्कि पीछे की ओर नितंब पर तथा जाँघों के भीतरी ओर भी चटख सिंदूरी रंग का चर्म होता है। इस पशु के इन विचित्र रंगों के कारण ही किसी ने कहा है कि इसके चेहरे पर सूर्योदय तथा पीठ की ओर सूर्यास्त का दृश्य दिखलाई पड़ता है! इस प्रकार का चित्र-विचित्र श्रृंगार पूर्ण वृद्धि को प्राप्त नरों में ही मिलता है। स्त्रियों और बच्चों को ये आकर्षक रंग प्राप्त नहीं हैं। वृद्ध होने पर पुरुषों में भी ये रंग फीके पड़ जाते हैं। इससे डार्विन ने यह विचार सुझाया है कि इनका यह रंगीन श्रृंगार स्त्रियों को मोहित करने में उपयोगी होता है, अर्थात् प्रकृति ने इनका यह वेश विशिष्ट उद्देश्य से ही बनाया है।

नई और पुरानी दुनिया के बन्दर

इस ग्रंथ के खंड २ में 'मनुष्य की युगयात्रा' विभाग के अंतर्गत हम वानरों की उन विविध जातियों का कुछ परिचय दे चुके हैं, जो नई और पुरानी दुनिया के देश-देशान्तरों में फैली हुई हैं। आप सभी ने मामूली बन्दर और लंगूर तो अवश्य ही देखे होंगे। आप उनकी शैतानियों और मसखरेपन से भी अनभिज्ञ न होंगे। जब वे अपने छोटे-छोटे हाथों में केला या आम पकड़कर खाते हैं और मदारियों के सिखाने से नाचते, कपड़ा पहनते और ठाठ से मोढ़े पर बैठकर सलाम करते या दौड़कर दर्शकों के पैर छूते हैं, तो वे मनुष्य-जैसे ही जान पड़ते हैं! फिर भी वे अपने पिछले पैरों को हमारी तरह चलने के काम में नहीं ला सकते। बल्कि उन पैरों से भी वे हाथों के समान ही चीजों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

या डालियों को पकड़ सकते हैं। हमारे पैरों में यह शक्ति नहीं होती। वस्तुतः हम यह कह सकते हैं कि उनके दो पैर और दो हाथों के बजाय चार हाथ होते हैं।

कदाचित् आप यह सोचते होंगे कि बन्दर तो सब एक-से ही हैं, चाहे वे नई दुनिया के हों, चाहे पुरानी दुनिया के। किंतु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। उनमें बड़ा भेद है। पुरानी दुनिया के बन्दरों के नथुने पास-पास होते हैं; उनके गालों में खाद्य पदार्थों को भरने के लिए थैलियाँ होती हैं; उनके हाथों में ठीक अँगूठे होते हैं और वे अपनी दुमों का प्रयोग शरीर साधने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से नहीं कर सकते। इसके विपरीत नई दुनिया के बन्दरों के नथुने एक दूसरे से दूर होते हैं; उनके गालों में खाना भरने की थैलियाँ नहीं होतीं और न उनके हाथों में ठीक अँगूठे ही होते हैं। उनमें से बहुतेरे अपनी दुम को हाथ के समान डालियों को पकड़ने के काम में ला सकते हैं, मानो वह उनका पाँचवाँ हाथ हो। इन भेदों के अतिरिक्त नई दुनियावाले वानरों में पिछला धड़ कभी लोमहीन या गहरे रंग का नहीं होता।

बन्दरों की बहुतेरी जातियाँ हैं। उनका विस्तृत वर्णन करने के लिए तो एक पूरे ग्रंथ की आवश्यकता है। अतः यहाँ हम पुरानी तथा नई दुनिया के बन्दरों के दो एक नमूनों का संक्षिप्त वर्णन करके ही यह लेख समाप्त करना चाहते हैं।

पुरानी दुनिया के बन्दरों में सर्वश्रेष्ठ लंगूर हैं, जिनसे सभी भारतवासी सुपरचित हैं। हिन्दू इन्हें पवित्र मानते हैं और इनकी एक उपजाति को हनुमान कहते हैं। हनुमान लंगूरों के विषय में यह विख्यात है कि कई मादाओं के बीच में एक ही नर होता है। कहा जाता है कि पूर्ण नर छोटे नरों से घृणा करते हैं और अवसर पाने पर उन्हें मार डालते हैं। इसीलिए माताएँ अपने छोटे बच्चों को जंगल में ले जाकर रखती हैं और वहीं छिपाकर उनका पालन-पोषण करती हैं। जब वे बड़े और सुदृढ़ हो जाते हैं, तो वापस आकर नेतृत्व के लिए अन्य पुरुषों से लड़ते हैं।

नई दुनिया के वानरों की १० बड़ी जातियाँ हैं। उनमें से एक अत्यन्त मनोहर उदाहरण मार्मोसिट है, जो केवल गिलहरी के बराबर बड़ा होता है और जिसे लोग बच्चों के मनबहलाव के लिए पालते हैं। इसका स्वभाव बड़ा सीधा होता है। यह जब प्रसन्न होता है, तब तो हँसता है और उदास होने पर आँसू बहाता है! मानव-बालकों के समान ही वह खेलना पसंद करता है। उसके ३२ दाँत होते हैं, जबकि शेष बानरों के ३६ होते हैं। उसके काले चेहरे के बीच सफेद नाक बड़ी ही खिलती है। कानों में भी सफेद बालों के गुच्छे होते हैं।

नई दुनिया का एक और विचित्र बंदर है, जिसका नाम 'मकड़ी बंदर' है। वह काला तथा दुर्बल शरीर का होता है। उसके हाथ-पैर लम्बे और पतले होते हैं। यह अपनी दुम से वृक्षों को पकड़कर उसी के सहारे लटकता और कूदता-फिरता है। तीसरी प्रकार का एक मनोरंजक बन्दर, जो इन दोनों से बहुत बड़ा होता है और दक्षिणी अमेरिका में मिलता है, 'गुर्रानेवाला बंदर' कहलाता है। इसकी गुर्राहट इतनी तेज होती है कि मीलों तक सुनाई पड़ती है। चूँकि ये बंदर इतने दिनों से ऐसे जोर से चिल्लाते रहे हैं, अतः उनके स्वरयंत्र इसी कारण बहुत बड़े हो गए हैं।

अर्द्ध-वानर—प्रधानभागीय कक्षा का निम्नतम वर्ग

'मनुष्य की युगयात्रा' विभाग के अन्तर्गत खंड २ में आपको विस्तार-सहित यह बात बताई जा चुकी है कि वानरों और मानवसम कपियों के अतिरिक्त लीमूर जैसे कतिपय अर्द्ध-वानरों का भी एक वर्ग जन्तु-जगत् की प्रधानभागीय श्रेणी में पाया जाता है, जिसका विकास भी उसी उद्गम-स्थल से हुआ है, जिससे कि सारे बन्दर और कपियों ने जन्म लिया है। लीमूरों का मुख्य निवासस्थान मैडागास्कर द्वीप है, किन्तु उनकी दो एक जातियाँ अफ्रीका की भूमि पर भी पाई जाती हैं। भूगर्भवेत्ताओं तथा वैज्ञानिकों का मत है कि मैडागास्कर और अफ्रीका की भूमि पहले मिली हुई थी। उसी समय ये अर्द्ध-वानर वहाँ फैल गए। बीच की भूमि जल-मग्न हो जाने से मैडागास्कर अफ्रीका से अलग हो गया और ये जीव विकास के उस चक्र से बचे रहे, जिसमें फँसकर अफ्रीका के अन्य जीवों ने उन्नति की। यही कारण है कि वे अब तक वहाँ इतनी बड़ी संख्या में बचे रह गए हैं। लीमूर कई रंग और आकार के होते हैं। कुछ छोटी लोमड़ियों जैसे और कुछ नेवले, चुहियों और गिलहरी जैसे होते हैं। परन्तु इनमें सबसे अद्भुत एक जीव है, जो 'अय-अय' कहलाता है। उसके दाँत खरगोश जैसे होते हैं। उसकी बीच की उँगली भी बड़ी अनोखी होती है, जिसके सिरे पर एक टेढ़ा नख होता है। इसकी सहायता से वह पेड़ों की छाल में चिपटे हुए कीड़ों को निकाल कर खा जाता है।

जैसा कि इस प्रकरण के आरंभ ही में कहा जा चुका है, स्तनपोषी वर्ग के अन्तिम सिरे पर प्रधानभागी वर्ग के चरम विकास की उच्चतम श्रेणी के रूप में स्वतः मनुष्य भी अवस्थित है। किंतु उसका अध्ययन इस विभाग के बजाय अन्य विभागों में किया गया है। अतः स्तनपोषित कक्षा का यह प्रकरण हम यहीं समाप्त कर रहे हैं।

पक्षियों का संसार—(१)

भाँति-भाँति के उपयोगी पक्षी

आकाश की दुनिया में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरनेवाले पक्षीगण न केवल इस सृष्टि का सौन्दर्य ही बढ़ाते, वरन् अनेक क्षेत्रों में मनुष्य के लिए वे परम उपयोगी भी प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत और आगे के कतिपय अध्यायों में जंतु-जगत् के इसी महत्वपूर्ण समुदाय के रंग-बिरंगे प्राणियों के रोचक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

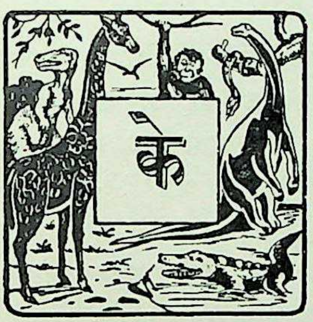

केवल वे ही व्यक्ति, जो पक्षियों के सम्पर्क में आ चुके हैं, इस बात को समझ सकते हैं कि उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने से हमारे जीवन की सरसता और उल्लास में कितनी वृद्धि हो सकती है। पक्षियों के निरीक्षण तथा उनकी संगीत-सुधा के पान में हमें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आधुनिक युग के थियेटर, सिनेमा आदि के आमोद-प्रमोद की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध और स्थायी आनन्द है।

उन पर कवि और कलाकार दोनों ही लट्टू हैं

कौन-सा ऐसा कवि है, जो पक्षियों के मधुर संगीत तथा उनके रंग-बिरंगे परिधान से प्रभावित न हुआ हो? उधर कितने ही कलाकारों ने भी पक्षियों के जीवन से संबंधित चित्रों का सोल्लास निर्माण किया है। पक्षी-अनुराग से उत्पन्न आह्लाद तथा उनका सौन्दर्य ये दोनों ही वर्णनातीत हैं—

चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥
(महाकवि गो० तुलसीदास)

पक्षियों के सौन्दर्य का वर्णन कवियों की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। हर देश और हर भाषा के ग्रन्थकार, कवि और लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से पक्षियों के बारे में लिखा है और कविताएँ बनाई हैं। भारतीय पक्षियों का गहन अध्ययन करनेवाले सुप्रसिद्ध लेखक डगलस डेवार एक स्थान पर कहते हैं—"पक्षियों से मुझे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अपेक्षाकृत इतना अधिक उल्लासमय है, उसमें ऐसी ताजगी की पुट है कि वह प्रायः परिहास और विनोद की भावना में परिणत हो जाता है। इसका श्रेय विशेषतया भारतीय पक्षियों को प्राप्त है। भारत के कौओं की चहल-पहल को आधे घण्टे तक देखने के उपरान्त भी यदि किसी व्यक्ति को विनोद न प्राप्त हो, तो अवश्य उसे छः महीने के लिए पागलखाने में भरती हो जाना चाहिए।"

हमारे देश के कवि तो सदा ही से पक्षियों के सौंदर्य पर लट्टू होते रहे हैं और उनकी काव्यधारा इन रंग-बिरंगे मनोहर प्राणियों की सुषमा, का वर्णन करने में ज्वार की तरह उमड़ती रही है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा॥
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥

+ + +

चातक-कोकिल-कीर-चकोरा। कूजत विहग नटत कल मोरा॥
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनिसोपान विचित्र बनावा॥
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत गूँजत भृङ्गा॥

पक्षियों की मनमोहकता के पीछे इनकी चपलता, इनकी जागरूकता तथा इनका लालित्य छिपा है। श्री एफ० डब्ल्यू० हेडले ने एक स्थान पर कहा है कि 'अन्य जीवों के मुकाबले में पक्षियों के अन्दर सबसे अधिक जीवन भरा हुआ मालूम देता है। एक लिहाज से पक्षियों को सृष्टि के समस्त जीवों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है । [illegible] होने के नाते स्थल-जीवों के मुकाबले में पक्षियों को योंही प्रधानता प्राप्त है ।

पक्षियों की उपयोगिता

सौन्दर्य और भावुकता के विचार से तो पक्षीगण अनुपम हैं ही, साथ ही साथ हमारे लिए वे भाँति-भाँति से अति उपयोगी भी हैं । जहाँ वे अपने मधुर संगीत से हमारे हृदय को आह्लादित करते; और अपने चटकीले रंग से हमारे नयनों को प्रफुल्लित कर देते हैं, वहाँ वे न केवल कृषि में ही हमें सहायता पहुँचाते हैं, प्रत्युत अन्य क्षेत्रों में भी हमारे लिए उपयोगी साबित होते हैं । अवश्य अनेक पक्षी ऐसे भी हैं, जो अनाज और फल खाते हैं तथा उनसे हमें लाभ के बदले हानि ही होती है । किन्तु इनमें से अनेक ऐसे भी तो हैं, जो अन्य तरीकों से हमें फायदा भी पहुँचाते हैं । सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि समष्टि रूप से पक्षियों की जाति मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

मनुष्य सोचता है कि वही सृष्टि का सर्वशक्तिमान प्राणी है, किन्तु बात सचमुच ऐसी नहीं है । सृष्टि का प्रभुत्व वास्तव में जंतु-जगत् के एक अत्यन्त निम्न कोटि के प्राणियों——कीड़े-मकोड़ों——को प्राप्त है । मनुष्य ने सब से खूँख्वार स्तनपोषी जीवों तथा सब से घातक उरंगमों तक को अपने काबू में कर लिया है, किन्तु कीड़े-मकोड़ों के आक्रमण के सामने मनुष्य तथा उसकी कृतियाँ दोनों ही आज भी हार खा जाती हैं। किसे नहीं मालूम कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों में टिड्डियों का उपद्रव अथवा पिस्सुओं द्वारा जनित प्लेग कितनी क्षति मनुष्य को पहुँचाता है ? कीड़े-मकोड़ों की उत्पत्ति इतनी तीव्र गति से और असंख्य परिमाण में होती है और वे इतना अधिक खाते हैं कि यदि उन्हें तथा उनकी सन्तान को नष्ट करनेवाले पक्षी इस सृष्टि में न होते, तो समस्त भूमंडल के पेड़-पौधे कभी के साफ हो गए होते । अकेला एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा——गणना करके देखा गया है कि आलू को नष्ट करनेवाले एक जाति के कीड़े का एक जोड़ा, यदि बिना किसी बाधा के सन्तानोत्पत्ति करता चला जाय, तो एक ऋतु में ही उससे छः करोड़ कीड़े उत्पन्न हो जायँगे ! इस गति से उन कीड़ों की जो संख्या बढ़ सकती है, वे आलू की समूची फसल को खत्म करने में कितनी देर लगाएँगे ? इसी तरह एक तरह का कीड़ा दिन भर में अपनी तौल की तीन गुनी पत्तियाँ खा जाता है । केवल इस बात से ही आप इनकी भक्षण-शक्ति की भीषणता का अन्दाज लगा सकते हैं । यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि यदि इसी हिसाब से घोड़ा अपना रातिब खाने लगे, तो उसे प्रति २४ घण्टे में एक टन घास खानी पड़ेगी ! रेशम का कीड़ा ५६ दिनों में जितनी पत्तियाँ खा जाता है, उसका वजन उक्त कीड़े के अण्डे में से निकलने के समय के वजन का ८६,००० गुना होता है !

भला, इन सर्वभक्षी कीड़ों को पृथ्वीतल पर अपरिमित संख्या में बढ़ने देने तथा अन्य जीवों की समग्र खाद्य-सामग्री को चट कर जाने से कौन रोकता है ? यह मनुष्य के तो बस की बात है नहीं । उसने अनेक तरकीबों से अपने उद्यानों तथा बाग-बगीचों को इनके विनष्टकारी प्रभाव से बहुत कुछ अंशों में सुरक्षित बनाने का प्रयत्न तो किया है, फिर भी बाहर के खुले खेतों और वनों में उसका कोई बस नहीं चलता । कीड़े-मकोड़ों के भयानक आक्रमण के सामने उसे युद्ध के मैदान से भागे हुए भयभीत व्यक्ति की तरह सदैव भाग खड़ा होना पड़ता है । इस विपदा से न कोई बीमारी, न मौसम, न अन्य कीड़े या कोई जानवर ही हमें त्राण दिला सकते हैं ।

सारांश यह है कि इन कीड़ों के उपद्रव को रोकने में हम नितान्त असमर्थ हैं । फिर वह कौन-सी शक्ति है, जो इस विपदा से हमारी रक्षा करती है ? वह शक्ति है यही पक्षी, जिनकी खूराक के प्रधान अंश कीड़े-मकोड़े होते हैं । वे ही प्रकृति में कीड़े-मकोड़ों की संख्या का समतुलन बनाए रखते हैं । इस बात के अनेक उदाहरण मौजूद हैं की पक्षियों के उन्मूलन के कारण अनेक देशों को कितनी ही भयंकर आपदाओं का सामना करना पड़ा । स्थानाभाव के कारण उनका जिक्र करना यहाँ सम्भव नहीं है । किन्तु फल उगानेवाले गरीब कृषक यदि अपने इन परदार शुभचिन्तकों की सेवाओं से वंचित कर दिए जाएँ, तो उन पर क्या बीतेगी, इसका दृष्टांत हमें सम्राट् फ्रेडरिक महान् की एक घटना से मिलता है । उसकी वाटिका के कुछ फलों पर कुछ चिड़ियों ने चोंच मार दी थी । बस, आपे से बाहर होकर फ्रेडरिक ने फरमान निकाला कि जहाँ कहीं भी छोटी चिड़ियाँ मिलें, उन्हें मार डाला जाय । दो साल के भीतर ही उक्त वाटिका के वृक्ष, जो फलों से सर्वथा रहित थे, केटरपिलर नामक कृमि की बाढ़ से ढक गए ! यदि पक्षियों को नेस्तनाबूद कर दिया जाय, तो निस्संदेह ठीक यही हाल हमारे अमरूद, आम तथा अन्य सभी फलवाले वृक्षों का होगा !

उपयोगी पक्षियों के विभिन्न समूह

ऊपर हमने केवल उन पक्षियों का ही जिक्र किया है, जो कीड़े-मकोड़े खाते हैं । इनके अलावा अन्य कई ऐसे पक्षी

भी हैं, जो नन्हें-नन्हें घास के बीज या चुहिया आदि जीवों को खाते हैं, अथवा जो मनुष्य के आहार के काम में आते हैं अथवा गन्दगी को साफ करते हैं। आइए, इनमें से प्रत्येक श्रेणी के पक्षियों का उनकी सेवाओं सहित सविस्तर अध्ययन करें।

१. कीड़े-मकोड़े खानेवाले पक्षी

मिट्टी में रहनेवाले उन छोटे-छोटे कृमियों से लेकर, जो कि पौधों की जड़ें काटते रहते हैं, वृक्षों पर पाए जानेवाले पतिंगों तक सहस्त्रों प्रकार के कीड़े-मकोड़े इस धरती पर पाए जाते हैं। इनमें से कई शत्रुवत् निरन्तर हमारी फसलों और बाग-बगीचों को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे हर श्रेणी के कीड़े के लिए प्रकृति ने विशेष जाति के पक्षी बनाए हैं, जो उनकी विनष्टकारी बाढ़ को रोकते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ पक्षी मिट्टी में इन कीड़ों की तलाश किया करते हैं। लवा तथा गौरैय्या इनके लिए सूखी पत्तियों और घास को कुरेदा करते हैं। 'फुदकियाँ' झाड़-झंखाड़ की नित्य तलाशी लिया करती हैं। कठफोड़ की जाति का एक प्रसिद्ध पक्षी 'ठठेरा वृक्षों की छालों की जाँच करता रहता है। स्वयं कठफोड़ भी छाल में सूराख करके अपना आहार खोजते हैं और अबाबील और मक्खीभक्षी पक्षी वायु के कीड़े-मकोड़ों पर ही हाथ साफ करते हैं।

जहाँ ऐसे कीटभक्षी पक्षियों की संख्या अधिक होती है, वहाँ बिरले ही किसी भाग्यशाली कीड़े की जान बच पाती होगी। उधर जहाँ ऐसी चिड़ियों की कमी है, वहाँ बिरले ही पौधों के भाग्य इतने प्रबल होते हैं कि वे अपनी जीवनलीला निर्विघ्न समाप्त कर सकें। कनाडा और संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने बहुत दिनों पहले ही कीटभक्षी पक्षियों को प्रोत्साहन देने की जरूरत महसूस कर ली थी। अतः उनकी पूर्ण रक्षा के लिए वर्षों पूर्व वहाँ राज्य की ओर से कड़े कानून बन गए। हमारे

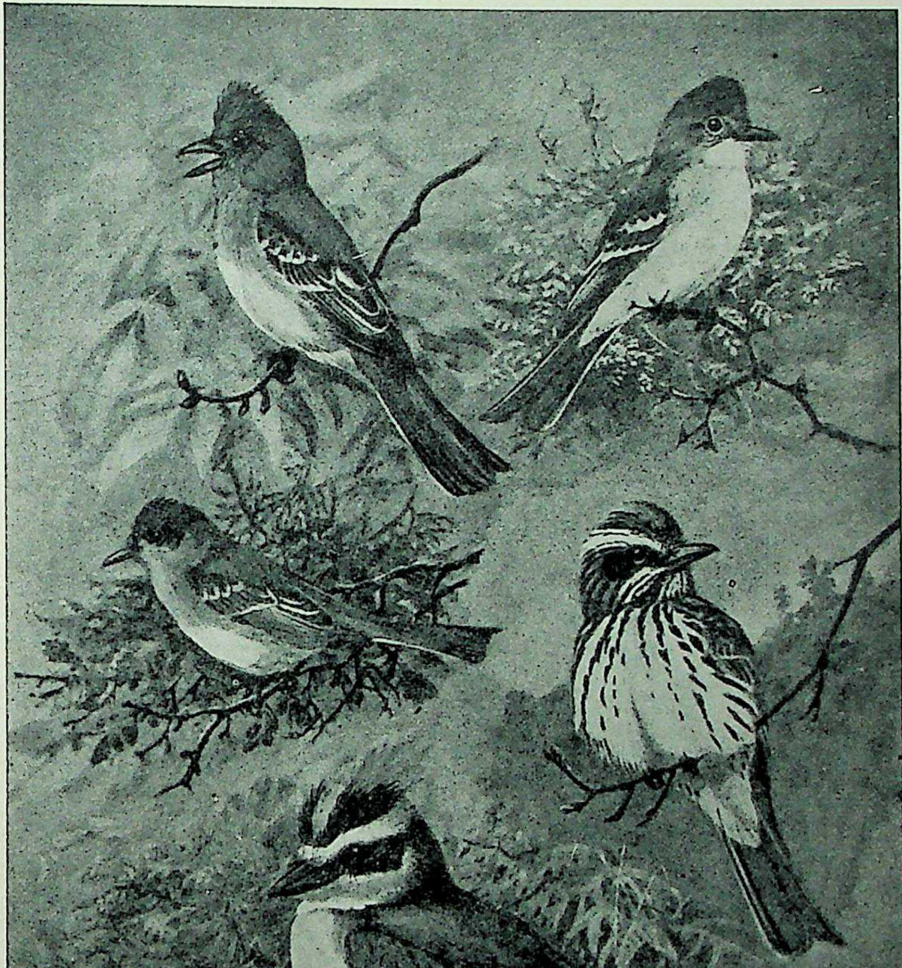

कीड़े-मकोड़े खानेवाली कतिपय चिड़ियों का एक समूह :: अपने खेतों और बगीचों के परम शत्रु कीड़े-मकोड़ों के विरुद्ध संघर्ष में मनुष्य के सबसे बड़े सहायक इसी श्रेणी के पक्षी हैं।

देश में चिड़ियों के शिकार का कोई निषेध नहीं है। इसी से कहीं-कहीं उनकी संख्या बेहद घट चली है।

२. घासपात के बीज खानेवाले पक्षी

द्वितीय श्रेणी में वे पक्षी आते हैं, जिन्हें अपनी खूराक का समूचा या आंशिक भाग घासपात के बीजों से प्राप्त होता है। विभिन्न जाति की गौरैय्या, बटेर और साधारणतः शिकार के सभी पक्षी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। शिकार के तमाम पक्षियों में कदाचित् बटेर घासपात को नष्ट करने में अग्रगण्य है। अमेरिका के न्यूयार्क राज्य में हर जाड़े की ऋतु में घास के जितने बीज एक प्रकार के गौरैय्या खा डालते हैं, उनका अनुमान ९०० टन से भी अधिक लगाया गया है! जब किसी कारण से इन बीजभक्षी पक्षियों की एक बड़ी संख्या किसी छोटे प्रदेश पर अपनी खाद्य-सामग्री के लिए आकर जुट जाती हैं, तो अवश्य वहाँ की कृषि पर अत्यन्त लाभदायक प्रभाव पड़ता है। किन्तु देश के तमाम खेतों को घासपात से मुक्त करने के लिए मौजूदा संख्या से पाँच गुना अधिक पक्षियों की आवश्यकता होगी।

३. वे पक्षी, जो चूहे आदि नन्हें जीवों का भक्षण करते हैं

चूहे, गिलहरी आदि जीवों की विनष्टकारी प्रवृत्तियों का उल्लेख पिछले एक प्रकरण में हम कर ही चुके हैं। खेत की खड़ी फसल या खलिहान का अनाज सभी पर इनका वार होता रहता है। आलू-शकरकन्द की जाति के पौधों को (जब कि वे उग रहे हों या जमीन पर इकट्ठे किए गए हों), फल के बगीचों और जंगल के वृक्षों को, भाँति-भाँति के अनाजों को और फलों एवं तरकारियों सभी को ये अपरिमित क्षति पहुँचाते हैं। कुछ जीव तो बीमारियों के फैलाने के भी प्रधान साधन हैं। ये क्षुद्र जंतु साल में कई बार बच्चे देते हैं, और हर बार उनके ५ से लेकर १० बच्चे तक पैदा होते हैं। यदि तमाम बच्चे जिन्दा रहें, तो इस रफ्तार से कुछ ही वर्षों में अकेले एक जोड़े चूहे से करोड़ों सन्ताने-उपसंताने उत्पन्न हो जायँगी! इनकी उक्त संख्या को कम करने का दायित्व प्रकृति ने कुछ पक्षियों को सुपुर्द किया है। इस संबंध में बाज और उल्लू हमारे प्रमुख सहायक हैं। इन दोनों जाति के पक्षियों को काफी दिनों तक घोंसले के अन्दर अपने बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता है और इस दर्मियान उनके लिए प्रचुर मात्रा में खाद्य-सामग्री जुटानी होती है। अतः वे अपने खाद्य-जन्तुओं पर खूब हाथ साफ करते हैं। एक बार एक खंडहर में अकेले एक जोड़े उल्लू ने चूहों की ४५४ खोपड़ियाँ अपने घोंसले में रख छोड़ी थीं! उल्लू की कुछ जातियाँ समय-समय पर उड़कर ऐसे स्थानों पर पहुँच जाती हैं, जहाँ चुहियों की संख्या विशेष रूप से बढ़ गई होती है। वहाँ पर ये अपने शिकार का काम उस समय तक जारी रखते हैं, जब तक कि चुहियों की संख्या पुनः औसत स्तर पर नहीं पहुँच जाती। बड़े आकार का सींगदार उल्लू तथा दो या तीन जाति के बाज नियमित रूप से छोटी चिड़ियों और मुर्गी तथा कबूतर के बच्चों का भी शिकार करते रहते हैं। इस लिहाज से ये हमें हानि भी पहुँचाते हैं। पर इस श्रेणी के पक्षियों को नष्ट करने के पहले उनकी आदतों के बारे में हमें पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए-- क्योंकि दो-चार मुर्गी तथा कबूतरों का नष्ट होना उतना बुरा नहीं है, जितना खेत में चूहों और गिलहरियों की अपरिमित बाढ़ का नियमित रूप से बढ़ते चले जाना। इस तरह हम देखते हैं कि हेय दृष्टि से देखा जानेवाला उल्लू भी उपयोगिता से खाली नहीं है।

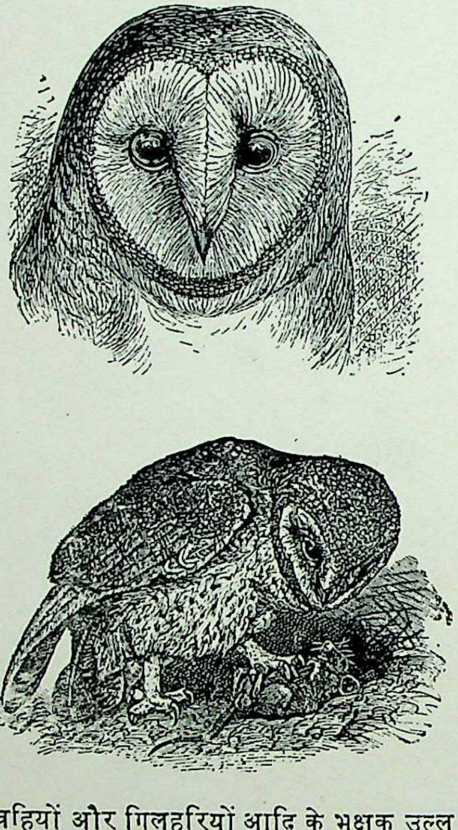

चुहियों और गिलहरियों आदि के भक्षक उल्लू भी हमारे लिए किसी दर्जे तक बड़े उपयोगी हैं।

४. वे पक्षी, जो शिकार के काम में आते हैं

हमारे देश में विभिन्न जाति की बत्तखें जाड़े के दिनों में दूर-दूर से आकर तालाबों पर उतरती हैं और लोग उनका बन्दूक से शिकार करते हैं। इनके अलावा भी शिकार के कुछ पक्षी बारहों महीने पाये जाते हैं—उदाहरणार्थ, जंगली कबूतर, बटेर, लवा तथा तीतर। यद्यपि पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत से मांसाहारियों की संख्या कम है, किन्तु फिर भी

प्रति वर्ष यहाँ शिकार के पक्षियों की संख्या घटती जा रही है । वस्तुतः अब इन पक्षियों के बेतहाशा शिकार पर रोक होना चाहिए । विदेशों तक में राज्य के अधिकारियों तथा जीव-वैज्ञानिकों, दोनों ही के सामने यह समस्या प्रस्तुत है कि शिकार के पक्षियों की संख्या को घटने से कैसे बचायें । संसार के अधिकतर भागों में शिकार के कारण पक्षियों की भारी कमी पैदा हो गई है। शिकारियों, पेशेवर बहेलियों तथा फर और पंख के एजेन्टों ने लाखों की संख्या में पक्षियों की जानें ली हैं, फलस्वरूप पहले के-से वे दिन अब बाकी नहीं रहे, जब कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का इतमीनान रहता था कि उसे अपने बन्दूक के सलामत रहते हुए खाने के लिए शिकार के पक्षियों की कभी भी कमी नहीं हो सकेगी । इस प्रकार गत ५० वर्षों में जंगली पक्षियों का महत्व खाद्य-द्रव्य की दृष्टि से बेतरह गिर गया है । कहा जाता है कि ५० वर्ष पहले उत्तरी अमेरिका में जंगली बत्तखों की संख्या अगणित थी, किन्तु अब हडसन की खाड़ी के तट पर इनकी संख्या इतनी कम हो गई है कि वहाँ के निवासियों को जाड़े में मुश्किल से खाने भर को बत्तखें आदि मिल पाती हैं ।

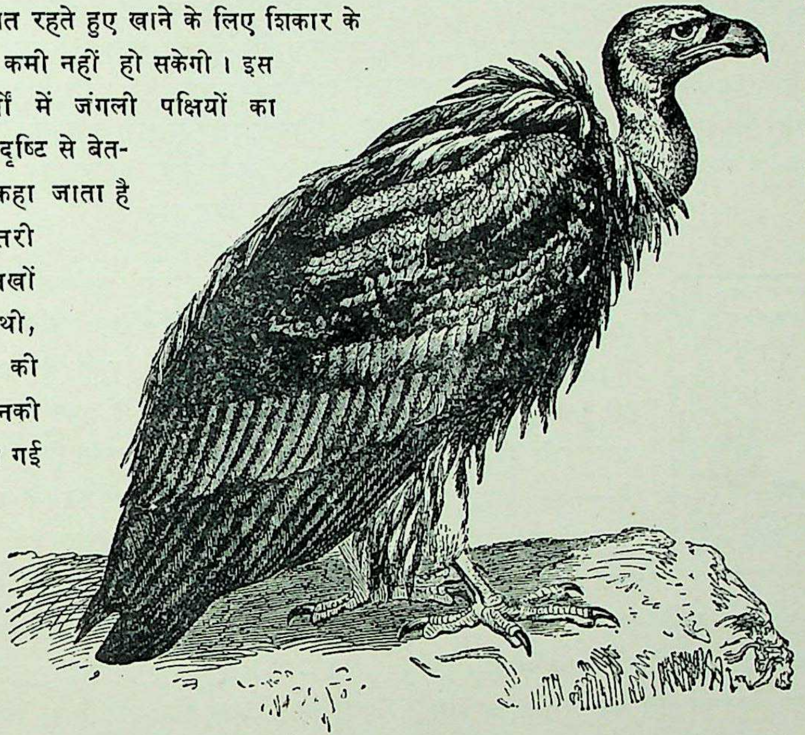

ग्रीफन गिद्ध नामक यह पक्षी दक्षिणी योरप में बहुतायत से पाया जाता है । इसकी खाने की क्षमता अद्‌भुत है । यह कई दिनों तक भूखा रह सकता है, और फिर जब उसके सामने सड़ा-गला मुर्दा पढ़ता है, तो वह बेहद ठूँस-ठूँसकर उसे खा लेता है । आकस्मिक महामारी आदि में यह पक्षी मानो मेहतर का काम करता है ।

५. वे पक्षी, जो मेहतर का काम करते हैं

पाँचवीं श्रेणी उन पक्षियों की है, जो हमारे आसपास के कूड़ा-कर्कट और गलीज पदार्थों को साफ करते हैं। इस सिलसिले में गिद्ध तथा चील की कुछ जातियाँ विशेष उपयोगी हैं । राज-गिद्ध को सभी जानते हैं । बड़े गिद्ध जानवरों के मृत शरीर को देखते ही उसे चट कर जाते हैं । मरे हुए साँप भी इनकी दृष्टि से नहीं बचने पाते । कहा जाता है कि अपनी तीव्र घ्राण-शक्ति की सहायता से ये कहीं पर भी पड़े हुए मृत-शरीर का दूर से ही पता लगा लेते हैं । बगुले की जाति के कुछ पक्षी और जंगली कौए भी मृत शरीर की सड़न से वायु को मुक्त रखते हैं । बगुले मरी हुई मछलियों को, जो पानी में उतराती रहती हैं, खा जाते हैं, और इस प्रकार समुद्र-तट, नदियों और तालाबों को गन्दगी से बचाते हैं ।

६. वे पक्षी, जो संदेशवाहक का काम करते हैं

कुछ पक्षियों से उपर्युक्त कामों से सर्वथा भिन्न एक कार्य—संदेशवाहन का काम—भी लिया जाता है । युद्धकाल में इस कार्य की उपयोगिता को बहुत महत्व मिला है । रेडियो और तार के इस युग में भी पक्षियों, विशेषतया कबूतरों, को एक स्थान से दूसरे स्थान को संदेश ले जाने की शिक्षा दी जाती है । ये 'संदेशवाहक कबूतर' के नाम से पुकारे जाते हैं । शत्रुसेना से घिरे हुए स्थानों से बाहर के स्थानों तक महत्वपूर्ण संदेश या आशा के समाचार प्रायः इन परिन्दे सेवकों द्वारा ही पहुँचाए जाते हैं, जब कि अन्य किसी साधन से खबरें नहीं आ-जा सकतीं हैं । आश्चर्य की बात है कि ऐसे कार्य को करनेवाले संदेशवाहक पक्षी लम्बे फासले पार करके बिना किसी प्रकार की भूल किए अपने विशेष दिशाज्ञान के बल पर (जिसे हम उनकी छठी इन्द्रिय कह सकते हैं और जिससे हम मानवगण वञ्चित रखे गए हैं) अपने पैरों में बँधे हुए समाचार को ठीक पते पर पहुँचा देते हैं ।

तो आपने देखा कि सारे जन्तु-जगत् में पक्षी हमारे लिए कितने उपकारी मित्र हैं । वस्तुतः यदि ये पक्षी दुनिया में न रहें, तो हमारे लिए यहाँ रह पाना दूभर हो जायगा ।

पक्षियों का संसार—(२)

सब से बड़े पक्षी, जो उड़ने में असमर्थ हैं

पिछले प्रकरण में पक्षियों की उपयोगिता तथा उनमें से कुछ की महान् सेवाओं पर प्रकाश डालते हुए जंतु-संसार के इन रंग-बिरंगे प्राणियों का सामान्य परिचय हम आपको दे चुके हैं। आइए, अब उनके कुछ विशिष्ट वर्गों की जानकारी आपको कराएँ। सबसे पहले हम पक्षी-संसार के कतिपय सबसे बड़े सदस्यों का परिचय आपको कराना चाहते हैं, जिनकी एक खूबी यह है कि वे जहाँ डीलडौल में सबसे बड़े हैं वहाँ पक्षी होते हुए भी उड़ने में वे सर्वथा असमर्थ हैं!

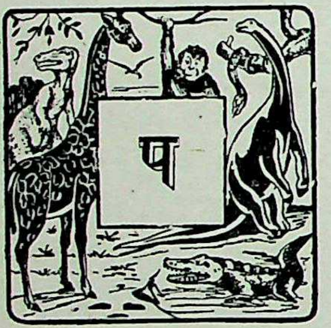

पक्षी से तात्पर्य ही यह है कि वह एक उड़नेवाला प्राणी है। किन्तु कुछ पक्षी ऐसे भी हैं, जो उड़ने में सर्वथा असमर्थ हैं। इनमें से कुछ ने——जैसे अण्टार्क्टिका के सुप्रसिद्ध पेन्गुइन पक्षी तथा आर्कटिक प्रदेशों के ऑक ने, जो अभी १०० वर्ष पहले तक वहाँ बहुतायत से पाए जाते थे—पानी के अन्दर विचरण करने की योग्यता अपने में पैदा कर ली। उधर शुतुर्मुर्ग जैसे कुछ स्थल-पक्षी ऐसे हैं, जिनके पंखों का विकास भली तरह नहीं हो पाया और फलतः जो जमीन पर तेजी से दौड़ लगाने में समर्थ बन गए।

इन दौड़ लगानेवाले पक्षियों में अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के पाँच-छः जाति के शुतुर्मुर्ग एवं ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के ऐमू, कैसोवरी और किवी आदि ही आज के दिन जीवित हैं। पर इन्हीं के वर्ग में मोआ और डोडो नामक पक्षियों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो अब पृथ्वीतल से बिल्कुल विलुप्त हो गए हैं।

भला, इन उड़ने में असमर्थ पक्षियों के विकास का क्या कारण हो सकता है? हमें स्मरण रखना चाहिए कि जानवर सदैव आहार की तलाश में ही लगे रहते हैं, और इनमें से अधिकतर को मांसाहारी जानवरों के आक्रमण का खतरा बना रहता है। इनसे बचने के लिए उन्हें अपने फुर्तीलेपन, लड़ने की शक्ति या भागने की शक्ति पर ही भरोसा रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त चूँकि आसपास का वातावरण निरन्तर बदलता रहता है, अतः वे प्राणी, जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को नहीं बना पाते हैं, देर-सबेर इस भूमण्डल से विलुप्त हो जाते हैं। पक्षियों द्वारा उड़ने की शक्ति प्राप्त करने के पीछे भी उपर्युक्त दोनों आदिम आवश्यकताएँ कारगर रही हैं। इस शक्ति ने ही पक्षियों को इस योग्य बनाया कि वे स्थलचर मांसाहारी जानवरों से अपनी रक्षा कर सकें। साथ ही इसी की बदौलत उनके लिए यह भी सम्भव हो सका कि प्रचुरता से पाए जाने वाले उड़ाकू कीट-पतिंगों का वे शिकार कर सकें।

चूँकि सभी प्राणी सब से सरल तरीके द्वारा आहार प्राप्त करने के आदी होते हैं, अतः संसार के कुछ प्रदेशों में कतिपय पक्षियों ने सहूलियत के विचार से उड़ना छोड़कर जलचर या स्थलचर प्राणियों की आदतें ग्रहण कर लीं, यद्यपि वे सब थे मूलतः उड़ने वाले पक्षियों की ही संतान। अनेक पक्षियों ने, जिन्होंने मछुओं का पेशा अपना लिया, डुबकी लगाने के साथ-साथ अपनी परंपरागत उड़ने की क्षमता को भी बताए रक्खा——जैसे गोताखोर गज और अल्बैट्रास नामक पक्षियों ने। किन्तु कुछ ने उड़ने की अपनी वह शक्ति पूर्णतया खो दी। ऑक इसी श्रेणी का एक पक्षी था (दे० पृ० १२६५ का चित्र)। यह पक्षी आइसलैण्ड, स्कैन्डैनेविया, ब्रिटेन, न्यूफाउँडलैंड और आर्कटिक समुद्र के तटवर्त्ती प्रदेशों में कभी प्रचुरता से पाया जाता था, किन्तु विगत सौ साल के अन्दर ही मनुष्य

ने पृथ्वी से इसका नामोनिशान ही मिटा दिया। मनुष्य की अज्ञानता तथा अदूरदर्शिता ने भूमण्डल के उस विशिष्ट प्रदेश को एक रोचक प्राणी से ही बञ्चित नहीं कर दिया, वरन् वहाँ के निवासियों से संकट के समय काम में आ सकनेवाली एक मूल्यवान् खाद्यसामग्री भी सदा के लिए छीन ली। इस प्राणी के अन्तिम दो जीवित सदस्य १८४४ ई० में पकड़े गए थे। उनके शव तथा अंडे कुछ संग्रहालयों में बहुमूल्य प्रदर्शन की वस्तुओं के रूप में आज भी सुरक्षित हैं।

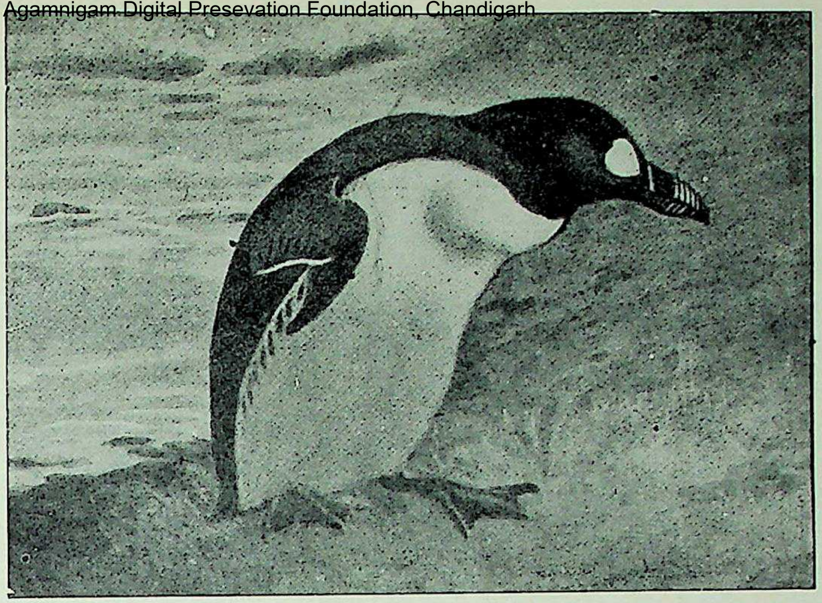

मनुष्य के अविचार और अदूरदर्शिता के शिकार का एक उदाहरण उत्तरी ध्रुवप्रदेशों का 'ऑक' नामक यह विलुप्त पक्षी है। छोटे-से डैनोंवाला यह बड़ा-सा पक्षी, जो उड़ने में असमर्थ था, केवल सौ साल पहले उत्तरी ध्रुवप्रदेश में बहुतायत से पाया जाता था। किन्तु इसी अवधि में मांस तथा परों के लोभ में मनुष्य द्वारा इसका बेतरह शिकार किया गया—यहाँ तक कि लोगों ने उसके अंडे भी चुरा लिए! फलस्वरूप पृथ्वी से इसका वंश ही मिट गया और आज के दिन अजायबघरों के लिए उसका शव हजारों रुपयों में बिकता है तथा उसके एक दर्जन अंडों का मूल्य शाही ताज की कीमत के बराबर आँका जाता है!

मानवाकृतिवाले पेन्गुइन

अब हम भूमण्डल के दूसरे छोर पर रहनेवाले एक ऐसे पक्षी का हाल आपको सुनाने जा रहे हैं, जिसने आकाश में विचरना छोड़कर स्थल और जल के साथ अपना घना सम्बन्ध जोड़ लिया है। हमारा अभिप्राय दक्षिणी ध्रुवक्षेत्र के पेन्गुइन पक्षी से है। इस प्राणी की खूबी यह है कि सूखी भूमि या पानी की सतह की अपेक्षा पानी के अन्दर रहना ही इसे अधिक सुहाता है। पेन्गुइन बढ़िया तैराक होते हैं, बल्कि यह कहना गलत न होगा कि ये पानी के अन्दर मानो उड़ते हैं! ये अपने चपटे डैनों को बढ़िया डाँड़ की तरह प्रयोग करते हैं और इन डैनों को तेजी के साथ डुलाते हुए तीर की गति से ठीक मछली की तरह पानी के अन्दर तेज भागते चले जाते हैं! अपने डैनों की मदद से ये पानी के अन्दर इतनी फुर्ती के साथ इधर-उधर मुड़ सकते हैं, जितनी तेजी से आकाश में विचरनेवाले पक्षी भी नहीं मुड़ पाते। तैरते समय इनकी टाँगें एकदम ढीली होकर शरीर के साथ ठीक एक ही सीध में सध जाती हैं तथा अधिक गहराई तक नीचे उतरने के लिए रह-रहकर वे ऊपर को झटका देती रहती हैं। इनके डैनों के छोटे-छोटे पंख सिमिटकर मछलियों के बदन पर के स्केलों जैसे बन गए हैं। उनमें पतली डाँड़ियाँ तो बिलकुल ही नहीं होतीं। इस प्रकार इनके डैने सील या ह्वेल के तैरने में सहायक डैनों की भाँति दिखाई पड़ते हैं। भूमि पर पेन्गुइन पक्षी मनुष्य की तरह एकदम सीधा टटार खड़ा हो जाता है। उसके सामनेवाले डैने मनुष्य की भुजाओं की तरह शरीर से सटे हुए बाजू में लटकते रहते हैं। जैसा कि चित्र से प्रकट है, जब इन विचित्र प्राणियों का झुण्ड (जिनमें से कई जातियाँ कद में ३-३॥ फीट तक ऊँची होती हैं) समुद्र-तट पर खड़ा होता है, तो दूर से ऐसा प्रतीत होता है, मानो आदमियों ही की भीड़ जमा हो! किंतु जब वे अपने भारी शरीर का बोझ छोटी-छोटी टाँगों के बल पर सँभालते हुए जमीन पर चलने का प्रयत्न करते हैं, तो ऐसे डगमगाने लगते हैं, जैसे अब गिरे, तब गिरे! उनका यह प्रयास नितान्त हास्यजनक प्रतीत होता है। वस्तुतः जमीन पर तेज चल पाना उनके लिए सम्भव नहीं है।

उनकी कुछ आदतें और भी अधिक दिलचस्प हैं। कहा जाता है कि ये किसी से डरना तो जानते ही नहीं! अक्सर ये यात्रियों के पालतू कुत्तों के इतने निकट तक चले आते हैं कि अनायास उनका कलेवा बन जाते हैं। इन रोचक पक्षियों का झुण्ड बर्फ-शिलाओं पर खड़ा होकर शिकार की टोह पाने

के लिए पानी में घूरता रहता है। इतने में यदि इनमें से कोई पानी के बहुत ही निकट पहुँच गया, तो उसे उसके साथी अचानक पानी में ढकेल देते हैं। यदि वह बिना किसी बाधा या खतरे के कुछ देर तक सकुशल तैरता रह गया, तब तो उसके अन्य साथी भी पानी में उतरते हैं, परन्तु यदि उसे ह्वेल या सील ने पानी में जाते ही चट कर डाला, तो फिर भीड़ के अन्य सदस्य पानी में प्रवेश करने का विचार त्याग देते हैं। ये प्राणी अन्टार्कटिक प्रदेश की नितान्त ठंडी जलवायु में भी अपने अंडे से लेते हैं, यह कोई कम आश्चर्यजनक बात नहीं है। इनके घोंसलों में पंख या इस तरह की अन्य मुलायम चीज नहीं लगी रहती, वरन् अपने अंडे को पेन्गुइन मादाएँ अपने पेट की खाल की शिकन के बीच दबाकर गरम रखती हैं और अपने पैर तथा चोंच से उन्हें फेरती रहती हैं, ताकि उनके हर भाग में शरीर की गरमी पहुँचती रहे। एम्परर पेन्गुइन किसी प्रकार के घोंसले नहीं बनाते, बल्कि बर्फ-शिलाओं पर ही वे अपने अंडे से लेते हैं! सर्दी में अपने एक मात्र अंडे को ठंड से बचाने के लिए वे उसे अपने पैरों पर लिए रहते हैं।

इस रोचक तथा विचित्र पक्षी की कई एक जातियाँ दक्षिणी गोलार्द्ध के अन्टार्कटिक प्रदेश में पाई जाती हैं। विशेषतया न्यूजीलैण्ड में इनकी विविध जातियाँ पाई जाती हैं, और कुछ एक हिन्द महासागर के इक्के-दुक्के द्वीपों तथा दक्षिणी अफ्रीका के तट पर भी मिलती हैं। अवश्य ही इनके पूर्वज कभी उड़कर इन दूरस्थ द्वीपों में पहुँचे होंगे। वहाँ पर जब किसी शक्तिशाली शत्रु की अनुपस्थिति में उनके लिए उड़ने की जरूरत शेष न रही होगी, तब कालान्तर में वे अपनी उड़ने की शक्ति को पूर्णतया खो बैठे होंगे, साथ ही समुद्र ही से प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री लभ्य होने के कारण धीरे-धीरे वे नभचर से जलचर प्राणी बन गए होंगे।

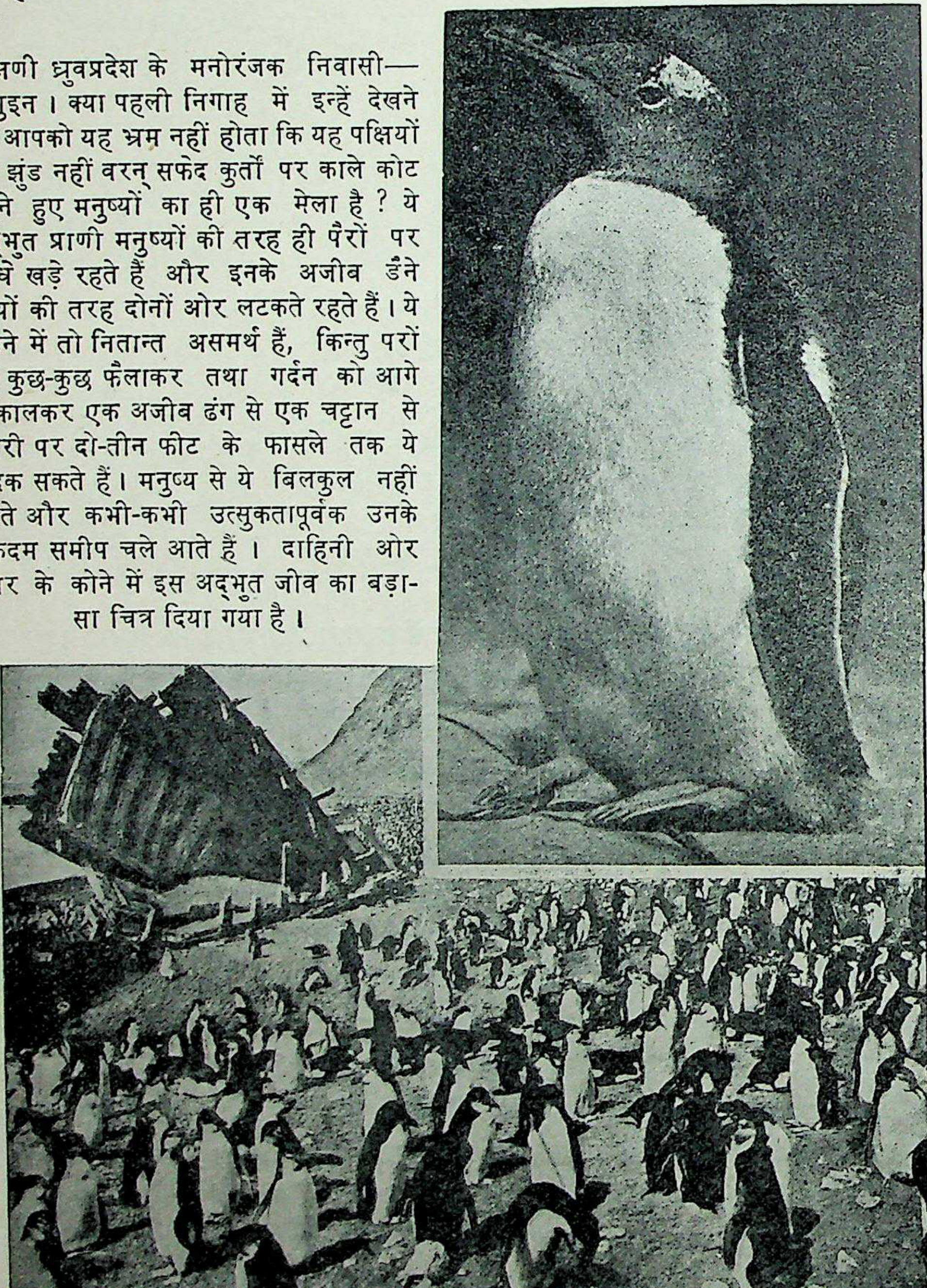

दक्षिणी ध्रुवप्रदेश के मनोरंजक निवासी—पेन्गुइन। क्या पहली निगाह में इन्हें देखने पर आपको यह भ्रम नहीं होता कि यह पक्षियों का झुंड नहीं वरन् सफेद कुर्तों पर काले कोट पहने हुए मनुष्यों का ही एक मेला है? ये अद्भुत प्राणी मनुष्यों की तरह ही पैरों पर सीधे खड़े रहते हैं और इनके अजीब डैने हाथों की तरह दोनों ओर लटकते रहते हैं। ये उड़ने में तो नितान्त असमर्थ हैं, किन्तु परों को कुछ-कुछ फैलाकर तथा गर्दन को आगे निकालकर एक अजीब ढंग से एक चट्टान से दूसरी पर दो-तीन फीट के फासले तक ये फुदक सकते हैं। मनुष्य से ये बिलकुल नहीं डरते और कभी-कभी उत्सुकतापूर्वक उनके एकदम समीप चले आते हैं। दाहिनी ओर ऊपर के कोने में इस अद्भुत जीव का बड़ा-सा चित्र दिया गया है।

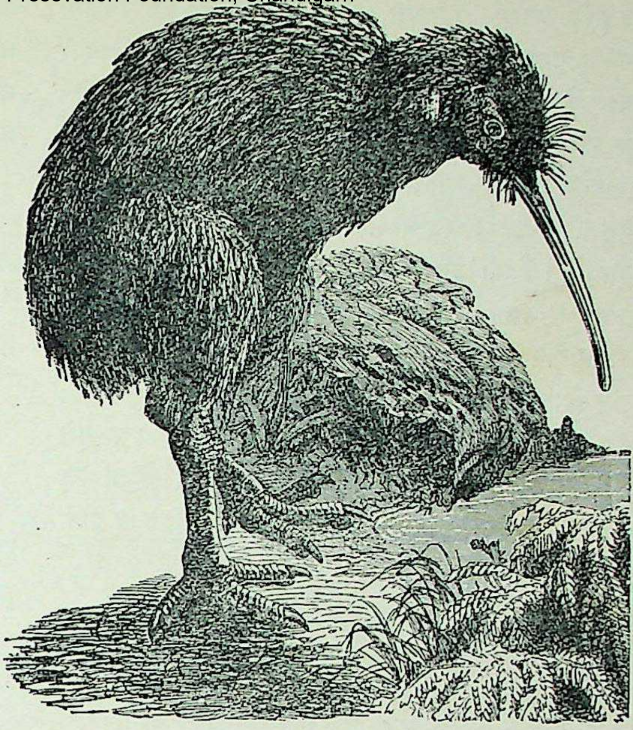

न्यूजीलैंड का यह अद्भुत प्राणी––किवी––सेही जैसा दिखाई देने पर भी वस्तुतः एक पक्षी है, यद्यपि न तो इसकी सूरत-शक्ल ही पक्षियों जैसी है, न यह उड़ ही पाता है। इसकी लम्बी चोंच पर ध्यान दीजिए, जिसके सिरे पर इसके नथुने होते हैं। ये नथुने इसे केंचुए आदि पकड़ने में खास मदद पहुँचाते हैं। इस प्राणी की आवाज सीटी जैसी होती है, इसीलिए इसका नाम 'किवी' पड़ गया है। सेही की तरह यह भी निशाचरी जीवन बिताता है।

आइए, अब दौड़नेवाले पक्षियों के वर्ग के कतिपय प्राणियों का भी परिचय आपको दें, जिसके एक सदस्य शुतुर्मुर्ग को हम भली भाँति जानते हैं। ये प्राणी विशेष तौर से दक्षिणी गोलार्द्ध में ही पाए जाते हैं, यद्यपि सच्चे शुतुर्मुर्ग विषुवत् रेखा के उत्तर में ही मिलते हैं। इन सभी पक्षियों के डैने या तो अत्यन्त छोटे होते हैं, या वे बिलकुल ही नहीं होते। इनके पंख बहुत ही मुलायम बाल जैसे होते हैं। इनके डैने की डाँड़ियाँ उड़नेवाली चिड़ियों की डाँड़ियों से एक बात में खास तौर से भिन्न होती हैं। वह भेद यह है कि इन दौड़नेवाले पक्षियों के डैने के पर एक दूसरे से गुँथे नहीं होते। इसी वर्ग का एक पक्षी था मोआ, जिसकी लगभग २० जातियाँ किसी जमाने में न्यूजीलैंड में प्रचुरता से पाई जाती थीं। तीन-चार सौ वर्ष हुए मावरी लोगों ने इसके वंश का बिलकुल उन्मूलन कर डाला। उसका जिक्र आगे किया गया है। इस वर्ग का अन्य एक विचित्र पक्षी––किवी––अभी वहाँ विद्यमान है, जिसकी कई एक जातियाँ न्यूजीलैंड में इन दिनों भी पाई जाती हैं। इन पक्षियों के पैरों में केवल चार उँगलियाँ होती हैं और डैने इतने छोटे होते हैं कि वे इनके बाल-सदृश पंख के अन्दर ही छिपे रहते हैं। चित्र में देखिए, ये प्राणी पक्षी मालूम ही नहीं होते। इनके नथुने भी अजीब जगह पर होते हैं। वे इनकी चोंच के सिरे पर स्थित होते हैं, जिससे इन्हें केंचुए आदि कीड़े (जो इनका मुख्य भोजन हैं) तलाश करने में बड़ी सहायता मिलती है। ये प्राणी हरी-भरी जगहों में रहते और रात को डोलते फिरते हैं तथा खतरे के समय तीव्र गति से दौड़ लगाकर भाग सकते हैं। इनकी आवाज सीटी के शब्द सरीखी होती है। इसी कारण इनका नाम 'किवी' पड़ा है। इनके अण्डे ५ इंच लम्बे और ३ इंच चौड़े होते हैं। किवी साधारणतः एक बड़ी मुर्गी के आकार का पक्षी होता है।

कैसोवरी और ऐमू

उड़ने में असमर्थ पक्षियों के वर्ग में ऑस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के द्वीपों में पाए जानेवाले कैसोवरी और ऐमू नामक पक्षी शुतुर्मुर्ग को छोड़कर संभवतः जमीन पर दौड़ लगानेवाले पक्षियों में सब से बड़े हैं। इनकी गर्दन लम्बी होती है और इनके पैरों में केवल तीन ही उँगलियाँ होती हैं। दुम नहीं के बराबर होती है तथा डैने भी अत्यन्त छोटे होते हैं। इनके पंख एकदम बालों जैसे मुलायम और डैने दुहरे मालूम पड़ते हैं। इनके छोटे डैने, जिनमें पंख की डाँड़ियाँ पतली तीलियों की तरह लगी होती हैं, तेजी से भागने में इन्हें काफी सहायता पहुँचाते हैं।

कैसोवरी की लगभग १० जातियाँ होती हैं। इनमें उत्तर-पूर्वीय ऑस्ट्रेलिया में पाए जानेवाले कैसोवरी आकार में सबसे बड़े अर्थात् लगभग ५ फीट ऊँचे होते हैं! अन्य जातियाँ न्यू-गिनी तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तर के कुछ द्वीपों में पाई जाती हैं। ये पक्षी अत्यन्त फुर्तीले तथा शीघ्रगामी होते हैं। अपनी मजबूत टाँगों से शत्रु को ठोकर मारकर ये अपनी रक्षा करते हैं। इनके सिर पर शिरस्त्राण जैसी एक विचित्र कलँगी-सी लगी रहती है तथा सिर और गरदन दोनों ही निर्लोम एवं चटकीले रंग के होते हैं। दौड़नेवाले पक्षियों की सौन्दर्य-प्रतियोगिता में कैसोवरी को निस्सन्देह प्रथम पुरस्कार मिलेगा,

क्योंकि उसकी आसमानी, लाल एवं हरे रंग की चिकनी सपाट गरदन और सिर की शोभा निलौंहे काले चमकदार पंखों के संयोग से एक विचित्र सौंदर्य की छटा बाँध देती है। ये प्राणी साधारणतया सघन वनों में रहते हैं।

कैसोवरी की भाँति ऑस्ट्रेलिया का सुप्रसिद्ध पक्षिराज ऐमू भी अत्यंत शीघ्रगामी और बड़ी मजबूत टाँगोंवाला प्राणी होता है। किन्तु उसके सिर पर कैसोवरी जैसी कलँगी नहीं होती, न उसका रूप-रंग ही उतना सुन्दर होता है। ऐमू की दो जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से एक ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप के पूर्वीय और दूसरी पश्चिमीय प्रदेश में मिलती है। दोनों का कद पाँच फीट से अधिक होता है। ये प्राणी खुले मैदानों में रहते हैं और बड़ी तेज दौड़ लगाते हैं। किसी शत्रु से पाला पड़ने पर ये भी कैसोवरी या शुतुर्मुर्ग की तरह टाँगों से ठोकर मारकर अपनी रक्षा करने का प्रयास करते हैं। इनके संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें नर से मादा आकार में बड़ी होती है और नर बहुगामी न होकर केवल एक ही मादा के प्रति अनुरक्त रहता है। शिकारियों के चंगुल से बचने के लिए अब यह प्राणी भीतरी जंगलों की शरण लेने लगा है।

अफ्रीका और अमेरिका के शुतुर्मुर्ग

अमेरिकन शुतुर्मुर्गों की तीन प्रमुख जातियाँ हैं। इनके पैर में केवल तीन उँगलियाँ होती हैं और ये अधिकांशतः दक्षिणी अमेरिका के घास के मैदानों में पाए जाते हैं। इनके डैने काफी बड़े होते हैं। यद्यपि ये उड़ने के मतलब के नहीं होते, फिर भी हवा में आगे बढ़ने के लिए ये पाल का काम देते हैं। ये पक्षी अफ्रीकी शुतुर्मुर्गों से आकार में बहुत छोटे होते हैं और इनके पंख भी उतने सुन्दर नहीं होते। इस जाति का प्रमुख शुतुर्मुर्ग र्‍ही है।

प्राचीन काल में दक्षिणी अमेरिका एक टापूनुमा महाद्वीप था। जब उत्तरी गोलार्द्ध के भूमिखंड पर मांसाहारी स्तनपोषियों का विकास हुआ, तो दक्षिणी भूभाग उनसे बचा रह गया। इसी कारण दक्षिणी अमेरिका में मांसाहारी स्तनपोषी जीव कम पाए जाते हैं। ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड की भाँति दक्षिणी अमेरिका में भी परिस्थितियाँ इसी ढंग की बनती गईं कि पक्षियों ने उड़ना छोड़कर स्थल-जीवन अपना लिया। प्रस्तर-विकल्पों से पता चलता है कि पूर्वकाल में इस महाद्वीप के धुर दक्षिणी पेटेगोनिया

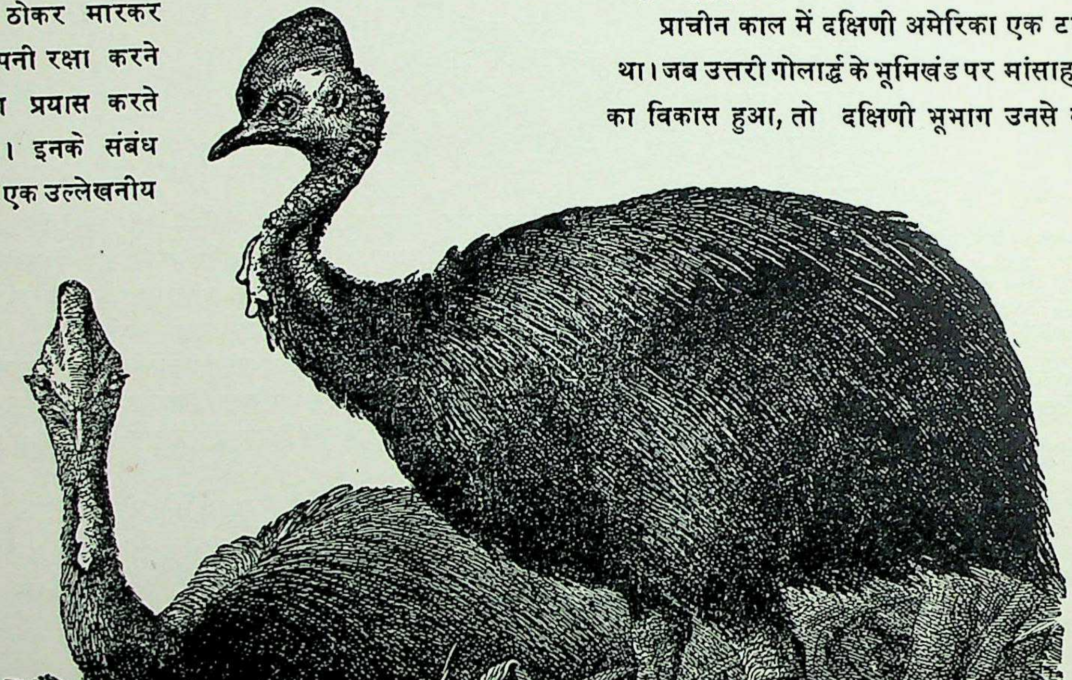

जमीन पर दौड़नेवाले पक्षियों में सब से सुन्दर 'कैसोवरी' नामक यह जीव है, जो अब ऑस्ट्रेलिया के समीप के न्यूगिनी आदि द्वीपों में पाया जाता है। यह बड़ा ही फुर्तीला तथा मजबूत पाँव का जानवर होता है। इसके सिर पर एक विचित्र कलँगी लगी रहती है और गरदन निर्लोम तथा चटकीले रंग की होती है। निश्चय ही पक्षियों की सौंदर्य-प्रतियोगिता में कैसोवरी पुरस्कार पाने योग्य है।

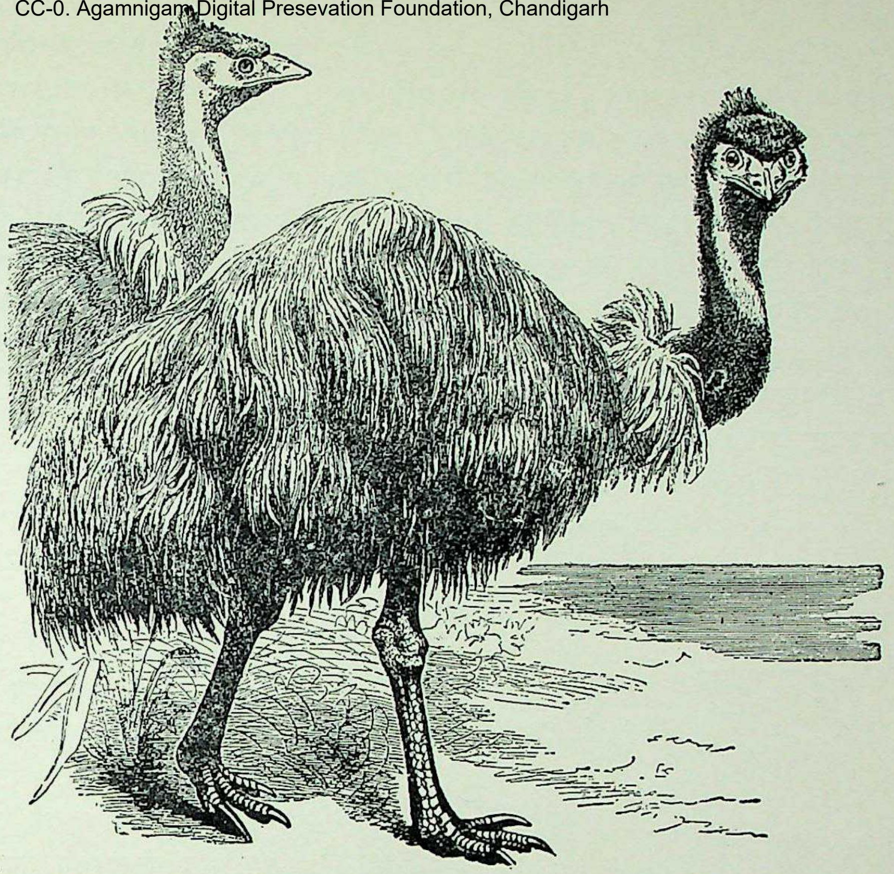

यही है ऑस्ट्रेलिया का पक्षिराज ऐमू, जो कद में लगभग ५ फीट तक ऊँचा होता है और शुतुर्मुर्ग को छोड़कर संसार का सब से बड़ा पक्षी कहा जा सकता है। शुतुर्मुर्ग की तरह यह भी खुले मैदानों में रहता, तीव्र गति से दौड़ लगाता और शत्रु से घिर जाने पर टाँगों से आगे-पीछे ठोकर मारकर अपनी रक्षा कर लेता है ।

प्रदेश में न उड़नेवाले पक्षियों की अनेक जातियाँ मौजूद थीं। इनमें से एक की खोपड़ी तो लगभग दो फीट चौड़ी मिली है !

अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग की भी तीन जातियाँ हैं-- एक दक्षिणी अफ्रीका में पाई जाती है, दूसरी पूर्वी अफ्रीका में और तीसरी (साधारण शुतुर्मुर्ग) उत्तर की ओर अरब, सीरिया और मसोपटामिया में। किसी जमाने में मध्य एशिया में भी यह पक्षी पाया जाता था। यह प्राणी कद में सभी पक्षियों से ऊँचा होता हैं—कभी-कभी इसकी ऊँचाई आठ फीट तक जा पहुँचती है ! अफ्रीका का अन्य कोई भी जानवर इसके बराबर तेज दौड़ नहीं लगा सकता । दौड़ते समय यह अपने डैनों का पाल की तरह प्रयोग करता है और एक छलाँग में २५ फीट तक का फासला पार कर लेता है ! अन्य दौड़नेवाले पक्षियों के मुकाबले में इसके पैर विशेष रूप से विकसित होते हैं । इसके पैरों में केवल दो ही उँगलियाँ होती हैं, जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ी होती है । मरुभूमि या खुले मैदान में अपनी रक्षा के निमित्त अपनी जन्मजात सामाजिक सहज वृति के अनुसार ये पक्षी छोटी-छोटी टोलियों में रहते हैं । इनकी तीव्र घ्राण-शक्ति तथा तीक्ष्ण दृष्टि भी शत्रुओं से सचेत करने में इन्हें काफी सहायता पहुँचाती हैं । दुश्मनों से घिर जाने पर इनके लिए जब अन्य कोई चारा नहीं रहता, तो ये अपनी टाँगों से दाहिने-बाएँ ठोकर लगाया करते हैं ।

शुतुर्मुर्ग-फार्म

शुतुर्मुर्ग के पर मुलायमियत के कारण बड़े कीमती होते हैं और वे धनाढ्य लोगों द्वारा तकिए, गद्दी आदि में भरने तथा सजावट के लिए काम में लाए जाते हैं । इन्हीं परों के लिए अफ्रीका के चरागाहों में शुतुर्मुर्ग काफी बड़ी संख्या में पाले भी जाते हैं—वे प्रायः बड़े-बड़े घेरों या अहातों में घेरकर रक्खे जाते हैं । कहते हैं, किसी समय शुतुर्मुर्ग के परों का यह व्यवसाय इतना बढ़-चढ़ गया था कि प्रति वर्ष लगभग तीन से पाँच करोड़ रुपये तक के मूल्य के उनके पर बिकने लगे थे ! अफ्रीका के अलावा अमेरिका में भी केलिफोर्निया, अरीजोना, फ्लोरिडा, उत्तरी कैरोलीना एवं आरकान्सास नामक राज्यों में शुतुर्मुर्ग को पालने का व्यवसाय सफलतापूर्वक किया जाने लगा है । इन शुतुर्मुर्ग-फार्मों में हजारों पक्षी एक साथ रक्खे जाते हैं । जिस समय इन पक्षियों के पर काटे जाते हैं, उनके सिर पर एक टोपी-सी पहना दी जाती है । कतरते समय पक्षियों को कोई दर्द नहीं होता। एक बार की कतरन में प्रति शुतुर्मुर्ग लगभग एक पौंड वजन के बराबर पर प्राप्त हो जाते हैं।

अद्भुत प्रणयलीला

क्या आप यह विश्वास करेंगे कि आठ फीट ऊँचे इस पक्षिराज का वजन लगभग २॥ मन तक होता है ? इसकी टाँगें देखने में किसी साधारण टट्टू की टाँगों से कम मोटी नहीं होतीं । वे इतनी सशक्त होती हैं कि उन पर अपना मनों वजनी शरीर साधे हुए यह पक्षी तीस मील प्रति घंटा की चाल से सरपट दौड़ता चला जाता है । दौड़ते समय वह अपने पंख दोनों बाजू इस तरह उठाए रखता है कि जिससे वे वायुयान के पंख की भाँति हवा में उसका तौल उठाए रखने में निस्संदेह मदद देते होंगे । उसकी तीव्र गति के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ हैं । कोई-कोई तो उसकी रफ्तार पचास मील प्रति घंटा, अर्थात् पंजाब-मेल की गति के बराबर आँकने का भी दावा करते हैं !

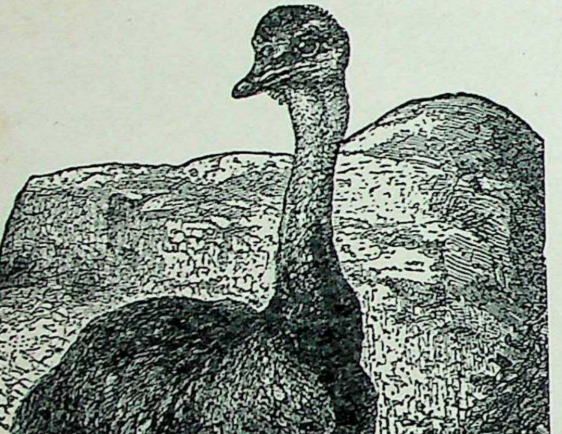

अमेरिकन शुतुर्मुर्ग—र्ही—जो अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग से आकार में छोटा होता है । इसके पंजों में तीन उँगलियाँ होती हैं, जबकि अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग में सिर्फ दो ही होती हैं ।

शुतुर्मुर्ग की छटा उस समय देखने लायक होती है, जब कि वह अपने प्रणय-व्यापार में लीन होकर मादा को प्रसन्न करने का यत्न करता है । एक जंतु-वैज्ञानिक ने इस समय के उसके आचरण का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन किया है । कहते हैं, जब मादा के प्रति नर आकर्षित होता है, तो वह अपने पैरों की उँगलियों पर टटार खड़ा होकर धीरे-धीरे बड़ी अदा के साथ उसकी ओर उचकता हुआ-सा अग्रसर होता है । उस समय उसकी गर्दन कुछ फूल-सी जाती है । वह अकड़ी हुई-सी जान पड़ती है । दुम कुछ झुक जाती है । बदन के तमाम छोटे-छोटे पर मानो रोएँ की तरह उठ-से जाते हैं । बड़े पंख एक विशाल पंखे की-सी झाँकी प्रस्तुत करते हुए सिर के पीछे उठे रहते हैं । यह अद्भुत स्वाँग प्रस्तुत करके प्रणयातुर नर तब अपनी प्रेयसी से अनुनय-विनय करता हुआ एक विचित्र क्रीड़ा प्रदर्शित करता है ! वह एकाएक अपने घुटने मोड़कर धरती पर उकड़ूँ-उकड़ूँ सा हो जाता है, और अपने विशाल पंख को पूर्ण रूप से खोलकर बारी-बारी से एक के उपरान्त दूसरा पंखे की तरह आगे-पीछे फहराने लगता है । इस समय वह अपनी गर्दन को हंस की ग्रीवा की भाँति मोड़कर शरीर के अधिक समीप ले आता है और उसमें काफी हवा भर लेता है । उक्त वायु को रह-रहकर वह जोर से मुँह की ओर से निकालता है, जिससे 'क्लिक्' 'क्लिक्' की एक तीखी आवाज निकलती है । सचमुच ही उसकी यह क्रीड़ा देखते बनती है ।

डेढ़-डेढ़ सेर के अण्डे

शुतुर्मुर्ग का प्रत्येक अंडा तौल में लगभग डेढ़ सेर का होता है ! ऐसे पंद्रह तक अंडे एक घोंसले में रक्खे हुए पाए जाते हैं । ये घोंसले धरती में गड्ढा खोदकर बनाए जाते हैं, जिसे नर खोद लेता है । आपको यह जानकर अचम्भा होगा कि अंडों को सेने के लिए दिन में तो मादाएँ उन पर बैठती हैं और रात्रि के समय बेचारे नर को उन पर बैठकर उन्हें गरमी पहुँचाना पड़ता है । ये अंडे प्रायः छः हफ्ते में पक जाते हैं । उन्हें फोड़कर शुतुर्मुर्ग के चोजे ज्योंही बाहर निकलते हैं, वे धरती पर दौड़ने लग जाते हैं ।

अफ्रीकी शुतुर्मुर्ग की भाँति र्ही नामक अमेरिकन शुतुर्मुर्गों में भी अंडों के सेने की क्रिया में नर को पर्याप्त भाग लेना पड़ता है । कहते हैं, एक बार में ५० तक अंडे सेने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का भार उस बेचारे के पल्ले पड़ा करता है ! पर अपना यह कर्त्तव्य वह पूरी तरह अदा करता है।

मोआ, डोडो और रॉक

उड़ने में असमर्थ विशालकाय पक्षियों की इस चर्चा के सिलसिले में पृथ्वी पर से विलुप्त हो जानेवाले इसी तरह के पंखदार किन्तु उड़ने से लाचार कतिपय प्राणियों के बारे में भी दो-एक अनोखी बातों का उल्लेख यहाँ कर देना अप्रासंगिक न होगा। इनमें से मोआ और डोडो का तो नामोल्लेख इस प्रकरण के आरंभ ही में किया जा चुका है, तीसरा पक्षिराज 'रॉक' के नाम से कहानी-किस्सों में मशहूर है। मोआ लगभग ९ फीट ऊँचा एक दौड़नेवाला पक्षी था। वह न्यूजीलैंड में पाया जाता था, पर मनुष्य के अत्याचारों का शिकार बनकर उसका वंश ३०० वर्षों से पृथ्वी से सदा के लिए उठ गया। उसकी ठठरियाँ, अंडों के छिलके आदि मिलते हैं। 'डोडो' मॉरीशस द्वीप पर पाया जानेवाला एक बड़ा काहिल और मूर्ख जाति का पक्षी था, जो अपनी उड़ने की शक्ति खो बैठा था। तीन सौ वर्ष पूर्व वह भी इस धरती से विलुप्त हो गया। 'रॉक' भी नौ-दस फीट ऊँचा एक विशालकाय पक्षी था, जो मेडागास्कर द्वीप में पाया जाता था। यह भी अपनी उड़ने की सामर्थ्य खो बैठा था। इसके अंडे लगभग एक फुट लम्बे होते थे ! मोआ और डोडो की तरह यह प्राणी भी आज संसार से विलुप्त हो चुका है। मेडागास्कर द्वीपवासी इसे 'हाथी-पक्षी' के नाम से याद करते हैं। उधर सुप्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो ने लिखा है कि अरब की लोककथाओं में प्रख्यात विशालकाय 'रॉक' पक्षी मेडागास्कर द्वीप में रहता था। अतः प्रायः यही अनुमान किया जाता है कि पौराणिक 'रॉक' पक्षी और मेडागास्कर का 'हाथी-पक्षी' (जिसके अंडे मिले हैं) एक ही जीव था। इस पक्षी की जो हड्डियाँ मिली हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उसकी कोई दर्जन भर जातियाँ उक्त द्वीप में पाई जाती थीं। सचमुच ही उसका 'हाथी-पक्षी' नाम सार्थक था, क्योंकि उसकी कतिपय हड्डियों का घेरा डेढ़ फुट तक का पाया गया है ! उसके अंडे की समाई तो इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसमें दो गैलन पानी आ सकता था।

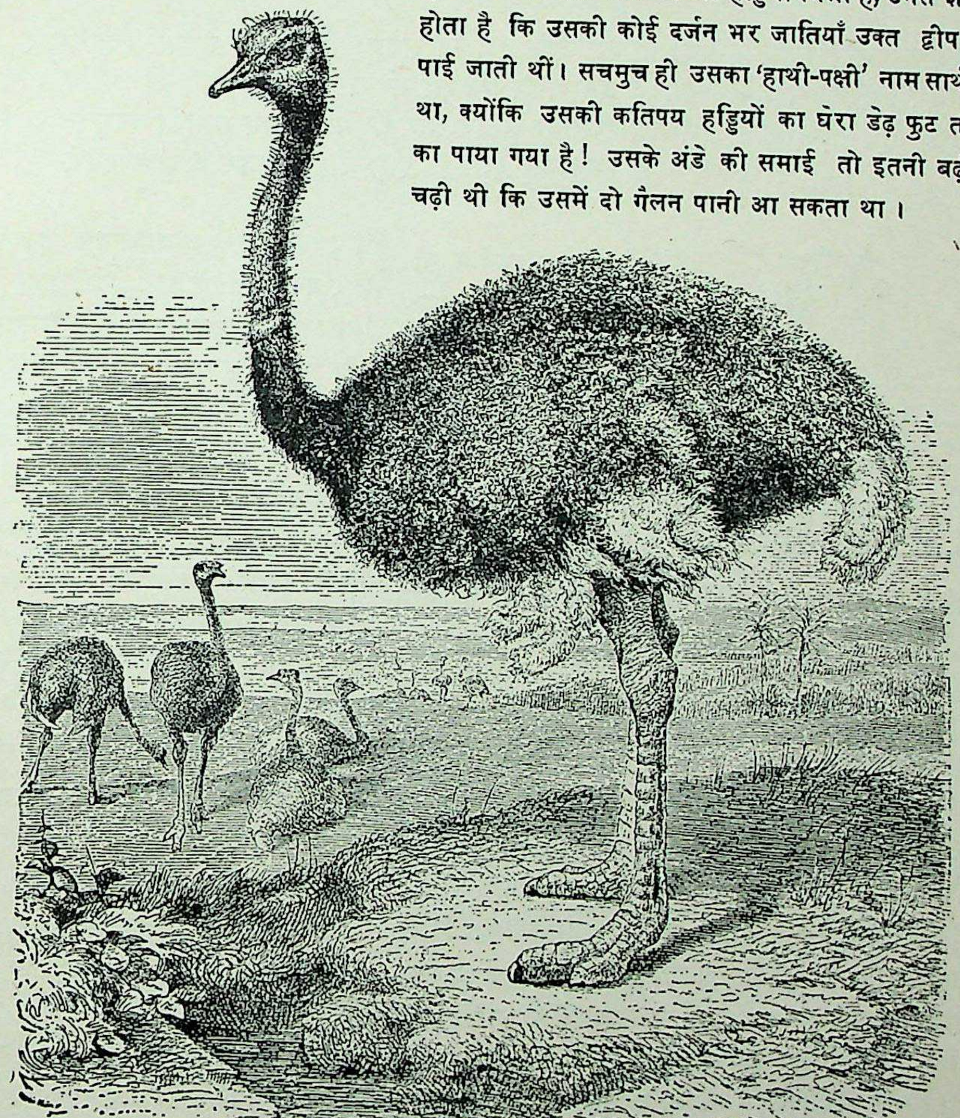

संसार का सब से बड़ा पक्षी—अफ्रीका का शुतुर्मुर्ग—जिसकी ऊँचाई कभी-कभी आठ फीट तक पहुँचती है। कहते हैं, जानवरों में इससे अधिक तीव्र गति से दौड़नेवाला प्राणी शायद ही कोई होगा ! वह पचीस-पचीस फीट तक की छलाँगें भर सकता है !

पक्षियों का संसार—(३)

सब से सुन्दर और सब से भौंड़े पखेरू

यदि जानवरों की कोई प्रदर्शनी की जाय, तो निस्संदेह सौंदर्य के अनेकों पुरस्कार पक्षी ही हड़प ले जाएँगे । परन्तु यदि भौंड़ेपन के प्रमाणपत्र देने की भी नौबत आ जाय, तो भी ये परदार प्राणी किसी से पीछे नहीं रहेंगे, कारण असाधारणतया सुन्दर होने के साथ-साथ अत्यन्त बदसूरत और बेतुकी शक्लों की भी उनमें कोई कमी नहीं है । आइए, दोनों प्रकार के कुछ नमूने देखें !

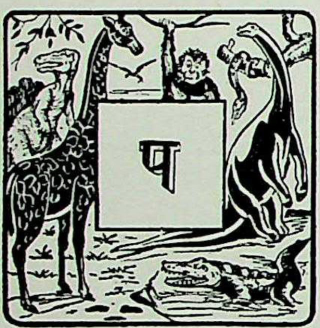

पक्षियों के उस वर्ग में, जो अपने चटकीले जगमगाते हुए रंगों के लिए प्रसिद्ध हैं, सब से उल्लेखनीय हैं दक्षिणी और मध्य अमेरिका में फैले हुए नई दुनिया के वे अत्यन्त छोटे पखेरू, जिन्हें अंग्रेजी में 'हमिङ्ग बर्ड्स' या 'भनभनानेवाले पक्षी' के नाम से पुकारते हैं। ये जीव पक्षी-जगत् के सब से छोटे प्राणी हैं।

'उड़ते हुए पुष्प' या 'सजीव रत्न'

जगमगाते हुए सजीव रत्नों जैसे इन मनोरम पखेरूओं की पाँच सौ से भी अधिक जातियाँ हैं । उनमें से कुछ, जो सब से अधिक भड़कीली होती हैं, आकार में केवल सवा दो इंच ही होती हैं ! इनके अंडों का आकार एक-चौथाई इंच से लेकर इंच के पाँचवें भाग तक और घोंसलों की भीतरी समाई का व्यास मुश्किल से तीन-चौथाई इंच के लगभग होता है ! पक्षी-जगत् के अन्य सभी सदस्यों की भाँति इनमें भी नर पक्षी विशेष सजधजवाले होते हैं—उनके पंखों के रंगों की तुलना यदि किसी से की जा सकती है, तो केवल नीलम, पन्ना, माणिक, पुखराज आदि रत्नों से ही । वस्तुतः उनके सम्बन्ध में कुछ भी लिखते समय अत्युक्ति से बच पाना असम्भव-सा है—इतने अधिक सुन्दर और चटकीले होते हैं वे ! आडोवान नामक एक लेखक ने इस पक्षी का परिचय 'इन्द्रधनुष का एक चमचमाता हुआ अंश' कहकर दिया है और बफन नामक अन्य एक लेखक ने उसकी प्रशंसा में लिखा है कि 'उसके परों के परिधान में मानो पन्ना, माणिक और पुखराज नामक रत्नों की द्युति जगमगाती है !' सचमुच ही इन चिड़ियों को 'उड़ते हुए पुष्प' या 'सजीव रत्न' की जो उपाधि दी गई है, वह सर्वथा उचित ही है । कारण, उनके रंगों की मनोरमता के साथ-साथ यहाँ से वहाँ उड़ते समय की उनकी गति भी कम आकर्षक नहीं होती । हमारे देश के 'लाल' या 'शकरखोर' नामक पक्षियों की भाँति—जिन्हें हम इनके सबसे नजदीकी रिश्तेदार कह सकते हैं—ये पक्षी भी विशेष रूप से फूलों के ग्राहक होते हैं और उन पर भौंरों की तरह मँडराया करते हैं । लाल या शकरखोर की तरह ये भी अपनी नलिकाकार चोंचों और लम्बी जीभों द्वारा फूलों का मधु चूसते और उस पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं, यद्यपि कुछ कीट-पतिङ्गों पर भी वे बसर करते हैं। वास्तव में इन प्राणियों के उड़ने का ढंग पक्षियों की अपेक्षा पतिंगों से अधिक मिलता-जुलता है । उनके पंख एक मिनट में लगभग पाँच सौ बार फड़फड़ा उठते हैं, जिससे एक विशिष्ट प्रकार की मधुर गुंजार या भनभन ध्वनि निकलती रहती है । इसीलिए इन का नाम 'भनभनानेवाली पक्षी' पड़ गया है । इन विचित्र पक्षियों का क्या रंग, क्या उड़ान, और क्या गुंजान सभी कुछ मनमुग्धकर है, और उनकी सब से आकर्षक विशेषता तो है उनकी अत्यन्त लघु आकृति ! वस्तुतः वे चिड़ियाँ नहीं, बल्कि परी-देश की स्वप्निल वस्तु के समान हैं ! उनके अण्डे छोटे-छोटे सफेद मनके जैसे होते हैं !

'स्वर्ग के पक्षी'

ऊपर जिन सुन्दर पखेरुओं का परिचय हमने दिया है, उन्हीं जैसे तड़कभड़कदार, किन्तु आकार में उनसे कहीं बड़े और अधिक आकर्षक एक और जाति के पक्षी हैं, जो इतने अधिक सुन्दर होते हैं कि जिन लोगों ने पहलेपहल उन्हें देखा, उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि ये इस मृत्युलोक के जीव हो सकते हैं ! इसीलिए उनका नाम 'स्वर्ग के पक्षी' पड़ गया। ये चिड़ियाँ पूर्वीय द्वीप-समूह, न्यूगिनी के टापू और उत्तरी ऑस्ट्रेलिया के वनों में पाई जाती हैं। इनमें सब से सुन्दर जाति का पक्षी 'स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ पक्षी' कहकर पुकारा जाता है, जिसके रंग-बिरंगे परों का मूल्य उतने ही वजन के सोने से बीस या तीस गुना तक होता है ! इस पक्षी के झिलमिलाते हुए मोरछल या चँवरनुमा पंख एक जमाने में पश्चिम में महिलाओं की मूल्यवान् टोपियों की सजावट के काम में लाए जाते रहे, अतएव उन दिनों उनकी बहुत माँग रहती थी। बाद में लोकमत उक्त प्रथा के विरुद्ध हो जाने पर उनका इस काम के लिए व्यवहार बंद हो गया और संभवतः इसी से ये प्राणी असमय ही शीघ्रतापूर्वक पृथ्वी से विलुप्त होने से बच गए। इस चिड़िया के सिर और गरदन पर मुलायम पंखों की एक चौड़ी झालर-सी होती है और गले में चटकीले पन्ने की नाई हरित वर्ण का अयाल-सा होता है। उनकी दुम के शेष पंख मिश्रित रक्तिम लाल, कत्थई और गहरे हरे रंग के होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें भी मादा से नर ही अधिक तड़कभड़क और शान-शौकतवाला होता है, और जब वह प्रेमलीन होकर अपनी भूरे रंग की शृंगार-विहीना प्रियतमा के आगे थिरकते हुए अपनी भव्य पंखमाला का प्रदर्शन करता है, उस समय का उसका सौंदर्य वर्णनातीत हो जाता है। यह पक्षी प्रायः वृक्षों की डालियों पर अपना प्रणयाभिनय-नृत्य करता है। उस समय जब वह अपने पंख थरथराता है, तो उसके बदन के आसपास के पर ऐसे झिलमिला उठते हैं, मानो सोने के तार झिलमिला रहे हों !

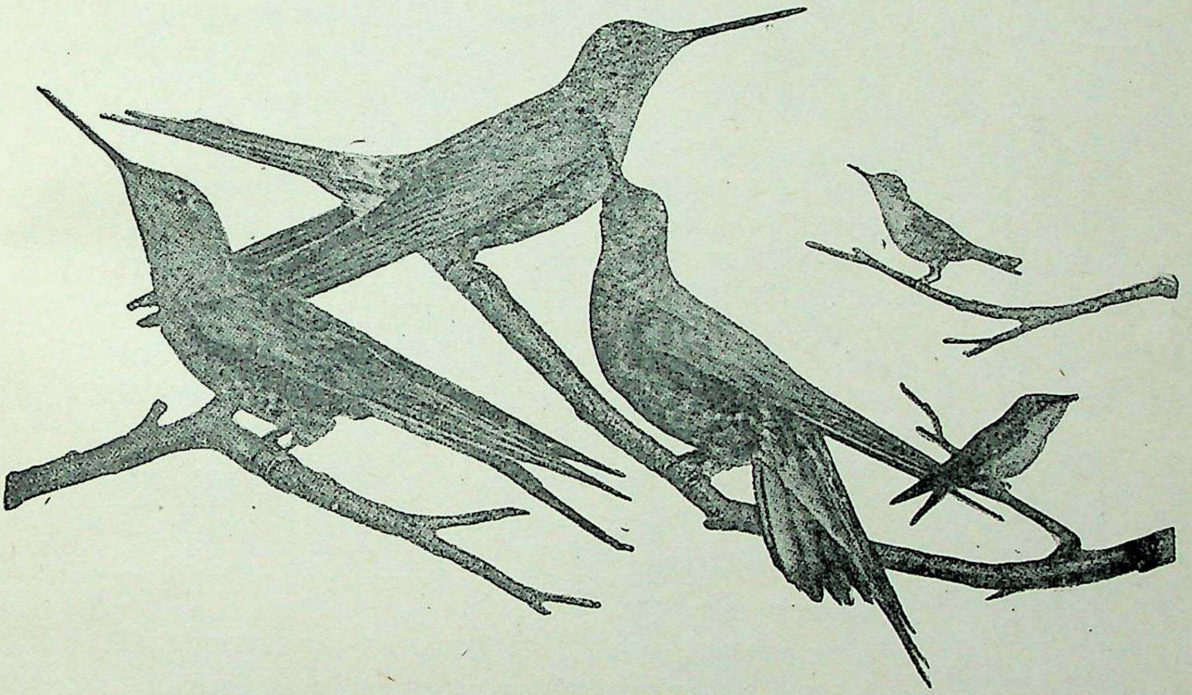

संसार के सब से सुन्दर लघु प्राणी—मध्य और दक्षिणी अमेरिका के 'भनभनानेवाले पक्षी'। इनमें से कुछ तो पतिंगों और तितलियों से भी लघु आकार के होते हैं और उड़ते समय ऐसी तेजी से अपने पर फड़फड़ाते हैं कि मुश्किल से वे देखे जा सकते हैं। अपने चटकीले रंगों के कारण ही ये प्राणी 'उड़ते हुए पुष्प' या 'पक्षी जगत् के नगीने' कहे जाते है।

पक्षी-जगत् के कतिपय सब से भौंडे सदस्य

परन्तु प्रकृति के चिड़ियाखाने में जहाँ ऊपर उल्लिखित पक्षियों जैसे अत्यंत सुन्दर और मनोहर प्राणी देखने को मिलते हैं, वहाँ साथ-ही-साथ उसके अजायबघर में ऐसे पखेरुओं की भी कमी नहीं है, जो कुरूपता और भौंडेपन में भी सब को मात कर सकते हैं। सुन्दर पक्षियों की तरह इन भौंडी चिड़ियों

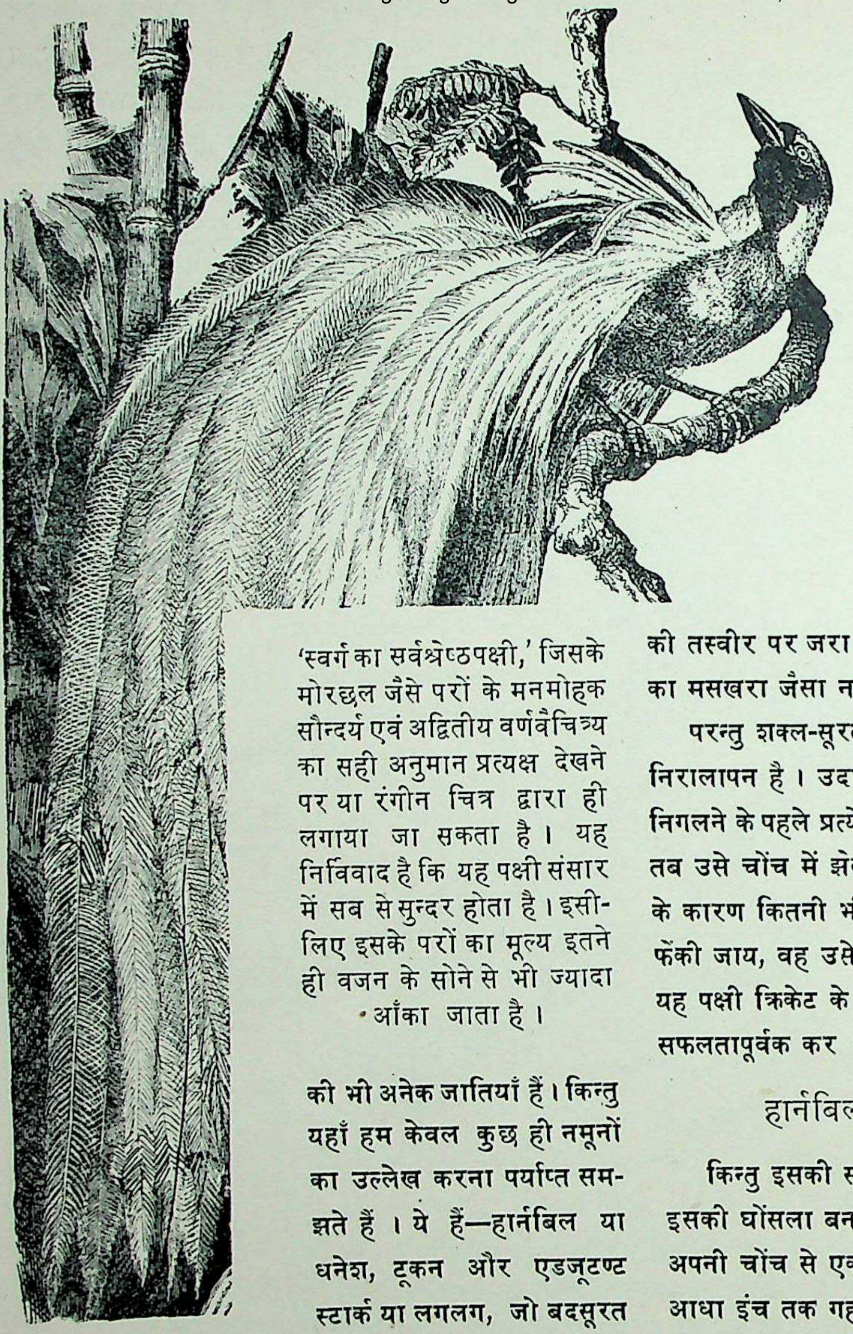

'स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठपक्षी,' जिसके मोरछल जैसे परों के मनमोहक सौन्दर्य एवं अद्वितीय वर्णवैचित्र्य का सही अनुमान प्रत्यक्ष देखने पर या रंगीन चित्र द्वारा ही लगाया जा सकता है। यह निर्विवाद है कि यह पक्षी संसार में सब से सुन्दर होता है। इसीलिए इसके परों का मूल्य इतने ही वजन के सोने से भी ज्यादा आँका जाता है।

की भी अनेक जातियाँ हैं। किन्तु यहाँ हम केवल कुछ ही नमूनों का उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। ये हैं—हार्नबिल या धनेश, टूकन और एडजूटण्ट स्टार्क या लगलग, जो बदसूरत प्राणियों की किसी भी प्रदर्शनी में निश्चित रूप से ऊँचा प्रमाणपत्र पा सकते हैं।

हार्नबिल या धनेश

यह एक बहुत बड़ा पक्षी है, जो लंबाई में ४॥ फीट के लगभग होता है। किन्तु इसकी इस लंबाई में असली बदन का हिस्सा बहुत ही कम अर्थात् केवल १४ इंच होता है। वस्तुतः उसका धड़ मानो उसकी बहुत लंबी वृहदाकार चोंच तथा ढीली-ढाली भारी दुम को एक-दूसरे से संलग्न करने में एक कड़ी का-सा काम देता है। उसकी यह चोंच लगभग एक फुट लंबी होती है और ऊपर की ओर उभरे हुए अपने एक श्रृंगवत् भाग की वजह से विशेष रूप से दर्शक का ध्यान खींचती है। इस उभरे हुए भाग के कारण यह पक्षी ऐसा दिखाई देता है, मानो वह टोप पहने हुए हो, जिसे मजाक के लिए उसने अपने सिर पर रखने के बजाय भारी चोंच पर ही रख लिया हो! उसकी लाल-लाल आँखें, जिनमें ऊपरी पलक की कोर पर बरौनियाँ भी होती हैं, उसकी अजीब शक्ल को और भी अधिक विचित्र बनाने में विशेष योग देती हैं। इस पक्षी की तस्वीर पर जरा गौर कीजिए! क्या यह आपको जंगल का मसखरा जैसा नहीं प्रतीत होता?

परन्तु शक्ल-सूरत ही में नहीं, इसकी करतूतों में भी निरालापन है। उदाहरण के लिए, जब वह खाता है, तो निगलने के पहले प्रत्येक कोर को हवा में ऊँचे उछालता है और तब उसे चोंच में झेलकर गटक जाता है। अपने इस अभ्यास के कारण कितनी भी दूर से कोई चीज उसके पास क्यों न फेंकी जाय, वह उसे पकड़ने में कभी भी नहीं चूकता। वस्तुतः यह पक्षी क्रिकेट के खेल में गेंद झेलनेवाले का काम बड़ी सफलतापूर्वक कर सकता है!

हार्नबिल की अद्भुत निर्माण-कला

किन्तु इसकी सब से अधिक उल्लेखनीय विचित्रता तो है इसकी घोंसला बनाने की अद्भुत निर्माण-क्रिया। यह पक्षी अपनी चोंच से एक ही चोट में कड़ी से कड़ी लकड़ी में आधा इंच तक गहरा छेद कर सकता है! इस पक्षी की मादा चिड़िया जब अंडा देने को होती है, तो किसी वृक्ष के तने या डाल में एक सुरक्षित खोखला स्थान तलाश किया जाता है और चोंच से कुरेदकर ये पक्षी उसे इतना बड़ा कर लेते हैं कि मादा उसमें आराम से बैठ सके। जब वह इस घोंसले में अंडे देने के लिए प्रवेश करती है, तो नर अपनी चोंच में मिट्टी भर-भरकर लाता है और उसे लसलसी बनाकर राज की तरह चुनचुनकर उससे खोखले का द्वार मजबूती से बंद कर देता है--केवल मादा पक्षी की चोंच बाहर निकलने-भर की एक दरार वह उसमें छोड़ देता है। इसी में से चोंच निकालकर बंदिनी मादा अपने मातृत्व-

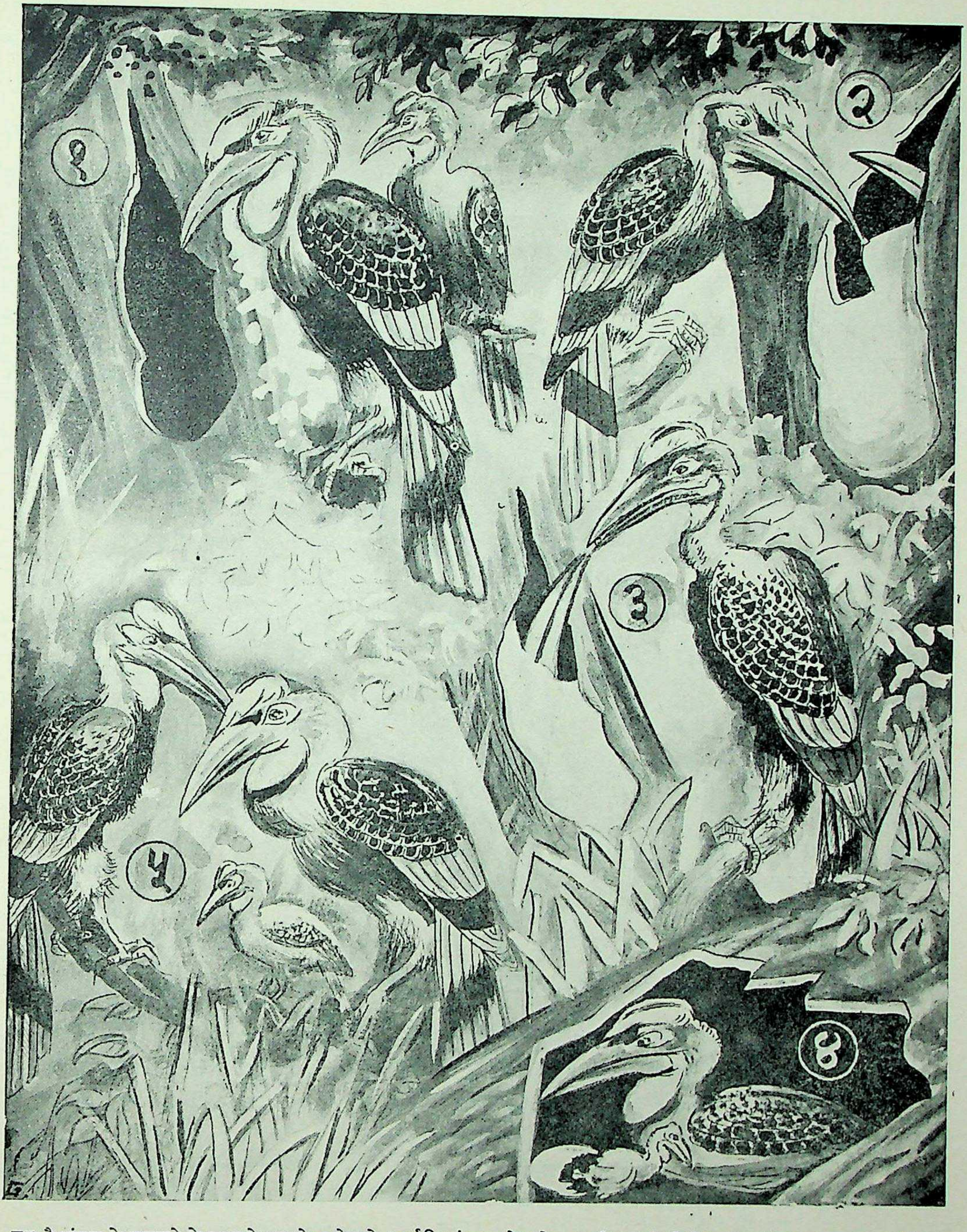

यह है जंगल के मसखरे के नाम से पुकारे जानेवाले 'हार्नबिल' या धनेश के गृह-जीवन की विचित्र कहानी । जब मादा हार्नबिल अंडा देने को होती है, तो नर किसी वृक्ष के तने को अपनी चोंच से कुरेदकर (नं० १) उसके खोखले में मादा को बिठाकर मिट्टी से द्वार बन्द कर देता है (नं० २) । सिर्फ एक दरार वह छोड़ देता है, जिसके रास्ते मातृत्व की पूरी अवधि तक वह मादा को भोजन पहुँचाता रहता है (नं० ३) । जब बच्चा अंडे से पैदा हो जाता है (नं० ४), तब कहीं पुनः मादा घोंसले से मुक्त हो पाती है (नं० ५) । माता-पिता के पास बैठे शिशु हार्नबिल पर गौर कीजिए !

काल की पूरी अवधि भर नर से भोजन पाती रहती है । जब अंडे से बच्चा पैदा हो जाता है और बाहर उड़ने लायक हो जाता है, तब कहीं खोखले के द्वार का मिट्टी का प्लास्टर कुरेदकर हटाया जाता है और मादा धनेश बच्चे सहित पुनः बाहर निकलने पाती है ।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस चिड़िया की चोंच पर जो उभरी हुई टोपी-सी पाई जाती है, वह पैदा होने पर नहीं रहती, बल्कि वयस्क होने पर ही उभर आती है । यह क्यों ? संभवतः इसका एकमात्र प्रयोजन यही दिखाई देता है कि घोंसला बनाते समय चोंच द्वारा वृक्षों के तने की लकड़ी कुरेदते समय उसके मस्तिष्क को जो ठेस पहुँच सकती है, उससे बचाने के लिए यह एक प्रकार के लाग का काम देती है, अर्थात् चोंच की चोट से जो धक्का लगता है, उसे यह टोपी जज्ब कर लेती है । इस प्रकार इस पक्षी का मस्तिष्क सुरक्षित बना रहता है ।

टूकन

अजीब चोंचवाले भौंडे पक्षियों में एक और उल्लेखनीय प्राणी अमेरिका के उष्ण वन्य प्रदेशों का निवासी 'टूकन' है, जिसकी नारंगी रंग की बृहत् चोंच आजू-बाजू से चपटी होती है और आकार में झींगे के आँकड़े जैसी मुड़ी होती है । यह चोंच बेहद बड़ी होने पर भी इतनी भारी नहीं होती कि उससे पक्षी की उड़ान में बाधा पड़े । बल्कि उससे उसे कई तरह की सहायता ही मिलती है । उदाहरण के लिए, यह भारी-भरकम पक्षी अपनी इस बड़ी चोंच की नोक से किसी एक डाली पर बैठे-बैठे ही चारों ओर की छोटी-छोटी टहनियों के फलों को बड़े मजे से बटोर लेता है—उसे इस काम के लिए अन्य चिड़ियों की भाँति यहाँ से वहाँ फुदकना नहीं पड़ता ।

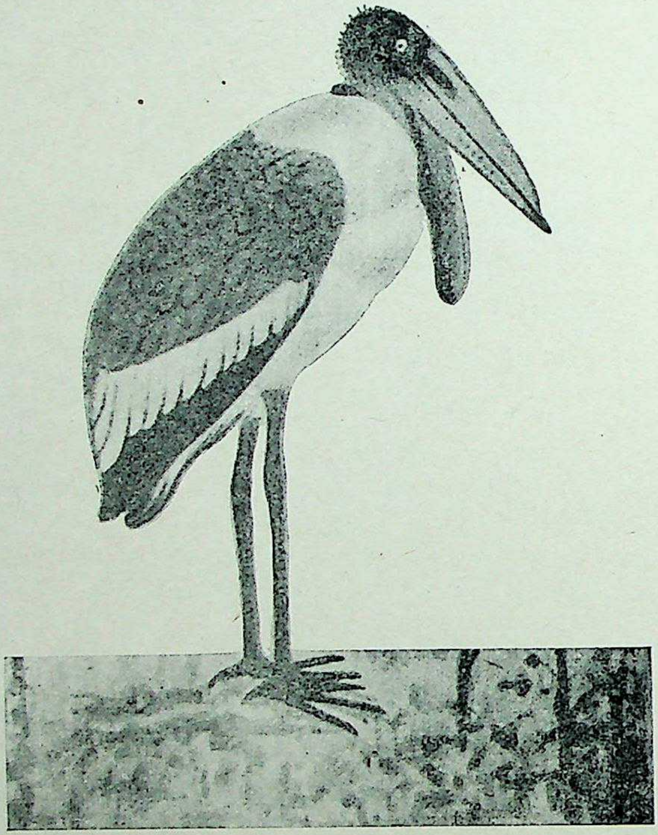

पक्षी-जगत् का सब से भौंडा प्राणी—'एडजूटण्ट स्टार्क' या 'लगलग' (परिचय इसी पृष्ठ पर देखिए) ।

एडजूटण्ट स्टार्क या लगलग

परंतु हार्नबिल या टूकन से भी ज्यादा भौंडी शक्ल का एक पक्षी धरती पर पाया जाता है, जिसे अंग्रेजी में 'एडजूटण्ट स्टार्क' का नाम दिया गया है और जो हमारे यहाँ की बोली में 'लगलग' कहलाता है । इस पक्षी की डरावनी लंबी चोंच बहुत ही गंदे पिलौंहे रंग की होती है और इसी तरह उसकी लंबी टाँगें भी मटमैले भूरे रंग की होती हैं । इस पक्षी की प्रायः यह आदत होती है कि खड़ा रहते समय वह मसखरे की तरह अपने सिर को अपने कंधों में दबा-सा लेता है, जिससे पीठ की ओर से देखने पर वह ऐसा जान पड़ता है, मानो पाश्चात्य ढंग का कोट पहने कोई कुबड़ा बूढ़ा सिकुड़कर खड़ा हो ! इससे भी ज्यादा हास्यप्रद तो वह तब प्रतीत होता है, जबकि खड़े-खड़े ऊब जाने पर वह अपने घुटने मोड़ लेता है । उस समय उसकी टाँगों के निचले भाग आगे की ओर निकलकर ऐसे दिखाई देने लगते हैं, मानो गलती से वे उलटे लगा दिए गए हों ! बगल का चित्र देखिए ! निस्संदेह, डगलस डेवार नामक विद्वान् के शब्दों में 'यदि हार्नबिल या धनेश जंगल का मसखरा है, तो एडजूटण्ट या लगलग खुले मैदानों का विदूषक है !' उसके चलने का ढंग देखकर तो कोई भी हँसे बिना नहीं रह सकता ।

एक अद्भुत पक्षी—होत्जिन

आज के दिन संसार में जितने भी पखेरू मिलते हैं, उनमें दक्षिणी अमेरिका का होत्जिन पक्षी अपने ढंग का एक ही प्राणी है । यह पक्षी अपना घोंसला प्रायः कमल से आच्छादित दलदल के किनारे अथवा नदी-तट के वृक्षों पर पानी से

दस-पन्द्रह फीट ऊँचाई पर बनाता है। इसका घोंसला सूखी टहनियों को बटोरकर बनाया गया एक निरा चबूतरा-सा होता है, जिसे यह पक्षी ब्रिटिश गायना के पिम्प्लर नामक कँटीले वृक्षों की दो डालियों के जोड़ पर रचता है। इन वृक्षों की कोमल हरी पत्तियाँ ही इन पक्षियों का प्रमुख आहार हैं। ये पखेरू बहुत अधिक निडर और पालतू जैसे होते हैं। जब तक कि उनके घोंसलेवाली वह डाली एकबारगी ही हिलाडुला नहीं दी जाती, तब तक छेड़-छाड़ करने पर भी वे अपना घोंसला कदापि नहीं छोड़ते।

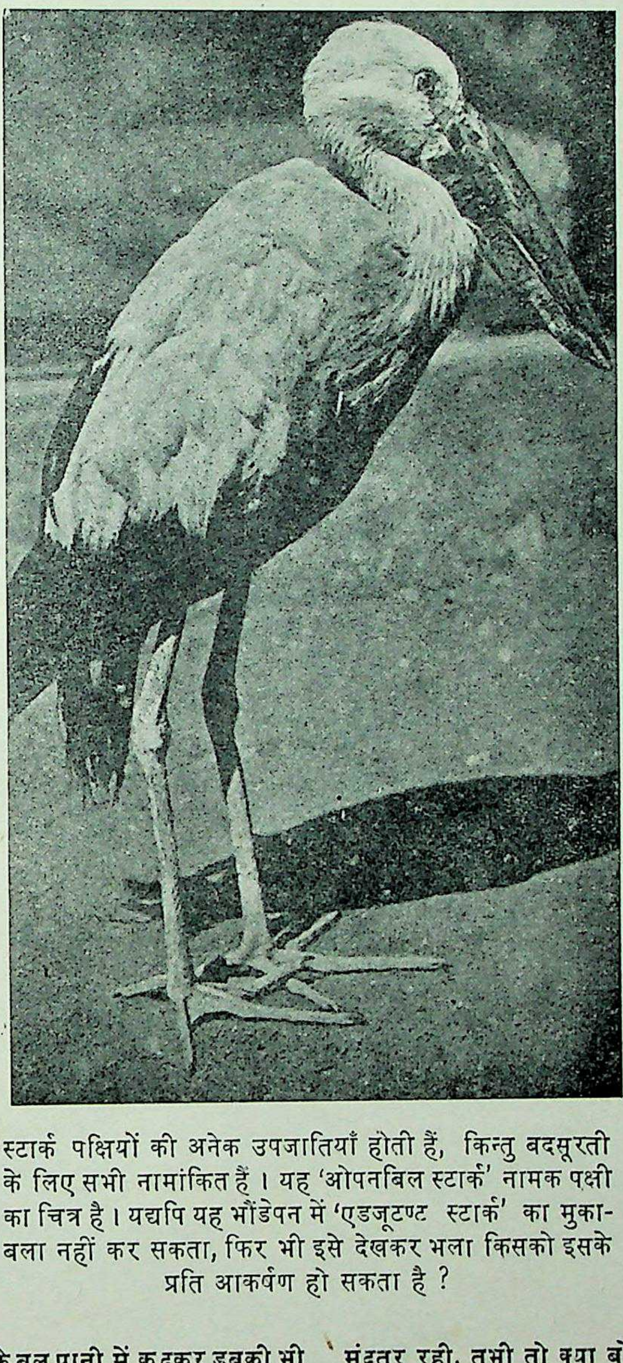

स्टार्क पक्षियों की अनेक उपजातियाँ होती हैं, किन्तु बदसूरती के लिए सभी नामांकित हैं। यह 'ओपनबिल स्टार्क' नामक पक्षी का चित्र है। यद्यपि यह भौंडेपन में 'एडजूटण्ट स्टार्क' का मुकाबला नहीं कर सकता, फिर भी इसे देखकर भला किसको इसके प्रति आकर्षण हो सकता है ?

होत्जिन आकार में फाख्ते से कुछ छोटा होता है और उसके सिर पर एक हिलती हुई कलँगी होती है। इस पक्षी की उड़ने की सामर्थ्य परिमित होती है और उसके बदन की निचली बाजू यानी पेट की ओर की चमड़ी का एक अंश कड़ा होता है, जिसके सहारे टिककर वह प्रायः विश्राम करता है। इस अद्भुत चिड़िया का बच्चा अपने डैनों के दो-दो पंजों की सहायता से छिपकली की भाँति चारों पैरों पर रेंगते हुए वृक्ष आदि पर चढ़ जाता है! इसके अतिरिक्त वह उतनी ही कुशलतापूर्वक ऊपर से सिर के बल पानी में कूदकर डुबकी भी मार सकता है और सील नामक जलजंतु की तरह बड़े मजे में तैर भी सकता है! कुछ ही मिनटों में इस छोटी-सी चिड़िया को अपने जीवन में पहली बार एक साथ ही वृक्ष पर चढ़ते, वहाँ से पानी में कूदकर डुबकी लगाते और मजे के साथ तैरते हुए देखकर बीब नामक एक प्रकृति-वैज्ञानिक आश्चर्य में पड़ गया था—निस्संदेह यह किसी भी दर्शक के लिए बिल्कुल अनहोनी-सी और एक चकरा देनेवाली बात थी! इस पक्षी की बोली बड़ी ही विचित्र होती है—वह मेढक की आवाज जैसी फटी और भर्राई हुई होती है, विशेषकर मादा पक्षी की आवाज तो नर से भी अधिक गंभीर और गुड़गुड़ाने-जैसी होती है। उरंगमों जैसे अपने विविध लक्षणों के कारण यह अजीब पखेरू आज के दिन वैज्ञानिकों के लिए जंगलों या दलदलों की अन्य किसी भी चिड़िया से कहीं अधिक दिलचस्प और विस्मयोत्पादक है——उसे हम प्रकृति की एक जीती-जागती पहेली की उपमा दे सकते हैं।

वस्तुतः यह अनोखा प्राणी उरंगमों और पक्षियों के बीच की शृंखला की एक कड़ी-जैसा है। अपने कई गुणों में वह पक्षियों से कहीं अधिक उरंगमों का निकट सम्बन्धी प्रतीत होता है। मालूम होता है कि जहाँ तक इस पक्षी का सम्बन्ध है, विकासचक्र की गति अन्य प्राणियों की अपेक्षा मंदतर रही, तभी तो क्या बोली, क्या चाल-ढाल और क्या आदतों में यह हमें पक्षी-जीवन के आरंभिक दिनों के उन विगत युगों की याद दिलाता है, जब कि उरंगमावस्था से ऊपर उठकर अनेक जीवधारी पंखदार प्राणी बन गए थे!

पक्षी-संसार का एक अनूठा सदस्य––'पेलिकन'

भौंडी शक्ल-सूरत के लम्बी चोंचवाले विचित्र पखेरुओं की इस चर्चा के क्रम में पक्षी-जगत् के एक और अनोखे सदस्य को भी याद किए बिना हम नहीं रह सकते, जिसे 'पेलिकन' के नाम से पुकारते हैं। इस पक्षी की एक अनूठी विशेषता यह है कि उसकी बेहद लंबी चोंच के निचले भाग में मछुओं की थैली की तरह का एक अंग रहता है, जिसकी समाई काफी होती है। यह पक्षी इस थैली के अन्दर मछलियों को मार-मारकर जमा करता रहता है और जब वह शिकार करके वापस घर लौटता है, तो उसके असहाय शिशु उसकी चोंच में अपनी चोंच डालकर उसी थैली में जमा किए हुए खाद्य-द्रव्य से अपनी उदर-पूर्ति कर लिया करते हैं। पेलिकन एक बहुत बड़े डील-डौल का पक्षी होता है। वह पाँच फीट या इससे भी अधिक लंबा होता है। उसके पंख फैलाए जाने पर नौ फीट तक की जगह घेर लेते हैं। अपनी विशाल देह के बावजूद ये पक्षी बड़े शक्तिशाली उड़ाकू होते हैं और कभी-कभी शिकार की टोह में अपने निवासस्थान से पचास मील तक की दूरी का चक्कर वे काट आते हैं। ये नदियों या अन्य जलाशयों के तट पर घासपात तथा सूखी टहनियाँ बिछाकर अपने घोंसले बनाते हैं। इनके ऐसे अगणित घोंसलों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ-सी एक ही स्थान में बसी हुई प्रायः मिलती हैं।

पेलिकन की अनेक उपजातियाँ मिलती हैं। उनमें एक उत्तर अमेरिकन उपजाति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसकी चोंच के ऊपर समागम-काल में एक शृंगवत् कलँगी-सी उग आती है। यह कलँगी समागम की ऋतु के समाप्त होते ही झड़कर गिर जाती है। भारतवर्ष में भी पेलिकन की कतिपय जातियाँ मिलती हैं। हमारे यहाँ यह पक्षी 'हवांसिल', 'पीलो', 'जलसिंघ', आदि नामों से पुकारा जाता है।

बक और बुज्जा परिवार के अनोखे सदस्य

विचित्र आकृति के पक्षियों की प्रदर्शिनी में बक (बगुला) एवं उसी के समकक्ष के बुज्जा परिवार के अनेक प्राणी भी अपनी अनूठी वेशभूषा और भाँति-भाँति की लंबी चोंचों की बदौलत दर्शकों का ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहते। इनमें साधारण बगुले के अलावा 'मलंग बगुला', 'अंजन बगुला', 'कड़ाकुल या काला बुज्जा', 'हरजोता या सफेद बुज्जा' और 'दाबिल' आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब स्टार्क जाति के कुछ पक्षियों की तरह भौंडे तो नहीं हैं––अपने श्वेत, सलेटी, गुलाबी, कृष्णकाय एवं चितकबरे वर्ण के कारण ये सब पर्याप्त आकर्षक ही हैं––फिर भी अपनी विचित्र चोंच तथा लंबे पैरों की वजह से ये कुछ-कुछ बेडौल-से अवश्य जान पड़ते हैं। इनमें दाबिल की चोंच तो बिलकुल चम्मचनुमा होती है। इसीलिए उसका एक नाम 'चम्मचनुमा बुज्जा' भी है।

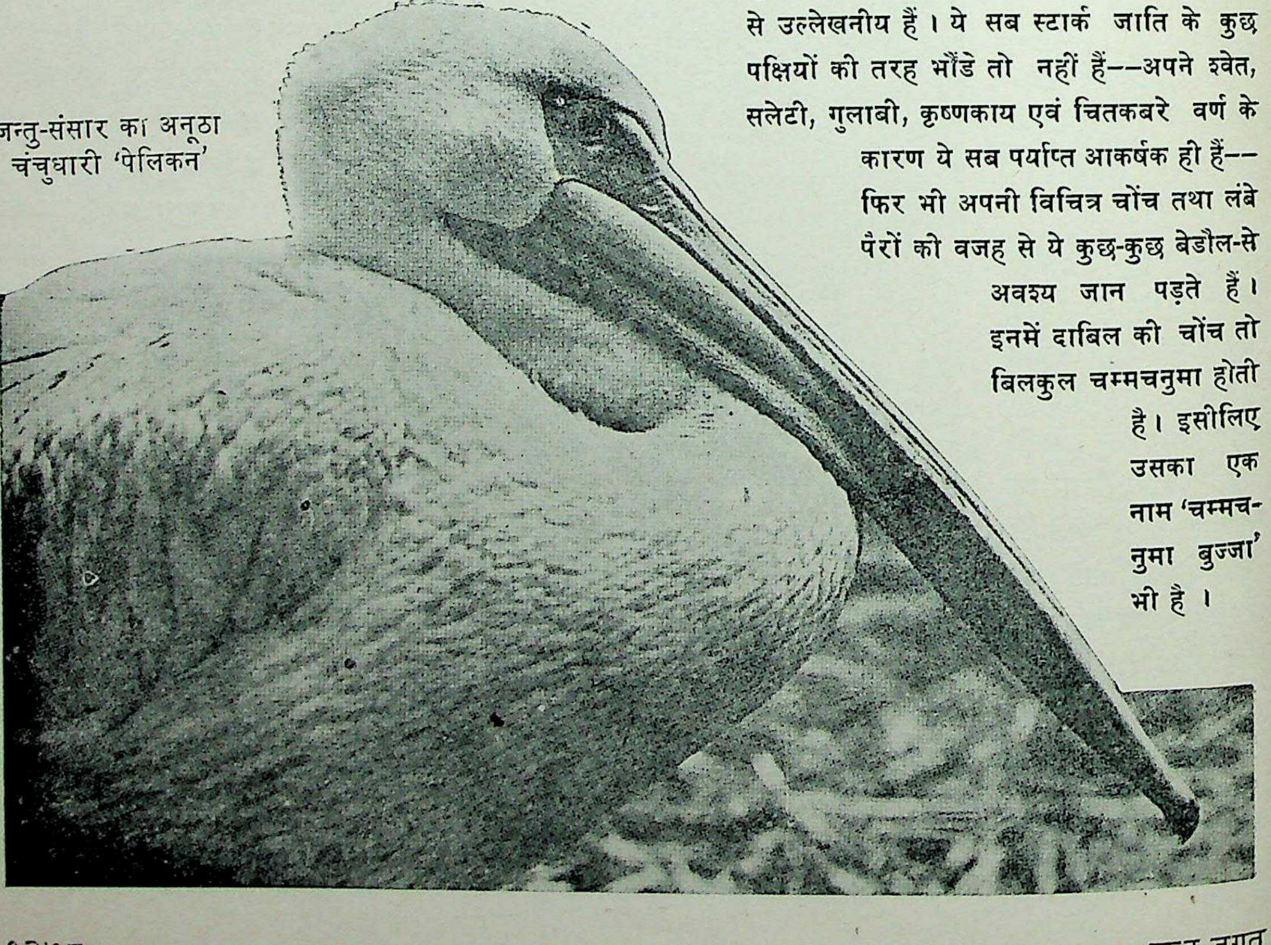

जन्तु-संसार का अनूठा
चंचुधारी 'पेलिकन'

पक्षियों का संसार—(४)

हमारे देश के पक्षी

इस लेखमाला के विगत तीन लेखों में अब तक हमारे विवरण में विशेषतर विदेशी पखेरुओं का ही जिक्र आया है, अपनी मातृभूमि के अनेकों पक्षियों से परिचित होना अभी हमारे लिये बाकी है। परन्तु भारतवर्ष के पक्षियों की जातियाँ इतनी अधिक हैं कि उनकी गिनती हजारों से लगाई जा सकती है। अतएव स्थानाभाव के कारण हम यहाँ उनमें से कुछ एक चुने हुए नमूनों का ही उल्लेख करने जा रहे हैं।

भारतवर्ष के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इस देश में विशेष रूप से ऐसे पक्षियों का बाहुल्य है, जो अपनी किसी खास विशेषता के लिए अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिए, यही उस अनोखे पंछी कौए की मुख्य आवास भूमि और आखेट की जगह है, जो सतर्कता, हाजिरदिमागी, निर्भीकता, चालाकी और धूर्तता में सारे पक्षी-जगत में अपना सानी नहीं रखता। हम उसे पखेरुओं के संसार के शकुनि या मैकियावेली की उपाधि दे सकते हैं। इसी के एक भाई-बन्धु भुजंगा नामक पक्षी का भी परिचय लंबे-चौड़े विशेषणों द्वारा ही दिया जा सकता है–उसे हम निस्संकोच पक्षियों की दुनिया का 'काला नवाब' कह सकते हैं। यह पक्षी साहस की तो मानो साकार मूर्ति होता है—अभी तक किसी भी ऐसे परिन्दे का पता नहीं लगा है, जिससे यह महाशय भय खाते हों! हमारे देश के कुछ भागों में इसे प्रायः 'कोतवाल' के नाम से भी पुकारा जाता है–सो इस लिए कि एक मध्यकालीन सूरमा की भाँति इस प्रकार इठलाते हुए यह यहाँ-वहाँ घूमता रहता है, मानो किसी पर अपनी बहादुरी के हाथ दिखाने का मौका ढूँढ़ रहा हो! इसी तरह बाह्य सौंदर्य और रूप-रंग के लिहाज से जब हम नजर दौड़ाते हैं, तो रंग-बिरंगे परों वाले मोर, नीलकंठ, सुनहली पीलक, किलकिला, शकरखोर, हुदहुद, पतेना तथा उन्हीं जैसी न जाने कितनी चिड़ियों की तस्वीरें हमारी आँखों के आगे नाच-सी जाती हैं। इनमें से कुछ पक्षी इतने अधिक भड़कीले होते हैं कि हमारा ध्यान बरबस उनकी ओर खिंच जाता है, और दूसरे ऐसे झिलमिल रंगवाले होते हैं कि उनके सौंदर्य का ज्ञान हमें तभी होता है, जब हम उन्हें हाथों में लेकर उनका सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं।

यह तो हुआ भारतीय पक्षी-जगत के चित्र का एक पहलू। उधर उसके दूसरे छोर पर हम देखते हैं पखेरुओं में घिनौनेपन की पराकाष्ठा की उस साकार मूर्ति 'गिद्ध' को जो संसार का सब से कुरूप पक्षी कहा जा सकता है तथा जिसे प्रकृति की दुनिया में मेहतर का काम सिपुर्द है। उसकी आकृति कितनी भद्दी और लड़खड़ाकर चलने का उसका ढंग कैसा घृणास्पद-सा होता है! फिर भी उड़ान का जादू देखिए कि जब अपने बड़े-बड़े डैनों को फैलाकर यही भद्दा पक्षी ऊँचे आकाश में मँडराता है, तो दूर से वह भी सुंदर ही लगता है! इन हद दर्जे के कुरूप पक्षियों की चरम श्रेणी के ठीक बाद हमें अपने देश में एक और वर्ग के पक्षी मिलते हैं, जो भौंड़ेपन की किसी भी प्रतियोगिता में बाजी बद सकते हैं। प्रसिद्ध हार्नबिल या धनेश और एडजूटण्ट स्टार्क या लगलग, जिनका परिचय पिछले लेख में आपको मिल चुका है, इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इनके अतिरिक्त भाँति-भाँति के जल पक्षियों, शिकारी और शिकार के पक्षियों, मीठी बोली बोलनेवाले पखेरुओं और कारीगर पक्षियों की भी मानो एक नुमाइश सी हमारे देश में लगी है। आइए, इन सभी वर्गों के दो-चार नमूनों को लेकर उनका विशिष्ट परिचय प्राप्त करें।

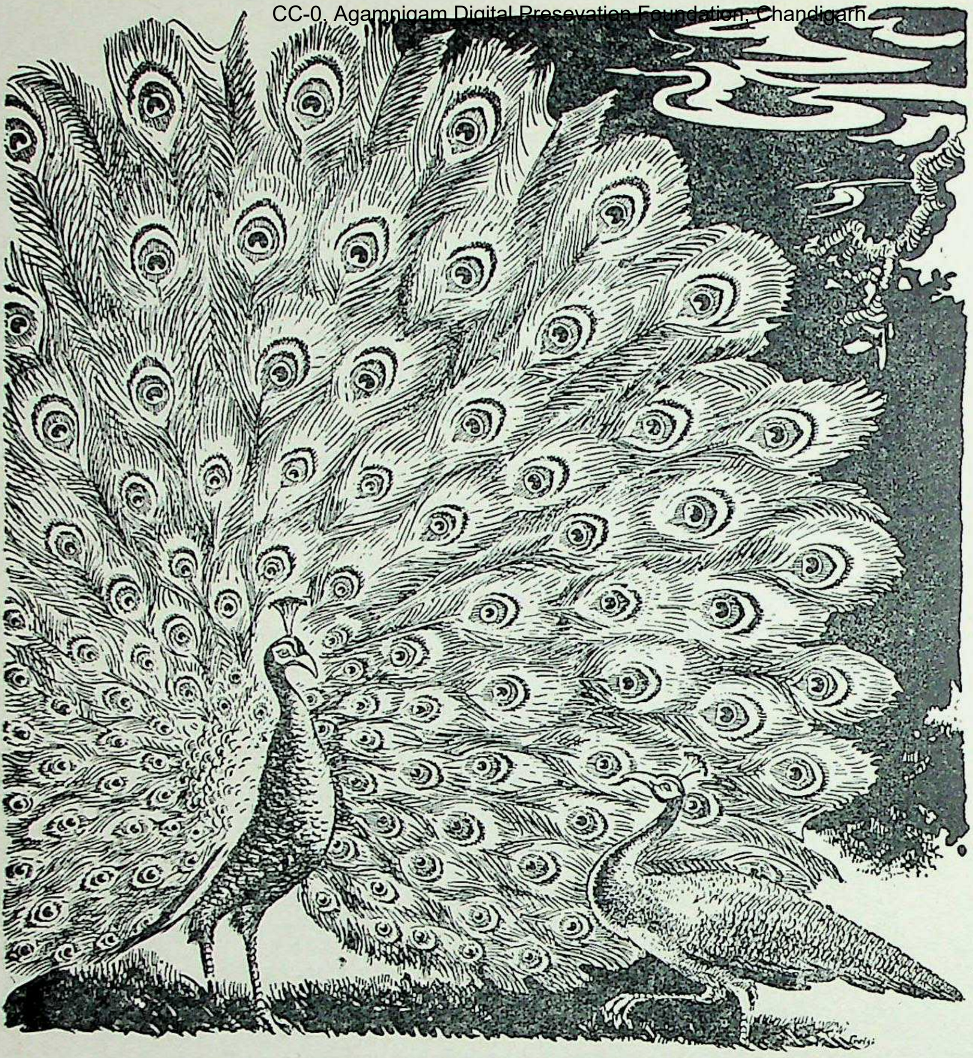

सुन्दरता की दृष्टि से मोर निस्संदेह भारतीय पक्षियों का शिरोमणि है। दाहिनी ओर इस पक्षी की शृंगारविहीना मादा और बाईं ओर नर है। देखिए, नर पक्षी के पंख कितने सुन्दर हैं !

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ अत्यंत सुन्दर नमूने— मोर और उनकी जाति के पक्षी

अन्य उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों की भाँति भारत में भी अनेक पखेरू असाधारण रूप से भड़कीले और चमक-दमकवाले होते हैं। इनमें से कुछ सुन्दर चिड़ियों का परिचय आप इस लेख के साथ दिए गए विविध चित्रों द्वारा पा सकते हैं। इनके अतिरिक्त इस देश के और भी न जाने कितने सलोने पक्षियों के नाम सुन्दर प्राणियों की कोटि में आसानी से गिनाए जा सकते हैं। इनमें से अनेक अपनी रंग-बिरंगी वेशभूषा और सुरीली बोलियों से नित्यप्रति हमारे देहात के वातावरण की शोभा बढ़ाते हुए खेतों पर काम करनेवाले सीधे-सादे ग्रामीण लोगों का श्रम हरते और उनके जीवन में मिठास घोलते रहते हैं। मोर ही को लीजिए। कौन भारतवासी ऐसा होगा, जिसके लिए यह एक अपरिचित पक्षी हो ! कम-से-कम उसके लंबे सुन्दर परों को तो सभी ने देखा होगा, जो छोटे-छोटे पंखों, टोकरियों आदि को बनाने और सजावट के बीसियों अन्य कामों के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। किसका मन उमड़-घुमड़कर आकाश में चढ़े हुए वर्षाकाल के बादलों के वितान के नीचे वन में थिरकते हुए मोर के मादक नृत्य का दृश्य देखकर मुग्ध न हुआ होगा ! उस दृश्य की गणना निश्चय ही संसार के गिने-चुने मनोरम दृश्यों में की जा सकती है। कैसा जादूभरा वह दृश्य होता है, कैसा उल्लासजनक और मनोहर ! जब मोर अपने चटकीले रंगवाले परों को एक विशाल पंखे की नाई फैलाकर नाचता है, तो उसकी दुम के लगभग पाँच फीट लम्बे वे अनोखे मोरछल अपने इन्द्र-धनुष जैसे विविध रंगों और अनुपम चित्रकारी के कारण न केवल हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा करते, प्रत्युत जब उन्हें हवा में ऊपर उठाकर यह अद्भुत पक्षी अपनी प्रेयसी के सम्मुख इठलाता हुआ उन्हें झिलमिलाकर कँपाता है, तो एक ऐसी छटा छा जाती है, जिसका शब्दों द्वारा वर्णन करना असंभव है। मोर के ये पंख जब फैले नहीं रहते, तब भी बड़े ही कमनीय और मनोहर प्रतीत होते हैं। अपनी इस अद्वितीय दुम को पाकर जब वह गर्व करता हुआ चलता है, तो उसके पर जमीन पर मानो झाड़ू-सा लगाते जाते हैं। आपको यह जानकर अचरज होगा कि उसकी यह दुम हर साल गिर जाती है और पुनः उसके स्थान में नए पंख निकल आते हैं ! अपने इस सौंदर्य के अलावा मोर में शायद ही कोई और बात प्रशंसाजनक पाई जाती हो।

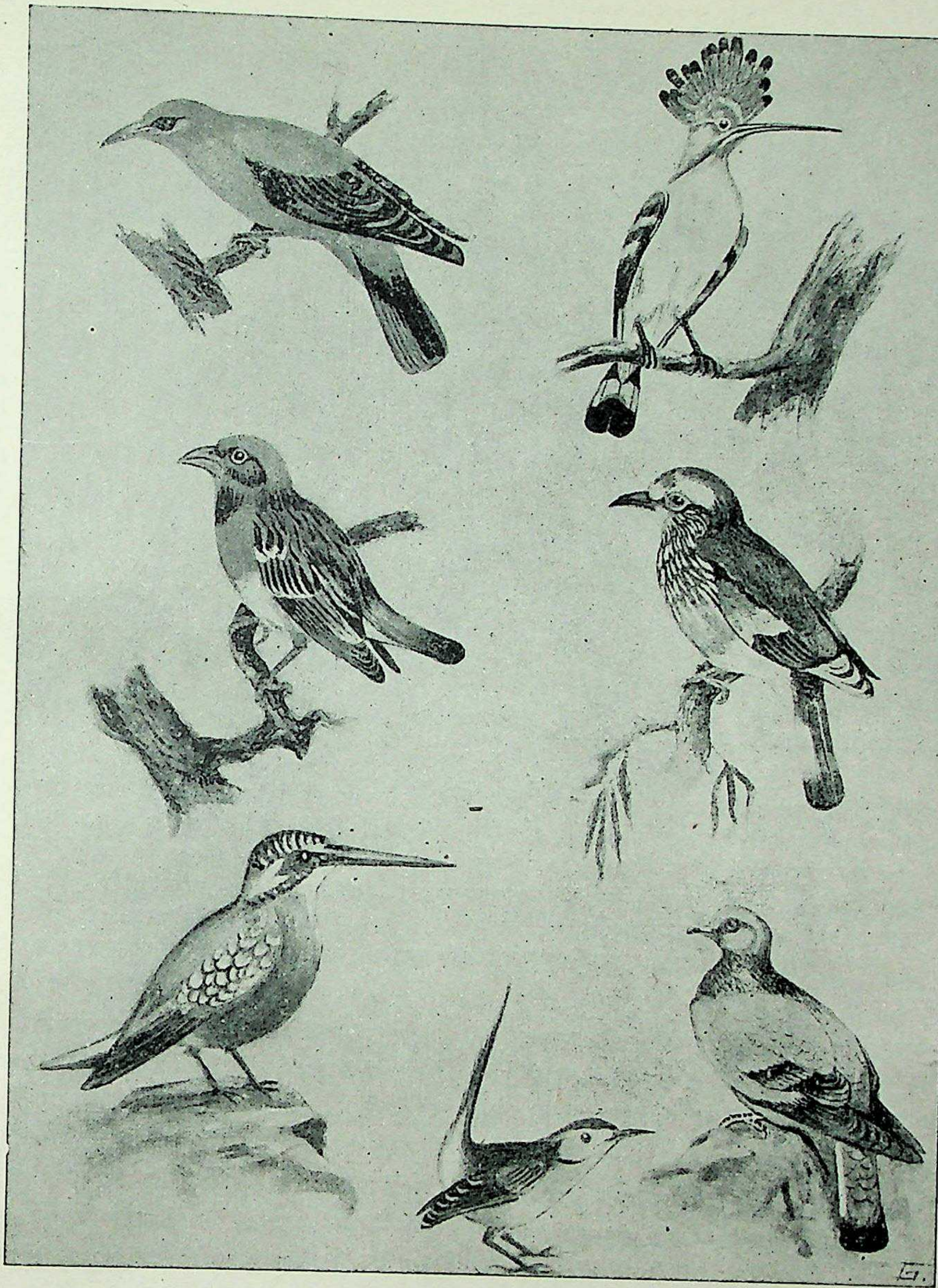

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ सुन्दर नमूने

(बाईं ओर से दाहिनी ओर को) प्रथम पंक्ति—सुनहली पीलक और हुदहुद। द्वितीय पंक्ति—बया और नीलकंठ। तृतीय पंक्ति—कौड़िल्ला, पोदना और जंगली कबूतर। अन्य कुछ प्रसिद्ध नमूने पृ० १२८५-१२८६ के रंगीन चित्रों में देखिये। प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित चिड़ियों में पीलक अपने सुनहले पीले और काले वर्ण के लिए तथा पतेने आसमानी, हरे और लाल रंग की वेशभूषा के लिए सराहे जाते हैं। इधर नीलकंठ तथा कौड़िल्ला नील-हरित वर्ण के अपने परों की छटा के लिए सुविख्यात हैं। इसी प्रकार हुदहुद की शोभा उसकी मनोरम कलँगी में है और बया घोंसला बनाने की अपनी कला के लिए प्रख्यात है।

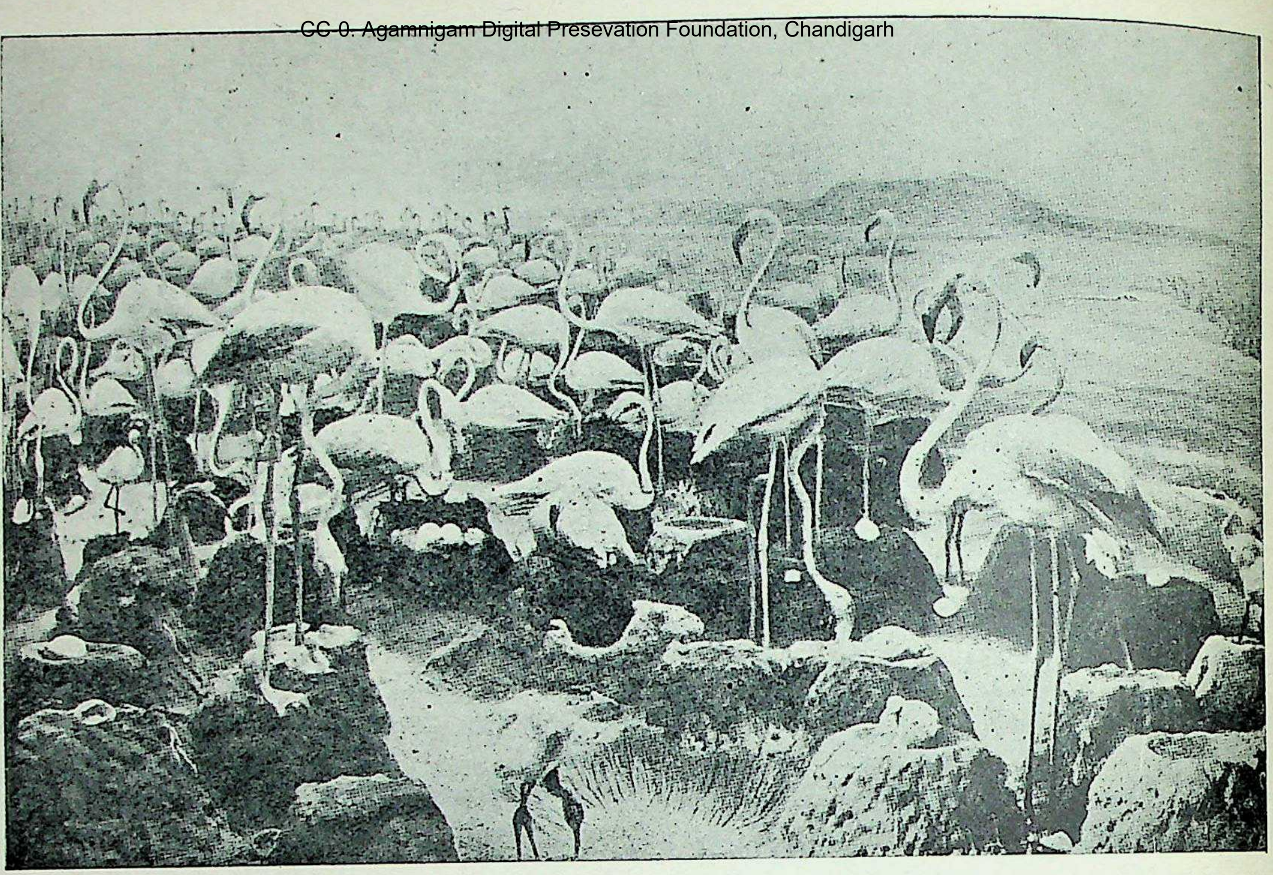

भारतीय जलपक्षियों में हंसावर या फ्लेमिंगों नामक सुप्रसिद्ध चिड़िया की छटा सब से निराली होती है। किसी जलपौधे की टहनी की-सी अपनी पतली टाँगों पर अपने चमकीले श्वेत-गुलाबी वर्ण के परों को एक विशाल श्वेत कमल-पुष्प की पंखड़ियों की भाँति समेटे हुए, छिछले जल में शान्त स्थिर मुद्रा में खड़े इन प्राणियों की अगणित बस्तियों को देखकर यही भ्रान्ति होती है, मानो हम किसी कमल से सुशोभित तालाब ही की झाँकी देख रहे है! प्रस्तुत चित्र में हमारे देश के पश्चिमी भूभाग में स्थापित इन पक्षियों की एक बस्ती का दृश्य है। इनके मिट्टी-गारे से निर्मित अनूठे घोंसले देखिए! यह चित्र 'बंबई नेचरल हिस्ट्री सोसाइटी' द्वारा निर्मित एक मॉडेल का फोटो है। पृ० १२८५ का रंगीन चित्र भी देखिए।

यह पक्षी स्वभाव से बड़ा ही कुटिल होता है और प्रायः छेड़ने पर चोंच भी मार दिया करता है। उसकी बोली कितनी कर्कश होती है, यह तो सभी जानते ही हैं, साथ ही साँप खाने की उसकी गंदी लत भी मशहूर ही है। किन्तु जब मोर अपने अद्भुत परों को फैलाकर नृत्य करने लगता है, तो हम उसके सभी दोष भूलकर उसके अनुपम सौंदर्य पर विमुग्ध हो जाते हैं।

मोरनी न तो मोर की तरह रंगों से सुशोभित होती है और न उसके पास वैसे शानदार लम्बे पर ही होते हैं। उसका बाह्य रूप-रंग काफी संजीदा होता है, और ऐसा होना उचित भी है, क्योंकि उसी को अण्डों की देखरेख करनी होती है। यदि उसका रंग भी उतना ही चटकीला होता, तो अण्डों की खबरदारी करना उसके लिए निरापद नहीं हो सकता था!

मोर के नन्हें बच्चे जब पहलेपहल चलने योग्य होते हैं, तो वे गेंद के आकार के होते हैं और उनकी लम्बी गर्दन के छोर पर पतली-सी ऊँची उठी हुई कलँगी लगी होती है। किन्तु ये बढ़ते हैं बड़ी तेज रफ्तार से, ऐसी तेजी से कि हम उन्हें प्रत्यक्ष अपनी आँखों से बढ़ते हुए देख सकते हैं! कुछ ही दिनों में इनकी अजीब-सी भौंडी शक्ल बिल्कुल बदल जाती है और माँ की तरह उनका भी शरीर सुडौल हो जाता है।

मोर की जाति के कई छोटे-बड़े पक्षी हमारे देश में मिलते हैं। तीतर, बटेर, मुर्गियाँ, लवा आदि विविध प्रकार के 'फीजेण्ट' वर्गीय पक्षी मोर की जाति के ही पक्षी हैं। इनमें से अनेक विविध प्रकार के सुन्दर रंगों से विभूषित रहते हैं। लाल और भूरी वन-मुर्गियाँ तो बहुत ही चटकीले रंगोंवाली होती हैं। मुर्गे की कुछ किस्में अपनी लम्बी दुम के लिए भी प्रसिद्ध हैं, जो कभी-कभी ६ फीट से भी अधिक

लम्बी होती हैं। वस्तुतः, पिछले अध्याय में वर्णित नई दुनिया के लघु आकार के भनभनानेवाले पक्षियों और ऑस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा पूर्वी द्वीप-समूह के बड़े आकार के 'स्वर्ग के पक्षियों' के बाद सुन्दरता में 'फीजेन्ट' वर्ग की चिड़ियों का ही नम्बर आता है। इस वर्ग के कतिपय प्राणियों के नीले, हरे, लाल और सिलेटी-आसमानी रंग के परों की छटा देखते ही बनती है!

फ्लेमिंगो या हंसावर

भारत के अन्य भड़कीले बड़े पक्षियों में फ्लेमिंगो और सारस उल्लेखनीय हैं। फ्लेमिंगो अपने चमकीले गुलाबी तथा श्वेत रंग के परों, लम्बी लाल रंग की टाँगों, हद दर्जे की मुलायम और लचकदार गर्दन, तथा दन्दानेदार किनारेवाली मुड़ी हुई चोंच के लिए विख्यात है। एक लेखक ने इसकी दन्दानेदार चोंच की तुलना आलू कतरनेवाले आलूकस से की है। खाते समय यह अपने सिर को मोड़कर उलटा कर लेता है, जिससे इसकी चोंच का ऊपरी भाग भूमि को छूता रहता है। इस प्रकार दलदल के कीचड़ सहित नन्हें-नन्हें जीव-जन्तुओं को आसानी से यह चोंच में भर लेता है। चोंच के दबाने पर कीचड़ आदि तो उसके दन्दानेदार हाशियों में से छनकर बाहर निकल जाते हैं और इस प्रकार साफ किए हुए घोंघे आदि जीव मुँह में रह जाते हैं, जिन्हें वह निगल जाता है। हंसावर अकसर झीलों के किनारे देखे जा सकते हैं। ये पक्षी बड़े सतर्क होते हैं। जिस समय इनका समूह कीचड़ में शिकार ढूँढ़ने में व्यस्त रहता है, उनमें से एक पहरेदार का काम करता है और खतरे की आहट पाते ही विपद की सूचना देने के लिए वह बड़े जोर से आवाज करता है।

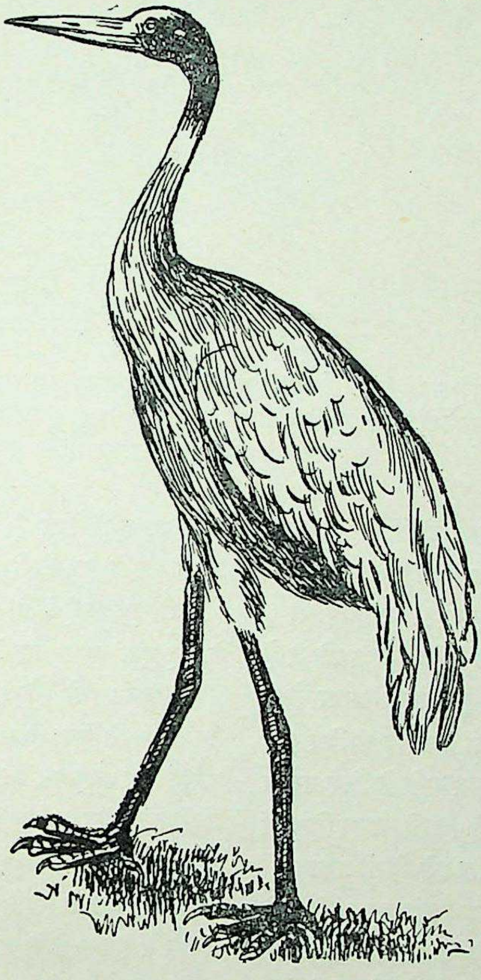

हमारे देहातों का सुपरिचित बड़ा पक्षी सारस, जो कद में आदमी के बराबर पहुँचता है।

इन पक्षियों को एक टाँग पर खड़ा होना बड़ा प्रिय है। उस समय ये अपनी लम्बी गर्दन को उलटे मोड़कर परों के नरम लबादे से ढकी हुई अपनी पीठ में चोंच गड़ा लेते हैं और तब बड़ी बेफिक्री एवं आराम के साथ सुस्ताते रहते हैं। इनकी अत्यधिक लम्बी टाँगें केवल छिछले पानी में चलने के ही काम आती हैं, दौड़ने के लिए नहीं। फ्लेमिंगो बड़े अनोखे पक्षी होते हैं। ये अपने अण्डे रखने के लिए गीली मिट्टी के विचित्र घोंसले बनाते हैं। इनके ये ढूहनुमा घोंसले कभी-कभी एक ही जगह दो-दो हजार के झुण्ड में बनाए जाते हैं। जिन दिनों ये पक्षी अपने इन मिट्टी के घोंसलों की नगरी में बसते हैं, उस समय का वहाँ का दृश्य अतीव मनोरम होता है। बहुत कम भाग्यशाली व्यक्तियों को यह सुन्दर दृश्य देखने को मिलता है। इस दृश्य को आम जनता के लिए सुलभ करने के लिए बंबई के 'प्रिन्स-ऑफ वेल्स म्यूजियम' में पक्षियों के विभाग में 'बम्बई नेचरल हिस्ट्री सोसाइटी' ने इस प्रकार के अनेक घिरौंदों का एक नकली नमूना बनाया है, जिसकी तस्वीर इसी लेख के साथ (पृ० १२८२ पर) दी गई है। हम आशा करते हैं कि पाठकगण कभी बम्बई जाने पर उस म्यूजियम में पक्षियों के सौन्दर्य के अन्य पहलुओं के साथ इस अनुपम दृश्य को देखना न भूलेंगे।

सारस

यद्यपि यह पक्षी अपने सौन्दर्य के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु अपनी जाति का यह सब से ऊँचा पक्षी है—यह लगभग आदमी के कद के बराबर पहुँचता है। देहातों में इधर-उधर विचरता हुआ यह पक्षी हमें अकसर देखने को मिलता रहता है। इसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि यह अकेला शायद ही दिखाई देता है, हमेशा इसका जोड़ा ही दिखाई देता है। प्रायः मैदानों में इसके संग इसके एकाध बच्चे भी घूमते रहते हैं। सारस के नर-मादा अपने दाम्पत्य-प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं। मुगल बादशाह जहाँगीर ने इन पक्षियों का विशेष अध्ययन किया था और वह इनके दाम्पत्य-

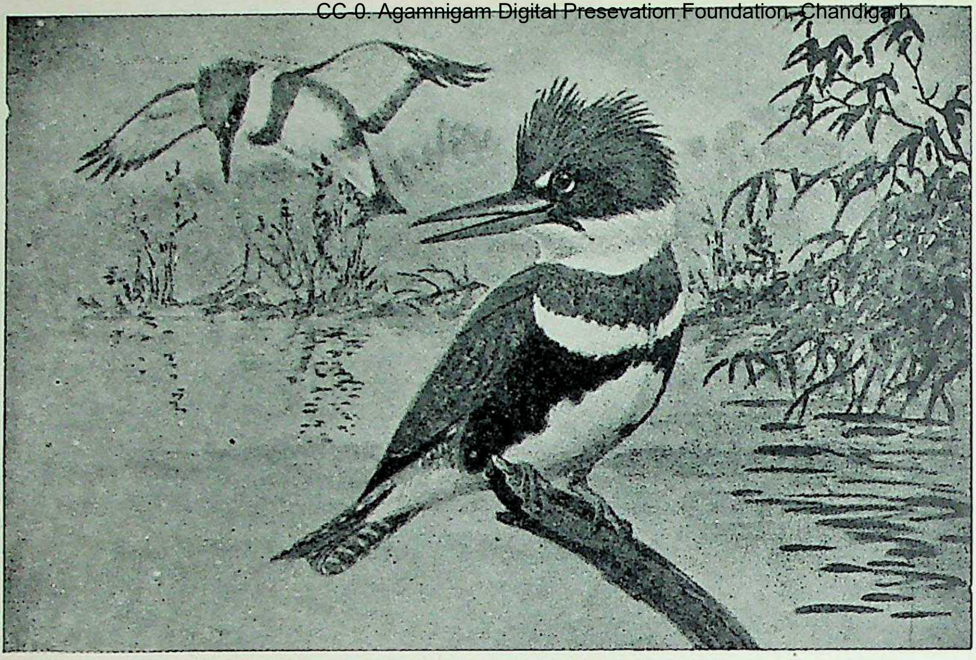

नीले, कत्थई और सफेद रंग के चटकीले परों से सुसज्जित यह पक्षी 'किलकिला' या 'कौड़िल्ला' कहलाता है। यह टकटकी बाँधे जलाशयों पर झुकी हुई डाली पर बैठा रहता है और ज्योंही मछली देखता है, पानी में कूदकर उसका शिकार करता है।

प्रेम से विशेष रूप से प्रभावित हुआ था। उसने दो उदाहरण ऐसी मादा सारस के दिए हैं, जो अपने नर के मार डाले जाने पर स्वयं भी वियोग में घुल-घुलकर मर गई थी। साधारणतः ऐसा विचार किया जाता है कि जब इनके जोड़े में से एक की मृत्यु हो जाती है, तो दूसरा भी खाना-पीना छोड़ देता है और फलतः अधिक दिनों तक वह जीवित नहीं रह पाता। विवाह के सूत्र में बँधे हुए दम्पति के लिए सारस एक अनुकरणीय आदर्श समझा जाता है। इसी कारण हिन्दुओं में यह पक्षी पवित्र माना जाता है और इसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचने दी जाती। सारस अपनी प्रणय-लीला के लिए भी प्रसिद्ध है, जिसकी ऋतु वर्षाकाल है। यही उनके गर्भाधान का भी समय होता है। इसकी प्रणय-क्रिया विचित्र और दर्शनीय होती है। उस समय नर-मादा दोनों उल्लास से भरे हुए एक-दूसरे के आसपास उछलते हुए चक्कर लगाते हैं और अपने चौड़े पंख फैलाकर तथा गर्दन नीची करके हवा में ऊँची कुदानें भरते हैं। बीच-बीच में अनुस्वारयुक्त स्वर में वे बड़े जोर से तुरही की-सी आवाज भी लगाते रहते हैं।

हुदहुद और नीलकंठ

हमारे यहाँ के सभी ग्रामीण तथा अधिकांश नगर-निवासी इन दोनों पक्षियों और उनके चटकीले मनोहर रंग से इतने अधिक परिचित होते हैं कि इनके बारे में यहाँ विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि इन दोनों पक्षियों के रूप-रंग में अन्तर होता है, तथापि वास्तव में ये एक दूसरे के भाई-बन्धु ही हैं और एक ही श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। हुदहुद की लम्बी चोंच पेड़ की छालों के अन्दर से कीड़े-मकोड़ों को ढूँढ निकालने के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है। यदि आपने इसे जीवित हालत में फुदकते हुए नहीं देखा है, तो पृ० १२८१ के चित्र में प्रस्तुत इसकी छवि का निरीक्षण कीजिए। देखिए, इसकी कलँगी कितनी सुन्दर है! बावजूद अपनी लम्बी और भयानक चोंच के यह एक शान्त प्रकृति की चिड़िया है।

नीलकंठ भी कीड़ों को नष्ट करने के दृष्टिकोण से एक उपयोगी चिड़िया है। 'नीलकंठ कीरा भख, करै बधिक को काम,' यह कहावत आपने सुनी होगी। भारतीय दृष्टि में यह अच्छे सगुन का परिचायक है, किन्तु इसकी प्रकृति दुष्ट होती है! हिन्दू इसे पवित्र मानते हैं और कुछ भागों में इसे दुर्गा का आश्रित पक्षी मानकर उसकी पूजा भी करते हैं। बंगाल में इस पक्षी के सम्बन्ध में यह किम्वदन्ती प्रचलित है:—

'अपना पंख फैलाये हुए प्रथम आगन्तुक नीलकंठ एक ऊँचे वृक्ष की चोटी पर बैठा हुआ इतना सुन्दर दिखलाई दे रहा था कि उधर से गुजरते हुए एक यात्री ने उसे मार डाला और देवी दुर्गा के चरणों पर उसकी पूजा चढ़ा दी। देवी बहुत ही क्रुद्ध हुईं। भला उन्हें प्रसन्न करने के लिए इतने सुन्दर जीव की हत्या क्यों की गई? अतः तुरन्त ही उस मृत पक्षी के शरीर में प्राणों का सञ्चार करके उन्होंने उसे अपनी शरण में लेते हुए आशीर्वाद दिया कि 'जीवन के उल्लास से पूर्ण होकर तुम मेरे गुणगान करना।' तभी से नीलकंठ दुर्गा का प्रिय पक्षी होने के नाते पूजा जाने लगा। इसी से आज

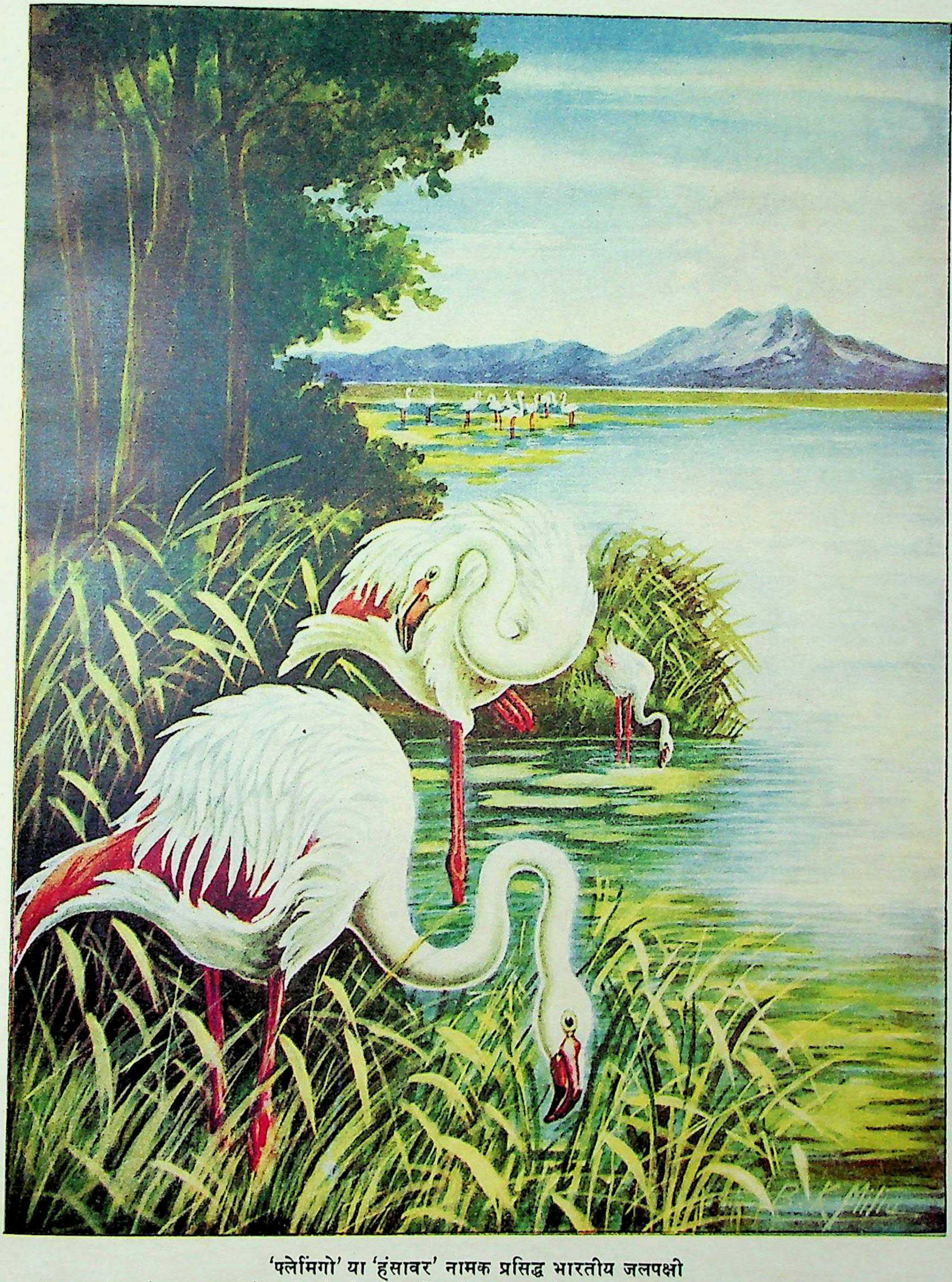

‘फ्लेमिंगो’ या ‘हंसावर’ नामक प्रसिद्ध भारतीय जलपक्षी

जब यह एक टाँग पर खड़ा होता है, तो श्वेत-गुलाबी परों से आच्छादित इसका शरीर दूर से कमल जैसा लगता है ।

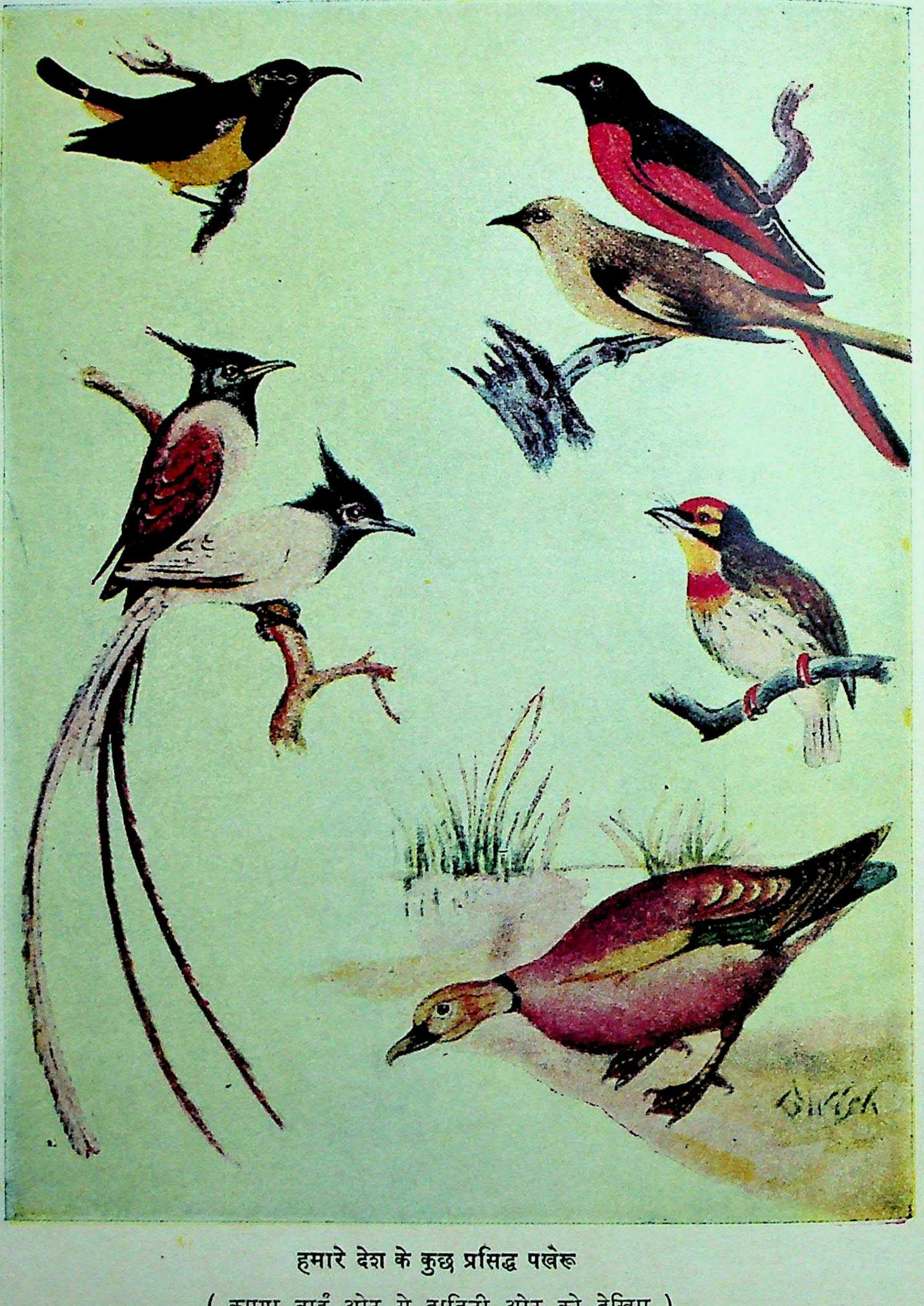

हमारे देश के कुछ प्रसिद्ध पखेरू

(कृपया बाईं ओर से दाहिनी ओर को देखिए)
सब से ऊपर की पंक्ति--शकरखोर और लाल मुनिया (नर तथा मादा);
बिचली पंक्ति--मछमरनी (नर और मादा) तथा ठठेरा;
निचली पंक्ति--चकवा या सुरखाब ।

भी जब वह अपनी प्रणय-लीला में संलग्न होकर तरह-तरह की केलि-क्रीड़ा करता है, तो निरन्तर अपनी इष्टदेवी के नाम का उच्चारण करता हुआ-सा जान पड़ता है। उसकी अतिशय चहचहाहट का यही रहस्य है।'

मछमरनी और कौड़िल्ला

कौड़िल्ला और मछमरनी की अनेक जातियाँ होती हैं। पृष्ठ १२८६ के चित्र में मछमरनी के नर और मादा दो पक्षी दिखलाए गए हैं। नर के पर चमकदार रेशम सरीखे श्वेत रंग के होते हैं, तुषार की भाँति निर्मल! उसकी दुम के बीचवाले दो पंख एक फुट की लम्बाई तक उल्टे मुड़े हुए रेशम की चँवर की तरह लटके रहते हैं। मादा मछमरनी का परिधान इस खूबी से रहित होता है। उसका अधिकांश शरीर गहरे कत्थई रंग के परों से ढका होता है। हमारे बगीचे और खेतों की कीट-पतिंगों से रक्षा करने में ये पक्षी बहुत उपयोगी हैं। इस प्रकार मानव-जाति का ये बड़ा उपकार करते हैं।

कौड़िल्ला या किलकिला भी हमारे देश में नदी-तालाब और झीलों के किनारे आम तौर से पाया जाता है। इसकी भी अनेक उपजातियाँ होती हैं। चमकीले रंगवाला छोटा नीला किलकिला या कौड़िल्ला विशेष रूप से हमारे ध्यान को आकर्षित करता है, जब वह तीखे स्वर से 'चेकी' 'चेकी' की आवाज लगाता है। हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं जब नीले कौड़िल्ले को चुप्पी साधे हुए, नन्हीं मछलियों की टोह में एकटक ध्यान लगाए, पानी से कुछ ही ऊपर एक ही स्थान में निरंतर टकटकी बाँधे किसी डाली पर बैठे हुए देखते हैं और तब अचानक अपनी उस ध्यानावस्थित मुद्रा को छोड़कर वह पानी में कूद पड़ता है और डुबकी लगाकर चोंच में शिकार दाबे हुए निकलते दिखाई देता है। दाँव चूक जाने पर कभी उसे खाली हाथ लौटते भी हम देखते हैं। उसकी फुर्ती को देखकर गोताखोर वायुयान भी लज्जित रह जायँगे। साधारण किलकिला पुरानी दुनिया में सब कहीं पाया जाता है। मध्यम आकार का सफेद सीनेवाला किलकिला एशिया माइनर से लेकर भारत और दक्षिणी चीन तक के प्रदेशों में मिलता है। इन पक्षियों के सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक बात यह है कि ये मछलियों को उनके सिर के बल निगलते हैं, ताकि उनके चोइँटे इनके गले में लगे नहीं। इन चोइँटों का सिरा मछली की दुम की ओर निकला होता है। किन्तु जब ये मछली को अपने बच्चों को खिलाने के लिए ले जाते हैं, तो उस समय उसे दुम के बल ही पकड़ते हैं, ताकि बच्चे जब उसे निगलें, तो उसके चोइँटे उलटे पड़कर उनके गले में अटकें नहीं।

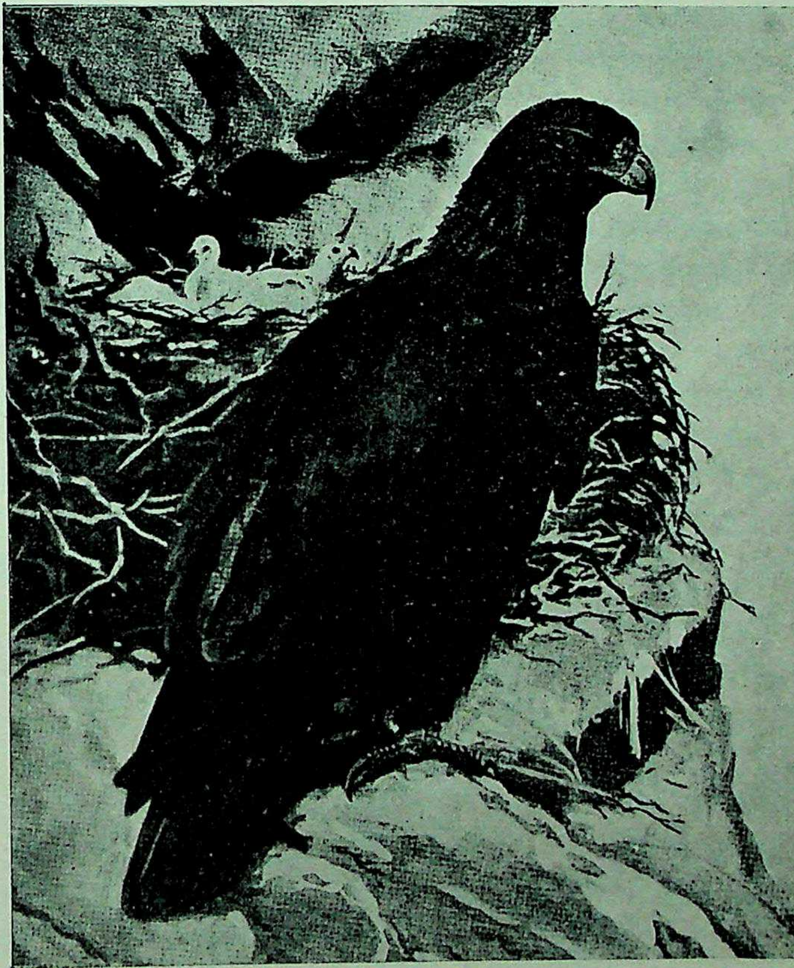

पक्षी-संसार का सब से बड़ा शिकारी—सुनहला उकाब—जिसे हम पक्षी-जगत् के बाघ की उपमा दे सकते हैं। यह बहुत ऊँचाई पर घोंसला बनाता है। हमारे देश में भी ऊँचे पहाड़ों के कगार पर कहीं-कहीं इस जाति के पक्षियों के घोंसले मिलते हैं।

पीलक और पतेने

सुनहली पीलक बड़ी सुन्दर चिड़िया होती है। यह अपने चमकीले पीले और काले रंग के परों की छटा से हमारे बाग-बगीचे और हरे खेतों की शोभा बढ़ाती है। यही पतेनों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है, जो चटकीले आसमानी, हरे तथा लाल रंग की अपनी पंखमाला से हमारे देहात की सुन्दरता में वृद्धि करते हैं। कीड़े-मकोड़ों को नष्ट करने के लिए ये दोनों पक्षी विख्यात हैं। इनकी विचित्र कुहुक, चटकीले रंग तथा जोड़े से अलग होने पर दिग्दर्शित बेचैनी और उदासी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। जब जोड़े साथ रहते हैं, तो वे बड़े खुशदिल दिखाई देते हैं। सुनहली पीलक 'आम्र पक्षी' के नाम से भी जानी जाती है, और इसकी मधुर आवाज से इसे आसानी से पहचाना जा सकता है। नर पीलक की आँखें चमकीली लाल और मादा की भूरी होती हैं।

कठफोड़ और शकरखोर

इस देश के सुन्दर पक्षियों की तालिका में कठफोड़ और शकरखोर को भी सम्मिलित किए बिना हम नहीं रह सकते। आपने इन सुन्दर पक्षियों को अनेक बार देखा होगा, परन्तु क्या आप यह भी जानते हैं कि सुनहली चोंचवाली वह चिड़िया, जिसकी पीठ पर रंग-बिरंगे धब्बे रहते हैं, कठफोड़ क्यों कहलाती है? बात यह है कि अपनी चोंच से वृक्षों की कड़ी छाल पर जोर की ठोकरें मारकर यह उनके अन्दर छिपे हुए कीड़े-मकोड़ों और उनके भुनगों को निकाल लेती है, इसीलिए इसे यह नाम मिला है। सौन्दर्य में कठफोड़ को भी मात करनेवाले गहरे लाल, पीले, जामुनियाँ आदि चटकीले रंगों की चित्तियोंवाले शकरखोर नामक पक्षी हैं, जो नगीनों जैसे चमचमाते हैं। ये हमारे बगीचों के पौधों पर बैठे हुए फूलों का रस तथा उन पर आनेवाले कीड़े-पतिंगों को खाते दिखाई देते हैं।

गलीज चीजें खानेवाले कुरूप पक्षी

सुन्दरतम पक्षियों की झाँकी देखने के बाद, आइए, अब अपने देश के कतिपय कुरूप पक्षियों का भी अवलोकन करें। यों तो संसार का सब से कुरूप पक्षी निस्संदेह गलीज मांस खानेवाला गिद्ध ही है, किन्तु उसके साथ-साथ हम चील, उल्लू और कौए का भी उल्लेख करेंगे, जो इसी कोटि में रक्खे जा सकते हैं।

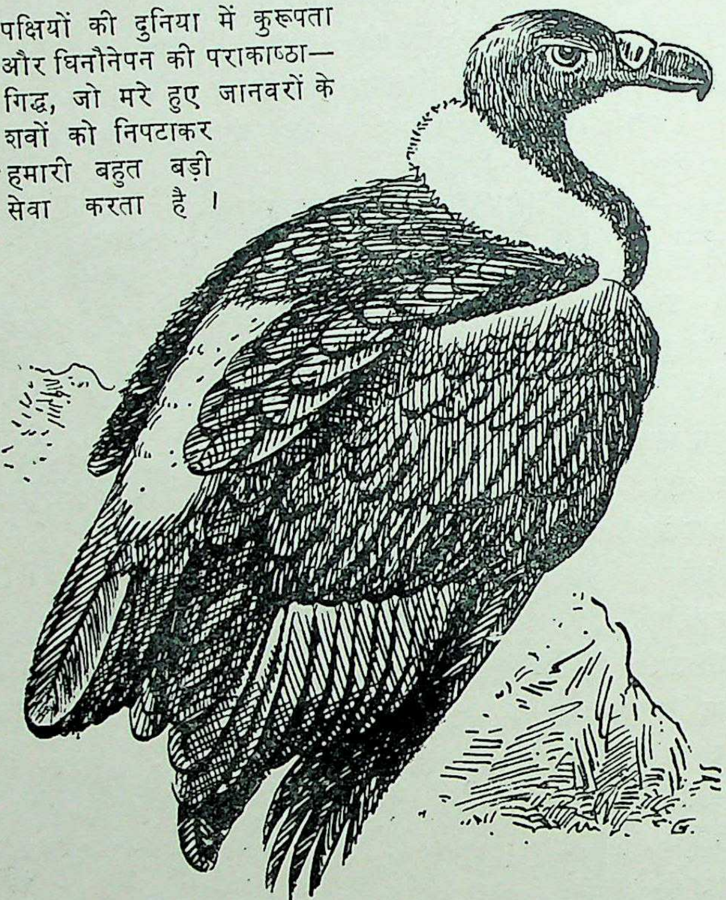

पक्षियों की दुनिया में कुरूपता और घिनौनेपन की पराकाष्ठा—गिद्ध, जो मरे हुए जानवरों के शवों को निपटाकर हमारी बहुत बड़ी सेवा करता है।

गिद्ध और चील

प्रकृति की दुनिया में मेहतर का काम करनेवाला गिद्ध अपनी मनहूस पीली चोंच, अनावृत्त चेहरे, खुली टाँगों तथा गन्दे मटमैले सफेद डैनों (जिनके केवल छोर काले होते हैं) की बदौलत अन्य पक्षियों से बहुत आसानी से अलग पहचाना जा सकता है। यह पक्षी आदमी से बहुत कम डरता है। इससे हमारे देश में सब कोई परिचित हैं, कारण यह हमारे यहाँ प्राकृतिक मेहतर का काम करता है। अपनी पैनी दृष्टि और तीव्र घ्राण-शक्ति की सहायता से यह दूर से ही मुर्दे का पता लगा लेता है। इसकी पैनी दृष्टि साहित्य में प्रसिद्ध है——रामायण में गिद्ध संपाती का यह वचन आप पढ़ चुके होंगे कि 'गिद्धहि दृष्टि अपार।' बस्ती के जानवरों के मृत शरीर तथा गलीज मांस को खाकर यह पक्षी गन्दगी दूर करने में हमारी पर्याप्त सहायता करता है। इसी कारण प्रत्येक म्यूनिसिपैलिटी में इसे मारना कानून की दृष्टि से वर्जित कर दिया गया है। इस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले को जुर्माना देना पड़ता है।

गिद्ध की भी अनेक उपजातियाँ हैं। राजगिद्ध के डैने विशाल, सिर लाल और गरदन तथा पैर सफेद धब्बों से युक्त

होते हैं । सफेद पीठवाला गिद्ध बृहत् आकार के पक्षियों में से है । बम्बई में पारसियों के श्मशान में (जहाँ उनके शव रखे जाते हैं) ऐसे बहुतेरे पक्षी बैठे पाए जाते हैं ।

गन्दे पक्षियों में प्रायः चील की भी गिनती होती है । यह सारे भारत में पाई जाती है । यह भूरे रंग की बहुत बड़े आकार की एक चिड़िया है, जिसकी दुम फटी-सी रहती है । यह बड़ी ढीठ होती है और बाजार में प्रायः बेखबर व्यक्तियों के हाथ से खाने की चीजें और टोकरियाँ तक झपट्टा मारकर ले जाती है । इसकी झपट प्रसिद्ध है । चील और गिद्ध जबर्दस्त उड़ाक होते हैं और प्रायः प्रातः और संध्या समय ऊँचे आकाश में बादलों के बीच मँडराते हुए देखे जा सकते हैं । इनके घोंसलों में कोई खास विशेषता नहीं होती । ये ऊँचे वृक्षों पर सूखी टहनियों द्वारा बनाए जाते हैं। चील की आवाज खास तरह की होती है ।

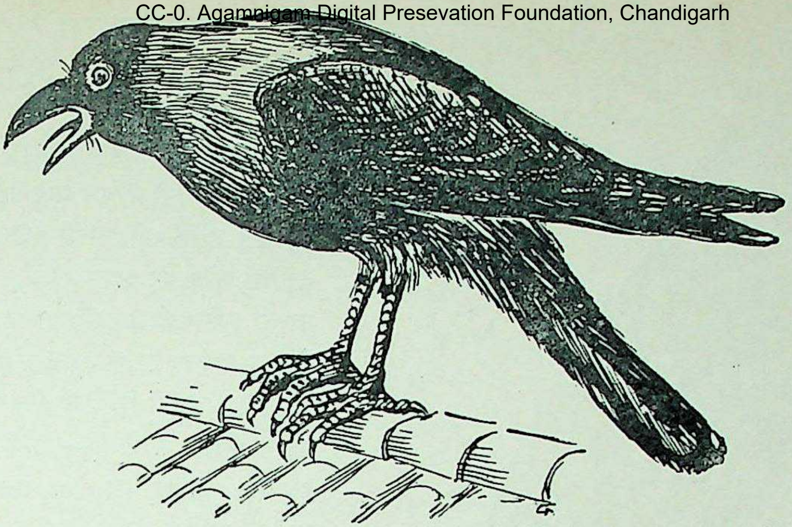

भारतीय कौआ, जो सतर्कता, निर्भीकता और चालाकी में सारे पक्षी-संसार में अपना सानी नहीं रखता ! यह पक्षी उत्तम उड़ाकू और दीर्घजीवी होता है ।

उकाब और बाज

उकाब और बाज गिद्ध जैसे कुरूप तो नहीं होते, पर स्वभाव में वे उनसे कहीं अधिक हिंसक होते हैं। ये अन्य चिड़ियों का शिकार करने के लिए प्रसिद्ध हैं । इनमें से कुछ खेतों के चूहों आदि को नष्ट करने के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं । इनमें लम्बी टाँगोंवाला 'टीसा' केवल जाड़े की ऋतु में भारत में आता है । लोंदे की तरह भद्दी शक्ल के इस पक्षी का रंग हलके पीले भूरे रंग से लेकर एकदम काला तक हो सकता है । इसकी दुम विशेष रूप से गोल गावदुम होती है और नीचे से देखने पर इसके डैने पारदर्शक जान पड़ते हैं । कलँगी दार टीसे के चेहरे पर मछली के चोंइँटे की तरह हलके पर होते हैं तथा इसकी टाँगें भी आधी दूर तक परों से ढकी होती हैं । नारंगी रंग के उकाब का सिर चपटा और डरावना होता है ।

शिकार के उद्देश्य से आसमान में उड़नेवाली चिड़ियों में एक जाति के उन विविध पक्षियों की भी गणना है, जिनमें अबाबील का शिकार करनेवाले 'शिकरा' से हम अधिक परिचित हैं। सिखाने पर यह तीतर-बटेर तथा छोटी जाति के अन्य पक्षियों को पकड़ ले आता है । कहते हैं, एक पालतू शिकरे ने तो अपने पिंजड़े से निकलकर एक बार बन्दूक से दगी गोली तक को पकड़ लिया था ! यह भूरे रंग का पक्षी लगभग १२ इंच लम्बा होता है । इसकी

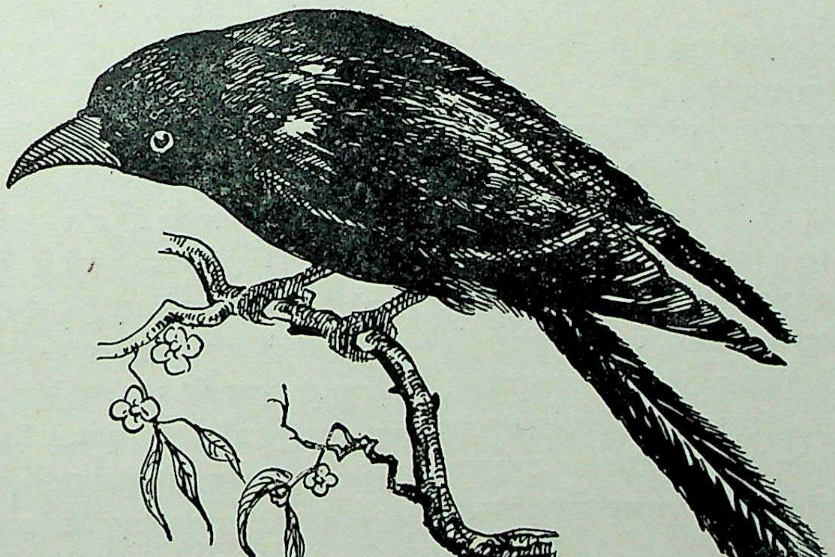

कौए द्वारा अपने अंडों की देखभाल तथा बच्चे का पालन करानेवाली चतुर कोयल अपने सुरीले कंठ के कारण हमारे देश की एक लोकप्रिय चिड़िया है ।

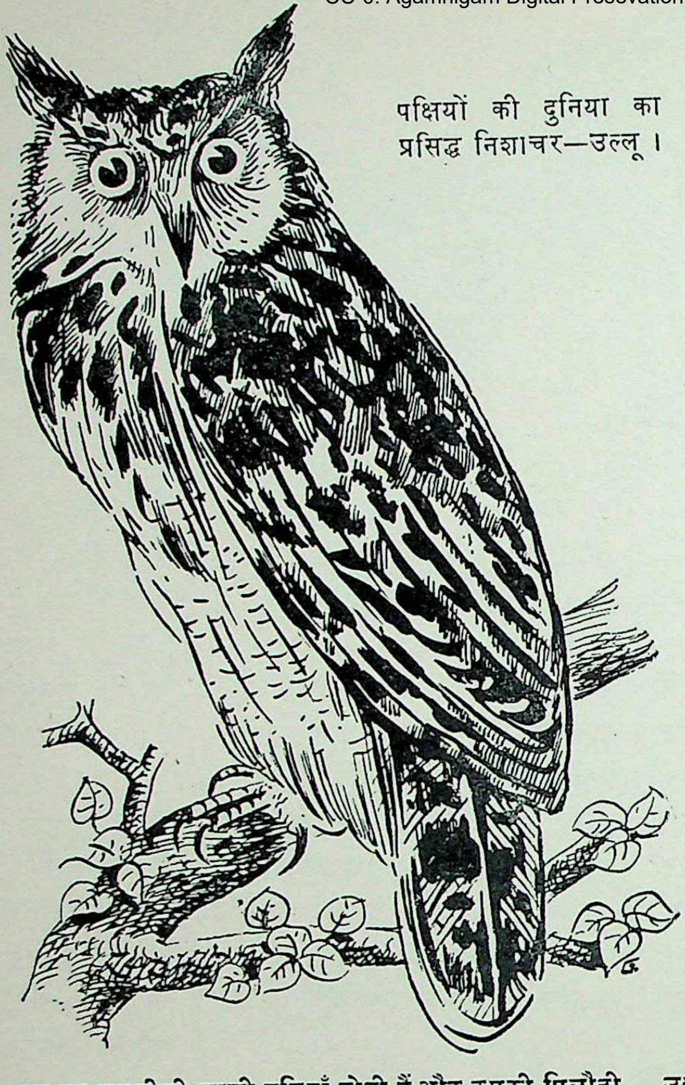

पक्षियों की दुनिया का प्रसिद्ध निशाचर—उल्लू ।

दुम पर चटकीली काली पट्टियाँ होती हैं और इसकी पिलौही आँखें बड़ी ही भयोत्पादक होती हैं ।

'हेरियर' बाज नामक पक्षी आकार में शिकरा से कुछ बड़े होते हैं । इनमें साधारण हेरियर पिलौहे-भूरे रंग का होता है । यह पक्षी लगभग १८ इंच लम्बा होता है और इसके डैनों की शक्ल बहुत-कुछ अबाबील के डैनों की तरह होती है । इसकी दुम लम्बी तथा पतली होती है । अपने उड़ने के विचित्र तरीके से यह आसानी से पहचाना जा सकता है । उड़ते समय यह पहले तो कुछ दूर तक दो-चार बार अपने पंख डुलाता है, और फिर उन्हें निश्चल तानकर बेमन-सा मँडराता रहता है । कभी-कभी बीच में फिर यह दो-चार बार पर फड़फड़ा देता है । कबूतरों और फाख्ता का यह जानी दुश्मन है ।

उकाब, जो भेड़ों तक को उठा ले जाते हैं

भारतवर्ष से बाहर बहुत बड़े आकार के उकाबों की कुछ जातियाँ पाई जाती है, जिनमें सब से प्रसिद्ध 'सुनहला उकाब' है, जिसका एक चित्र पृष्ठ १२८७ पर इस लेख के साथ दिया गया है । देखने में वह ऐसा मालूम देता है, मानो कोई बड़ी-सी चील हो । यह पक्षी योरप और अमेरिका का सब से बड़ा शिकारी पक्षी है और उम्र के लिहाज से सब से अधिक आयु पानेवाले प्राणियों में से एक है । उसकी तीक्ष्णभेदी आँखों और अँकुए जैसी नुकीली चोंच पर ध्यान दीजिए । उसे देखते ही हमें उसकी शक्ति का बहुत-कुछ अंदाज हो जाता है । यह कितना ताकतवर पक्षी होता है, इसकी एक झलक एक दर्शक द्वारा दिए गए निम्न आँखों-देखे विवरण में हम पा सकते हैं--"ऊँचे आसमान में एक उकाब मँडरा रहा था । वह लगातार चक्कर लगाते हुए निरंतर उँचा उठता चला जा रहा था । तब एकाएक उसकी दृष्टि नीचे जमीन पर खेतों में विचरते हुए एक मेमने पर पड़ी । तुरन्त ही उसने सर्राटे से नीचे उतरना शुरू किया और झपटकर अपने अँकुए जैसे पंजों में उस असहाय जानवर को पकड़कर बात-की-बात में वह ऊपर उड़ा ले गया ? वहाँ पर्वत की ऊँची चोटी पर अपने घोंसले में अंडों पर बैठी उसकी साथिन–मादा उकाब–मानो उसकी प्रतीक्षा ही में थी । तुरन्त ही दोनों ने मिलकर शिकार का सफाया कर दिया ! " यह एक उल्लेखनीय बात है कि सभी उक़ाबों की यह आदत होती है कि जब वे अपने शिकार को खाते हैं, तो उसे पंख फैलाकर छिपाए रहते हैं । सुनहला उकाब इतना भयंकर और निर्भीक शिकारी होता है कि एक बार ऐसे एक पक्षी के घोंसले में करीब ३०० बत्तखों और ५० खरगोशों की हड्डियों की ठठरियों के अलावा भेड़ों के भी कई अस्थिपंजर पड़े मिले थे । यह पक्षी बहुत अधिक दूरी से अपने शिकार की टोह लगा लेता है और इसके द्वारा मनुष्य के बच्चे तक के उठा ले जाने के जो किस्से सुनने को मिलते हैं वे एकदम गप्पें नहीं हैं ।

उकाबों की अनेक छोटी-बड़ी जातियाँ मिलती हैं । बड़ा समुद्री उकाब भी लगभग उतने ही बड़े आकार का तथा उतना ही शक्तिशाली होता है, जितना कि सुनहला उकाब । वह लगभग अपने ही वजन के मेमने तक को उड़ा ले जा सकता है ! उष्ण कटिबन्धों के निवासी छोटी दुम वाले उकाब की चोंच बड़ी जबर्दस्त होती है । कहते हैं कि वह छोटे-छोटे वानरों तक का शिकार करके अपना भरण-पोषण किया करता है । संभवतः यही हमारे पुराणों और रामायण में उल्लिखित गरुड़ पक्षी हो !

विविध जाति के उल्लू

भयावने पक्षियों की श्रेणी में उल्लू की विविध जातियों का भी उल्लेख किजा जा सकता है। यह एक निशाचर पक्षी है और हमारे देश में यह मनहूस और भयानक माना जाता है, यद्यपि हिन्दुओं द्वारा वह लक्ष्मी का वाहन स्वीकार किया गया है। मंत्र-तंत्र और जादू-टोने के लिए यह पक्षी बड़ा उपयोगी गिना जाता है और कुछ रोगों में उसके पंजे, पंख अथवा चोंच आदि के हिस्से तावीज की तरह बाँधे जाते हैं। हमारे यहाँ इस पक्षी की जो जातियाँ मिलती हैं, उनमें साधारणतः बड़ा उल्लू सर्वविदित है, जो प्रायः दिन में कहीं नदी-किनारे के पेड़ों के खोखलों में छिपा रहता है और रात को चुपके से चुहियों या छोटी-छोटी चिड़ियों के शिकार की टोह में निकलता है। इस पक्षी की आवाज बड़ी डरावनी होती है।

साधारण कौआ

आइए, अब हम अपने देश के कतिपय साधारण श्रेणी के पक्षियों का अध्ययन करें और इस सिलसिले में सब से पहले अपने चिरपरिचित कौए ही को लें।

कौए संसार के सब से सफल पक्षियों में गिने जा सकते हैं, क्योंकि बावजूद इस बात के कि इनकी रक्षा के लिए किसी देश में कानून नहीं हैं तथा इनकी आदतें इतनी गन्दी हैं, ये संसार के कोने-कोने में फैले पाए जाते हैं। अमेरिका में, जहाँ इनको नेस्तनाबूद करने के लिए निरन्तर सार्वजनिक आन्दोलन-सा चलता रहा है, इनकी संख्या प्रति वर्ष बढ़ती ही जा रही है। यह पक्षी साल के बारहों महीने बना रहता है और सुबह जो पहला शब्द हमारे कानों में पड़ता है, वह प्रायः इसी पक्षी का शब्द होता है। ये किसी को भी प्रिय नहीं लगते, फिर भी क्या छत पर और क्या दीवालों पर हर कहीं इन्हें आप मौजूद पायेंगे। इधर-उधर बिखरे हुए जूठन तथा बच्चों की फेंकी हुई खाने की चीजों को ये तुरन्त उठा ले जाते हैं। इनके खाने के लिए यदि कोई चीज छत पर फेंक दी जाय, तो ये बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे हो जाते हैं और खूब काँव-काँव मचाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ये आपस में बातचीत भी कर लेते हैं ! जो कुछ भी हो, इसमें तो सन्देह नहीं कि कम-से-कम एक-दूसरे के कर्कश स्वर के संकेतों को ये समझते खूब हैं और संकटकाल में उनके अनुसार तुरन्त ही काम भी करते हैं। इस सम्बन्ध में हमें एक घटना की याद आती है। हमारे एक रीसर्च स्कॉलर को अध्ययन के लिए कुछ कौओं की आवश्यकता थी। अतः प्रयोगशाला के चपरासी को आदेश दिया गया कि वह प्रति दिन कुछ कौए मारकर ले आए। कुछ दिनों के बाद आसपास के कौए कॉलेज के इस शिकारी को इतनी अच्छी तरह पहचान गए कि विश्वविद्यालय के हाते में घुसने के पहले ही वे उसे देखकर सतर्क हो जाते, और उसके सिर के ऊपर उड़ते हुए काँव-काँव करके हाते के अन्य कौओं को तुरन्त आनेवाली विपदा की सूचना दे देते थे ! जब कौओं का शिकार करना बन्द हो गया, तब भी कई दिनों बाद तक उनकी यह हरकत जारी रही।

खेत में पकते हुए अनाज को तो कौए ऐसा समझते हैं मानो वह इन्हीं के लिए बोया गया हो ! किन्तु वास्तव में उनके खाद्य पदार्थों की तालिका में अनाज का स्थान नगण्य-सा है। कौओं के खाद्य पदार्थों की सूची बहुत ही लम्बी है। आपको ताज्जुब होगा कि यह ढीठ पक्षी भी गलीज चीजें खाकर मेहतर का काम करने

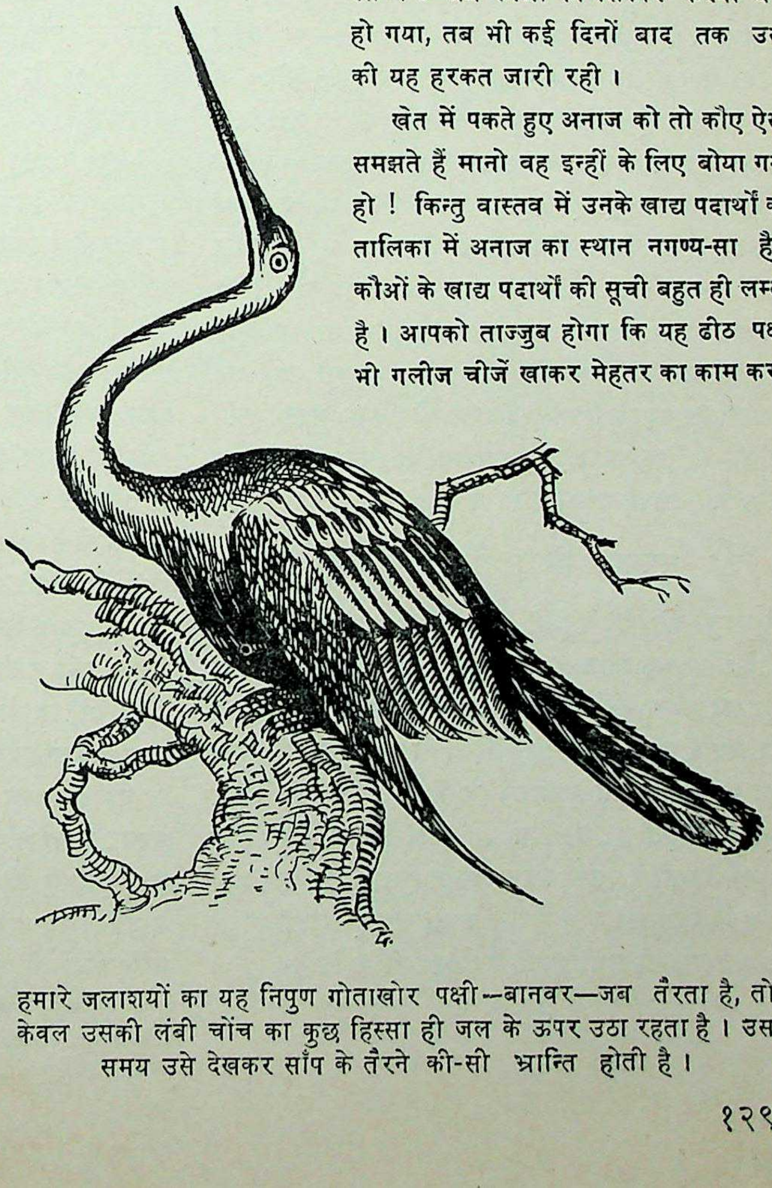

हमारे जलाशयों का यह निपुण गोताखोर पक्षी—बानवर—जब तैरता है, तो केवल उसकी लंबी चोंच का कुछ हिस्सा ही जल के ऊपर उठा रहता है। उस समय उसे देखकर साँप के तैरने की-सी भ्रान्ति होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तथा अनेक हानिकारक कीड़े-मकोड़ों को नष्ट करने के कारण हमारे लिए बड़ा उपयोगी है। जब हमारे अनाज से भरे हुए खेतों पर टिड्डी-दल उतरता है, तो ये पक्षी स्वयंसेवक सैनिकों की भाँति चील आदि के साथ टिड्डियों को नष्ट करने में कृषक की बड़ी सहायता करते हैं। अपने पंजों में टिड्डियों को पकड़कर ये हवा में उड़ जाते हैं और वहाँ उन्हें निगल जाते हैं। उनकी यह क्रिया उस वक्त तक जारी रहती है, जब तक कि उनके पेट में जरा-सी भी जगह खाली रहतो है। ये सर्वभक्षी होते हैं और एक कुशल गृहस्थ की भाँति मौसम के अनुसार जो कुछ भी लभ्य होता है, उसी पर अपना जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। खेत के अनाज की अपेक्षा कूड़े-कर्कट को कौआ अधिक पसन्द करता है-- इसी कारण इसकी गिनती गन्दे पक्षियों में होती है। इसकी चाहे जितनी देख-रेख रक्खी जाय, फिर भी यह अपनी गन्दी आदत नहीं छोड़ता। कहा ही है कि 'वायस पालिय अति अनुरागा, होइ निरामिष कबहु कि कागा?'

साधारण कौओं की दो जातियाँ होती हैं--एक घरेलू कौआ और दूसरा जंगली। घरेलू कौए की गर्दन और सीने का रंग भूरा होता है, किन्तु जंगली कौए का समूचा शरीर काला होता है। तथाकथित 'राज-कौआ' या 'भुजंगा' कौए की जाति का पक्षी नहीं होता, वह ड्रोंगो नामक वर्ग का सदस्य होता है। कद में लम्बा और फटी पूँछवाला यह शानदार पक्षी अत्यन्त निडर होता है और अपने घोंसले की रक्षा के निमित्त किसी पर भी आक्रमण करने में जरा भी नही हिचकता। यह अन्य किसी भी पक्षी से भिड़ जायगा, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। शाम को जिस वक्त अपने भोजन के लिए यह उड़ते हुए पतिंगों को पकड़ता है, उस समय की उसकी उड़ान देखने योग्य होती है।

मदमाती किन्तु आलसी कोयल

फागुन-चैत के महीनों में हम प्रायः उत्सुकतापूर्वक कोयल की कूक की प्रतीक्षा करते हैं। छोटे-छोटे बच्चे इसकी कूक की नकल करते हैं और अक्सर कोयल उनकी आवाज का जवाब भी देती है। यह चिड़िया आम की फसल के आगमन की सूचना देती है और जिन दिनों वसंत की बहार पूर्णता पर होती है, उन दिनों यह हमारे साथ रहती है। इसी कारण देहातों में इसका सर्वत्र स्वागत होता है। अगहन और माघ के कटकटाते जाड़े में यह या तो चुप हो जाती है या अन्य प्रदेशों को चली जाती है। कहा ही है कि:--

तुलसी पावस के समै, धरी कोकिला मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन।।

कोयल साधारणतः अपनी कूक द्वारा ही पहचानी जाती है। बहुत कम लोग इसके शरीर का वर्णन ठीक-ठीक कर सकते हैं। साधारणतः मिलनेवाली कोयल एक बड़े आकार की भूरे-काले रंग की चिड़िया होती है। इसकी दुम पर सफेद धब्बे और सीने पर बाज की तरह आड़ी सफेद रेखाएँ होती हैं। मादा कोयल हलके भूरे रंग की होती है और इसके शरीर पर कुछ चित्तियाँ भी होती हैं। भारत में यह बात मशहूर है कि कोयल के अण्डों को कौआ सेता है। निम्नलिखित वर्णन से प्रकट होगा कि किस प्रकार कौएत था अन्य पक्षियों को मूर्ख बनाकर कोयल अपना काम निकालती है, यद्यपि कुछ लोग इसे बहुत-कुछ अत्युक्तिपूर्ण और अनैसर्गिक भी बतलाते हैं। कोयल अपना घोंसला कभी नहीं बनाती, इस बात में यह तमाम चिड़ियों से अनोखी है। साथ ही इस चिड़िया की एक विशेषता यह भी है कि यह बहुत लंबी अवधियों के बाद ही अपने अंडे दिया करती है। कोयल के आकार को देखते हुए इसका अण्डा छोटा होता है। मादा कोयल के कई प्रणयी होते हैं, क्योंकि नर कोयल की संख्या मादा की अपेक्षा बहुत अधिक है।

अनुकूल ऋतु में कोयल के आगमन के समय तक कौए, दँहगल और इस जाति के अन्य पक्षी अपने घोंसले बनाने में व्यस्त होते हैं। उस समय यह चालाक चिड़िया सोचती है कि जब बने-बनाए घोंसले तैयार हैं, तो अपने लिए अलग से घोंसला बनाने का श्रम क्यों किया जाय? अतः मादा कोयल अपना अण्डा जमीन पर देकर एवं उसे चोंच में उठाकर कौए, दँहगल या खंजन आदि किसी पक्षी के घोंसले में (जो अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए उन्हें कीड़े-मकोड़े खिलाते हैं और जिनके अण्डे बहुत-कुछ कोयल के अण्डे सरीखे होते हैं) डाल आती है। कभी-कभी अन्य पक्षियों की दृष्टि बचाकर यह दूसरों के घोंसले ही में जाकर अण्डे दे आती है! उसे इस बात का पक्का भरोसा रहता है कि उसके नवजात बच्चे की देखरेख वहाँ सन्तोषजनक रीति से की जायगी। घोंसले में पहुँचा आने के बाद आलसी कोयल अपने बच्चे के लिए कुछ भी नहीं करती।

एक निरीक्षक लिखता है कि जब कोयल के अण्डे देने का अवसर आता है, और मादा कौआ अपने घोंसले में अण्डा दे चुकी होती है, तो सन्ध्या के झुरपुटे में नर कोयल कौओं के घोंसले पर जाकर मादा कौए से, जो रात के बसेरे के लिए अपने घोंसले में विश्राम करती होती है, अनायास ही झगड़ा मोल लेता है, और उस समय मादा कोयल पास ही आड़ में कहीं छिपी रहती है। इस बीच कौए और नर कोयल में खूब

जोर-शोर की लड़ाई होती है और इस बहाने नर कोयल कौए को घोंसले से दूर ले जाता है। उसी समय मैदान खाली होते ही चुपके से मादा कोयल तीर की भाँति कौए के घोंसले की ओर दौड़ती है और वहाँ अण्डा दे आती है। यदि अण्डा पहले ही दे दिया जाता है, तो वह उसे चोंच से उठाकर रख आती है। तदनंतर धीरे-धीरे 'कूक्, कूक्' की आवाज करती हुई वह वापस लौट जाती है, ताकि नर कोयल को सूचना मिल जाय कि काम पूरा हो गया।

ज्योंही अण्डा घोंसले के अन्दर पहुँचा नहीं, त्योंही नर कोयल अपने छद्मयुद्ध को छोड़कर अलग उड़ जाता है। उधर जल्दी-जल्दी मादा कौआ उड़कर अपने घोंसले में पहुँचती है और बिना किसी प्रकार का सन्देह किए वह घोंसले में रक्खे हुए अंडों को सेने लगती है--उसे पता भी नहीं लगने पाता कि वह अन्य किसी अंडे को आस्तीन के साँप की तरह पाल रही है। इस स्थान पर हम देखते हैं कि प्रकृति ने कोयल को छोटे आकार का अंडा देकर उसका कितना उपकार किया है। इसी कारण तो वह उसे चोंच में आसानी से उठाकर ले जा सकती है। फिर ये अंडे छोटी जाति के पक्षियों के अंडे जैसे लगते हैं, इस से पालक भ्रम में रहते हैं।

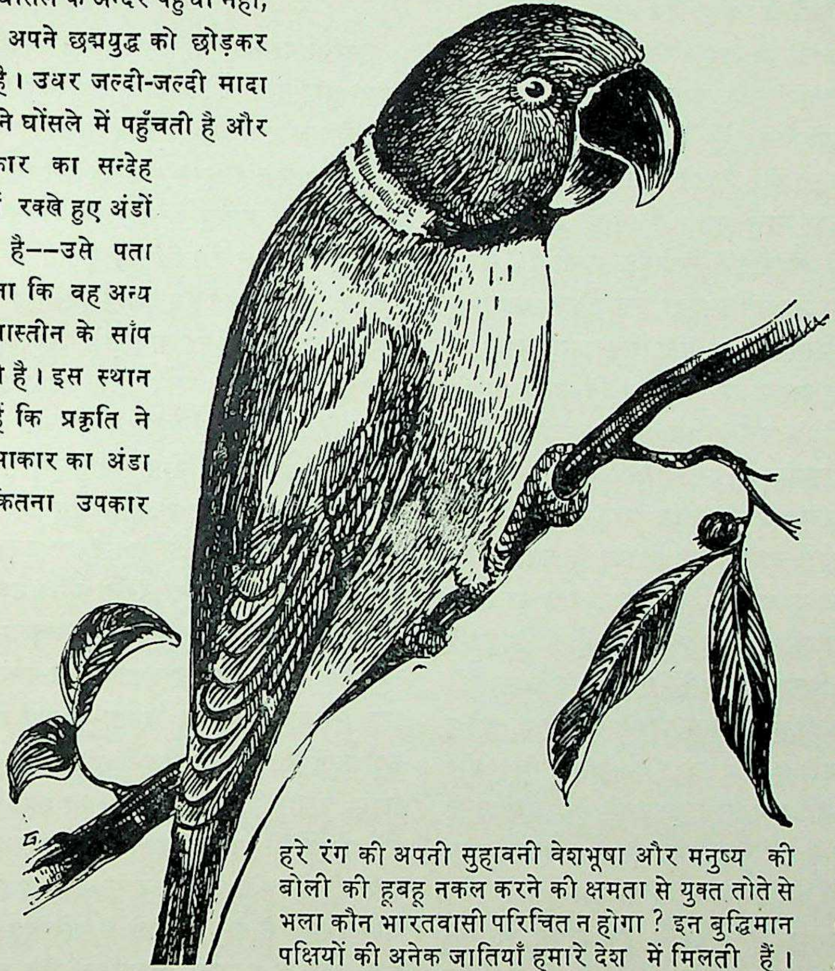

हरे रंग की अपनी सुहावनी वेशभूषा और मनुष्य की बोली की हूबहू नकल करने की क्षमता से युक्त तोते से भला कौन भारतवासी परिचित न होगा? इन बुद्धिमान पक्षियों की अनेक जातियाँ हमारे देश में मिलती हैं।

कोयल के नवजात बच्चे की करतूत

कोयल के अण्डे के बारे में एक और अद्भुत बात यह है कि अन्य बहुत-से पक्षियों के अण्डे की तुलना में इसके सेने के लिए कम समय चाहिए। अतः जिस समय अपने अण्डे को फोड़कर कोयल का बच्चा बाहर निकलता है, तो इसके इर्द-गिर्द या तो इसके पालक पक्षी के कच्चे अण्डे या अपेक्षाकृत नन्हें बच्चे ही पड़े मिलते हैं। कोयल का नवजात बच्चा काले रंग का एक अंधा कुरूप जीव होता है। पर इसकी एक अद्भुत् विशेषता यह होती है कि इसका स्पर्श-ज्ञान बहुत ही बढ़ा-चढ़ा होता है--यह घोंसले में अन्य किसी चीज के स्पर्श को बर्दाश्त नहीं कर सकता। अतएव जब कोई अण्डा या दूसरा बच्चा इसके शरीर से लगता है, तो यह क्षुब्ध होकर उसे धक्का देकर घोंसले से बाहर निकालने का हर तरह से प्रयत्न करता है। किन्तु यह नन्हा-सा जीव दूसरे बच्चों या अण्डों को घोंसले से बाहर कैसे फेंक सकता है? उसे ऐसा करने के लिए पहले तो इन अण्डों या बच्चों को उठाना पड़ेगा, फिर घोंसले की ऊँची मेंड़ को फाँदकर उन्हें बाहर फेंकना पड़ेगा! आइए, देखें किस प्रकार वह इस कार्य में सफल होता है!

कोयल का यह नवजात बच्चा पास सटे हुए अण्डे को पहले कोलकोलकर अपनी पीठ पर कन्धे के पुट्ठों के दर्मियान के गड्ढे में बिठा लेता है और अब यह घोंसले की ऊँची मेंड़ पर चढ़ना आरम्भ करता है। इस क्रिया में उसके पैर विशेष सहायक होते हैं, क्योंकि वे पेड़ पर चढ़नेवाले पक्षियों के पाँव की भाँति होते हैं। उसके पंजों की दो उँगलियाँ सामने की ओर और दो पीछे की ओर निकली होती हैं--यद्यपि बड़ा होने पर वह पेड़ों पर कभी चढ़ता नहीं, केवल फुदकता है, और बाद में उसके पंजों की तीन उँगलियाँ सामने की ओर निकली रहती हैं तथा केवल एक ही पीछे की ओर मुड़ी रह जाती है। घोंसले की मेंड़ के ऊपर पहुँचकर अपनी पीठ का बोझा वह आहिस्ते से घोंसले के बाहर लुढ़का देता है और इस भारी परिश्रम

से थककर बेदम होकर वापस घोंसले में आ रहता है। ज्योंही वह महसूस करता है कि दूसरा अण्डा या बच्चा उसके शरीर से लग रहा है, त्योंही वह पुनः इसी क्रिया को दुहराता है। उसकी यह हरकत उस वक्त तक जारी रहती है, जब तक कि घोंसला पूर्णतया अन्य अंडों या बच्चों से खाली नहीं हो जाता और उस पर अकेले उसी का अपना आधिपत्य नहीं रह जाता। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इनके पालक माता-पिता इस अद्भुत बच्चे की इस हरकत का विरोध करते नहीं जान पड़ते ! वे घोंसले के बाहर दम तोड़ते हुए अपने बच्चों तथा टूटे हुए अण्डों को अवश्य देखते होंगे, किन्तु फिर भी वे कोयल के उस बच्चे का त्याग नहीं करते ! उल्टे वे उसे भरपूर खिलाते-पिलाते हैं, और मादा कौआ उसकी फरमाइशों को निरन्तर पूरी करती रहती है, यहाँ तक कि कभी-कभी उसके लिए काफी मात्रा में उसके अत्यंत पसंद की झिंगुर जैसी चीजें भी खाने के लिए ढूँढ़ लाती है ! फलस्वरूप कोयल का वह बच्चा दिन दूना रात चौगुना बढ़ता है और शीघ्र ही अपने पालक माता-पिता जितना बड़ा हो जाता है। कुछ दिनों में वह इतना बढ़ जाता है कि उसके पालक पिता-माता को उसे खिलाने के लिए उसके कन्धों पर खड़ा होना पड़ता है ! निस्सन्देह यह एक विचित्र दृश्य होता है !

यह कोयल का बच्चा अपने पालक माता-पिता के संग उस वक्त तक ही इधर-उधर उड़ता फिरता है, जब तक कि जाड़ा आने पर अन्य उष्ण प्रदेशों को चले जाने का समय नहीं आ जाता। यह भी कम अद्भुत बात नहीं है कि यद्यपि इसके असली माता-पिता इसे कभी के छोड़कर चले गए होते हैं, फिर भी यह अकेले ही उड़कर अपने लिए ऐसा प्रदेश ढूँढ़ लेता है, जहाँ उसे सूर्य की स्वास्थ्य-प्रदायिनी धूप और खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में लभ्य हो सकते हैं ! इसी तरह अगली वसन्त ऋतु में इसे पुनः आप ही आप अपनी मातृभूमि को लौट आने की प्रेरणा भी होती है !

इस विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि हम कोयल की कूक पर मुग्ध हैं, किन्तु वास्तव में यह एक नीच प्रकृति का जीव है। वह कौवे से भी अधिक काला है ! अपनी बाल्यावस्था से ही यह दगाबाजी और हत्या-सरीखे जघन्य कामों में लग जाता है। यदि पक्षियों के संसार में अपराधियों के लिए दंड-व्यवस्था होती, तो सच ही कोयल की मुसीबत हो जाती !

पपीहा (चातक)

यह पक्षी भी वसन्त ऋतु में हमारे बीच आता है। वसन्त के आते ही हर कहीं इसकी 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की परिचित ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि वर्षाकाल में विशेष आकर्षक हो जाती है। हमारे साहित्य में इस पक्षी की वेदना-भरी पुकार विरह की आकुल व्यथा की प्रतीक-सी बन गई है और विशेषतर हमारे यहाँ के कवियों ने पग-पग पर इसकी कसक-भरी कूक की याद दिलाई है। स्थानाभाव के कारण इसके संबंध में यहाँ अधिक विवरण देने में हम असमर्थ हैं।

भारत के सब से बुद्धिमान् पक्षी—तोते और उनके भाई-बन्धु

सभी भारतवासी तोते के रंग-रूप से परिचित हैं, क्योंकि ये पक्षी घरों में प्रायः पिंजड़ों के अन्दर पाले जाते हैं। बुलबुल, शकरखोर और मैना की भाँति ये भी पालतू चिड़ियों में सर्वप्रिय हैं। ये चहचहाते खूब हैं और देखने में भी सुन्दर होते हैं। किन्तु पालतू अवस्था में ही इनके मस्तिष्क की शक्ति का आभास हमें मिलता है। ये अनेक आश्चर्यजनक बातों को दुहरा सकते हैं। यद्यपि इनका बोलना मौलिक नहीं होता, केवल सिखाई हुई बात ही ये दोहरा देते हैं, किन्तु ठीक मौके पर झटपट ठीक बात बोल उठना इनके प्रति प्रशंसा उत्पन्न किए बिना नहीं रहता। घर की वृद्धाएँ प्रायः इन्हें 'राम-राम', 'पढ़ो बेटे सीताराम', 'हम भूखे हैं' आदि वाक्य रटा देती हैं। करीब २० वर्ष हुए बनारस के एक धनी सज्जन ने वरुणा नदी के किनारे पर अपनी कोठी के बगीचे में बहुत-सी चिड़ियाँ पाल रक्खी थीं। उनके प्रवेश-द्वार के ठीक बगल में तोते, सुग्गे और काकातुआ का कठघरा था। ज्योंही कोई आगन्तुक इस कठघरे के समीप फाटक से गुजरता, एक सुग्गा चिल्ला उठता—'यहाँ आओ, यहाँ आओ, कहाँ जाते हो ?' आगन्तुक बेचारा हैरान होकर इधर-उधर देखने लगता कि यह मानव-स्वर कहाँ से सुनाई पड़ रहा है ! तोतों को पालतू बनाना बड़ा सरल है। ये मनुष्यों से खूब हिलमिल जाते हैं, फलस्वरूप इनके तरह-तरह के भाव-प्रदर्शन से हम आसानी से परिचित हो जाते हैं। इन्हें तरह-तरह के सरकसी खिलाड़ियों जैसे करतब भी सिखाए जा सकते हैं, जिन्हें ये खूबी के साथ प्रदर्शित करते हैं।

इन्हें पिंजड़े में अपने अड्डे पर बैठे हुए ध्यानपूर्वक देखिए, किस नजाकत के साथ ये अपने नन्हें पंजों में केला या मूँगफली लेकर उसे चोंच के पास ले जाते हैं, ताकि उसे कतर सकें ! यदि आप अपने पालतू सुग्गे के पैरों को देखें, तो पाएँगे कि उसके पंजे के दो नाखून आगे की ओर निकले हैं और दो पीछे की ओर। पैर की इस बनावट की मदद से ही यह पक्षी आम, अमरूद आदि की फाँक या रोटी के टुकड़े को इतनी

सफाई के साथ पकड़ पाता है तथा इसी कारण यह इतनी खूबी के साथ चाहे जहाँ चढ़ जाता है।

एक मल्लाह के पालतू तोते के बारे में एक रोचक कहानी हमने सुनी है। यह मल्लाह कलकत्ते में हुगली नदी पर लोगों को इस पार से उस पार नाव द्वारा पहुँचाया करता था। एक दिन उसका पालतू तोता नदी में गिर गया। वह नदी की धारा में बहा चला जा रहा था और चिल्लाता जा रहा था--'बीस रुपये नाव के लिए', 'बीस रुपये नाव के लिए'! किनारे पर एक मल्लाह के कानों में यह आवाज गई, तो तुरन्त वह नदी में कूद पड़ा। जब उसने तोते को बचाकर उसके स्वामी के यहाँ पहुँचा दिया, तो इनाम के बीस रुपए माँगे। पहले तो उसके स्वामी ने इधर-उधर का बहाना बताया, फिर बड़ी तकरार के बाद तय पाया कि तोता ही इस झगड़े को निबटाए। इस पर तोता आँखें मींचते हुए चिल्ला उठा-- 'इस बदमाश को एक चवन्नी दो!' और उसका प्राण-रक्षक बेचारा खिसियाकर केवल चवन्नी ही लेकर चलता बना!

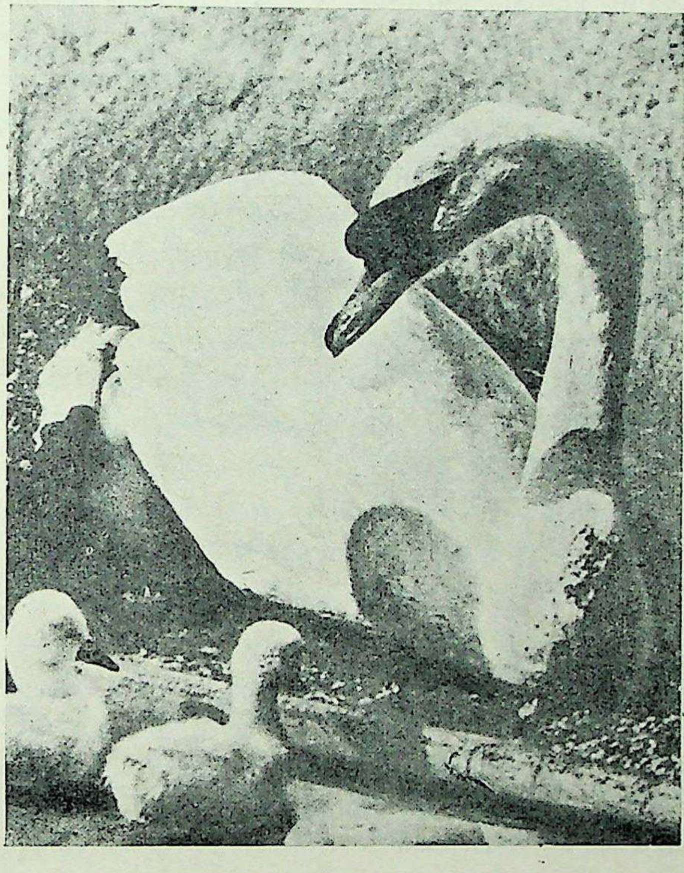

हमारे देश का सब से प्रसिद्ध जलपक्षी हंस जिसके वर्णन से भारतीय साहित्य के कितने ही पृष्ठ भरे पड़े हैं।

तोता-परिवार के अनेक रंग-बिरंगे पक्षी भारत से बाहर भी पाए जाते हैं। इनमें जावा-सुमात्रा के जंगलों का रंग-बिरंगा तथा सफेद 'काकातुआ' सब से प्रसिद्ध है। किसी भी अच्छे चिड़ियाघर में यह देखा जा सकता है।

पक्षी-संसार का सब से कुशल कारीगर--बया

प्राणियों के कला-कौशल और गृह-निर्माण की खूबियों के बारे में विस्तार के साथ तो आप को इस ग्रंथ के अगले किसी खंड में पढ़ने को मिलेगा! यहाँ प्रसंगवश प्राणी-जगत् के कारीगरों में से एक उल्लेखनीय पक्षी बया का परिचय हम देने जा रहे हैं। इस चिड़िया और इसके बोतल सरीखे अद्भुत घोंसले से गाँवों के सभी लोग परिचित हैं। यह पक्षी हमारे देश में प्रत्येक प्रान्त में मिलता है। उसके परों का रंग मटमैला होता है। बड़ा होने पर नर के वक्षःस्थल के पर पीला रंग धारण कर लेते हैं। इसके पंजे बड़े और नाखून पैने होते हैं। बया अक्सर झाड़ियों में फुदकता रहता है और एक ही स्थान पर बसेरा लेता है। ये पक्षी सभी प्रकार के अनाज खा लेते हैं। इन्हें तोते से भी बढ़िया बातें लोग सिखा लेते हैं। लोग इन्हें दिखाकर कुएँ में अँगूठी गिराते हैं, और ये उसके पीछे इतनी फुर्ती के साथ झपटते हैं कि उसे बीच रास्ते में ही चोंच से पकड़कर बाहर निकाल ले आते हैं, अँगूठी पानी तक नहीं पहुँचने पाती! सिखाने पर बया माथे की टिकली भी उतार लेता है और चोंच में मिश्री की डली लेकर दूसरों के मुँह में रख आता है! यह छोटी-सी तोप में बारूद भरकर उसे दागता भी है! चोंच में दबाकर यह बनेठी भी फेर लेता है! इस प्रकार यह छोटा-सा पक्षी बड़े अद्भुत करतब दिखला सकता है। परन्तु हम भारतवासी बया की उक्त करतूतों की अपेक्षा उसके घोंसले से अधिक परिचित हैं, जो बबूल, ताड़, आदि वृक्षों की डालियों से बोतलों की तरह लटकते हुए गाँवों में प्रायः दिखलाई पड़ते हैं। यह गौरैया की-सी छोटी और चालाक चिड़िया अपने घोंसले अक्सर उन खेतों के करीब बनाती है जहाँ से उसे अनाज के दाने आसानी से खाने को मिल जाँय। पूर्वी लंका में तो कहीं-कहीं पर इनके सैकड़ों घोंसले एक ही जगह पर निर्मित दृष्टिगोचर होते हैं। घोंसला शुरू करने के लिए ये चिड़ियाँ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लम्बी घास के तिन्के , धान के लम्बे पत्ते ताड़ के चीरे हुए पत्ते अथवा नारियल की जटा लाकर किसी पतली डाल या पत्ते पर पटवा की तरह गुह कर एक जगह से लटका देती है; फिर और कई पत्ते या जटा उसमें लगा-लगाकर नीचे की ओर उसे बढ़ा और फुला देती है । तदनंतर नीचे की ओर एक लम्बी सूराखदार गर्दन बनाकर वे इस घोंसले को पूर्ण कर देती हैं । यही सूराख अन्दर जाने का मार्ग होता है । घोंसले के भीतर फूले हुए हिस्से में खटोले के सदृश एक सीधा पर्दा बना रहता है । इस पर्दे के एक ओर आने-जाने वाला रास्ता रहता है । अंडे और बच्चे इसी भीतरी कोठरी या खटोले पर रहते हैं । हवा के झोंके से घोंसला हिलने से अंडे और बच्चे सूराख से गिर न जायँ, इस लिए वे सूराख की तरफ पर्दे के किनारे को छज्जे की तरह ऊँचा कर देती है । किसी ने सच कहा है कि "बया का घोंसला और आदमी का घर एकसाँ होता है ।" घर बनाने में नर और मादा दोनों ही परिश्रम करते हैं । अधबने घोंसले में एक चिड़िया भीतर रहती है और एक उसके बाहर । बाहर वाली चिड़िया तिनकों के छोर को भीतर वाली चिड़िया को और भीतरवाली बाहरवाली को पकड़ा-पकड़ा कर खींचकर कसती जाती है ।

बया के विषय में हमारे देश में बहुत-सी मनोरंजक किम्वदन्तियाँ प्रचलित है, जिनमें सब से मशहूर बया और बंदर की कहानी है ।

हंस

अन्त में इस देश के सब से मशहूर जलपक्षी 'हंस' के रोचक वर्णन के साथ हम इस लंबे लेख को समाप्त करना चाहते हैं । जब हम हंस को अपने पंखों को आधा ऊपर उठाए, गर्दन को अदा के साथ मोड़े तथा दुम को तानकर सीधी खड़ी किए बड़े इतमीनान के साथ पानी में शान्तिपूर्वक तैरते देखते हैं, तो हम उल्लसित हुए बिना नहीं रह सकते । हमारा साहित्य तो पग-पग पर हंस की महिमा के बखान से भरा पड़ा है ।

हंस की कई उपजातियाँ हैं, किन्तु उनमें राजहंस अधिक प्रसिद्ध है--यह हंस की सब से बड़े आकार की जाति है । इसका आदि निवासस्थान हिमालय का मानसरोवर झील माना जाता है । हंस एक निर्भीक तथा रोमाञ्चप्रिय पक्षी है । यह एक ऊँचे दर्जे का प्रेमी, साथ ही ऊँचे दर्जे का घृणा करनेवाला प्राणी है । नर-हंस की कई पत्नियाँ होती हैं। ये जीव स्वभाव से बड़े भावुक होते हैं । मादा अपने बच्चों को जल्दी नहीं छोड़ती । हाँ, नर अक्सर उन्हें छोड़कर इधर-उधर सैर-सपाटे के लिए चला जाया करता है । किन्तु संकट सामने आने पर अपनी पत्नी और बच्चों की रक्षा करने में यह पक्षी पूर्ण भावावेश और निर्भीकता से काम लेता है । हंस अत्यन्त ही बुद्धिमान और आदर्श शिशुपालक होता है, जैसा कि इस बात से प्रकट है कि अपने बच्चों को मादा उस वक्त तक सोने नहीं देती, जब तक कि उनके भीगे हुए पर अच्छी तरह सूख न जायँ । इनका अपनी पीठ पर बच्चों को ले जाते समय का दृश्य कितना सुन्दर दिखाई देता है ! उधर जल में कूदने की प्राथमिक शिक्षा देने के निमित्त बच्चों की टाँग को पकड़कर ऊपर उठाए रखना निस्सन्देह उनकी प्रकाण्ड बुद्धिमत्ता का द्योतक है । ये निरामिषभोजी होते हैं और संयम की दृष्टि से इनका जीवन आदर्श माना जा सकता है ।

ये बड़े दीर्घजीवी पक्षी हैं ! इनकी भी आयु उकाब की तरह लंबी होती है । भारतीय साहित्य में यह प्रसिद्ध है कि यदि हंस को ऐसा दूध पीने को दिया जाय, जिसमें पानी मिला हो, तो यह दूध से पानी अलग करके केवल दूध-दूध पी लेता है और पानी को अछूता ही बर्तन में छोड़ देता है ! अनेक पाठकों ने निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ी होंगीः–

न्याय में हंसनि ज्यों विलगावहु,
दूध को दूध औ पानी को पानी ।

किन्तु जीव-विज्ञान के अध्ययन में इस पक्षी के इस अनोखे गुण का पता हमें अब तक नहीं मिला है ।

गानेवाले पक्षी

भारतीय पक्षियों में एक मुख्य कमी यह नजर आती है कि इनमें से बहुत कम को गाने की कला में वैसी निपुणता प्राप्त है, जैसी विदेशों के अन्य कई पक्षियों को । यह सही है कि भारत में भी श्यामा, दँहगल, मछमरनी, शकरखोर, भीमराज, बुलबुल सरीखी गानेवाली चिड़ियाँ हैं, किन्तु ये उस हद तक गहरा प्रभाव नहीं डालतीं, जैसे कि अन्य देशों के गायक पक्षी, उदाहरणार्थ योरपीय लार्क या चंडूल और ईरानी बुलबुल । इसका कारण कदाचित् यह है कि भारत में योरप के वसन्तकाल की-सी समाँ नहीं आती और न हमारे यहाँ जाड़े की ऋतु ही उतनी निष्प्राण और मनहूस होती है, जितनी कि योरप की घोर सरदी की लंबी ऋतु । यहाँ के प्रमुख गायक पक्षियों में कोयल और पपीहे का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं । अन्य उल्लेखनीय नाम ये हैं--'अगिन चंडूल', 'श्यामा', 'मछमरनी', 'शकरखोर', 'दबक चिरई', 'मैना', 'बुलबुल', 'दँहगल' 'पिद्दा', और 'काला पपीहा' ।

पक्षियों का संसार—(५)

पखेरुओं की अद्भुत जीवन-लीला

समस्त जन्तु-जगत् में पक्षियों की जीवन-लीला से अधिक मनोरम झाँकी हमें कदाचित् ही दूसरी मिल सकती है । उनकी प्रणय-लीला, गृह-निर्माण-कला (घोंसला बनाना), अंडों की देखभाल, बच्चों का पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा, आदि सभी बातें ऐसी हैं, जो हमें अचंभे में डाल देती हैं । इस संबंध में अधिक प्रकाश तो आगे के किसी खंड में जन्तुओं के जीवन-चक्र के विविध पहलुओं का विवेचन करते समय हम डालेंगे, फिलहाल यहाँ कुछ दिलचस्प बातें इन परदार प्राणियों के जीवन के बारे में बता रहे हैं ।

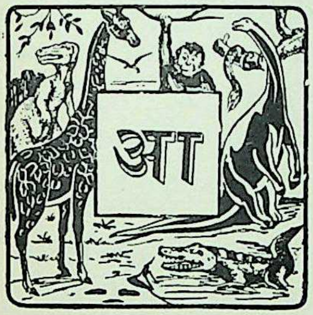

आइए, अब पक्षियों के जीवन के कुछ दिलचस्प पहलुओं पर दृष्टि डालें । आपने पक्षियों के घोंसले अवश्य देखे होंगे, साथ ही उनके अन्दर के स्थिर या झूलनेवाले पालने को, जिसमें वे अपने बहुमूल्य अण्डे रखते हैं, देखकर आश्चर्य भी किया होगा। वस्तुतः पक्षी के घोंसले से अधिक मनमोहक अन्य शिशुगृह नहीं मिल सकता । ये घोंसले कितने साफ-सुथरे और सुन्दर होते हैं ! प्रायः ये घोंसले उन्हीं चीजों से तैयार किए जाते हैं, जो पास-पड़ोस में लभ्य होती हैं। इसका कभी-कभी विचित्र नतीजा निकलता है। सम्भवतः आपने उस चिड़िया के बारे में सुना होगा, जिसने एक गिर्जाघर के समीप, जिसमें थोड़े ही दिन हुए एक नव-दम्पति का विवाह हुआ था, अपने घोंसले का निर्माण किया था ! उसने नजदीक ही जमीन पर पड़े हुए कागज के अनेक रंग-बिरंगे टुकड़ों को उठाकर उन्हीं से अपना घोंसला बना लिया था ! वह बेचारी कभी समझ ही न सकी कि उस साल लोगों ने जब उसके घोंसले को देखा, तो क्यों वे सब देर तक उसे घूरते रहे थे !

पक्षियों के घोंसले इस बात को साबित करते हैं कि अन्य पशुओं की भाँति पक्षी भी अपनी सन्तान की हद दर्जे की परवा और रखवाली करते हैं । बिना हाथों की मदद के, किसी औजार के बिना, केवल अपनी चोंच की सहायता से बया के घोंसले का-सा पालनेनुमा या झूलनेवाले शिशुगृह ये कैसे तैयार कर लेते हैं ? किन्तु सभी पक्षी अपने शिशुगृहों के निर्माण में समान मात्रा में परिश्रम नहीं करते और न अंडों की एक-सी परवा करते हैं । समुद्र के पक्षी दुर्गम और निर्जन चट्टानों पर अण्डे देते हैं। वे घोंसले के निर्माण में अपनी शक्ति व्यर्थ नहीं खोते और न एक साथ ढेर-से अण्डे ही वे देते हैं । पेन्गुइन, पफिन, आँक, पेट्रल तथा समुद्र-तट की चट्टानों पर रहनेवाले अन्य पक्षी एक बार में एक ही अण्डा देते हैं और उसे भी वे खुले हुए स्थान पर छोड़ देते हैं । ऐसा करना ठीक भी है, क्योंकि शायद ही कभी कोई इनके बच्चों को हानि पहुँचाता हो । एक प्रकार के जलपक्षी ग्रेब का घोंसला सूखे हुए नरकुल का बना हुआ एक छोटा-सा बेड़ा होता है, जो पानी पर तैरा करता है ! इस बेड़े का मध्य भाग गहरा बना होता है, जिसमें अण्डे रखे जा सकते हैं ।

अंडों की विशिष्ट आकृति और रंग का रहस्य

जब आप किसी घोंसले में झाँककर उसमें रखे हुए अंडों को देखते हैं, तो क्या उन्हें देखकर आपको इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि वे इस प्रकार रंग-बिरंगे और चित्रित क्यों होते हैं, एवं क्यों वे एक सिरे पर ज्यादा तथा दूसरे सिरे पर कम चौड़े होते हैं ? अंडे की आकृति से ही 'अण्डाकार' शब्द बना है और उसके इस तरह रंग-बिरंगा होने तथा उसकी विशेष आकृति का भी विशिष्ट कारण है ।

पक्षियों के अंडे यदि पूर्णतया गोल होते, तो वे घोंसले के अन्दर उतनी अच्छी तरह से नहीं समा सकते थे, जितने अंडा-

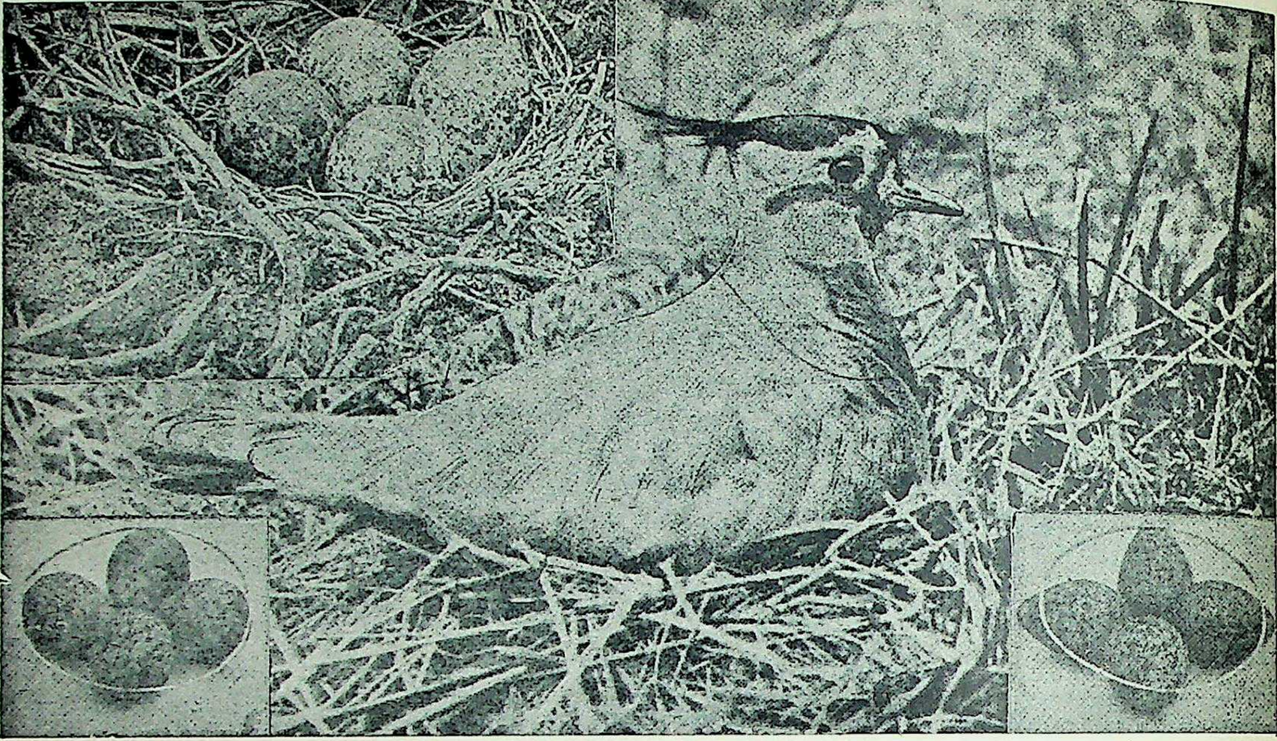

प्रस्तुत चित्र में 'लैपविंग' नामक पक्षी की मादा अपने सुखद घोंसले में अंडों पर बैठकर उन्हें सेते हुए दिखाई दे रही है। चित्र में बाईं ओर न्यूनतम जगह में सँजोकर रखे गए अण्डे दिग्दर्शित हैं। उनका सँकरा सिरा भीतर की ओर है। दाहिनी ओर वही चारों अंडे इस प्रकार रखकर दिखाए गए हैं कि उनका चौड़ा सिरा भीतर की ओर रहे। स्पष्टतः वे ज्यादा जगह घेरे हैं।

कार होने पर। उस हालत में वे अधिक जगह घेरते। यदि किसी ऐसे घोंसले को आप देखें, जिसमें बहुत-से अंडे हों, तो आप देखेंगे कि मादा पक्षी उन्हें इस प्रकार सँजोकर रखती है कि उन सब का सँकरा सिरा बीच के केन्द्र की ओर अभिमुख रहता है। इस तरह सँजोने पर वे न्यूनतम जगह घेरते हैं और मादा उन पर बैठकर सब को एक साथ से सकती है। ऊँची चट्टानों पर पाए जानेवाले, कबूतर जैसे कतिपय पक्षियों के अंडे एक सिरे पर दूसरे सिरे की अपेक्षा बहुत सँकरे होते हैं। ऐसा क्यों? स्पष्ट है कि चूँकि इन पक्षियों को अपने अंडे खुली चट्टानों की कोर पर नितांत अरक्षित अवस्था में रखने पड़ते हैं, अतः यदि तेज हवा के झोंके आएँ तो गोल अंडे अवश्य लुढ़ककर दूर जा गिरेंगे। किन्तु इस विशेष आकृति के होने के कारण ये अंडे हवा के झोंके में उसी स्थान पर वृत्ताकार परिधि में पतले सिरे के बल लुढ़ककर घूमते रहेंगे और इस तरह नीचे गिरने से बच जाएँगे।

किन्तु कौड़िल्ला जैसे कुछ पक्षियों के अंडे गेंद की भाँति पूर्णतया गोल आकृति के भी होते हैं। ऐसा क्यों? मशहूर है कि कौड़िल्ला अपने अंडे एक सुरंग या खोह के अन्दर सुरक्षित रूप से रखता है, जहाँ न हवा-तूफान के मारे उनके लुढ़क जाने का डर और न जगह की कमी का ही प्रश्न रहता है। अतः ऐसे पक्षियों के अंडे, जो उन्हें खोह या कन्दराओं में या ऐसी चौरस जमीन पर रखते हैं जहाँ इनके लुढ़ककर नीचे गिरने का डर नहीं, गेंद के सदृश गोल होते हैं।

अंडों के रंग की योजना भी प्रकृति ने उनकी रक्षा के ही निमित्त की है। युद्ध के दिनों में हम प्रायः "कैमूफ्लेज" अर्थात् विशेष छद्म-साधन द्वारा अस्त्र-शस्त्र आदि को छिपाने की कला के बारे में सुना करते थे। प्रायः जहाज, टैङ्क और लारियों पर इस प्रकार धब्बेदार रंग चढ़ाए जाते थे और चित्र बना दिए जाते थे कि दूर से देखने पर वे आसपास की चीजों के रंग से मेल खा जायँ और उन्हें कोई पहचान न सके। ठीक इसी प्रकार प्रकृति भी पखेरुओं के अंडों को शत्रुओं की निगाह से छिपाने के लिए उन पर भिन्न-भिन्न रंग और धब्बे चित्रित करके उनकी रक्षा का प्रबंध करती है। उन पक्षियों के अंडे, जिन्हें वे खोह-कन्दराओं या सुरक्षित घोंसले में रखते हैं (जैसे उल्लू या कौड़िल्ला आदि), प्रायः सफेद रंग के होते हैं, क्योंकि इन पर शत्रु की नजर नहीं पड़ सकती। यही हाल उन पक्षियों का भी है, जो अपने अंडे दुर्गम स्थानों में रखते हैं अथवा उनकी रक्षा का सामर्थ्य रखते हैं।

अपने घोंसले जमीन पर बनानेवाले पक्षियों के अंडे रंग में पास-पड़ोस की चीजों से मेल खाते हुए होते हैं। छल्लेदार प्लोवर नामक पक्षी तथा समुद्र-तट पर पाए जानेवाले अन्य कुछ पक्षी ऐसे अंडे देते हैं, जिनका रंग समुद्र-तट की भूमि के रंग से मेल खाता है। समुद्रतट के कंकड़ या बालू के कणों की भाँति इन अंडों पर भी चितकबरे रंग चढ़े रहते हैं। इनको देख सकना इतना कठिन होता है कि अक्सर पैरों से रौंदे जाने पर ही उनका पता लगता है। जिन पक्षियों के घोंसले वृक्षों की टहनियों पर होते हैं, जहाँ कि धूप-छाँह झिलमिलाया करती है, उनके अंडों पर काले और बीच-बीच में सफेद धब्बे होते हैं ताकि वे आसानी से न देखे जा सकें। ये धब्बे परिस्थिति के अनुसार बादामी-भूरे, हरे या आसमानी किसी भी रंग के हो सकते हैं।

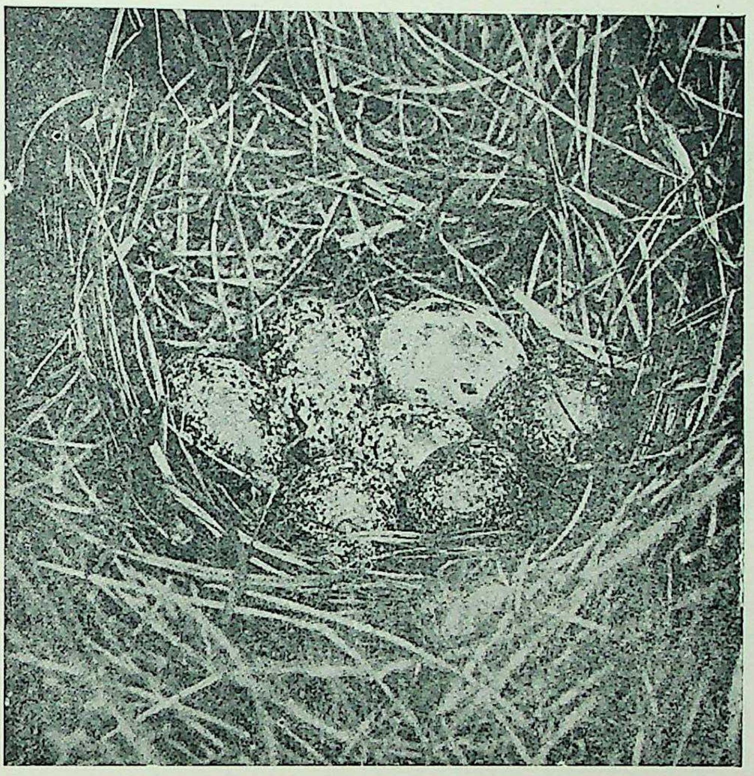

देखिए, घोंसले में अण्डे किस प्रकार न्यूनतम जगह में विशेष प्रकार से सँजोकर रखे गए हैं, साथ ही शत्रुओं की कुदृष्टि से बचाने के लिए प्रकृति ने उन्हें चितकबरा बनाकर किस प्रकार आसपास के घास-पात में छिपा-सा दिया है!

चिड़ियों के बच्चों की प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा

बच्चों के अंडों से बाहर निकलने पर उनके माता-पिता को उनका भोजन जुटाने और उन्हें खिलाने-पिलाने में अत्यधिक व्यस्त रहना पड़ता है। दिन-प्रति-दिन दूर-दूर तक उड़कर उन्हें सैकड़ों यात्राएँ केवल इसीलिए करना पड़ती हैं कि अपने भूखे बच्चों के लिए अनाज के दाने, बीज, मक्खियाँ, इल्लियाँ तथा कीड़े-मकोड़े वे जुटा सकें। ये कीड़े-मकोड़े हजारों की संख्या में इन बच्चों की क्षुधा-निवृत्ति के लिए पकड़कर लाए जाते हैं। नन्हें-नन्हें बच्चों की चोंच का चटकीला लाल या पीला रंग शीघ्रता से बच्चे के मुंह में यथास्थान खाद्य रख देने में मादा को बड़ी सहायता देता है। उसे चुगाकर मादा भोजन-सामग्री की खोज में पुनः उड़ जाती है। उसके पास इतना समय नहीं होता कि बच्चों को खिलाने में आवश्यकता से अधिक समय व्यय करे।

किसी भी पक्षी के बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा का अवलोकन निस्संदेह एक अत्यन्त चित्ताकर्षक कार्य है। तमाम जीवधारियों में मनुष्य की ही बाल्यावस्था सब से लम्बी होती है। कहते हैं कि जिराफ का बच्चा जन्म लेने के बीस ही मिनट के उपरान्त अपने पाँवों पर खड़ा हो जाता है और २४ घंटे के अन्दर तो वह दौड़ लगाने लगता है तथा तीन हफ्ते के भीतर नन्हीं-नन्हीं दूब कुतरने लग जाता है। हाथी के बच्चे तो जनमते ही अपनी माँ के संग घूमने-फिरने लग जाते हैं। किन्तु चिड़ियों को समस्त ग्रीष्म-ऋतु भर अपने बच्चों का पालन-पोषण तथा उन्हें स्वतंत्र बनने की शिक्षा देनी पड़ती है, ताकि ग्रीष्म बीत जाने पर सफलतापूर्वक वे जाड़े का सामना कर सकें एवं आवश्यकतानुसार लम्बी यात्राओं पर भी जा सकें। ज्यों ही बच्चों ने अपने प्रारम्भिक दिनों को पार कर लिया और उनके इतने पंख उग आए, जिनसे वे इधर-उधर फुदक सकें, त्योंही उनकी शिक्षा-दीक्षा का कार्य आरंभ हो जाता है। अब उन्हें अपने घोंसले से, जहाँ वे अब तक पूर्ण रूप से सुरक्षित थे तथा भरपेट भोजन पाते थे, बाहर की दुनिया में आना पड़ता है और स्वयं अपनी देखरेख करना सीखना पड़ता है। सब से पहले उन्हें उड़ना सीखना होता है। गौरय्या जैसे कुछ पक्षी तो अपने बच्चों को उड़ना सिखाने में व्यर्थ समय नष्ट नहीं करते। वे अपने बच्चों को घोंसले के अन्दर से मानो जबरन बाहर धकेल देते हैं; और वे बच्चे भी, इस डर से कि नीचे जमीन पर न

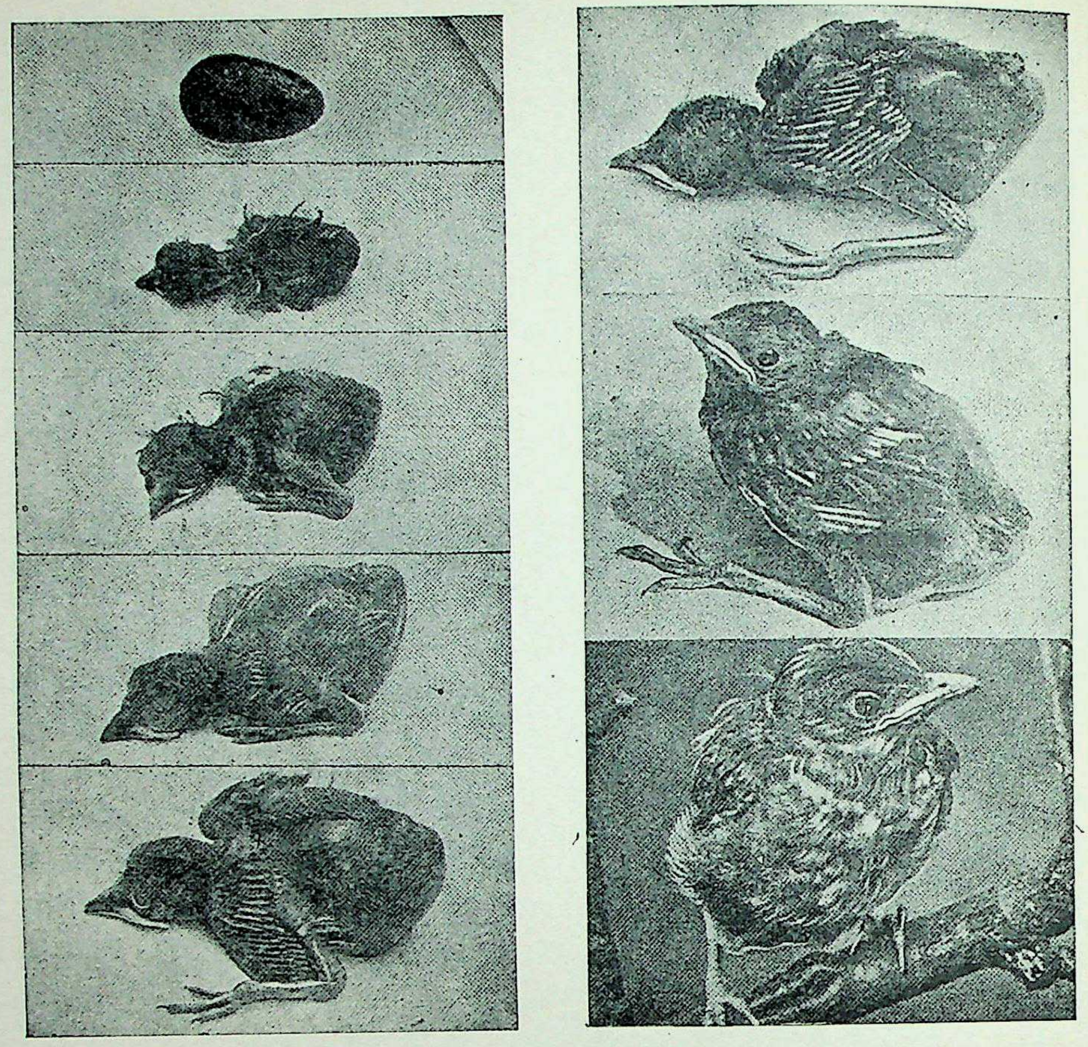

अंडा

पहला दिन

तीसरा दिन

पाँचवाँ दिन

सातवाँ दिन

नवाँ दिन

ग्यारहवाँ दिन

चौदहवाँ दिन

अंडे से निकलकर पक्षी किस प्रकार और कितनी जल्दी बढ़कर उड़ने लायक हो जाता है, यह प्रस्तुत चित्रावली में 'ब्लेकबर्ड' नामक चिड़िया के बच्चे के विकासक्रम के दिग्दर्शन द्वारा समझाया गया है। अंडे को फोड़कर बाहर निकलने के १४ दिन बाद ही इस पक्षी का असमर्थ शिशु पंख पाकर वृक्ष की डाल पर फुदकने और उड़ने लगता है !

गिर जाएँ, अपनी सहज नैसर्गिक प्रवृत्ति के अनुसार तत्काल पंख फैलाकर उन्हें फड़फड़ाने लगते हैं ! प्रायः मादा पक्षी उन्हें किसी ऊँचे ठौर पर ले जाती है, और वही क्रिया उनसे फिर से दोहरवाती है। इस प्रकार बच्चे जमीन पर से अपने घोंसले तक कई बार छोटी उड़ानें भरकर अपने मन में आत्मविश्वास पैदा कर लेते हैं और यह जानकर कि हमें उड़ना आ गया, वे बड़े खुश होते हैं।

परन्तु कुछ पक्षियों के बच्चों को इस प्रकार सीख देने में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। प्रायः मादा बच्चे के सामने अपने पंखों को फड़फड़ाकर एक टहनी से दूसरी टहनी पर उड़कर जाती है। वह फिर वापस लौटती है, और अपने बच्चों को वैसा ही करने के लिए उत्साहित करती है। पहले एक बच्चा कोशिश करता है, फिर दूसरा। इस प्रकार सभी आसानी के साथ माँ की तरह उड़ने लग जाते हैं। वे उसके साथ सटे-सटे रहकर फुदकते और इधर-उधर उड़ने लगते हैं। जब माँ उन्हें बुलाती है, या खाना खाने के लिए पुकारती है, अथवा किसी खतरे से उन्हें आगाह करती है, तो उसकी आवाज सुनकर वे फौरन् उड़कर उसके पास पहुँच जाते हैं। यदि कोई बच्चा औसत से अधिक मूर्ख या हठी होता है, तो वह शीघ्र ही अपनी जान भी खो बैठता है। वस्तुतः केवल सतर्क, हृष्ट-पुष्ट तथा आज्ञाकारी बच्चे ही जीवन-यात्रा में आगे बढ़ पाते हैं।

नन्हें बच्चों को उड़ने के अतिरिक्त और भी कितनी ही बातें सिखलाई जाती हैं। कौड़िल्ला अपने बच्चों को पानी में डुबकी लगाकर मछलियाँ पकड़ना सिखाता है। तरह-तरह के जलपक्षी अपने बच्चों को तैरना सिखाते हैं। 'आइडर डक'

नामक एक जाति की बत्तख तो अपने बच्चों को तैरना सिखलाने के लिए बड़े ही विचित्र तरीके से काम लेती है। वह बच्चों को पीठ पर लिए हुए तैरते-तैरते पानी की सतह के बीच अकस्मात् डुबकी लगाती है और इस प्रकार जब तमाम बच्चे पानी की सतह पर छूट जाते हैं, तब विवश होकर उन्हें तैरना ही पड़ता है! उस समय वे बेचारे टाँगों को डाँड़ों की तरह डुलाते हुए अपने को किसी-न-किसी तरह डूबने से बचाते हैं! परन्तु घबराहट के साथ ही यह देखकर उन्हें प्रसन्नता भी होती है कि माँ की तरह वे भी अब सफलतापूर्वक तैरने लगे।

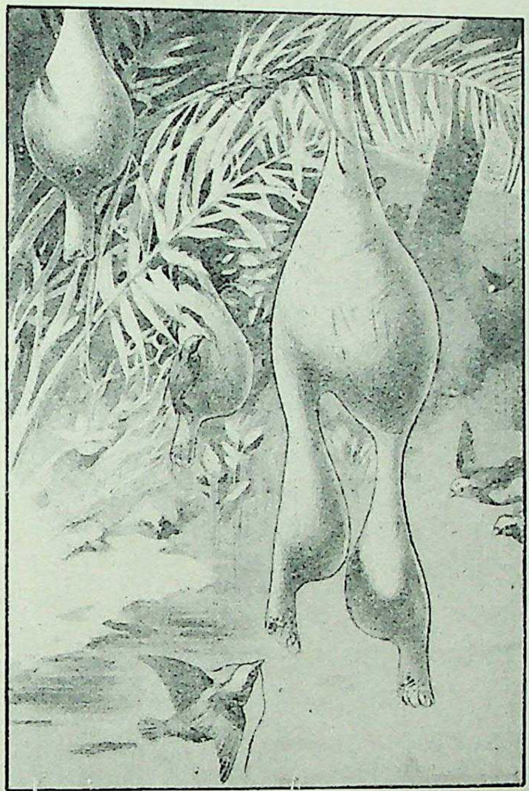

बया नामक पक्षी के कलापूर्ण घोंसले की झाँकी। ये घोंसले हमारे देश के वनों में वृक्षों की डालियों पर प्रायः लटकते दिखाई देते हैं। विशेष विवरण के लिए पृष्ठ १२९५ का मैटर देखिए।

पक्षियों की अद्भुत गृह-निर्माण-कला

सारी प्राकृतिक दुनिया में पक्षियों की दस्तकारी से अधिक प्रशंसा के योग्य कदाचित् ही कोई और वस्तु हो! चिड़ियों के भाँति-भाँति के घोंसले आप सभी ने देखे होंगे। उनसे हमें इन परदार प्राणियों की अद्भुत कारीगरी का ही पता नहीं चलता, बल्कि यह भी ज्ञात होता है कि ये अपने अंडों और बच्चों की देखरेख के प्रति कितने सचेत रहते हैं। प्रायः हम अपने बगीचों में चिड़ियों को अपने चारों ओर के घास-फूस, तिनके, रुई, डोरे, ऊन आदि को ले जाते हुए देखते हैं। इन्हीं वस्तुओं को आपस में फँसाकर वे उचित जगह पर घोंसला बनाती हैं। घोंसला तैयार करते समय उन्हें इस बात का ध्यान रहता है कि मोटी और खुरखुरी सामग्री बाहर की ओर लगाएँ तथा नर्म और गरमी पहुँचानेवाली वस्तुओं की तह भीतर की ओर रहे। इस संबंध में हमारे देश का बया नामक पक्षी निश्चय ही गृह-निर्माण की प्रतियोगिता में स्वर्णपदक प्राप्त कर सकता है। इस चिड़िया के घोंसले बनाने के अद्भुत कौशल का परिचय पृ० १२९५ पर हम दे ही चुके हैं। उसके अनूठे घोंसले का चित्र इसी पृष्ठ पर दिग्दर्शित है।

चिड़ियों के घोंसले बहुत तरह के होते हैं, लेकिन सब से विचित्र घोंसले शायद वे हैं, जो 'स्विफ्ट' नामक चिड़ियाँ बनाती हैं। ये घोंसले खाये जाते हैं! प्याले-जैसे ये छिछले घोंसले गुफाओं की दीवालों में, जहाँ वे चिड़ियाँ रहती हैं, चिपके रहते हैं। वे करीब-करीब उक्त चिड़िया के थूक के ही बने होते हैं, जो हवा से सूखकर कड़ा हो जाता है। चीन के शौकीन लोग इन घोंसलों के शोरबे को बड़े स्वाद से खाते हैं और वहाँ इनकी बड़ी माँग रहती है। दक्षिणी अफ्रीका का टिट् नामक पक्षी भेड़ों की ऊन या अन्य रेशेदार सामग्री से ऐसे बुने हुए तहदार घोंसले बनाता है कि जिनमें एक बूँद भी पानी नहीं घुस पाता। ये घोंसले बिल्कुल नमदे की तरह जमे हुए लगते हैं। परन्तु सब से ज्यादा दिलचस्पी आपको कदाचित् अपने ही देश की उन छोटी चिड़ियों के घोंसले में होगी, जो ठीक दरजी की तरह पत्तों को आपस में सीकर अपने नन्हें घोंसले बनाती हैं और इसीलिए जिन्हें हमारे यहाँ 'दरजिन' चिड़िया के नाम से पुकारा जाता है। वह भला किस प्रकार पत्तों को आपस में सीती होंगी—उसके पास कोई सुई-धागा तो होता नहीं! यही तो मजे की बात है कि सुई-धागे से वंचित होने पर भी उक्त चिड़िया द्वारा भरे गए टाँके देखने में ठीक दरजियों के टाँकों जैसे ही होते हैं! यह काम वे इस प्रकार साधती हैं। वे वृक्ष की दो मजबूत पत्तियाँ चुन लेती हैं और अपनी चोंच से उनके किनारे पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर वैसे ही छेद करती हैं जैसे कि मोची जूता सीते समय चमड़े में करते हैं। अब इन छेदों में उधर आमने-सामने तंतु को पिरोकर वे बाकायदा टाँके भर देती हैं, जिससे उन पत्तियों की एक थैली-सी बन जाती है। इसी लटकती हुई थैली में मुलायम घास, रुई, ऊन, बाल आदि भरकर वे एक आरामदेह घोंसला बना लेती हैं।

उरंगमों की दुनिया—(१)

करोड़ों वर्ष पूर्व के उरंगम

इस ग्रंथ के प्रथम खंड में 'जानवरों के मुख्य-मुख्य वर्ग और समुदाय' शीर्षक प्रकरण में आपको ज्ञात हो चुका है कि जन्तु-जगत् की निसेनी में स्तनपोषित वर्ग के नीचे पक्षी-वर्ग और तदुपरान्त उरंगम-वर्ग के प्राणियों का स्थान है। स्तनपोषियों और पक्षियों के बारे में तो पिछले प्रकरणों में पर्याप्त जानकारी आप पा चुके हैं। आइए, अब प्रस्तुत और आगे के कुछ प्रकरणों में उरंगमों अर्थात् रेंगकर पेट के बल चलनेवाले जीवधारियों के बारे में आपको विशेष हाल बताएँ।

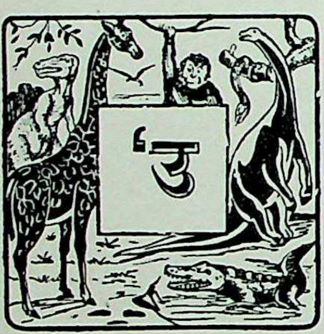

'उरंगम' शब्द से हमारे मन में रेंगने या घसिट-घसिटकर चलने का चित्र खिच जाता है और इसके साथ ही हमारे हृदय में ऐसे जीव के प्रति घिन या नफरत का भी भाव उठता है। प्रायः लोग जिन उरंगमों से परिचित हैं, उनमें से एक घरेलू छिपकली है, जिसे प्रायः सभी लोग गन्दी समझकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। दूसरा प्रसिद्ध उरंगम है मगर, जिसका नाम सुनते ही हमारे मन में एक प्रकार का भय का भाव छा जाता है, और तीसरा है विषैला सर्प, जिसके काटने से अकेले भारतवर्ष में ही हजारों मनुष्य काल के ग्रास बन जाते हैं। इन भयानक घिनौने जीवों के विषय में बहुत-सी विचित्र और जानने योग्य बातें हैं।

ठंडे रक्तवाले प्राणी

स्तनधारी जीवों और पक्षियों की अपेक्षा उरंगम ठंडे रक्तवाले प्राणी कहे जाते हैं। इसका अनुभव आप स्वयं ही कर सकते हैं। यदि आप अपना हाथ किसी कछुए की टाँग पर रक्खें, तो आपको ज्ञात होगा कि वह उतनी गरम नहीं होती, जितनी किसी कुत्ते या बिल्ली की टाँग। इसका कारण यही है कि कछुओं का रक्त कम गरम होता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उन्हें गरमी या सर्दी व्यापती ही नहीं। वस्तुतः सर्प सदैव ग्रीष्मऋतु में फुर्तीले हो जाते हैं और शीतकाल में सुस्त पड़ जाते हैं। यदि शीतकाल में कोई कछुआ किसी वाटिका में छोड़ दिया जाय, तो वह पत्तों के ढेर में जाड़े भर सोता ही रह जायगा!

उरंगमों की पहचान

उरंगमों के शरीर पर न तो स्तनधारी जीवों की भाँति बाल होते हैं और न पक्षियों के समान पंख ही। इसके बजाय उनके शरीर पर सिन्ने अर्थात् सींग के समान कड़े छिल्के या परत होते हैं, जिनके कारण वे अपनी-सी बनावटवाले अन्य प्राणियों से भिन्न पहचाने जाते हैं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे सभी जीव, जो ठंडे रक्तवाले हैं और जिनके बाल या पंख नहीं होते, उरंगम ही हैं। उदाहरण के लिए, मंडूक-समुदाय के उभयचर जीव (जैसे कि मेंढक) ठंडे रक्तवाले ही हैं, फिर भी वे उरंगमों से भिन्न हैं। वस्तुतः आरंभकाल के प्रकृतिवादी एक समय मेंढकों और न्यूटों (एक दुमदार स्थल-जलचर जीव) को भी उरंगम ही कहते थे; किन्तु अब नहीं, कारण ये प्राणी अपने अंडे जल में देते हैं और उनसे जो बच्चे निकलते हैं, वे मछलियों की भाँति गलफड़ों से साँस लेते हैं। बदन के बढ़ने पर उनके गलफड़े लुप्त हो जाते हैं और तब भूमि पर आकर ये जीव फेफड़ों से साँस लेने लगते हैं। यह सच है कि उरंगमों का विकास एक प्रकार के स्थल-जलचर जीवों से ही हुआ है। वे अपनी खाल के

कड़े छिलकों और उससे संबन्ध रखनेवाले अन्य परिवर्तनों द्वारा अपने शरीर को स्थल पर रहने लायक बना सके और क्रमशः जल से दूर ऐसे सुरक्षित स्थानों में फैल गए, जहाँ निरे जलचरों के लिए पहुँचना असम्भव था।

जिस समय उरंगम पृथ्वी पर राज्य करते थे

वर्तमानकाल के उरंगमों का हाल लिखने के पहले यह उचित जान पड़ता है कि संक्षेप में हम आपको उस प्राचीन युग का भी कुछ हाल सुना दें, जिस समय कि उरंगमों ने इस धरती पर अभूतपूर्व उन्नति की थी। पृथ्वी के अति प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है कि माध्यमिक काल में उरंगमों ने ऐसा जोर बाँधा था कि पन्द्रह करोड़ वर्ष तक संपूर्ण पृथ्वी पर उनके ही राज्य का डंका बजता रहा था! आज के दिन हम उरंगमों को सरकने और रेंगनेवाले जीवों के रूप में ही देखते हैं। किंतु वे हमेशा जमीन पर रेंगनेवाले दीन प्राणी ही न थे। उरंगम ही सर्वप्रथम ऐसे जीव हुए, जिन्होंने अपने पृष्ठवंशी शरीर को पहलेपहल धरती से ऊपर उठाया और ऐसा भारी-भरकम डीलडौल प्राप्त किया कि जिसकी कल्पना कर हम चकित रह जाते हैं! करोड़ों वर्ष पूर्व जब प्रथ्वी पर मानव-जाति और आज के हमारे सुपरचित चौपायों का कहीं नाम तक न था, उस समय आज जितने पक्षी और चौपाए हम देखते हैं, उतने ही प्रकार के उरंगम इस धरती पर विद्यमान थे। इनमें से कई छोटे-बड़े उरंगम तो सागर और झीलों में भी तैरते थे और कई स्थल पर चलते-फिरते दिखाई देते थे। उस युग के जंगलों में बड़े-से-बड़े हाथियों से भी कई गुने-बड़े उरंगम भरे पड़े थे! उनमें से कुछ तो घास और पत्तियाँ खाते और कुछ अपनी जाति या वर्ग के अन्य प्रणियों ही का शिकार करते थे। कुछ घोड़े से भी तेज भागनेवाले और चीते से भी अधिक भयानक दाँतों एवं पंजेवाले उरंगम थे। इनमें से कुछ का परिचय खंड १ में 'जीवधारियों का विकासक्रम' शीर्षक प्रकरण में आप पा ही चुके हैं। आइए, अब हम आपको करोड़ों वर्ष पूर्व के उस युग में वापस ले जाकर कल्पना द्वारा उस समय के भयानक घने जंगलों की कुछ देर के लिए पुनः सैर करा दें।

जब दैत्याकार स्थल-जलचर जीव प्रकृति से परास्त होकर लुप्त होने लगे, तो उनका स्थान नए-नए विकास-मार्गों पर चलनेवाले उरंगमों ने लेना आरम्भ किया। उस समय पृथ्वी की दशा और जलवायु आज से बहुत भिन्न थी। ध्रुवप्रदेशों को छोड़कर उन दिनों अन्य सब स्थानों की जलवायु विषुवत् तथा समशीतोष्ण प्रदेशों के समान गरम थी। उरंगम-युग की उस समृद्धिशाली अवस्था में पृथ्वी नाना प्रकार की वनस्पतियों से भी परिपूर्ण थी। उस समय के स्थल-भागों का आकार भी वर्तमान स्थल-भागों से बिल्कुल भिन्न था। यदि उन दिनों के विशाल जंगलों में से किसी में कोई व्यक्ति पहुँच पाता, तो वहाँ उसे स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न रूप और आकार के जीवों के पदचिह्न दिखाई पड़ते! उनमें से किसी-किसी

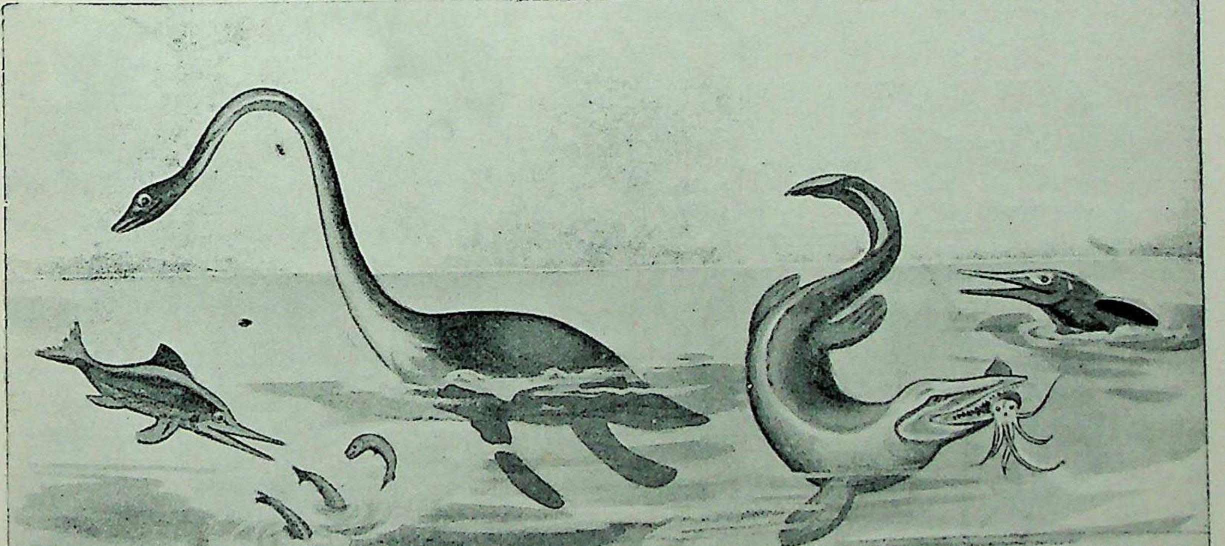

करोड़ों वर्ष पूर्व महासागरों पर शासन करनेवाला इन दो शक्तिशाली उरंगमों में से एक है साँप की-सी गर्दनवाला 'प्लायोसॉरस' और दूसरा मगर जैसे मुँहवाला 'इकथियोसॉरस'। इनकी अनेकों प्रस्तरीभूत ठठरियाँ मिली हैं।

का क्षेत्रफल एक वर्गगज के बराबर तक हो सकता था! इन पदचिह्नों का अनुसरण करने पर आगन्तुक का संभवतः एक ऐसे विशाल पशु से साक्षात्कार हो सकता था, जिसे आज वैज्ञानिक 'ब्रान्टोसॉरस' के नाम से पुकारते हैं और जिसकी ठठरी का चित्र खण्ड १ में पृष्ठ ३८४ पर आप देख सकते हैं।

धरती पर शासन करनेवाले उरंगम

इस ६० फीट लंबे भयानक डीलडौलवाले जीव को देखकर भला कौन भयभीत हुए बिना रह सकता था? लेकिन वह वास्तव में इतना खतरनाक न था, जितना कि देखने से विदित होता था। उसके पास अधिक फुर्तीले मांसाहारी पड़ोसियों से सुरक्षित रहने के लिए न तो काफी मोटी खाल थी और न आक्रमण करने के लिए ही कोई कारगर प्राकृतिक साधन था। यह प्राणी जल में होने वाले पेड़-पौधों को खाकर ही अपना जीवन व्यतीत करता था। ऐसा जान पड़ता है कि अपने प्रिय भोजन की खोज में या अपने से छोटे किन्तु भयानक घातकों से बचने की चेष्टा में वह बहुधा दलदलों में फँस जाता था। भारी शरीर होने के कारण ऐसे दलदलों में से उसका निकलना असम्भव हो जाता और तब वह वहीं प्राणविसर्जन करता था। इसकी बहुत-सी ठठरियाँ अभी तक चट्टानों में दबी हुई मिलती हैं। इससे भी बड़ा था एटलान्टोसॉरस नामक एक उरंगम, जो उस भूभाग के जंगलों में पाया जाता था, जिसे हम 'नई दुनिया' कह कर पुकारते हैं। इसका शरीर ८० फीट लंबा होता था, किन्तु ब्रान्टोसॉरस की भाँति उसका भी सिर और मस्तिष्क बहुत छोटा था। उसी की भाँति वह भी एक धीरे-धीरे चलनेवाला मूर्ख प्राणी था। इस वर्ग का डिप्लोडोकस नामक एक प्राणी सिर से दुम तक ८८ फीट से भी अधिक लंबा और ३५ फीट तक ऊँचा होता था। ऐसे बड़े-बड़े उरंगमों के अतिरिक्त और भी बहुत-से जीव उस समय पाए जाते थे, जिन सबको डायनोसॉर अथवा भीषण छिपकलियाँ कहकर पुकारा गया है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक ऐसे पाँच हजार से भी अधिक प्रकार के डायनोसॉरों की सूची बन चुकी है। उनमें से कुछ छिपकली जैसे पैरोंवाले, कुछ पक्षी जैसे, कुछ चौपाए जैसे तथा कुछ कवचधारी भी थे। पर ये सभी ब्रान्टोसॉरस, एटलान्टोसॉरस की भाँति दीर्घकाय और सीधे-साधे थे। हाँ, उनमें से कुछ अवश्य ही बड़े भयानक और मांसाहारी थे। उनके दाँत बड़े और मजबूत थे तथा उनके सिर भी तुलनात्मक दृष्टि से चरनेवाले प्राणियों की अपेक्षा बड़े थे। छल और संकल्पशक्ति में भी वे बढ़े-चढ़े थे। उनमें से किसी-किसी के सिर पर नुकीले और मजबूत सींग भी होते थे।

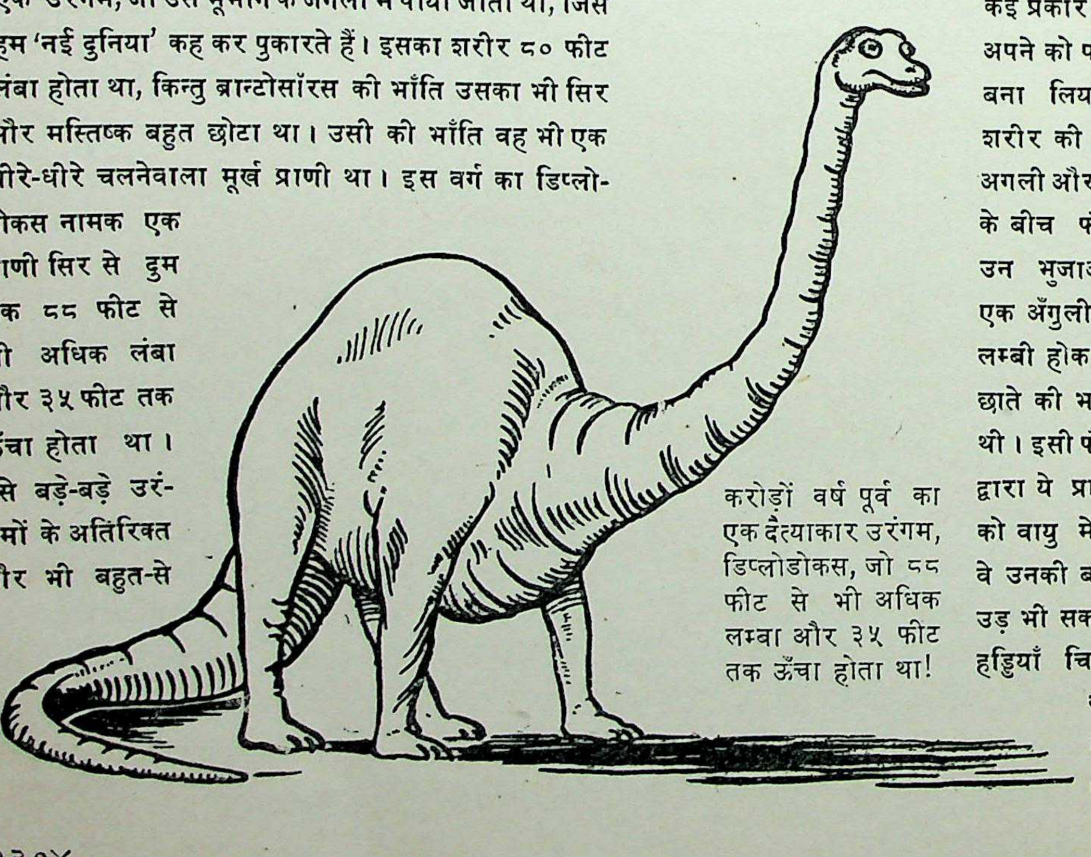

करोड़ों वर्ष पूर्व का एक दैत्याकार उरंगम, डिप्लोडोकस, जो ८८ फीट से भी अधिक लम्बा और ३५ फीट तक ऊँचा होता था!

इन भीमकाय जीवों में एक अनोखा जीव था कवचधारी स्टैगोसॉरस, जो अपनी जाति का एक विचित्र प्रकार का नमूना था, क्योंकि इसकी पिछली टाँगे अगली टाँगों से बहुत बड़ी थीं। अतः उसकी सूरत भोंडी-सी दिखाई पड़ती थी। पृ० ३८५ पर इस विचित्र पशु का चित्र दिया जा चुका है!

आसमान पर शासन करनेवाले उरंगम

इन दिनों आकाश में भी बड़े-बड़े भद्दे जीव मँडराते दिखाई देते थे। परन्तु वे पक्षी कदापि नहीं थे। दरअसल कई प्रकार के उरंगमों ने ही अपने को पवन में उड़ने योग्य बना लिया था। उनके शरीर की खाल दोनों ओर अगली और पिछली भुजाओं के बीच फैल जाती थी। उन भुजाओं में की एक एक अँगुली शरीर से अधिक लम्बी होकर इस खाल को छाते की भाँति फैला देती थी। इसी फैली हुई खाल के द्वारा ये प्राणी अपने बदन को वायु में साध लेते थे। वे उनकी बदौलत कुछ-कुछ उड़ भी सकते थे। उनकी हड्डियाँ चिड़ियों की भाँति खोखली होती थीं और उनकी सीने की अस्थियाँ भी

ठीक पक्षियों जैसी ही होती थी। परन्तु इन उरंगमों के पर नहीं थे । उनमें चमगादड़ की भाँति मात्र झिल्लीदार बाज़ू होते थे। इन उड़नेवाले उरंगमों को वैज्ञानिक 'टेरोडेक्टाइल' कहते हैं । इनमें किसी-किसी के बाज़ू १८ फीट तक फैल जाते थे। उनमें से एक के विषय में कहा जाता है कि वह लगभग हाथी के बराबर डीलडौलवाला प्राणी था ! यदि ऐसे विशाल पक्षी आजकल वायुमंडल में मँडराया करते और धरती पर भी पाए जाते, तो हमारा जीवन कितना दुष्कर हो जाता, इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते !

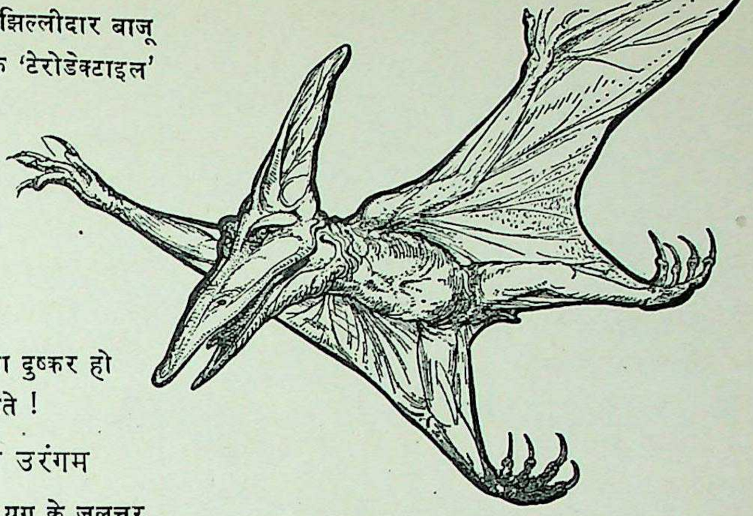

प्राचीन काल का उड़नेवाला उरंगम 'टेरोडेक्टाइल' । इसके चमगादड़ जैसे झिल्लीदार बाज़ुओं पर ध्यान दीजिए !

महासागरों पर शासन करनेवाले उरंगम

स्थलचरों और नभचरों की भाँति इस युग के जलचर भी अति विशाल और बड़े भयानक जीव थे और वे भी उरंगम-वर्ग ही के प्राणी थे । सागरों में विशेषकर दो प्रकार के उरंगम राज्य करते थे, जिनमें से एक इकथियोसॉरस नामक प्राणी था । इसकी आकृति बड़ी मछली से मिलती-जुलती थी । दूसरा साँप-जैसी लम्बी गर्दनवाला प्लायोसॉरस था । इन प्रणियों की हजारों ठठरियाँ प्राप्त हुई हैं । चालिस-चालिस फीट तक लम्बे और साँप की-सी गर्दनवाले प्लायोसॉरस को देखकर छोटे-छोटे समुद्री जीव दूर से ही भयभीत हो जाते होंगे । इकथियोसॉरस, जिसे समुद्री अजगर भी कहा गया है, प्लायोसॉरस से कम लम्बा, किन्तु उससे अधिक चौड़ा होता था। उसके शरीर में तैरने के लिए डाँड-जैसी चौड़ी भुजाएँ होती थीं। उसकी शारीरिक रचना को देखकर यह भी कहा जा सकता है कि कभी वह कछुए की भाँति स्थल पर भी विचरण करता रहा होगा ।

इकथियोसॉरस और प्लायोसॉरस के काल में कछुओं का भी विकास हो चुका था । लगभग १२ फीट चौड़े और २५ मन तक भारी कछुए इस समय बहुतायत से समुद्रों में पाए जाते थे । अब तो केवल दो-चार ही बहुत बड़े कछुए किसी-किसी टापू में बच रहे हैं। १९३० ई० में ऐसे ही एक प्राचीन कछुए की हड्डियाँ शिवालिक की पहाड़ियों पर मिली थीं । यदि कवच की दृष्टि से देखा जाय, तो कछुआ और कूर्म से श्रेष्ठ कोई भी जीव दुनिया में नहीं हैं । उनकी लम्बी-चौड़ी हड्डियों की परतें पसलियों से जुड़कर उनके शरीर में एक ऐसा मजबूत बक्स बना देती हैं कि उसके भीतर वे अपने सिर, हाथ और पैर सब कुछ खींचकर उन्हें सुरक्षित रख सकते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब पृथ्वी पर अन्तिम हिमयुग छाने लगा, तब ये बड़े-बड़े डायनोसॉर, टेरोडेक्टाइल और प्लायोसॉरस आदि, जो धरती, वायु और जल पर लाखों वर्ष से शासन कर रहे थे, सहसा पृथ्वी से लुप्त हो गए ! सौभाग्यवश केवल छोटे-छोटे डीलवाले वे उरंगम ही, जो दूसरे मार्ग पर चल चुके थे, बचे रह गए । उनमें से कुछ ऐसे थे, जिनके चिड़ियों-जैसे पर उगने लगे थे, जिनसे वे अपने को सर्दी से बचा सकते थे । यही जीव आगे चलकर वर्तमान पक्षिओं के पूर्वज बने ।

उरंगमों की अन्य एक शाखा ने अपने विकास के लिए दूसरा ही मार्ग ग्रहण किया । छोटे आकार के कुछ स्थल-निवासी उरंगमों ने बढ़ती हुई शीत से बचने के लिए परों के स्थान पर बाल उगाना आरम्भ कर दिया । परदार उरंगमों की तरह उनका भी बदन अन्य उरंगमों से अधिक गरम रहने लगा। ये ही उरंगम धीरे-धीरे वे प्रारम्भिक पशु बने, जिनसे वर्तमान स्तनधारी उत्पन्न हुए । अगले पृष्ठ पर, बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको मोड़कर विकास के पथ पर नई पगडंडियों का निर्माण करने में प्रवृत्त करोड़ों वर्ष पूर्व के जीवों के दो रूप दिग्दर्शित हैं । ऊपरी चित्र में पर्मियन काल की कतिपय विशालकाय छिपकलियाँ प्रदर्शित हैं, जिनकी एक विशेषता यह थी कि वे अपनी पीठ पर ताड़ के पंखे जैसी चार-पाँच फीट ऊँची एक प्रकार की झालर से युक्त थीं । लगभग दस फीट लम्बे ये उरंगम भयावने मांसाहारी थे और वैज्ञानिक उन्हें 'डाइमेट्रोडान' के नाम से पुकारते हैं। विकासवादियों का कथन है कि इसी प्रकार के

उरंगमों से आगे चलकर स्तनपोषियों का प्रादुर्भाव हुआ । इसी पृष्ठ पर के निचले चित्र में जो अनोखे रेंगनेवाले जीव दिग्दर्शित हैं, वे भी स्तनपोषितों के आदि पुरखों की सूची में सम्मिलित किए जाते हैं। ये पशु अन्य उरंगमों के अंडे बहुत खाते थे । अतएव एक ओर तो बढ़ती हुई शीत ने और दूसरी ओर उन्होंने मिलकर बड़े डीलवाले उरंगमों को समाप्त करने में काफी मदद दी । ये पशु लाखों की संख्या में उनके अंडे चुराकर खा गए!

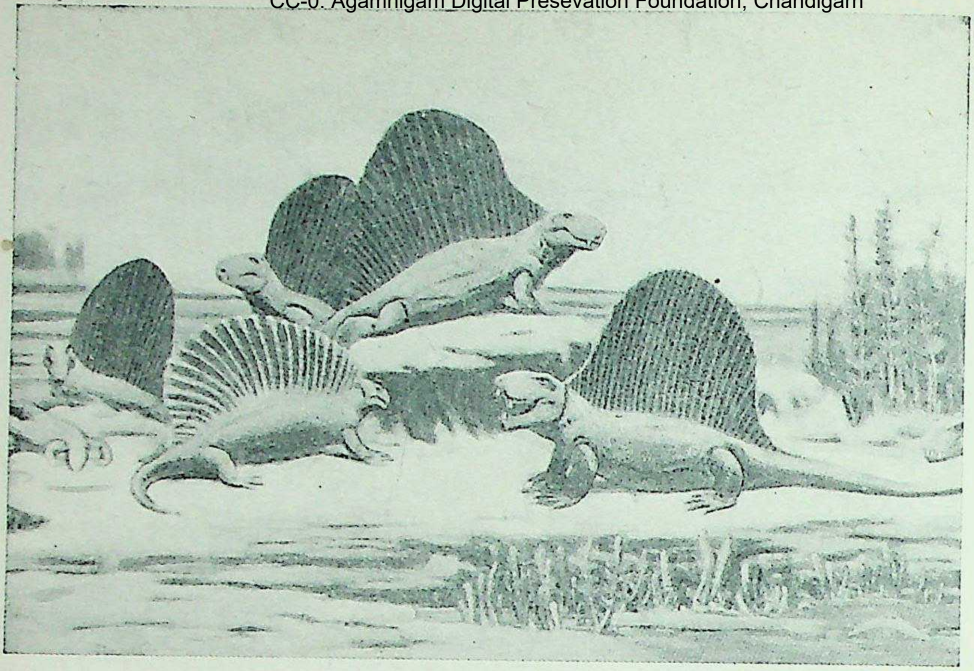

डाइमेट्रोडॉन नामक इन अनोखी प्राचीन छिपकलियों के प्रस्तर-विकल्प पर्मियन काल की चट्टानों में पाए गए हैं । इनकी भयावनी शक्ल-सूरत और पीठ पर खड़ी निराली झालर देखिए ! ये जानवर १० फीट तक लम्बे होते थे । कहते हैं, इन्हीं से आगे चलकर स्तनपोषितों का प्रादुर्भाव हुआ ।

वर्तमान उरंगम

उरंगम-काल के समाप्त होने के पश्चात् लगभग ९ करोड़ वर्ष तक पृथ्वी पर पक्षी और स्तनधारी जीव ही अपना विकास करने में लगे रहे । परन्तु कुछ जीवधारियों ने बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको मोड़ते हुए भी उरंगमों के-से अपने लक्षणों को बनाए रक्खा । यही प्राणी वर्तमान काल के चार समूहों के वे रेंगनेवाले जीवधारी हैं, जिनका कि वर्णन अगले अध्यायों में हम करने जा रहे हैं ।

ये प्राणी उरंगमों और स्तनपोषितों के बीच की कड़ी माने जाते हैं । दाहिनी ओर नीचे की तरफ जो प्राणी बना है उसका प्रमुख शस्त्र चोंच की तरह का उसका बड़ा मुंह था । बाईं ओर ऊपर की तरफ वाला जीव तो इससे भी डरावना प्रतीत होता है, क्योंकि उसके दाँत बड़े मजबूत थे । इन ठोस सिरवाले और अजीब शक्ल-सूरत के उरंगमों में से अधिकतर प्राणी ५ से ८ फीट तक लम्बे होते थे । अपने विशाल शरीर के कारण ये तेजी से चलने-फिरने में असमर्थ थे, परन्तु यही गरम रक्तवाले स्तनधारियों के पुरखे माने जाते हैं ।

उरंगमों की दुनिया—(२)

मगर और कछुए

पिछले अध्याय में आपने उरंगम-वर्ग के करोड़ों वर्ष पूर्व के प्राणियों का परिचय प्राप्त किया। आइए, अब प्रस्तुत और आगे के कतिपय प्रकरणों में वर्तमानकाल के चार प्रकार के उरंगम-समूहों की जानकारी आपको कराएँ। पहले हम मगर और कछुए को ले रहे हैं। तदुपरान्त सर्प और छिपकली-वर्ग का परिचय देंगे।

आज के दिन पृथ्वी पर जो उरंगम पाए जाते हैं, उनमें चार प्रकार के जीव हैं—मगर, कछुआ, छिपकली और साँप। हम इन सभी से प्रायः परिचित हैं। मगर नदियों और झीलों में पाए जाते हैं। इनमें के कुछ प्राणी नदियों के मुहाने के समीप समुद्र में भी पाए जाते हैं। कछुए स्थलचर भी हैं और जलचर भी। छिपकलियों और सर्पों की कई जातियाँ हैं। उनके बारे में आप अगले अध्यायों में पढ़ेंगे। यहाँ हम केवल मगर और कछुओं का ही हाल आपको सुनाने जा रहे हैं।

घड़ियाल और नाक

मगर की विविध जातियाँ पृथ्वी के गरम देशों में ही मिलती हैं। उनमें से भारत में केवल दो ही जातियाँ दिखाई देती हैं—नाक और घड़ियाल। घड़ियाल की थूथन छोटी होती है और वह पशुओं को खाकर जीवित रहता है। नाक की थूथन लम्बी होती है और उसके नथुने थूथन के सिरे पर खुलते हैं। इन नथुनों के आगे एक प्रकार के ढकने होते हैं, जो जल के भीतर रहते समय बन्द रहते हैं। इससे उसकी थूथन में पानी नहीं जाता। जब साँस लेने की आवश्यकता पड़ती है, तब नाक जल के ऊपर आकर अपने नथुने खोलता है, जिससे हवा भीतर चली जाती है। नाक विशेषकर मछलियों पर ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

उरंगमों में मगर सब से प्राचीन ढंग के और सब से बड़े आकार के प्राणी हैं। जंतुशालाओं में वे सुस्त, मूर्ख और भद्दे जीव-से जान पड़ते हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे नहीं होते। यद्यपि नदी तट पर या दलदलों में पड़े हुए मगर हमें सोते-से दिखाई देते हैं, किन्तु दूर से ही किसी को आते देखकर तत्काल ही वे जल में घुस जाते हैं। मगर काफी देर तक जल में डूबे रह सकते हैं, क्योंकि अपने नथुने और मुँह को वे ऐसा कुछ कर लेते हैं कि उनके अन्दर पानी न जा सके। वे अपने हाथ-पैरों से चलने-फिरने का और दुम से तैरने का काम लेते हैं। उनकी आँखें शरीर से ऊपर उभरीं हुई-सी होती हैं, अतः पानी में वे इस तरह उतरा सकते हैं कि केवल उनकी थूथन का छोर और आँखें ही जल से बाहर रहें।

घड़ियाल और नाक दोनों ही अपने अंडे किनारे की बालू में गड्ढे खोदकर देते हैं और उनको घास-पात, मिट्टी या बालू से ढक देते हैं। वहीं सूर्य की गरमी से वे अंडे पक जाते हैं। उन अंडों का रंग सफेद और उनका ऊपरी छिलका चमड़े की तरह नरम और चीमड़ होता है। जब बच्चा बाहर निकलने को होता है, तो अपनी थूथन के ऊपरवाले नुकीले दाँत से वह अंडे के छिलके को फाड़कर बाहर आ जाता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि गड्ढे के ऊपर पहुँचते ही उसे अपने आप ज्ञात हो जाता है कि जल किस ओर है और वह सीधा उस ओर को चल देता है!

पानी पीने के लिए जलाशयों पर आनेवाले पशुओं की टोह में घड़ियाल चुपचाप जल के किनारे पड़े रहते हैं और अवसर पाने पर सिर या पैर पकड़कर वे उन पशुओं को पानी में घसीट लाते हैं। जब वे पशु जल के समीप

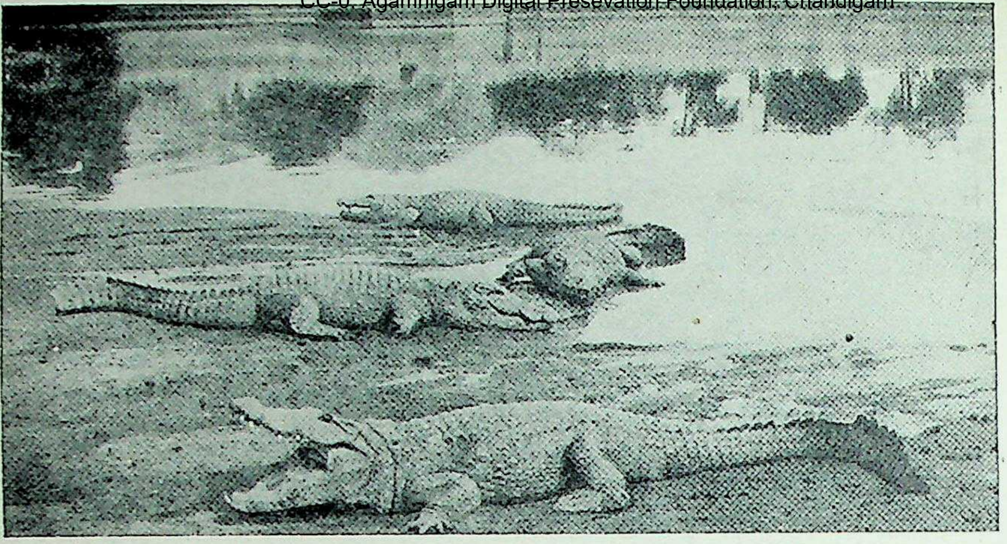

प्रस्तुत चित्र में हमारे देश की सुप्रसिद्ध पुष्कर-झील के किनारे सुस्ताते हुए कुछ मगर दिग्दर्शित हैं। अजमेर के समीप यह पुरातन झील अपने अंचल में सैकड़ों मगर बसाए हुए है।

नहीं होते, तो घड़ियाल शीघ्रता से मुड़कर अपनी ताकतवर दुम से उन्हें ऐसा धक्का देते हैं कि वे खिंचकर पानी में गिर पड़ते हैं और डूबकर उनके शिकार हो जाते हैं। किसी जीव को मारकर मगर उसे उसी समय नहीं खा लेता, बल्कि उसे किसी गड्ढे में डाल देता है, कारण मांस को सड़ाकर खाने में उसे अधिक आनन्द आता है। कभी-कभी नदियों में स्नान करते हुए बच्चों ही को नहीं, बल्कि वयस्क मनुष्यों को भी मगर पानी के अन्दर घसीट ले जाते हैं। ऐसी घटनाओं की खबरें बहुधा समाचारपत्रों में हम पढ़ते हैं। कुछ वर्ष हुए बंबई के सचित्र साप्ताहिक पत्र 'इलस्ट्रैटेड वीकली' में इसी भाँति की एक घटना का हाल इस प्रकार छपा था--

एक दिन एक देहाती रावी नदी के किनारे बैठकर मुँह धोने लगा। अचानक पानी में छपछपाहट हुई और एक बड़ा मगर उसकी ओर झपटा। ज्योंही मगर किनारे के पास पहुँचा, वह एकाएक घूम पड़ा और अपनी दुम को पानी के बाहर फटकारकर उसने उस अभागे मनुष्य के ऐसे जोर की झपट मारी कि वह घबड़ाकर चीख पड़ा! शीघ्र ही उसकी बोली बन्द हो गई और बेहोश-सा होकर वह पानी में कुछ दूर जा गिरा। मगर फौरन् झपटा और उसने अपने भयानक मुँह में उस व्यक्ति की कमर दबाई। एक ओर उसका सिर और कंधा था तथा दूसरी ओर उसकी टाँगें निकली हुई दिखाई पड़ती थीं! जिन आदमियों ने देखा, वे बताते थे कि मगर उसकी एक बाँह को पूरी तरह निगल गया था। देखते-देखते मगर अपना शिकार लेकर नदी के उस पार जा पहुँचा और तब धीरे-धीरे उसने उसे समूचा निगल लिया!

मगर और मनुष्य का युद्ध

आदमी और कुछ बड़े पशुओं की घड़ियाल से लड़ाई के भी अनेक वृत्तान्त मिलते हैं। कई वर्ष पहले की बात है कि मिस्र देश में नील नदी के तट पर पुलिस की एक छावनी पड़ी हुई थी। उसी का मुहम्मद सौनगिया नामक एक सिपाही नदी में कपड़े धोने गया। थोड़ी ही देर में उसे समीप ही एक मगर का थूथन दिखाई दिया और इसके पहले कि वह हट जाय, मगर ने उसके दोनों हाथ अपने मुँह में दबा लिए! सिपाही बहादुर था, अतएव घबड़ाया नहीं। चेष्टा करके उसने अपनी एक बाँह छुड़ा ली और अपनी उँगली तथा अँगूठे को मगर के नथुनों में डालकर ऐसा जोर लगाया कि घबड़ा कर उसने उसकी दूसरी बाँह भी छोड़ दी। तब सिपाही यह सोचकर कि अब तो वह बच ही गया, संतोषपूर्वक पानी से बाहर आने लगा। पर इतने में मगर फिर झपटा और इस बार उसने उसका सीना पकड़ लिया! इस प्रकार लड़ते-लड़ते वे दोनों गहरे पानी में पहुँचने ही वाले थे कि इतने में वहाँ एक और सिपाही आ पहुँचा, जो अपने साथी की दुर्दशा देखकर तुरन्त जल में घुस पड़ा। उसने लाठी से मगर की खोपड़ी पर लगातार वार करके अपने बहादुर साथी को उस घड़ियाल से छुड़ा लिया!

कैमरन नामक एक जन्तु-निरीक्षक ने लिखा है कि जब वह दक्षिणी अफ्रीका की उगाम्बे नदी के किनारे घूम रहा था, तो एक दिन उसे एक ही स्थान पर शेर, भैंसा और मगर ये तीन प्राणी एक साथ मरे हुए पड़े मिले! देशी लोगों से पूछने पर पता लगा कि जब एक भैंसा नदी में पानी पी रहा था, तो एक शेर ने उस पर आक्रमण किया और दोनों युद्ध करते हुए पानी में जा पहुँचे। संयोगवश एक मगर भी उस समय वहाँ आ पहुँचा और दोनों योद्धाओं में से एक को उसने धर दबोचा। जब स्थल पशु घबड़ाकर पानी के अन्दर से भागे, तो तीनों गुत्थमगुत्था हो नदी से लगभग २० गज की दूरी पर आकर गिर गए और अंत में तीनों मर गए!

ऊपर के विवरण से ज्ञात होता है कि घड़ियाल कितना खतरनाक जलचर है। किसी-किसी ने लिखा है कि अफ्रीका में ३०-४० फीट तक लम्बे घड़ियाल पाये जाते हैं, परन्तु यह केवल गप्प ही है ! यह सच है कि बड़े से बड़ा घड़ियाल अफ्रीका ही में पाया जाता है, किन्तु १९ फीट ६ इंच से बड़े घड़ियाल का पता अब तक कहीं भी नहीं मिलता। १९३४ ई० में एक भारतीय समाचारपत्र में गंगा नदी में मारे गए १६ फीट कुछ इंच लम्बे एक घड़ियाल का और १७ फीट लम्बे अन्य एक मगर का चित्र छपा था।

क्या मगर पत्थर निगलता-उगलता है ?

घड़ियालों के पेट में बहुधा खाए हुए जीवों के हाथ-पैर, खुर, सींग और आभूषणों के अतिरिक्त पत्थरों के टुकड़े भी मिले हैं ! इस प्रश्न पर कि घड़ियालों के पेट में पत्थरों के टुकड़े क्यों मिलते हैं, बहुत-कुछ वाद-विवाद हो चुका है। इस विषय पर सब से बढ़िया गवाही सर हेनरी एच० ओसलर की है, जिसे उन्होंने १९३९ ई० में इस प्रकार से प्रस्तुत की थी––"मुझे कैरन्स नगर में एक मनुष्य मिला, जिसने चार वर्ष से १५ फीट लम्बा एक घड़ियाल पाल रक्खा था। इस घड़ियाल को हर तीसरे सप्ताह भोजन दिया जाता था और वह पूर्ण स्वस्थ था। उस घड़ियाल के बाड़े में एक स्थान पर उस मनुष्य ने मुट्ठी के बराबर पत्थरों का एक ढेर देखा और उसे यह जानने की इच्छा हुई कि ये पत्थर कहाँ से आए ! एक रात को उसने उस घड़ियाल को एक विचित्र प्रकार की आवाज करते हुए सुना। यह सोचकर कि कदाचित् उसे कोई कष्ट है, जब वह अपनी टार्च उठाकर उस ओर गया, तो उसने घड़ियाल को पत्थर उगलते पाया ! कहते हैं, धीरे-धीरे इस प्रकार उसने आठ पत्थर उगले। जब उसके भोजन की बारी आई, तो उसने खाना खा लेने पर उन आठों पत्थरों को निगल लिया और कई दिन पश्चात् फिर उन्हें उगल दिया। इस तरह पत्थरों को निगलना और उनको फिर बाहर निकाल देना उस घड़ियाल का स्वभाव-सा था।"

इससे यह पता चलता है कि घड़ियाल केवल अपने भोजन को पचाने में सहायता लेने के लिए ही पत्थरों को निगलता है और जब भोजन पचकर आमाशय से नीचे खिसक जाता है, तो वह उन्हें उगल देता है !

कछुए और कूर्म

यदि कछुओं और कूर्मों से हम इतने अधिक परिचित न होते तो उन्हें हम पृथ्वी के सब से अद्भुत जंतुओं में अवश्य स्थान देते। नाक और घड़ियाल की रक्षा उनके पीठ की बहुत कड़ी खाल द्वारा होती है। कछुओं और कूर्मों में वैसी खाल के बदले चौड़े और कड़े परतों का एक विचित्र कवच-सा होता है। उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी पृष्ठवंशी जीव में ऐसी अनूठी कवचनुमा बाहरी ठठरी नहीं पाई जाती। संसार में उनका ही कवच सब से अधिक सुदृढ़ है और वह ढाल की तरह उनकी संपूर्ण पीठ तथा पेट को ढके रहता है। खटका होने पर अपना सिर, पूँछ, हाथ और पैर सब उस कवच के भीतर वे खींच लेते हैं और नीचे की हड्डियों को इस प्रकार मोड़ लेते हैं कि उनके किनारे ऊपरी ढाल के किनारों से जा मिलते हैं। ऐसी अवस्था में साधारण शत्रुओं के लिए

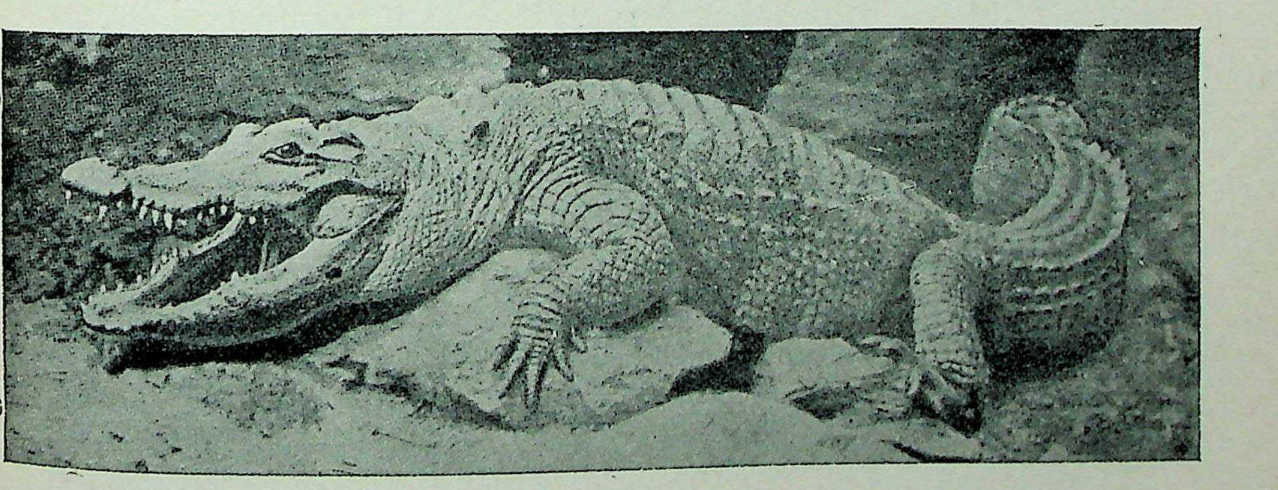

वर्तमानकाल के उरंगमों में मगर सब से विशाल प्राणी है। इसकी दो प्रमुख जातियाँ होती हैं–१. घड़ियाल, जिसकी थूथन छोटी होती है, २. नाक, जिसकी थूथन बेहद लम्बी होती है। यह घड़ियाल का चित्र है, नाक का चित्र पृ० १३११ पर देखिए।

CC0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उन्हें किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाना कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है। इस प्रकार बिना लड़े ही वे अपने को बचा लेते हैं। ये प्राणी युद्ध के पक्के विरोधी होते हैं।

कुछ विदेशी लेखकों ने स्थलचर और स्थल-जलचर दोनों ही प्रकार के कछुओं के लिए 'टॉरटॉइज' नाम रक्खा है और समुद्री कछुओं के लिए 'टर्टल' शब्द का प्रयोग किया है। दूसरों ने समुद्री और स्थल-जलचर दोनों को ही 'टर्टल' कहा है। 'टॉरटॉइज' में वे केवल उन्हीं कच्छपों की गणना करते हैं, जो बिलकुल स्थलचर हैं। उन समूहों के कच्छपों के लिए जो बाजारों में बेचे और खाये जाते हैं, कहीं-कहीं एक और शब्द 'टेरापिन' भी आया है। हिन्दी में इन प्राणियों के लिए चार शब्द पाए जाते हैं–कच्छप, कछुआ, कूर्म और कमठ। यह उचित जान पड़ता है कि जिस प्रकार अंग्रेजी के वैज्ञानिक लेखकों में इन जीवों के लिए उपयुक्त नामों का निर्णय कर लिया गया है, हम भी अपनी भाषा में उसी प्रकार कर लें। अतः अंग्रेजी शब्द 'किलोनिया' के बदले, जो संपूर्ण 'कच्छप-वर्ग' के लिए नियत किया गया है, हम 'कच्छप' शब्द का; एकदम स्थलचर जातियों के लिए 'कमठ' (टॉरटॉइज) शब्द का; स्थलचर और समुद्री जातियों के लिए 'कूर्म' (टर्टल) शब्द का, और मीठे जलों में रहनेवाले कच्छपों के लिए 'कछुआ' (टेरापिन) शब्द का प्रयोग करेंगे।

भाँति-भाँति के कूर्म

संसार में कच्छपों की लगभग तीन सौ विविध जातियाँ पाई जाती हैं, पर इस लेख में हम आपको इनमें से दो-चार मनोरंजक जातियों का ही परिचय करा पाएँगे। समुद्री कच्छपों में सब से बड़ा कूर्म वह है, जिसे 'लेदरी टर्टल' कहते हैं। यह समुद्री दैत्य छः फीट से भी अधिक लम्बा होता है और उसका वजन दस मन से भी कहीं ज्यादा पाया जाता है। इन बड़े प्राणियों की मजबूत टाँगों का फैलाव दस फीट तक होता है। ये समुद्री कच्छप पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों के विषुवत् तथा समशीतोषण समुद्रों में पाए जाते हैं। इतने भारी होते हुए भी वे ऐसी सुगमता से तैरते हैं कि देखकर हवा में चील का उड़ना याद आ जाता है। अपने वर्ग का यह एक मात्र सदस्य बाकी रह गया है। यह कच्छप केवल अंडे देने के लिए ही तट पर आता है।

बम्बई के तट पर एक ही वर्ग के तीन प्रकार के कूर्म पाए जाते हैं। इनमें से 'हरा कूर्म' सब से बहुमूल्य होता है, क्योंकि वह बड़े चाव से खाया जाता है। स्थल पर इस उरंगम की चाल भद्दी और आलसी जान पड़ती है, किन्तु तैरने में वह अत्यधिक निपुण होता है। इस कच्छप के प्रत्येक पैर में नख नहीं होता। दूसरी प्रकार का एक कूर्म 'बाजचोंचा' है, जिसे अंग्रेजी में 'हॉक्सविल' कहते हैं, क्योंकि उसके पक्षी की तरह चोंच-सी होती है। उसके हाथों और पैरों में दो-दो नख होते हैं। इसे लोग खाते नहीं, फिर भी निर्दयतापूर्वक वे उसका शिकार अवश्य करते हैं! उसकी खाल पर एक विशेष प्रकार के छिलके होते हैं, जो साफ होने और चमकाए जाने पर सुन्दर लाल-पीले धब्बों के रूप में चमक उठते हैं। ये छिलके आँच द्वारा एक दूसरे से जोड़े और भिन्न-भिन्न रूपों में ढाले जा सकते हैं। उनसे नाना प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती हैं, जैसे स्त्रियों के बालों में लगाए जानेवाले काँटे, कंघियाँ, पाउडर-केस, डब्बे आदि। इनके अतिरिक्त उनसे चश्मों के उत्तम फ्रेम भी तैयार किए जाते हैं।

तीसरे प्रकार का कूर्म वह है, जिसे अंग्रेजी में 'लॉगरहेड' अर्थात् 'गावदी या कठखोपड़ीवाला कूर्म' कहते हैं। उसका सिर औरों की अपेक्षा बड़ा होता है और उसकी पीठ पर दोनों ओर पाँच-पाँच छिलके होते हैं। ये जीव तीन-साढ़े तीन फीट के होते हैं, किन्तु इनमें से कोई-कोई छः मन से भी अधिक भारी पाया गया है। इनका भी मांस खाया जाता है, किन्तु हरे कूर्म की अपेक्षा यह घटिया माना जाता है। हरी जाति के कूर्म विशेषकर तो समुद्री वनस्पतियों को ही खाते हैं, किन्तु कभी-कभी शेष कूर्म जातियों की भाँति वे भी मछली, घोंघा-जैसे जीवों को खा लेते हैं। अधिकतर कच्छप मांसाहारी ही होते हैं। वे मरे हुए जीवों का मांस तो प्रायः खाते ही हैं, पर कभी-कभी नहाते हुए मनुष्यों पर भी आक्रमण कर बैठते हैं और उनका मांस नोच ले जाते हैं।

मीठे जलों में निवास करनेवाले कच्छपों में भी तरह-तरह के जीव होते हैं। उनका एक वर्ग केवल उत्तरी और मध्य अमेरिका में पाया जाता है। इस वर्ग के कछुए 'झटका मारनेवाले कछुए' कहलाते हैं, क्योंकि उनकी झपट साँप-जैसी तेज होती है। अपने बड़े सिर, घड़ियाल-जैसी दुम, अंगों से लटकती हुई खाल और सीने की छोटी-सी विचित्र हड्डी के कारण वे अन्य जातियों से पृथक् जान पड़ते हैं। उनके जबड़े बड़े मजबूत होते हैं। सभी झटकनेवाले कछुए आसानी से मनुष्य की अँगुलियाँ काट लेते हैं और घड़ियाल-जाति के बड़े कछुए तो कभी-कभी पूरा हाथ तक काट ले जाते हैं! इनमें सब से बड़ा और भयानक 'घड़ियाल कछुआ' है, जो मन भर से अधिक भारी होता है और जिसका सिर लगभग मामूली कुत्ते के बराबर होता है। ये प्राणी पानी के नीचे

चुपचाप पड़े रहते हैं और ज्यों ही कोई गाफिल मछली ऊपर से निकलती है, तुरन्त ही झपटकर उसे हड़प लेते हैं।

मीठे पानी के कछओं में एक वर्ग नरम खप्पर वालों का भी पाया जाता है। उनका खप्पर बहुत चपटा और लगभग गोल या चौड़ा अंडाकार होता है। उसके उपर सींग-जैसे चीमड़ छिलके नहीं होते। पीठ के बीच का भाग छोड़कर उनमें बाकी जगह की हड्डी काफी नरम और लचीली होती है। नरम खालवाले कछए उत्तरी अमेरिका, एशिया, अफ्रीका और मलाया द्वीप-समूहों में पाए जाते हैं। अमेरिका में वे बड़े शौक से खाए जाते हैं। गंगा नदी में मिलनेवाला नरम खालवाला ट्राइओनिक्स वंश का 'सेवार कछुआ' एशिया की बड़ी जातियों में से एक है। उसका रंग धुँधला हरे रंग का होता है और उस पर सुन्दर काले धब्बे रहते हैं।

मछली का शिकार करनेवाला अनोखा कूर्म

दक्षिणी अमेरिका में एक विचित्र कूर्म पाया जाता है। उसके खप्पर का प्रत्येक छिलका ऊपर को उभरा रहता है, जिससे उसकी पीठ बड़ी खुरखुरी लगती है। उसकी ठोंड़ी से केंचुए-जैसा खाल का एक लम्बा सूत निकला रहता है। जब वह भूखा होता है, तब इस सूत को धीरे-धीरे पानी में इस प्रकार हिलाता है कि पास से निकलने वाली मछलियाँ उसको सचमुच केंचुआ समझकर उसे खाने के लिए बढ़ती हैं। परन्तु तुरन्त ही उन्हें अपनी भूल जान पड़ती है, क्योंकि कछुआ फुर्ती से झपटकर उन पर आक्रमण करता है और यदि वे न बच सकीं तो उन्हें अपना शिकार बना लेता है। 'माठा-माठा' नामक इस कछुए की आँखें बहुत छोटी और आगे को इतनी उभरी हुई होती हैं कि उनसे उसकी सूरत अजीब मसखरे-सी जान पड़ती है! 'एमिस' वंश के कछुए मध्य तथा दक्षिणी अफ्रीका और पूर्वीय एशिया के तालाबों में बहुतायत से पाए जाते हैं। उनका ऊपरी रंग गहरा बादामी या काला होता है, जिसके ऊपर चटक पीले रंग के सुन्दर धब्बे और कभी-कभी पतली लकीरें भी होती हैं। वृद्ध होने पर इनके ये निशान फीके पड़ जाते हैं।

कच्छपों का सबसे बड़ा वर्ग 'टेसट्यूडिनिडी' है, जो ऑस्ट्रेलिया और न्यूगिनी को छोड़कर पृथ्वी के समस्त गरम तथा समशीतोष्ण भागों में पाया जाता है। उसमें चौड़ी झिल्लीदार पैरवाले जल में रहनेवाली जातियाँ, दलदलों में रहनेवाली जातियाँ (जिनके पैरों में छोटी झिल्ली होती है), तथा स्थल-निवासी जातियाँ (जिनके बिना झिल्ली के डंडे ऐसी टाँगें होती हैं) सभी सम्मिलित हैं। इन सब के खप्परों पर सींग के-से पदार्थ के चीमड़ छिलके होते है। अधिकांश में वे अपना सिर उस खप्पर के अन्दर बिलकुल खींच लेते हैं। छोटी जाति के कछुए बहुधा तालाबों में भी पाए जाते हैं। वे किनारे पर या तैरती हुई लकड़ियों पर पंक्ति में बैठे दिखाई देते हैं। खटका होने पर वे बड़े भद्दे ढंग से जल में उतर जाते हैं और पेंदे में जाकर छिप जाते हैं। जब वे फिर ऊपर आते हैं, तो बड़ी सावधानी से पहले केवल अपनी थूथन और आँखें ही पानी के ऊपर निकालते हैं और तैरते हुए भली भाँति इधर-उधर देखते हैं कि अब खतरा तो नहीं है! पूर्ण रूप से निश्चिन्त हो जाने पर वे फिर बाहर

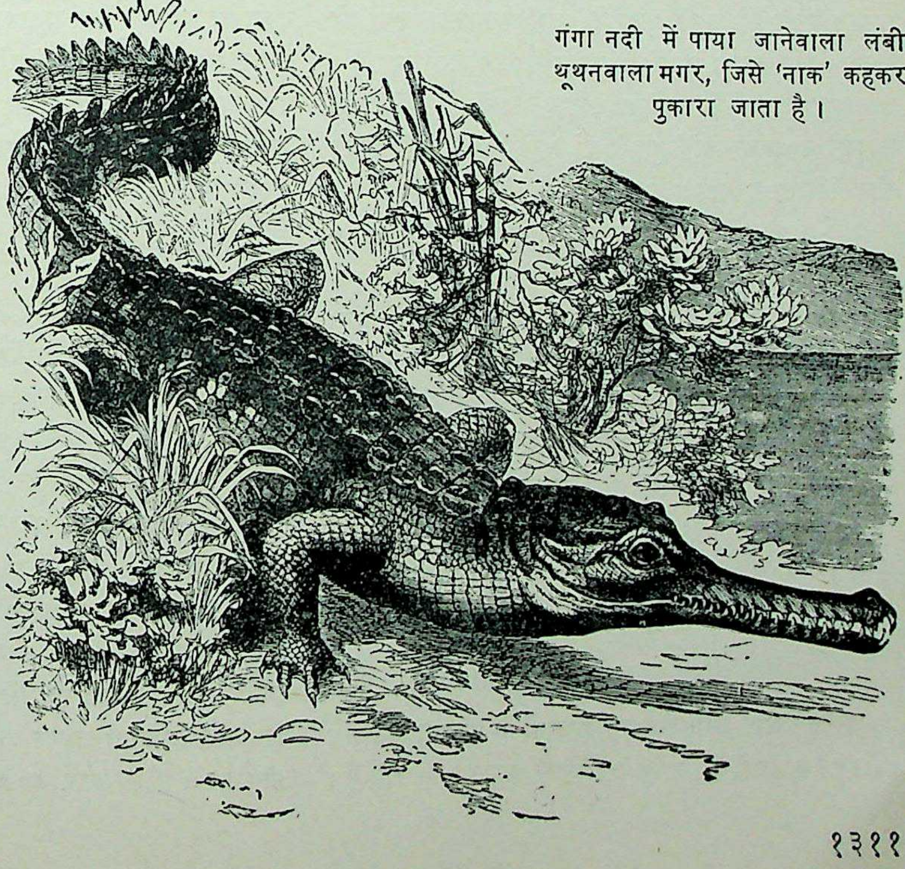

गंगा नदी में पाया जानेवाला लंबी थूथनवाला मगर, जिसे 'नाक' कहकर पुकारा जाता है।

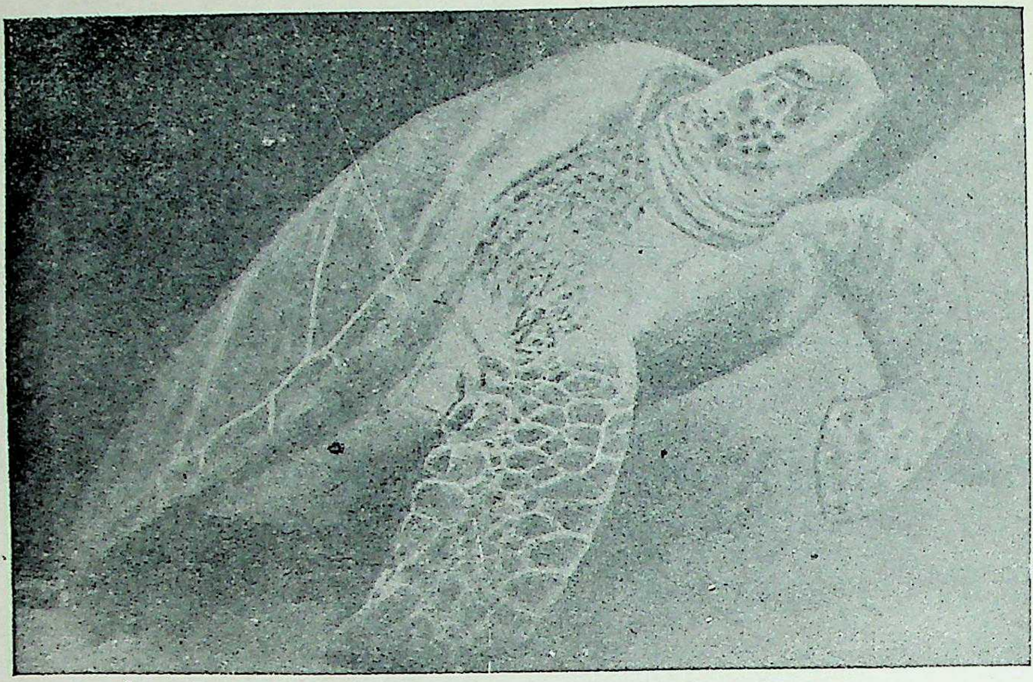

यही है समुद्रों में पाया जानेवाला 'हरा कूर्म', जिसका बहुत अधिक शिकार किया जाता है। इसका मांस चाव से खाया जाता है। यह तैरने में बड़ा निपुण होता है। इसके आगे के पैरों पर ध्यान दीजिए।

आ बैठते हैं। ये सर्वभक्षी होते हैं और छोटी-छोटी मछलियाँ, मेढक, पानी के कीड़े-मकोड़े आदि खाकर जीवन व्यतीत करते हैं। इसी तरह के अर्द्ध-जलचर कच्छपों को किसी-किसी लेखक ने अंग्रेजी भाषा में 'टेरापिन' कहा है। शीतकाल में इनमें से अधिकतर छिछले पानी के नीचे मिट्टी में घुसकर चुपचाप सोते हुए-से पड़े रहते हैं और इसी प्रकार सोते-सोते सारा जाड़ा काट लेते हैं।

अर्ध-जलचर कच्छपों का एक छोटे आकार का वंश भारतवर्ष, चीन और जापान में पाया जाता है। इस वंश के प्राणी कदाचित् ही चार इंच से अधिक लम्बे होते हैं! उनका खप्पर ऊँचा और सँकरा होता है। अधिकांश जातियों में पीठ के ऊपर तीन पैनी नोकें-सी निकली हुई होती हैं। ये बड़े फुर्तीले तैराक होते हैं। पकड़कर रखने पर वे इतने पालतू हो जाते हैं कि जल के बाहर आकर मनुष्य के हाथ से भोजन तक ले लेते हैं। परंतु वे बड़े डरपोक होते हैं। हाथ से छूने पर उनकी दुम के पासवाली ग्रंथियों से ऐसी बुरी दुर्गन्ध निकलती है कि दुबारा उन्हें छूने की इच्छा नहीं होती।

स्थलचर कच्छप या 'कमठ'

जलचर और अर्ध-जलचर कच्छपों के पश्चात् अब हम स्थलचर कच्छपों का वर्णन करेंगे, जो 'कमठ' कहलाते हैं। शरीर-रचना तथा स्वभाव दोनों में ये कूर्म और कछुओं से भिन्न होते हैं। इनका खप्पर बहुत ऊँचा होता है और इनके अंगों में झिल्ली नहीं होती। ये अधिकतर मन्द-गतिवाले कुरूप जीव होते हैं, परन्तु उरंगमों में ये सब से चतुर समझे जाते हैं। कहा जाता है कि इनमें गरम रक्तवाले जीवों के समान तर्क-शक्ति होती है। बहुधा ये दूर-दूर तक घूमने निकल जाते हैं, और घूम-फिरकर चौपायों की तरह बिना भूले-भटके वहीं वापस लौट आते हैं। कुछ कमठ ऐसे भी हैं, जो गरम से गरम मरुस्थलों में बिल बनाकर रहते हैं। वे केवल तड़के ही बाहर आकर इधर-उधर फिरते हैं। नई दुनिया में कमठों की बहुत कम जातियाँ पाई जाती हैं। सब से बड़े डीलडौलवाले कमठ हिन्द तथा दक्षिणी प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीप-समूहों में मिलते हैं।

सब से बड़े कमठ

अफ्रीका के सब से बड़े कमठों में टेसट्यूडो वंश का एक कच्छप है, जो एबीसीनिया में पाया जाता है। उसका खप्पर कुछ पिचका-सा होता है और उसके अंग एक बड़े हड्डीदार ढाँचे में मढ़े होते हैं। नई दुनिया का सबसे बड़ा कमठ टेसट्यूडो विसिना है, जो गेलापेगस के द्वीप-समूहों में पाया जाता है। पुरानी दुनिया का सब से बड़ा कमठ टेसट्यूडो ऐलिफैन्टाइना (हाथी कमठ) है, जो हिन्द महासागर के अल्दाबरा द्वीप-समूह में मिलता है। गेलापेगस वाले एक कमठ का वजन एक सौ पचास सेर और खप्पर की लम्बाई चार फीट तीन इंच तथा ऊँचाई बीस इंच थी! इन भीमकाय कच्छपों की एक खास विशेषता उनकी दीर्घ आयु है। कहते हैं, उनकी आयु १५० वर्ष से लेकर ४०० या ५०० वर्ष तक की पाई गई

है। डार्विन ने अपनी वैज्ञानिक अनुसंधान-यात्रा के क्रम में गेलापेगस द्वीप-समूह का भी निरीक्षण किया था और इन विशाल कच्छपों का गहराई के साथ अध्ययन किया था। उन्होंने हिसाब लगाकर देखा था कि इन कच्छपों की चाल बहुत धीमी थी––वे दस मिनट में ६० गज और पूरे दिन भर में लगभग ४ मील का फासला तय कर पाते थे! परंतु जब उन्हें प्यास लगती थी और वे पानी की खोज में निकल पड़ते थे, तो काफी लंबी दूरी तक जा पहुँचते थे! डार्विन ने जलाशयों को जानेवाले मार्ग पर इन दैत्याकार कच्छपों की एक कतार को ऊँची गर्दन किए झरनों की ओर प्यास बुझाने के लिए जाते हुए देखा और दूसरी कतार को जी भरकर पानी पीने के बाद वापस पलटते हुए भी देखा। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि इन रेंगनेवाले जीवों के निरन्तर आवागमन के फलस्वरूप राह की चट्टानें कई जगह इतनी चिकनी हो गई थीं कि उन पर चल पाना असंभव था!

इन महाकाय जीवधारियों की आयु इतनी लंबी होती है कि किसी ने भी उन्हें आज तक स्वाभाविक मृत्यु द्वारा मरते नहीं देखा––जब भी उनमें से कोई मरा, प्रायः किसी दुर्घटना के कारण अकाल मृत्यु से ही मरा। गेलापेगस द्वीप-समूह के इन महाकच्छपों के बारे में एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त द्वीप-समूह के विविध द्वीपों में इनकी अलग-अलग जातियाँ मिलती हैं!

शिकारियों की ज्यादतियों के कारण दुर्भाग्यवश इन अद्‌भुत प्राणियों के अब गिने-चुने नमूने ही उक्त द्वीपों में शेष रह गए हैं। पर डैम्पियर और अन्य प्रारंभिक यात्रियों ने उन द्वीपों में इनके झुंड-के-झुंड देखे थे। पिछले दिनों तो विलियम बीव्र नामक वैज्ञानिक को केवल एक ही ऐसा भीमकाय कमठ वहाँ मिल सका था और वह बेचारा भी जिन्दा न रह सका, क्योंकि यह देखने के लिए कि वह पानी में तैरता है कि नहीं जब वह समुद्र में उतारा गया, तो वह कुछ देर तक तो तैरा सही, पर अंत में उसका दम टूट गया! केवल उसके तैरने की सिनेमा की फिल्म भर ली जा सकी!

इन महाकच्छपों की जो विशालकाय जाति अल्दावरा द्वीप में मिलती है, उस कमठ का सिर बहुत छोटा और गर्दन साँप-जैसी लम्बी होती है। पर उसका खप्पर सब से अधिक उभरा हुआ होता है।

कमठ भूमि पर ही रहते हैं। वे कीड़े-मकोड़े, बिना छिलकेवाले घोंघे और वनस्पति पर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। उनके मुख में ऊपरी दाँत बिलकुल नहीं होते, परन्तु जबड़ों का किनारा काफी तेज होता है।

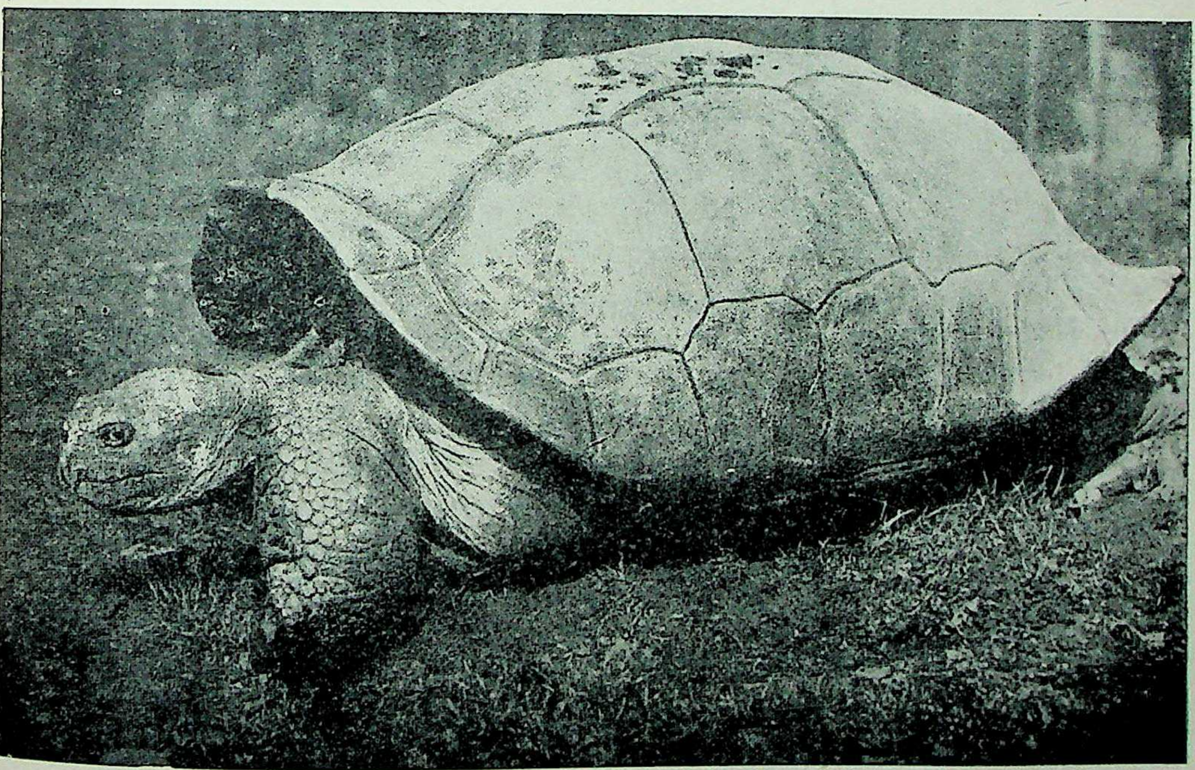

यह है गेलापेगस द्वीप-समूह पर पाए जानेवाले दीर्घजीवी भीमकाय कमठों का एक नमूना! कहते हैं, इनमें से कुछ की आयु पाँच सौ वर्ष से भी अधिक पाई गई है!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन ठंडे रक्तवाले जीवों की चतुराई का परिचय पाकर अचम्भा होता है। जंतुशालाओं में पले हुए कच्छप अपने रखवाले को जल्द पहचान लेते हैं और ज्योंही उसे अपने बाड़े में आते देखते हैं, त्योंही उसकी ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगते हैं। अपनी लम्बी गर्दन ऊपर उठाकर वे उसके हाथ से केले ले-लेकर खाते हैं। लेकिन परिचित रखवाले को भी वे अपना सिर नहीं छूने देना चाहते। छूने पर सिर को वे तुरन्त खींचकर गले से एक अजीब गड़गड़ाहट की आवाज निकालते हैं। इनमें प्रेम करते समय एक अद्भुत् लीला का दृश्य देखने को मिलता है। उस समय नर मादा के चारों ओर अकड़ते हुए चक्कर लगाता और रह-रहकर उसके खप्पर की ओर मुंह करके खड़ा हो जाता है। तब अपनी ठूंठ जैसी मजबूत टाँगों पर भरसक ऊँचा उठकर वह अपने खप्पर से उसके खप्पर को दस पन्द्रह बार जोर-जोर से टकराता है! साथ ही गहरी तुरही जैसी आवाज भी वह करता है!

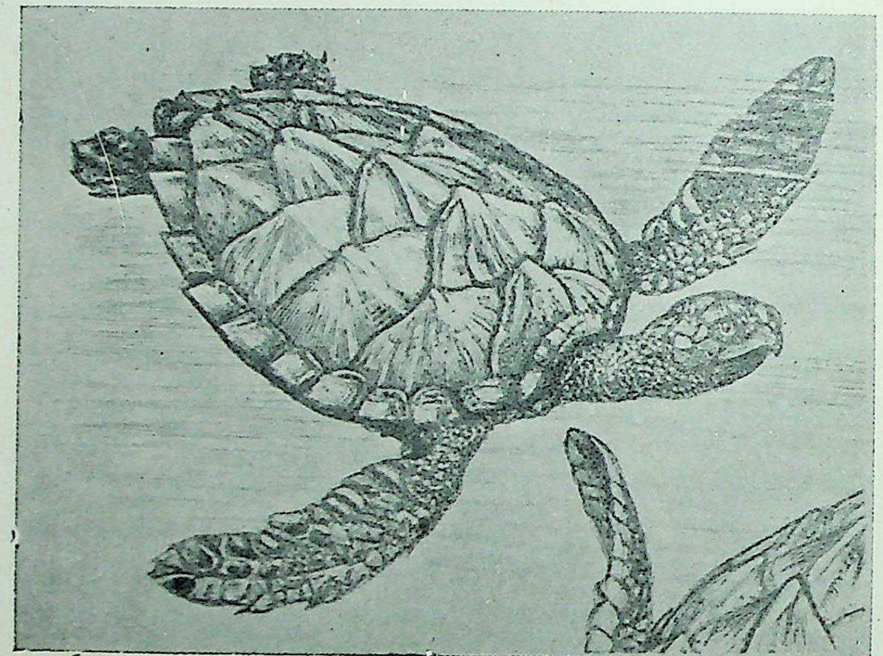

यही है समुद्रों में पाया जानेवाला 'बाजचोंचा' नामक कूर्म, जिसके लाल-पीले धब्बोंवाले सुन्दर कवच के लिए लोग उसका निर्दयतापूर्वक शिकार करते हैं!

कूर्म और कछुए भी मगर की भाँति अपने अंडे पानी के बाहर ही देते हैं। जब अंडा देना होता है, तो मादाएँ चाँदनी रात में सुनसान किनारे पर निकल आती हैं और बड़ी चैतन्यतापूर्वक धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं। तब उचित स्थान पर वे अपने पैरों से बालू में एक गड्ढा खोदकर उसमें अंडे देती हैं। यह कार्य पूर्ण हो जाने पर वे अंडों को बालू से ढक देती हैं और धीरे-धीरे अपने निवास स्थान (जल) को लौट जाती हैं। अंडों की खालें नरम होती हैं! वे सूर्य की उष्णता से पक जाते हैं।

कछुओं को पकड़ने के तरीके आसान हैं। तट पर बैठे हुए कछुओं को यदि अचानक उलट दिया जाय, तो वह बिलकुल विवश हो जाता है और भाग न सकने के कारण सहज में पकड़ा जा सकता है। पानी पर तैरते-तैरते कछुए कभी-कभी सो भी जाते हैं, ऐसी अवस्था में उन्हें पकड़नेवाले तैरकर चुपके से उनके पास चले आते हैं और पैर में रस्सी का फंदा डालकर उसे खींच लेते हैं। टाँग बँध जाने पर ये कछुए जहाँ भी इच्छा हो वहाँ ले जाए जा सकते हैं। सिचलीज और बहामाद्वीपसमूहों के मनुष्य उनका शिकार प्रायः भालों से करते हैं। पौराणिक अवतारों में से एक के साथ सम्बन्धित होने के कारण भारतवासी कछुए को पवित्र मानते हैं और उसकी रक्षा करना अपना धर्म और कर्त्तव्य समझते हैं। जब कभी वे जाल में फँस जाते हैं, तो मछुए उन्हें फिर से पानी में छोड़ देते हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ तीर्थस्थानों में उनके लिए प्रायः रामनाम की गोलियाँ और चना छोड़ती हैं। मथुरा और वृंदावन में इसी कारण घाट के किनारे सुबह-शाम सैकड़ों कछुए आ लगते हैं। भारतीय नदियों और झीलों में कई प्रकार के कछुए पाए जाते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें कंजर जैसी नीची जाति के लोग खाते हैं। बंगाल में उन्हें अधिक चाव से खाया जाता है। इधर नई फैशन के लोगों में भी कछुआ खाने का रिवाज विशेष बढ़ चला है।

कीचड़ में रहनेवाले कछुए

स्थलचर, जलचर और जल-स्थलचर कच्छपों के अलावा इन उरंगमों की एक जाति ऐसी भी है, जो नदियों के दलदल के कीचड़ में ही रहने की अभ्यस्त है। ये कूर्म मांसभक्षी होते हैं और कीचड़ में पाए जानेवाले घोंघे, केंचुए आदि पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। इनमें से कुछ मछलियों पर भी हाथ साफ करते हैं। इनके बदन अधिक चपटे होते हैं और ऊपर की खाल नरम होती है।

उरंगमों की दुनिया—(३)
विषैले तथा विषहीन सर्प

पिछले लेख में हम उरंगमों के दो समूहों—कच्छप और मगर—का वर्णन कर चुके हैं । प्रस्तुत और आगे के लेख में अब हम इस वर्ग के शेष दो प्राणियों—सर्प और छिपकली—के विषय में कुछ जानने योग्य साधारण बातें बताएँगे । आशा है, इन जीवों की जानकारी पाठकों के लिए लाभप्रद होगी ।

भला कौन भारतवासी ऐसा है, जिसने कभी कोई साँप न देखा हो ? हमारे देहातों में तो विशेषकर वर्षाकाल में लोगों को आए दिन ही राह चलते समय किसी न किसी प्रकार का सर्प रेंगता हुआ दिखाई दे जाता है । उधर शहर के लोगों को भी सँपेरों की बदौलत भाँति-भाँति के साँप देखने को मिल जाते हैं, जिन्हें वे आए दिन नचाते और दिखाते फिरते हैं ।

सर्प से भय

'सर्प' शब्द सुनते ही हमारे हृदय में एक विशेष प्रकार का भय समा जाता है ! उसकी कल्पना करते ही हमारी आँखों के सम्मुख पृथ्वी पर रेंगनेवाले एक पतले, लम्बे, चिकने और भयानक प्राणघातक जीव का चित्र खिंच जाता है ! यदि कहीं आते-जाते हुए सचमुच में हमारे सामने सर्प आ पड़ता है, तो हमें सब से पहला विचार उससे बचकर भागने का ही होता है । उसे देखते ही हमें अपने प्राणों की शंका होने लगती है, और हो भी क्यों न ? जिसने एक बार भी साँप के काटे हुए किसी मनुष्य को मरते देखा है, वह उसे कभी भूल नहीं सकता ! उसकी दुर्दशा देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं !

हट्टा-कट्टा मनुष्य भी विषैले सर्प के काटते ही एकदम घबड़ा उठता है । पल भर में उसके शरीर का बल न जाने कहाँ चला जाता है और वह किसी प्रकार भी अपने आपको सँभाल नहीं पाता ! वह भूमि पर शिथिल होकर गिर पड़ता है । जैसा कि डा० रामशरणदास ने अपने 'सर्प-संसार' में लिखा है—"उसकी आँखें लाल हो जाती हैं, दृष्टि मन्द पड़ जाती है, माथे पर पसीने की बूँदें झलकने लगती हैं और वह प्यास से व्याकुल हो जाता है । उसके गले से नीचे पानी नहीं उतरता । रोगी मूर्छित हो जाता है, उसका सारा शरीर पसीने में लथपथ होकर ठंडा हो जाता है और साँस जल्दी-जल्दी चलने लगती है । कभी-कभी शरीर फूल जाता है और प्रायः जीभ भी फूलकर मुँह से बाहर निकल पड़ती है । शरीर का रंग बिल्कुल बदल जाता है (नीला-सा पड़ जाता है) और मुँह से लार टपकने लगती है । कुछ समय बाद ऐंठन आरम्भ होती है, साँस भी रुकने लगती है तथा अंत में मनुष्य मर जाता है ।" श्वासोच्छ्वास सर्वथा बन्द होने से पूर्व साँप द्वारा काटे गए मनुष्य के शरीर में प्रायः जोर के आक्षेप आते हैं, परन्तु हृदय उसके बाद भी एक या दो मिनट से भी अधिक देर तक धड़कता रहता है ।

बहुतेरे विषैले सर्पों द्वारा काटे गए व्यक्ति की रक्षा का कोई अचूक उपाय अभी तक नहीं मालूम हुआ है और यदि कोई उपाय हो भी तो बहुधा दशा इतनी जल्द खराब हो जाती है कि चिकित्सा का अवसर ही नहीं मिल पाता । "नौ फीट सात इंच लम्बे एक नाग से काटा गया आदमी पन्द्रह मिनट में मर गया था और एक मजदूर स्त्री बीस मिनट में समाप्त हो गई थी !" असली काले शेषनाग के काटने से आदमी तो क्या, हाथी जैसे विशाल जीव भी शीघ्र ही यमलोक को सिधार जाते हैं ! सर्प द्वारा काटे जाने के तीन घंटे

के अन्दर ही अन्दर हाथी मरता देखा गया है ! यह जरूर है कि हाथी के शरीर की मोटी खाल पर साँप के दाँत नहीं गड़ते, लेकिन उसकी सूँड़ के छोर या नाखूनों के सिरे पर, जहाँ खाल नरम होती है, डसने से तुरन्त ही विष का प्रभाव पड़ता है ।

एक और कठिनाई यह है कि यह घातक जीव अचानक आक्रमण कर बैठता है । कोई नहीं कह सकता कि किस समय यह निकल आयगा और मनुष्य को काट लेगा । दिन में, रात्रि के अंधकार में, घर में, खेत में अथवा सुनसान जंगल में चलते-फिरते या बेखबर सोते हुए मनुष्य भी सर्प से डसे गए हैं । धरती, दीवार, वृक्ष, छप्पर आदि से निकलकर ये भयंकर जीव एकाएक आदमी पर हमला कर बैठते हैं । बहुधा मनुष्य को यह भी पता नहीं चलता कि किस जाति का सर्प उसे काट गया है और कभी-कभी तो विषहीन सर्प के काटने से भी घबड़ाकर रोगी की हृदय की गति बन्द हो जाती है । संसार में प्रति वर्ष एक लाख से भी अधिक मनुष्य इस भयंकर जीव के काटने से अपने प्राण खो बैठते हैं ! अकेले भारतवर्ष में नाग (कोबरा) और करैत जातियों के सर्प बीस हजार प्राणियों को प्रति वर्ष मौत के घाट उतार देते हैं ! सब जाति के सर्पों द्वारा मरनेवालों की संख्या तो हमारे देश में लगभग एक सौ प्रति दिन है ।

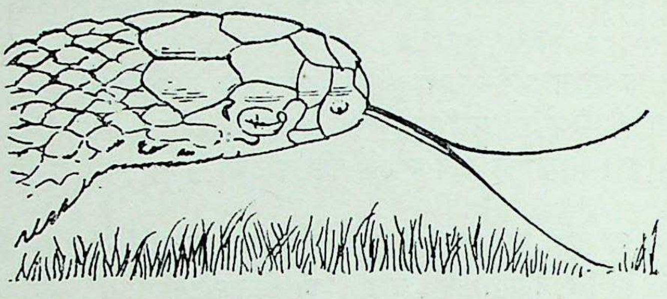

१

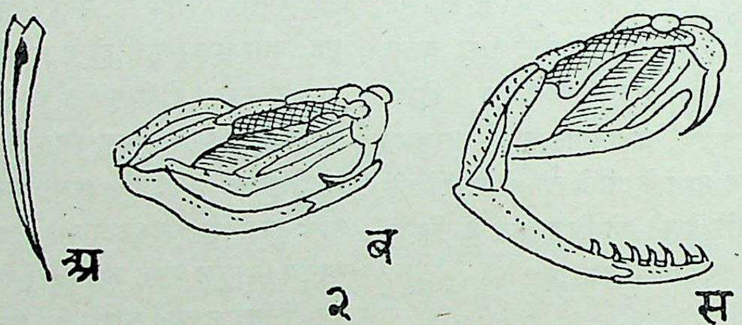

२

१. साधारण विषहीन साँप का सिर—चिमटे के समान फटी हुई जिह्वा पर ध्यान दीजिए; २.अ. साँप का विषदंत—बीच की पोली नली से ही विष उतरता है; २.ब. जवड़े की हड्डियाँ और विषदंत मुँह बंद होने की दशा में; २.स. वही, मुँह खुला रहने की दशा में ।

परन्तु यह सब होने पर भी हमें सर्प से इतना अधिक भयभीत न होना चाहिए, क्योंकि प्रायः जो सर्प हमें दृष्टिगोचर होते हैं, वे अधिकतर सभी विषैले नहीं होते । संसार में प्रायः एक हजार सात सौ जातियों के सर्प पाए जाते हैं, जिनमें से केवल लगभग तीन सौ जातियाँ ही अधिक विषैली हैं । तीन सौ जातियाँ ऐसी हैं कि जिनकी लार में थोड़ा-सा विष मिला रहता है—ये सर्प साधारणतः मनुष्य के लिए हानिकारक नहीं होते और इनमें विषैले दाँत भी नहीं पाए जाते । यह विषहीन और विषैले सर्पों के बीच की श्रेणी है । शेष सब सर्प विषहीन होते हैं । यह भी नहीं भूलना चाहिए कि विषमय सर्पों के काटने पर भी मर जाना आवश्यक नहीं है । बहुधा ऐसा ही होता है कि जब वे काटते हैं, तब शरीर में उतना विष वे नहीं डाल पाते कि उससे काटे गए प्राणी की मृत्यु हो जाय । कुछ सर्पों के पास तो कभी इतना विष होता ही नहीं और जिनके पास होता भी है तथा जो उसे डाल भी सकते हैं, उन्हें काटते समय या तो पूरा विष उतारने का अथवा उचित प्रकार से दाँत गड़ाने या फन मारने का अवसर ही नहीं मिलता है । यही कारण है कि साँप से काटे गए मनुष्य बच भी जाते हैं । ऐसे ही लोगों को बचते देखकर जंत्र-मंत्र अथवा जड़ी-बूटी तथा अन्य औषधियों के गुणों में हमें विश्वास हो जाता है । वस्तुतः काटनेवाले सभी साँप विषधर नहीं होते और विषहीन सर्प द्वारा काटे गए लोग अवश्य ही बच जाते हैं—उनके लिए एक चुटकी राख, सँपेरों की औषधि अथवा मंत्र सभी एक-से उपयोगी हैं । हाँ, डर से अथवा घाव के पक जाने से यदि मृत्यु हो जाय, तो यह बात दूसरी है ।

सर्प की शरीर रचना

सर्प का शरीर लम्बा और बल खानेवाला होता है तथा उसकी खाल के ऊपर चीमड़ छिलके रहते हैं । उसके न सीने की हड्डी होती है और न अगली टाँगें । ज्यादातर साँपों में पिछली टाँगें भी नहीं पाई जातीं; लेकिन अजगर जैसे कुछ साँपों में पिछली टाँगों के मूल पाए जाते हैं । सर्प का शरीर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—सिर, धड़ और पूँछ । सिर

के अन्तर्गत दाँत और जीभ से युक्त मुँह, दो आँखें और दो नथुने होते हैं। उसके पीछे दूर तक धड़ रहता है और उसके पीछे का पतला-सा भाग पूँछ कहलाता है। जहाँ धड़ और पूँछ मिलते हैं, वहाँ नीचे की ओर एक छिद्र होता है, जिसे मलद्वार कहा जाता है। इस द्वार से मल के अतिरिक्त मूत्र तथा अंडे भी निकलते हैं। धड़ और पूँछ देखने में एक समान लगते हैं, परन्तु सुविधा के लिए मलद्वार से आगे के भाग को धड़ और पीछे के भाग को पूँछ कहते हैं। सर्प के गर्दन नहीं होती। उसकी आँखों में हमारे आपके जैसे पलक भी नहीं होते। उनमें दोनों पलक मिलकर एक पारदर्शक झिल्ली बन जाते हैं। यह झिल्ली आँखों के ऊपर मढ़ी रहती है। यही कारण है कि सर्प की आँखें सदा खुली और घूरती हुई-सी दिखाई देती हैं। सर्प का सिर और मुँह दोनों ही देखने में छोटे होते हैं। परन्तु वह अपने से कई गुनी मोटी वस्तु निगल लेता है। यह कैसे? उसके ऊपरी जबड़े की हड्डियाँ कई भागों में बँटी रहती हैं। ये हड्डियाँ और दोनों जबड़े एक दूसरे से ऐसी लचीली मांसपेशियों और तंतुओं से जुड़े होते हैं, जो रबड़ की तरह खिंच जाते हैं। आवश्यकतानुसार जबड़े खूब फैल जाते हैं। इस प्रकार अधिक मोटा शिकार भी सुगमता से मुख में प्रवेश कर जाता है। सर्प की जिह्वा बड़ी विचित्र होती है। वह लम्बी, पतली, नरम और आगे को चिमटे के समान फटी होती है, जिससे देखने में वह दोहरी जान पड़ती है। मुँह बन्द रहने पर भी एक छेद द्वारा वह ओठों के बीच से बाहर निकलकर इधर-उधर लपलपाया करती है। साँप अपनी जिह्वा द्वारा यह पता लगा लेता है कि उसके सम्मुख का शिकार या अंडा कितना मोटा है और वह उसे निगल सकेगा या नहीं। उसकी जिह्वा में स्वाद का अनुभव करने की शक्ति नहीं होती और न उसे इसकी आवश्यकता ही जान पड़ती है। जब वह अपने शिकार को बिना काटे ही पूरा निगल लेता है, तो फिर उसके स्वाद से उसे क्या सरोकार? उसकी जीभ का मुख्य कर्त्तव्य उसे सम्मुख की वस्तु तथा उचित मार्ग बताने का ही है। यही कारण है कि जब साँप चलते-फिरते हैं, तो अपनी जीभ को बाहर निकाले रहते हैं। वह उनकी स्पर्शेन्द्रिय है। सर्प की जिह्वा में एक और विशेषता होती है, जो अन्य किसी प्राणी में नहीं पाई जाती। वह यह है कि जब वह मुँह के भीतर बन्द रहती है और उस समय यदि मुँह खोलकर देखा जाय, तो उसका कहीं पता नहीं मिलता! इसका कारण यह है कि सर्प के मुँह के भीतर झिल्ली की एक थैली होती है, जिसमें सिकुड़कर वह जीभ बन्द हो जाती है। सम्भव है, यह झिल्ली इसीलिए बनाई गई हो कि कड़े भोजन को समूचा निगलते समय जीभ जैसे उस कोमल और आवश्यक अंग को कोई हानि न पहुँचे।

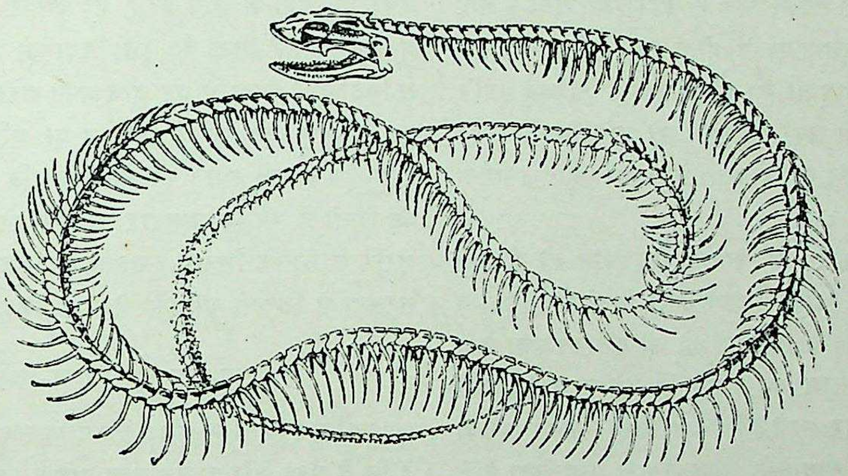

यह है साँप की हड्डियों और पसलियों का अद्भुत ढाँचा। उसकी ये सैकड़ों पसलियाँ ही शरीर को बल देकर उसे तेजी से रेंगकर आगे सरकने में मदद देती हैं।

अन्य उरंगमों की भाँति सर्प के भी दाँत केवल पकड़ने के लिए होते हैं, भोजन चबाने या कतरने के योग्य वे नहीं होते। वे नुकीले और भीतर की ओर मुड़े रहते हैं। उनमें एक बार शिकार फँस जाने पर सहज में छूटकर मुँह के बाहर नहीं आ सकता। जबड़ों की प्रत्येक गति से मुँह का ग्रास भीतर की ही ओर सरकता है। यही कारण है कि जल्दी में पकड़ी गई अप्रिय वस्तु को भी साँप को निगलना ही पड़ता है! ऐसी अवस्था में कभी-कभी गला घुट जाने से उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

विषहीन और निर्दोष सर्पों के दोनों जबड़ों और तालू में केवल नुकीले और ठोस दाँत ही होते हैं। इसके विपरीत दबोइया, झनझनिया आदि कुछ विषमय सर्पों के ऊपरी जबड़े में दो विषैले दाँतों के सिवाय अन्य दाँत नहीं होते। ये लम्बे दाँत विष की ग्रंथि (थैली) के नीचे एक चलनशील हड्डी में जुड़े रहते हैं और हर दाँत के भीतर विष प्रवेश करने के लिए एक नली बनी रहती है।

दक्षिणी अफ्रीका के अंडे खानेवाले सर्पों की एक जाति में दाँतों का एक विचित्र रूप मिलता है। ये सर्प तीन फीट

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से अधिक लम्बे होते हैं और उनका सिर मनुष्य की अँगुली के बराबर मोटा होता है। किन्तु ऐसी अवस्था में भी वे एक छोटी मुर्गी के अंडे तक को सहज में निगल लेते हैं! उनके असली दाँत बहुत छोटे होते हैं, लेकिन इसके बदले उनकी गर्दन की रीढ़ के हर मोहरे में दाँत जैसी एक हड्डी बढ़ी हुई होती है, जो गले में भीतर की ओर उभरी हुई रहती है। जब अंडा सर्प के गले में पहुँचता है, तो मांस-पेशियों के सिकुड़ते ही उसके ये विचित्र भीतरी दाँत दबोचकर उसे कुचल देते हैं! इस प्रकार अंडे की सामग्री तो पेट में पहुँच जाती है और छिलका कुछ समय पश्चात् बाहर उगल दिया जाता है! अंडा तोड़ने की ऐसी अद्भुत रचना सारे जन्तु-संसार में और किसी भी प्राणी में नहीं पाई गई है।

साँप के कान भीतर होते हैं, बाहर नहीं। उसके हृदय में चार कोठरियों की अपेक्षा तीन ही कोठरियाँ होती हैं और फेफड़ा भी दो के बजाय एक ही होता है। उसकी दोनों लार-ग्रंथियाँ काफी बड़ी होती हैं। कई साँप एक निश्चित अवधि पूरी होने पर अपने ऊपर की खाल को ज्यों-की-त्यों उतार फेंकते हैं। इसे साँप का 'केंचुली निकालना' या उतारना कहते हैं।

सर्प केवल शिकार की खाल और मांस को ही नहीं बल्कि उनके पर, अंडों के छिलके तथा सामान्य हड्डियाँ व सींग जैसे पदार्थों के कठोर भागों को भी गलाकर पचा लेता है! ऐसी कठोर वस्तुओं को पचाने में उसे बहुत समय भी नहीं लगता। अजगर अपने बड़े-से-बड़े शिकार—बकरी अथवा घड़ियाल—को भी सात-आठ दिन में पूरा पचा लेता है! शरीर में काफी चर्बी रहने के कारण अन्य उरंगमों की भाँति सर्प भी बहुत दिनों तक भूखे रह सकते हैं। साँप की सभी जातियों में नर और मादा दोनों प्रकार के प्राणी होते हैं। अधिकतर सर्प अंडज होते हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें मादाएँ बच्चे भी देती हैं।

साँप बिना हाथ-पैर के कैसे चलता है?

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब सर्प के शरीर में चलने-फिरने के लिए हाथ-पैर जैसे कोई भी अंग नहीं होते, तो वह विश्वासपूर्वक, सरलता से, धरती पर तेजी से किस प्रकार सरकता चला जाता है? इसका कारण केवल उसकी हड्डियों और पसलियों की अनोखी रचना है। साँप के शरीर की हड्डियाँ एक दूसरे से गेंद-गड्ढेवाले जोड़ों की रीति से जुड़ी रहती हैं। हमारे शरीर में भुजाएँ और टाँगें ऐसे ही जोड़ों द्वारा धड़ से जुड़ी हुई हैं। जिस तरह हम बिना किसी कठिनाई के अपनी भुजाओं को ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, अगल-बगल घुमा-फिरा लेते हैं, उसी प्रकार सर्प भी अपने लम्बे शरीर को इन जोड़ों के द्वारा जहाँ से चाहे शीघ्र ही तोड़-मरोड़ सकता है। उसकी पसलियाँ, जो गिनती में २०० से ३०० जोड़े अथवा उससे भी अधिक होती हैं, चलने में उसे विशेष सहायता पहुँचाती हैं। इन पसलियों के नीचे के छोर पेट की ऊपरी खाल पर उगे हुए कड़े छिलकों से जुड़े रहते हैं और ये ही पैर का काम देते हैं। जब साँप चलते हैं, तो एक भाग के छिलके से भूमि को दृढ़ता से पकड़ लेते हैं और तब उनके आगे का शरीर और पसलियाँ आगे को तनती या बढ़ती हैं। पसलियों के साथ-साथ उनसे जुड़े हुए छिलके भी सरकते हैं। इस प्रकार शरीर आगे को बढ़ता है। फिर अगले छिलके भूमि को पकड़ते हैं और पिछले छोड़ देते हैं। उधर पसलियों के आगे बढ़ते ही शरीर का पिछला भाग आगे को घसिट आता है। इसी क्रिया को जल्दी-जल्दी करने से बिना हाथ-पैरवाला यह जीव अपने शरीर को इधर-उधर बल देते हुए बड़ी तेजी से सरकता या घसिटता हुआ चला जाता है। चिकने स्थान पर साँप की गति अवश्य बहुत मंद पड़ जाती है, क्योंकि घासदार या खुरदरी भूमि को उसके शरीर के छिलके जितनी सुगमता से पकड़ लेते हैं, उतनी सरलता से चिकनी भूमि को वे नहीं पकड़ पाते।

स्वभाव और गुण-धर्म

सर्पों के स्वभाव में ध्यान देने योग्य सब से मुख्य बात यह है कि वे सुस्त और कायर जीव होते हैं। मनुष्य का खटका पाते ही अथवा उसे देखते ही वे भागकर छिपने की चेष्टा करते हैं। जब उन्हें भागने का मार्ग या छिपने का स्थान नहीं मिलता अथवा कोई उन्हें छेड़ता है, तभी वे मनुष्य पर वार करते हैं। बहुधा अनजान में उन पर पैर पड़ जाने पर या भूमि पर सोए हुए मनुष्यों के नीचे दब जाने पर भी उन्होंने दंतक्षत किया है। कई यात्रियों ने लिखा है कि जिस समय विषधर सर्प जंगल में धूप सेते रहते हैं, उस समय यदि कोई सवार या पैदल मनुष्य उस स्थान पर आ निकलता है, तो उन्हें वहाँ से हटना अच्छा नहीं लगता। तब अश्वारोही या घोड़े को अपनी समीपता बताने के लिए सर्प अपना मुँह ऊपर उठाकर अपनी काली जिह्वा को जल्दी-जल्दी लपलपाने लगते हैं। सर्पों का रंग जंगल से मिलता-जुलता होने के कारण वे स्पष्ट दिखाई नहीं देते, किन्तु उनकी हिलती हुई जीभ जब सामने पड़ जाती है, तब आगन्तुक उसे देखते ही भय से उछल कर अलग हट जाता है।

सर्पों के वर्ग, वंश, लक्षण तथा निवास-क्षेत्र

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वर्ग	वंश-संख्या	निवास-क्षेत्र	मुख्य लक्षण	विषैले या विषहीन
१. टाइफलोपिडी	१८	धरती के समस्त कटिबन्धों के स्थल-भाग ।	बिल बनानेवाले; केंचुए जैसे अंधे; कीटभक्षी; पीठ और पेट पर समान आकार के छिलके ।	विषहीन; निर्दोष ।
२. ग्लाकोनिडी	२	अफ्रीका, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, अमेरिका के उष्ण भाग और पश्चिमी द्वीप-समूह (स्थल) ।	बिल बनानेवाले; केंचुए जैसे अंधे; कीटभक्षी; आँखों के चिह्न होते हैं; पेट पर छिलके; केवल नीचे के जबड़े में ही दाँत ।	„
३. इलीसिडी	२	दक्षिणी-पूर्वी एशिया, बरमा, मलाया प्रायद्वीप, लंका, इंडोचीन (स्थल) ।	बहुत छोटे आकार के ।	„
४. यूरोपेलटिडी	४४	दक्षिणी भारत, पश्चिमी घाट तथा लंका की पहाड़ियाँ (स्थल) ।	दो फीट तक छोटे; लम्बे; छोटी पूँछ पर खुरदरी अद्‌भुत ढाल होती है ।	„
५. जीनोपेलटिडी	१	बरमा (स्थल) ।	इन्द्रधनुष-सा रंगवाला ।	„
६. एम्बलीकिफेलिडी	५	असम, बरमा, पूर्वी हिमालय (स्थल) ।	भुथुरी खोपड़ीवाला ।	„
७. बोइडी	४	[बोआ वंश]––दक्षिणी अमेरिका के गरम देश, बिलोचिस्तान, भारतवर्ष, प्राचीन दुनिया के गरम भाग, दक्षिणी मेक्सिको। [अनाकोण्डा वंश]–दक्षिणी अमेरिका और लंका ।	बड़े डीलवाले अजगर; मलद्वार के दोनों ओर पिछली टाँगों की जगह एक छोटा अंकुर रहता है; बड़े बली होते हैं और भेड़-हिरन जैसे पशुओं को दबाकर मार डालते हैं तथा उन्हें समूचे ही निगल जाते हैं; दुम से जकड़ने का काम लेते हैं; पेट के छिलके इतने चौड़े नहीं होते कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक सकें ।	विषहीन; हानिकारक ।
८. वाइपेरिडी	१९	अफ्रीका, योरप, एशिया ।	ऊपरी जबड़े में दो विषैले दाँतों के अतिरिक्त और दाँत नहीं होते । बच्चे देते हैं, किंतु अंडे नहीं ।	विषधर, हानिकारक, प्राणघातक ।
९. कोलुब्रिडी	२३१	उत्तरी गोलार्द्ध के स्थल-भागों के अलावा जल में भी तथा वृक्षों पर भी ।	यही सर्प-समूह का सब से बड़ा गण है, जिसमें बहुत से निर्दोष, कुछ थोड़े विषैले (जिनमें विषदंत पीछे रहते हैं), और कुछ महान् विषैले (जिनमें विषदंत सामने होते हैं) सर्प सम्मिलित हैं ।	१९ जातियाँ घोर विषधर-प्राणघातक ; शेष विषहीन ।

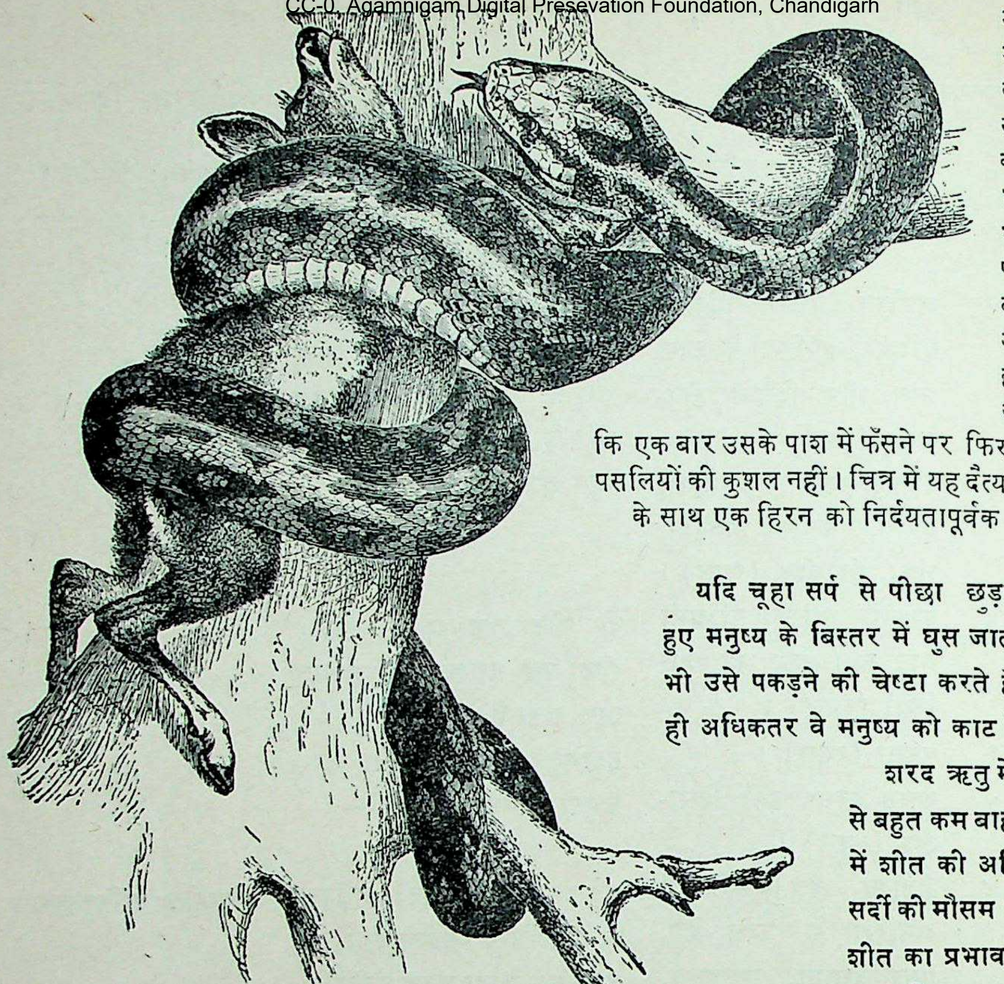

यही है पाइथन वंश का महान् अजगर, जो संसार का सब से बड़ा और भारी सर्प माना जाता है। कोई-कोई अजगर ३० फीट से भी अधिक लंबे और लगभग तीन मन तक भारी पाए गए हैं ! अजगर के बारे में प्रसिद्ध है कि वह अपने शिकार को समूचा ही निगल जाता है। उसकी जकड़ इतनी सुदृढ़ होती है कि एक बार उसके पाश में फँसने पर फिर किसी भी पशु की हड्डी-पसलियों की कुशल नहीं। चित्र में यह दैत्याकार जीव एक पेड़ के तने के साथ एक हिरन को निर्दयतापूर्वक जकड़े हुए दिग्दर्शित है।

सर्प उत्तरी कटिबन्ध के शीत-प्रदेश को छोड़कर संसार के सभी देशों में पाए जाते हैं। इनकी अधिकाँश जातियाँ स्थलवासी हैं, परन्तु बहुत-सी जातियाँ दलदल, नदियों और समुद्र में भी निवास करती हैं। कुछ जातियाँ वृक्षों पर ही रहती हैं। स्थलवासी जातियाँ पानी में भी तैर सकती हैं, किन्तु कई पनियर सर्प जल से बाहर आते ही प्राण त्याग देते हैं। १६,००० फीट ऊँचे पर्वतों पर भी सर्प पाए गए हैं। सर्प प्रायः स्वयं बिल नहीं बनाते। वे चूहों और चींटे आदि के बिलों, वृक्षों के कोटरों, तथा पुराने मकानों के खँडहरों पर ही अपना अधिकार जमाकर रहते हैं।

ग्रीष्म-ऋतु में संध्या-समय सर्प भोजन की खोज में इधर-उधर भटकते रहते हैं। कभी-कभी चूहे, छछूँदर, मुर्गी के बच्चे अथवा अंडों की खोज करते हुए बस्तियों और घरों में भी वे प्रवेश कर जाते हैं। प्रकृति ने उन्हें शरीर को बढ़ाने और सिकोड़ने की एक ऐसी अद्भुत शक्ति दी है, जिसके द्वारा देखते-ही-देखते छोटे बिल या दरार में वे घुस जाते हैं और अपने से कई गुना मोटा शिकार हड़प जाते हैं।

यदि चूहा सर्प से पीछा छुड़ाने के लिए किसी सोए हुए मनुष्य के बिस्तर में घुस जाता है, तो सर्प वहाँ जाकर भी उसे पकड़ने की चेष्टा करते हैं। प्रायः ऐसी दशा में ही अधिकतर वे मनुष्य को काट लेते हैं।

शरद ऋतु में सर्प अपने निवासस्थानों से बहुत कम बाहर निकलते हैं। जिन देशों में शीत की अधिकता रहती है, वहाँ वे सर्दी की मौसम भर निराहार पड़े रहते हैं। शीत का प्रभाव कम होने पर कभी-कभी बाहर निकलकर खाने के योग्य जो भी छोटे जीव पाते हैं, उन्हें वे हड़प जाते हैं। अंडे और चिड़ियों के बच्चों को ये जीव बड़े स्वाद से खाते हैं। जैसा कि डा० रामशरणदास ने लिखा है, पक्षियों के अंडे खाने के लिए सर्प पेड़ों पर भी चढ़ जाते हैं। यदि उनको पता चल जाय कि पेड़ की दरार में पक्षी के घोंसले हैं, तो वे उसमें अपना सिर घुसेड़ देते हैं। इस प्रकार एक सर्प एक बार एक छेद में सिर डालकर मरा हुआ लटकते देखा गया था। संभव है कि पक्षी के बच्चों को खाने के पश्चात् उसका गला इतना फूल गया हो कि वह उस छेद से बाहर अपने आपको न निकाल सका हो और लटकते ही लटकते उसके प्राण निकल गए हों!

कुछ सर्पिणी नरम परन्तु चीमड़ खोलवाले अंडे देती हैं। वे अधिकतर गरमियों के दिनों में ही अंडे देती हैं और उन्हें ऐसे सूखे स्थान पर गड्ढा बनाकर रखती हैं, जहाँ धूप से वे स्वयं ही सेवित हो सकें। अजगर अपने अंडों को बेखबर नहीं छोड़ता। जब तक उनमें से बच्चे बाहर नहीं निकलते मादा अजगर अंडों के ढेर को चारों ओर से घेरकर पड़ी रहती है। उसी की गरमी से वे सेवित होते हैं। मादा अजगर

एक बार में लगभग चालीस अंडे देती है। परन्तु कोई-कोई सर्पिणी एक बार में सौ तक अंडे दे देती है। करैत आठ-दस ही अंडे देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया है कि सर्प स्वयं ही अपने अंडे खा जाते हैं। सर्प के बच्चों अथवा पोओं के अंडे में से बाहर निकलने के पहले ही एक या अधिक दाँत निकल आते हैं, जिनसे वे अंडे की खोल को काटकर बाहर निकल आते हैं। सर्प की कुछ जातियों में पोए प्रस्फुटित अवस्था तक माता के पेट ही में रहते हैं और अलग-अलग झिल्ली में लिपटे हुए वे उत्पन्न होते हैं। वे जनमते ही झिल्ली फाड़कर बाहर निकल आते हैं और चारों तरफ बिखरकर आहार की खोज में लीन हो जाते हैं। विषैले सर्प के बच्चों में जन्म से ही काफी विष होता है। इसलिए निरे बच्चे समझकर उनसे बेपरवाह रहना भारी भूल है!

सर्प बोल भी सकते हैं। उनकी आवाज अपने-अपने ढंग की होती है। उनकी फुफकार से तो सभी परिचित हैं। अफ्रीका का 'पफ ऐडर' नामक साँप फेफड़ों में खूब हवा भरकर उसे नथुनों से ऐसी तीव्रता से निकालता है कि उसकी सनसनाती हुई फुफकार बड़ी दूर तक सुनाई पड़ती है। उत्तरी अमेरीका का 'बुल-स्नेक' अर्थात् 'साँड-सर्प' ऐसी तेज आवाज से बोलता है कि वह ३० या ३५ गज की दूरी से सुनी जा सकती है। भारतीय धामन सर्प भी विचित्र शब्द निकालते हैं। कुछ सर्प बगल के छिलकों को एक

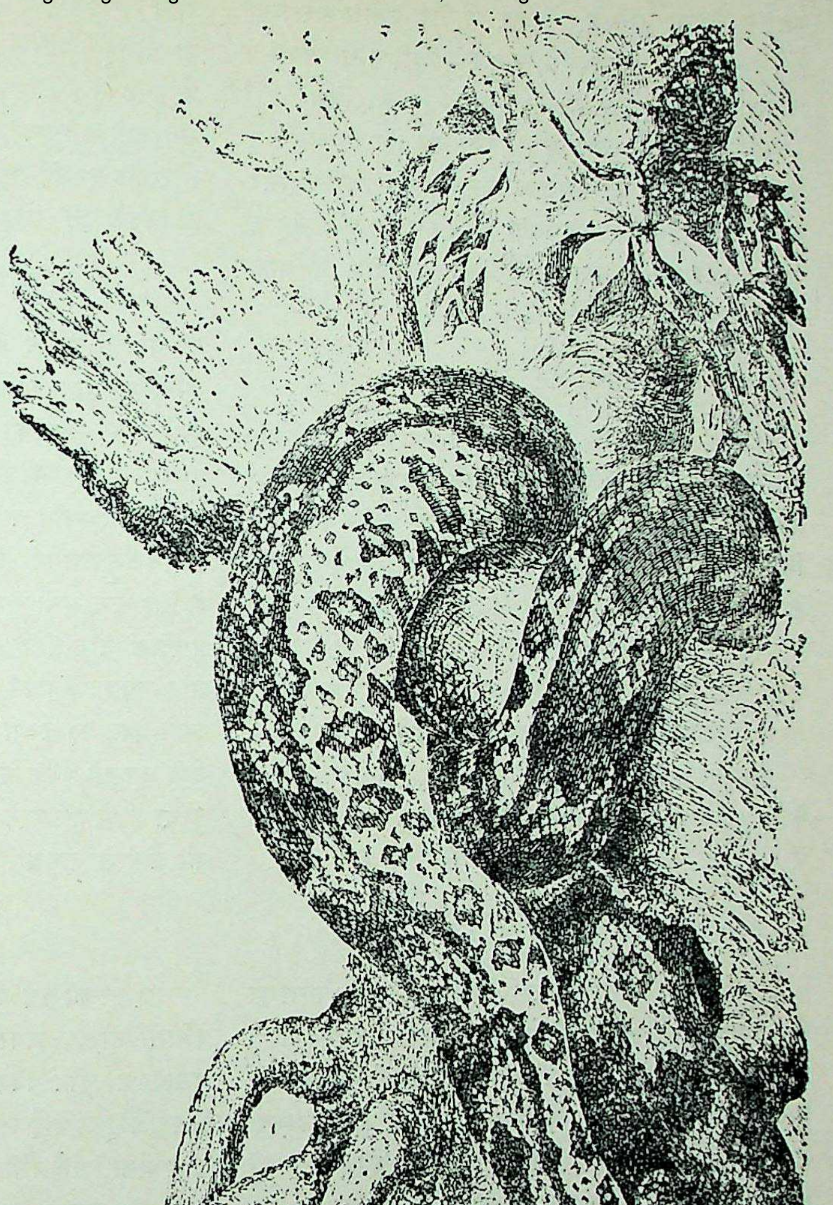

यह है नई दुनिया का 'बोआ' वंश का शक्तिशाली अजगर। यह दबोचनेवाला विशालकाय सर्प बीस फीट तक लंबा पाया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दूसरे से अथवा भूमि से रगड़कर आवाज उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसे आवाज करनेवालों में सब से विचित्र भारतवर्ष के 'झनझनिया सर्प' होते हैं (दे० पृ० १३२७ का चित्र)।

सर्प बड़े कठोर जीव हैं। इनका धड़ सिर से अलग हो जाने पर भी बड़ी देर तक पृथ्वी पर रेंगता रहता है! सिर-वाला भाग भी काफी समय तक जीवित रहता है! मुँह भी खुलता और बन्द होता रहता है, साथ ही जीभ भी बाहर भीतर निकलती रहती है।

नाना प्रकार के सर्प

साँप छोटे-बड़े अनेक मेल के होते हैं। कोई तो दो-तीन इंच ही लम्बे और कोई तीस-चालीस फीट तक लम्बे और तीन मन तक भारी होते हैं! यहाँ पर हम उनमें से कुछ के विषय में थोड़ी-सी मनोरञ्जक बातें आपको बताएँगे। पृथ्वी के सब सर्प नौ गणों अथवा वर्गों में विभाजित किए गए हैं। इनकी सूची पृष्ठ १३१९ की तालिका में दी गई है। उक्त सूची से सहज में पता चलता है कि भारतवर्ष और बरमा में अधिकतर वर्गों के सर्प पाए जाते हैं।

तीन सौ छब्बीस जातियों में से केवल अड़तीस जातियों के ही सर्प कम या अधिक विषैले होते हैं और ये सब सूची में दिए हुए अंतिम दो वर्गों में ही सम्मिलित हैं।

छोटे अंधे सर्प

अब हम कुछ खास-खास सर्पों का हाल लिखेंगे। स्थल पर बिल बनाकर रहनेवाले अति मनोरंजक सर्पों में से एक जाति मलाया प्रायद्वीप के लाल चिह्नवाले सर्प की है। वहाँ के निवासी उसे अपनी भाषा में 'ऊलर किपाल दुआ' अथवा दो सिरवाला साँप कहते हैं। उसके निराले स्वभाव के ही कारण उसे इस नाम से पुकारा जाता है। उसकी दुम का छोर लाल रंग के तीन प्रत्यक्ष धब्बों से सुशोभित रहता है। ये धब्बे साधरण दृष्टि में दो आँखों और खुले मुँह का धोखा देते हैं। उसकी उठी दुम को देखकर देखनेवाले तत्काल ही भ्रम में पड़कर उसे गुस्से में भरा हुआ खतरनाक जीव समझ बैठते हैं। वस्तुतः यह सर्प भयभीत होते ही अपनी पूँछ ऊपर उठा लेते हैं और इससे पहले कि शत्रु अपने भ्रम से सचेत हो, वह शीघ्र ही पीछे खिसक जाता है। यदि शत्रु वार भी करता है, तो इसके सिर के स्थान पर दुम ही घायल होती है। इस प्रकार उसकी जान बच जाती है।

बिल बनानेवालों में सब से अधिक ध्यान देने योग्य सर्प 'जान्स' है। इसका भी शरीर मोटे केंचुए के समान प्रतीत होता है। इसीलिए बहुधा साधारण भारतवासी उसे 'दोमुँहा' या 'दोमुँही' कहते हैं। ये सर्प अधिकतर कच्चे घरों में निकल आया करते हैं और लड़के उन्हें हाथ में लटकाकर बाहर फेंक आते हैं। इनका रंग हल्का या चटक कत्थई होता है और पीठ पर टेढ़े-मेढ़े धब्बे होते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनके ऐसे धब्बे नहीं होते।

विशालकाय सर्प—अजगर

सर्पों में सब से बड़े प्राणी विषहीन होते हैं, किन्तु अपने अमित बल द्वारा वे बड़े-बड़े पशुओं को भी दबा कर मार डालते हैं। इन बड़े सर्पों को साधारणतया लोग अजगर के नाम से पुकारते हैं। इनके दो प्रमुख वंशों के नाम 'पाइथन' और 'बोआ' हैं। पूर्वीय गोलार्द्ध के बिल बनानेवाले छोटे सर्पों के समान इन अजगरों में भी कूल्हे की हड्डी और पिछली टाँगों के शेष भाग अभी तक मौजूद हैं। उनमें विष-सम्बन्धी हथियारों की नींव भी अभी नहीं पड़ी है। फिर भी वे बड़े बलवान और भयंकर हैं। बड़े-बड़े जानवरों के शरीर के चारों ओर अपने बदन को रस्सी के समान लपेटकर वे इतने बल से उन्हें जकड़ते हैं कि उनकी हड्डियाँ चूर-चूर हो जाती हैं और तुरन्त ही वे मर जाते हैं। ये अजगर अपने शिकार को सिर की ओर से समूचा निगल लेते हैं।

पाइथन

पाइथन की कई जातियाँ पुरानी दुनिया में अफ्रीका, लंका, दक्षिणी भारत, बंगाल, असम, हिमालय, बरमा, स्याम, मलाया प्रायद्वीप, निकोबार, पूर्वीय द्वीप-समूह और पूर्वीय आॅस्ट्रेलिया में पाई जाती हैं। एक और जाति नई दुनिया के दक्षिणी मैक्सिको में भी पाई जाती है। अजगर सब देशों की जन्तुशालाओं में पाले जाते हैं। भारतवर्ष के सँपरे प्रायः उन्हें अपनी पिटारियों में लिए घूमा करते हैं। अन्य सर्पों के विपरीत पाइथन के गर्दन भी रहती है, या यों कहिए कि उसका सिर पिछले भाग (गर्दन) से मोटा, मुँह बहुत बड़ा, और धड़ चपटा तथा बीच में सब से मोटा होता है। उसकी पीठ पर टेढ़े-मेढ़े चौकोर पीले रंग के चकत्ते रहते हैं।

सब से बड़ा पाइथन मलाया और हिन्दचीन का जालीदार अजगर है, जो कभी-कभी तीस फीट से भी अधिक लम्बा होता है! उसकी मोटाई तरुण मनुष्यों की जाँघ के बराबर होती है। इन सर्पों के विषय में बहुत-सी झूठी-सच्ची बातें प्रचलित हैं। रोमन काल के एक अजगर के लिए कहा

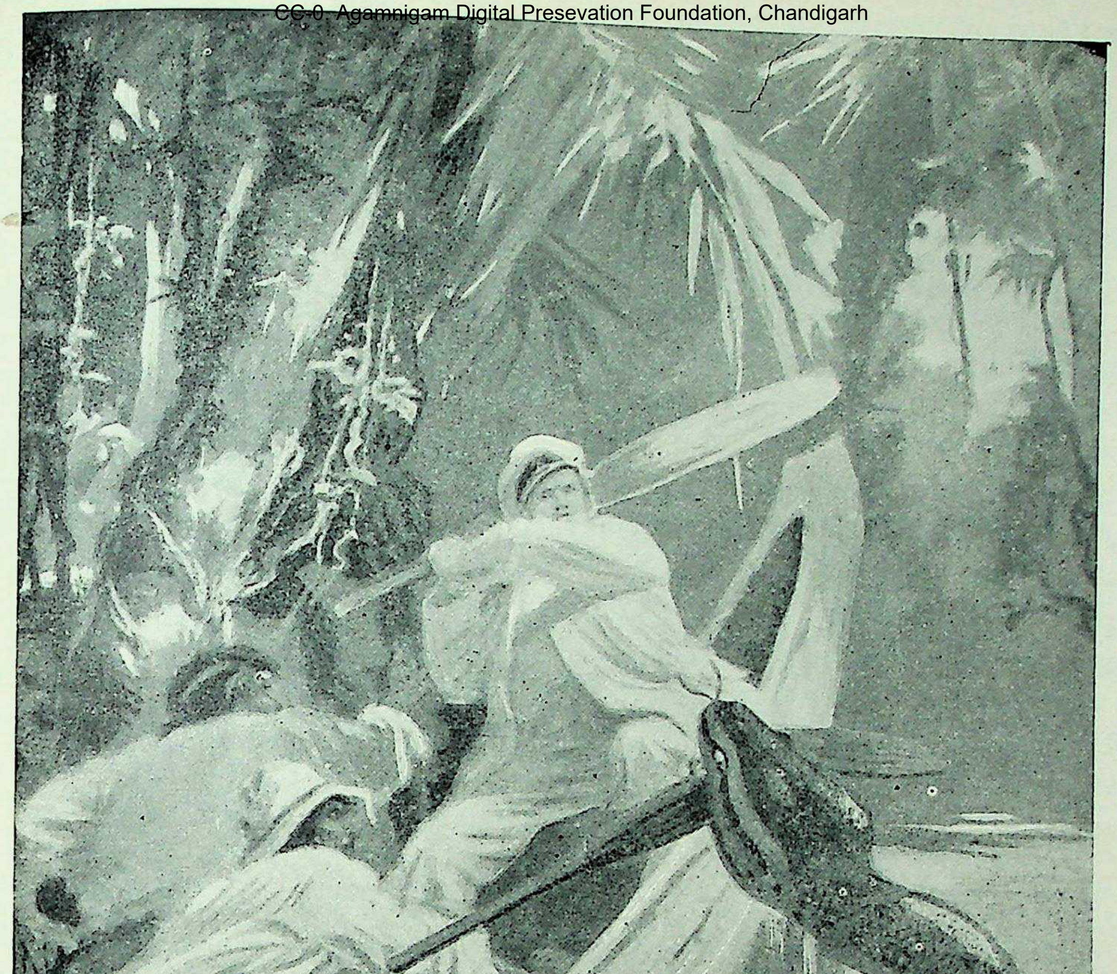

दक्षिणी अमेरिका का दैत्याकार अजगर—एनाकोण्डा

इसकी एक जाति लंका में भी पाई जाती है । यह तीस-चालीस फीट तक लंबा होता है और अर्धजलचर होने के कारण पानी में भी उतरकर शिकार किया करता है । कभी-कभी आक्रमण करके वह नाविकों सहित मामूली नौकाओं को उलट देता है, जैसा कि प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित है । यह दैत्य प्रायः जलाशयों के पास पेड़ों पर लटके हुए पड़ा रहता है और वहीं रात को पानी पीने के लिए आनेवाले बेखबर प्राणियों को हड़प लेता है ।

जाता है कि वह हाथी तक का गला घोंटकर उसे मार डालता था ! एक शताब्दी पहले की वैज्ञानिक पुस्तकों में तो यहाँ तक लिखा है कि लंका में एक ऐसा महान् अजगर मिलता है, जो भैंसे को निगल जाता है । पर ये सब केवल काल्पनिक अतिरंजित कहानियाँ हैं । वैज्ञानिकों ने अधिक से अधिक इनके द्वारा हिरन जैसे पशुओं को निगल जाने के प्रमाण पाए हैं । हाँ, एक भारतीय पाइथन ने एक बार एक तेन्दुआ भी खा लिया था जो दुम छोड़कर चार फीट लम्बा था ! जंतुशालाओं में पले हुए पाइथनों को कभी-कभी सुअर के बच्चे और छोटे बकरे खाने को दिए जाते हैं । पर सब पाइथन इतने बड़े नहीं होते—भारतवर्ष और अफ्रीका के साधारण पाइथन पन्द्रह फीट से अधिक लम्बे नहीं होते । अफ्रीका के पाइथनों में सब से प्रसिद्ध पश्चिमी भाग में मिलनेवाले चितकबरे अजगर एवं दक्षिणी भागों के पहाड़ों पर रहनेवाले चट्टानी पाइथन हैं । ये अपनी सुन्दर खाल के लिए हजारों की संख्या में मारे जा चुके हैं । आॅस्ट्रेलिया में भी बड़े सुन्दर रंग के पाइथन मिलते हैं, जो अपने रंग के लिहाज से 'कालीन', 'हीरा' और 'याकूती पाइथन' कहे जाते हैं । आॅस्ट्रेलिया का सब से बड़ा पाइथन अंग्रेजी भाषा में 'स्क्रूब' कहलाता है । यह बीस फीट लम्बा होता है और उत्तरी भागों में पाया जाता है ।

बोआ

पाइथन की तरह बोआ की भी गणना अजगरों में की जाती है । जिस प्रकार पाइथन विशेषकर पुरानी दुनिया के निवासी हैं, उसी प्रकार बोआ अधिकतर नई दुनिया में मिलते हैं । वे अमेरिका के गरम दक्षिणी भागों में ही मिलते हैं । बोआ की दो जातियाँ बिलोचिस्तान, सिन्ध, पंजाब, गंगा की घाटी तथा निचले बंगाल में भी पाई जाती हैं ।

नई दुनिया का साधारण बोआ, जिसे दबोचनेवाला बोआ कहा जाता है, मैक्सिको से ब्राजील के नीचे तक के जंगलों में, विशेषकर पूर्वीय प्रदेश में पाया जाता है । ये सर्प अपने वंश में सब से बड़े नहीं हैं । ये अधिकतर बारह फीट के होते हैं । लेकिन इनमें कोई-कोई बीस फीट तक भी लम्बे होते हैं । देखने में ये सुन्दर और स्वभाव में निर्दोष होते हैं ।

बोआ के दाँत लम्बे तथा बड़े शक्तिशाली होते हैं । क्रुद्ध होने पर ये शत्रु को अपने दाँतों से ऐसे कसकर पकड़ लेते हैं कि फिर उसका छूटना कठिन हो जाता है । बोआ और पाइथनों का अंतर पहचानने का एक सहज लक्षण यह है कि पाइथन के सिर पर छिलके बिलकुल नहीं होते, जबकि बोआ के सिर के पिछले भाग में छोटे-छोटे छिलके होते हैं ।

वृक्ष पर रहनेवाले छोटी जाति के बोआ बड़े भड़कीले रंग के होते हैं । इनमें सब से सुन्दर बोआ दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी-पश्चिमी देशों में पाए जाते हैं । उनके चमकीले चटक हरे रंग पर सफेद और शर्बती रंग के ऐसे सुन्दर चित्र बने रहते हैं कि जिनकी शोभा का वर्णन करना कठिन है ! सर्प-संसार में सम्भवतः ये ही सब से सुन्दर प्राणी हैं । किंतु दुर्भाग्यवश वे जंतुशालाओं में बंदी होने पर पनप नहीं पाते । अन्य जातियों में से 'धनुषिये' नामक बोआ अमेरिका में और एक दूसरी जाति के मेडागास्कर द्वीप में पाए जाते हैं । वृक्षवासी बोआ साधारण बोआ और पाइथनों के समान अंडे नहीं देते । वे अपनी संतान को सशरीर जन्म देते हैं । इनका जन्म तो धरती पर होता है, परन्तु पैदा होते ही उनके बच्चे पेड़ पर चढ़ जाते हैं । इस प्रकार भूमि पर के शत्रुओं से वे अपनी रक्षा करते हैं ।

एनाकोण्डा

सब से बड़े डीलवाले अजगरों की दो जातियाँ 'एनाकोण्डा' के नाम से प्रसिद्ध हैं । यह शब्द लंका से निकला हुआ जान पड़ता है, क्योंकि एक एनाकोण्डा वहीं मिलता है और दूसरा उष्ण कटिबन्धीय अमेरिका में । लंका की एनाकोण्डा जाति पाइथनों की कई जातियों में से एक है । ऐसा एक अजगर वहाँ तेंतीस फीट लम्बा मिला था ! अमेरिका के एनाकोण्डा बोआ वर्ग के ही सर्प हैं, जिन्हें वैज्ञानिक भाषा में 'यूनेक्टीस म्युरीनस' कहते हैं । उनकी पीठ पर काले धब्बों की दोहरी कतारें होती हैं । जंतु-संसार में इस भयानक अजगर की गणना सब से विशालकाय सर्पों में की जाती है । ये तीस-चालीस फीट तक लम्बे होते हैं । बुटानटन (ब्रेजिल) के अजायबघर में एक एनाकोण्डा की बत्तीस फीट लम्बी खाल रक्खी है ! एनाकोण्डा अर्धजलचर जीव है । यह विशेषकर रात्रि में शिकार करता है । पानी में पड़ा हुआ यह अजगर उन जानवरों की घात में रहता है, जो नदी के किनारे अपनी प्यास बुझाने आते हैं । नई दुनिया का एनाकोण्डा अपने पुरानी दुनिया के भाइयों के समान पेड़ों पर भी चढ़ जाता है और वहीं से लटके-लटके नीचे से निकलनेवाले बेखबर शिकार को धर दबाता है । पृष्ठ १३२३ पर इस भयानक जीव का चित्र देखिये ।

बिना विषदंत के अन्य सर्प

बिना विषदंतवाले लाक्षणिक सर्पों में से अंडा तोड़नेवाले अफ्रीकानिवासी एक उपसमूह का उल्लेख हम पहले ही कर

चुके हैं। शेष उपसमूहों में नाना प्रकार के स्थलवासी, जलचर अथवा वृक्षवासी सर्प हैं, जो लगभग डेढ़ सौ वंशों में विभाजित हैं। इनमें से एक घास में रहनेवाले सर्प हैं, जिनकी औसत लम्बाई लगभग तीन फीट होती है। ये प्रायः पानी के आसपास ही रहते हैं, क्योंकि इन्हें तैरना और मेढक खाना बहुत पसंद है। ये सर्प भूलकर भी काटने की चेष्टा नहीं करते, फिर भी ये बेचारे हानिकारी समझे जाकर मार डाले जाते हैं! संभवतः इसीलिए इनमें से बहुत-से प्राणी शत्रुओं को इस बात का धोखा देने के लिए कि वे विषैले सर्प हैं, भरसक डराने का प्रयत्न करते हैं। भारतीय 'चूहे-सर्प', जिन्हें हम 'धामन' नाम से पुकारते हैं और जिनकी कई जातियाँ हैं, फन उठाकर नाग की भाँति आक्रमण भी करते हैं।

अन्य अहानिकर सर्प इससे भी अधिक चकमा देते हैं। उत्तरी अमेरिका के सुअर-जैसी नाकवाले सर्प का सिर चपटा और तिकोना होता है, जिससे देखनेवाले यह समझकर कि इनके विष-ग्रंथियाँ हैं, उनसे सतर्क हो जाते हैं! इतना ही नहीं, वे अपनी गर्दन को भी चपटा कर लेते हैं और मुँह खोलकर फुफकार छोड़ते हैं, ताकि अनजान शत्रु उन्हें प्राणघातक समझकर उनसे दूर भाग जाएँ।

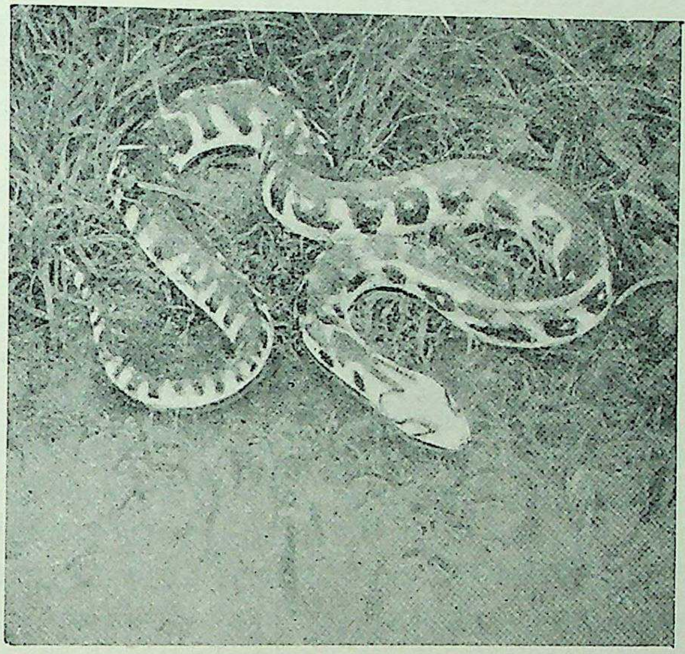

यह है भारतीय पनियर सर्प, जो विषैला नहीं होता। यह साँप उम्दा तैराक होता है, साथ ही बड़ी तेजी से धरती पर भी रेंग सकता है।

यहाँ हमें एक और ऐसे सर्प का ध्यान आता है, जिसके विषय में सब भारतवासियों को जानकारी रखनी चाहिए। वह है 'भेड़िया सर्प' अथवा 'वुल्फ सर्प'। इस निर्दोष सर्प का रूप-रंग ऐसा होता है कि मनुष्य को सहसा वह विषैला करैत जैसा जान पड़ता है। वस्तुतः करैत की तरह इस जाति के सर्प की काली पीठ पर भी सफेद डमरू की शक्ल की दोहरी अर्धगोलाकार धारियाँ होती हैं। परन्तु दोनों में भिन्नता यह होती है कि 'भेड़िया सर्प' में ये धारियाँ सिर से आरम्भ होकर पूँछ की नोक से कुछ पहले ही समाप्त हो जाती हैं और विषैले करैत में वे सिर से थोड़ी दूर पर आरम्भ होती और ठेठ पूँछ के छोर तक चली जाती हैं। यह भेद याद रखने योग्य है, क्योंकि ये दोनों सर्प हमारे यहाँ की आबादी के आसपास रहना पसंद करते हैं। वस्तुतः घरों के निकट पाए जानेवाले सर्पों में से आधे ये निर्दोष भेड़िया सर्प होते हैं।

ब्रेजिल का 'झूठा दबोइया' (वाइपर) भी धोखा देने में बड़ा मक्कार होता है। उसके बड़े दांत विषदंत जैसे होते हैं, परन्तु उनमें विष-प्रणाली नहीं होती। ये झूठे विषदंत देखने भर के ही होते हैं। ऐसा माना जाता है कि विषमय सर्पों का विकास इसी समूह के सर्पों में से हुआ है।

सर्पों में विष-संचार की व्यवस्था

सर्पों में विष की उत्पत्ति का विकासक्रम बड़ा ही मनोरंजक है। जिस प्रकार हमारे मुँह में थूँक बनानेवाली ग्रंथियाँ हैं, उसी प्रकार इन उरंगमों में भी थूँक उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियाँ होती हैं। इन ग्रंथियों में आँख के पासवाली ग्रंथियाँ ही क्रमशः विकसित होकर थूँक के स्थान पर विष उत्पन्न करने लगती हैं। विकास की दूसरी सीढ़ी पर उनमें विषदंत नियत हो जाते हैं और तब ग्रंथियों का सरोकार इन दाँतों तथा जबड़े की मांस-पेशियों से हो जाता है। स्थानाभाव के कारण, हम यहाँ इस व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करने में असमर्थ हैं, किन्तु इतना समझ लेना आवश्यक है कि सर्प का विष वास्तव में उसका एक विशेष प्रकार का थूँक ही है।

झूठे वाइपर-समूह के सर्पों की विष-ग्रंथियाँ मुँह में बहुत पीछे की ओर होती हैं। इनसे निकलनेवाली छोटी नलिकाएँ झूठे विषदंतों की जड़ के पास खुलती हैं। अतः उनका विष दाँतों में होकर नहीं आता, वह तो मुँह के भीतर ही रह जाता है। उसका कर्त्तव्य मुँह में पहुँचे हुए घायल शिकार को रंजित करके उसे शिथिल बनाकर मार डालने भर का होता है,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

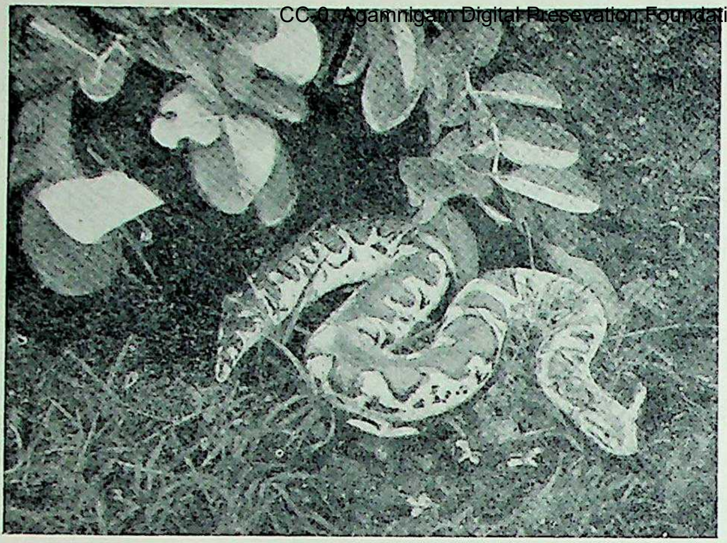

यह है भारतीय दुमुँहा सर्प, जिसके दरअसल दो मुँह नहीं होते, केवल उसकी दुम ऐसी बनी होती है कि उससे दूसरा मुँह होने का भ्रम होता है।

ताकि वह सहज में निगला जा सके। यह व्यवस्था उस व्यवस्था से कहीं घटिया है, जो नाग और करैत जैसे घातक सर्पों में पाई जाती है। यही कारण है कि पीछे की ओर विषदंतवाले सर्प कम विषैले माने जाते हैं और आगे की ओर विषदंतवाले सर्पों से, जो कि महान् विषैले होते हैं, वे पृथक् श्रेणी में रक्खे जाते हैं। इस प्रकार सर्पों के तीन समूह हुए—(१) विषदंतहीन निर्दोष सर्प; (२) पीछे की ओर विषदंतधारी सर्प; और (३) अग्रविषदंतधारी सर्प।

पीछे की ओर विषैले दाँतवाले सर्प

पीछे की ओर विषदंतधारी सर्पों में से अभी तक केवल एक ही सर्प मनुष्य के लिए अधिक विषैला सिद्ध हुआ है और वह है दक्षिणी अफ्रीका का 'बूमस्लैंग'। डच भाषा में 'बूम' का अर्थ वृक्ष और 'स्लैंग' का अर्थ है सर्प। बूमस्लैंग वृक्ष पर रहनेवाला एक बड़ा सर्प है। इसे विज्ञानवेत्ता बहुत समय तक अहानिकर समझते थे, परन्तु अफ्रीका-निवासी इसे विषैला ही मानते थे। साधारगतया जनता के प्रचलित विचार ही सही निकल जाते हैं। यद्यपि कई एक योरपीय इनके काटने पर मृत्यु से बच भी गए, परंतु इसका कारण यह रहा होगा कि सम्भवतः विषैले दाँत पीछे होने के कारण विष का पूर्ण प्रभाव उन पर न पड़ पाया होगा!

पीछे की ओर विषैले दाँतवाले सर्पों में सब से सुन्दर विटपवासी सर्प ही होते हैं। मलाया का काला तथा सुनहरा सर्प एवं भारतवर्ष के दक्षिणी-पूर्वी भाग में और बरमा में १,५०० फीट की ऊँचाई पर पाए जानेवाले सर्प बड़े ही मंजुल होते हैं। इनका चटक रंग वृक्षों के पत्तों और उनकी छाया से तथा शरीर शाखाओं अथवा टहनियों के वर्ण में ऐसा घुल-मिल जाता है कि बहुधा हम उन्हें देख ही नहीं पाते। अमेरिका के नुकीले सिरवाले भूरे वृक्षवासी सर्पों में रंग द्वारा अदृश्य होनेवाले सर्पों का एक उत्तम उदाहरण हमें मिलता है। जिस प्रदेश में लाइना नामक लता (जो कि देखने में रस्सी के समान भूरे रंग की होती है) बहुतायत से पाई जाती है, वहाँ के घने जंगलों में ये सर्प रहते हैं। इस लता की छाल और इन सर्पों के शरीर पर एक ही जैसे धब्बे होते हैं। उनमें इतनी समानता होती है कि वहाँ के लोग सर्प तथा लता दोनों को एक ही नाम——'बेजूको'——से पुकारते रहते हैं। ये सर्प लता की जटाओं में फंदा डाले चुपचाप लटके रहते हैं और पास से निकलनेवाली छिपकलियों को हड़पकर अपना पेट भरते हैं। ये जीव पक्के वृक्षवासी होते हैं, कदाचित ही भूमि पर उतरते हों। बेचारी असावधान छिपकलियों को यह सर्प धोखा देकर शीघ्र ही काल के मुँह में पहुँचा देता है।

अग्रविषदंतधारी सर्प—नागराज या शेषनाग

अब हम भारत तथा अन्य देशों में पाए जानेवाले अग्रविषदंतधारी भयंकर सर्पों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। सभी प्राणघातक सर्पों में विषदंत आगे की ओर रहते हैं। इस प्रकार के अति विषैले कोलुब्रिडी वर्ग के सर्प चार समूहों में विभाजित हैं—कोबरा, करैत, कोलर और कॉपरहेड। इन सब में विष की बड़ी ग्रंथियाँ होती हैं और विष के दाँत मुँह में आगे की ओर रहते हैं, अतः शिकार पर आक्रमण करते समय वे सहज में उस तक पहुँच जाते हैं। पीछे की ओर विषदन्तवाले सर्पों के दाँतों की अपेक्षा अग्रविषदन्तवाले सर्पों के दाँत अधिक कारगर होते हैं। इनमें विष ले जानेवाली प्रणाली एक नलिका में होकर दाँत के छोर तक पहुँच जाती है। ये विषदन्त मानो एक प्रकार की इंजेक्शन देनेवाली महीन पिचकारियाँ हैं, जो विष को छेद के पेंदे तक पहुँचा देती हैं। योरप को छोड़कर पुरानी दुनिया के अन्य सभी भूभागों में ये विषमय सर्प पाए जाते हैं। सर्प द्वारा मृत्यु होनेवाले प्राणियों की हत्या में सब से बड़ा हाथ इन्हीं का है।

सर्पों में सब से भयानक और तेजस्वी वे हैं, जिन्हें हम अपने देश में शेषनाग, महानाग, नागराज अथवा शंखचूड़ के

नाम से पुकारते हैं। ये बड़े जोशीले और चालाक होते हैं। इनका सिर चपटा और मुड़ा हुआ तथा थूथन के समान होता है, जिसके पीछे गरदन की खाल फैलकर फन का रूप धारण कर लेती है। यह प्रसार पसलियों के फैलते ही खाल के तन जाने से होता है। इनकी आँखों में विचित्र ज्योति होती है, जिससे यह बहुत सचेत प्रतीत होते हैं। इनका रंग जैतूनी या गहरे भूरे से लेकर बिल्कुल काला तक होता है, जो डरावना दिखता है। उसमें जहाँ-तहाँ पीलापन और कालिमा लिए हुए कुछ पट्टियाँ भी होती हैं। ये पट्टियाँ कभी-कभी छोटी-छोटी चित्तियों से युक्त होने के कारण धब्बेदार रेखाएँ जैसी भी लगती हैं।

साधारणतया नागराज या शेषनाग की लम्बाई ग्यारह-बारह फीट की होती है, किन्तु कोई-कोई नाग पंद्रह-सोलह फीट लम्बाई के भी मिले हैं! पौराणिक गाथाओं के अनुसार पृथ्वी एक हजार फनवाले महान् शेषनाग के सिर पर रक्खी हुई है! जब वह महान् सर्प जँभाई या अँगड़ाई लेता अथवा करवट बदलता है, तो भूमि हिलती है और भूमि के इस हिलने को भूकंप कहते हैं! इस संबंध में एक रोचक कथा हमें सुनने को मिलती है। कुछ पंडितों का कथन था कि पुरानी दिल्ली की लोहे की प्रसिद्ध लाट शेषनाग के सिर पर गड़ी हुई है! कहा जाता है कि महाराज पृथ्वीराज ने इस कथन की वास्तविकता जानने के लिए उसे खोदने की आज्ञा दी और खोदने पर वास्तव में लाट के निचले सिरे पर रुधिर प्राप्त हुआ! कहते हैं, दिल्ली-अधिपति द्वारा इस प्रकार सताए जाने पर उस नागराज ने श्राप दिया, जिसके फलस्वरूप पृथ्वीराज का राज्य नष्ट हो गया! उपर्युक्त विचारों के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं कहना है, पाठक स्वयं ही इनकी वास्तविकता को परख लें। किन्तु यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि भारतवासी शेषनाग से सदैव भयभीत रहते आए हैं और आज भी उसे अलौकिक शक्तिधारी मानते हैं।

नागराज विश्व का सब से अधिक विषमय तथा घातक सर्प है। यह बहुत ही फुर्तीला तथा शीघ्रगामी होता है। कहा जाता है कि थोड़ी दूर आगे गए हुए घोड़े को भी वह सरलता से पकड़ लेता है। वह शीघ्र ही क्रोधित होनेवाला और आक्रमण के लिए सदैव प्रस्तुत रहनेवाला प्राणी है। जिस समय वह पृथ्वी से अपना धड़ ऊपर उठाकर, फन फैलाए, चमकीली आँखें निकालकर खड़ा हो जाता है, उस समय कौन ऐसा प्राणी होगा, जो स्वयं भयभीत न होकर उसे डरा सके? प्रसवकाल तथा वर्षा के पश्चात् इसका क्रोध और भी तीव्र हो जाता है और उस समय जरा-सी भी छेड़-छाड़ करने पर वह सीधा शत्रु पर टूट पड़ता है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि शेषनाग किसी प्राणी को देखते ही उसका पीछा करता है। वस्तुतः क्रुद्ध होने पर ही वह हमला करता है। अन्य विषधर सर्पों की अपेक्षा उसमें विष कहीं अधिक होता है। राजर्स का कथन है कि एक आदमी को मारने के लिए जितने विष की आवश्यकता होती है, उसका दसगुना विष शेषनाग के एक बार दाँत मारने में निकला करता है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि नागराज अधिक नहीं मिलता और जंगलों के कट जाने से उसकी संख्या धीरे-धीरे और भी कम होती जा रही है। भारत में यह विशेषकर हिमालय, असम और दक्षिणी भारत के सदा हरे-भरे पहाड़ी जंगलों के एकान्त स्थानों में ही निवास करता है। किन्तु यह मैदानी जंगलों में भी जीवन व्यतीत कर सकता है। पहाड़ियों पर यह समुद्रतल से सात हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह बहुधा वृक्षों पर चढ़ जाता है और बड़ा अच्छा तैराक भी होता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त

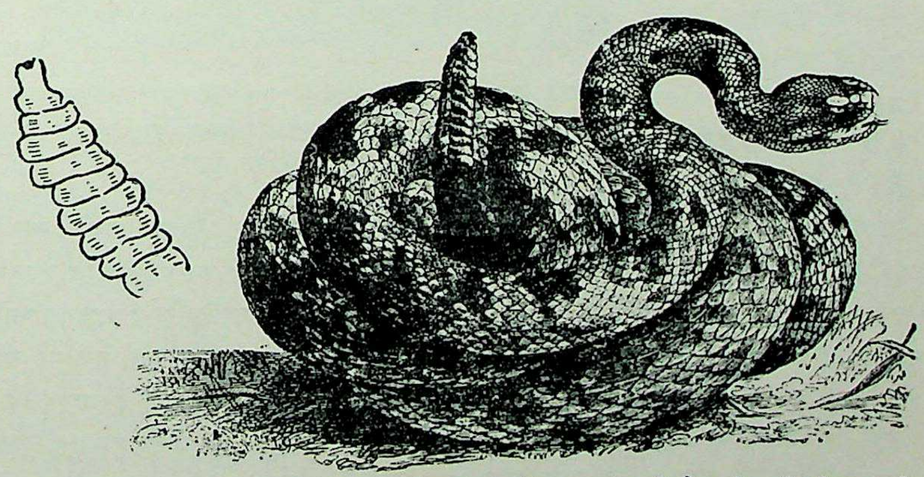

प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित सर्प 'झनझनिया सर्प' कहलाता है। यह साँप विषैला होता है और इसकी खास विशेषता इसकी दुम होती है, जो चित्र में बाईं ओर को अलग से दिखाई गई है। जब कोई खटका होता है, तो यह इस दुम को झनझनाता है, जिससे 'झनझन' ध्वनि निकलती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यह बरमा, इन्डोचीन, दक्षिणी चीन, अंडमान द्वीप-समूह, मलाया और फिलीपाइन द्वीप-समूह में भी मिलता है।

इन राक्षसी उरंगमों का भोजन भी बड़ा अनोखा है। ये मुख्यतः अन्य सर्पों को खाना ही पसन्द करते हैं, चाहे वे विषहीन हों अथवा विषमय। करैत जैसे विषैले सर्पों को समूचा निगल जाने पर भी नागराज जैसा का तैसा बना रहता है ! बम्बई के जन्तु-संग्रहालय में एक नाग अन्य फनियर साँपों को वैसे ही खा जाता था, जैसे निर्दोष साँपों को। एक बन्दी शेषनाग ने तो इतने सर्प खाए थे कि वे एक पंक्ति में मिलाने से १९४ फीट लम्बे होते थे ! इसीलिए संस्कृत में इस नागराज का एक नाम 'भुगगभुक्' भी है।

फनवाला गेहुँअन नाग

शेषनाग के पश्चात् दूसरा भयानक सर्प 'कोबरा' है, जो हमारे देश में नाग, फनियर, गेहुँअन अथवा गोखुरा नाम से प्रसिद्ध है। इससे भी लोग बड़े भयभीत रहते हैं। लम्बाई में तो यह केवल छः फीट होता है, किन्तु इसका फन नागराज के फन से भी बड़ा होता है। जोश या क्रोध की दशा में यह अपना शरीर उठा लेता है। यही कारण है कि यह फनियर कहलाता है। गेहुँआ अथवा खैरे रंग का होने के कारण लोग इसे 'गेहुँअन' भी कहते हैं। इसके फन पर पीछे की ओर बहुधा गौ के खुर की भाँति काला और सफेद चिह्न रहता है और फन के नीचे की ओर भी इसी प्रकार के एक-दो धब्बे होते हैं। दो धब्बेवाले सर्प को बंगाल में रौखुड़ा कहा जाता है। एक धब्बेवाले को कहीं-कहीं क्यूटिया भी कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में फनवाले चिह्न को 'चश्मे के आकारवाला कोबरा' माना जाता है। कभी-कभी इसमें यह चिह्न नहीं भी रहता और इसी जाति के कुछ नाग ऐसे भी हैं, जो फन निकाल भी नहीं सकते।

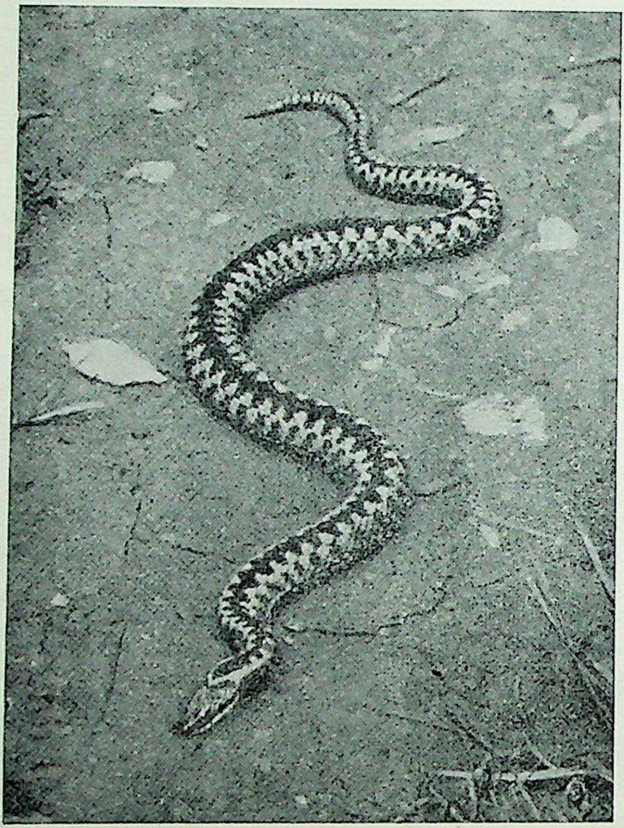

यही है ब्रिटेन का एकमात्र विषैला सर्प 'वाइपर', जिसका दंतक्षत घातक होता है। इस सर्प में विष-संबंधी व्यवस्था अन्य सर्पों से अधिक विकसित होती है।

गेहुँअन सर्प खतरा पाते ही घबड़ा जाता है और छेड़ने पर शीघ्र ही सिर उठाकर फन फैलाए हुए धनुषाकार रूप में अपनी गर्दन टेढ़ी करके खड़ा हो जाता है। जिस जीव से वह रुष्ट होता है, उस पर थोड़ी-थोड़ी देर में आक्रमण करता है। आक्रमण करते समय वह तेज फुफकारी छोड़ता हुआ अपने उठे हुए टेढ़े धड़ को आगे फेंककर मारता है। कभी-कभी क्रोधित होने पर यह नाग अपने शत्रु के पीछे दौड़ता भी है और पास आने पर सिर उठाकर आक्रमण करता है। काटते समय यह बहुत देर तक शत्रु के शरीर में दाँत घुसेड़े रहता है, जिससे घाव में काफी विष प्रवेश कर जाय और शिकार कदापि बचने न पाए। यह नाग साधारणतः छछूँदर, चूहा तथा मेढक पर जीवन-निर्वाह करता है। चूहे का पीछा करते हुए यह बड़ी तेजी से भागता है और मेढक पकड़ते समय इसका सिर मेढक की उछाल के साथ मानो हवा में दिखाई देता है और बात की बात में मेढक उसके मुँह में प्रवेश कर जाता है।

सँपेरे प्रायः दो-एक ऐसे साँप अपने साथ लिए रहते हैं और बीन बजाकर इनका खेल तथा नेवले से इनकी लड़ाई दिखाकर पैसा कमाते हैं। यदि आपने यह युद्ध देखा है, तो क्या कभी यह विचार आपके मन में नहीं उठा होगा कि नेवले से लड़ते समय सर्प सदैव अपना बचाव ही क्यों करता रहता है ? वह नेवले पर आक्रमण क्यों नहीं करता ? इसका कारण सुस्पष्ट है। नेवला सर्प का भोजन नहीं है अतः सर्प अपनी स्वाभाविक बुद्धि से जानता है कि नेवला उसे कोई विशेष हानि नहीं पहुँचा सकता। ऐसी स्थिति में उस पर आक्रमण करना वह व्यर्थ समझता है।

भारतीय कोबरा एशिया महाद्वीप के सभी पूर्वी-दक्षिणी देशों में मिलता है, पर भिन्न-भिन्न स्थानों में इसमें कुछ

अन्तर पाया जाता है। सम्पूर्ण काला नाग मलाया में ही होता है। चश्मे जैसे चिह्नवाला नाग बहुधा मकानों तथा झोपड़ों के आसपास रहता है और एक आँख जैसे चिह्नवाला नाग विशेषकर दलदलों में ही पाया जाता है। कहीं-कहीं लोग इस घातक जीव की उपासना भी करते हैं और नागदेव को दूध पिलाकर प्रसन्न करते हैं। किन्तु यह बड़ी अज्ञानता और भूल है। इस संबंध में एक किंवदंती प्रचलित है। एक समय कोई देवता जंगल में सोए हुए थे कि उन पर धूप आ गई। यह देखकर एक नाग पास गया और अपना फन फैलाकर उसने देवता के मुख पर छाया कर दी। इस बात से देवता इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने सर्प को आशीर्वाद दिया। उन्होंने उसके सिर पर हाथ रक्खा, जिससे उसकी अँगुलियों का चिह्न सर्प के फन पर बन गया। तभी से लोग इसकी उपासना करने लगे!

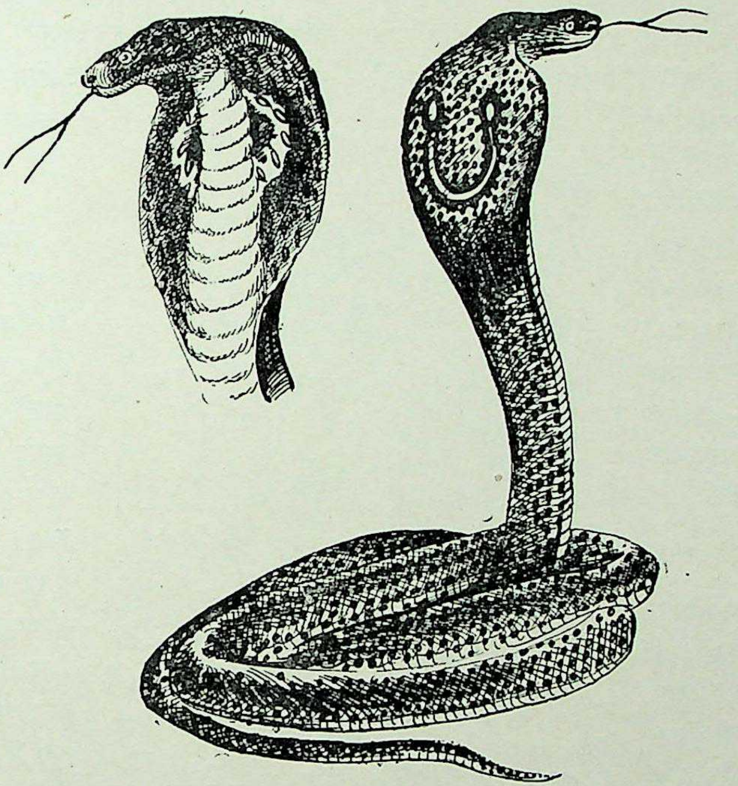

यही है अति विषैला भयानक सर्प 'गेहुँअन नाग या कोबरा'! इसके फन पर पीछे की ओर गाय के खुर की शक्ल का एक काला और सफेद चिह्न बना रहता है। चित्र में बाईं ओर इसका सामने का भाग भी प्रदर्शित है।

करैत

'करैत' बंगेरस वंश का सर्प है, जो उत्तर प्रदेश में बहुत मिलता है। इसका विष नाग के विष से चौगुना-पंचगुना अधिक तीव्र होता है। चार फीट का यह छोटा सर्प अपने से बड़े नागों से कम घातक नहीं होता। यह बस्तियों के निकट खेतों में या छोटी झाड़ियों के जंगलों में पानी के आसपास समूहों में रहना पसन्द करता है। करैत साधारणतः अन्य साँपों को खाता है, परन्तु कभी-कभी चूहे, छिपकलियाँ, मेढक आदि को भी वह खा लेता है। दिन में तो यह छिपा रहता है और रात्रि में भोजन की खोज में निकल पड़ता है। छेड़े जाने पर यह अपने सिर को शरीर की कुण्डलियों में छिपाकर निश्चिन्त हो जाता है और इस प्रकार थोड़ी देर तक चुप्पी साधे पड़ा रहता है।

साधारण करैत की पहचान यह है कि उसकी चमकीली काली या चटक कत्थई रंग की पीठ पर आरपार पतली श्वेत धारियाँ पड़ी रहती हैं, जो सिर के पीछे से आरम्भ होकर पूँछ के छोर तक चली जाती हैं। इसके पेट का रंग मोती के समान सफेद होता है। पीठ के मध्य भाग के छिलके बगल के छिलकों से बड़े और कुछ-कुछ पतले होते हैं। उसकी दुम के नीचेवाले छिलके समूचे होते हैं।

करैत की एक जाति की पीठ पर पीले और काले गंडे अर्थात् चौड़ी धारियाँ पड़ी रहती हैं। ऐसे करैत को चितकौड़िया और साधारण करैत को कौड़िया चितकौड़ियाभी कहते हैं। चितकौड़िया करैत विशेषकर जंगली स्थानों में रहना पसन्द करता है।

विष थूकनेवाले भयानक सर्प

अफ्रीका में सात जातियों के नाग पाए गए हैं। इनमें सब से भयानक 'वृक्ष कोबरा' या 'माम्बा' है। वह अधिकतर दक्षिणी भागों के जंगलों में मिलता है। उसकी दो जातियाँ हैं—एक हरा, जो नौ फीट तक लम्बा होता है और दूसरा काला, जिसकी लम्बाई लगभग १३ फीट की होती है। नागराज के बाद सब से अधिक और अत्यन्त प्राणघातक विष 'काले माम्बा' में ही होता है। अफ्रीका में एक और विचित्र नाग 'रिंघल' (जिसे दक्षिणी अफ्रीका का थूथनवाला नाग कहते हैं) पाया जाता है। इस प्रदेश के अतिरिक्त यह दुनिया के किसी भी भाग में नहीं पाया जाता। इसमें दो विशेषताएँ होती हैं—पहली यह कि क्रोध करने पर यह मूँह से फुफकारी के साथ तेजी से विष थूकने लगता है, जिसकी बौछार ढाई-तीन हाथ दूर तक जाती है। इस विष का छींटा आँख में पड़ने

से तेज जलन होने लगती है और प्रायः आँख फूट भी जाती है। इसीलिए इस साँप को पकड़ते समय सँपेरे अपनी आँखों की रक्षा के हेतु चश्मे पहन लेते हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि यह अन्य नागों के समान अंडे नहीं देता, वरन् छोटे-छोटे बच्चे देता है।

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप भी अपने विषैले सर्पों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ के समस्त सर्पों में से दो तिहाई सर्प विषैले हैं, किन्तु १०५ जातियों में से केवल पाँच जातियाँ ही प्राणघातक हैं। ये सब उसी कोलुब्रिडी गण के जीव हैं, जिसमें कोबरा और करैत सम्मिलित हैं। इनमें सब से बड़े और सब से विषैले भूरे रंग के 'टाइपन' और देखने में ताँबे जैसे सिरवाले 'कापरहैड' सर्प हैं। टाइपन की लम्बाई दस फीट या उससे भी अधिक होती है और वह भयंकर भी अधिक होता है। मनुष्य को देखते ही वह एकाएक आक्रमण कर बैठता है और एक बार ही में काटे हुए घाव में विष के इतने बूँद भर देता है कि जो बीस आदमियों को ठिकाने लगाने के लिए यथेष्ट होते हैं !

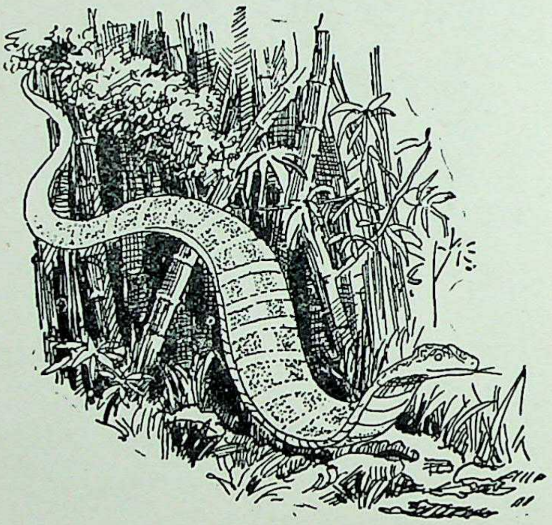

यह सर्प धरती पर नहीं रेंग रहा, बल्कि वृक्ष से जमीन पर हवा में तैरता हुआ-सा उतर रहा है ! सर्पों की यह अनोखी उड़नेवाली जाति केवल जावा और मलाया में पाई जाती है।

मणि जैसे सुन्दर विषधर

अमेरिका महाद्वीप में अग्रदंतधारी विषमय सर्पों की एक जाति होती है, जो 'कोरल' कहलाते हैं। ये सब सर्प असाधारण मनोहर होते हैं। उन पर अत्यन्त सुन्दर चित्रकारी बनी रहती है। उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो चमकते हुए चटकीले लाल और पीले मूंगे के छिलके एक के पीछे एक जड़ दिए गए हों ! कैसे आश्चर्य की बात है कि ये मणि जैसे सुन्दर जीव भी अत्यन्त विषैले हैं ! उनकी लम्बाई दो या तीन फीट की होती है और सिर भी छोटा ही होता है, इसलिए वे मनुष्य-जाति पर अपने विष का प्रयोग बहुत कम कर पाते हैं। उनके विषदंत बहुत लम्बे होते हैं। साधारण दशा में ये दाँत मुख के पीछे रहते हैं, परन्तु जब सर्प चोट करने को होता है, तो वे मुड़कर जबड़ों के सामने निकल आते हैं। यदि वे सदा इसी अवस्था में रहें, तो सर्प के लिए भोजन पाना और मुँह बन्द करना कठिन हो जाय। अचम्भे की बात है कि ये प्राणघातक जीव भी बड़े सहज में पाले जा सकते हैं। दक्षिणी अमेरिका के पीरू देश में एक स्कूल-मास्टर ने ऐसे दो साँप निर्दोष जानकर पाल लिए थे। वे उन्हें अपनी मेज की दराज में रखते थे। दोनों सर्प उसमें से निकलकर इधर-घूमा करते और मास्टर की कलम और हाथ पर चढ़कर खेला करते थे। लोगों के कहने पर भी मास्टर अपने इन पालतू खिलौनों को नहीं छोड़ते थे। परन्तु एक दिन जब उनमें से एक ने एक छिपकली को, जो उसे खाने को दी गई थी, एक ही चोट में ऐसा बेजान कर डाला कि मानो उस पर बिजली गिर पड़ी हो, तब मास्टर साहब की आँखें खुलीं और उन्होंने उन सर्पों को तत्काल ही जंगल में छुड़वा दिया।

'उड़नेवाले सर्प'

आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि साँपों की कतिपय जातियाँ उड़नेवाली भी पाई जाती हैं। वस्तुतः ये कोई पंखयुक्त प्राणी नहीं होते, न इनके चमगादड़ की तरह उड़ने में मदद देनेवाली झिल्लियाँ ही होती हैं। इनकी विशेषता केवल यही होती है कि इनका शरीर चपटे फीते जैसा होता है। उसी की बदौलत ये वृक्षों पर से एक डाली से दूसरी डाली पर या जमीन पर हवा में तैरते हुए-से उतर आते हैं। इसी पृष्ठ पर दिए गए इस सर्प का चित्र देखिए।

दुःख की बात है कि हमारे देश में कई सौ मनुष्य प्रतिवर्ष सर्प के काटने से मरते हैं, तो भी उनके विषय में अब तक लोगों को इतना ज्ञान नहीं है कि वे जान सकें कि मनुष्य को विषैले अथवा विषरहित सर्प ने काटा है। यह पहचान डीलडौल, फन या ऐसी मोटी-मोटी बातों से नहीं हो सकती। कुछ सहायता पूँछ के आकार से अवश्य मिल सकती है। किन्तु सर्प के शरीर पर जो चिह्न और स्केल अथवा सिन्ने होते हैं, यदि उनकी सावधानी से जाँच की जाय, तो ठीक-ठीक पता लग जाता है कि अमुक सर्प विषधर है अथवा विषहीन। इस विषय की जानकारी के लिए अगले पृष्ठ पर दी गई सचित्र तालिका देखिए।

विषैले और विषहीन सर्पों के पहचानने की रीति

पूँछ दाहिनी-बाईं ओर से चिपटी हो
तो
सर्प समुद्री और **विषैला** होगा ।

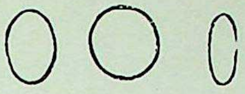

पूँछ गोल या लगभग गोल हो
तो
सर्प स्थलवासी **विषैला** या **विषहीन** होगा ।

पीठ और पेट पर एक ही जैसे स्केल या सिन्ने हों
तो
सर्प **विषहीन** होगा ।

पेट पर के सिन्ने बड़े बड़े और चौड़े हों, लेकिन इतने चौड़े नहीं कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक लें
तो
सर्प **विषहीन** होगा ।

पेट पर सिन्ने इतने चौड़े हों कि पेट की पूरी चौड़ाई ढक लें
तो
सर्प **विषहीन** या **विषैला** होगा ।

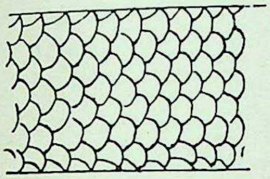

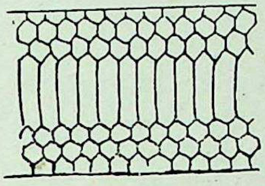

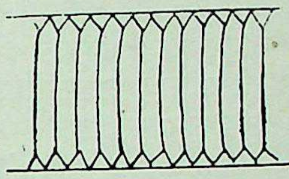

सिर पर छोटे-छोटे स्केल हों, और नाक तथा आँख के बीच में गड्ढा हो
तो
सर्प **विषैला** गड्ढेदार दबोइया होगा ।

सिर पर छोटे-छोटे स्केल हों, परन्तु नाक तथा आँख के बीच में गड्ढा न हो
तो
सर्प **विषैला** बिना गड्ढेदार दबोइया होगा ।

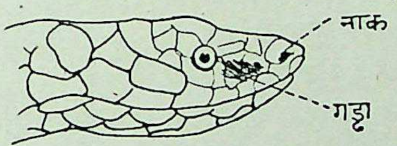

सिर पर बड़े-बड़े स्केल हों
तो
सर्प **विषैला** या **विषहीन** होगा ।

(१) ऊपर के ओठ का तीसरा स्केल आँख व नाक के स्केल को छूता हो
तो
सर्प **विषैला** होगा ।

(२) पीठ पर बीच के स्केल दूसरों की अपेक्षा बड़े हों और उन पर अर्धगोलाकार धारियाँ हों तथा पूँछ के नीचे के स्केल इकहरे हों
तो
सर्प **विषैला** करैत होगा ।

(३) यदि नं. १ और नं. २ के कोई चिह्न न हों
तो
सर्प **विषहीन** होगा ।

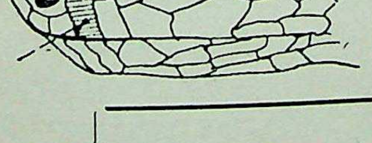

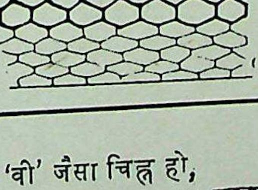

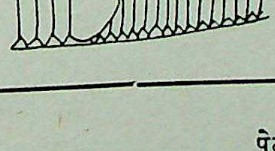

गर्दन और फन पर चश्मे के आकार या 'वी' जैसा चिह्न हो, पेट पर रंगीन धब्बे हों तथा पूँछ के नीचे के स्केल दोहरे हों
तो
सर्प **विषैला** कोबरा या नाग होगा ।

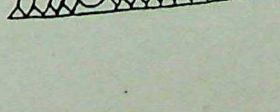

पेट पर लाल मूँगे के रंग की धारियाँ हों
तो
सर्प **विषैला** कोरल होगा ।

उरंगमों की दुनिया—(४)

छिपकलियाँ, गिरगिट, गोह, आदि

इस लेखमाला के पिछले तीन प्रकरणों में आप कच्छप, मगर और सर्प जाति के वर्तमान उरंगमों तथा उन भीमकाय प्राचीन उरंगमों के संबंध में भी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने इस भूमण्डल पर किसी समय अपना साम्राज्य-सा स्थापित कर लिया था, किन्तु जिनके केवल हड्डियों के अवशेष ही अब मिलते हैं। प्रस्तुत प्रकरण इस लेखमाला का चतुर्थ और अंतिम अध्याय है और इसमें उरंगम-जाति के अन्य एक प्रधान वर्ग के प्राणियों का वर्णन किया गया है, जिन्हें जीव-विज्ञान के अंतर्गत छिपकलियों के नाम से पुकारा जाता है। और इनकी लगभग १,८०० जातियाँ पृथ्वीतल पर इस समय मिलती हैं।

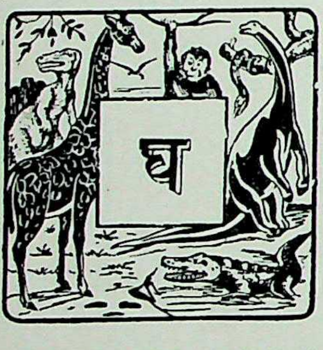

घरों में रहनेवाली छिपकलियों को हम नित्य ही देखते हैं और उनसे घृणा भी करते हैं, किन्तु वास्तव में ये सब घृणा की पात्र नहीं हैं। बहुत-सी छिपकलियाँ रंग-रूप में अति सुन्दर हैं; कुछ देखने में घातक प्रतीत होने पर भी निर्दोष हैं; साथ ही साथ कुछ ऐसी भी हैं, जो निष्कपट दिखाई देने पर भी घातक आक्रमण करती हैं। कुछ छिपकलियों में रंग बदलने की अद्भुत शक्ति होती है, कुछ उड़नेवाली छिपकलियाँ भी हैं, कुछ बिना पैर की हैं, और कुछ ऐसी भी हैं, जो इच्छानुसार अपनी दुम को धड़ से अलग कर लेती हैं।

एक लेखक का कथन है कि छिपकलियों का भविष्य उज्ज्वल है। यह विवादास्पद विषय है। मानव-जाति का भूमंडल पर दिन-प्रति-दिन अधिकार बढ़ते देखकर हम यह मानने को तैयार नहीं होंगे कि इस प्रकार का कोई जीव भविष्य में उन्नति कर सकेगा। जो भी हो, इस समय इनकी लगभग अठारह सौ से भी अधिक जातियाँ भूमंडल पर विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ समुद्र में विचरनेवाली भी हैं। इनमें से कुछ तो बहुत छोटी हैं और कुछ कद में तीन मनुष्यों से भी अधिक लम्बी हैं। ये प्रायः सभी पूँछदार होती हैं और अधिकतर का शरीर पतले छिलकों से आच्छादित रहता है, जो नुकीले और खुरदरे होते हैं। कुछ छिपकलियों के छिलके चिकने भी होते हैं और कुछ के शरीर पर परत होते ही नहीं हैं।

छिपकलियों के लक्षण

अधिकांश छिपकलियों के चार चरण होते हैं, पर कुछ के केवल दो ही होते हैं और कुछ के पैर होते ही नहीं। इनके पंजो के नाखून तेज नहीं होते। घरेलू छिपकलियों की अंगुलियों में गुदगुदी गद्दियाँ होती हैं, जिनके सहारे ये आसानी से सीधी दीवार पर चढ़ जाती हैं। मरुस्थल में रहनेवाली छिपकलियों की अँगुलियों पर चारों ओर सिन्ने होते हैं, जिनके कारण वे सरलता से बालू पर चल-फिर सकती हैं। कुछ छिपकलियों की पूँछ लघु और स्थूल होती है तथा कुछ की लम्बी एवं पतली। किसी-किसी जाति की छिपकलियों की पूँछ उनके धड़ और सिर की लम्बाई से दुगनी या तिगुनी तक बड़ी होती हैं। वे अपनी बड़ी दुम को फटफटाकर जोर से अपने शत्रु पर वार करती हैं। किसी-किसी जाति की छिपकलियों की पूँछ में सब से विचित्र बात यह पाई जाती है कि वह शरीर से अलग हो जाती है! वे शत्रु का आक्रमण होने पर शरीर को ऐसे जोर से झटकती हैं कि पूँछ अलग जा गिरती है! धड़ से अलग होने पर भी दुम कुछ देर तक छटपटाती रहती है, जिससे शत्रु का ध्यान उस उछलती-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कूदती दुम पर जा लगता है और छिपकली के धोखे में वह उसे ही पकड़ लेता है ! इस बीच स्वयं छिपकली भागकर प्राण बचा लेती है । इतना ही नहीं, धीरे-धीरे उस छिपकली के फिर एक नवीन पूँछ उत्पन्न हो जाती है, यद्यपि वह पहले की भाँति विकसित नहीं होती । कभी-कभी इनके एक दुम के स्थान पर दो-तीन दुम भी निकल आती हैं !

छिपकलियों की जीभ अनेक प्रकार की होती हैं । कुछ की मोटी और चौड़ी होती है, पर अधिकतर की पतली, लम्बी और सर्प की जीभ के समान आगे की ओर दो भागों में विभाजित रहती है । रंग-परिवर्तन करनेवाले गिरगिट की जीभ सब से अधिक अद्‌भुत होती है । जब वह किसी पतिंगे को पकड़ना चाहता है, तो अपनी जीभ को बड़ी तेजी से ७-८ इंच आगे निकाल लेता है । उस जीभ के फैले हुए छोर पर एक प्रकार का चिपचिपा रस होता है, जिस पर पतिंगा चिपक जाता है ! कहने की आवश्यकता नहीं कि जीभ खींचने पर शिकार अप्रयास ही मुख में प्रवेश कर जाता है । गिरगिट की इस जीभ के बाहर निकलने और भीतर जाने की क्रिया इतनी तेजी से होती है कि बहुधा मनुष्य खाली आँखों से उसका निरीक्षण नहीं कर पाता । अतः फोटो-यंत्र की सहायता लेनी पड़ती है ।

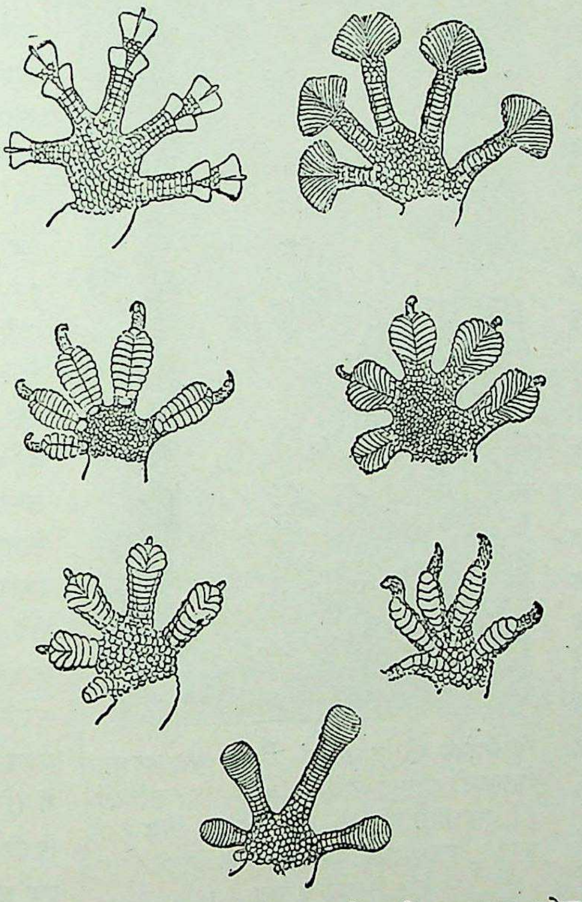

दीवारों पर रहनेवाली विविध जाति की साधारण घरेलू छिपकलियों के तरह-तरह के पंजों के नमूने ।

छिपकलियों के दाँतों की बनावट सर्प के दाँत की भाँति होती है । बड़ी छिपकलियों के काटने पर घाव हो जाते हैं, जिनके पकने पर प्राण संकट में पड़ जाते हैं । लोगों का यह विचार है कि साधारण छिपकलियों में से कुछ विषैली भी होती हैं और गिरगिट, बिसखोपरा या गोह के काटने से मनुष्य प्रायः मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं, परन्तु यह विचार विवादास्पद है । अब तक इन जीवों के किसी भी अंग में विष नहीं पाया गया । केवल दो जातियों की छिपकलियों में ही विष होता है, जो कि मैक्सिको या उसके समीपवर्त्ती भागों में पाई जाती हैं । इनके मुख में विष की थैली और विषदंत भी होते हैं । इनका वर्णन हम आगे करेंगे ।

प्रायः सब छिपकलियों के नेत्रों में पारदर्शक झिल्लियाँ रहती हैं, किन्तु उनमें पलक नहीं होते । कुछ जातियों को छोड़ प्रायः सभी छिपकलियाँ रात्रि में शिकार के लिए निकलती और दिन में छिपी रहती हैं । बहुत-सी छिपकलियाँ तेज आवाज करने के लिए प्रसिद्ध हैं । कदाचित् वे अपनी जीभ को तालू पर मारकर पट-पट-सी आवाज उत्पन्न करती हैं । घरेलू छिपकलियों की गति मन्द होती है, किन्तु कोई-कोई अत्यंत फुर्तीली भी होती हैं । कुछ इतनी शीघ्रता से दौड़ती हैं कि दृष्टिगोचर ही नहीं होतीं ! वे शरीर के अगले भाग को उठाकर पिछले पैरों के बल पूँछ की सहायता से दौड़ती हैं । अधिकांश छिपकलियाँ स्थल-वासी हैं, परन्तु कुछ वृक्षों पर, कुछ जल में तथा कुछ जल और स्थल दोनों में ही निवास करती हैं । कुछ छिपकलियाँ अंडे देती हैं और कुछ के अंडे गर्भ में ही फूट जाते हैं, जिसके कारण उनके जीवित बच्चे उत्पन्न होते हैं । आइए, अब कुछ अनूठी छिपकलियों का परिचय प्राप्त करें ।

सब से प्राचीन छिपकली—'टुआटेरा'

न्यूजीलैंड और उसके समीपवर्त्ती द्वीपों में छिपकली जैसा एक विचित्र उरंगम पाया जाता है, जो शरीर-रचना और स्वभाव में कुछ-कुछ कछुओं और कुछ-कुछ पक्षियों से मिलता-जुलता है । यह उन प्राचीन पुरखों का एक बचा हुआ स्मारक है, जिनसे वर्तमान जातियों की छिपकलियों का विकास हुआ है । इसका नाम 'टुआटेरा' अथवा 'स्फेनोडोन' है ।

किसी समय न्यूजीलैंड में ये छिपकलियाँ बहुतायत से थीं, किन्तु आजकल वे वहाँ लुप्त-सी हो रही हैं। प्रकृति के इन अनूठे स्मारकों को लुप्त होने से बचाने के हेतु वहाँ की सरकार ने उनकी रक्षा का काफी प्रबन्ध किया है। वहाँ के निकटवर्त्ती टापुओं में उनकी ऐसी कड़ाई के साथ रक्षा की जाती है कि वैज्ञानिकों को भी इन छिपकलियों के नमूने प्राप्त करने के लिए आज्ञा लेने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। ये डरपोक जीव समुद्री पक्षियों के साथ बिलों में रहते हैं और अपने जीवन का अधिक समय बिलों के द्वार पर ही व्यतीत कर देते हैं। छेड़े जाने पर ये काटने और पंजा मारने का प्रयत्न करते हैं। बंदी होने पर ये केंचुए, घोंघे आदि खाते हैं, परन्तु कभी-कभी मेढक और चूहे पर भी जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। वर्ष के आरम्भ में मादा लगभग एक दर्जन अंडे देती है, जिनकी खोल चीमड़ और कड़ी होती है। कहा जाता है कि इन अंडों में से बच्चा एक वर्ष बाद निकलता है!

टुआटेरा की एक असाधारण विचित्र बात उसकी तीसरी आँख है! कुछ उरंगमों में यह सिर के बीच में मस्तिष्क के ऊपर पाई जाती है। बहुत सम्भावना है कि प्राचीन उरंगम इस नेत्र द्वारा सिर के ऊपर भी देख सकते रहे होंगे। दूसरी असाधारण बात जो टुआटेरा और कैमीलियन नामक रंग बदलनेवाली छिपकली (गिरगिट) में भी पाई जाती है, यह है कि वे अपनी अँगुलियों को दो भागों में विभाजित करके वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। जब वे कोई चीज पकड़ते हैं, तब अगली टाँग की तीन अँगुलियाँ भीतर और दो बाहर की ओर रहती हैं। परन्तु पिछली टाँग में यह क्रिया ठीक इसके विपरीत होती है। टुआटेरा और कैमीलियन के अतिरिक्त अन्य कोई भी छिपकली अपना भोजन पंजों द्वारा पकड़कर नहीं करती। टुआटेरा का चित्र इसी पृष्ठ पर आप देख सकते हैं। यह जन्तु अपने विशिष्ट लक्षणों द्वारा प्राचीन उरंगम-युग की याद दिलाता है।

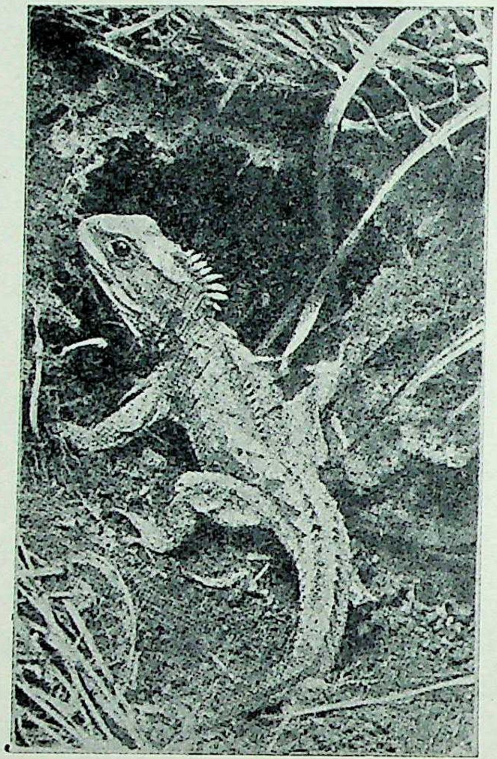

न्यूजीलैण्ड की 'टुआटेरा' नामक यह अद्‌भुत छिपकली अत्यन्त प्राचीन काल के उरंगमों की याद दिलानेवाला एक अनोखा जीव है। प्रस्तुत चित्र में यह अपने बिल के मुहाने पर बैठा दिखाई दे रहा है।

रंग बदलनेवाली छिपकली—कैमीलियन

साधारण कैमीलियन उत्तरी अफ्रीका, सीरिया, एशिया माइनर, स्पेन, दक्षिणी भारत, लंका आदि प्रदेशों में पाई जाती हैं। उनकी सब से बड़ी विशेषता रंग बदलना है। कुछ अन्य छिपकलियों में भी रंग बदलने की क्षमता होती है, उदाहरणस्वरूप अमेरिका की अनोलिस नामक एक छिपकली में। परन्तु वह कैमीलियन वर्ग की नहीं है, वहाँ के निवासी केवल रंग बदलने की उसकी क्षमता के कारण ही उसे भी कैमीलियन नाम से पुकारते हैं। एक महाशय लिखते हैं कि उन्होंने स्वयं अनोलिस जाति की एक छिपकली को हरे रंगवाले एक डंठल पर चढ़ते देखा और जब वह एक पके हुए पत्ते पर आ बैठी, तब वह उसी पत्ते के समान पीली दिखाई दी! देखते ही देखते वह पत्ता टूट गया और छिपकली नीचे गिर गई। अतः जब वह भूरी मिट्टी के ऊपर आई, तब उसका रंग मिट्टी के समान भूरा हो गया! इस चमत्कार में कठिनाई से पाँच मिनट लगे होंगे! साधारणतः देखने में आया है कि वास्तविक कैमीलियन हर परिस्थिति के अनुसार रंग बदल लेती है। प्रकाश तथा ताप में परिवर्तन होने से ही नहीं, वरन् किसी आकस्मिक घटना से एकाएक घबड़ा जाने या भय खा जाने अथवा क्रोधित होने से भी उसके रंग में तदनुकूल आकस्मिक परिवर्तन होते पाया गया है।

कैमीलियन की रंग बदलने की इस अद्‌भुत क्रिया को खूब बारीकी से जाँचा-परखा गया है। इस सम्बन्ध में कुछ अनुभव अत्यन्त रोचक हैं। एक समय तीन कैमीलियनों को भिन्न-भिन्न शीशे के बर्तनों में रक्खा गया। पहले बर्तन में हरी पत्तियाँ छोड़ी गई, दूसरे में भूरी, और तीसरे में सफेद रेत डाली गई। तब तक तो तीनों का रंग एक-सा बना रहा। परन्तु जब उनमें से एक को एक काले डिब्बे में बन्द कर दिया गया और उसका ताप ७५° रक्खा गया, तो कुछ समय

पश्चात् उसका रंग हरा हो गया! दूसरे को ऐसे ही डिब्बे में जब ५०° ताप में बन्द कर दिया गया, तब उस कैमीलियन का रंग भूरा हो गया! उसी डिब्बे में जब आधी ओर प्रकाश कर दिया गया, तो उसमें की छिपकली का अर्धप्रकाशित शरीर हरा-पीला हो गया और दूसरा आधा भाग भूरा ही बना रहा! ऐसे ही परीक्षणों से विदित हुआ है कि कैमीलियन के शरीर पर हरा या हरा-नीला प्रकाश डालने से तुरन्त ही उसका रंग-परिवर्तन होने लगता है, परन्तु लाल या हरे प्रकाश का उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इससे यह प्रमाणित होता है कि उसका रंग ताप और प्रकाश के वर्ण द्वारा ही परिवर्तित होता है। बहुधा देखा गया है कि भय, क्रोध और निद्रा द्वारा भी यह उरंगम हरे रंग का हो जाता है। भूखे और निर्बल रहने की दशा में उसकी खाल पर काले धब्बे पड़ जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् उसका शरीर साधारणतः हरे-काले धब्बेदार रंग का हो जाता है।

निरीक्षण द्वारा ज्ञात हुआ है कि कैमीलियन के चर्म में अनेक प्रकार की बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रंथियाँ अथवा कण होते हैं, जिनके एकत्रित एवं अलग हो जाने से चमड़े का रंग विभिन्न प्रकार का हो जाता है। ये ही कण एकत्रित या अलग-अलग होकर इस जीव की त्वचा का रंग बदलने में सहायक होते हैं।

कैमीलियन की जीभ और अँगुलियों की विशेषता हम ऊपर बता ही आए हैं। अब उनकी आँखों पर भी ध्यान दीजिए। कैमीलियन के नेत्र बहुत बड़े और ऊपर की ओर उभरे हुए होते हैं, तथा उनके ऊपर एक झिल्ली ढकी रहती है, जो दोनों पलकों के मिलने से बनती है। उनमें पुतली के स्थान पर महीन-महीन छिद्र होते हैं। कैमीलियन अपने नेत्रों को चारों ओर घुमा सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके दोनों नेत्र एक ही ओर को देखें—एक आँख आगे की ओर देख सकती है, तो दूसरी ऊपर या पीछे की ओर। अतः यह जीव बिना गर्दन घुमाए ही ऊपर-नीचे, आगे-पीछे देख सकता है! दृष्टि की इस अद्भुत शक्ति का उसके पलकों के सूक्ष्म छिद्रों से सम्बन्धित होना एक रहस्यपूर्ण प्राकृतिक बात है।

कैमीलियन बड़ी आलसी होती हैं। वे बहुत धीरे-धीरे चलती-फिरती हैं। घंटों तक वे वृक्ष की डाल पकड़े लटकी रहती हैं। किन्तु उनकी आँखें सदैव इधर-उधर मक्खियों या किसी अन्य कीड़े की खोज में ही लगी रहती हैं। आलसी होते हुए भी ये होती हैं बड़ी लड़ाकू। ये लड़ते समय अपने फेफड़ों को वायु से भर लेती हैं, जिसके कारण इनकी आकृति बड़ी भयानक दिखाई देती है।

कैमीलियन प्रायः १० इंच से अधिक लम्बी नहीं होती। परन्तु मैडागास्कर द्वीप की दो जातियाँ २४ इंच से भी अधिक लम्बी होती हैं! संसार की सब से छोटी कैमीलियन दक्षिणी अफ्रीका में पाई जाती हैं, जो केवल ५ इंच ही लम्बी होती है। उसका रंग अत्यन्त सुन्दर होता है। इसके हरे रंग के शरीर पर गहरे लाल रंग के धब्बे बड़े सुहावने लगते हैं। कैमीलियन वर्ग में केवल यही जाति बच्चे देती है, शेष सब अंडे देती हैं। अक्टूबर मास में मादा पेड़ की डालियों से नीचे

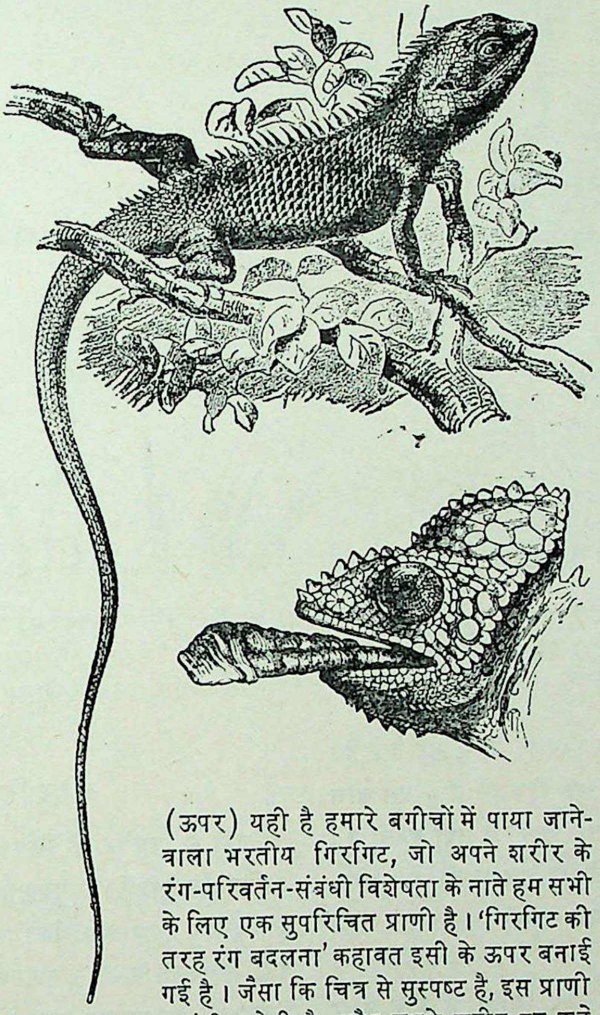

(ऊपर) यही है हमारे बगीचों में पाया जानेवाला भरतीय गिरगिट, जो अपने शरीर के रंग-परिवर्तन-संबंधी विशेषता के नाते हम सभी के लिए एक सुपरिचित प्राणी है। 'गिरगिट की तरह रंग बदलना' कहावत इसी के ऊपर बनाई गई है। जैसा कि चित्र से सुस्पष्ट है, इस प्राणी की दुम बहुत लंबी होती है और उसके शरीर पर कड़े छिलके होते हैं। यह जानवर देखने में चाहे भयानक मालूम पड़ता हो, पर वह खतरनाक नहीं होता। (नीचे) अपने शरीर का रंग बदलते के लिए मशहूर कैमीलियन नामक छिपकली की विचित्र जीभ, जिसे दूर तक बाहर निकालकर वह मक्खियों आदि का शिकार किया करती है!

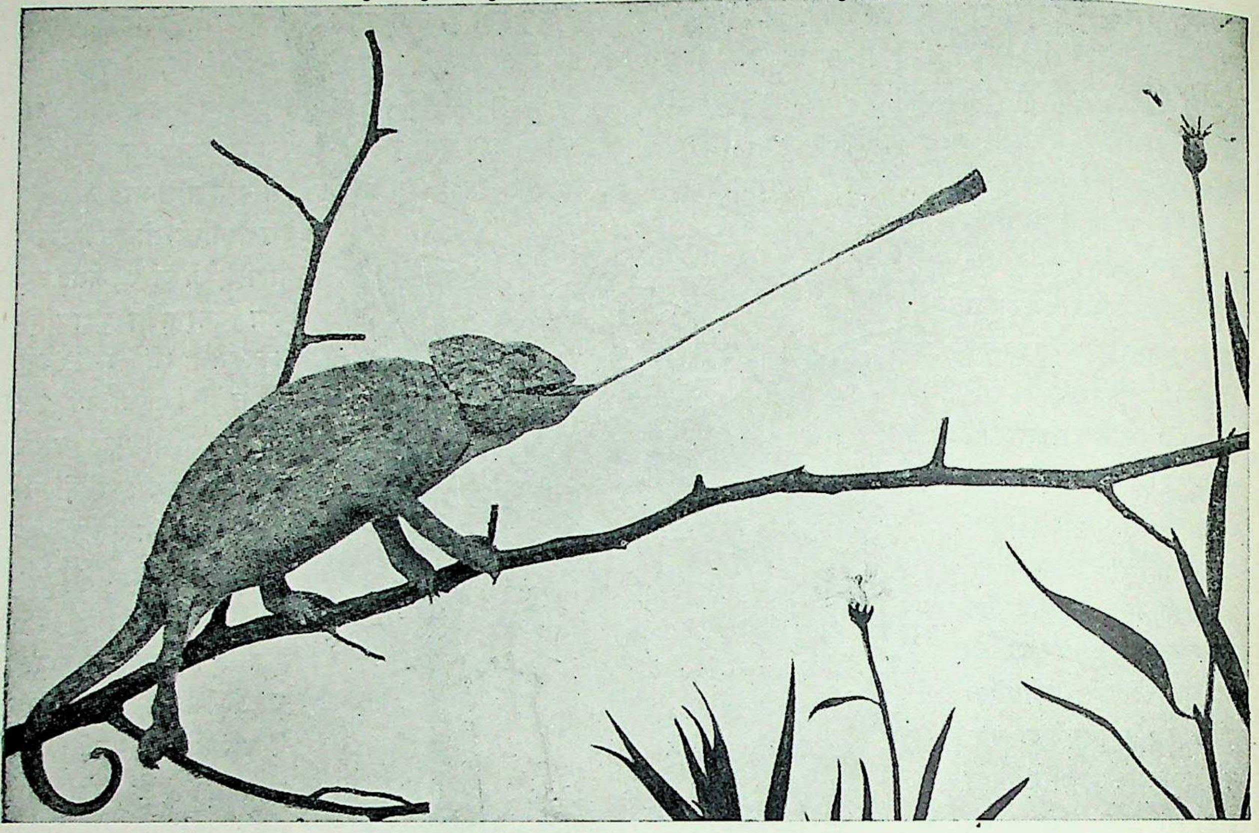

कैमीलियन (गिरगिट) जाति की अफ्रीका की यह छिपकली अपनी विचित्र जिह्वा को आगे बढ़ाकर एक मक्खी को पकड़ने का प्रयत्न कर रही है। इसकी जीभ कई फीट तक आगे बढ़ाई जा सकती है। उस पर एक लसलसा द्रव रहता है, जिसके साथ चिपक जाने पर फिर शिकार उससे छूट नहीं सकता !

उतर आती है और एक गड्ढा खोदकर उसमें अंडे देती है। इन अंडों से बच्चे बसन्त ऋतु तक निकलते हैं। इस बीच मादा कैमीलियन पृथ्वी के भीतर बिल में पड़ी रहती है। इस प्रकार वह शीतकाल की ठंड से बच जाती है। शीतकाल के समाप्त होते ही वह फिर वृक्षों पर आकर रहने लगती है।

कैमीलियन पकड़कर पाली भी जाती हैं और शीघ्र ही मनुष्य के हाथों से भोजन लेना सीख जाती हैं। कीड़े-मकोड़ों आदि को वे बड़े चाव से खाती हैं। बहुत से व्यक्ति इन्हें जबरन शर्बत पिलाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु अत्यन्त प्यासी होने पर ही ये उसे ग्रहण करती हैं, अन्यथा नहीं। हाँ, ये जल अवश्य ही पर्याप्त मात्रा में पीती हैं और शीघ्र न मिलने पर निर्बल होकर मर जाती हैं। परन्तु वे किसी बर्तन से पानी नहीं पीतीं। पत्तों पर गिरी हुई ओस की बूंदों से ही ये अपनी तृषा शान्त करती हैं! इसीलिए जब इन छिपकलियों को पाला जाता है, तो इनके पिंजड़ों में प्रतिदिन जल छिड़कना अनिवार्य-सा होता है।

घरेलू छिपकलियाँ

घरों में रहनेवाली छिपकलियों की लगभग तीन सौ जातियाँ मिलती हैं। ये मुख्यतया गरम देशों में ही पाई जाती हैं। इनका मुख्य वर्ग 'गैको' कहलाता है, जिसमें की बड़ी से बड़ी छिपकली पन्द्रह इंच लम्बी होती है। घर में रहनेवाली छिपकली साधारणतः चार-पाँच इंच तक लम्बी होती है। इसकी सब से बड़ी जाति बंगाल, मलाया प्रायद्वीप, पूर्वीयद्वीपों तथा दक्षिणी चीन में पाई जाती है। ये छिपकलियाँ कीट-पतिंगों पर ही निर्भर नहीं रहतीं, वरन छोटी-छोटी चिड़ियों, चमगादड़ों, चूहों तथा छोटी छिपकलियों को भी बड़े आनंद से खाती हैं!

घरेलू छिपकलियों की जातियाँ एक दूसरे से केवल पैरों की ही रचना में विभिन्न होती हैं। कुछ जातियों में नाखून अँगुलियों के छोर पर खाल में घुसे रहते हैं। अन्य कुछ में नख गद्देदार चक्र के पर्त से निकले रहते हैं। कुछ में नख होते ही नहीं, उनके स्थान पर अँगुली के छोर चौड़े हो जाते

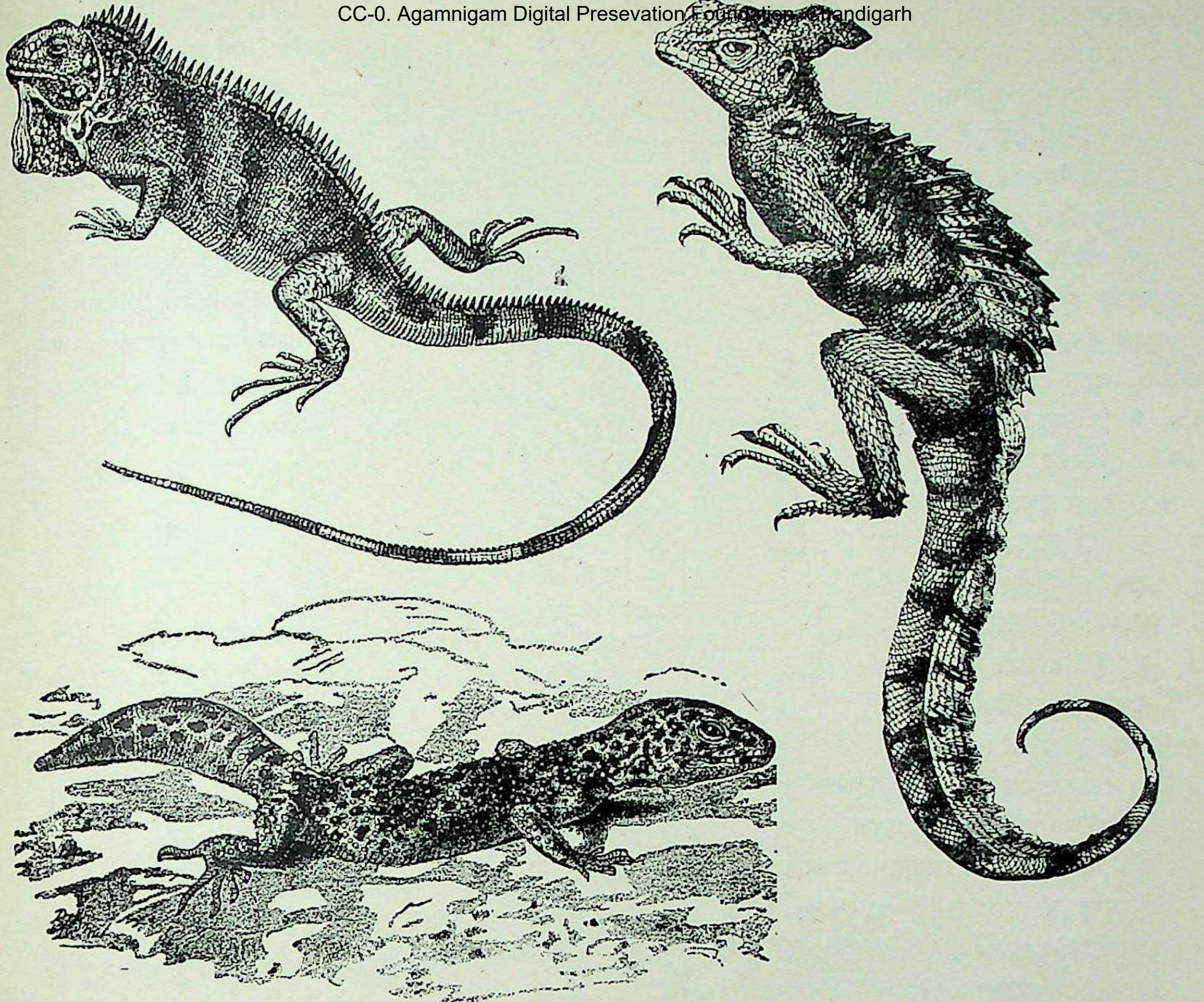

ऊपर नई दुनिया की दो अनोखी छिपकलियों के चित्र प्रदर्शित हैं। बाईं ओर 'इगुआना' नामक बृहदाकार छिपकली का भयावना-सा रूप दिग्दर्शित है, और दाहिनी ओर 'बैसलिस्क' नामक अद्भुत स्वरूपवाली छिपकली की झाँकी है। परन्तु इतनी डरावनी-सी दिखाई पड़ने पर भी ये दोनों वस्तुतः खतरनाक नहीं होतीं। नीचे बाईं ओर हमारे देश के घरों की दीवारों पर पाई जानेवाली चर्बीली दुमवाली छिपकली दिग्दर्शित है, जिसकी मोटी दुम में एकत्रित चर्बी कई दिनों तक आहार न मिलने की दशा में भी उसका भरणपोषण करने में सहायक होती है।

हैं, और कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनकी अँगुलियों के बीच झिल्ली रहती है, मानो वे तैरने के लिए बनी हों, यद्यपि वे तैरती नहीं। पृ० १३३३ का चित्र देखिए।

गैको वंश की सब छिपकलियाँ घरों में ही नहीं रहतीं; कुछ सूखे मरुस्थल में बालू के अन्दर बिल बनाकर भी रहती हैं, और कुछ जंगली भागों में भी पाई जाती हैं। वे वृक्षों या नीची झाड़ियों में अथवा पत्थरों या पेड़ों की छाल में दिन भर छिपी रहती हैं और रात्रि के समय बाहर निकल आती हैं। कुछ छिपकलियाँ पर्वतों की चट्टानों में भी पाई जाती हैं, किन्तु प्रायः सभी दिन भर छिपी रहती हैं और रात्रि में शिकार की खोज में इधर-उधर घूमा करती हैं। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जो दिन में घूमा करती हैं और रात्रि में सोया करती हैं। घरेलू छिपकलियों को वर्षा ऋतु की रात्रि में बिजली के समीप छत अथवा दीवार पर असंख्य पतिंगों को बड़ी तेजी से हड़पते प्रायः सभी ने देखा होगा।

छिपकलियाँ हमारे घरों में पता नहीं कब से निवास कर रही हैं! इन निर्दोष जीवों को बहुधा मनुष्य अकारण ही भय और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कहीं-कहीं इनका शरीर पर गिर जाना ही अशुभ माना जाता है, और कहीं-कहीं पर लोग इन्हें विषैला भी समझते हैं। उत्तरी अफ्रीका,

अरब तथा सीरिया की एक घरेलू छिपकली को मिश्रवासी कोढ़ उत्पन्न करनेवाली भी मानते हैं ! इतना ही नहीं, उनकी यहाँ तक धारणा है कि वह अपने पैने दाँतों से फौलाद की गर्डरों या छड़ों को भी हानि पहुँचा सकती है ! किन्तु यह केवल भ्रम ही है ।

घरेलू छिपकलियों की देह में एक प्रकार के नलदण्ड होते हैं, जिनकी सहायता से वे चिकने धरातल पर भी चिपक सकती हैं और छत पर उल्टी होकर चलती हैं। बिल-निवासी छिपकलियों में शोषक नलदण्ड नहीं होते और डीलडौल में भी ये घरेलू छिपकलियों का मुकाबला नहीं करतीं ।

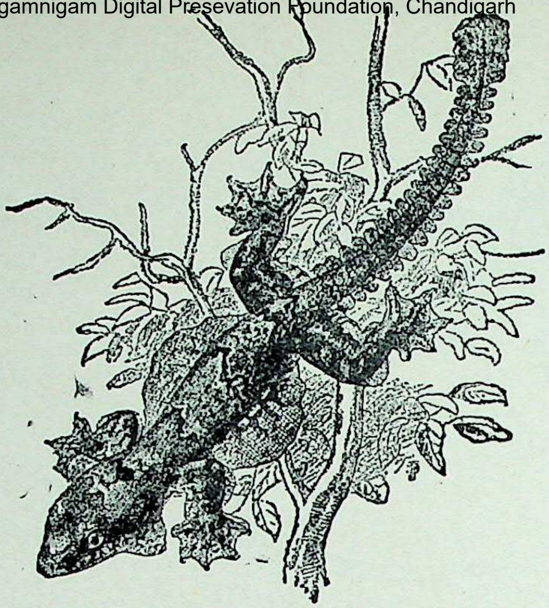

मलाया और हमारे देश के मद्रास राज्य में पायी जानेवाली उड़ाकू छिपकली, जिसकी पसलियों से निकली हुई झिल्ली उसे हवा में साधने के लिए पैराशूट का-सा काम देती है ।

मैकोनडी वंश में कई अद्भुत गुणवाली छिपकलियाँ पाई जाती हैं । इनमें से एक छोटी जाति की किन्तु अत्यन्त मोटी और लघु पूँछवाली है, जो ऑस्ट्रेलिया, एशिया, दक्षिणी योरप तथा दक्षिणी अमेरिका में मिलती है । इसकी अँगुलियों में शोषक नलदण्ड नहीं होते और पूँछ में चर्बी की तह जमी रहती है, जिसके कारण भोजन न मिलने पर भी यह जीवित रहती है । इसके चलने की रीति भी बड़ी विचित्र है । शेष सभी छिपकलियाँ पेट के बल चलती हैं और यह अपने पैरों के बल शरीर को ऊपर उठाकर अर्धगोलाकार रूप में धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। ऑस्ट्रेलिया की ऐसी ही एक छिपकली की पूँछ इतनी लघु और चौड़ी होती है कि वह सिर के समान जान पड़ती है ! उसके सिर और पूँछ में इतनी समानता होती है कि देखनेवाला सुगमता से यह नहीं पहचान पाता कि किधर इसका सिर है और किस तरफ उसकी पूँछ है ! यह छिपकली अत्यधिक आलसी होती है । किसी शत्रु के आने पर भी वह अपने स्थान से नहीं हटती । वह शीतकाल में महानिद्रा के समय खाना-पीना त्याग देती है और पूँछ में मौजूद चर्बी के ही सहारे पड़ी रहती है । अन्य ऋतुओं में वह केंचुओं, छिपकलियों, छोटे सर्पों तथा फलों पर निर्भर रहा करती है ! ऑस्ट्रेलिया के लोग इसे 'निद्रालु छिपकली' के नाम से भी पुकारते हैं ।

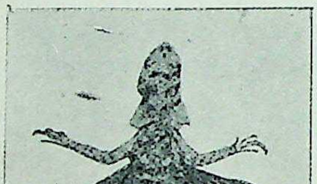

मलाया की एक और जाति की इस उड़नेवाली छिपकली के बदन के आसपास फैले हुए चमगादड़ के-से पंख पर ध्यान दीजिए !

उड़नेवाली छिपकली

छिपकली का दूसरा बड़ा वंश 'अगेमडी' है, जिसमें अभी तक दो सौ से अधिक जातियाँ ज्ञात हुई हैं । इस वंश की कई जातियाँ बहुत ही विचित्र हैं, जिनमें प्रथम स्थान उड़नेवाली छिपकलियों का है। इनकी लगभग बीस जातियाँ मद्रास, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियो द्वीपों में पाई जाती हैं। ये लगभग दस इंच लम्बी होती हैं और अकेली इनकी पूँछ पाँच इंच की होती है । इनकी पिछली छः-सात पसलियाँ धड़ के बाहर दोनों ओर खाल में निकली हुई रहती हैं और उन पसलियों के मध्य की झिल्ली फैलने पर उनके लिए मानो पैराशूट का-सा कार्य करती है । इनकी ये बढ़ी हुई हड्डियाँ आगे और पीछे की ओर हिल-डुल भी सकती हैं । जब ये वृक्षों की चोटियों से नीचे की ओर उतरती हैं या वायु में उड़ते हुए पतिंगों को खाने की चेष्टा करती हैं, तब दोनों ओर की उनकी पसलियाँ पर के सदृश फैल जाती हैं और ये बड़े ठाठ से हवा में आ जाती हैं । इस भाँति ये साठ फीट से भी अधिक ऊँचाई तक वायु में उड़ती चली जाती हैं और देखते-देखते एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर पहुँच जाती हैं। विश्राम करते समय इनकी

पसलियाँ तथा खाल बन्द होनेवाले कागज के पंखे की भाँति पुटीकृत होकर गर्दन और पीठ के दोनों ओर सिकुड़ जाती हैं। प्राणियों द्वारा वायु पर विजय पाने के प्रयत्नों में इस प्रकार की उड़ान प्रथम स्थान रखती रही होगी। चमगादड़ तथा उड़नेवाली छिपकली की क्रिया में भेद यह है कि जहाँ चमगादड़ों के कर पंख के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, वहाँ उड़ाकू छिपकलियों में फैली हुई झिल्ली को साधकर पसलियाँ उन्हें उड़ने में सहायता प्रदान करती हैं। इन छिपकलियों का शरीर गहरा भूरा होता है, जिस पर काले धब्बे तथा धारियाँ रहती हैं। इनके पंख गहरे नारंगी रंग के होते हैं तथा उनमें भी कई एक काली धारियाँ होती हैं। ये अधिकतर घने वनों में ही पाई जाती हैं। तितली के-से रंगीन पंख होने के कारण ये रंग-बिरंगे पुष्पों में सहज ही छिप जाती हैं, जिससे शत्रुओं को इन्हें ढूँढने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है।

झालरदार छिपकलियाँ

'अगेमडी' वंश में दूसरा स्थान आॅस्ट्रेलिया की विचित्र झालरदार छिपकलियों का है, जिनका कि निवासस्थान उस महाद्वीप का उत्तरी भाग और क्वीन्सलैंड है। इस छिपकली की भी बाहरी खाल अद्भुत होती है, किन्तु उड़ाकू छिपकली से विपरीत इसकी झिल्ली पसलियों के बजाय गर्दन और कण्ठ के चारों ओर बढ़ी हुई होती है। इसमें पसलियों के बदले उपास्थि की छड़ें ही, जो कि विशेष मांस-पेशियों द्वारा खुलती और बन्द होती हैं, उक्त झिल्ली को फैलाने में सहायक होती हैं। इस विचित्र रचना का प्रयोजन उड़ने में सहायता देना नहीं है। यह तो एक प्रकार का परदा है, जो उसके सम्पूर्ण शरीर को छिपा लेता है! जब यह छिपकली इस झालर को फैलाए अपना पूर्ण मुख खोलकर सिर ऊँचा उठाए खड़ी हो जाती है, तब उसकी रूपरेखा वास्तव में इतनी भयानक हो जाती है कि कोई भी शत्रु भयभीत होकर उससे भाग खड़ा होता है। खटका दूर होते ही झालर पहले की भाँति पुनः गर्दन के दोनों ओर चिपट जाती है। दौड़ते समय यह सिर और पूँछ को ऊपर उठा लेती है। झालर का रंग पीला-लाल धब्बेदार होता है, जो कि इसके तीन फीट लम्बे शरीर के सौंदर्य को बेतरह बढ़ा देता है। इतना भयावह रूप रखते हुए भी यह किसी को हानि नहीं पहुँचाती।

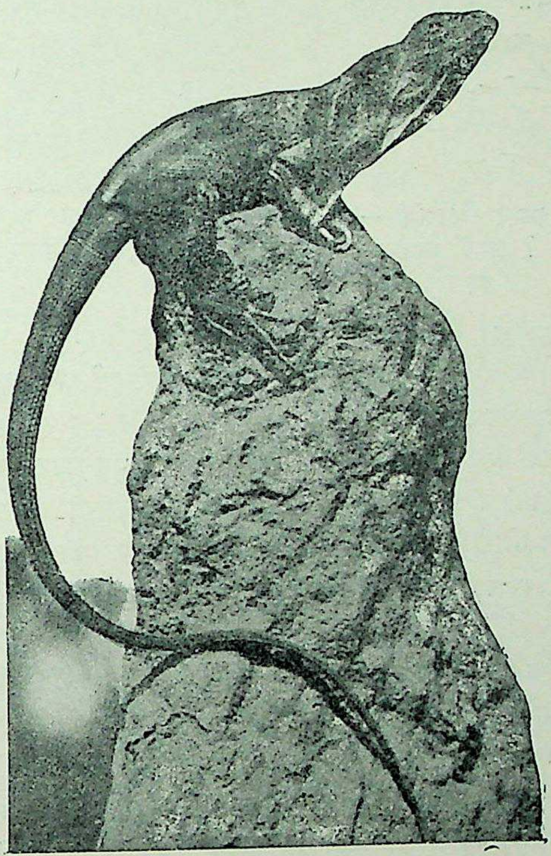
आॅस्ट्रेलिया की सुप्रसिद्ध झालरदार छिपकली :: यह उस समय की उसकी झाँकी है, जब कि झालर फैली नहीं रहती।

आॅस्ट्रेलिया तो आश्चर्यजनक वस्तुओं का घर है। इस अद्भुत महाद्वीप में छिपकली वंश का 'मलोक' नामक एक बड़ा ही अनोखा जीव पाया जाता है। इस भयंकर-सी प्रतीत होनेवाली छिपकली को वहाँ के निवासी 'कटीला मूस' भी कहते हैं। इसका शरीर सिर से पूँछ तक टेढ़े सींग-जैसे शूल और खुरदरी रक्षक-गाँठों से युक्त होता है तथा इसके सिर पर भी आधे इंच लम्बे काँटे होते हैं। यद्यपि विधाता ने इसके ये शूल इसकी शरीर-रक्षा के हेतु ही बनाए होंगे, किन्तु यह जीव इन काँटों से शत्रु पर आघात नहीं करता। इसका शरीर देखने में तो अवश्य भयानक है, पर वह खतरनाक नहीं है। आरंभिक प्रकृति-वैज्ञानिक आॅस्ट्रेलिया के चमत्कारी जीवों से अपरिचित थे, अन्यथा इस निर्दोष छिपकली के विषय में वे अनेक प्रकार की भयानक कथाएँ न लिख जाते। इसका भोज्य पदार्थ विशेष रूप से चींटियाँ हैं, यद्यपि कभी-कभी यह सागपात भी ग्रहण कर लेती है।

नई दुनिया की अनोखी छिपकलियाँ

पुरानी दुनिया की अगेमडी वंश की छिपकलियों का स्थान नई दुनिया में 'इग्वैनडी' वंश की छिपकलियों ने ले लिया है। इस वंश में भी भाँति-भाँति के आकार, रंग और लक्षणों से युक्त अनूठी छिपकलियाँ मिलती हैं। इनमें से कुछ का वर्णन हम यहाँ पर करेंगे। आश्चर्य की बात है कि इस वंश के दो

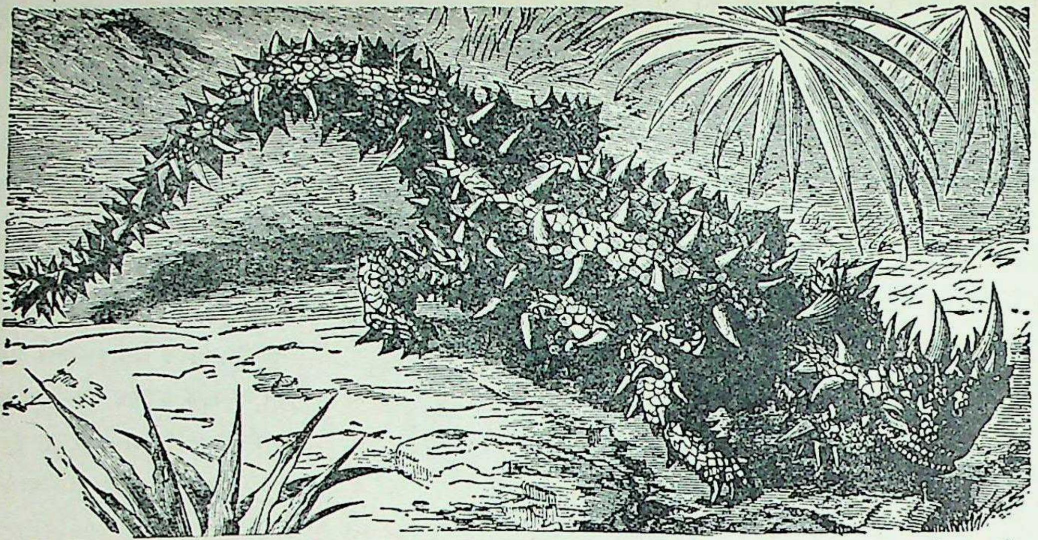

ऑस्ट्रेलिया की इस अद्भुत कवचधारी छिपकली——मलोक——को अपने सामने पाकर भला कौन व्यक्ति भयभीत हुए बिना रह सकता है ? इसकी भयावनी वेशभूषा करोड़ों वर्ष पूर्व के कवचधारी उरंगमों की याद दिलाने लगती है।

वर्ग पुरानी दुनिया (अफ्रीका के निकट मेडागास्कर द्वीप) में अब भी पाए जाते हैं। इस वंश की छिपकलियों में से बहुत-सी ऐसी हैं, जो थोड़ा-बहुत अपना रंग भी बदल सकती हैं। इनमें से कुछ के रंग तितलियों के समान इतने सुन्दर और चटकीले होते हैं और समीपवर्ती चीजों में वे ऐसे घुले-मिले रहते हैं कि जब तक ये छिपकलियाँ किसी कीट-पतिंगे को पकड़ने के लिए उछलतीं नहीं, तब तक वे देखने में आती ही नहीं !

'बैसलिस्क' नामक प्रसिद्ध छिपकली भी इसी वर्ग की एक सदस्या है। इसके विषय में एक कवि ने लिखा है कि इसकी घातक फूँक ठोस संगमरमर में भी प्रवेश कर जाती है और उसकी नाशक दृष्टि स्वस्थ-से-स्वस्थ प्राणी को भी घायल करके मृत्यु का ग्रास बना देती है! किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। कारण, न तो इसकी फूँक ही भयानक होती है और न दृष्टि ही। इसके विषय में एक समय इतनी अद्भुत बातें प्रचलित थीं कि किसी कल्पित प्राणी के लिए भी कदाचित् ही वैसी गप्पें गढ़ी गई होंगी ! जब इन भयानक कथाओं से परिचित व्यक्तियों ने इसे सर्वप्रथम नई दुनिया में आकर देखा होगा और उनकी दृष्टि इस विचित्र रूपवाली छिपकली पर पड़ी होगी, तभी उन्होंने समझ लिया होगा कि क्यों ये कल्पित बातें इसके विषय में गढ़ी गई है।

बैसलिस्क बेचारी है तो एक बड़ी सीधी-सादी छिपकली, जिसे एक बच्चा भी पकड़ सकता है, पर उसका रूप अद्भुत होता है। उसकी दुम और पीठ की खाल झालर की तरह ऊपर की ओर उठी रहती है, मानो किसी ने उस पर मछली का डैना काटकर लगा दिया हो! उसका सिर भी अनोखा होता है—उसके पीछे की खाल ऊपर को उभरी रहती है। पर उसके केवल रूप में ही यह विचित्रता है, स्वभाव में नहीं। ये छिपकलियाँ शुद्ध शाकाहारी होती हैं और वृक्षों पर निवास करती हैं। जल में झुकी हुई डालों पर वे बड़े आराम से बैठी रहती हैं और खटका पाते ही फुर्ती से पानी में कूद पड़ती हैं। जल में ये सिर और पूँछ ऊपर निकालकर भली-भाँति तैर लेती हैं।

इग्वैनडी वंश की अन्य उल्लेखनीय छिपकलियों में एक तो वे हैं, जिनके नाक के ऊपर दो छेद होते हैं और दूसरी वे हैं, जिन्हें हम साधारणतः (गलती से) 'सींगवाला मेढक' कहते हैं। ये केलीफोर्निया में पायी जाती हैं। इनके भी शरीर पर चित्ताकर्षक कँटीले खोल होते हैं। किन्तु ये केवल स्थानीय (नई दुनिया के बालू के मैदानों में रहनेवाले) मन्द गतिवाले पतिंगों के अतिरिक्त और किसी पर आघात नहीं करतीं। इन छिपकलियों के विषय में एक आश्चर्यजनक बात यह प्रसिद्ध है कि जब ये किसी पर आक्रमण करती हैं, तब अपनी आँखों के कोनों से कई फीट तक रुधिर जैसे लाल रंग की धारा फेंकती हैं! आत्मरक्षा का यह कितना अद्भुत उपाय है? इसी प्रकार के बचाव के कई उपाय अन्य जीवों में भी मिलते हैं। अफ्रीका के कुछ सर्प थूक फेंकते हैं। बहुत-से समुद्री पक्षी अपने नथनों से जोर से दुर्गन्धित तेल निकालते हैं। कोई-कोई कीड़े अपने को बचाने के हेतु अपने शरीर से एक तरह का आम्लिक रस निकालते हैं। किन्तु इस छिपकली के नेत्रों से रुधिर-सी वस्तु फेंके जाने की यह क्रिया वस्तुतः सब से निराली है! इससे छिपकली को कोई हानि होती हो, ऐसा नहीं जान पड़ता, किन्तु यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि ऐसे कँटीले शस्त्रधारी जीव को इस प्रकार के रक्षा-साधन की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आवश्यकता क्यों पड़ती है ! सम्भव है कि उसके उस कँटीले कवच के साथ-साथ प्रकृति ने उसे युद्ध का यह नवीन साधन इसलिए दिया हो कि अंततः उसके विकास से उसका वह भारी कवच व्यर्थ हो जाय।

विषैली छिपकलियाँ

अभी तक छिपकलियों के एक ही वर्ग के केवल दो जातियों के प्राणियों में ही विष पाया गया है और ये दोनों ही जातियाँ नई दुनिया में मिलती हैं। इनमें से एक जाति मध्य मेक्सिको से लेकर मध्य अमेरिका तक और दूसरी न्यू मेक्सिको और एरिजोना में पाई जाती है। प्रथम जाति का शरीर अधिक सुगठित होता है और पूँछ छोटी व मोटी होती है, किन्तु दोनों के शरीर पर हल्के नारंगी और काले रंग के धब्बे अथवा धारियाँ होती हैं। ये सुस्त तथा कुरूप छिपकलियाँ दो फीट लम्बी होती है। इनके विष से छोटे-छोटे जीव-जन्तु तो शीघ्र मर ही जाते हैं, साथ ही मनुष्य भी काल के ग्रास बन जाते हैं। सर्प के समान इनकी विषग्रन्थियाँ नीचे के जबड़ों में होती हैं और इनके शरीर की खाल पर माला के-से छोटे-छोटे दाने उभरे रहते हैं। इन्हें 'गिला मॉन्स्टर' या 'मालाकार छिपकलियाँ' कहते हैं।

बिना पैरवाली छिपकलियाँ

बिना पैरवाली छिपकलियों का उल्लेख तो हम इस लेख के आरम्भ में ही कर चुके हैं। अब हम यहाँ पर इनमें के एक-दो नमूनों का वर्णन भी करेंगे। ये विचित्र छिपकलियाँ सर्प-जैसी दृष्टिगोचर होती हैं। ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी की छिलकेदार पैरवाली छिपकलियों में अगली टाँगें तो बिलकुल लुप्त रहती हैं, परन्तु पिछली टाँगें बहुत छोटी-सी रहती हैं। मादाओं में ये बड़ी कठिनता से प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं। नरों में ये टाँगें छिलकों से ढकी रहती हैं, किन्तु किसी कार्य के योग्य नहीं होतीं। दक्षिणी अफ्रीका की कँटीली और घेरदार दुमवाली छिपकलियों में भी एक ऐसी ही जाति पाई जाती है, जिसके अगली टाँगें नहीं होतीं। ये छिपकलियाँ बीस-बाइस इंच तक लम्बी होती हैं। बहुधा लोग इन्हें सर्प ही समझ लेते हैं। इनकी दो-तिहाई दुम प्रायः टूट जाती है।

बिना पैरवाली छिपकलियों में सब से प्रसिद्ध 'ऐगम्यूडी' वंश की वे छिपकलियाँ हैं, जो साधारणतः 'अन्धे कीड़े' अथवा 'आलसी कीट' के नाम से पुकारी जाती हैं। ऐसा ऊटपटाँग नाम कदाचित् किसी भी प्राणी का न होगा, क्योंकि इनकी दृष्टि भी खासी अच्छी है और ये आलसी भी नहीं हैं! ये अपने बराबर के सर्प के समान ही फुर्तीली होती हैं। इनके चारों पैर पूर्ण रूप से लुप्त रहते हैं और उनका कोई बाहरी चिह्न भी नहीं होता। ये सर्पों की भाँति केंचुली भी उतारकर फेंकती हैं। इनका आकार गोल अथवा लम्बा होता

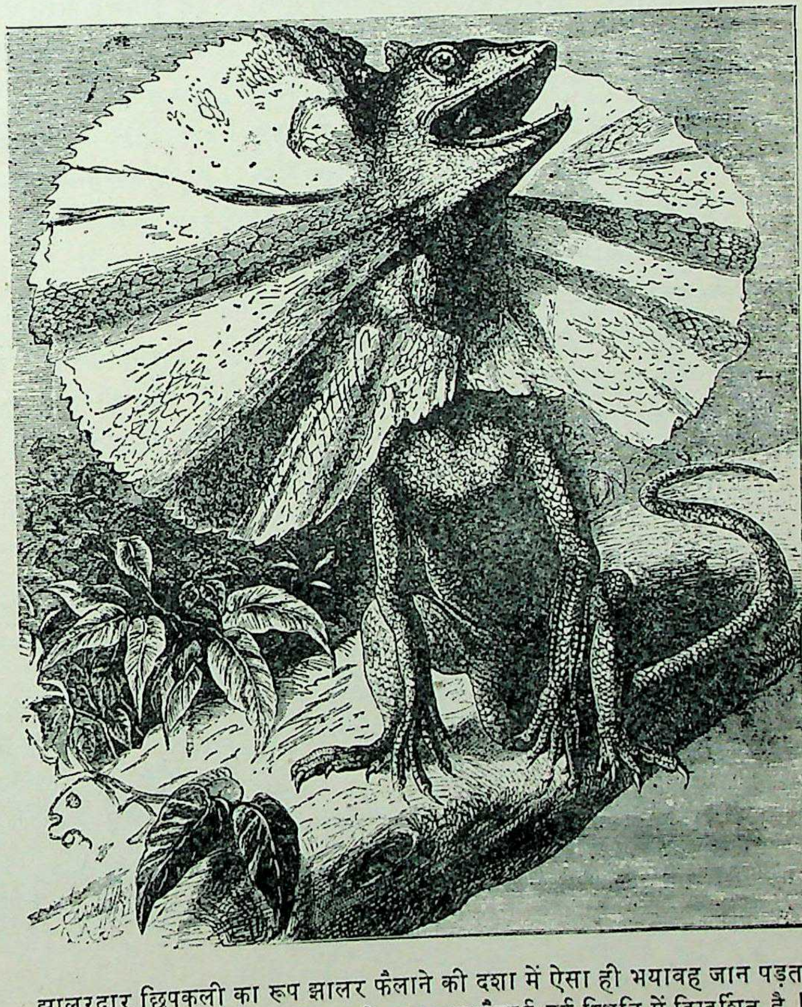

झालरदार छिपकली का रूप झालर फैलाने की दशा में ऐसा ही भयावह जान पड़ता है। पृष्ठ १३३९ के चित्र में इसकी झालर न फैलाई हुई स्थिति में दिग्दर्शित है!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है, अतः बहुधा लोग इन्हें सर्प समझ लेते हैं। परन्तु सर्प से बिल्कुल विपरीत इनके कानों के बाहरी छेद और चलती हुई पलकें होती हैं ।

काँच-सर्प

एक और बिना पैरवाली छिपकली, जो अन्धे कीड़े की तरह साँप समझकर कभी-कभी मार डाली जाती है, दक्षिणी-पूर्वी योरप, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और अमेरिका के अतिरिक्त उत्तरी-पूर्वी भारतवर्ष तथा बरमा में भी पाई गई है । चूँकि यह काँच के समान चिकनी होती हैं, अतः ये 'काँच-सर्प' भी कहलाती है । इसकी लम्बाई चार फीट होती है और सारा शरीर चौकोर पीले तथा भूरे रंग के छिलकों से ढका रहता है । इसके अगले पैर तो नहीं होते, परन्तु पिछले पैर बहुत छोटे होते हैं, जो कि नोक के समान दिखाई देते हैं ।

साँप-जैसी भयानक दिखाई देने पर भी यह छिपकली खतरनाक नहीं है, बल्कि मानव-जाति के लिए बहुत हितकारक होती है, क्योंकि यह हानि पहुँचानेवाले चूहों, छछूँदरों, कीड़े-मकोड़ों आदि जीवों को खा लेती है । कभी-कभी यह वाइपर जैसे जहरीले सर्प को भी मारकर खा जाती है ! इस छिपकली की दुम में एक विशेषता यह है कि जब यह अपने को किसी शत्रु के हाथों में या मुख में पाती है, तब अपने शरीर को मोड़कर अचानक पूँछ का बहुत-सा भाग शरीर से अलग कर देती है ! उस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानो इसका शरीर काँच के सदृश टूटनेवाला है ! इसीलिए इसे 'काँच-सर्प' कहा गया है । एक कथा यह भी प्रचलित है कि यह अपने टूटे हुए भाग को फिर से जोड़ लेती है और यदि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, तो भी यह जीवित ही रहती है ! परन्तु ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया है ।

बृहदाकार छिपकलियाँ

दुनिया की सभी छिपकलियाँ छोटी ही नहीं हैं । कुछ तो इतनी बड़ी हैं कि हम बिना उन्हें देखे ठीक से उनका अनुमान ही नहीं कर सकते । ऐसी बड़ी छिपकलियों की लगभग ३० जातियाँ भारतवर्ष, अफ्रीका, मलाया और ऑस्ट्रेलिया में पाई जाती हैं । इन्हें हमारे देश में गोह, साँडा, बिसखोपरा आदि नामों से पुकारते हैं । उरंगमों की उन्नति की चरमावस्था के दिनों में प्राचीन समय की बड़ी-से-बड़ी गोह भारतवर्ष में ही पाई जाती थी । ऑस्ट्रेलिया में भी छिपकली की एक जाति तीस फीट लम्बी होती थी ! गोहों की वर्तमान बड़ी जातियाँ अधिकतर रेगिस्तानों में और दलदलवाले मैदानों में रहती हैं । इन छिपकलियों की बड़ी और मजबूत दुम आक्रमण करने के लिए शस्त्र का काम देती है और जल में तैरने में भी वह सहायक होती है । सभी बड़ी छिपकलियाँ मांसाहारी होती हैं । इनका आहार चिड़ियाँ और उनके अंडे, छोटी छिपकलियाँ एवं मेढक आदि छोटे-छोटे जीव हैं । ये घड़ियाल और मगर के अंडों को भी खोज-खोजकर हड़प जाती हैं ।

बिसखोपरा और गोह

गोह के नाम से तो सभी भारतवासी परिचित होंगे । किसी भी जगह को दृढ़ता से अपने पैरों से पकड़कर वहाँ चिपके रहने की अपूर्व शक्ति इस जीव में होती है । उसकी पूँछ की लम्बाई शेष शरीर से अधिक होती है ।

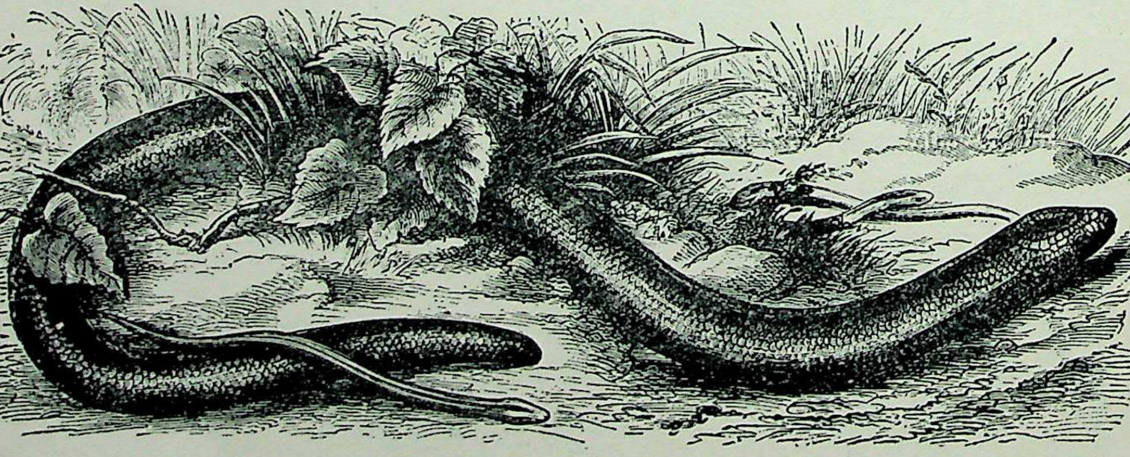

साँप जैसी दिखाई पड़नेवाली यह छिपकली, जिसे भ्रमवश लोग 'काँच-सर्प' के नाम से पुकारते हैं, संकट के समय अपनी दुम को शरीर से अलग कर देती है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गोह मुख्यतः स्थलवासी जीव है, परन्तु इस जाति के कुछ जीव स्थल तथा जल दोनों में निवास करते हैं। इसकी लंबाई कभी-कभी आठ-दस फीट तक की भी पाई गई है। इसके शरीर पर काँटे नहीं होते और खाल खुरखुरी होती है। यह घरों में, पानी में और वृक्षों की डालियों पर रहती है। जल में तैरते समय इसके पैर शरीर से चिपक जाते हैं और पूँछ पतवार का काम देती है। यह अपने दाँतों, मजबूत पंजों और कोड़े-जैसी दुम से हथियार का-सा काम लेती है। कभी-कभी पकड़ी गई गोहों ने दुम फटकारकर मनुष्यों को घायल भी किया है। भारतवर्ष में कुछ गोहें विषैली समझी जाती हैं, परन्तु वैज्ञानिकों को इनके किसी भी अंग में विष नहीं प्राप्त हुआ है। अतः वैज्ञानिक सम्मति यही है कि ये विषैले प्राणी नहीं हैं। हमारे देश की गोहों में 'कबरा गोह' बहुत बड़ी होती है।

पुराने जमाने में, विशेषकर भारतवर्ष में गोहों का उपयोग लड़ाई में किलों की ऊँची दीवारों पर चढ़ने के लिए भी किया जाता था। इस कार्य के लिए खास तौर से गोहें पाली जाती थीं और उन्हें शिक्षा दी जाती थी। ऐसी सिखाई गई गोह की दुम में रस्सी बाँधकर उसे दीवार पर छोड़ दिया जाता था और जब वह ऊपर चढ़कर मजबूती से अपने पंजे जमाकर दीवार के सिरे पर चिपक जाती थी, तब नीचे लटकती हुई रस्सी के सहारे लोग ऊपर चढ़ जाते थे!

गोह अनेक प्रकार का भोजन करती हैं। जीवों पर आक्रमण कर उनका मांस-भक्षण करना ही इनके निर्वाह का मुख्य साधन है। चिड़ियों और कछुओं के अंडों को ये बड़ी रुचि से खाती हैं। अंडे को मुख में रखकर ये अपना सिर ऊपर उठा लेती है और तब अंडे को तोड़ती है, जिससे उसका सार भाग कण्ठ में चला जाता है। बंगाल की एक गोह ने वर्ष भर में साठ चूहे, छः अंडे, पाँच सेर मांस और चार खरगोश खाए थे!

बिसखोपरा भी गोह ही है। वस्तुतः पूर्ण वयस्क होने से पूर्व के बच्चे अपने शरीर पर की काली धारियों और चित्तियों के कारण श्यामवर्ण के जान पड़ते हैं। उन्हें ही लोग बिसखोपरा कहकर पुकारते हैं। चूँकि गोह की जीभ साँप की तरह लंबी, चिकनी और दो भागों में फटी हुई होती है और उसके सर्पाकृति मुख में से रह-रहकर लपलपाती रहती है, अतः आम तौर पर यह विश्वास जन-

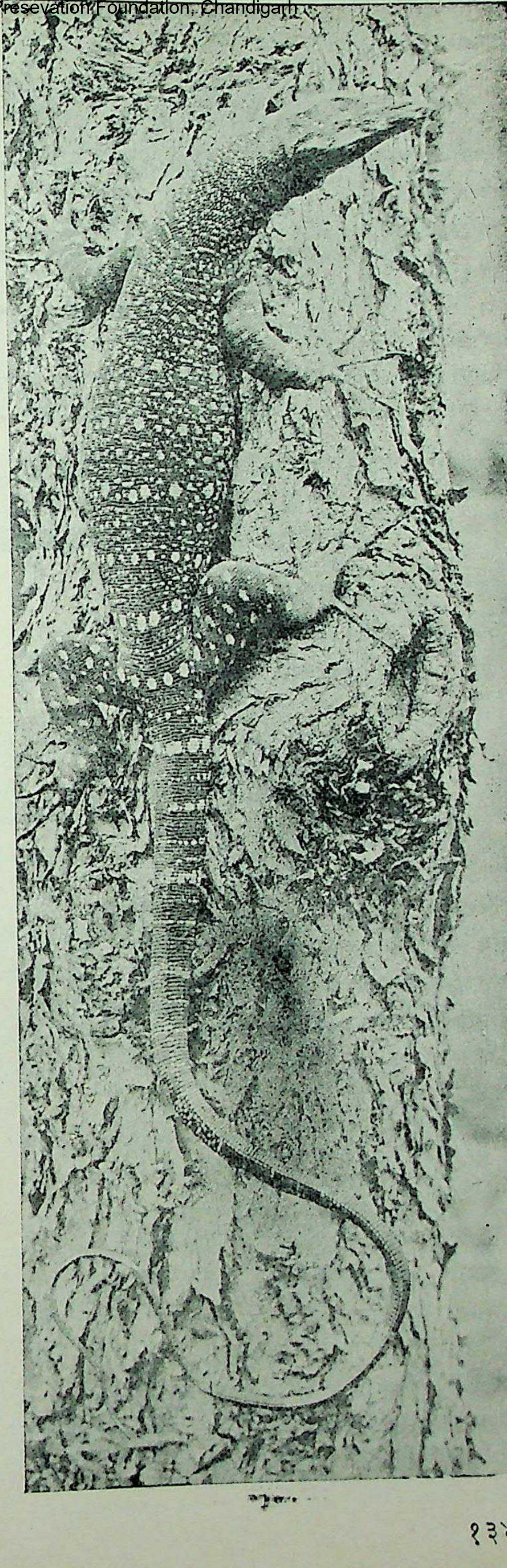

गोह जाति की 'मॉनीटर' नामक छिपकली :: ये काफी बड़े आकार की होती हैं और वृक्षों पर चढ़कर रहती हैं।

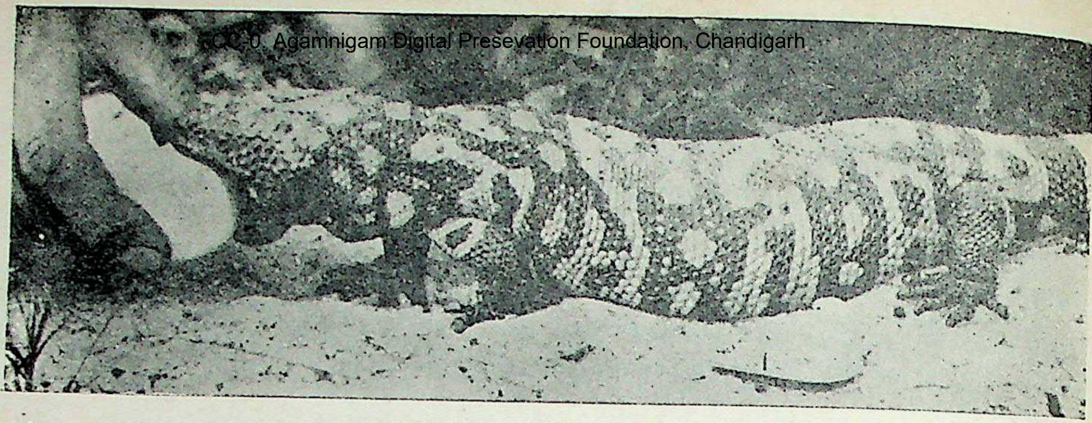

यही है दो प्रकार की विषैली छिपकलियों में से एक, जो 'गिला मॉन्स्टर' के नाम से पुकारी जाती है। इसके मुख में निचले जबड़े में विषग्रंथियाँ होती हैं, जिनका जहर मनुष्य तक को मार डालने के लिए पर्याप्त होता है।

साधारण के मन में जम गया है कि बिसखोपरा भयावना विषैला प्राणी है। बहुत-से व्यक्तियों का दृढ़ विश्वास है कि इस उरंगम का विष प्राणघातक होता है ! किन्तु वैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह बात अभी तक सिद्ध नहीं हुई है।

संसार की सब से बड़ी गोह—'कमोडो ड्रेगन'

दुनिया की सब से बड़ी गोह पूर्वीय द्वीप-समूह में मिलती है और वह 'कमोडो ड्रेगन' के नाम से पुकारी जाती है। कमोडो नाम के द्वीप में सर्वप्रथम पाई जाने के कारण ही इस नाम से यह प्रख्यात है। सम्भव है, ऐसी बृहदाकार छिपकलियों से ही उन परदार अजगरों की कल्पना चीन के कलाकारों के मन में जगी होगी, जो हमें बहुतायत से वहाँ के प्राचीन चित्रों में दिखाई देते हैं। इस गोह की विशाल लचीली गर्दन और चिमटे की भाँति फटी हुई लपलपाती हुई लम्बी जीभ उसके भारी और कुरूप शरीर के साथ मिलकर दर्शक के रोंगटे खड़े कर देती है ! वह सचमुच बड़ी भयंकर जान पड़ती है ! तो फिर क्या आश्चर्य है कि इस जीव के बारे में अनेक मनगढ़ंत कहानियाँ रच डाली गई हों।

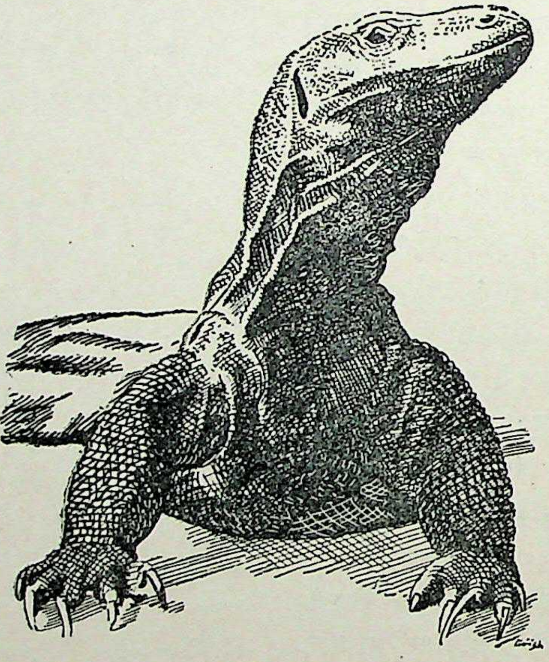

संसार की सब से बड़ी छिपकली 'कमोडो ड्रेगन' का भयानक रूप :: पूर्वीय द्वीप-समूह में पाई जानेवाली इस वृहदाकार गोह की लंबाई तो केवल दस-बारह फीट तक पहुँचते पाई गई है, परन्तु उसका बदन बहुत भारी होता है। कहते हैं, उसका वजन तीन मन तक होता है।

ऊपर उल्लिखित द्वीप-समूह के आदिवासियों को इस महाकाय छिपकली का पता सदियों से था और वे इसकी सदैव चर्चा करते थे। परन्तु वैज्ञानिकों ने इस विशाल गोह का प्रत्यक्ष दर्शन सन् १९१४ ई० में किया, जब उक्त द्वीप-समूह के कमोडो नामक टापू पर पहले-पहल इसके नमूने दिखाई दिए। बाद में उक्त समूह के 'रिंजा' और 'फ्लोर' नामक अन्य टापुओं पर भी इसी वर्ग की अन्य गोहें मिलीं। ये छिपकलियाँ आकार में दस से बारह फीट तक पहुँचते पाई गई हैं। परन्तु उनकी खास विशेषता यह है कि वे काफी भारी बदन की और हृष्ट-पुष्ट होती हैं। उनका तौल तीन मन तक का पाया गया है। यह प्राणी बड़ा शक्तिशाली और खूँख्वार होता है। यह अधिकतर उक्त द्वीपों के जंगलों में पाए जानेवाले छोटी जाति के जंगली सुअरों का शिकार करके उन्हीं पर अपना गुजर-बसर चलाता है। बड़े पशुओं-जैसी खुरदरी मोटी खाल से मढ़े अपने भारी बदन को घसीटता हुआ जब यह उरंगम अपनी भयावनी लंबी गरदन को ऊँची उठाकर साँप की-सी लंबी फटी हुई जीभ लपलपाता होगा, तो किसके रोंगटे न खड़े हो जाते होंगे ?

विशाल मानव परिवार

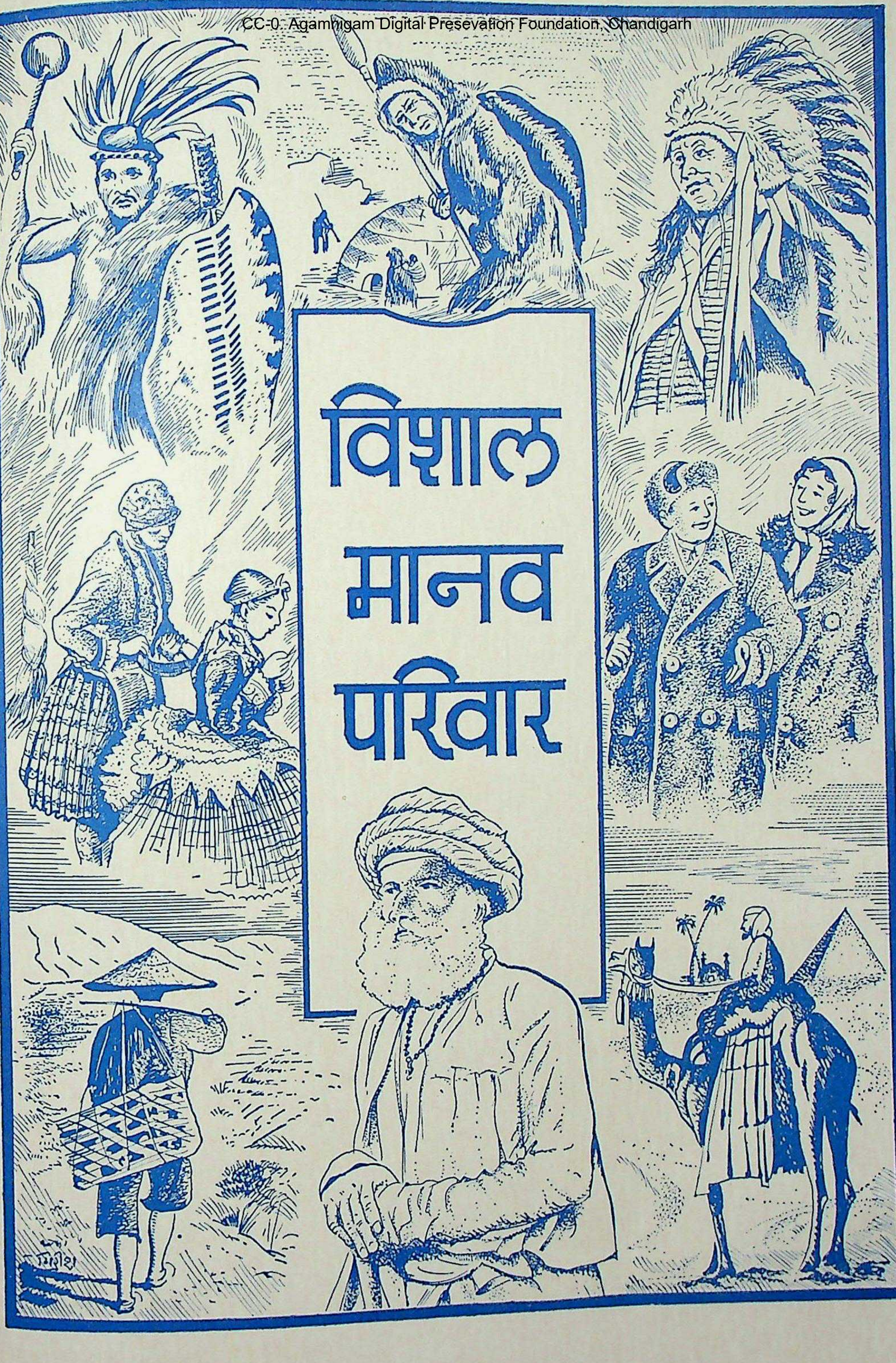

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

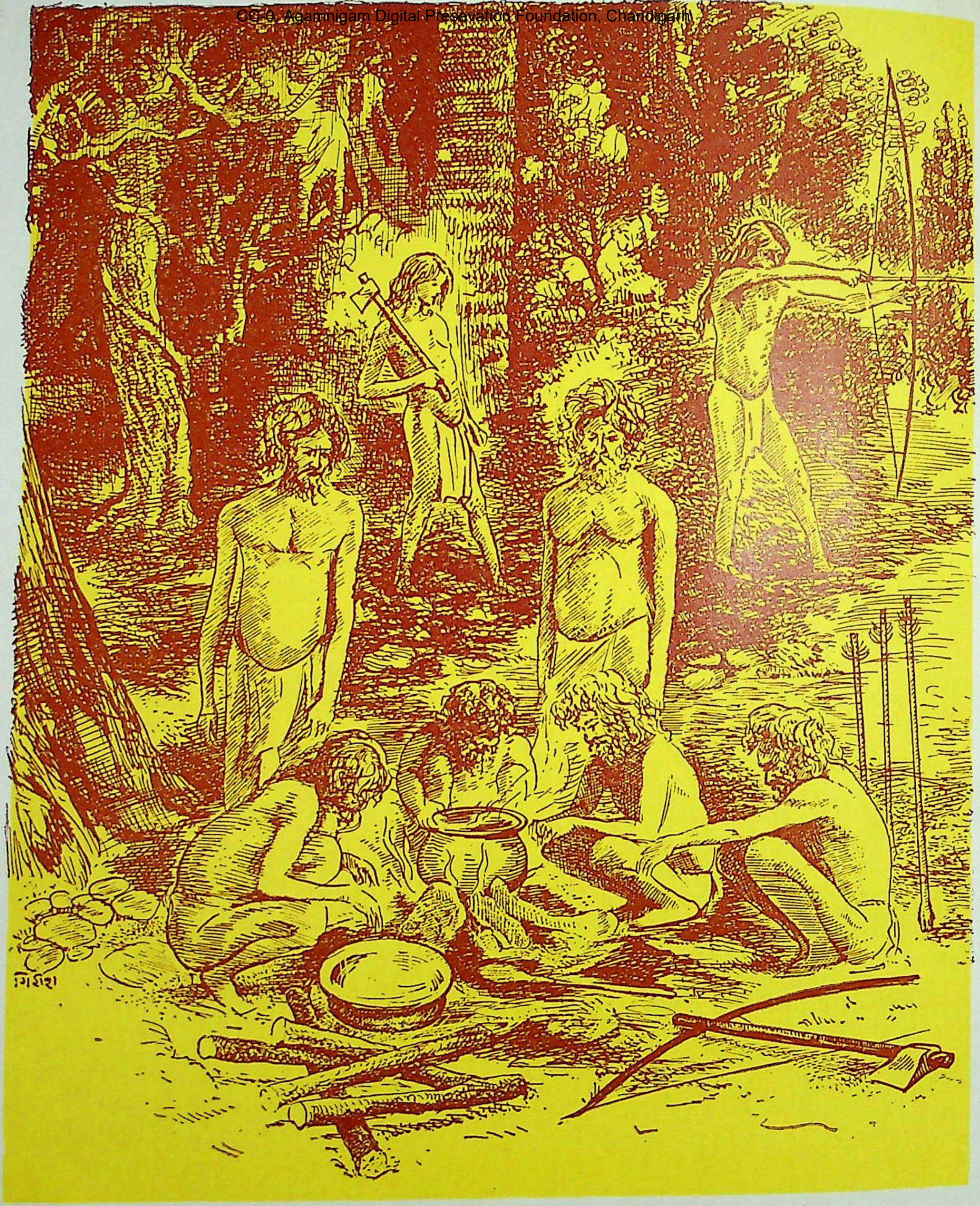

आधुनिक युग में पाषाणकाल का-सा जीवन बितानेवाले लंका के 'वेद्दा' जाति के लोग

जो नाममात्र की एक लँगोटी पहने रहते हैं और प्रस्तरयुग की याद दिलानेवाले अपने हथियारों से पशु-पक्षियों का शिकार करके अथवा वन्य कन्द-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं। ये लोग 'सभ्यता' से आज भी इतनी दूर हैं कि ये अपना खाना पकाने के लिए आग को चकमक पत्थर से पैदा करते हैं और प्राकृतिक गुफाओं, वृक्षों के कोटरों अथवा छाल से बनाए गए भौंडे झोंपड़ों में रहकर अपना जीवन बसर करते हैं। [विशेष परिचय पृ० १३८१-८३ पर देखिए।]

अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियाँ—(१)

नीग्रो और अर्द्ध-नीग्रो

इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में इसी विभाग के अंतर्गत 'धरती की गोद में बसनेवाली रंग-बिरंगी जातियाँ' शीर्षक प्रारंभिक प्रकरण में हम अफ्रीका महाद्वीप को 'आदिम जातियों के अनूठे अजायबघर' की संज्ञा प्रदान कर चुके हैं, साथ ही उसी खंड के एक प्रकरण में वहाँ की एक अद्भुत वन्य जाति–पिगमी–का विस्तृत परिचय भी दे चुके हैं। आइए, अब कृष्णवर्ण जातियों की इस महान आवासभूमि में बसनेवाले कतिपय अन्य मनोरंजक मानव-समुदायों का परिचय प्रस्तुत और आगे के कुछ प्रकरणों में आपको दें।

वर्ण भेद के उपासक गोरों की बोलचाल में उनसे भिन्न वर्ण का प्रत्येक व्यक्ति 'काला आदमी' या 'नीग्रो' होता है! उनकी तथाकथित सभ्यता में इस शब्द की व्यापकता इतनी अधिक है कि बिना किसी भेदभाव के वे लोग किसी भी गहरे रंग की चमड़ीवाले को 'नीग्रो' कह बैठते हैं! हमारे देश में भी इसी तरह अफ्रीका से आए हुए गहरे काले वर्ण की जाति के लोगों के लिए 'हब्शी' शब्द का व्यवहार होता रहा है। यह शब्द मुसलमानों के शासनकाल में भारत में प्रचलित हुआ। किन्तु सच पूछा जाय तो 'हब्शी' केवल वही है, जो अबीसीनिया या 'हब्श' देश के निवासी हैं। सभी नीग्रो हब्शी नहीं कहे जा सकते, जैसा कि भ्रमवश लोग मान बैठे हैं और न श्वेतांग जातियों का अपने से भिन्न वर्ण की जाति के सभी लोगों को 'नीग्रो' कहना ही न्यायसंगत है। 'नीग्रो' केवल उन जातियों के मनुष्य ही कहे जा सकते हैं, जो अफ्रीका महाद्वीप में सहारा मरुभूमि और 'आशा-अन्तरीप' की सीमाओं से घिरे हुए प्रदेशों में अधिकता से पाए जाते हैं। वही उन प्रदेशों के वास्तविक आदिम निवासी भी हैं। परन्तु जित्त भूभागों में वे रहते हैं, उनके आसपास विषुवत् रेखा के समीप के प्रदेशों में रहनेवाले बौनी जाति के पिगमी लोग, उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के बुशमैन जातिवाले तथा उत्तर-पूर्वी अफ्रीका में धुर दक्षिण तक फैले हुए अन्य जातियों के लोग भी बसे हुए हैं। ये वास्तविक 'नीग्रो' नहीं हैं। उनमें और नीग्रो लोगों में बड़ी भिन्नता है। नीग्रो जातिवालों का गहरा रंग, उनके ऊन-जैसे घुंघराले घने बाल और विशेष प्रकार का बड़ा सिर ऐसी विशेषताएं हैं, जिनसे उनको बड़ी सरलता से अलग पहचाना जा सकता है। नीग्रो का भीतर की ओर दबा हुआ संकुचित ललाट, चौड़ा जबड़ा और खोपड़ी उसे अन्य जातियों से सर्वथा भिन्न बतलाने के लिए पर्याप्त हैं।

अफ्रीका की आदिम जातियों का वर्गीकरण

रंग-रूप और आकृति के विचार से अफ्रीका की आदिम जातियों के तीन भेद माने जाते हैं–(१) नीग्रो तथा अर्ध-नीग्रो जातियाँ, (२) हैमिटिक जातियाँ, और (३) सेमिटिक जातियाँ। इनमें से प्रत्येक वर्ग में अनेक उपजातियाँ हैं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं:–

(१) नीग्रो तथा अर्ध-नीग्रो

(क) नीग्रितो (पिगमी):
    बुशमैन, बतवा, ओबाँगो, अक्का आदि।

(ख) हाटेनटॉट:
    नामाकुआ, कोराकुआ, ग्रीकुआ, आदि।

(ग) बंटू:
    जुलू, काफिर, बसूतो, बेचुआना, माकुआ, मातेबेले,

मानगंजा, बैंचू, बगेत्से, बहआ, बालुदा, वासवाहिली, वान्यामवेसी, वालेग्गा, ओवाहेरो, फजी-वजी, ओवाम्पो, बैंकांगो, बतेके, दुआलो, आदि ।

(घ) सूदानी नीग्रो :

क्रू, फाँती, अशान्ती, मोरुबा, न्यूपे, मंदिनग्ना, उलोफ, बैम्बारा, सोनरहाई, हौसा, बत्ता, कनूरी, बागिरमी, मोस्गू, कनेम, माबा, न्यूबा, दिन्का, शिल्कु, बारी, मानबत्तू, जंदे, आदि ।

(२) हैमिटिक जातियाँ

(क) नीग्रो रक्तमिश्रित हैमिटिक :

फान, कुला, तिब्बू, अगुस, मसाई, फेलाहिन, आदि ।

(ख) शुद्ध हैमिटिक :

बर्बर (शुलूह, मजाब, कबीले, तुरेग), गाला, सुमाली, अफार (दानाकिल), बेगा, आदि ।

(३) सेमिटिक जातियाँ

अरब, हिमयारित (अम्हारा, तिगरे, शोआ) आदि ।

इन जातियों में बहुतेरी सभ्य, कुछ अर्धसभ्य और कुछ एकदम जंगली स्थिति में हैं । यद्यपि ये सब बहुत-कुछ आधुनिक सभ्यता से प्रभावित होती जा रही हैं, फिर भी इनमें से अधिकांश अब भी अपने प्राचीन परम्परागत रीति-रिवाजों को माननेवाली ही हैं । इनकी चित्र-विचित्र जीवनचर्या का यदि विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जाय, तो बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जा सकते हैं । ये जातियाँ परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हुए भी सदियों से एक-साथ रहती चली आई हैं । इसमें सन्देह नहीं कि एशिया तथा अन्य विदेशों से आए हुए प्रवासियों का रक्त भी इनमें काफी मिल चुका है, परन्तु इनकी मौलिकता अभी तक नष्ट नहीं हो पाई है । विदेशियों ने अफ्रीका का नाम 'काला महाद्वीप' जो रख दिया है, सो वहाँ की आबादी में इन कृष्णवर्ण जातियों को प्रचुरता को देखते हुए ही रक्खा गया है ।

ऊपर उल्लिखित जातियों के अतिरिक्त इस महाद्वीप के अन्तर्गत सुदूर जंगलों के भीतर अनेक ऐसी जातियाँ भी निवास करती हैं, जिनके विषय में अभी तक पर्याप्त अनुसन्धान नहीं हो पाया है । विषबुझे बाणों तथा बर्छों का उपयोग करनेवाले नितान्त जंगली नरमांसभक्षी लोगों को बस्तियों से लेकर पिरामिड की छाँह में बसी हुई सभ्य अरब जातियों तक विविध मानवीय टोलियाँ शताब्दियों की अपनी-अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति लिए हुए इस महाद्वीप को जो आबाद किए हुए हैं, उन्हें देखकर हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं । वस्तुतः अफ्रीका वास्तव में इतना रहस्यमय भूभाग है कि उसकी वास्तविक आत्मा को पहचानना बड़ा कठिन है ।

नीग्रो जति के लक्षण

नीग्रो जाति के मनुष्य के शरीर का रंग एकदम आबनूसी काला नहीं होता, जैसा कि भ्रमवश कुछ योरपीय विद्वान् हमें अब तक बतलाते रहे हैं । वरन् सूदानी और सुमाली जातिवाले ही अधिक काले होते हैं, जो कि शुद्ध नीग्रो नहीं कहे जा सकते । नीग्रो लोग गहरे कत्थई या ऐसे गेहुँए रंग के होते हैं, जो प्रायः ताम्रवर्ण, बादामीपन या लालिमा लिए हुए पाए जाते हैं । वातावरण के अनुसार ही शारीरिक वर्ण में भी भिन्नता पाई जाती है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही व्यक्ति का रंग उसकी अवस्था और स्वास्थ्य के अनुरूप बदलता रहता है । नीग्रो का भी रंग बुढ़ापा आने पर गहरा होता जाता है, किन्तु नवजात शिशुओं का रंग साफ और हल्का होता है । इनके केश साधारणतया छोटे होते हैं और उनमें स्वाभाविक छल्ले से पड़ जाते हैं, जिनके कारण वे घुंघराले और गुलझट खाए हुए-से दिखाई देते हैं । कुछ जातियों में केश काफी लम्बे होते हैं, जो बड़े कलापूर्ण ढंग से सँवारे जाते हैं । नीग्रो लोगों के चेहरे पर बाल प्रायः नहीं होते या बहुत कम होते हैं । दाढ़ी का भी अभाव-सा ही रहता है । मूँछों के स्थान पर दस-पाँच पतले बालों की हल्की-सी रेखा होठों के कोनों पर दिखाई देती है ।

नृतत्व-शास्त्र की दृष्टि से नीग्रो लोगों के सिर की बनावट विशेष रूप से ध्यान देने योग्य होती है, यद्यपि अनेक जातियों के पारस्परिक मिश्रण के कारण उसमें भी भिन्नता पाई जाती है । उनके सिर प्रायः काफी बड़े और कपाल की हड्डियाँ खूब दृढ़ एवं मजबूत होती हैं । आकृति में सिर कुछ लम्बे और पीछे की ओर चौड़े होते हैं तथा ललाट भीतर को दबा हुआ-सा जान पड़ता है । उनकी नासिका ऊपर से चौड़ी और नथुने खुले हुए होते हैं, जिनके कारण वह कुछ चपटी और दबी हुई दिखाई देती है । नीग्रो लोगों का बदन बड़ा सुडौल और सुदृढ़ होता है तथा उनकी लम्बाई का औसत ५ फीट ७ इंच से कम नहीं होता । सभी नीग्रो साधारणतया काफी हृष्ट-पुष्ट होते हैं । उनकी शारीरिक उन्नति का मुख्य कारण उनकी कठोर परिश्रम की वृत्ति है, जिसमें वे योरपवालों से कहीं अधिक बढ़े-चढ़े होते हैं । हाँ, मानसिक विकास में वे अपेक्षाकृत निम्न स्थिति पर हैं । परन्तु इसका कारण उनका दूसरों पर आश्रित रहना मात्रा ही है । नीग्रो लोगों को आमाशय-संबंधी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विकार नहीं सताते और उनमें शारीरिक कष्ट सहने की बड़ी शक्ति होती है। डाक्टरी चीरफाड़ करते समय उनको बेहोश करने की आवश्यकता नहीं पड़तो और प्रायः शल्य-चिकित्सा के ऐसे प्रयोग, जिनमें योरपीयन लोग पीड़ा के कारण प्राण तक छोड़ देंगे, उनमें बड़ी सरलता से सम्पन्न किए जा सकते हैं। जान्सटन नामक एक योरपीयन प्रेक्षक ने ब्रिटिश मध्य अफ्रीका में अपनी आँखों देखे ऐसे ही शल्य - प्रयोगों का हाल लिखा है। वह लिखता है कि 'नीग्रो जाति के सनिकों पर ऐसे घोर कष्टदायक शल्य - प्रयोग किए जाते हैं, जिनमें साधारण व्यक्ति तड़प उठेंगे, परन्तु नीग्रो बराबर मुस्कराते रहते हैं। कभी-कभी उनमें से कोई व्यक्ति धीरे से मुँह बनाता है और मात्र आँखें मींच लेता है, परन्तु अधिकांश व्यक्ति घास की रस्सियाँ उँगलियों से बटते जाते हैं और बड़े कौतूहल से चीरफाड़ के औजारों को अपने बदन पर चलते हुए देखते रहते हैं!' ऐसा कष्टसहिष्णु होना वास्तव में नीग्रो लोगों की एक असाधारण विशेषता है।

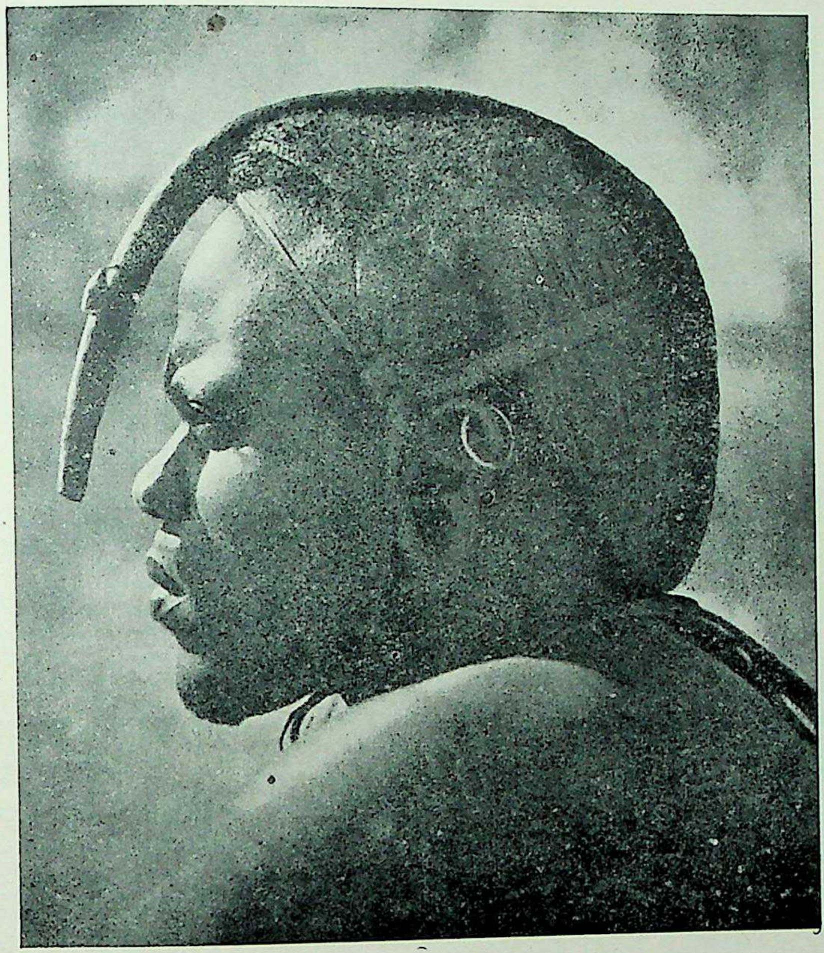

पूर्वी अफ्रीका का निवासी एक नीग्रो, जो गोजमान नामक जाति का है। नीग्रो वर्ग की ऐसी अनेक उपजातियाँ हैं।

वस्त्र और आभूषण

नीग्रो जातिवालों की पोशाक भी बड़ी अजीब होती है। कुछ तो नितान्त नंगे रहते या नाममात्र को कपड़े पहनते हैं। अन्य जातिवाले, उदाहरणतः 'सुहेली' लोग, ऊपर से नीचे तक वस्त्रों से ढके रहते हैं। 'करीरान्दो' प्रदेश के निवासी नीग्रो कपड़े बिल्कुल नहीं पहनते। आम तौर पर नीग्रो लोगों की वेशभूषा बिल्कुल सादी रहती है। बच्चे तो प्रायः नंगे ही घूमा करते हैं। स्त्रियाँ एक प्रकार का चुस्त घाघरा पहनती हैं, जो कमर से घुटनों तक आता है। पुरुष बहुत ऊँचा तहमत या लुंगी बाँधते हैं, जिसे वे प्रायः उतारकर रख भी देते हैं। ऐसे प्रान्तों में जहाँ पानी अधिक बरसता है और ठंड पड़ती है—मुख्यतः पठारों में—प्रायः लोग पशुओं की खाल का बना हुआ ऊँचा कोट या लबादा पहनते हैं, जिसे वे कन्धों पर लापरवाही से डाले रहते हैं। ये खालें बिल्कुल कच्ची होती हैं, किन्तु उनको छील-छीलकर तथा बार-बार पीटकर नरम बना लिया जाता है, ताकि उनसे बने वस्त्र पहनने योग्य रह सकें। दक्षिणी अफ्रीका में खालों के बने कपड़ों का बहुत चलन है। उत्तरी अफ्रीका तथा समुद्र-तट के पास के प्रान्तों में सूत के बुने हुए कपड़े व्यवहार में लाए जाते हैं। विषुवत् रेखा के पार्श्ववर्त्ती प्रदेशों में रहनेवाली जातियाँ पेड़ों की रेशेदार छालों, जड़ों और घास से बने कपड़े पहनती हैं। प्रायः ये लोग अंजीर की छाल को कूटकर नरम तथा लोचदार बना लेते हैं और उसके वस्त्र बनाकर पहनते हैं। यूगान्दा में ऐसे ही कपड़ों का चलन है।

वस्त्रों की भाँति आभूषण भी तरह-तरह के पहने जाते हैं। अधिकतर नीग्रो जातियों में लोहे या पीतल के मोटे-मोटे कड़े, बाज़ूबन्द, छल्ले और बालियाँ पहनने का रिवाज है। इनके हाथ-पैर, कान-नाक आदि आभूषणों से लदे रहते हैं। तार को पीट-पीटकर बनाए गए पीतल के छोटे-छोटे दाने और कौड़ियाँ आदि खाल के वस्त्रों तथा पेटियों पर सी लिए जाते हैं अथवा उन्हीं की झालर-सी लगा ली जाती है। कुछ जातियों में भुजाओं के ऊपर हाथीदाँत के कड़े पहनने का भी रिवाज है। इन लोगों की टोपियाँ पक्षियों के पर तथा रोएँदार जानवरों की खालों की बनती हैं, जिन्हें अधिकतर सैनिक या लड़ाकू जातियों के वीर ही धारण करते हैं। इनके धर्म-पुरोहित, स्याने, ओझा और जादूगर लोगों की पोशाक बड़ी विचित्र होती है। वे लोग आभूषणों की जगह पर तरह-तरह की भयानक और बीभत्स वस्तुएँ पहने रहते हैं। उनके वस्त्रों में प्रायः बड़ी-बड़ी अलभ्य वस्तुएँ टँकी रहती हैं, जैसे पेड़ों की जड़ें, मुर्दों की हड्डियाँ, खाली कारतूस, सीसे की गोलियाँ, घोंघे, सीप, आदि! इनका उद्देश्य यह होता है कि अपनी जातिवालों में उनकी विशेषता प्रकट होती रहे और इस प्रकार उन पर उनकी धाक जमी रहे।

शृंगार-प्रसाधन—गोदना आदि

नीग्रो लोगों में तरह-तरह के रंगों से गोदना भी गोदा जाता है और शरीर के अंग-प्रत्यंग में बड़ी विचित्र आकृतियाँ अंकित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त बदन पर घाव करके ये लोग उसे दागते भी हैं, जिससे उस स्थान की चमड़ी उभर आती है। बार-बार ऐसा करने से उनके शरीर पर मनोनीति चिह्न बन जाते हैं, जिन्हें वे सौन्दर्यवर्धन का साधन समझते हैं। इन घावों में रंग भरते रहने के कारण नीग्रो लोगों का शरीर भाँति-भाँति की आकृतियों का खासा एलबम-सा बन जाता है! ये आकृतियाँ प्रायः रेखा-चित्रों के रूप में होती हैं और कभी-कभी उनमें बड़ा कलापूर्ण चित्रण किया रहता है।

कुछ जातियों में इस प्रकार का गोदना केवल जाति या वर्ग विशेष का चिह्न मात्र समझा जाता है, किंतु अन्य जातियाँ उसे शृंगार का साधन भी समझती हैं। उनके मत में यह सौन्दर्य बढ़ाने का सर्वोत्तम उपचार है। कहीं-कहीं कानों की लौर तथा होठ बहुत बढ़ाए हुए रखने का भी रिवाज है। उनमें छेद करने के बाद लकड़ी की छोटी-बड़ी फिरकियाँ डाल दी जाती हैं, जिनका आकार क्रमशः बढ़ाया जाता है। दाँतों को रेतकर नुकीला बनाने की भी प्रथा इनमें है। कहीं-कहीं सामने के दो-चार दाँत उखाड़ डालने का भी चलन है। ये बातें व्यक्तिगत सौन्दर्य की कसौटी समझी जाती हैं। फलतः ऐसे कष्टप्रद उपायों का अवलम्बन करने को सभी सदा सहर्ष प्रस्तुत रहते हैं।

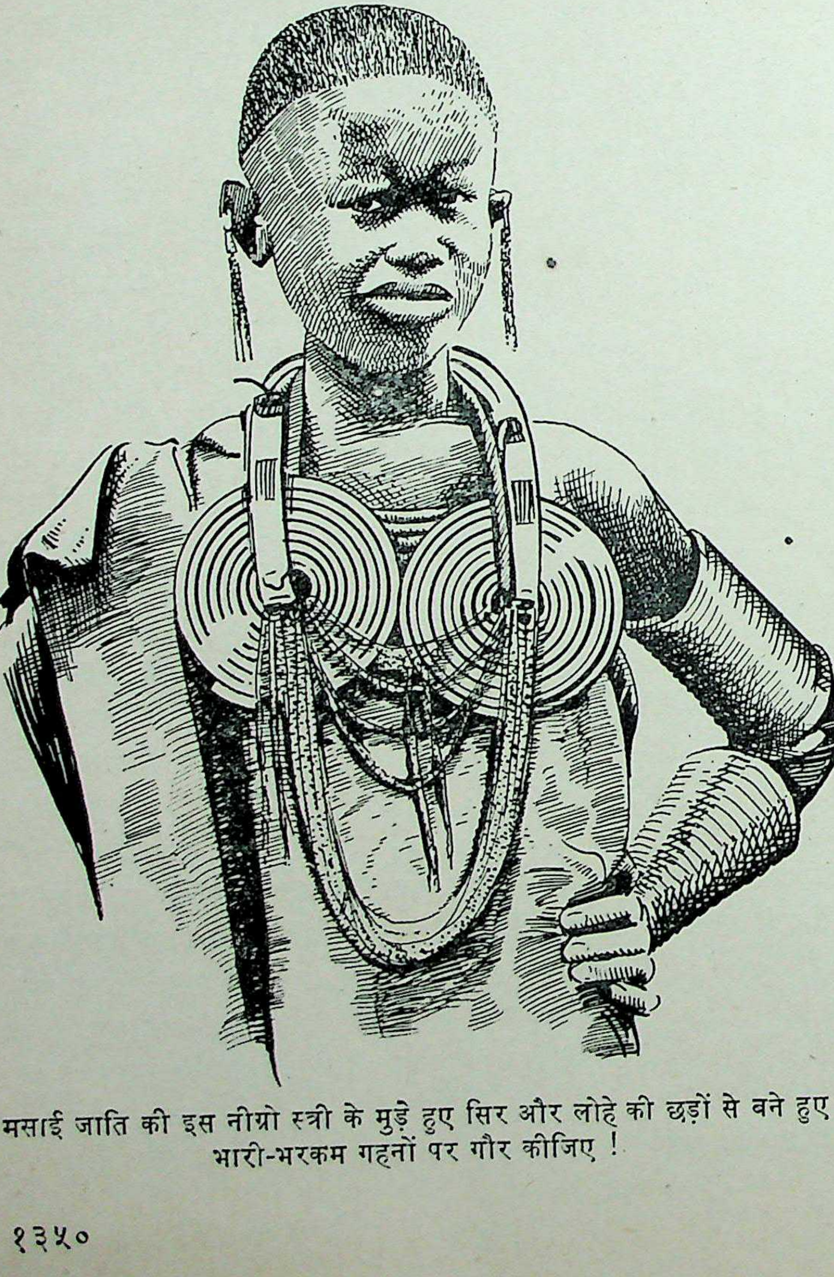

मसाई जाति की इस नीग्रो स्त्री के मुड़े हुए सिर और लोहे की छड़ों से बने हुए भारी-भरकम गहनों पर गौर कीजिए!

अस्त्र-शस्त्र

नीग्रो लोगों का मुख्य शस्त्र है भाला या बरछा। जम्बेसी प्रदेशवाले नीग्रो 'असेगाई' नाम का खाँचेदार फलवाला एक हल्का छोटा बरछा प्रयोग में लाते हैं, जो फेंककर मारा जाता है। मसाई जाति के लोग लम्बे फल का बहुत वजनी, दोधारा बरछा, जो भोंकने या छेदने के काम आता है, प्रयोग में लाते हैं। प्रायः सभी जातियों में धनुष-बाण का व्यवहार भी प्रचलित है। ये लोग बाणों को अक्सर जहर से बुझाते हैं। यह जहर कुछ पौधों की पत्तियों तथा जड़ों के रस से तैयार किया जाता है। गदा और मुग्दरनुमा मोटे डंडे भी युद्ध तथा शिकार के समय काम में लाए जाते हैं। ये प्रायः लकड़ी, पत्थर या लोहे के बनते हैं। कहीं-कहीं हड्डियों के भी शस्त्र बनाए जाते हैं।

झोपड़े और मकान

नीग्रो जातिवाले रहने के लिए पेड़ों की झुकी हुई डालियों और लट्ठों के झोपड़े बनाते हैं, जिनके ऊपर वे घास-फूस या पत्तियों की छतें डालते हैं। उनकी दीवारें भी इन्हीं की बनती हैं। कहीं-कहीं दीवारें बनाई ही नहीं जातीं और केवल छप्परों के नीचे ही लोग रहते हैं। प्रायः ये झोपड़े बहुत छोटे होते हैं, किन्तु जाति के सरदारों तथा मुखिया लोगों के घर औरों की अपेक्षा सुन्दर और मजबूत होने के अतिरिक्त बहुत बड़े भी बनते हैं। साधारणतया झोपड़ों की बनावट मधुमक्खी के छत्तों की तरह होती है, किन्तु कहीं-कहीं वे लम्बे, चोकोर तथा अंडाकार भी बनाए जाते हैं। खानाबदोश जीवन बिताने वाले नीग्रो नरकुल तथा काँस के परदों से लट्ठों के ऊपर अस्थायी झोपड़े बना लेते हैं और उनके चारों ओर जानवरों की खालें लपेट लेते हैं।

जिन स्थानों के नीग्रो बाहरी जातियों के निकट सम्पर्क में आ चुके हैं, वहाँ वे पत्थर के मकान भी बनाने लगे हैं। किन्तु अधिकतर लोग अभी झोपड़ों में ही रहते हैं। जहाँ दलदल और कीचड़वाली जमीन मिलती है, वहाँ दीमक से बचने के लिए ऊँचे-ऊँचे लट्ठों के मचान बाँधकर उन पर झोपड़े बनाए जाते हैं। कहीं-कहीं एक ही लट्ठे के ऊपर घोंसलों की तरह घास-फूस की अनेक छोटी-छोटी गुमटियाँ बनाई जाती हैं, जहाँ लोग खाना पकाते हैं। ये गुमटियाँ गोलाकार बनती हैं। पूर्वी अफ्रीका तथा गिनी प्रदेश के नीग्रो चौकोर या वर्गाकार मिट्टी के घर भी बनाने लगे हैं।

आहार

इन लोगों का मुख्य भोजन अनाज और साग-पात है। ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, कद्दू, शकरकन्द, लौकी और मटर इनके आहार में मुख्य स्थान पाते हैं। कुछ जातियाँ जंगली फलियों और केलों को खाकर ही अपनी भूख मिटाती हैं। जो लोग समुद्र के किनारे रहते हैं, वे नारियल को ही अपना मुख्य आहार बनाए हुए हैं।

इनके यहाँ भेड़ों के झुंड-के-झुंड पले रहते हैं, जिनका वे दूध पीते और मांस खाते हैं। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जिनमें आमिष भोजन का व्यवहार धार्मिक रूप से वर्जित है। नदियों के आसपास रहनेवाले लोग मछलियाँ मारते हैं और यही उनका मुख्य आहार है। ऐसी भी कुछ जातियाँ हैं, जिनमें मछलियों के मांस का व्यवहार जातीय दुर्गुण

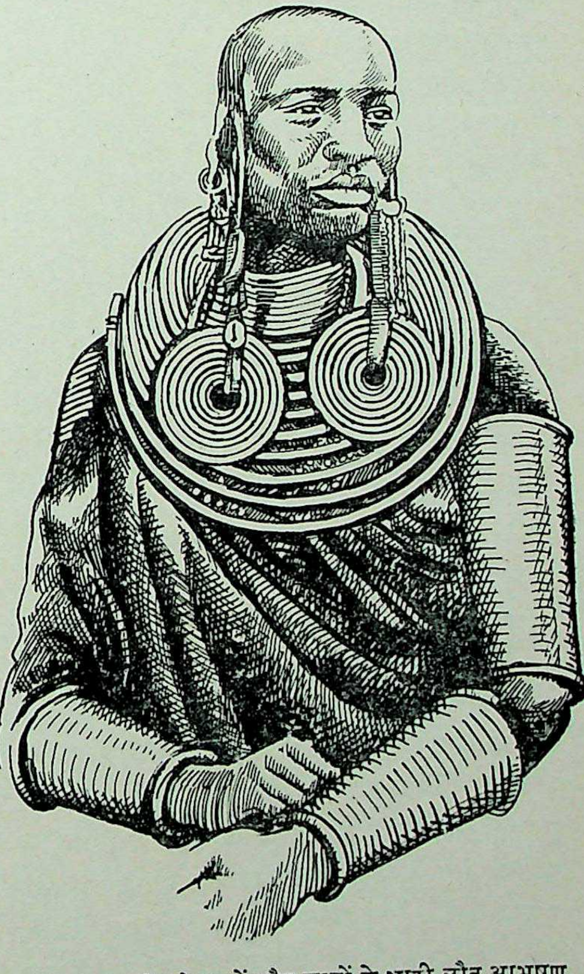

इस नीग्रो युवती को हाथों और कानों के भारी लौह आभूषण पर्याप्त नहीं जान पड़े, अतः उसने गले में अनोखी गोल छड़ें डाल ली हैं !

समझा जाता है। नर-मांस खाने की भी प्रथा बहुत दिनों तक नीग्रो जाति में प्रचलित रही, किन्तु धीरे-धीरे उसका ह्रास होता जा रहा है। अभी भी छिपे तौर पर उनमें कहीं-कहीं नर-मांस खाने का चलन है। आजकल कांगो और ओगावा की तलहटी में रहने वाले नीग्रो ही नर-मांस खानेवाले समझे जाते हैं। किन्तु औषधि या देवता के प्रसाद के रूप में अफ्रीका की प्रायः सभी नीग्रो जातियाँ नर-मांस खाना बुरा नहीं समझतीं, यद्यपि वे लुक-छिपकर ही ऐसा करती हैं। नर-मांस खाने का चलन वास्तव में उनकी प्राचीन रूढ़ियों और धार्मिक संस्कारों का ही परिणाम है, जिसे छोड़ते हुए ये लोग आजकल भी घबराते हैं। मनुष्य की जाँघ का मांस खाने से हम वीर बन सकते हैं, ऐसा अंधविश्वास नीग्रो लोगों में पुराने जमाने से चला आया है। इसीलिए किसी वीर शत्रु को मारकर उसका हृदय और कलेजा भूनकर खाने की प्रथा उनमें प्रचलित थी। ऐसा करने से मृत व्यक्ति जैसा साहस और शौर्य अनायास ही आ जाना सम्भव समझा जाता था।

समाज-संगठन

नीग्रो लोगों का सामाजिक संगठन प्राचीन प्रणाली पर ही अवलम्बित है, जिसके अनुसार घर का सर्वाधिक बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति परिवार का शासक समझा जाता है। प्रायः लोग स्वतन्त्र परिवारों की बस्तियों के रूप में रहते हैं। प्रत्येक बस्ती या परिवार का एक मुखिया होता है, जो आयु के अनुसार ही चुना जाता है। इनमें बड़े-बूढ़ों का ही अधिकार सर्वोपरि मान्य समझा जाता है। ऐसे कुछ गाँवों के बड़े-बूढ़े मिलकर एक सम्मिलित समिति बना लेते हैं या अपना एक मुखिया चुन लेते हैं, जो उन पर शासन करता है। ऐसे ही कई एक मुखिया लोग मिलकर अपना एक प्रधान या सरदार चुन लेते हैं, जिसके अधिकार को सभी मानते हैं। इस प्रधान या सरदार को वे राजा की तरह मानते हैं और उसकी शासन-नीति या तो उसकी अपनी इच्छा से या फिर मुखिया लोगों की समिति के परामर्श से निर्मित होती है। उसी के अनुसार वह अपनी हुकूमत चलाता है। इनके समाज-संगठन में दासत्व-प्रथा का प्रचार है। फलतः सभी जातियों में क्रीत-दास पाए जाते हैं, जो तरह-तरह के सेवा-कार्य करते हैं।

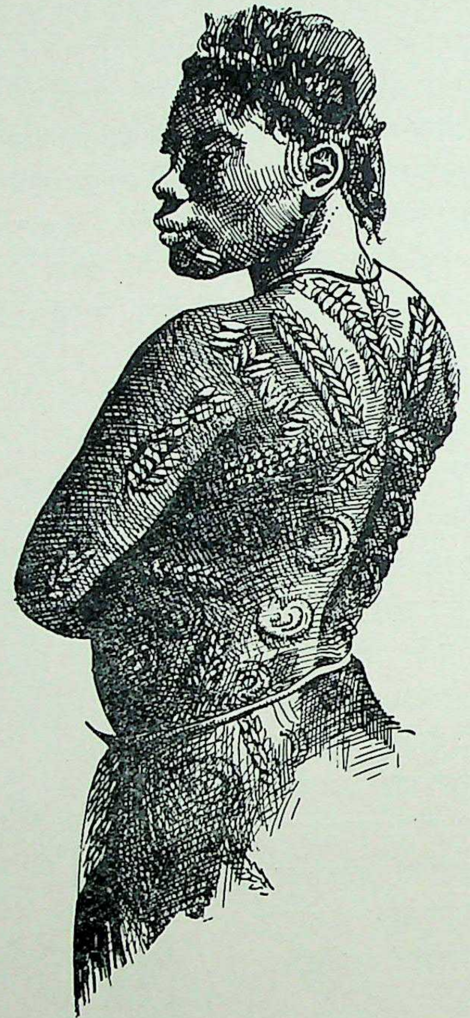

कांगो प्रदेश की इस नीग्रो स्त्री के बदन पर यह जो चित्रकारी दिखाई दे रही है, वह जलते हुए लोहे से दागकर तथा घाव पैदा करके की गई है!

नीग्रो जातियों में दो प्रमुख श्रेणी के लोग हैं। एक तो वे जो खेती-बारी करते हैं, दूसरे वे जो मुख्यतः सैनिक होते हैं। उनके समाज में यही दो वर्ग माने जाते हैं।

जातीय गुण और प्रतिभा

नीग्रो लोग बड़े परिश्रमी होते हैं। वे शारीरिक श्रम से कभी थकते नहीं। इच्छा होने पर वे कठिन-से-कठिन काम कर डालते हैं। वे स्वभाव के प्रायः लालची होते हैं, किन्तु अवसर आने पर असीम उदारता का भी परिचय देने से पीछे पैर नहीं हटाते। स्वामिभक्ति तथा सेवा-कार्य में अपने प्राणों का बलिदान देने में अन्य जाति के लोग उनकी समानता नहीं कर सकते। स्वभावतः वे बड़े वीर सैनिक होते हैं, किन्तु शीघ्र ही घबड़ा भी जाते हैं और जरा-सी हार होने पर ही भाग खड़े होते हैं। वे दयावान और कोमल प्रकृति के होते हैं, किन्तु उत्तेजित होने पर उनमें अमानुषिक निर्दयता आ जाती है। तब वे भयानक से भयानक कार्य कर डालने में भी संकोच नहीं करते।

नीग्रो लोगों के उद्योग-धन्धे अभी भी पुराने ढंग के ही हैं। नई सभ्यता का उनमें अभी पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। कृषि-कार्य में भी वे बहुत पिछड़े हुए हैं। खेती के लिए झाड़ियों और जंगली पौधों को आग से जलाकर वे जमीन साफ करते हैं। उस जमीन में खाद देना वे नहीं जानते। वे उसे लोहे के नुकीले औजारों या डंडों से खोदकर वैसी ही छोड़ देते हैं। उसे पानी से सींचना भी

वे नहीं जानते। नदियों की तलहटियों से खोद-खोदकर वे कच्चा लोहा निकालते हैं और साधारण भट्ठियों में गलाकर उसे साफ करते हैं। खालों को पकाकर चमड़ा बनाना उनको नहीं आता——केवल वही जातियाँ जो बाहरी सभ्य जातियों के सम्पर्क में आ चुकी हैं, पक्का चमड़ा बना लेती हैं। उनके बनाए हुए मिट्टी के बर्तन भी बहुत भद्दे होते हैं। वे चाकुओं से लकड़ी पर नक्काशी कर लेते हैं, किन्तु वह भी बहुत साधारण ढंग की ही होती है। कहीं-कहीं नक्काशी का काम बहुत अच्छा बनता है, किन्तु उस पर अन्य जातियों की कला की छाप स्पष्ट जान पड़ती हैं। उनकी कुछ ही जातियाँ ऐसी हैं, जो कपड़े बुनना जानती हैं।

धार्मिक विश्वास

नीग्रो लोगों का धर्म एक प्रकार की मूर्तिपूजा ही है, यद्यपि उसका पूर्ण विकास उनमें नहीं हो पाया है। साधारणतया सभी नीग्रो एक सर्वोपरि दैवी शक्ति को मानते हैं, जिसके विषय में उनके विचार उलझे हुए तथा अविकसित हैं। वे वर्षा, तूफान तथा अन्य प्राकृतिक घटनाओं के अधिष्ठाता देवताओं का अस्तित्व मानते हैं, जिनके लिए उन्होंने अपनी भाषा में अलग-अलग नाम रख छोड़े हैं। किसी भी असाधारण घटना का कारण किसी-न-किसी देवता ही को वे मानते हैं। सभी नीग्रो भूत, प्रेत तथा आत्माओं में विश्वास रखते और उनकी संख्या अपरिमित समझते हैं। जीवन की प्रत्येक अवांछित घटना को वे किसी-न-किसी भूत-प्रेत का प्रकोप मानते हैं। उनकी मूर्तिपूजा प्रकृति-पूजा का ही एक रूप कहा जा सकता है, जो परिवर्तित होकर साधारणतया जड़ वस्तुओं की पूजा के रूप में बदल गया है। उन्हीं जड़ वस्तुओं में वे भूत-प्रेत तथा आत्माओं का अस्तित्व मानकर यह समझते हैं कि जो उन जड़ वस्तुओं का स्वामी है, उसकी भलाई-बुराई बहुत-कुछ उन अदृश्य शक्तियों की इच्छा पर ही अवलम्बित रहती है। पूर्वी अफ्रीका में नीग्रो इस तरह की बातों में कम विश्वाश करते हैं, किन्तु पश्चिमी प्रदेशों में ठीक उसका उल्टा हाल है। वहाँ पुरोहितों, स्यानों और जादूगरों की प्रधानता पाई जाती है और वे इन लोगों को खूब ठगते हैं। ये स्याने तरह-तरह के ढोंग रचकर, जादू-टोने और भूत-प्रेतों का आवेश बतलाकर अपनी जीविका चलाते और धर्मान्ध नीग्रो नर-नारी उनकी आज्ञा को देववाक्य समझकर उनका अक्षरशः पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। अक्सर बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठानों की योजना की जाती है, जिनमें पशु-बलि के अतिरिक्त कभी-कभी नर-बलि भी चढ़ा दी जाती है! भूत-प्रेतों और देवी-देवताओं के रूठने पर उनको मनाने के लिए महीनों धार्मिक कृत्य और उपासना-पूजा चलती रहती है। इतना ही नहीं, नीग्रो लोगों के शासन-विधान में न्याय करने में भी भूतों-प्रेतों की प्रधानता स्वीकार की जाती है। अभियुक्तों के दोषी-निर्दोष होने का निर्णय शारीरिक कष्ट देकर या जहर पिलाकर किया जाता है। ऐसी परीक्षा का अवसर तब आता है, जब पंचायत के लोग तथा अधिकारीवर्ग किसी अभियोग का फैसला करने में असमर्थ होकर भूत-प्रेतों के हाथों में मामला सौंप देते हैं। तब प्राकृतिक पदार्थों के जरिए निर्णय प्राप्त किया जाता है, जो सर्वमान्य होता है।

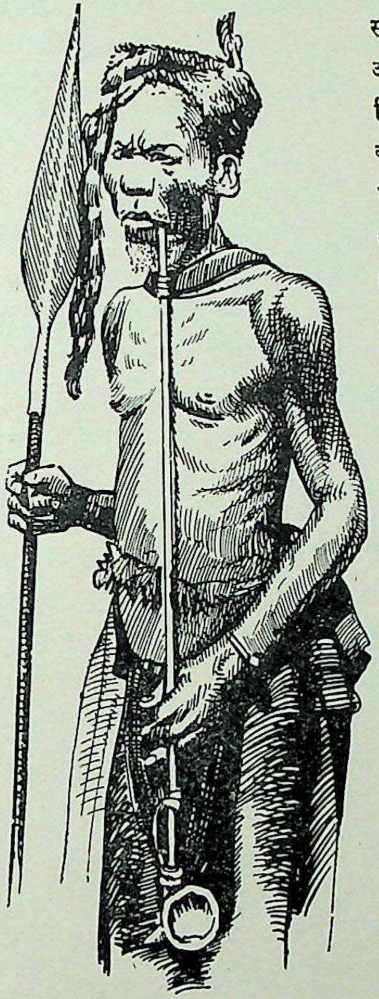

कांगों प्रदेश का एक नीग्रो योद्धा :: इसके भयानक बरछे पर ध्यान दीजिए।

उन्नति की ओर

नीग्रो अब तेजी से उन्नति के शिखर की ओर बढ़ रहे हैं। उनमें बहुतेरे ऊँची शिक्षा भी प्राप्त करने में सफल हुए हैं। इनके पूर्वज किसी जमाने में गोरों द्वारा गुलाम बनाकर अफ्रीका से अमेरिका ले जाए गए थे। वहाँ गुलामी-प्रथा का अंत होने के बाद नीग्रो जातिवालों ने बड़ी उन्नति की और आज वहाँ ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जिसमें वे गौरवर्णवालों के साथ बराबर कदम बढ़ाते हुए न चल रहे हों! इधर स्वतः अफ्रीका के भूखंड पर ही 'घाना' जैसे स्वतंत्र नीग्रो राष्ट्र के उदय के साथ कृष्णकाय जातियों के उदय का एक नया युग आरंभ हुआ है।

अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियाँ—(२)

अबीसीनिया के दानाकिल

इस बीसवीं शताब्दी में भी दुनिया में अभी कितने ही ऐसे भूभाग वर्तमान हैं, जहाँ सभ्यता का नामोनिशान नहीं पाया जाता । इन भूभागों से तुलना करने पर अरब और सहारा के रेगिस्तान भी 'विकसित' क्षेत्रों की श्रेणी में गिने जा सकेंगे ! रेगिस्तानों में भी कारवानों के रास्ते मिलते हैं—और कुछ नहीं तो वहाँ ऊँटों के पाँव की छाप तो बालू पर उगी रहती ही है ! पर जिस भूभाग की चर्चा हम करने जा रहे हैं, वहाँ तो ऐसे निशानों का भी पता नहीं चलता । वहाँ मनुष्य की कीर्ति अथवा उन्नति से सम्बन्ध रखता हुआ कोई भी चिह्न नहीं दिखाई देता ! फिर भला, वहाँ के बाशिन्दों का क्या हाल-हवाल होगा ? आइए, ऐसी ही कुछ लोगों की जीवन-झाँकी का एक नजारा इस प्रकरण में देखें !

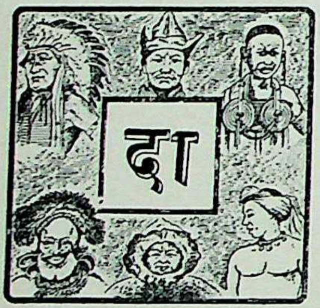

दानाकिल प्रदेश दुनिया का एक विचित्र हिस्सा है । इस प्रदेश से हमारा मतलब एरित्रिया (या इरीट्रिया) के दानाकिल से नहीं, जो लगभग ४० मील चौड़ा है और लालसागर के किनारे-किनारे मसावा से लेकर असब तक बसा है । वास्तविक दानाकिल प्रदेश उससे एकदम भिन्न है । इस प्रदेश की बाबत बाहरी दुनिया को अब तक बहुत कम पता है । यह हिस्सा सभ्य संसार से अब तक बिलकुल ही अछूता बना हुआ है । यहाँ के कितने ही भाग अब भी ऐसे हैं, जहाँ सभ्य संसार के किसी व्यक्ति ने आज तक पाँव नहीं रखा है !

यह वास्तविक दानाकिल प्रदेश एरित्रियन दानाकिल से और भी पश्चिम में अबीसीनिया की सीमा के भीतर है। इसका आकार एक टेढ़े-मेढ़े चौखूँट के ढंग का है । इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण तक लगभग चार सौ मील और चौड़ाई लगभग सवा सौ मील है। यात्रा करने की दृष्टि से यह संसार का सब से अधिक खतरनाक हिस्सा है । अब तक बाहर के ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस प्रदेश में प्रवेश किया हो और जो वहाँ से जीवित वापस आ गए हों ।

वस्तुतः इसकी सीमा तक भी बहुत कम आदमी पहुँच पाते हैं । उसके सीमान्त के आसपास कुछ ही निश्चित स्थान है, जहाँ तक सिर्फ अबीसीनियन लोगों की पहुँच है । उन स्थानों पर थोड़ी-बहुत नमक की तिजारत चलती है । इस सिलसिले में यदि दानाकिल क्षेत्र की सीमा के भीतर जाने की कोई जरूरत पड़ती है, तो भी अबीसीनियन या किसी बाहरी व्यक्ति को इसकी सुविधाएँ नहीं मिलतीं । दानाकिल प्रदेश के निवासी स्वयं ही नमक के बोरे ढोकर अपनी सीमा के एक हिस्से से दूसरे तक पहुँचाया करते हैं ।

भयावनी प्राकृतिक पृष्ठभूमि

दानाकिल लोगों की इस आवासभूमि का दक्षिणी तथा बीच का हिस्सा प्रसुप्त ज्वालामुखी पहाड़ों तथा बीहड़ पहाड़ियों से भरा है । इन पर्वतों का दृश्य बड़ा ही भयानक है । आसपास के समतल बालुकामय प्रदेश में ये भयानक पहाड़ एकाएक सैकड़ों फीट ऊँचे बर्छे की नोक की तरह हमारे सामने सीधे खड़े मिलते हैं । उनका हाड़-हाड़ निकला होने के कारण ये क्षीणकाय, लंबे, काले, नङ्गधड़ङ्ग पर्वत मानो जीवन-शून्य नर-कंकाल जैसे ज्ञात होते हैं ! उन्हें देखते ही डर लगता है । पगडंडियों पर चलते समय ये पहाड़ राह के दोनों किनारे मानो 'एटेन्शन' की हालत में खड़े सन्तरियों की भाँति पहरा देते हुए-से दिखाई देते हैं । इनकी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नुकीली चोटियाँ राक्षसों के दाँत की तरह विकराल रूप धारण किए मानो अजनबियों को काट खाने के लिए तैयार खड़ी दिखाई देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो अपनी लम्बी निद्रा से ये किसी भी क्षण उठ खड़े हो सकते हैं और चुटकी बजाते ही बहुत दूर तक सत्यानाश फैला सकते हैं! इन पर्वतों को पार करते समय मालूम पड़ता है, मानो पाँवों के नीचे की धरती काँप रही हो! रात के अँधेरे की तो बात ही दूर रही--दिन-दोपहर को ही इस प्रदेश में भय लगता है!

यहाँ पर जहाँ तक दृष्टि जाती है चारों ओर हरियाली का कहीं भी नामोनिशान नहीं मिलता। किसी जीव-जन्तु का भी यहाँ पता नहीं मिलने का! आकाश में चिड़ियाँ तक नहीं दिखाई देतीं। यदि वे कभी भूलते-भटकते इधर उड़कर शायद आ भी जाती होंगी, तो उन नुकीले पत्थरों पर से अपने पैर फिसल जाने के भय से यहाँ कदापि विश्राम न लेती होंगी और लगातार आगे ही उड़ती चली जाती होंगी!

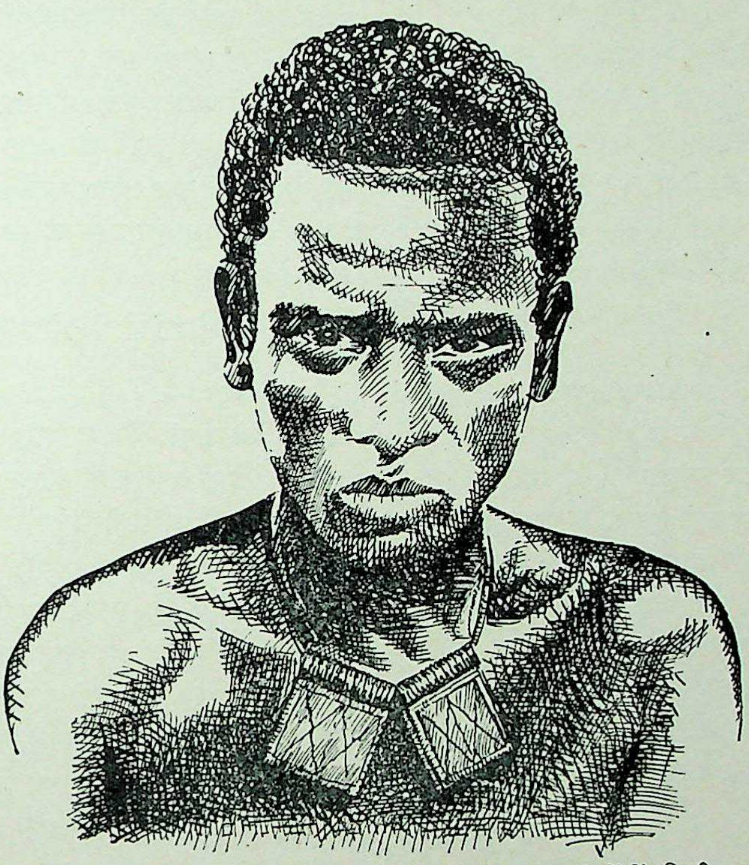

दानाकिल जाति का एक पुरुष :: इसके गले में बँधे हुए तावीजों में किसी अजनबी को मारकर उसकी निशानी सुरक्षित रक्खी गई है!

थोड़ा आगे बढ़ने पर दृश्य और भी भयानक बन जाता है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक राख के रंग की भूमि--कहीं घुटने तक, कहीं कमर तक, कहीं मनुष्य के कद की गहराई तक और कहीं-कहीं हाथियों के भी पुरसा भर कुरेदी हुई मिलती है। आदमियों में वैसी ताकत नहीं कि वे ज्वालामुखी के पत्थरों को इस तरह कुरेदकर उन्हें यह रूप दे सकें। निश्चय ही स्वयं प्रकृति की रचनात्मक और विध्वंसक शक्तियों के बीच कभी कुश्ती हुई होगी और उसी के चिह्नस्वरूप यह प्रलयंकर अखाड़ा यहाँ बन गया है। उस द्वंद्व में विजय ध्वंसशक्ति की ही हुई होगी।

यहाँ की भूमि पर चलते समय पाँवों तले स्लेट जैसे जो परतीले पत्थर मिलते हैं, उन पर पाँव रखते ही 'खन…खन……' की आवाज होती है। इन पर चलते समय टट्टू और ऊँट तक तिलमिलाने लगते हैं! कितनों की तो इस रास्ते के पार करने ही में मृत्यु हो जाती है!

इस प्रदेश में ज्यों-ज्यों हम उत्तर की ओर अधिकाधिक बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों रास्ता और भी अधिक भयंकर होता जाता है। सब से बड़ी मुसीबत तो यह है कि इस वीरान रेगिस्तानी इलाके में पानी का मुश्किल से कहीं दर्शन मिलता है! कई स्थान तो ऐसे हैं, जहाँ ऊँट पर सात-सात दिन का रास्ता पार करने पर ही कुछ पानी मिलता है। इस पर यहाँ की धूप और गरमी का तो कहना ही क्या है! उसकी तुलना में जेठ-बैसाख में लखनऊ की लू के दिन भी मानो सरदी की मौसम में गिने जायँगे! यहाँ तापमापक का पारा दिन के साए में नापने पर भी १३० और १६० डिग्री फा० के बीच ही निकलता है! इस भीषण गरमी के कारण यहाँ कुछ उपजता भी नहीं। इसी से एक भी हरे पत्ते का कहीं नामोनिशान यहाँ नहीं मिलता। पौधों की शक्ल के बबूल-जैसे काँटेवाले कुछ सूखे ठूँठ दरख्त यदि कहीं-कहीं मिलते भी हैं, तो उन्हें काटने पर उनके मर्मस्थल तक सूखा काठ ही मिलता है। शायद गुस्से में आकर ही प्रकृति ने इस प्रदेश की सृष्टि की थी!

भला, ऐसे देश में खेती का क्या काम? अतः यहाँ के लोग कृषिकार्य से बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। इस जगह आकर

जो सब से पहली बात मन में आती है, वह यही होती है कि यहाँ तो भूत भी शायद भूखा-प्यासा मर जायगा !

जीवित प्रेत

फिर भी यहाँ पर कुछ लोग रहते हैं ! इस प्रदेश के खाके को देखकर जरा अनुमान लगाइए कि जो लोग प्राकृतिक ध्वंसशक्ति के ऐसे कोप का सामना करते हुए यहाँ टिकने की हिम्मत करते हैं, वे कितने भयावने लोग होंगे ! ऐसे लोग सिवा उन दानाकिलों के दूसरे कोई हो भी नहीं सकते ।

ये दानाकिल भी विचित्र जीव होते हैं ! पहली बार उन पर निगाह पड़ने पर तुरंत ही उन्हें आदमी की गिनती में सम्मिलित कर लेना कठिन होता है ! इनके अंग सूखकर काँटे बने रहते हैं । बिना किसी प्रकार की भूल की आशंका किए इनकी देह की प्रत्येक ढंग की हड्डियाँ गिन ली जा सकती हैं । कम उम्र में ही इनमें चमड़ी में सिकुड़न आ जाती है और किसी-किसी के बदन में तो वह झूलने-लटकने तक लग जाती है !

इनके अंग पर प्रायः वस्त्र का एक चिथड़ा भी नहीं रहता ! केवल हड्डी, दाँत, सितुहे और कौड़ियों को छेदकर एवं सूखी लताओं से उन्हें गूँथकर उन्हीं भौंडी मालाओं को ये अपने कमर में पहने रहते हैं । इसी से जितनी दूर तक उनकी लज्जा के निवारण का अनुमान किया जा सकता है, कर लीजिए । इसी प्रकार की मालाएँ प्रायः उनके गले में भी झूला करती हैं । इनकी तुलना साक्षात् प्रेतों ही से की जा सकती है ।

प्रकृति के कठोरतम आघात सहते-सहते इनके चेहरे अत्यंत निष्ठुर बन गए हैं । तो फिर 'दया' अथवा 'कोमलता' नाम की किसी चीज का इनके भीतर न पाया जाना कौन आश्चर्य की बात होगी !

घर-बार और सम्पत्ति

दानाकिलों के स्थायी घर-द्वार कहीं भी नहीं होते । अस्थायी तरीके से टिकने के लिए ये कहीं-कहीं पत्थर-मिट्टी को जोड़कर कभी-कभी कमर भर ऊँची दीवारें भर उठा लेते हैं, अन्यथा साधारणतया ये हमेशा उस रेगिस्तानी इलाके में ही इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहते हैं । ये अपना निर्वाह आसपास के इलाकों में लूटमार मचाकर या अपने प्रदेश से गुजरनेवाले लोगों को लूटकर चलाया करते हैं । इनमें जो लोग धनी होते हैं, उनके पास किसी कारवान या 'गाला' (अबीसीनिया की एक और जाति) से लूटकर लाया गया कोई एक ऊँट या टट्टू भी रहता है ! पर ये जानवर भी देखने में अपने मालिकों की ही तरह के होते हैं और उनकी ही हालत में रहते हैं । प्रायः इन पशुओं की जीवन की मियाद लम्बी नहीं हुआ करती ।

जो दाने सभ्य जगत् में जानवरों को दिये जाते हैं, वे भी यदि एक मुट्ठी भर किसी दानाकिल को रोजाना मिल जाएँ, तो वह अपने को बड़ा भाग्यशाली मानता है । पर उन दानों से रोटी पका लेने का ज्ञान इन्हें नहीं होता । ये अनाज को बायें हाथ में लेकर दायें हाथ से एक-एक दाना उठाकर पक्षियों की तरह चुगते हैं ! जो दाने हम अपने यहाँ मुर्गियों को देते हैं और जिन्हें यहाँ का कोई भी आदमी अपने खाने योग्य नहीं मानता, वे ही दाने दानाकिल प्रदेश के लिए सम्पत्ति हैं । इन्हीं दानों और जानवरों के लिए घास-पात की तलाश में ये बेचारे सदा घूमते रहते हैं और इन्हीं के लिए मौका मिलने पर उपजाऊ इलाकों पर धावा भी बोल दिया करते हैं ।

पानी के लिए संघर्ष

दानाकिल आपस में कई जातियों में बँटे रहते हैं । इन जातियों की आपस में एक-दूसरे से हमेशा लड़ाई चलती रहती है । इन्हीं लड़ाइयों में इनकी सारी शक्ति खर्च होती है और उसी के कारण ये कमजोर भी बने रहते हैं ।

जो इनके इलाके का न हो, ऐसे प्रत्येक आदमी को वे अपना शत्रु समझते हैं । बाहरी लोगों की तो बात ही दूर रही, वे आपस की भिन्न जातियों को भी अपने इलाके में नहीं घुसने देते । एक-एक जाति का दायरा साधारणतया ऐसे तीन-चार इलाकों के घेरे में रहता है, जहाँ पानी उपलब्ध हो । इनकी आपस की लड़ाइयाँ अकसर पानी मिलने के स्थानों पर कब्जा करने के लिए ही हुआ करती हैं । इन लड़ाइयों में एक बस्ती का दूसरी बस्ती के साथ, अथवा यदि पानी की और भी किल्लत हुई तो कई गाँवों का दूसरे गाँवों के गुट्ट के साथ, युद्ध हुआ करता है, जिसमें बहुतेरे आदमी मारे जाते हैं !

भूख और दरिद्रता से विवश होने के कारण जो कुछ भी इनकी आँखों के सामने आता है, उसे ये लूट लेने के लिए विवश होते हैं । जिन चीजों के लिए हमारे देश में कुत्ते भी नहीं झगड़ते, उनके लिए ही दानाकिलों के देश में आदमियों की जान चली जाती है ! उपभोग की सामान्य से भी सामान्य वस्तुओं के लिए ये लोग लालायित रहते हैं । कितनी बार तो ये किसी अजनबी से बिना चीनी की उसकी काफी का एक प्याला छीन लेने के लिए ही उसकी जान ले लेते हैं ! ज्यादातर ये पानी, अनाज और घास की

ही फिराक में रहते हैं। इन्हीं पर और इन्हीं के लिये ये जीते हैं, इसीलिए इनकी अधिकतर लड़ाइयाँ इन चीजों के लिए ही होती हैं।

आदमी को नुकीले पत्थर या बर्छे से मार डालना इस प्रदेश में कोई अपराध नहीं। उल्टे दानाकिल लोगों में यह बहुत बड़ी इज्जत की बात समझी जाती है! ये गले में जो तावीज पहनते हैं, उसमें अक्सर उनके द्वारा मारे गए आदमियों के अंग से काट ली गई कोई निशानी ही होती है। प्रत्येक हत्या की एक-एक निशानी रहती है। दानाकिलों के लिए यह निशानी 'सम्माननीय पदक' सी होती है।

युवा दानाकिल हमेशा इस प्रकार के तमगों की फिराक में रहते है। यदि उन्हें कोई अजनबी भटकता हुआ मिल जाता है, तो वे उसे पानी का स्थान दिखाने के बहाने भटका देते हैं। वे उसे रेगिस्तान में हैरान करते हैं और पानी के स्थान से निरन्तर दूर लिवाते चले जाते हैं। जब अजनबी थककर बेहोश होने लगता है, तब वे उसे मार डालते हैं और उसके अंग का एक विशेष हिस्सा काटकर उसका तावीज बनाकर पहन लेते हैं!

धूर्तता और कपट में ये किसी से कम नहीं हैं

बहुत-से लोगों की यह धारणा रहती है कि जो समाज जितना अधिक 'सभ्य' होने का दावा रखता है, उसमें चालाकी और धूर्तता की मात्रा भी उतनी ही अधिक रहती है। इसी विचार के आधार पर इस धारणा के पोषक यह भी अंदाज लगाते हैं कि जो समाज 'सभ्यता' से जितनी ही दूर रहेगा उसमें धूर्तता और चालाकी की मात्रा उतनी ही कम होगी। आइए, इस कसौटी पर दानाकिल लोगों को कसकर देखें!

इनका समय सब से अधिक लड़ाई में ही खर्च होता है। यही इनके जीवन की मुख्य समस्या रहती है। इसलिए इनके मानसिक क्षेत्र की हलचल की हम इसी क्षेत्र में जाँच करें, तो इस संबंध में सही नतीजे पर पहुँचने की अधिक संभावना रहेगी।

अपने शत्रुओं से लड़ते समय लड़ाई में दानाकिल की यह नीति रहती है कि जिस समय शत्रु बीच रेगिस्तान में पानी के स्थान से अधिक दूर रहता है, यदि उसी समय वे उस पर हमला करें तो ठीक होगा। इसी में इन्हें सहूलियत रहती है। यदि और कुछ नहीं, तो उस समय उक्त शत्रु का पानी से भरा हुआ मशक ही इन्होंने छीन लिया या नष्ट कर दिया। उस दशा में उसके लिए पानी के बिना छटपटाकर मर जाने के सिवा दूसरा चारा नहीं रह जाता। इसी विचार से दानाकिल कल, बल, छल तीनों ही प्रकार से अपने शत्रु को बीच रेगिस्तान में खींच ले जाने की कोशिश करते हैं। दिन में ये आक्रमण करने के बजाय पीछे हटते जाते हैं और रात होने पर ही छिपकर हमला करते हैं।

यदि इनके प्रतिद्वंद्वी भी दानाकिल ही हुए, तो वे एक खास तरह की चालाकी से काम लेते हैं। इनके लिए सब से जरूरी काम रहता है अपने शत्रुओं का पता लगाते हुए आगे बढ़ना, जिसमें अनजान में घेर लिए जाने के खतरे से ये बचे रहें। ऐसे मौकों पर ये नकल करते हुए जोर-जोर से चिल्लाकर कहते हैं:—

'हम बड़े ही बेवकूफ हैं कि इतनी दूर बढ़ते चले आए! अब हमारे पास एक बूँद भी पानी नहीं बचा! हमारे ऊँट मर गए! हम अब एक कदम भी नहीं चल सकते। अब तो मौत ही सामने है! हाय मौत!'

ये रोने का बहाना करते हैं, जिसमें इनकी इस मजबूती की हालत में ही इन्हें कमजोर समझकर छिपे हुए शत्रु शीघ्र इन पर हमला कर दें और उनके आक्रमण का ये आसानी से जवाब दे सकें! कभी-कभी जिस इलाके में ये होते हैं, उसकी मित्र जाति के होने का बहाना करते हैं, जिसमें छिपे हुए शत्रु उन्हें मारने पर उतारू न हों।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे साबित होता है कि हम जिसे साधारणतया 'सभ्यता' कहते हैं, उससे दूर रहते हुए भी ये लोग धूर्तता और चालाकी में किसी से कम नहीं हैं। चालाकी से किसी को रेगिस्तान में बहकाकर ले जाने और वहाँ पर उसका सामान लूट लेने तथा अँधेरे में उसकी जान ले लेने की कला में ये भली-भाँति पटु हैं।

इन लोगों का उदाहरण देखते हुए हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि सभ्यता से दूर रहने का मतलब धूर्तता या चालाकी से दूर रहना नहीं हुआ करता। इन विशेषताओं का खास कारण वस्तुतः रोटी का सवाल ही जान पड़ता है। यह सवाल हल करना जिस समाज के लिए जितना ही कठिन होता है, वह उतनी ही दूर तक अपनी परिस्थिति विशेष के हिसाब से मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का उपयोग करता है।

मानसिक क्षेत्र में दानाकिल प्रदेश के लोग अधिक विकसित नहीं हैं, इसीलिए भोजन की समस्या हल करते समय वे ठीक पशुओं के समान खूँख्वार बन जाते हैं। इसी आधार पर हम इनकी गिनती सभ्य संसार से सब से अधिक दूर रहनेवालों में करने का साहस करते हैं।

अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियाँ—(३)

दक्षिणी अफ्रीका के जूलू

अफ्रीका महाद्वीप में बसनेवाली कृष्णकाय जातियों में सभ्यता के पैमाने के अनुसार सब से निचले स्तर पर स्थित अबीसीनिया के दानाकिल लोगों का परिचय पिछले अध्याय में आप पा चुके हैं । आइए, अब प्रस्तुत लेख में इसी महाद्वीप के कृष्णवर्णीय लोगों के एक और मानव-समूह से परिचित कराने के लिए आपको अफ्रीका के सुदूर दक्षिणी प्रदेश में ले चलें ! इन लोगों को उस विशाल भूखण्ड के आदिम निवासियों में हम औरों से कहीं अधिक उन्नत स्तर पर अवस्थित देखते हैं, यद्यपि आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से वे अपने आपको अभी बहुत कुछ मुक्त बनाए हुए हैं । ये लोग 'जूलू' नाम से प्रसिद्ध हैं और अपने वीरोचित कार्यों की बदौलत अफ्रीकी जातियों के इतिहास में इनका विशिष्ट स्थान माना जाता है ।

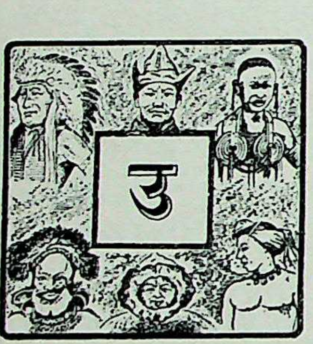

उषःकालीन सूर्य की प्रथम किरणों के साथ ही उनके एक गाँव में हम प्रवेश करते हैं । चारों ओर ढालू छप्परोंवाले फूस के झोंपड़े दिखाई दे रहे हैं, जिनके प्रवेश-द्वार अभी खुले नहीं हैं । भीतर चटाइयों पर परिवार के सभी प्राणी निद्रादेवी की गोद में अभी विश्राम कर रहे होंगे । छप्पर के बाँसों और लट्ठों पर पालतू मुर्गे और मुर्गियाँ भी अभी आराम से ऊँघ रही होंगी । वे भी परिवार के उपयोगी जीव हैं, इसीलिए उनको भी घर में ही रहने को स्थान दिया जाता है । चारों ओर छोटे-छोटे बगीचों में केले के ऊँचे वृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी बाहें फैलाए मौन खड़े हैं । वायु भी इस समय शान्त है । सारे गाँव में जागने के चिह्न-स्वरूप केवल दो-चार कुत्ते इधर-उधर दबे पाँव फिरते हुए और कूड़े-कचरे के ढेरों को सूँघते हुए दिखाई देते हैं ।

दिनचर्य्या का आरम्भ

तब आकाश की लालिमा धीरे-धीरे स्वर्णिम प्रकाश में बदलने लगती है और गाँव में एक चहलपहल-सी मालूम देने लगती है । एक मुर्गा अपने स्थान से उड़कर नीचे आता है और धीरे से पंख फड़ाफड़ाकर वह अपनी सुबह की बाँग देता है । उसकी बोली तत्काल ही दूसरे बाँग देनेवाले मुर्गे-मुर्गियों की बोली में मिल जाती है । तब घोंसलों में के कुछ पक्षी भी निकलकर उड़ते हुए चारे की खोज में चल पड़ते हैं और उनके कलरव से सोनेवालों में जागृति का संचार हो जाता है । कुछ ही क्षणों में सभी झोपड़ों के द्वार एक-एक करके खुल जाते हैं और गाँव की सयानी लड़कियाँ एवं बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ बाहर निकलने लगती हैं । उनकी दिनचर्य्या का प्रारम्भिक कार्य है आग जलाकर उस पर मिट्टी के बर्तनों में पानी गरम करने को रखना । इसके लिए ईंधन की व्यवस्था उसी समय की जाती है, क्योंकि इन लोगों में पहले से ईंधन इकट्ठा करके रखने का नियम नहीं है । पानी भी उसी समय लाना पड़ता है, जिसका एकमात्र साधन गाँव का सोता या पोखर है । इतनी देर में छोटे लड़के-लड़कियाँ भी जग पड़ते हैं । वे बच्चे सबेरे की शीतल वायु में बाहर निकलकर जम्हाई लेते, अँगड़ाते और सर्दी से कुछ काँपते हुए से दिखाई देते हैं । अन्य देशों की भाँति अफ्रीका के इस प्रदेश में भी माताएँ इस समय अपने काहिल बच्चों को डाँटती-फटकारती दिखाई देती हैं ।

इसके बाद कपड़े पहनने की बारी आती है । अफ्रीका में अनेक जातियों के लोग एक ही पोशाक दिन-रात पहने रहते

हैं—छोटे लड़के और लड़कियाँ तो थोड़ी-सी पोत की मालाएँ और कपड़े का एक टुकड़ा मात्र बदन में लपेटे फिरा करते हैं। उनके कृष्णवर्ण शरीर खजूर का तेल मलने के कारण चमकने लगते हैं । उन बच्चों की माताओं और उनकी सयानी बहनों को देखिए—वे एक प्रकार के ऐसे वस्त्र धारण किए हुए हैं, जिन पर बेल-बूटे और रंगीन आकृतियाँ बनी हुई हैं । ये उपवस्त्र भुजाओं के नीचे से खींचकर बाँधे जाते हैं, ताकि घरेलू काम-धन्धा करते समय अड़चन न पड़े । पुरुष प्रायः तहमत या लुँगी बाँधे फिरा करते हैं । उनके एक कंधे पर बकरी, हिरन या तेंदुए की खाल, जनेऊ की भाँति, पड़ी दिखाई देती है। वस्त्र धारण करने में तो इन लोगों को देर नहीं लगती, किन्तु केश सँवारने का कार्य इनके लिए बड़ी मेहनत का काम होता है ।

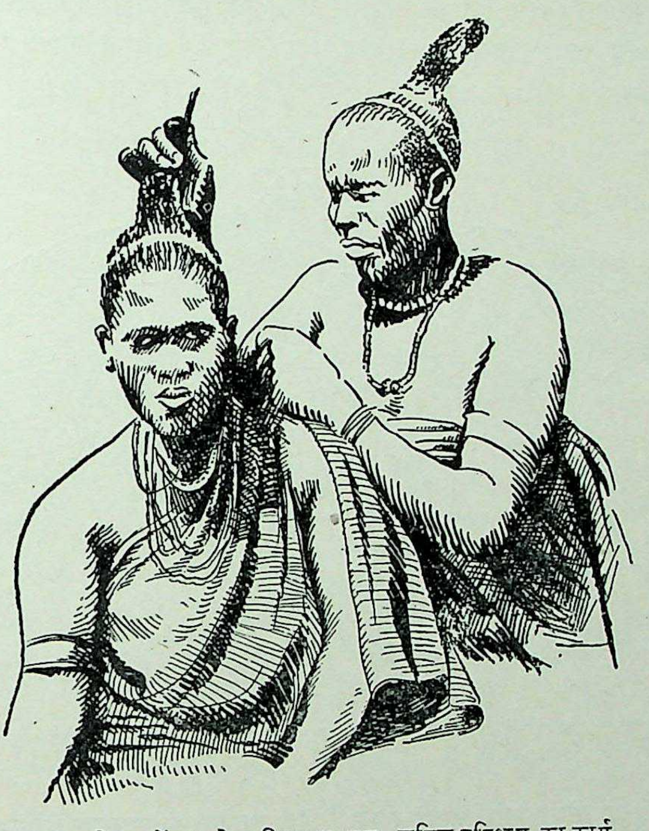

जूलू महिलाओं का केश-विन्यास एक जटिल परिश्रम का कार्य होता है । इसमें स्त्रियाँ एक-दूसरे की सहायता करती हैं ।

दिन के कार्यक्रम की योजना

पुरुष प्रायः सभी देर में उठने के आदी होते है । पर अब तो काफी दिन चढ़ आया है, इसलिए वे भी झोपड़ों से बाहर निकलकर धूप ले रहे हैं और दिन भर के काम की योजना बना रहे हैं । सम्भव है कि किसी पड़ोसी का घर गिर पड़ा हो, जैसा कि हल्के बने हुए झोपड़ों का प्रायः हाल हुआ करता है, अतएव नया झोपड़ा तैयार करना होगा । अथवा गाँव में सूचना मिली हो कि घास के हरे-भरे मैदानों में हिरनों का कोई झुंड चरता दिखाई पड़ा है, उनका शिकार भला कैसे छोड़ा जाय ? अथवा अनाज बोने के लिए नई भूमि साफ करके जोतनी हो, क्योंकि पड़ती जमीन अकसर कीड़े-मकोड़ों और जहरीले पौधों की अधिकता के कारण प्राकृतिक पैदावार के लायक नहीं रहती । यदि घर बनाने, शिकार करने, या खेत जोतने-बोने का कार्य न हुआ, तो चटाइयाँ बुनने और भेड़-बकरियों या गाय-बैलों की देखभाल करने का काम तो है । इन कामों के अतिरिक्त पेड़ों को काटकर उनसे तख्ते छाँटने का काम भी तो है, जिनसे तिपइताँ, मोढ़े, तकिए, चौकियाँ, घर की दैनिक व्यवहार की चीजें या बगीचे में काम करने के औजार बनाए जा सकते हैं ।

प्रातःकालीन भोजन

लीजिए, प्रातःकाल का भोजन तैयार हो गया ! सब से पहले परिवार के मर्द खाना खाने बैठ गए । यही यहाँ का नियम है । बाद में औरों की बारी आएगी । सयाने लड़के और युवक सब से पृथक् अपना एक अलग झोपड़ा बनाकर रहते हैं । वहीं वे खाना पकाना और गृहस्थी का अपना कार्य करना सीखते हैं । प्रायः उनकी माताएँ कोई खास सुस्वादु पदार्थ पकाकर, जो उनको प्रिय होता है, वहाँ दे आती हैं । उसे वे सब मिलकर थोड़ा-थोड़ा खाते हैं ।

प्रातःकाल का नाश्ता, जिसे माताएँ और पत्नियाँ पकाती हैं, साधारणतया आटे का एक प्रकार का हलुआ होता है, जो बहुत कड़ा होता है और प्रायः गरम राख में भुने हुए केलों के साथ खाया जाता है । उसे खाने में चम्मच या अन्य किसी साधन की अपेक्षा हाथों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है । परिवार के अल्पवयस्क सदस्य बारी-बारी से उस हलुए के बर्तन की खुर्चन पाते हैं, जो पेंदे में चिपटी रह जाती है और स्वादिष्ट होने के कारण जिसे बच्चे बड़े चाव से खाते हैं ।

काम-धंधे का आरम्भ

इसके बाद विधिवत् दिन का काम-धंधा प्रारम्भ होता है । परिवार के बड़े और सयाने व्यक्ति कुल्हाड़ियाँ, भाले, बर्छे या धनुष-बाण लेकर बाहर इकट्ठा होते हैं । कोई-कोई

कुदाल या फावड़ा भी लिए रहते हैं। उनके ये औज़ार भद्दे ढंग के बने होते हैं, परन्तु उनसे वे बख़ूबी काम लेना जानते हैं। अपने दैनिक कार्य के अनुसार ही प्रत्येक पुरुष औज़ार साथ ले लेता है।

उधर माताएँ अपने शिशुओं को, जो स्वयं पैरों चलने योग्य नहीं होते, कम्बल या चादर से पीठ पर बाँध लेती हैं और तब वे गाँव के बगीचों और खेतों में काम करने निकल जाती हैं, क्योंकि अफ्रीका में खेती करना स्त्रियों का ही काम समझा जाता है। यदि खेत उनके घरों के निकट होते हैं, तब तो काम करना कठिन नहीं होता। परंतु प्रायः खेतों के उपयुक्त भूमि पास-पड़ोस में नहीं मिलती। अतः चार-पाँच मील रोज आना-जाना उनके दैनिक श्रम को और भी बढ़ा देता है।

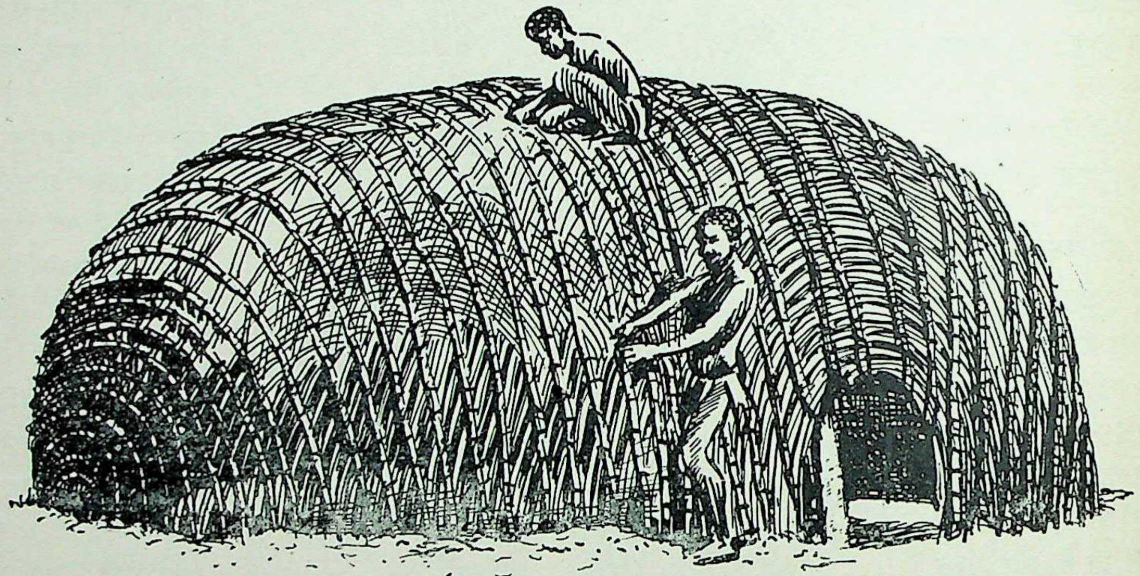

आदिम जातियों के गृह-निर्माण की किसी भी नुमाइश में ज़ूलू लोगों के झोपड़े निश्चय ही स्वर्णपदक प्राप्त कर सकते हैं! वे स्तूपाकार होते हैं और टोकरियों की तरह बुने जाते हैं! उनमें भीतर बल्लियाँ और खंभे भी रहते हैं।

अफ्रीका के इन निवासियों का जीवन कर्मशीलता का एक अनुपम उदाहरण है। इनके लड़के-लड़की भी कार्य में सदैव व्यस्त रहते हैं। मवेशियों को चराना और उनकी देखभाल रखना; खेतों की पकी फसलों को पक्षियों से बचाना; चूहों, चिड़ियों तथा अन्य छोटे-छोटे जानवरों को—जो खेतों को हानि पहुँचाया करते हैं—जाल में पकड़ना और उनके शिकार के लिए तीर बनाना, यह सब लड़कों का काम होता है। खाने के विषय में केवल अपने ही भोजन का ध्यान न रखना और पेटू न बनना उनको प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है। शिकार करके जो चिड़ियाँ आदि वे मार लाते हैं, उनको घर की हँड़िया में साथ ही पका लेते हैं, जिसमें परिवार के सभी व्यक्ति उनका स्वाद ले सकें।

मर्द लोग जब खेतों को साफ करके ठीक तरह से खोद देते हैं, तब औरतें उनमें ज्वार, मक्का, आदि अनाज तथा साग-सब्जी, मीठे आलू, भाँति-भाँति की फलियाँ आदि बो देती हैं। मूँगफली, केला, ईख, रेंडी, आदि के पौधे भी वे ही लगाती हैं।

दिन भर के श्रम के बाद वापस घर की ओर

साधारणतया स्त्रियाँ दिन में तीसरे पहर तक काम करती हैं। तदनंतर वे साँझ के भोजन के लिए मौसमी साग-सब्जी और फल आदि तोड़कर वापस घर लौटती हैं। झाड़ियों और घने जंगलों के बीच से निकली हुई टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी की राह पर वे धीरे-धीरे पाँव उठाती हुई बस्ती की ओर चली आ रही हैं। चलते समय उनका शरीर बिलकुल सीधा रहता है, क्योंकि बोझ लादकर चलने का वैसा अभ्यास उनको प्रारम्भ ही से हो जाता है। बोझ का भार चाहे जितना हो, और सारे दिन धूप में झुके-झुके खेतों में काम करते रहने से वे चाहे जितनी थक चुकी हों, किन्तु उनकी चाल में कोई अन्तर नहीं आता। उनकी अनुपस्थिति में गाँव की देखभाल का उत्तरदायित्व उनकी सयानी लड़कियों और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों एवं मर्दों पर रहता है। लो, ज़ितनी देर तक छोटे लड़के-लड़की बाहर रहे, उतनी देर में घर की सयानी लड़कियों ने आँगन बुहार डाला, और चारपाइयाँ झाड़-पोंछ डालीं। साथ ही वे ईंधन और पानी भी ले आईं और लकड़ी की ओखली में मूसल से हलुए के लिए अनाज भी कूट-पीसकर तैयार कर लिया। तब वे सब

मिलकर नदी पर पानी लेने गईं। जब तक वे अनाज कूटती-पीसती रहीं, उस समय आपस में खूब हँसी-दिल्लगी और चुहल भी चलती रही।

रात्रि का भोजन और खेल-कूद एवं नृत्य

तब आया रात के भोजन का समय। माँ-बाप, घर के सयाने व्यक्ति और बच्चे सब कोई इकट्ठा हो गए। ऊपर तक भरा हुआ हलुए का मिट्टी का पात्र उनके आगे रख दिया गया। साथ ही अन्य जो भी भोजन-सामग्री उस दिन रसोई में तैयार हुई, वह भी लाई गई--उबली हुई साग-सब्जी, शोरवेदार तरकारियाँ, पत्तों में लपेटकर भाप में पकाई गई और भुनी हुई मछलियाँ अथवा मांस --सभी कुछ सामने रखा गया। जब सब लोग भोजन कर चुके और बची-खुची जूठन मुर्गे - मुर्गियों तथा पालतू कुत्तों के आगे फेंक दी गई, तब बच्चों के खेल-कूद की वारी आई। लड़के-लड़की "मुर्गी और जंगली बिल्ली", एक प्रकार की "मेढक-दौड़", गेंद और ताली बजाने का खेल, आँखमिचौनी आदि क्रीड़ाएँ करने लगे और परिवार के सयाने व्यक्तियों ने मिल-जुलकर नाचना प्रारम्भ किया। जब बादल नहीं रहते और चाँदनी फैली रहती है, तब ये लोग बड़ी देर तक नाचा करते हैं, यहाँ तक कि नाचते-नाचते बिल्कुल थककर गिर पड़ते हैं। जब तक सब कोई खेल-कूद और नाच से बिल्कुल श्रमित नहीं हो जाते, तब तक बच्चों और सयानों में से कोई भी बिछौने पर नहीं लेटता। अन्त में अधिक रात बीत जाने पर गाँव के झोपड़ों के द्वार धीरे-धीरे एक-एक करके बंद होने लगते हैं और लोग शेष रात के लिए निद्रादेवी की गोद में विश्राम लेने लगते हैं। इस प्रकार उनका एक दिन पूरा होता है।

जूलू लड़के मचान पर चढ़कर खेत की रखवाली कर रहे हैं।

जूलू-प्रदेश

जिस प्रदेश के लोगों की झाँकी इस विवरण में हमने आपको दिखलाई है, उसे अफ्रीका महाद्वीप के मानचित्र में पहचानने का प्रयत्न कीजिए। अफ्रीका का दक्षिणी - पूर्वी भाग तथा टोंगालैंड और नैटाल प्रान्त के बीच में बसा हुआ यह भूभाग "जूलूलैंड" या जूलू जाति की निवास-भूमि कहा जाता है। छोटी - बड़ी अनेक पहाड़ियों तथा निचले पठारों से आवेष्टित यह विस्तृत प्रदेश समुद्र-तट तक फैला हुआ है। यहाँ के समुद्री किनारों पर प्रायः ऊँची-ऊँची रेतीली पहाड़ियाँ और घनी सुविस्तृत झाड़ियाँ दिखाई देती हैं, जिनके बीच का मार्ग अत्यन्त दुर्गम और भयावह प्रतीत होता है। प्रायः पाँच सौ फीट की ऊँचाई तक सघन तमावृत वनों के अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रदेश में जलाशयों की कमी नहीं पाई जाती, कारण अनेकों छोटी-बड़ी नदियाँ शाखाओं और उपशाखाओं का विस्तार करती तथा

भीषण वेग से प्रवाहित होती हुई तट-प्रदेश को पार करके समुद्र से जा मिली हैं।

जूलू जाति का आदि इतिहास

जूलू लोगों के आदि इतिहास के विषय में केवल इतना ही पता चलता है कि उनकी उत्पत्ति अफ्रीका की "काफिर" नामक आदिम जाति की एक शाखा से हुई है। प्रारंभ में अबागुनी नाम की एक छोटी-सी जाति थी, जो पास-पड़ोस की अन्य जातियों से लड़ती-भिड़ती, विजय प्राप्त करती और विजितों को अपने में सम्मिलित करती हुई अपना प्रभुत्व बढ़ाती गई। अंत में उसका आधिपत्य दक्षिण-पूर्वीय अफ्रीका के समुद्री भाग से, जो पहले "स्वाजी" जाति के लोगों के अधिकार में था, डेलागोआ की खाड़ी और आधुनिक ब्रिटिश काफ्रेरिआ में "पोण्डो" जाति की आवासभूमि तक स्थापित हो गया। विजय प्राप्त करने के बाद अबागुनी जातिवालों ने अपना प्राचीन नाम, जिससे उनके पड़ोसी आज तक उन्हें सम्बोधित करते हैं, परित्याग करके "जूलू" नाम धारण कर लिया, जिसका अर्थ उनकी भाषा में स्वर्ग होता है। अपने प्रारम्भिक राजाओं में जूलू लोगों को केवल उमालन्देल, उम्धलाना, जूलू, उन्तोम्बेला, उको सिंकुलू (महाराजा) अथवा माम्बा (सर्पराज), उमागेबा, उपुंगा, उफैना और सेंजागाकोने के नाम स्मरण हैं, जो एक के पश्चात् एक गद्दी पर बैठे तथा पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि के क्रम से शासन करते रहे। उनमें से अधिकांश लड़ाकू स्वभाव के नहीं थे और शान्ति से मवेशियों का व्यापार करते हुए "एमाइलाबातिनी" नामक प्रदेश पर राज्य करते थे।

सेंजागाकोने का पुत्र चाका, जो जूलू जाति का एक असाधारण शासक था, जूलू-साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है। अपनी जाति का संगठन करके, उसे एकता के सूत्र में बाँधकर, उसने प्रत्येक जूलू को युद्धप्रिय और रण-कौशल में पटु बना दिया। साम्राज्य-विस्तार की भावना से प्रेरित होकर चाका ने जूलू लोगों में वीरता का मंत्र फूँक दिया और उनको शक्ति का मार्ग दिखलाया। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही वर्षों में जूलू लोगों ने दूर-दूर के इलाकों तक छापा मारकर उनको रौंद डाला और

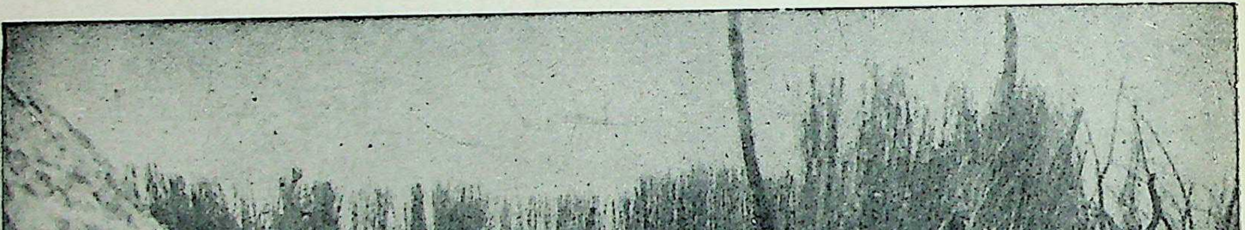

जूलू बस्ती या 'क्राल' में इसी प्रकार के अनेक झोपड़े और उनके बाड़े बने रहते हैं। चित्र में एक परिवार अपने बाड़े में बैठा दिखाई दे रहा है।

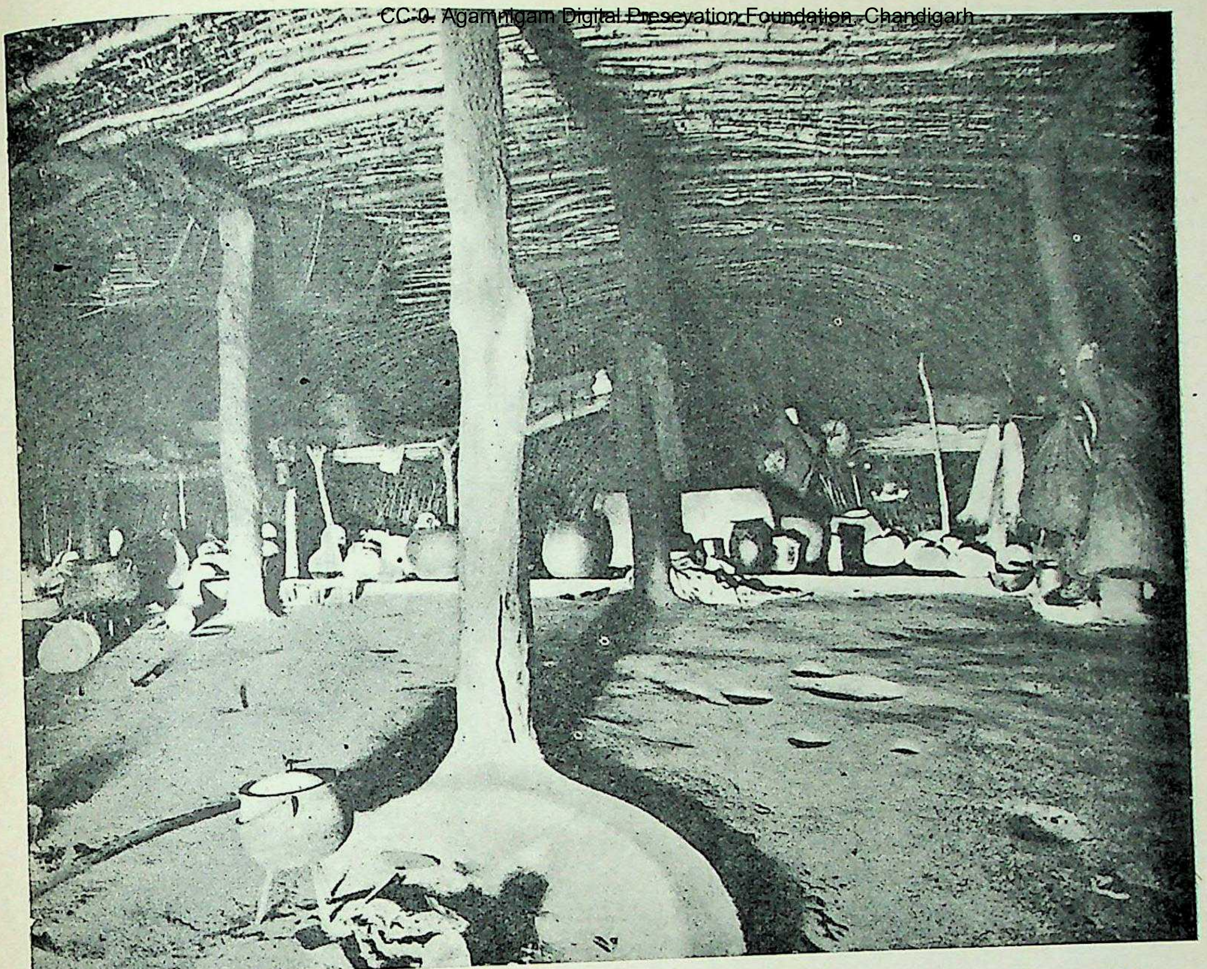

जूलू झोपड़े के भीतर का दृश्य आम तौर पर इसी प्रकार का होता है । इन लोगों के मिट्टी के बर्तन, वस्त्र, हथियार, औजार आदि झोपड़े में एक ओर व्यवस्थापूर्वक रक्खे रहते हैं । बीच की खाली फर्श लेटने के काम आती है ।

वहाँ अपनी विजय-पताका फहरा दी । चाका की शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि अफ्रीका के दक्षिणी प्रदेश में जूलू जाति का आतंक छा गया और वह अजेय हो उठी । फलतः अनेकों छोटी-बड़ी जातियों ने जूलू लोगों की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और अपने को उनमें सम्मिलित कर लिया। जो कोई भी उनसे लड़े और सामने आए, उनको सर्वनाश ही दिखाई दिया और अंत में विजेताओं की दासता अंगीकार करने को बाध्य होना पड़ा । परिणामतः एक दिन वह आया जब जूलू जाति अफ्रीका की सब से शक्तिशाली, दुर्द्धर्ष, अजेय और महान् सैनिक जाति मानी जाने लगी ।

पराक्रमी सूरमा

जिस प्रकार हमारे अपने देश के इतिहास में देश, जाति और धर्म पर प्राण न्योछावर करनेवाले राजपूतों की प्राचीन गौरव-गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई मिलती हैं, उसी भाँति दक्षिणी अफ्रीका के इतिहास के पृष्ठों पर वहाँ की इस महान् शक्तिशाली और पराक्रमी जूलू जाति के कार्य-कलाप और शौर्य की कहानी अंकित है । स्वजाति और स्वदेश के नाम पर मर मिटनेवाले प्राचीन जूलू सूरमाओं के नाम इतने अधिक हैं कि गिनाए नहीं जा सकते । सहस्रों की संख्या में अपने प्राणों की आहुतियाँ देकर उन्होंने विदेशियों के आक्रमणों से अपनी भूमि की कितनी ही बार रक्षा की। श्वेतांगों से युद्ध करने में इस जाति के मुट्ठी भर शूरवीरों ने जिस अदम्य साहस, जात्याभिमान और रणकुशलता का परिचय दिया था, उसका उदाहरण संसार के इतिहास में कठिनता से मिल सकता है । नए-नए ढंग के शस्त्रों से सुसज्जित गोरे योरपीयनों की विपुल सेनाएँ जूलू लोगों के बर्छों की मार के आगे त्राहि-त्राहि कर उठी थीं ! शत्रुओं

को भी मुक्त कण्ठ से जूलू जाति के असीम पराक्रम की सराहना करना पड़ी थी ।

कृष्णवर्ण अफ्रीकी जातियों में सब से सभ्य

यह मानी हुई बात है कि अफ्रीका की अन्य कृष्णवर्ण जातियों की अपेक्षा जूलू जाति कहीं अधिक सभ्य और ऊँची है । जूलू लोगों की आकृति साधारणतया सौम्य और उनके शरीर का वर्ण मटमैला होता है, जबकि अन्य नीग्री घोर काले होते हैं। उनके केश घुँघराले, कद लम्बा, शरीर का गठन आकर्षक और सुडौल होता है। ईमानदारी और अतिथि-सत्कार के लिए वे विख्यात हैं। उनकी प्रतिभा और बुद्धि तीव्र होती है। स्वभाव से ही वे प्रसन्नचित्त और मिलनसार होते हैं । व्यवहार और बोली में वे अन्य काफिर जातिवालों जैसे ही दिखाई देते हैं । जलू लोगों में प्रत्येक प्रसिद्ध व्यक्ति का एक वर्णनात्मक नाम होता है और उनकी भाषा में अलंकारों का बाहुल्य पाया जाता है । उनका कोई लिखित या मौखिक साहित्य नहीं है और न उनमें परंपरागत गाथाएँ ही पाई जाती हैं । केवल चाका के राज्यकाल से लेकर श्वेतांगों से संघर्ष तक का ही उनका इतिहास उपलब्ध है ।

जूलू स्त्रियाँ खेतों में दिन भर परिश्रम करने के बाद शाम को वापस घर लौट रही हैं । इनके हृष्ट-पुष्ट शरीर, सीधे खड़े रहने के ढंग और आत्म-विश्वास से भरी दृढ़तासूचक मुद्रा में हमें जूलू जाति के जीवट और नैसर्गिक तेज की झलक देखने को मिलती है ।

धार्मिक विश्वास और रस्में

जूलू लोगों के धार्मिक संस्कार अफ्रीका की अन्य जातियों के संस्कारों जैसे ही पाए जाते हैं। वे अपने परमशक्तिमान् देवता को "उमकुलुनकुलू" कहते हैं, जिसका अर्थ उनकी बोली में "बड़े से भी बड़ा" होता है। वे "ईतोंगो" नामक एक महान् सम्राट्, परम पिता, या मानव जाति के स्वामी की उपासना किया करते हैं, जो उनकी धारणा के अनुसार किसी काल में पृथ्वी पर निवास करता था और उसी को वे अपना जातीय पूर्वज मानते हैं। मृत राजाओं और योद्धाओं की आत्माएँ उनके यहाँ देव-रूप मानी जाती हैं तथा सिंह, हाथी आदि बलशाली पशुओं की भी पूजा होती है ।

जूलू लोगों के कोई देवालय या सार्वजनिक उपासनागृह नहीं होते । केवल वर्ष की कुछ ऋतुओं में उनके यहाँ धार्मिक उत्सव अवश्य मनाए जाते हैं, जिनमें राजा ही मुख्य पुरोहित का कार्य सम्पन्न करता है । 'मध्य-ग्रीष्मदिवस' पहली जनवरी को प्रति वर्ष पड़ा करता है और तभी वे अपना राष्ट्रीय त्योहार "यू-क्वेचवाना" अर्थात् "ज्वार की फसल के पकने पर ईश्वर को धन्यवाद" देने का उत्सव बड़े समारोह के

साथ मनाते हैं। उसी अवसर पर ज़ूलू राजा अपनी सेना का निरीक्षण करता और कुछ ख्याति-प्राप्त टोलियों के सैनिकों को विवाह करने की अनुमति देता है। इसके उपरान्त वह अपने स्वर्गीय पूर्वजों की आत्माओं को संतुष्ट करने के हेतु कुछ धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता है। उन आत्माओं का अस्तित्व सब कालों में सभी जगह अदृश्य रूप में अथवा सजीव सर्पों के रूप में माना जाता है। इसके बाद युवक लोग एक साँड का बलिदान देते हैं। बलि का साँड बिना किसी शस्त्र की सहायता के ही पकड़कर लाना युवकों के लिए अनिवार्य होता है और केवल शारीरिक बल से उसे परास्त करके गला घोंटकर मार डालने की क्रिया ही बलिदान का प्रमुख अंग मानी जाती है। इस समारोह का अन्त राजा द्वारा एक तूँबा या बड़ा कद्दू तोड़ने के पश्चात् समझा जाता है। इसके बाद ज़ूलू लोग पुराने वर्ष की समाप्ति और नव-वर्ष का आरंभ हुआ मानते हैं।

प्रत्येक त्योहार के अवसर पर सेनाओं की कवायद अवश्य होती है, जो ज़ूलू-राष्ट्र की सैनिक-शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए अनिवार्य समझी जाती है। राजा भिन्न-भिन्न सैनिक दलों का निरीक्षण करके उनके वीरोचित कार्यों की सराहना करता है। उसके आगे वे अपनी कसरतें तथा युद्ध-कौशल आदि का प्रदर्शन करते हैं। शिक्षा-दीक्षा और नियमित व्यायाम के साथ-साथ सैनिकों को व्यवस्थित रखने के लिए ज़ूलू लोग कोई उपाय बाकी नहीं रखते। उनके जातीय अस्त्र-शस्त्रों में भाला या बर्छा ही प्रमुख माना जाता है। प्रारम्भ में वह लम्बा होता था और शत्रु पर फेंककर मारने में काम आता था, किन्तु चाका के शासनकाल में वह छोटा बनने लगा, जिसे सैनिक लोग भोंकने या छेदने के काम में लाने लगे। १८७० ई० के पश्चात् तो इन्हें बंदूक आदि आग्नेय शस्त्र भी प्राप्त होने लगे और वे उनके व्यवहार में शीघ्र ही दक्ष हो गए। श्वेतांगों से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित

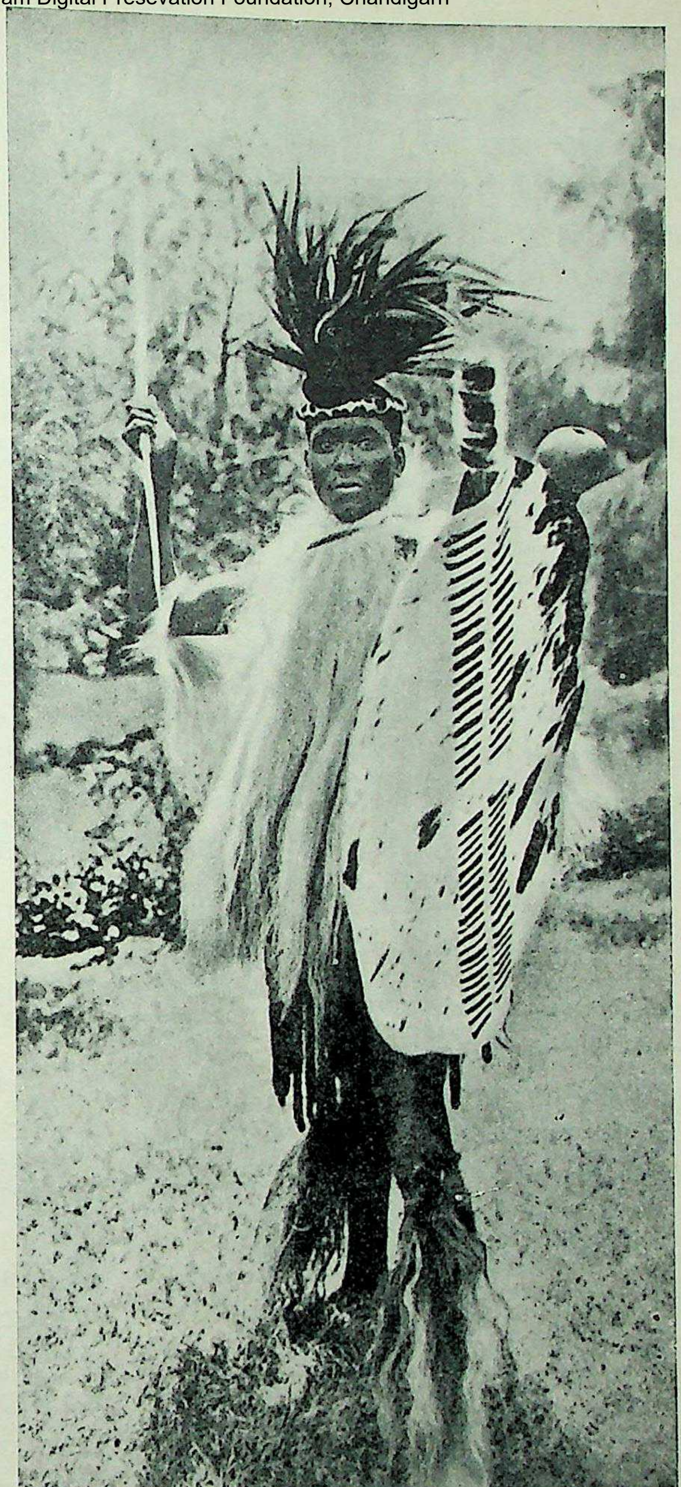

इस ज़ूलू ओझा की अद्भुत वेशभूषा पर ध्यान दीजिए! पुराने जमाने में इन धर्म-पुरोहितों ने लोगों पर बड़ा आतंक जमा रखा था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करने का उन्होंने समुचित रूप में यही लाभ उठाया। प्राचीन समय में बर्छों के अतिरिक्त आत्मरक्षा के लिए जूलू लोग खूब लम्बी-चौड़ी ढालों का भी व्यवहार करते थे, जिनकी आड़ में उनका समूचा शरीर छिप जाया करता था। ढालें साधारणतया बैलों की खाल को काठ के चौखटों पर मढ़कर बनाई जाती थीं और उनके बीच में शत्रु को देखने के प्रयोजन से दो छेद रखे जाते थे! ढालों पर अनेक रंगों से भाँति-भाँति की आकृतियाँ भी बनाई जाती थीं। आज भी वही हल्के बर्छे, जिन्हें 'असेगाई' कहा जाता है, और ढालें कहीं-कहीं वनवासी ज़ूलू धारण किए दिखाई देते हैं।

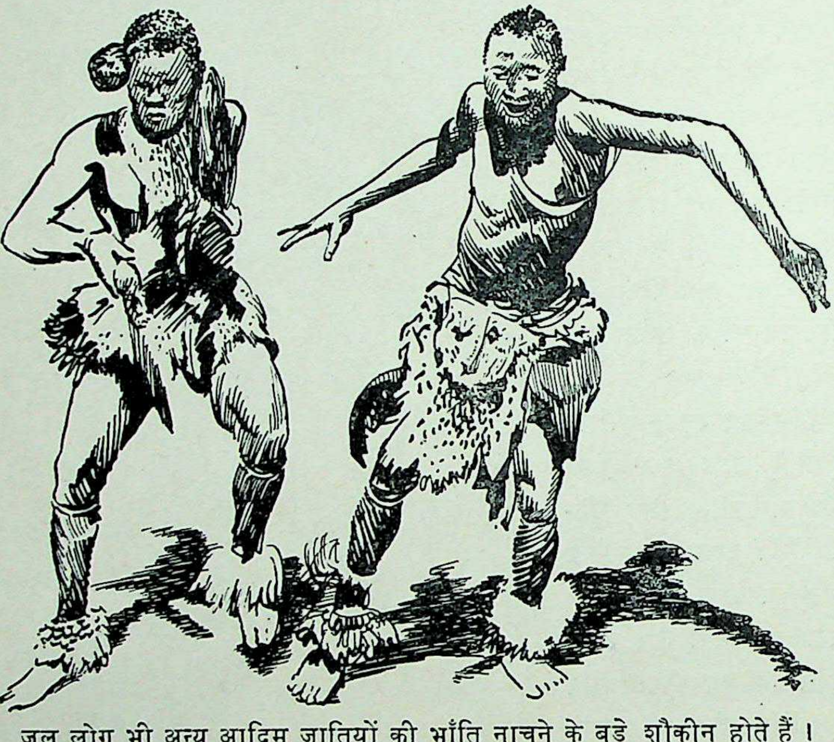

जूलू लोग भी अन्य आदिम जातियों की भाँति नाचने के बड़े शौकीन होते हैं। उत्सवों के अवसर पर इसी प्रकार के उनके विशेष नृत्य प्रदर्शित होते हैं।

जूलू बस्ती या 'क्राल'

जूलू लोगों की जनसंख्या साधारणतया कई बस्तियों में विभाजित रहती है, जिनको 'क्राल' कहा जाता है। प्रत्येक 'क्राल' में एक पूरा परिवार और उसके निकट सम्बन्धी लोग रहा करते हैं, जिनकी गणना एक ही वर्ग में होती है। प्रायः परिवार का कोई बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति 'क्राल' का प्रधान या संरक्षक चुना जाता है, जिसकी आज्ञा परिवार के सभी व्यक्तियों को माननी पड़ती है। वही 'क्राल' विशेष का प्रधान शासक माना जाता है और उसी पर बस्ती के प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक आचरण की जिम्मेदारी रहती है। कभी-कभी एक प्रधान के संरक्षण में कई एक 'क्राल' या सामाजिक बस्तियाँ होती हैं। कई प्रधानों पर एक मुखिया या जातीय सरदार रहता है और कई सरदारों पर राजा का शासन माना जाता है। आजकल ब्रिटिश कमिश्नर को ही राजा के समस्त अधिकार प्राप्त हैं, जो जूलू लोगों पर शासन करता है। जूलू लोगों के "क्राल" वास्तव में गोलाकार बाड़े के आकार में बाँस और वृक्षों की टहनियों के ढाँचे खड़े करके तथा उन्हें पत्तियों और फूस से ढँककर खूब लम्बे-चौड़े बनाए जाते हैं, जिनके इर्द-गिर्द एक चहारदीवारी या परकोटा रहता है। उस परकोटे के भीतर पालतू पशु रखे जाते हैं। परकोटे और बाड़े की परिधि के बीच में परिवार के लोगों के रहने का स्थान होता है।

व्यवहार और रीति-रिवाज

जूलू लोगों के व्यावहारिक व्यापार कभी-कभी बड़े मनोरंजक होते हैं। उदाहरण के लिए, जब वे किसी को हाथ के संकेत से पास बुलाते हैं, तो उनके हाथ की हथेली ऊपर रहती है और उँगलियाँ समेटकर उनसे कुछ पकड़ने जैसी क्रिया की जाती है। वह व्यक्ति, जिसे बुलाया जा रहा हो, थोड़े फासले पर हुआ, तब तो जूलू अपना हाथ खूब ऊँचा करके यही क्रिया सम्पन्न करता है। किसी बात की स्वीकृति देने या 'हाँ' करने में सिर झुकाने के बजाय नीचे से सिर ऊपर उठाया जाता है। हमारे व्यवहार में ठीक इसका उल्टा होता है। किसी विदेशी या सम्माननीय व्यक्ति को जूलू लोग जो सब से बड़ा उपहार देते हैं, वह एक गाय होती है, जिसे जंगल से पकड़कर लाने में उनको काफी परिश्रम करना पड़ता है।

जूलू जातिवाले अपना अपमान या मजाक बनाया जाना कभी सहन नहीं करते और ऐसी परिस्थितियों में वे मरने-मारने को उद्यत हो जाते हैं। दूसरों के साथ वे नम्रता का व्यवहार करते हैं और बदले में वे भी वैसा ही व्यवहार पाने को उत्सुक रहते हैं।

जब दो व्यक्ति मिलते हैं, तो वे अभिवादन के रूप में एक दूसरे के सीने पर हाथ रखकर नीचे को झुकते हैं, फिर भूमि के निकट अपने हाथ ले जाकर ताली बजाते हैं। अपने सरदार या प्रधान के आगे झुककर भूमि चूमना उनमें आवश्यक शिष्टाचार समझा जाता है। प्रायः दोनों भुजाएं नीचे झुकाकर उनके बीच में सिर झुकाते हुए–'ओ अजादला, चिउसा मारी-आ-ब्बेनो' कहना सम्माननीय व्यक्ति के अभिवादन के लिए पर्याप्त समझा जाता है। जाति के बड़े-बूढ़ों का सर्वत्र अभिवादन किया जाता है। अकारण ही जूलू कभी दगा, विश्वास-घात, या रक्तपात नहीं करता। शताब्दियों से बाहरी लोगों के अत्याचार सहते रहने के कारण अब जूलू लोगों में विदेशियों के प्रति अविश्वास की मात्रा अधिक बढ़ गई है। फिर भी उनमें कृपा और उपकार की अनुभूति पाई जाती है और कृतज्ञता-प्रकाशन में वे कभी पीछे नहीं हटते। मेहमानों का सत्कार करना और मित्रता का निर्वाह वे अच्छी तरह जानते हैं। विदेशियों के जो दल जूलू लोगों की आवासभूमि में अन्वेषण करने गए थे, उनका वक्तव्य है कि इस जाति के लोग, चालाकी या छलकपट से अपने पक्ष में कभी नहीं लाए जा सकते। उनकी मित्रता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उनके साथ उपकार करना, जिसे पहचानने में वे कभी देर नहीं करते। उपकारी व्यक्ति को सम्मानित करना वे अच्छी तरह जानते हैं। निःस्वार्थ भाव से मिलनेवालों के वे बिना दामों के गुलाम बन जाते हैं और यथाशक्ति वे उनकी सेवा करते हैं।

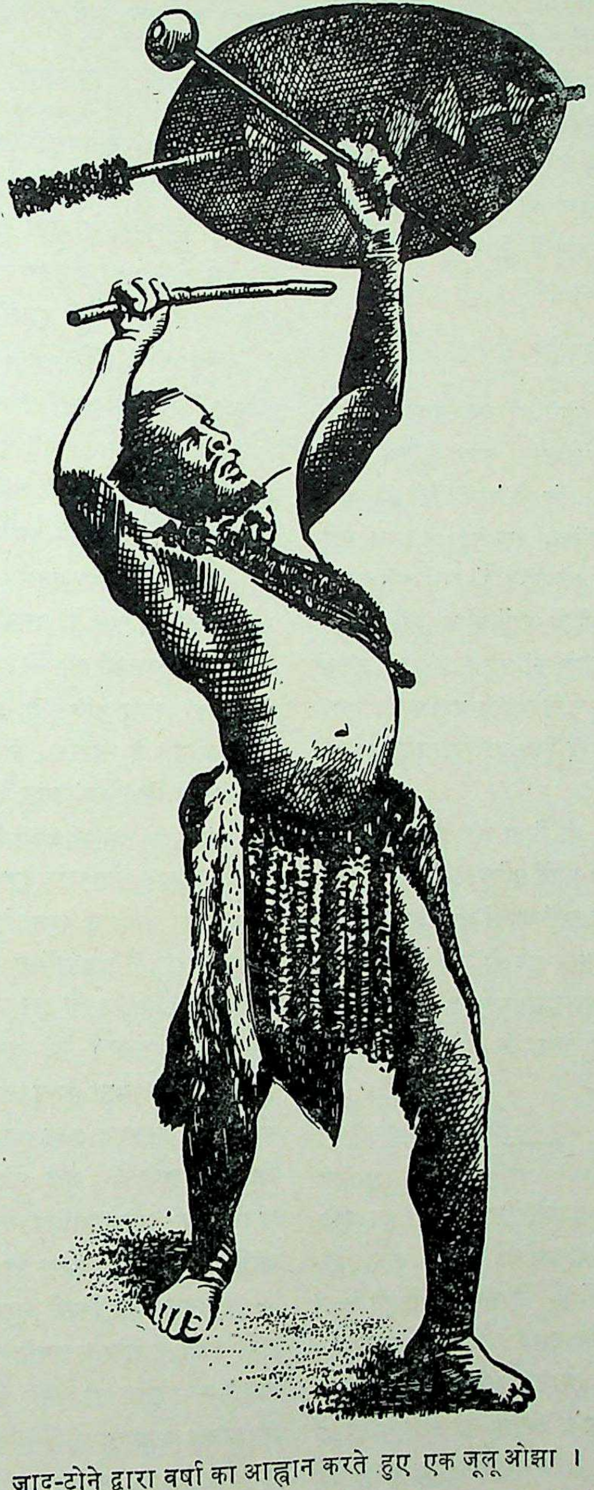
जादू-टोने द्वारा वर्षा का आह्वान करते हुए एक जूलू ओझा।

शत्रुओं से प्रतिशोध लेना वे धार्मिक दृष्टि से अपना सर्वप्रथम कर्त्तव्य मानते हैं। जूलू लोगों के कुछ गाँवों में किसी परिवार के बड़े-बूढ़े या बच्चे की मृत्यु होने पर उसके रहने के लिए एक साफ-सुथरा नया झोपड़ा तैयार किया जाता है और स्वर्गीय आत्मा के लिए उसमें सुस्वादु भोजन और मदिरा आदि ले जाकर नियमित रूप से रखी जाती हैं। उनका विश्वास है कि मृत्यु के उपरान्त दिवंगत आत्मा को उन वस्तुओं की आवश्यकता रहती है।

उद्योग-धंधे

जूलू स्वभाव से ही बड़े परिश्रमी होते हैं। घरेलू काम-काज के अतिरिक्त खेती-बारी करने, दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं बनाने और लोहे के अस्त्र-शस्त्र तैयार करने में वे सदैव व्यस्त दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त तांबे, सींग, हड्डी, हाथीदांत, पोत और परों के गहने, टोकरियाँ, चटाइयाँ और लकड़ी पर नक्काशी बनाना भी वे अच्छी तरह जानते हैं। पशुओं की खाल से वे अपने पहनने के वस्त्र तैयार कर लेते हैं। ज्वार, बाजरा,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मक्का, शकरकंद और तम्बाकू की खेती उनके प्रदेश में अधिक होती है। वहाँ की भूमि में खनिज पदार्थों की कमी नहीं पाई जाती। सोना, ताँबा, लोहा तथा अन्य धातुएँ निकालने के कारखाने विदेशियों ने वहाँ खोल रखे हैं, जिनमें सैंकड़ों जूलू जाति के मजदूर अब काम करते हैं। जूलू लोग अपनी मुख्य सम्पत्ति पालतू मवेशियों को ही समझते हैं। प्रत्येक परिवार के अधिकार में भेड़ों के गल्ले अवश्य होते हैं और उन्हीं की संख्या से परिवार की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया जाता है। विवाह में भी इसी पशु-धन द्वारा जूलू अपनी वधू का मोल चुकाता है।

विवाह और उत्तराधिकार संबंधी रिवाज

पुरुषों को अनेक पत्नियाँ रखने की स्वतंत्रता है, यदि वह प्रत्येक का मूल्य, जिसे 'यूकुलोबोला' कहते हैं, पूर्ण रूप से चुकाने की सामर्थ्य रखता हो। जिसके पास ढोरों की अधिकता होती है, वह प्रायः कई पत्नियाँ रख लेता है। इसी पशु-धन का संचय करने के लिए जूलू लोग, पिछली शताब्दी में, अपने पास-पड़ोस की देशी-विदेशी जातियों की बस्तियों पर छापा मारा करते थे और जितने भी पशु हाथ आते, उनको पकड़ लाते थे। जातीय नियमानुसार उनके यहाँ प्रत्येक युवक के लिए स्वतंत्र जीवन-निर्वाह के हेतु बहुत-से पशु पालना अनिवार्य होता है।

मुख्य पत्नी का ज्येष्ठ पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी माना जाता है। इनमें परिवार की बहुएँ सास-ससुर की उपस्थिति में सामने नहीं आतीं और अपने पति के परिवार के प्रमुख सदस्यों के नाम भूल से भी नहीं लेतीं। उसी भाँति पुरुष भी अपनी सास या पत्नियों की माताओं से पर्दा करते हैं और श्वसुर-परिवार के बड़े-बूढ़ों के नाम जबान पर नहीं लाते!

स्यानों का आतंक

प्राचीन युग में जूलू जाति के लोगों पर स्यानों या पुरोहितों का बड़ा प्रभुत्व था। उनके कर्म बड़े जघन्य और अमानुषिक होते थे। प्रायः अपराधियों का पता लगाने की चेष्टा में वे कई व्यक्तियों को विष देकर व्यर्थ ही मार डालते थे। लोगों को शारीरिक यंत्रणाएँ देना तो उनके बाएँ हाथ का काम था। उनके आगे समाज में किसी की कुछ न चलती थी और जाति के लोग उनसे सदा भयभीत रहा करते थे। चाका या तशाका नामक जूलू राजा ने इन दुष्टों के हाथों से प्रजा को बचाने के लिए स्थान-स्थान पर रक्षा-गृह बनवा दिए, जिनमें 'अवाला गाती' या अभियुक्त भाग-भागकर शरण लेने लगे। इन स्थानों का आतंक धीरे-धीरे उठने लगा, फिर भी उनका अस्तित्व नहीं मिटा, यद्यपि उनकी संख्या अब बहुत कम हो गई है।

'सभ्यता' का घातक सम्पर्क

सभ्यता की दुनिया में बसनेवाला मानव आज कृत्रिमता का जीवन अपनाकर एक यंत्र की भाँति अपनी टकसाली गतिविधि में भूला-सा जा रहा है और फलतः क्षण भर के लिए भी उसे शान्ति का अनुभव नहीं होता। वह सुख की कल्पनामात्र करते हुए अपनी इहलौकिक लीला समाप्त कर जाता है। परंतु दूसरी ओर प्रकृति के आश्रय में रहकर, भूमण्डल के कुछ छिपे हुए कोनों में जीवनयापन करनेवाले मानव-जाति के कुछ ऐसे इनेगिने प्रतिनिधि भी विद्यमान हैं, जो आधुनिक सभ्यता के इस अभिशाप से अधिकांश में बचे हुए हैं और प्रकृति के आगे पूर्णतया आत्म-समर्पण करते हुए सुख और शान्ति का अनुभव करते देखे जाते हैं। उनकी आवश्यकताएँ न्यून हैं, उनकी इच्छाओं की एक सीमा है और उनके आदर्शों की भी एक परिधि है। उनके जीवन में संतोष की मात्रा अधिक है, इसीलिए उन्हें शान्ति है, यद्यपि उनके जीवन में भी संघर्ष की मात्रा काफी है—लगभग उतनी ही जितनी कि सभ्य जगत् के मनुष्यों के जीवन में!

जूलू लोगों की जीवन-झाँकी में भी हम उपर्युक्त तथ्य का एक सुन्दर उदाहरण देखते हैं। वे हमारी तथाकथित सभ्यता का बाना न पहनकर भी समस्त मानवोचित गुणों से सम्पन्न रहे हैं। इसीलिए वे दुनिया के कोलाहल से दूर शान्ति और संतोष का अपना जीवन व्यतीत करते रहे हैं। परन्तु इधर संसार की अन्य आदिम जातियों की भाँति उन पर भी सभ्यता के संपर्क का विषैला प्रभाव पड़ा है। सामाजिक आचरण और व्यवहार की दृष्टि से, जैसा हम पहले कह चुके हैं, जूलू लोग अफ्रीका की अन्य आदिम जातियों की अपेक्षा अधिक उन्नत पाए जाते हैं। सच्चरित्रता, आतिथ्य-भाव और सरल स्वभाव उनकी जातीय विशेषता है। प्रारम्भ में वे किसी प्रकार की मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करते थे और न उनमें लूटमार, चोरी तथा अन्य बुरे कामों का व्यसन था। पर जब से वे योरपीय श्वेत जातियों के सम्पर्क में आए, तभी से उनमें अनेक दुर्गुणों का समावेश हो गया है। नई सभ्यता के संसर्ग के साथ-ही-साथ उनका जातीय पतन भी आरंभ हो गया है। इसी कारण उनको अपनी स्वतंत्रता खोकर दूसरों के आगे सिर झुकाना पड़ा है।

अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियाँ—(४)

सूदान के बाशिन्दे

अफ्रीका महाद्वीप में बसनेवाली कृष्णकाय जातियों में सूदान के बाशिन्दों का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। ये लोग सब के सब नीग्रो नहीं हैं—इनमें हैमिटिक और अर्द्ध-हैमिटिक जातियों के 'बर्बर' आदि तथा सैमिटिक वर्ग के अरब लोगों की भी भरमार है। प्रस्तुत प्रकरण में संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है।

'सूदान' शब्द का अर्थ है 'कालों का देश।' पर यह नाम एक अंश में भ्रमात्मक है। सूदान के रहनेवाले काले अवश्य हैं, पर वे सब नीग्रो नहीं हैं। जाति की दृष्टि से हम सूदान के बाशिन्दों को तीन भागों में बाँट सकते हैं--नीग्रो, हैमिटिक-अर्द्ध-हैमिटिक और सैमिटिक। सूदानी नीग्रो जातियों के क्रू, फाँती, अशान्ती, मोरुबा, न्यूपे, मंदिनग्ना, उलोफ, बैम्बारा, सोनरहाई, हौसा, बत्ता, कनूरी, बागिरमी, मोस्गू, कनेम, मावा, न्यूबा, दिन्का, शिल्कु, बारी, मानबतू, जंदे आदि अनेक वर्ग हैं। हैमिटिक जातियों में 'बर्बर' शुद्ध माने जाते हैं, अन्य हैमिटिक लोगों में नीग्रो रक्त मिश्रित हैं। सैमिटिक जातियों के प्रतिनिधि सूदानी अरब हैं।

मरुभूमि और दलदलों का देश

अफ्रीका की इस १,०२४,४०० वर्गमील भूमि का अधिकाँश भाग मरुभूमि है। यह सारा देश ही इस भाँति रूखा, सूखा और वीरान है कि मनुष्यों के लिए वहाँ एक स्थान पर टिक पाना कठिन हो जाता है। इसीलिए वहाँ के बाशिन्दे अधिकतर खानाबदोश रहे हैं। हाँ, श्वेत नील नदी तथा अबीसीनिया के पहाड़ों से निकली हुई उसकी दो शाखाओं --नीली, नील और अतबारा--के किनारे थोड़ी आबादी ऐसी भी है, जो अपना स्थान-परिवर्तन नहीं किया करती। नील नदी की एक और सहायक धारा सोबत नदी है। यह नदी जिन इलाकों में से होकर बहती है, वे बड़े ही अस्वास्थ्यकर हैं। उत्तरी काँगो की ओर से आनेवाली बहर-एल-गजल नामक नदी जहाँ नील में मिलती है, वहाँ पर एक बहुत बड़ा दलदल बन गया है। सारा देश इस दलदल और मरुभूमि से ही मिलकर बना है। पूर्वीय सूदान का तो तीन-चौथाई से भी अधिक भाग उपजाऊ नहीं है। यह समूचा क्षेत्र एक तरह से दलदल ही में फँसा हुआ है। यहाँ नील नदी औसत एक मील में केवल सात इंच ही नीचे उतर पाती है। देश के दक्षिणी हिस्से में तो दलदल और भी भयानक रूप धारण कर लेते हैं, कारण उन इलाकों में जहाँ नदी में काफी पानी है, वहाँ भी इतना अधिक सिवार होता है कि नौका द्वारा यातायात की सुविधा नहीं मिलती।

उत्तरी सूदान के बाशिन्दे

न केवल भौगोलिक दृष्टि से बल्कि इस क्षेत्र में बसनेवाली जातियों के हिसाब से भी सूदान के नाम से पुकारा जानेवाला यह विशाल भूक्षेत्र उत्तरी और दक्षिणी इन दो खंडों में बँटा हुआ है। इनमें उत्तरी सूदान की मरुभूमि में जिन्दगी बसर करनेवाले लोग सैमिटिक अरब हैं। ये इस्लाम के अनुयायी हैं और सूदान में बसनेवाली अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं। ये अपनी आजादी का भी महत्व समझते हैं। १८९२ ई० में अंग्रेजों का हमला होने के पहले इनकी आबादी पचासी लाख के लगभग थी। पर उक्त हमले के बाद ये बीस लाख से भी कम ही बच रहे। इन्होंने अंग्रेजी फौज का मुकाबला बड़ी बहादुरी से किया, यद्यपि लड़ाई के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आधुनिक अस्त्र-शस्त्र पास में न रहने के कारण शत्रु के सामने ये ज्यादा दिन टिक नहीं पाए। पर अंग्रेजों के द्वारा इतने अधिक तबाह किए जाने के बाद भी इनकी जाति जिन्दा बच रही, यही इनकी ताकत का बहुत बड़ा परिचायक है। आज तो सूदान स्वतंत्र हो चुका है। वह भी संसार के अन्य राष्ट्रों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने लगा है। उसे इस स्थिति पर पहुँचाने में निश्चय ही वहाँ के राष्ट्रवादी अरबों ही का प्रमुख हाथ रहा है।

परन्तु अब भी सूदान के कई भागों में रहनेवाले अरब लोगों का जीवन आदिम युग की याद दिलानेवाला है। जिस प्रदेश में ये अरब कठोर जीवन बसर करते हुए अनवरत यात्रा करते रहते हैं, वहाँ क्या सवारी और क्या सामान सब-कुछ ढोने का एकमात्र साधन ऊँट ही है। उन जलरहित बालुकामय प्रदेशों में यही पशु मनुष्य के लिए सब से अधिक उपयोगी साबित होता है। इन खानाबदोश अरबों का इस संसार में जितनी भी चीजों पर आधिपत्य होता है, उन्हें वे उन ऊँटों पर ही लादे चलते हैं। इन अरबों के जीवन को हम लोगों में से कोई भी, आराम का जीवन तो दूर रहा, बसर करने लायक जीवन भी शायद ही करार देगा। उनके अस्थायी पड़ावों को गरीबों के झोपड़े की भी इज्जत नहीं दी जा सकती। मरुभूमि में दिन में लू से भी भयानक धूल से भरी हवा प्रायः चलती रहती है। उधर चकाचौंध कर देनेवाली धूप आँखों को अलग खराब करती रहती है। उस उड़नेवाली धूल के कारण आँखें खोलना प्रायः असंभव-सा होता है। पर इस परिस्थिति में भी ये लोग अपने उन ऊँटों पर लदे हुए यहाँ से वहाँ भटकते फिरते हैं। केवल उस लू और धूप से बचने के लिए ये अपनी गर्दन और चेहरे को कपड़े से ढक लेते हैं।

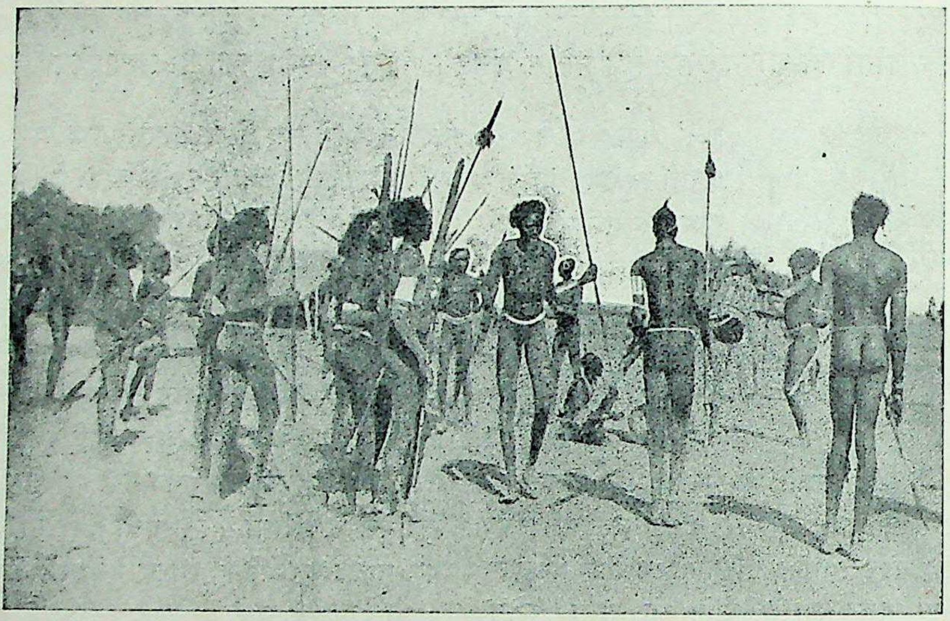

सूदान की एक जंगली जाति के लोगों का युद्ध-नृत्य :: ये लोग सोबत नदी के तट पर रहते हैं। ये कद में ६ से ७ फीट तक लंबे होते हैं और बहुत कम वस्त्र पहनते हैं।

इनके लिए सब से बड़ी मुसीबत दरअसल भोजन जुटाने की रहती है। इन बेचारों को अपने जीवन का अधिकांश समय कम-से-कम भोजन और पानी पर बिताना पड़ता है। यदि इनका कुछ पेशा कहा जाय तो वह है केवल भेड़ पालना। लालसागर के तट से संबंध होने के कारण ये तरह-तरह की आयात-निर्यात की सामग्रियों का व्यापार भी किया करते हैं। कहते हैं, एक जमाने में तो अपने से निम्न कोटि की जातियों के आदमियों तक का व्यापार ये किया करते थे! इसके सिवा व्यापारिक काफिलों को लूट लेना तो इनमें ऐसे रोजमर्रे की बात है कि यह कार्य भी इनके पेशे में ही सम्मिलित कर लिया जा सकता है। एक खास खूबी जो इन लोगों में पाई जाती है, वह है इनकी अनवरत व्याकुलता। ये अपने उस मरुभूमि के जीवन से सन्तुष्ट नहीं हैं। ये अपने को सुखी बनाने की कोशिश में सदैव तत्पर रहे हैं। पर इसमें सदैव इन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। अंगरेजों का आधिपत्य होने के बाद वे अपनी पहले की-सी आजादी में कमी हो जाने के अलावा आर्थिक स्तर पर भी गिर गए। इसीलिए वर्षों तक ये अंगरेजों के खिलाफ बगावत खड़ी करने की धुन में लगे रहे। चूँकि आधुनिक युद्ध-विद्या में प्रवीण अंगरेजी फौज से लड़ने के लिए उनके पास उपयुक्त हथियार नहीं थे, अतः जब-जब उन्होंने सिर उठाया, उन्हें हार ही खानी पड़ी। पर इस हार को बर्दाश्त करने तथा आगे के लिए हिम्मत बाँधने का भी उनमें एक निराला ढंग निकल आया।

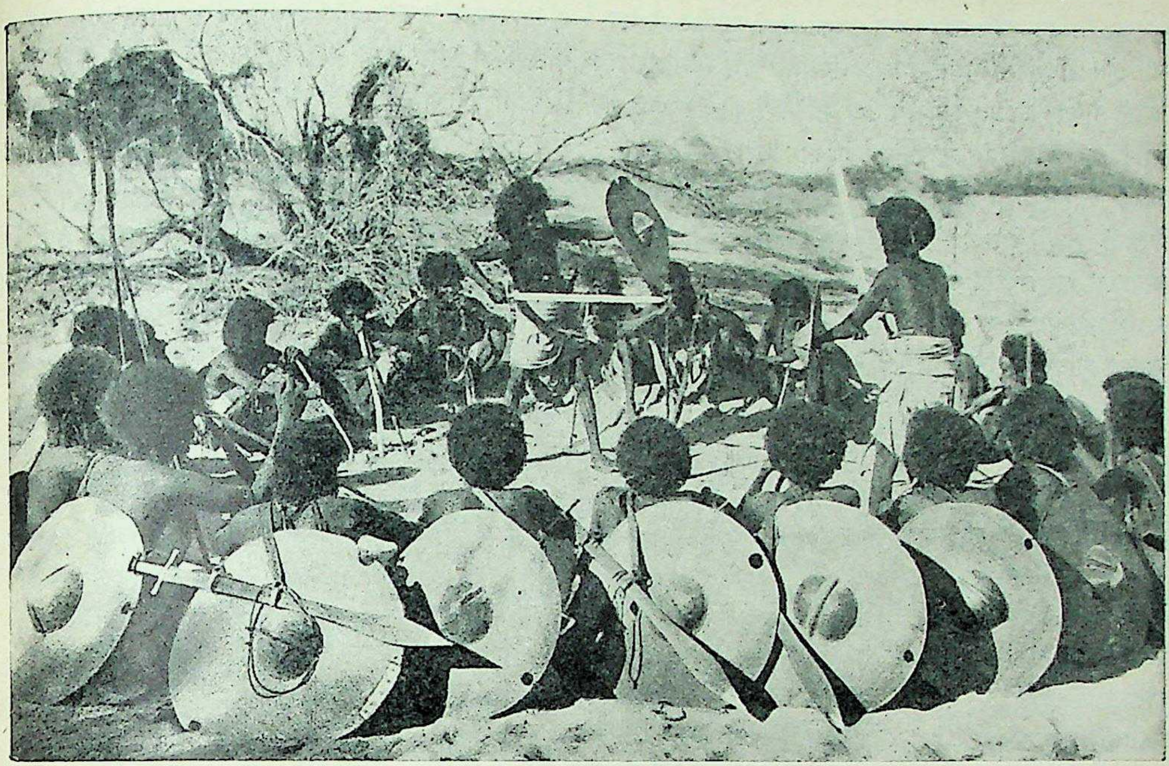

सूदान में बसनेवाली एक खूँख्वार जंगली जाति के लोग 'फूजी-वूजी' के नाम से मशहूर हैं । इन्हें बचपन से ही लड़ाकू होने की शिक्षा दी जाती है । इस चित्र में इन्हीं लोगों के एक प्रदर्शन विशेष का दृश्य है । इस स्वाँग में दो आदमी हाथ में तलवार या खंजर और ढाल लेकर पैतरे बदलते हुए लड़ने का प्रदर्शन करते हैं । हर तरह के हाथ दिखाए जाते हैं और कभी-कभी तो इस प्रदर्शन में ये घायल भी हो जाते हैं । यह इन लोगों के लिए न सिर्फ मनोरंजन का ही साधन है, वरन् युवकों को इससे युद्ध की शिक्षा भी मिलती है ।

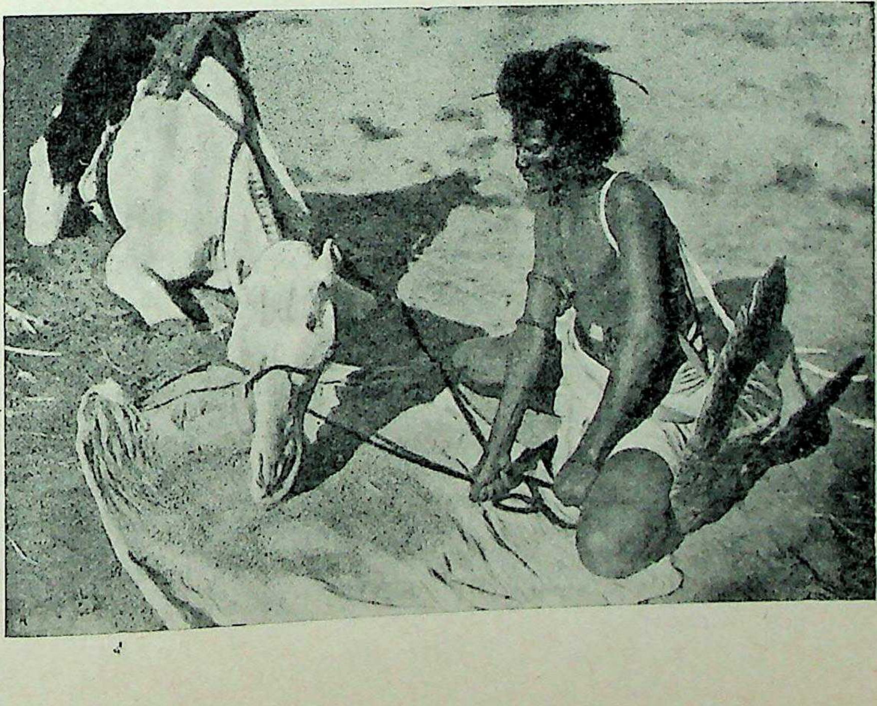

(दाहिनी ओर)
सूदान की लड़ाकू फूजी-वूजी जाति का एक योद्धा अपने ऊँट को दाना खिला रहा है । वीरान मरुभूमि में यही पशु इन लोगों के आवागमन का एकमात्र साधन है ।

बात यह हुई कि प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करते-करते उन्हें हर किसी के साथ दृढ़तापूर्वक पाँव जमाकर संग्राम करने की आदत-सी पड़ गई। यही दृढ़ता उनका मानो मजहब-सा बन गई है। यदि भली-भाँति उनका मनोविश्लेषण करके देखा जाय तो उनके लिए यह धर्मान्ध व्यक्तियों की-सी कट्टरता और परिस्थिति के विरुद्ध दृढ़ता पूर्वक पाँव जमाकर लड़ते जाने की सिफत एक ही तरह की ताकत का काम करते दिखाई देती है। अपने पास उचित अस्त्र-शस्त्रों के अभाव के बावजूद मजबूती के साथ टिके रहने में उनके धार्मिक अन्धविश्वासों ने उन्हें सदैव ही सहारा दिया है। यही अन्धविश्वास उनके लिए ताकत का काम देता है, जिसके बल पर वे लड़ाई में टिके रहे और अपने को जीवित रखने में समर्थ हुए।

उत्तरी सूदान में बसनेवाली मेसेरिया नामक एक जाति की स्त्री। इस जाति से नूबा जाति के लोग बहुत डरते हैं।

प्रकृति ने इन अरबों को हारकर भी निरन्तर लड़ते रहना सिखलाया है। इसीलिए 'मौज' या 'आराम'-जैसी चीजें इनके लिए गौण रहती हैं और उनके प्रति इनका कोई आकर्षण नहीं होता। उदाहरण के लिए औरतों के प्रति उनका दृष्टिकोण ही लीजिए। अभी-अभी तक उनमें यह रिवाज था कि वे अपनी औरतों तक को लड़ाई के मैदान में साथ रखते थे। उधर मर्द लड़ते थे और इधर उनके बगल में औरत उनके लिए खाना पकाया करती थीं! लड़ाई के लिए भोजन की पूर्ति भी आवश्यक थी और इस काम के लिए औरतों की मदद अनिवार्य थी, इसीलिए इन अरबों को औरतों की दरकार थी। परन्तु अंग्रेजों के साथ युद्ध छिड़ने पर जब उन्होंने देखा कि लड़ाई के समय सहायक साबित होने के बजाय ये औरतें केवल बाधक ही सिद्ध होती हैं, तो उन्होंने औरतों को साथ ले चलना तुरन्त ही छोड़ दिया।

ये अरब लड़ाई के दीवाने जैसे हैं। उनके एक खास फिर्के के लोग 'दरवेश' के नाम से पुकारे जाते हैं। वैसे 'दरवेश' शब्द का अर्थ साधु या भिखारी होता है। पर ये तथाकथिक भिखारी लड़ने के लिए ही होते हैं। इनके भिखारी बनने या साधुगीरी अपनाने का खास कारण लड़ाई में अधिक खूँख्वार साबित हो सकना मात्र है। खूँख्वारपन का यह पाठ, जिस भूमि में वे रहते हैं, उसकी रुखाई ने ही उन्हें सिखाया है। वही उन्हें अपने जीवन के ढर्रे को बदल देने के लिए मजबूर करती रहती है। इन दरवेशों ने 'माहदी' नामक अपने एक धर्मान्ध कट्टर नेता के अधीन बगावत का झंडा खड़ा करके पिछली शताब्दी के अंतिम चरण में किस प्रकार सूदान पर हावी होनेवाले विदेशी अंग्रेजों के नाकों दम कर दिया था, यह इतिहास का एक प्रकरण बन चुका है।

दक्षिणी सूदान के निवासी

दक्षिणी सूदान उत्तरी सूदान से भिन्न है। इसीलिए यहाँ पर बसनेवाली जातियाँ भी विभिन्न प्रकार की हैं। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उत्तरी सूदान से चलकर ज्यों-ज्यों हम दक्षिण की ओर आते हैं, त्यों-त्यों जहाँ चारों तरफ की प्रकृति अपना रूप बदलती जाती है, वहाँ उसके साथ-ही-साथ उसी प्राकृतिक परिवर्तन के अनुपात में वहाँ बसनेवाली जातियों का रूप और रहन-सहन भी बदलता चला जाता है। सब से पहले हमें कुछ मिश्रित रक्तवाली जातियाँ मिलती हैं, जिन्हें साधारणतया 'हामायत' (हैमेटिक) नाम दिया गया है। इनमें प्रमुख भूमध्य सागर तट की कुछ जातियों से मिलती-जुलती एक जाति है, जिसके लोगों का समय अधिकतर बाल सँवारने में ही जाता है। ये लोग भेड़ की चर्बी और विविध रंगों के 'पाउडर' बालों में लगाते हैं। ये बालों को इस प्रकार चर्बी और पाउडर लगाकर सीधे खड़ा कर लेते हैं कि दूर से वे दो सींग की तरह दिखाई देते हैं। इनकी आजीविका पशुपालन पर निर्भर है और इसीलिए इनमें स्थान-परिवर्तन करते रहने की प्रवृति हमेशा बनी रहती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इनके सामने हमेशा पशु ही रहते हैं। उन्हीं के संपर्क में ये रहते हैं। अतः उनसे अधिक कीमती कोई चीज संसार में इनके लिए नहीं होती। अपने पशुओं की रक्षा और उन्हें अधिकाधिक संख्या में बटोरकर अपनाने की चेष्टा में ही इनकी समस्त लड़ाइयाँ होती हैं। भूमि इनके लिए सिवा चारागाह का काम देने के और कोई महत्व नहीं रखती। इनका भोजन मुख्यतया मांस, दूध और रक्त होता है।

जहाँ तक समाज-व्यवस्था का सम्बन्ध है, वह इनके बीच अपने निजी ढंग पर ही संगठित होती चली गई है। इनके नवयुवक अविवाहित लड़कियों को साथ लेकर अपने मवेशी चराया करते हैं और मवेशियों की रक्षा के लिए बर्छे चलाने का अभ्यास करते हैं। इसी समय से उन्हें इस बात की शिक्षा दी जाती है कि ज्यों ही कोई आदमी उनके पशुओं पर अधिकार जमाने की चेष्टा करे, वे उसे तुरंत मार डालें। अपने भीतर यही भय निरंतर बना रहने के कारण उनकी अपनी पड़ोसी जातियों के साथ सदैव लड़ाई चलती रहती है, जिसमें बहुत-से लोग मारे जाते हैं। इनकी औरतें भी उन लड़ाइयों के समय इनके साथ रहती हैं। एक तरफ मर्दों की लड़ाई चलती है और दूसरी ओर इनकी औरतें परस्पर खाल और दूध के बदले में पड़ोसवालों से शाक और अन्न लेने की कोशिश करती हैं। कभी-कभी जब यह विनिमय लाभदायक प्रतीत होने लगता है, तब लड़ाई की भयंकरता कम हो जाती है। वयस्क हो जाने पर नवयुवक शादी कर लेते हैं और तब अधिक स्थिर जीवन बिताने लगते हैं। उस समय पशु-रक्षा का भार नए नौजवानों पर आ जाता है। इन लोगों में सफाई तथा औषधियों की व्यवस्था न रहने के कारण कभी-कभी घातक बीमारियाँ फैल जाती हैं, जिनसे न केवल इनके अधिकांश पशु ही मर जाते हैं, बल्कि मनुष्यों की भी आबादी बहुत कम हो जाती है।

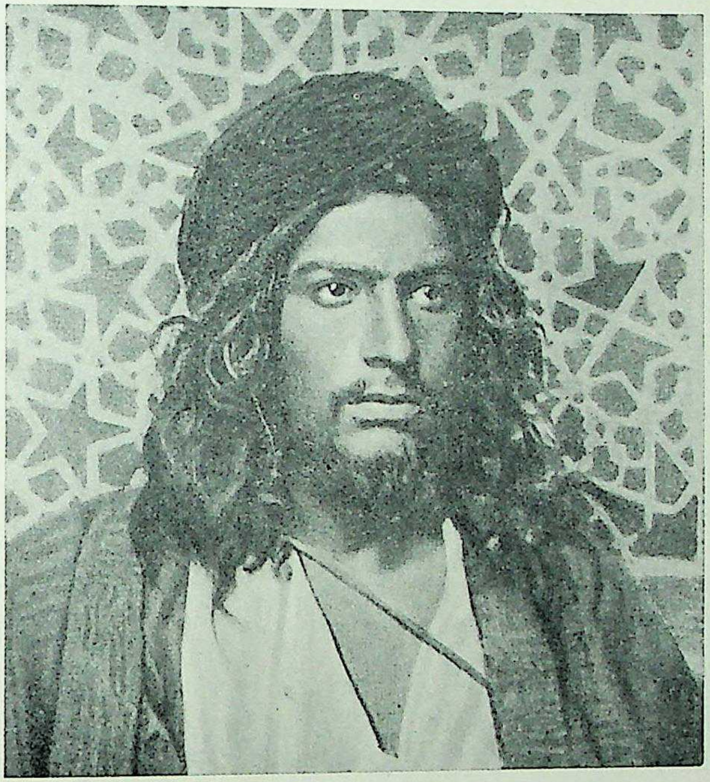

सूदान का एक 'दरवेश' :: ये रहते तो फकीर के भेष में हैं, पर बड़े ख़ूंख्वार और लड़ाकू होते हैं।

नूबियन जाति के लोग

ज्यों-ज्यों हम सूदान के दक्षिणी हिस्से की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों लोगों की बोली भी बदलती जाती है। उत्तर में अरबी का और दक्षिणी हिस्सों में नूबियन अपभ्रंश का चलन है। नूबियन जाति के लोग काले होते हैं, क्योंकि इनमें दक्षिण के नीग्रो तथा उत्तर के अरबों के खून का मिश्रण रहता है। नूबी शब्द का अर्थ दास होता है। बहुत अर्से तक ये लोग उत्तर में बसनेवाले अरबों के दास रह चुके हैं। शायद इनका यह नाम अरबों का ही दिया हुआ है। परन्तु जब से स्वयं अरब अंगरेजों के गुलाम हो गए, तब से वे भी बहुत-कुछ इन नूबियनों की ही श्रेणी में आ गए हैं। नूबियन जाति के लोगों की चमड़ी यद्यपि काली होती है, पर ये देखने में नीग्रो-जैसे बदसूरत नहीं होते, क्योंकि इनके चेहरे की काट सुन्दर होती है। कितने लोगों का अनुमान है कि इनमें यह सौन्दर्य विभिन्न जातियों के रक्त-मिश्रण के कारण आया है। उत्तर के अरबों की तुलना से नूबियन शांत और तीक्ष्णबुद्धि होते हैं। परंतु अरबों की तरह खानाबदोशी की आदत से ये भी बरी नहीं हैं। ये जहाँ कहीं भी बकरे की खाल का बना अपना तम्बू लगा लेते है, वहीं इनका घर बन जाता है। मरुभूमि के इलाकों में इन्हें जहाँ-जहाँ हरियाली (ओएसिस)

दिखाई देती है, वहाँ-वहाँ व्यापार और पशुओं के चरागाह की खोज में ये जाया करते हैं। इन्हें भी मरुभूमि व्याकुल बनाए रहती है और फलतः अपना सारा जीवन खानाबदोशी से बिताकर उस व्याकुलता से छुटकारा पाने की चेष्टा ये किया करते हैं।

'बर्बर' जाति के लोग

सूदान के पश्चिमी भाग में बहर-एल-गजल के इलाके में भूमध्यसागर-तट की 'बर्बर' जातियों से मिलती-जुलती कई जातियाँ रहती हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनकी औरतें छाती तथा निचले बदन में गोदना गुदाया करती हैं। इनमें अधिक मोटा होना सौन्दर्य की निशानी समझी जाती है। इनमें नाक तथा होठों तक में गहने पहनने का रिवाज है। भूमध्यरेखा के निकट होने के कारण सूदान में कड़ी धूप पड़ती है, जिसमें झुलसते रहने के कारण इन लोगों की चमड़ी बिलकुल काली हो जाती है। पर इनके बाल जता देते हैं कि ये नीग्रो नहीं हैं। इनमें जो जाति 'फूला' या 'फुलानी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, उसके विषय में बहुत से विशेषज्ञों का अनुमान है कि सैकड़ों वर्ष पहले सीरिया की ओर से वह आई थी। इनके बाल सीधे होते हैं और होठ पतले। अपने आसपास की जातियों की तुलना में यह जाति अधिक प्रखरबुद्धि भी होती है।

मेसेरिया जाति का एक योद्धा, जिनसे नूबियन जाति के लोग बहुत डरते हैं, क्योंकि ये प्रायः उन पर आक्रमण कर उन्हें मार डालते अथवा गुलाम बनाते रहे हैं।

एक समय ऐसा भी था, जब इस 'बर्बर' जाति का न सिर्फ सूदान के पश्चिमी भाग में ही, बल्कि सारे पश्चिमी अफ्रीका पर प्रभाव छाया हुआ था। पिछली शताब्दी के आरम्भ में इस जाति का एक नेता हुआ, जिसका कब्जा उत्तरी नाइजेरिया तक हो गया था। इनमें जिन लोगों ने पहले-पहल इस्लाम अपनाया, वे 'अमीर' बन गए और उनका अफ्रीका के उस इलाके में आधिपत्य जम गया। पर आगे चलकर उन्होंने अपनी शक्ति का बड़ा दुर्व्यवहार किया। जब विदेशी पूँजी के सहारे गुलामों का बाजार गरम हुआ और काले आदमियों की गहरी कीमतें मिलने लगीं, तो इन लोगों ने गुलाम पकड़ने में मदद पहुँचाई। इनके इस काम से आसपास की जातियाँ इनका विरोध करने लगीं। अंगरेजों ने भी अपना आधिपत्य जमने पर अन्य जातियों की तुलना में इन फुलानी लोगों के हाथ में अधिक अधिकार रहने दिए। वे इस जाति की मदद अपने निरीक्षण में कच्चा माल जुटाने में लेने लगे। न्याय में भी मुसलमानी कानून के ढंग पर न्याय करने का ही सिलसिला चलने दिया गया। इस कारण इनके मन में उत्तर के अरबों की भाँति विदेशी सल्तनत के खिलाफ विद्रोह का भाव नहीं फैल सका।

आम तौर से फुलानी लोग भी खानबदोशी का जीवन पसन्द करनेवाले हैं। स्थायी गाँव बनाकर रहने की इनकी आदत नहीं है। आजीविका के लिए ये भी पशुपालन करते हैं। ये भी योरपीय लोगों के साथ सम्पर्क बनाए रखना नहीं चाहते और सभ्य समाज में काम में आनेवाली चीजों का, जहाँ तक संभव होता है, व्यवहार नहीं करते। ये जो जानवर पालते हैं, उन्हीं की खाल प्रायः इनके वस्त्रों का काम देती है।

सूदान अथवा उसके आसपास के देशों में बसनेवाली बर्बर, हामायत और अरब जातियों पर दृष्टि डालने पर हम यही पाते हैं कि ये सब अफ्रीका की नीग्रो सभ्यता से कम और एशियाई देशों की अरब सभ्यता से अधिक प्रभावित हैं। इनके अध्ययन के सिलसिले में एक बात यह भी

हम देखते हैं कि जिस भूभाग की प्रकृति रूखी होती है और जहाँ मनुष्यों को जीवित रहने के लिए अनवरत संग्राम करते रहना पड़ता है, वहाँ के मनुष्य शीघ्र ही पराजय मान लेनेवाले नहीं होते। यदि कोई विदेशी ताकत उन पर जोर-जबर्दस्ती से अपना आधिपत्य जमा भी लेती है, तो वे उस विदेशी शक्ति के खिलाफ भी हमेशा जंग छेड़े रहते हैं। दूसरी ओर जहाँ जीवन-संघर्ष कठोर नहीं होता, वहाँ के लोग विदेशियों का आधिपत्य मान लेने में अधिक आनाकानी नहीं करते।

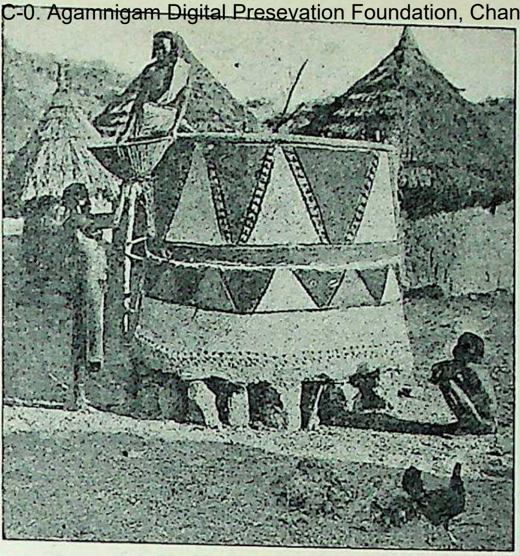

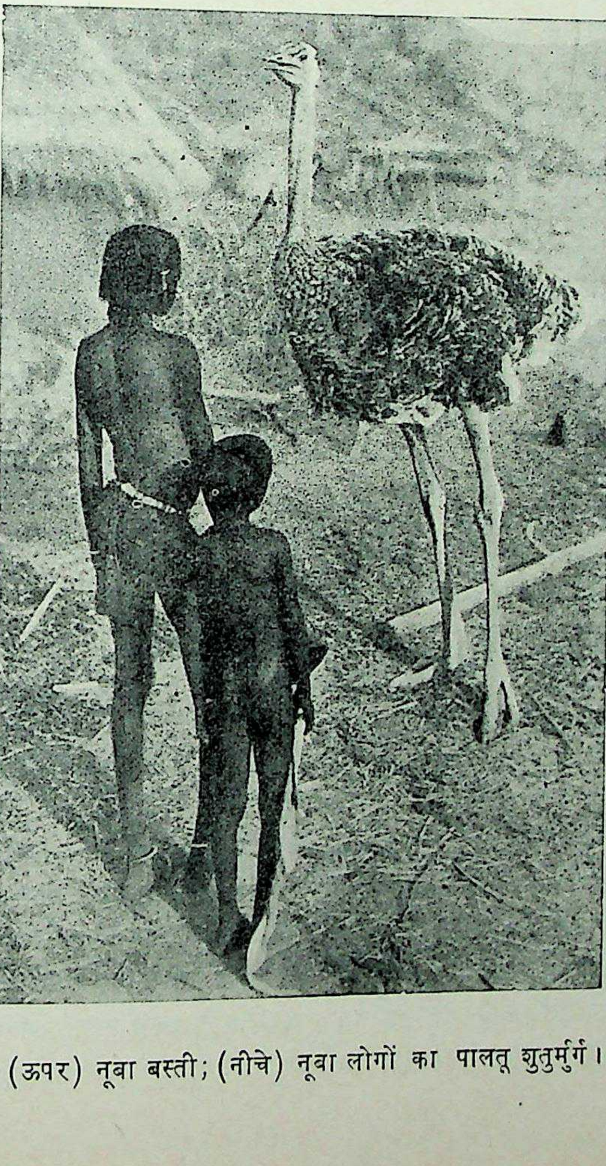

(ऊपर) नूबा बस्ती; (नीचे) नूबा लोगों का पालतू शुतुर्मुर्ग।

मिश्रित जातियों का अनूठा अजायबघर

सूदान में कृष्णकाय नीग्रो और अर्द्ध-नीग्रो जातियों के साथ-साथ उत्तर की 'बर्बर', 'अरब', आदि जातियों का भी सदियों से एक मेला-सा लगा हुआ है। जातियों के इस अनवरत समागम और संगम के फलस्वरूप सूदान मानवीय रक्त-सम्मिश्रण का एक अनोखा अजायबघर-सा बन गया है, जिसमें नीग्रो से लेकर भूमध्य-सागरीय, कॉकेशियन आदि विविध जातियों के समन्वय की अनूठी झाकियाँ देखने को मिल सकती हैं। उदाहरणार्थ, इस प्रदेश के उत्तर-पूर्वीय अंचल में बसनेवाली हामायत वर्ग की 'हेडेनडोवा' जाति ही को हम लें, जो कि बाहरी लोगों द्वारा आम तौर पर 'फूजी-वूजी' के नाम से पुकारी जाती है। इन जंगली खानाबदोश लोगों का रंग तो अफ्रीका की कृष्णवर्ण जातियों का-सा गहरा कत्थई या धूमिल काला पाया ज़ाता है, परन्तु शरीर-रचना, आकृति आदि के लिहाज से **उनमें** कॉकेशियन जातियों के लक्षणों की प्राधनता है। उधर रहन-सहन में जहाँ उन्होंने मरुभूमि के अरब खानाबदोशों की-सी चाल-ढाल अपना ली है और 'रेगिस्तान के जहाज' ऊँट को अपना एकमात्र वाहन बनाए रक्खा है, वहाँ अस्त्र-शस्त्रों के चुनाव और लड़ाई के ढंग में आज भी वे पुरातन कॉकेशियन जातियों की याद दिलाने लगते हैं।

वस्तुतः सूदान की आबादी में नीग्रो, भूमध्यसागरीय और कॉकेशियन सभी जातियों के लक्षण देखने को मिल सकते हैं। यह अवश्य है कि दक्षिणी सूदान में नीग्रो रक्त की बहुलता है और उत्तरी सूदान में हैमेटिक एवं सैमिटिक रक्त की।

दक्षिण-पूर्वी अंचल की कुछ जातियाँ ::
मलय, सेमांग, सकाई, वेद्दा, मावरी, आदि

'आदिम जातियों के अजायबघर' अफ्रीका से विदा होकर, आइए, अब पुनः उस दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र की ओर चलें, जहाँ की कतिपय आदिम जातियों का परिचय पिछले एक खंड में आप प्राप्त कर चुके हैं। पहले हम एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी अंचल में बसनेवाली कतिपय आदिम जातियों को ले रहे हैं। तदुपरान्त प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र के कुछ मनोरंजक जनसमूहों की भी झाँकी पाने का प्रयास करेंगे।

आज से सहस्रों वर्ष पूर्व एशिया महाद्वीप तथा उसके आसपास के द्वीप-समूहों का विस्तार बहुत अधिक था। अनुमान किया जाता है कि इस भूखण्ड के दक्षिण-पूर्व में आज जहाँ महासागर की उत्ताल तरंगें अठखेलियाँ करती हुई दिखाई देती हैं, वहाँ किसी युग में धरती का सिलसिला था और एशिया तथा ऑस्ट्रेलिया के भूखण्ड परस्पर जुड़े हुए थे।

'मलय' जाति के लोग

सम्भवतः उसी युग में आग्नेय कोण के आदिम निवासियों की कुछ टोलियाँ अपनी लम्बी यात्रा प्रारंभ कर आगे बढ़ते हुए धीरे-धीरे उस प्रदेश में पहुँचने लगी होंगी, जिसे आज हम मलाया प्रायद्वीप कहते हैं। ये लोग कद में नाटे थे। उनके गोल सिर, चौड़े चेहरे, छोटी नाक, फैले हुए नथुने, उठे हुए जबड़े, तिरछे नेत्र, आदि उनकी मौलिकता के परिचायक थे। उन्हीं पूर्वजों की अर्द्ध-सभ्य सन्तानें, जो कि आजकल मलाया के निकटवर्ती प्रदेश में कहीं-कहीं पाई जाती हैं, 'मलय' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

मलय जाति के लोगों का सामाजिक संगठन अपने ढंग का निराला है। उसमें वर्ग-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। उनके सामाजिक नियम परम्परागत एकसाँ बने हुए हैं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं आ सका है। मलय जाति के अधिकांश लोग आज मुसलमान हैं। पहले उनमें मूर्ति-पूजा भी प्रचलित थी, परन्तु तेरहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच उनके देश में बाहर से मुसलमान व्यापारियों का आवागमन होने लगा। उन्हीं के प्रभाव में पड़कर वे अपना प्राचीन धर्म त्याग कर मुसलमान बन गए। उनका धर्म इस्लाम और अपने प्राचीन संस्कारों की खिचड़ी जैसा है।

मलय लोगों का मुख्य पेशा मछलियों का शिकार रहा है। इसी लिए देश के भीतरी भागों में रहनेवाले मलय अपने मकान अधिकतर नदियों के किनारे ही बनाते हैं। उनके घर भूमि से कई फीट ऊँचे मचानों पर बनते हैं। घर के चारों ओर वे नारियल, खजूर, सुपारी आदि के फलदार वृक्ष लगाते हैं। मलय जातिवालों का मुख्य भोजन चावल है और उनके देश में इसी की खेती अधिक होती है। ये लोग जंगल की पैदावार का व्यवसाय भी करते हैं, जिसमें रबड़, कपूर तथा कई प्रकार की लकड़ियाँ मुख्य हैं। सूती तथा रेशमी कपड़े बुनने, मिट्टी और चाँदी के सुन्दर बर्त्तन बनाने, एवं चटाइयाँ और लोहे के हथियार बनाने में ये लोग बड़े कुशल हैं। नौकाएँ बनाने और उनको अपनी कलापूर्ण कारीगरी से चित्र-विचित्र करने में भी ये लोग बड़े पारंगत हैं। मलाया में योरपीय जातियों के आने से पूर्व बारूद भी बनती थी और बड़ी-बड़ी तोपें तक ढाली जाती थीं।

इनके देश में पिछले सौ वर्षों से अरबी जैसी एक लिपि प्रचलित है, परन्तु पुराने जमाने में उसका रूप देवनागरी लिपि जैसा था। इससे ज्ञात होता है कि मुस्लिम प्रभाव में

आने से पूर्व दक्षिणी-पूर्वी एशिया की अन्य जातियों की तरह इन लोगों पर भी प्राचीन भारतीय संस्कृति की बहुत गहरी छाया पड़ चुकी थी।

मलय जाति के लोग कपटी और धोखेबाज नहीं होते। अपने उपकारी, संबंधी और मित्रों के लिए अवसर आने पर वे प्राण तक न्यौछावर कर देते हैं! आत्माभिमान की मात्रा उनमें बहुत बड़ी-चढ़ी पाई जाती है। उन्हें रंगीन और भड़कीले वस्त्र धारण करने का बड़ा चाव होता है। यद्यपि मलय लोगों का चरित्र अच्छा नहीं होता, परन्तु उनकी जाति में वेश्याओं का सर्वथा अभाव देखकर आश्चर्य करना पड़ता है! धनी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति बहु-विवाह भी कर लेते हैं, परन्तु साधारण लोगों में यह प्रथा नहीं है।

इन लोगों में ढीला कोट और पायजामा पहनने का चलन है, किन्तु साधरणतया लोग 'सारंग' का (जो तहमत या लुंगी ही का एक संस्करण है) व्यवहार करते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों समान रूप से यही वस्त्र धारण करते हैं। मलय लोगों का मुख्य शस्त्र 'क्रिस' है, जो छोटे खंजर या कटार की आकृति का होता है। उसमें लकड़ी या हाथीदाँत का दस्ता होता है। क्रिस का फल सीधा या खमदार होता है। इनका सब से उपयोगी हथियार, जिसका ये जंगलों में व्यवहार करते हैं, 'पारंग' या 'गोलक' कहलाता है, जो भारी छुरी जैसा होता है। उसका उपयोग झाड़ियाँ काटने, रास्ता साफ करने और जंगली जानवरों से आत्मरक्षा करने में होता है। मलय किसान घर से बाहर जाते समय उसे अपने साथ रखना कभी नहीं भूलते।

अब मलय लोग अपने देश की अन्य जातियों से अधिक हिल-मिल गए हैं। उन पर नए युग की सभ्यता का प्रभाव शीघ्रता से बढ़ता चला जा रहा है। जुआ और शराब की लतें भी उनमें आ गई हैं। वे चीनी और योरपीय व्यापारियों के यहाँ नौकरी भी करने लगे हैं। वे प्रायः रबड़ के बगीचों में मजदूरी करने जाते हैं।

सेमांग

मलाया प्रायद्वीप की दूसरी एक आदिवासी जाति 'सेमांग' कहलाती है। अनुमान किया जाता है कि प्रायद्वीप के सब से प्राचीन निवासी ये सेमांग ही हैं। इनकी बस्तियाँ उत्तरी पेराक, केदा, केलनताँन, त्रेंगान और पेहाँग के इलाकों में पाई जाती हैं। ये नीग्रो जाति के वंशज हैं और आकृति तथा डील-डौल में अंडमान, फिलिपाइन और मध्य अफ्रीका की कुछ जातियों के लोगों से मिलते-जुलते हैं। पुरुष प्रायः ४।।। फीट और स्त्रियाँ ४।। फीट से अधिक लम्बी नहीं होतीं। विद्वानों का कथन है कि सेमांग लोग दक्षिणी एशिया से आकर यहाँ बसे हैं। मलाया में आने के बाद इनकी सभ्यता का किंचित् मात्र विकास न हो सका और ये पूर्ववत् जंगली ही बने रहे। इन लोगों के शरीर का रंग काला या मटीला-भूरा होता है। माथा छोटा, नाक छोटी और कुछ चपटी, आँखें बड़ी, होठ भरे हुए और मोटे, मुँह चौड़ा, ठुड्ढी भीतर को दबी हुई—यही सेमांगों की पहचान है। इनके केश काले या गहरे कत्थई रंग के होते हैं और उन्हें ये लोग गुच्छों के आकार में बाँधकर ऊपर उठाए रखते हैं।

अधिकर सेमांग लोगों को कृषि या कला-कौशल का किंचित् भी ज्ञान नहीं है। हाँ, बाँस की पतली खपाचों अथवा पौधों के रेशों से वे बड़ी अच्छी टोकरियाँ बुन लेते हैं और उन्हीं को बेचकर अपना पेट पालते हैं। ये मछलियाँ मारते तथा जंगली जानवरों का शिकार करते हैं। इनके मुख्य शस्त्र धनुष-बाण और बर्छे हैं। छोटी चिड़ियों और लघु जानवरों को मारने में सेमांग लोग बाँस के एक लंबे चोंगे का उपयोग करते हैं। यह चोंगा खोखले बाँस को साफ करके उसके एक सिरे पर मुँह में लगाने की कोप के आकार की चमड़े या छाल की बनी हुई छिछली कटोरी जैसी बाँधकर बनाया जाता है। इस चोंगे में छोटे-छोटे नोकीले बाण भरकर उन्हें मुँह की फूँक से चलाया जाता है। निशाना लगाने में ये लोग बड़े कुशल होते हैं। इनके बच्चे तक इस चोंगे के उपयोग से परिचित होते हैं और प्रायः अपने आहार भर का शिकार इससे वे मार लाया करते हैं। सेमांग लोगों का मुख्य आहार पशु-पक्षियों का मांस और मछली है। उनका निवास गुफाओं और कन्दराओं में रहता है, क्योंकि घर बनाने का झंझट पालना ये बेवकूफी समझते हैं। कभी-कभी ये पेड़ों की डालों को जोड़कर पत्तियों से और फूस से झोपड़ियाँ बना लेते हैं और उन्हीं में रहते हैं।

जहाँ तक वस्त्रों का प्रश्न है, आदिकाल से ये लोग पेड़ों की छाल को लकड़ी से कूट-कूटकर उनके रेशे निकालते रहे हैं और उन रेशों से पतली-पतली पट्टियाँ बुनकर उन्हीं से अपनी लज्जा निवारण करते आए हैं। इनकी स्त्रियाँ और वयस्क लड़कियाँ उसी के बने घाँघरे पहनती हैं, जो घुटनों से कुछ ही नीचा रहता है। बहुतों को इस प्रकार के साधन भी उपलब्ध नहीं होते और उनके परिवार नितान्त दिगम्बर फिरा करते हैं! इन लोगों में गोदने गोदाने का भी रिवाज है। इसके लिए शरीर पर घाव करके भाँति-भाँति की नक्काशी बनाई जाती है, जिसमें रंग भर दिया जाता है।

सेमांग संगीत के बड़े शौकीन होते हैं। इनके यहाँ बाँस के बने कई वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है। विशेषतया एक प्रकार का तानपुरा, नाक से बजनेवाली बाँसुरी और वंशी तो घर-घर में दिखाई देती है। जब कोई त्योहार या शादी-ब्याह का अवसर आता है, तो पूरी बस्ती के सभी स्त्री-पुरुष एकत्र होकर पत्तियों और जंगली फूलों से अपना श्रृंगार करते और नाचते-गाते हैं। ये लोग मृतक को कब्र में दफना देते हैं और साथ में उसके लिए कुछ खाना-पीना भी रख देते हैं, क्योंकि इनका विश्वास है कि मरने के पश्चात् भी मृत व्यक्ति को क्षुधा-पिपासा का अनुभव होता रहता है।

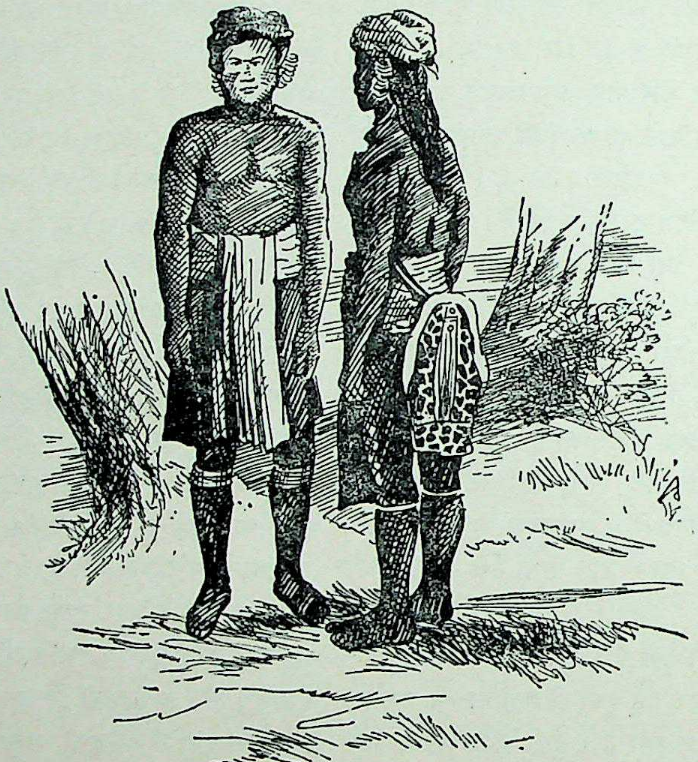

मलय जाति के पुरुष।

पेराँक के इलाके के ऊपरी भागों में जिन सेमांग लोगों की बस्तियाँ पाई जाती हैं, उनमें अब धीरे-धीरे सभ्यता का भी प्रसार होने लगा है। अब ये लोग खेती-बारी करना सीख गए हैं और फलों के पेड़-पौधे भी लगाने लगे हैं।

सकाई

मलाया प्रायद्वीप के आदिम निवासियों की तीसरी प्राचीन जाति सकाई के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी बस्तियाँ पेराँक के दक्षिणी भाग, सेलाँगोर और पेहाँग में अधिक पाई जाती हैं। ये लोग कालान्तर में मलय लोगों से इतने अधिक घुल-मिल गए हैं कि इनकी मौलिकता को पहचान पाना कठिन है। सकाई लोगों की जीवनचर्या का परिचय पाने के लिए, आइए, हम आपको इनकी बस्तियों में ले चलें।

इनकी बस्तियों की ओर जाने के कोई पथ-चिन्ह हमें नहीं दिखाई देते। सड़कें भी नहीं हैं। कोई सांकेतिक चिह्न भी नहीं हैं। गाँवों की झलक भी नहीं और न किसी पगडंडी का ही पता मिलता है। चारों ओर घना जंगल ही जंगल दृष्टिगोचर होता है। ऐसे में यदि किसी अकेले यात्री की किसी सकाई से मुठभेड़ हो जाय, तो उसे स्वागत की आशा नहीं रखनी चाहिए। सकाई शिकारियों के चोंगे—बाँस के फूँकनेवाले अस्त्र—से निकले हुए विषाक्त बाणों द्वारा कितने ही अनजान बटोही अतीत में अपने प्राण गँवा चुके हैं! उनकी बस्तियों में अनाधिकार प्रवेश करना मानो मृत्यु को आमंत्रण देना है! बाहरी दुनिया के व्यक्तियों से—विशेषतया गोरी चमड़ीवालों से—सकाई बहुत शंकित रहते हैं। यह पिछले वर्षों के कटु अनुभव का ही परिणाम है।

लीजिए, अब हम 'ईपाह' के निकट पहुँच रहे हैं। ज्योंही जंगल से निकलकर हम सड़क पर आते हैं, एक वृद्ध पुरुष दिखाई देता है। उसकी चाल पर ध्यान दीजिए—किस प्रकार चोरों की तरह वह लुकता-छिपता चला जा रहा है! जान पड़ता है, उसे हमारे पैरों की आहट सुनाई पड़ गई! लो, उसने घूमकर हमारी ओर देखा! वह कुछ ठिठका और जंगल की ओर मुड़ गया! वह देखो उसके दुबले-पतले पैर जंगली झाड़ियों में से उचकते-फाँदते दिखाई दे रहे हैं! वह भागा जा रहा है। उसे इतना विराग क्यों? मानव से मानव को इतना भय क्यों होना चाहिए? आगे चलिए! रास्ते के दोनों ओर बाँस के वृक्षों की पंक्तियाँ खड़ी हैं। उनके सिरे आपस में गले मिल रहे हैं। रास्ते पर भी बाँस की भूरी-पीली पत्तियाँ बिछी पड़ी हैं। कुछ दूरी पर पथरीली पहाड़ियाँ अपनी उष्ण श्वासें फेंकती हुई खड़ी दिखाई देती हैं। लीजिए, नाला आ गया! इस पर पुल नहीं है। कपड़े समेटकर हम इसको पार करेंगे। पैर सम्हालकर रखिएगा, क्योंकि पानी के नीचे चिकनी चट्टानें हैं, जिन पर पैर अनायास ही फिसल जाते हैं! अब हम पुनः जंगल में प्रवेश करते हैं। आगे दो पहाड़ियों के बीच में रस्सों का एक पुल बना हुआ है। पुल के नीचे कितना भयानक गर्त दिखाई दे रहा है। पुल पर चलते हुए डर लगता है!

सकाई लोगों की बस्तियाँ विचित्र होती हैं। प्रत्येक घर एक किले के समान दिखाई पड़ता है। छोटे से मैदान में बाँस और पत्तियों का वह किलेनुमा झोपड़ा निराली छटा दरसाता है। उसमें सकाई जाति का एक सरदार या मुखिया रहता है। बस्ती में प्रवेश करने के पहले इससे अनुमति लेना आवश्यक है। चलिए, पूछताछ करें ! मुखिया घर पर नहीं है, किसी काम से जंगल में गया हुआ है। घर में केवल स्त्रियाँ हैं। हमारे आगमन से वे शंकित और भयभीत दिखाई देती हैं। हमारे कहने पर वे आदमियों को पुकार रही हैं। अपने बच्चों को गोद में उठाकर वे भीतर चली गईं। मुखिया की लड़की एक बच्चे को गोद में लिए सम्भवतः अपने पिता को बुलाने उस ओर गई है।

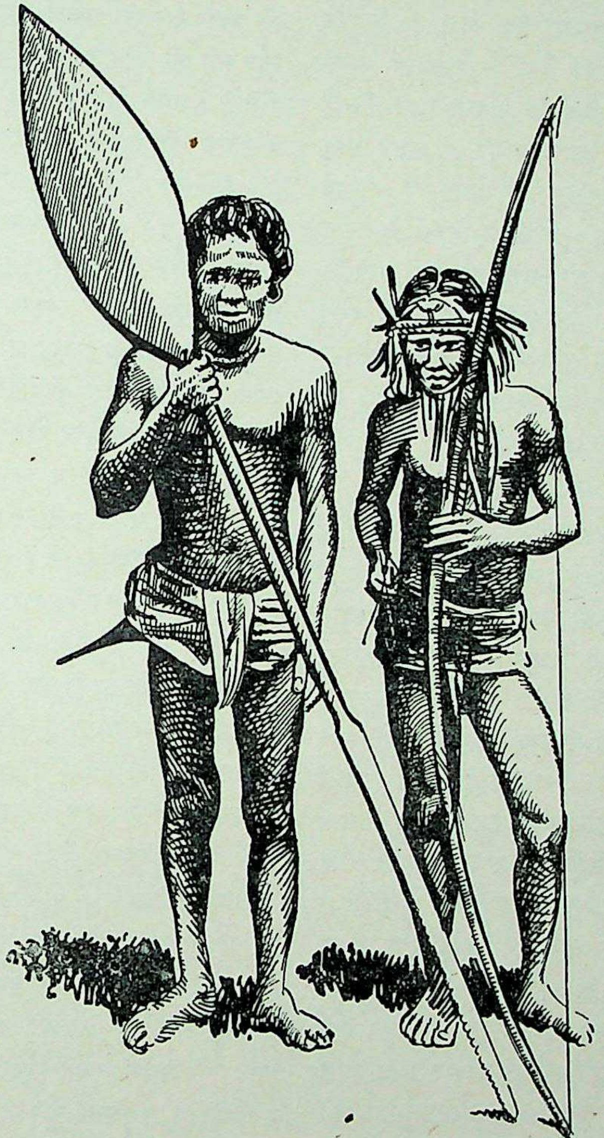

सकाई जाति के शिकारी।

आइए, अब हम लोग बैठें। बाँस का यह झोंपड़ा लट्ठों के मचान पर बना हुआ है। लट्ठे चार-पाँच फीट से अधिक ऊँचे नहीं हैं। झोपड़ों के नीचे का भाग किस काम आता है ? वह देखिए, मछलियाँ पकड़ने का जाल नीचे पड़ा हुआ है ! मुर्गियाँ और उनके बच्चे वहीं चुगते फिर रहे हैं। झोपड़े की बनावट भद्दी किन्तु साफ है। उसमें प्रवेश के लिए लट्ठों की ही सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। भीतर देखिए--एक लकड़ी का बेडौल कुन्दा रखा है, जो मोढ़े या कुर्सी का काम देता है। फर्श पर बाँस की खपाचों की बनी हुई चटाई बिछी है। दीवारें भी बाँस की चटाइयों की बनी हुई हैं। फर्श और दीवारों से प्रकाश छनकर भीतर आ रहा है। दोनों पाँखों में खिड़कियाँ हैं, जिनसे हवा आ रही है। वह देखिए--कोने में बाँस का चोंगा और बाणों का तरकस रखा हुआ है। शिकार करने का इनका यही मुख्य साधन है। तीर बाँस के बने हैं। उनके सिरे आग में जलाकर नोकीले बना लिए गए हैं। नोक के सिरे पर जहर लगा है। काली नोकवाले तीर पक्षियों और पशुओं के शिकार के काम आते हैं। जिन तीरों की नोक भूरे रंग की है, वे सहज ही मनुष्य के प्राण ले सकते हैं, कारण वे भयानक विष में बुझाए हुए हैं।

लीजिए, सकाई सरदार तशरीफ ले आए ! इनका नाम बड़ा अजीब-सा है--पेंघुलू बेसर पिगंग ! हँसिए नहीं, यह सरदार हैं ! सकाई लोगों की पंचायत द्वारा नियमानुसार चुना हुआ मुखिया ! आपको आश्चर्य क्यों है ? क्या आपको आशा थी कि मुखिया रोबीला, भड़कीले वस्त्र-आभूषण पहने, कोई लम्ब-तड़ंग, मालदार व्यक्ति होगा ? सच मानिए, सकाई लोगों के पास धन या पैसा कहलानेवाली वस्तु होती ही नहीं। इस बेचारे के घर में भी कोई विशेषता नहीं है। औरों के घर जैसा इसका भी घर है, वैसी ही इसकी रहन-सहन भी है। फिर कपड़े-लत्तों का सवाल ही कहाँ उठता है ? बेचारा एक पतली-सी लँगोटी लगाए हुए है। वृद्ध है, अतएव इसे अधिक वस्त्रों की आवश्यकता भी नहीं। नवयुवक प्रायः सूती कमीज-सी पहने रहते हैं, जो काँटों की खरोंच और जहरीले कीड़ों से उनके शरीर की रक्षा करती है। मुखिया की आयु पचास

वर्ष से ऊपर ही होगी। शरीर की दशा देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि अब इसे अधिक दिनों इस संसार में नहीं रहना है। इन लोगों की आयु का औसत ही ४०-५० वर्ष ह।

मुखिया ने आकर न तो हमारा आदर-सत्कार किया, और न कुछ कहा। वह हमारे सामने फर्श पर बैठ गया। हमने उसे सिगरेट और दियासलाई पेश की। वह सिगरेट सुलगाकर पीने लगा। अब उसके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट आ गई। पूछने पर पता चला कि मुखिया के दो पत्नियाँ हैं और कई बच्चे। अपने घर से थोड़ी दूर पर उसने रबड़ के कुछ पेड़ लगा रखे हैं। वही उसकी कमाई के साधन हैं। रबड़ के पेड़ों का जमा दूध बहुत सस्ता बिकता है, परन्तु सरकारी कूपन प्राप्त करनेवाले को अच्छे दाम मिल जाते हैं। मुखिया चीनी दलालों के द्वारा सरकारी कूपन प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा था। हमारे विदा होने पर मुखिया थोड़ी दूर तक हमें पहुँचाने को साथ-साथ आया। इस प्रकार मलाया की इस विचित्र आदिम जाति की एक झाँकी हमने पाई!

मलाया प्रायद्वीप की आदिम जातियों में सकाई लोगों की प्राचीनता स्पष्ट है। उनकी बोली में कुल तीन ही अक्षरों की प्रधानता जान पड़ती है। उन्हें न तो अतीत का ज्ञान है और न भविष्य की चिन्ता है। धन और पैसा उनके पास नाम को भी नहीं। उनका घर भी एक अस्थायी सम्पत्ति होती है, क्योंकि उसमें भी एक दो वर्ष से अधिक वे नहीं टिकते। वे अधिकतर घर से बाहर ही रहते हैं। सकाई लोगों की प्राचीनता का एक उदाहरण इस बात में मिलता है कि वे एकदम आदिम तरीके से वृक्ष लगाते और खेती करते हैं। साधारणतया किसी पहाड़ी के किनारे थोड़ी जगह लेकर उसे आधी दूर तक वे साफ कर लेते हैं और आधी जगह खोद डालते हैं। जब वसन्त ऋतु का आगमन होता है, तब वे बीज बोकर उनको मिट्टी से ढक देते हैं। बीज बोने के अवसर पर परिवार के सभी व्यक्ति जुटकर काम करते हैं। ये लोग मकाई, कद्दू, खरबूजा, धान और साबूदाना की खेती करते हैं। समय आने पर फसल तैयार होती है, जिससे परिवार के पेट का सहारा हो जाता है। खेती के अलावा ये मछली और फल खाकर भी रहते हैं। मछलियों के अतिरिक्त पक्षियों और जंगली सुअर का शिकार उनकी क्षुधा-निवृत्ति का प्रमुख साधन है। भोजन करने का उनका कोई निश्चित समय नही होता। जिसे जब भूख लगती है, तभी वह खाना खा लेता है। प्रायः रात को सोते से उठकर भी सकाई भोजन करते पाए गए हैं।

सकाई लोगों के अनोखे रीति-रिवाज

लोगों ने सकाई स्त्रियों को जंगली जानवरों तक को अपना दूध पिलाते देखा है! उनसे बंदर और सुअर के बच्चे प्रायः बड़ी सरलता से हिल-मिल जाते हैं। पालतू जानवरों को मारकर खाना सकाई लोग बुरा समझते हैं। अपनी स्वतंत्रता की तरह पशुओं की स्वतंत्रता के भी वे पक्षपाती होते हैं। अगले दिन के काम अथवा मनोविनोद की योजनाएँ एक दिन पहले से वे बनाते और तदनुसार कार्य करते हैं। रात्रि के समय सकाई परिवार के लोग बीच में आग जलाकर चारों ओर एकत्र बैठते हैं कभी-कभी जी ऊबने पर वे नाच-गाकर अपना मनोरंजन भी करते हैं। उनमें प्राचीन संस्कारों और अन्ध-परम्पराओं का चलन है। फिर भी जैसी वैयक्तिक स्वतंत्रता सकाई जाति में पाई जाती है, वैसी अन्य आदिम जातियों में नहीं मिलती। बचपन से ही सकाई बालक-बालिकाएँ स्वेच्छाचारी होते हैं। इस स्वेच्छाचारिता की सीमा धीरे-धीरे दुर्व्यसन का रूप ले लेती है। पर बच्चों को न तो कभी दण्ड दिया जाता है और न वे पीटे जाते हैं। छोटे-बड़े सभी लोग पारिवारिक पंचायत के अधीन रहते हैं। ये पंचायतें प्रायः तीन बजे प्रातःकाल लगती हैं। पंचायत का कार्य समाप्त होने पर कोई मछली मारने चल देता है, कोई खेतों में काम करने जाता है, कोई अपनी प्रेयसी से प्रेमालाप करने के लिए प्रस्थान करता है—वस्तुतः किसी के लिए किसी प्रकार का बंधन नहीं है। इन लोगों में सोने का समय भी निश्चित नहीं है। दिन में या रात में, जब जिसका मन करे, तभी वह सो सकता है!

सकाई स्त्रियाँ अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन पर किसी भी प्रकार का पारिवारिक शासन नहीं होता। वे अपने जीवन-सहचर स्वयं खोज लेती हैं और जब तक जी चाहता है, वे उसके साथ रहती हैं। सकाई जाति में विवाह या पाणिग्रहण-संस्कार का कोई नियम नहीं है। जब कोई पुरुष किसी स्त्री को घर बिठा लेता है, तो वह मात्र इसकी सूचना बस्ती के सब लोगों को दे देता है। बस, सब एकत्र होकर नाचते-गाते और आनन्द मनाने लगते हैं। यदि विवाह करनेवाले की स्थिति अच्छी हुई, तो भोज आदि की भी व्यवस्था वह कर देता है। प्रत्येक सकाई पुरुष अपनी स्त्री को अपने ही लिए रखता है और इस विषय में वह काफी सतर्क रहता है। लेकिन घर आए हुए किसी मेहमान की खातिर करने के लिए वह अपनी स्त्री को नियुक्त करना बुरा नहीं समझता! सकाई स्त्रियाँ जी चाहे जहाँ

आएँ-जाएँ, उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। अनुमान किया जाता है कि स्वभावतः उनमें एक पति को छोड़कर दूसरे को, फिर तीसरे तक को अपनाने की प्रवृत्ति होती है। कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं, जो सार्वजनिक समझी जाती हैं।

सकाई लोगों का धर्म क्या है, इसका कुछ पता नहीं चलता। किसी पत्थर की बड़ी चट्टान को देखकर ही वे डरते और दूर भागते हैं। उनको आशंका होती है कि उसमें कोई दुष्ट प्रेतात्मा निवास न करती हो। रोग का कारण दुष्ट प्रेतात्माओं का कोप ही समझा जाता है। रोगी व्यक्ति को सकाई एक अकेले घर में रख देते हैं और कुछ निश्चित दिनों तक उसे बाहर नहीं आने दिया जाता। उनके झोपड़ों की छतों से विचित्र आकार की टोने-टोटके की वस्तुएँ लटकती दिखाई देती हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से घर में रोग का आगमन नहीं होता। सकाइयों की कुछ जातियों में 'शमन' या पुजारी भी होते हैं। इन लोगों में परस्पर या अन्य जातियों से युद्ध करने के अवसर बहुत कम आते हैं। ये स्वभाव से ही शान्तिप्रिय हैं। इन्हें सरकार से जो भूमि मिल गई है, उसी पर ये रहते हैं। प्रायः दूसरी जातिवाले सतृष्ण दृष्टि से उनकी भूमि को देखा करते हैं। मलय जाति के लोग, जिनकी आबादी सकाइयों के चारों ओर फैली हुई है, छल-कपट, मुकदमेबाजी और जबर्दस्ती से उनको मुसलमान बनाने की चेष्टा करते आए हैं। परन्तु सकाइयों ने सदैव उनका विरोध किया है। वे मलय या अँगरेज किसी को नहीं चाहते। वे ऐसे व्यक्तियों से कोई सम्पर्क रखना नहीं चाहते, जो उनकी भूमि को हड़पने की चेष्टा करे। जंगल ही उनका सब कुछ है--उसी से उनको भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधाएँ प्राप्त हैं। वे अन्य जातिवालों के मातहत सैनिक बनना भी पसंद नहीं करते। सकाई अपना इलाका छोड़कर अन्यत्र जाना नहीं चाहते। पृथकता ही पर उनका अस्तित्व निर्भर है, जिसे वे प्राणों से बढ़कर मूल्यवान् समझते हैं। प्रश्न उठता है कि वे किस लिए ऐसे हो गए हैं? संभवतः उनको बाहरी दुनिया के कटु अनुभवों से शिक्षा मिल चुकी है। सम्भवतः दूसरी जातियों की नीच मनोवृत्तियों का परिचय वे पा चुके हैं। इसीलिए सभ्यता के तथाकथित वरदान से वे यथाशक्ति दूर ही रहना चाहते हैं।

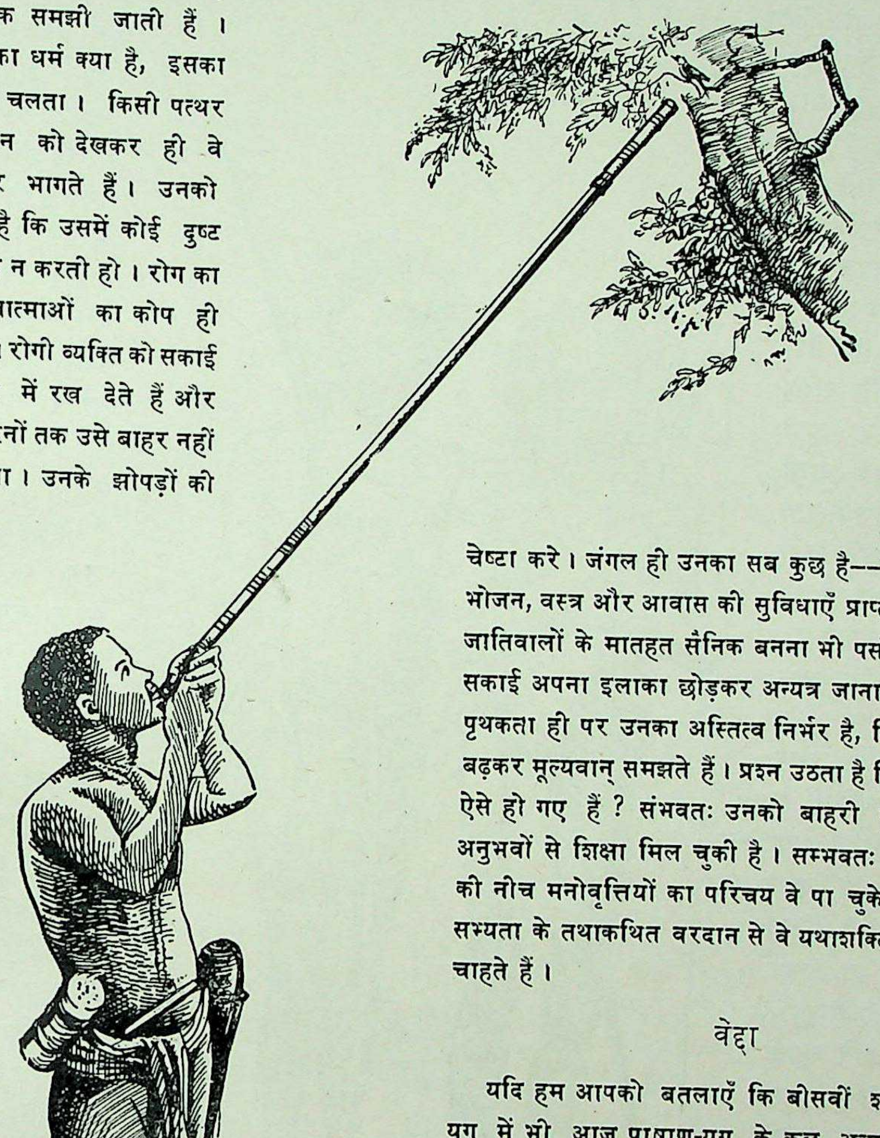

एक सकाई शिकारी अपने बाँस के अनूठे चोंगे से फूँक मारकर चिड़िया का शिकार कर रहा है।

वेद्दा

यदि हम आपको बतलाएँ कि बीसवीं शताब्दी के इस युग में भी आज पाषाण-युग के कुछ अन्यतम प्रतिनिधि इस पृथ्वी पर जीवित हैं, तो आपको कदापि विश्वास न होगा। परन्तु सच मानिए, लंका या सीलोन में वास्तव में आज भी ऐसे मनुष्यों की बस्तियाँ कहीं-कहीं मौजूद हैं, जो सभ्यता से कोसों दूर रहकर अपने अत्यन्त प्राचीन रीति-रिवाजों, संस्कारों और परम्पराओं को अपनाए हुए कालयापन कर रहे हैं। ये लोग 'वेद्दा' जाति के मनुष्य हैं और इन्हें लंका के सब से प्राचीन निवासी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है। इनका जंगली जीवन ही इनके आत्म-संतोष का मुख्य कारण है। सभ्यता के पथ पर पग धरने की इन्होंने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कभी कल्पना तक नहीं की है। इनके बदन पर एक छाल-सी लँगोटी के सिवा लज्जा-निवारण का अन्य कोई साधन नहीं होता। अपने पुराने ढंग के धनुष-बाण से शिकार करना ही इनकी एकमात्र आजीविका है। वेद्दा लोगों की आवासभूमि की लम्बाई ९० मील और चौड़ाई लगभग ४५ मील है। इनकी बस्तियाँ लंका के उत्तर-पूर्वी प्रदेशों और जंगली इलाकों में फैली हुई हैं। उनके इस निवासप्रदेश का विस्तार समुद्र-तट तक है। अनुमान है कि वेद्दा लोगों की उत्पत्ति द्रविड़ जातियों से है, जो आर्यों के आगमन से पूर्व भारत और उसके दक्षिण में बसी हुई थीं। वेद्दा जाति के दो वर्ग हैं—एक कृष्णवर्ण, जो 'जंगली वेद्दा' कहलाते हैं; दूसरे 'गण' अथवा अर्ध-सभ्य 'ग्रामीण वेद्दा'। वेद्दा लोगों की बोली अन्य जातियों की बोलियों से सर्वथा निराली है। वह सिंहली भाषा से बहुत मिलती-जुलती है, किन्तु उसमें संस्कृत या प्राकृत भाषा की छाप नहीं है।

वेद्दा जातिवाले पहाड़ी कन्दराओं, गुफाओं, पुराने वृक्षों के कोटरों अथवा छाल के बने झोपड़ों में रहते हैं। सिंहली भाषा में उनके झोपड़ों को 'रुकुला' कहा जाता है। ये लोग अन्य जातियों के सम्पर्क में आना पसन्द नहीं करते। ग्रामों में रहनेवाले वेद्दा भी, जो अब थोड़े-बहुत सभ्य हो चुके हैं, बाहरी लोगों से उतना ही मेल-जोल रखते हैं, जितना कि उनको आवश्यक प्रतीत होता है। वे जाति के बाहर विवाह-सम्बन्ध नहीं करते। इतना ही नहीं बल्कि ग्रामीण वेद्दा और जंगल के रहनेवाले वेद्दा भी परस्पर कभी शादी-ब्याह का संबंध नहीं करते। वेद्दा लोग सरल स्वभाव के, बाहरी दुनिया के प्रति शर्मीले और सादे रहन-सहनवाले होते हैं। शिकार ही उनका मुख्य उद्यम होता है, जिसके लिए वे धनुष-बाण और लाठी का उपयोग करते हैं। वे जंगलों में प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान तक फिरते रहते हैं, क्योंकि जहाँ शिकार की प्रचुरता हो, वहीं उनका निर्वाह हो सकता है। वे धनुष को हाथ-पैर दोनों की सहायता से चलाते हैं। ये धनुष लचीली लकड़ी के बने होते हैं। इनमें लकड़ी के पतले बाण, जिनके सिरे पर लोहे का फल लगा होता है, काम आते हैं। अपनी लाठी के सिरे पर ये लोग लोहा या पत्थर लगाते हैं, जिसकी चोट बड़ी सांघातिक होती है। निशाना लगाने में वेद्दा लोग बड़े कुशल होते हैं।

पशु-पक्षियों के शिकार के अतिरिक्त वेद्दा पोखरों और तालाबों के जल में जहर मिलाकर मछलियाँ भी मार लेते हैं। वे जंगली मधुमक्खियों के छत्तों से शहद निकालते और बड़े चाव से उसे खाते हैं। जंगल में पाए जानेवाले कन्द-मूल तथा फल भी उनके आहार हैं। ये लोग एक प्रकार से सर्वभक्षी हैं, कारण चमगादड़, कौए, उल्लू, चील आदि सभी कुछ को वे मारकर खा जाते हैं। रीछ, हाथी और भैंसा, यही तीन जीवधारी ऐसे हैं, जिनको वे आहार नहीं बनाते। ये लोग पशु-पक्षियों के मांस को बहुत दिनों तक ताजा रखने की

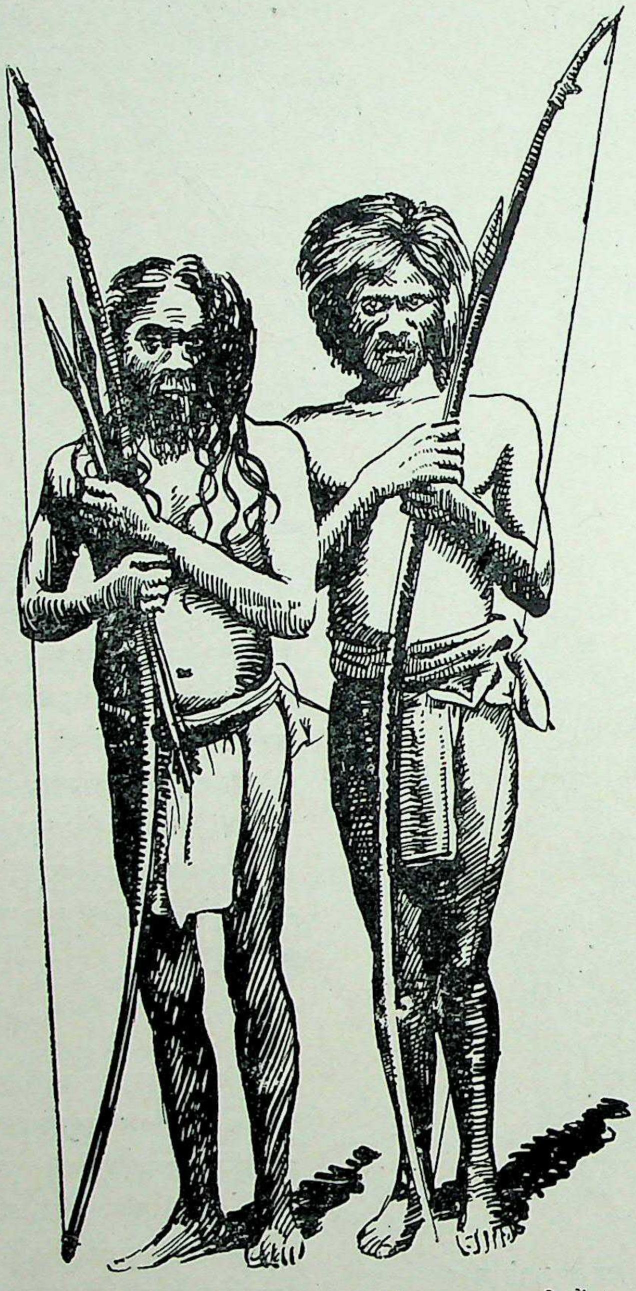

वेद्दा शिकारी, जिनके मुख्य शस्त्र ये धनुष-बाण ही हैं।

युक्ति भी जानते हैं। प्रायः किसी वृक्ष के तने को भीतर से खोखला करके उसमें मांस रख दिया जाता है और उसके ऊपर शहद भर दिया जाता है। फिर चिकनी मिट्टी की तह लगाकर तने का मुँह बिल्कुल बंद कर देते हैं। इस प्रकार रखा गया मांस महीनों खराब नहीं होता और आवश्यकता के समय उसे निकालकर ये लोग उससे क्षुधा-निवारण करते हैं। वेद्दा मांस को आग में भूनकर खाते हैं। उन्हें गिलहरी, गिरगिट और बंदरों का भुना हुआ मांस बहुत ही प्रिय होता है। वे शिकारी कुत्ते भी पालते हैं और उनसे काम लेते हैं। जंगली हाथियों को वे बड़ी युक्ति से पकड़ते और उन्हें पालतू बना लेते हैं। जंगली वेद्दा लोगों के शरीर का रंग काला होता है। उनकी नाक चपटी और सिर छोटा होता है। उनके केश पीठ पर लटकते हैं और उलझे होते हैं। उनकी मूँछें और दाढ़ियाँ भी लम्बी और घनी होती हैं, जिनको वे भी छाँटते नहीं और स्वाभाविक रूप से बढ़ने देते हैं। वेद्दा लोगों की आकृति आम तौर से भद्दी और बदसूरत होती है। उनका कद नाटा होता है। पाँच फीट से ऊँचा व्यक्ति उनमें बिरला ही कोई होगा। पर उनका शरीर छरहरा और गठा हुआ होता है। स्त्रियाँ भी पुरुषों-जैसी कुरूप होती हैं और प्रायः नग्न रहती हैं। इनके बच्चे बहुत ही दुबले-पतले और कमजोर होते हैं।

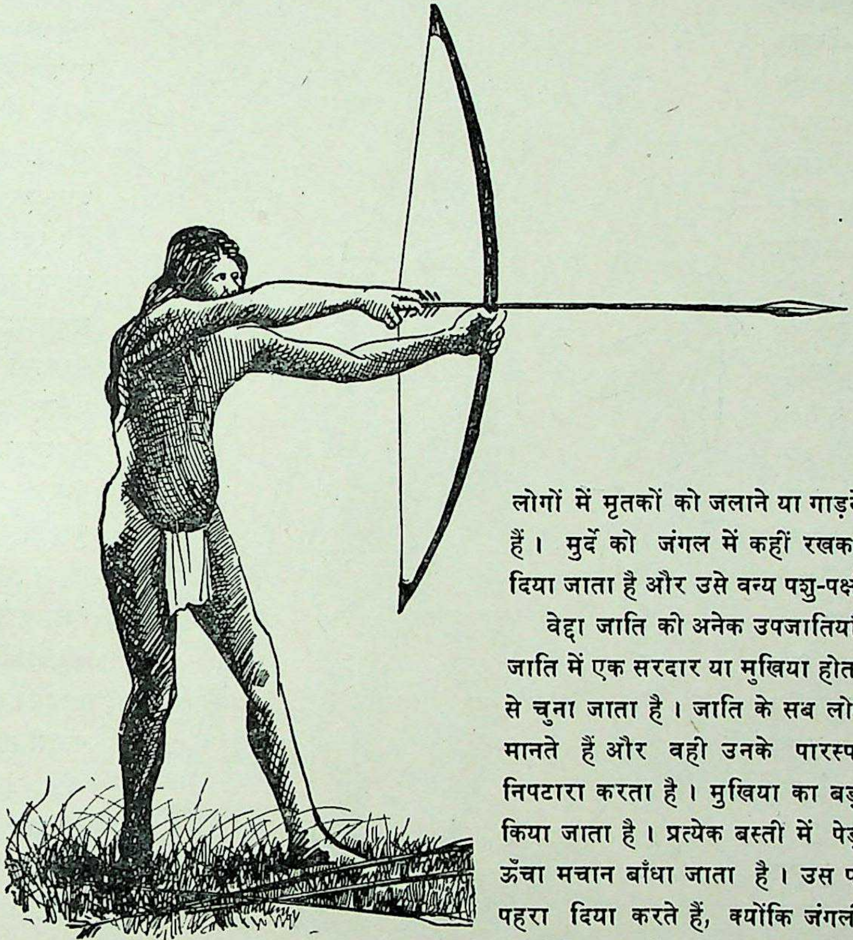

वेद्दा शिकारी अपना धनुष संधान कर रहा है।

पुरुष प्रायः कपड़े का एक छोटा-सा लँगोटीनुमा टुकड़ा पहनते हैं, जिसका एक छोर सामने लटकता रहता है। उस कपड़े का दूसरा छोर कमर में बँधी मूँज की मेखला में पीछे की ओर लिपटा रहता है। इससे अधिक वस्त्र ये नहीं पहनते।

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, वेद्दा अधिकांश में मूर्तिपूजक होते हैं। वे अपने पितरों, भूतप्रेतों, नक्षत्रों और कुछ विचित्र देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे अवसरों पर वे एकत्र होकर नाचते तथा जोर-जोर से चिल्लाते हैं। उनका विश्वास है कि इस कार्य से दुष्ट प्रेतात्माएँ भाग जाती हैं और स्वर्गीय पितरों को तंग नहीं करतीं। वेद्दा लोगों में मृतकों को जलाने या गाड़ने का नियम नहीं हैं। मुर्दे को जंगल में कहीं रखकर पत्तियों से ढक दिया जाता है और उसे वन्य पशु-पक्षी खा जाते हैं।

वेद्दा जाति की अनेक उपजातियाँ हैं। प्रत्येक उपजाति में एक सरदार या मुखिया होता है, जो बहुमत से चुना जाता है। जाति के सब लोग उसका शासन मानते हैं और वही उनके पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करता है। मुखिया का बड़ा आदर-सम्मान किया जाता है। प्रत्येक बस्ती में पेड़ के ऊपर एक ऊँचा मचान बाँधा जाता है। उस पर बैठकर लोग पहरा दिया करते हैं, क्योंकि जंगली हाथियों तथा अन्य हिंस्र पशुओं का उनके प्रदेश में बड़ा भय रहता है। रीछ से ये लोग बहुत डरते हैं और उसके प्रति सावधान रहते हैं, क्योंकि वह प्रायः उनके एकत्र किए हुए शहद को खा जाता है। वेद्दा लोग क्रय-विक्रय में रुपए-पैसे का व्यवहार नहीं करते। वे व्यापारियों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदकर बदले में मधुमक्खियों का मोम, हिरण की खाल और सींग आदि दे देते हैं। हाँ, गाँवों में रहनेवाले अर्धसभ्य वेद्दा खेती-बारी करते हैं तथा अन्य व्यवसायियों से सम्बन्ध रखते हैं। समय के साथ-साथ उनका रहन-सहन अब काफी परिष्कृत हो चुका है।

फारमोसा के आदिवासी

सोलहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों की बात है। कुछ पोर्चुगीच नाविकों ने, जो साहस करके चीन-सागर में भ्रमण कर रहे थे, चीन के मुख्य भूभाग से लगभग सौ मील की दूरी पर एक बड़ा सुन्दर टापू देखा। उस टापू के घने जंगलों और एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई गगनचुंबी पर्वतमालाओं का अद्वितीय प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर उन लोगों ने उसे 'इल्हा फारमोसा' या 'सुन्दर द्वीप' का नाम दे दिया। 'फारमोसा' सचमुच प्राकृतिक सौन्दर्य में अपना सानी नहीं रखता। उसके हरे-भरे सुहावने जंगलों, दूध जैसे सफेद पहाड़ी झरनों और मनोरम घाटियों को धूप में चमकते देखकर दर्शक अपने को भूल जाता है। उन्हीं घाटियों में छोटे-छोटे मैदानों के बीच में मनुष्यों की बस्तियाँ बसी हुई दिखाई देती हैं। इस २५० मील लम्बे और ८० मील चौड़े द्वीप पर पोर्चुगीच लोगों के बाद तीन राष्ट्र हुकूमत कर चुके हैं। सन् १६२३ ई० में डच लोगों ने वहाँ अपना उपनिवेश बनाकर एक दुर्ग स्थापित किया, किन्तु १६६२ ई० में उनको चीनवालों ने वहाँ से निकाल भगाया। तब से फारमोसा चीनी लोगों के अधिकार में रहा। तदन्तर १८९४-१८९५ ई० के चीन-जापान-युद्ध में यह द्वीप जापानियों के हाथों में चला गया और तब से वहाँ उन्हीं का राज्य रहा। पर विगत महायुद्ध के बाद से वहाँ पुनः चीन का आधिपत्य हो गया। अब वहाँ चाङकाईशेक की राष्ट्रवादी चीनी सरकार का केन्द्र स्थापित है। फारमोसा में मुख्यतः जापानियों और फारमोसावासियों की आबादी है, जिनमें वहाँ के कुछ आदिम निवासी जंगली लोग भी हैं। इन जंगली जातियों में नरघातकों की भी एक उपजाति है, जिसकी सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार ही नरमुण्डों का आखेट है! द्वीप के कुछ अज्ञात और अपरिचित स्थानों में ऐसी नरघातक जातियों की अनेक बस्तियाँ हैं। उनमें राष्ट्रीयता अथवा समाज-संगठन की व्यवस्था का सर्वथा अभाव है और वे हमेशा एक-दूसरे से युद्ध करती रहती हैं। ये लोग अपने झोपड़े बाँसों से बनाते हैं जिनकी छतें घास-फूस से ढकी रहती हैं। एक विशेष प्रकार के झोपड़े बल्लियाँ गाड़कर मचान की तरह धरती से काफी ऊँचाई पर भी बनाए जाते हैं। इन मचाननुमा घरों में नवदम्पति रहा करते हैं। कुछ लोग धरती के नीचे भी घर बनाकर रहते हैं। ऐसे घरों में पास की पहाड़ियों में अधिकता से मिलनेवाली स्लेट की पतली तख्तियाँ लाकर ये लोग उनसे उनकी फर्श को पाट लेते हैं।

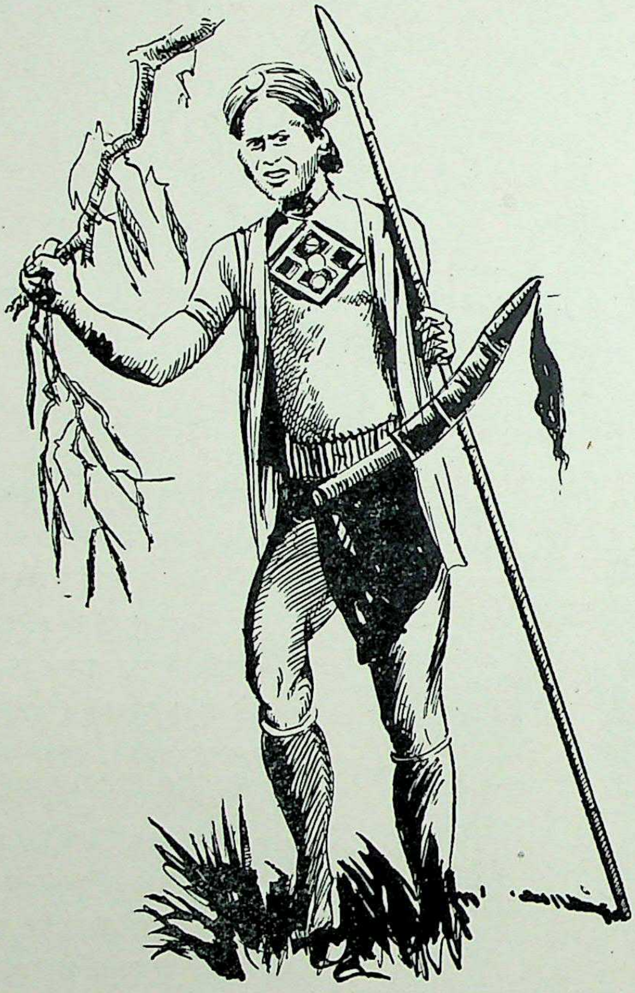

फारमोसा की आदिम जंगली जाति का एक सदस्य।

फारमोसा के इन जंगलियों का मुख्य पेशा कपड़ा बुनना है और इस विषय में उनकी स्त्रियाँ परस्पर काफी प्रतिद्वन्द्विता करती हैं। इन लोगों के बुने हुए कपड़ों के नमूने सचमुच बड़े सुन्दर होते हैं। इन लोगों की खाद्य-सामग्री चावल और बाजरा है। इनके अतिरिक्त वे शिकार में मारे हुए या पकड़े हुए जंगली जानवरों का मांस भी बड़ी रुचि से खाते हैं। वे बाजरे की खेती भी करते हैं। इनके अन्न के भांडार का प्रबन्ध स्त्रियों के हाथ में रहता है, जो प्रत्येक को आवश्यकतानुसार अनाज बाँटा करती हैं।

पारस्परिक व्यवहार में ये लोग बड़े ईमानदार और अतिथि-सत्कार में हमेशा तत्पर रहते हैं। जब तक कोई भी अतिथि उनके घर में रहता है, वे उससे बड़ी सभ्यता से पेश आते हैं और उसके जान-माल की हर प्रकार से रक्षा करते हैं। अपने वचन का पालन करना ये लोग एक धार्मिक नियम समझते हैं, और उनमें विरला ही कोई होगा, जो अपना दिया हुआ वचन तोड़ता होगा। पर बौद्धिक दृष्टि से फारमोसा के ये जंगली बाशिन्दे निम्न स्तर के ही प्राणी हैं। इन लोगों का गिनती करने तक का ढंग आदिम और सीधा-सादा होता है। ये हाथ-पैर की उँगलियों ही से गिनती करते हैं और बीस की गिनती का स्वरूप उनकी समझ में एक आदमी होता है, क्योंकि आदमी के कुल मिलाकर बीस उँगलियाँ होती हैं! सौ की गिनती का मान वे पाँच आदमी के संकेत से कर लेते हैं। इन लोगों का मुख्य धर्म अपने पितरों की पूजा है। साथ ही 'वर्षा के देवता, की भी उपासना वे करते हैं। उनका विश्वास है कि मरने के बाद जीव को एक बहुत गहरे खड्ड के ऊपर दूर तक निर्मित एक पतले पुल को पार करना पड़ता है। जो व्यक्ति युद्ध में विजयी हुआ हो, अथवा जो अपनी जाति के लिए किसी प्रकार लाभदायक सिद्ध हो चुका हो, उसी का जीव उस पुल को पार करके स्वर्ग को जा सकता है। दूसरों के लिए उस पुल से फिसलकर गहरे खड्ड में गिरना अवश्यम्भावी है। यही इन लोगों के मत में नरक का मार्ग है।

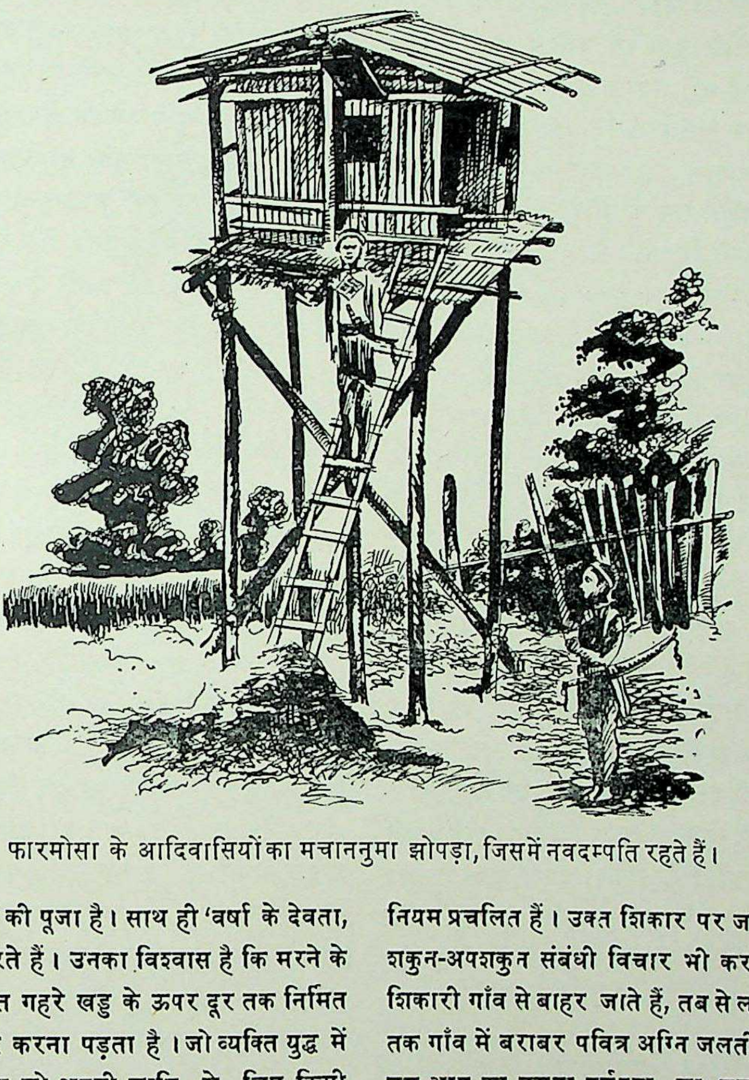

फारमोसा के आदिवासियों का मचाननुमा झोपड़ा, जिसमें नवदम्पति रहते हैं।

दुर्दिन, महामारी या अकाल आदि का प्रकोप होने पर इन लोगों के यहाँ एक रिवाज प्रचलित है, जिसके अनुसार कुछ चुने हुए व्यक्ति पहाड़ों की गुफाओं में जाकर गाते-बजाते तथा अभिचारी नृत्य करते हैं। उस गाने-बजाने की प्रतिध्वनि को ये देवताओं का आदेश समझते हैं।

फारमोसा के इन आदिवासियों में एक अत्यन्त गर्हित प्रथा है। उनमें शिकार में काटकर लाया गया मनुष्य का सिर सब से मूल्यवान् उपहार समझा जाता है। इनमें कोई भी पुरुष तब तक विवाह नहीं कर सकता, जब तक वह अपनी पत्नी को उपहार में ऐसी बहुत-सी मनुष्य की खोपड़ियाँ न दे सके। इसके अतिरिक्त किसी भी नए घर को ये लोग रहने योग्य नहीं समझते, यदि उसकी नींव में ऐसे नरमुण्ड काफी संख्या में न दफनाए गए हों। अपने घरों की दीवारों को भी चित्रों के बजाय ये लोग मारे हुए शत्रुओं की खोपड़ियों से सजाना ही शृंगार-वर्द्धक समझते हैं। इन लोगों में इस नरमुण्ड के शिकार-सम्बन्धी विचित्र नियम प्रचलित हैं। उक्त शिकार पर जाने के पहिले शिकारी शकुन-अपशकुन संबंधी विचार भी करते हैं। जिस घड़ी से शिकारी गाँव से बाहर जाते हैं, तब से लगाकर उनकी वापसी तक गाँव में बराबर पवित्र अग्नि जलती हुई रखी जाती है। उस आग का बुझना दुर्घटना का सूचक समझा जाता है। शिकारियों के प्रवास की दशा में गाँव में कपड़ों की बुनाई का काम बन्द रखा जाता है और उन दिनों सन या सूत भी तैयार नहीं किया जाता। यदि शिकारियों की यात्रा सफल होती है, तो गाँव में बड़ा आनन्द मनाया जाता है। एक गोल घेरे के बीच में शिकार में मारकर लाए गए नरमुंड सजाकर रखे जाते हैं। उनके मुँह में भोजन का ग्रास रखा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जाता है और सारी रात सब लोग घूम-घूमकर उनके चारों ओर कोलाहल मचाकर नाचते हैं। विजयी शिकारियों के मुँह पर एक विशेष प्रकार के गोदने के चिह्न रहते हैं। जिस लड़के का पिता विजयी शिकारी रहा हो, उसे भी ऐसे गोदने के चिह्न धारण करने का अधिकार रहता है और उसे अपनी उस पैतृक ख्याति को अक्षुण्ण रखने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इन लोगों में सयाने लड़कों और नवयुवकों का जीवन कठिन शासन में बीतता है। वे गाँव से दूर एक अलग झोपड़े में रखे जाते हैं और सामाजिक सम्पर्क में तब तक नहीं लाए जाते, जब तक वे अपनी वीरता का प्रमाण देकर विवाह न कर लें। यद्यपि द्वीप की शासन-संबंधी कठोर व्यवस्था के कारण अब इन जंगली लोगों को अपनी इस गर्हित रस्म की अदायगी के लिए उतनी सुविधाएँ नहीं मिल पातीं, जितनी कभी उन्हें प्राप्त थीं, फिर भी यदा-कदा वे चोरी-छिपे अपनी इच्छापूर्ति कर लेते हैं।

इन लोगों की विवाह-सम्बन्धी रस्में भी बड़ी अजीब होती हैं। जब इनमें कोई युवक विवाह करना चाहता है, तो वह लकड़ी का एक बोझ लेकर अपनी प्रेयसी के घर के द्वार पर छोड़ आता है। ऐसा वह नित्य करता रहता है, जब तक कि ऐसे बीस बोझ इकट्ठा नहीं हो जाते। आखिरी दिन सबेरे जाकर वह उन बोझों को देखता है। यदि लकड़ी स्वीकार कर ली गई, तो उसे विश्वास होता है कि उसकी सगाई पक्की हो गई और इसके बाद विवाह की तैयारियाँ होने लगती हैं। विवाह के समय वर और वधू जमीन पर झोपड़े की दीवार से सटकर बैठते हैं। इसके बाद नृत्य होता है तथा और भी बहुत-सी रस्में अदा की जाती हैं। फिर वर और वधू की टाँगों में छुरे से हलके घाव करके उनका रक्त एक में मिला दिया जाता है! इसके बाद उनको पति-पत्नी के रूप में एकत्व की मर्यादा का अधिकार मिलता है। विवाह-कार्य की समाप्ति पर पुनः नृत्य होता है और भोज दिया जाता है, जिसमें दोनों पक्ष के लोग उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते हैं।

न्यूजीलैण्ड के मावरी

कई हजार वर्ष बीते दक्षिणी समुद्रों के किसी द्वीप में 'मावी' नामक एक वीर पुरुष अपने पराक्रम और शौर्य्य के लिए प्रसिद्ध हुआ। वह बड़ा साहसी था और अपने बन्धु-बान्धवों के साथ नावों में बैठकर प्रायः समुद्रों में घूमता रहता था। उसके पास मछली पकड़ने का एक जादू का काँटा था, जो उसके किसी प्राचीन पूर्वज के जबड़े की हड्डी का बना हुआ था, उसी से वह मछलियों का शिकार किया करता था। एक दिन मावी ने ज्योंही वह काँटा समुद्र के अगाध जल में फेंका, त्योंही वह तोंगानी के घर में जा फँसा। तोंगानी और कोई नहीं, मछलियों के देवता तोंगारो का पौत्र था। अब उस काँटे को खींचना कोई आसान काम नहीं था, क्योंकि उसमें मछली के स्थान पर पूरा एक घर फँसा हुआ था! फिर भी, मावी जैसे महाबली योद्धा को इससे अपनी ताकत आजमाने का अच्छा अवसर मिला। मावी के बन्धु-बान्धव समुद्र में भयंकर लहरें उठती देखकर भयभीत हो गए, किन्तु वह उस काँटे की रस्सी खींचता ही चला गया। अन्त में उसने काँटे के साथ न केवल तोंगानी का पूरा घर ही खींच लिया, वरन् वह सारी भूमि भी साथ-ही-साथ बाहर घसीट ली, जिस पर वह घर बना हुआ था! यही भूमि, जो आरम्भ में 'मावी की मछली' के नाम से प्रसिद्ध हुई आजकल पाश्चात्य लोगों की बोली में न्यूजीलैंड कहलाती है!

उपर्युक्त विचित्र लोकगाथा न्यूजीलैंड के मूल निवासियों में, जो 'मावरी' कहलाते हैं, आज भी दंतकथा के रूप में प्रसिद्ध है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी से उनमें उसका प्रचार चला आ रहा है। इसी के द्वारा वे अपने पूर्वजों की श्रेष्ठता का बखान करते हैं। मावरी लोग मावी को अपना राष्ट्रीय वीर मानते हैं और उसे वे अपना नेता एवं सरदार कहते हैं। उनके कथनानुसार मावी बड़ा जबरदस्त जादूगर भी था। उनके बड़े-बूढ़ों का कथन है कि मावी ने वृक्षों की जटाओं से बनी रस्सी से सूर्य को बाँध लिया था, जिससे उसकी चाल कम हो गई और दिन बड़े होने लगे! इसके अतिरिक्त प्रायः अपने झगड़ालू कुटुम्बियों को दण्ड देने के लिए अपना हाथ बढ़ाकर वह चन्द्रमा को ढँक लेता था, जिससे चारों ओर अँधेरा छा जाता था। इन लोगों में मावी के बारे में और भी बहुत-सी प्राचीन दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। उनसे यह पता चलता है कि मावी एक बार नौ नावें लेकर 'हवाँइकी' से आया था। उन्हीं नावों के नाम से स्थानीय नौ जातियों के नाम पड़े हैं। यह 'हवाँइकी' नामक स्थान कहाँ था, सो नहीं कहा जा सकता, किन्तु विद्वानों का मत है कि वह समोआ के निकट का कोई टापू रहा होगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि दक्षिणी समुद्रों के समोआ, ताहिती तथा अन्य द्वीपों में रहने वाली आदिम जातियों से मावरी लोगों का कभी संबंध अवश्य रहा होगा। मावरी जातिवाले उन्हीं लोगों की भाँति भूरे रंग के होते हैं तथा उनकी बोली भी समोआ, ताहिती आदि द्वीप के निवासियों की बोली से बहुत कम भिन्नता रखती है।

संसार की अन्य अनेक असभ्य और आदिम जंगली जातियों की भाँति मावरी लोगों में भी कभी नर-मांस खाने की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु धीरे-धीरे उसका लोप हो गया। मावरी लोग गोरी जातिवाले विदेशियों को 'पकेहा' कहते हैं। इन योरपवालों का उनके देश में आगमन होने पर ही नरमांस-भक्षण की प्रथा का उनमें अन्त हुआ और तभी से मावरी लोग क्रमशः सभ्यता के पथ पर बढ़ने लगे। पर अभी भी उन पर जंगली जातियों का काफी रंग चढ़ा हुआ है। वे अपने चेहरे और बदन पर गोदने द्वारा भयावने चित्र और आकृतियाँ बनवाते हैं। इस गोदने को वे लोग 'मोको' कहते हैं और यह कार्य पक्षियों की हड्डियों, शार्क मछली के दाँतों और पत्थर के नुकीले औजारों से सम्पन्न किया जाता है! प्रायः उनके बदन में गहरे-गहरे खाँचे काट दिये जाते हैं। गोदने की यह प्रथा बड़ी कष्टप्रद होती है, फिर भी मावरी जाति उसे शृंगार का साधन समझकर उसमें रुचि रखती है। गोदने के चिह्नों से ही इन लोगों का व्यक्तिगत और जातीय परिचय मिला करता है और फलतः समाज में वह एक आदरणीय अलंकार माना जाता है। सुना जाता है कि एक बार किसी मावरी सरदार ने एक आवश्यक प्रमाणपत्र पर हस्ताक्षर करने में अपने को असमर्थ पाकर उस जगह अपने निजी गोदने का चिह्न ही बना दिया था! यद्यपि इस गोदने की प्रथा का आजकल क्रमशः ह्रास हो रहा है, फिर भी वृद्ध मावरियों के चेहरे और बदन पर अभी भी काफी गोदने के निशान देखे जाते हैं। मावरी स्त्रियों में होठों और ठुड्डी पर गोदने के चिह्न होना बड़े सौन्दर्य की बात समझी जाती है।

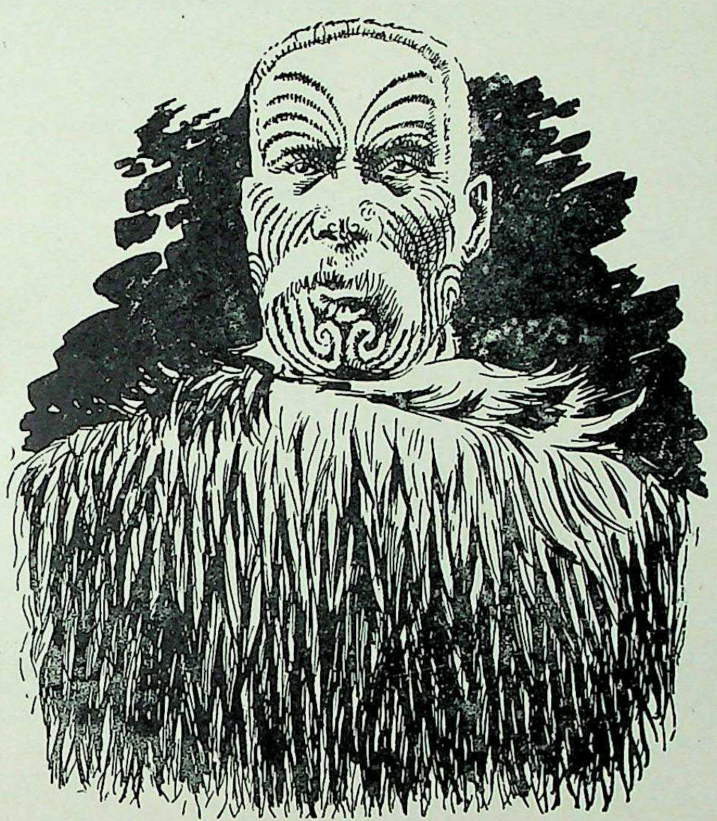

चेहरे पर गोदना गोदाए तथा अपनी प्राचीन झालरदार पोशाक पहने हुए एक मावरी सरदार की अद्भुत वेशभूषा।

मावरी लोगों की पोशाक भी बड़ी ही अद्भुत होती है। वृक्षों की जटाओं से बुना हुआ एक ऊँचा जाँघिया, जिसमें सामने की ओर लम्बी झालर लटकती रहती है, और कंधों से घुटनों तक का एक लम्बा चोगा, बस यही उनकी पोशाक है! उनका चोगा या लबादा 'किवी' तथा अन्य स्थानीय पक्षियों के परों का बना होता है। स्त्रियाँ भी ऐसे ही परों या जटाओं के रेशों का एक घाँघरानुमा लबादा पहनती हैं, जिससे ऐसा मालूम देता है, मानो वे एक घास की पूली को अपने बदन के आस-पास लपेटे हों! समय के प्रवाह में पड़कर मावरी लोग अपनी जातीय पोशाक छोड़कर अब कोट-पतलून, हैट और बूट आदि भी पहनने लगे हैं, फिर भी उनमें बहुतेरे ऐसे लोग हैं, जो प्राचीनता के पक्षपाती हैं। शताब्दियों पहले से ये लोग कपड़ा बुनने और लकड़ी पर चित्रकारी के लिए प्रसिद्ध रहे हैं, जिसके प्रमाण आज भी उनमें पाए जाते हैं। उनकी ये कलाएँ पीढ़ियों से चली आई हैं। उनके प्राचीन मंदिरों और मकानों के खम्भों पर बड़े सुन्दर चित्र बने हुए पाए जाते हैं, परन्तु नए जमाने के मावरी अपनी उस अमूल्य पैतृक सम्पत्ति को धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। अथक परिश्रम द्वारा अर्जित की हुई इनके पूर्वजों की वह कला-कीर्त्ति नए युग की सभ्यता के पैरों तले रौंदी जाकर लुप्त हो रही है।

मावरी लोगों का घर 'ह्वारे' कहलाता है और वह लकड़ी के लट्ठों का बना होता है। पुराने जमाने में इनकी हर जाति के अलग-अलग ढंग के घर होते थे। एक घर केवल सोने के लिए काम में आता था। उसमें पतावर की बनी हुई चटाइयाँ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और घास की छोटी-छोटी पीढ़ियाँ रहती थीं। उनके गाँवों के बाहर लट्ठों की बनी हुई सुदृढ़ चहारदीवारी होती थी, जिसे वे 'पाह' कहते थे। पहाड़ी बस्तियोंवाले मावरी ऊँचे-मचान बाँधकर उन पर पहरेदार रखते थे, जो सदा सतर्क रहकर दूर से आते हुए शत्रु को देखते ही गाँववालों को आत्मरक्षा के लिए तैयार होने का संकेत दे दिया करते थे, किन्तु अब ऐसी 'पाह' बहुत कम देखने में आती हैं।

मावरी जाति का गौरव उनके प्राचीन इतिहास में निहित है। किसी जमाने में यह एक शक्तिशाली, युद्धप्रिय और पराक्रमी जाति मानी जाती थी और तब उसकी संख्या लाखों की थी। परन्तु आज मावरी संख्या में केवल पचास हजार के लगभग हैं। उनकी तादाद क्षय आदि संक्रामक रोगों के फैलने से बहुत घट गई है। आज वे अपने पड़ोस की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं तथा नए युग की प्रगति में शीघ्रता से भाग ले रहे हैं। बहुत से मावरी युवक शिक्षा प्राप्त करके अपने देश के शासन-प्रबन्ध में ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर भी काम कर रहे हैं और बड़े कुशल कार्यकर्त्ता माने जाते हैं। सन् १८९६ की मनुष्य-गणना के बाद से मावरी लोगों की जन-संख्या धीरे-धीरे बढ़ने भी लगी है और लोगों का विश्वास है कि अब इस जाति का ह्रास न होगा, वरन् वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी।

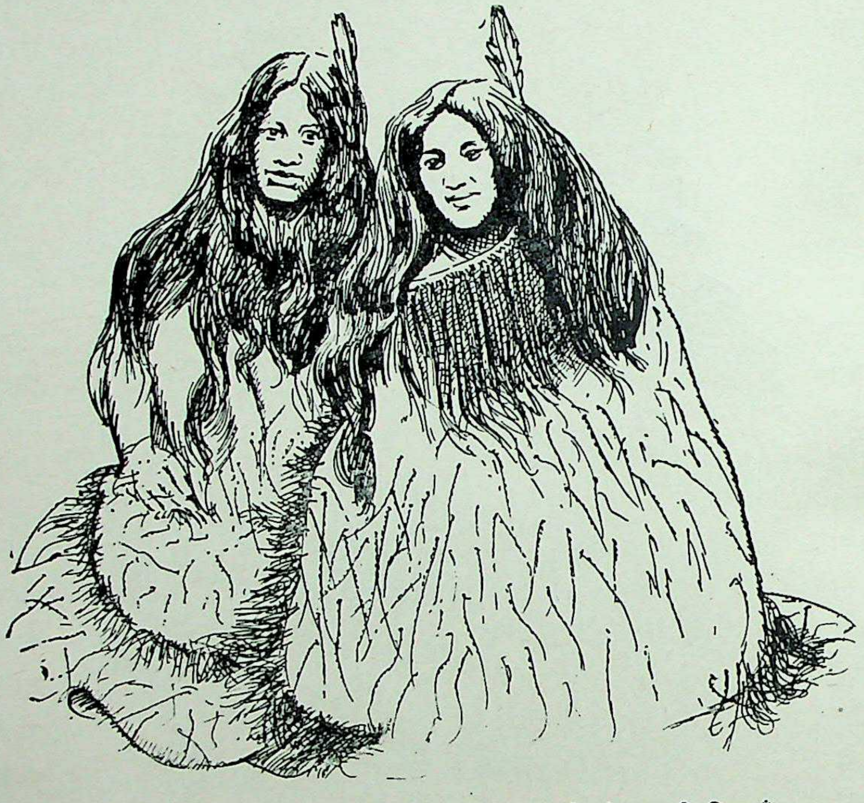

सन के रेशों से बना हुआ अपना विचित्र लबादा पहने दो मावरी स्त्रियाँ।

मावरी जन्म से ही युद्धप्रिय और शूर होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब विदेशियों ने उनकी भूमि पर अधिकार जमाकर उन पर अत्याचार शुरू किया, तो समस्त मावरी जाति उस अत्याचार के विरोध में उठ खड़ी हुई और दो बार ऐसा भयंकर संग्राम हुआ कि विदेशियों के छक्के छूट गए! युद्ध ही उनका मनोविनोद और रणभूमि ही उनका अखाड़ा है। अतः अपनी जातीय स्वतंत्रता के लिए प्राण देने में वे कभी पीछे नहीं हटते। पुराने जमाने में भी मावरी लोगों की युद्ध की नौकाएँ शत्रु के लिए बड़े भय की वस्तु मानी जाती थीं। ये नौकाएँ सरों के पेड़ों को काटकर बनाई जाती थीं, जो उस भूभाग में बहुतायत से पाए जाते हैं। उन पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। इन नावों को लाल रँगकर पक्षियों के परों तथा घोंघे, सीप आदि के छिलकों से सजाया जाता था। उनमें सामने की ओर लकड़ी में मनुष्य की आकृति खोदकर बनाई जाती थी और उसे एक छोर से दूसरे छोर तक भाँति-भाँति के चित्रों की नक्काशी से अलंकृत किया जाता था। नाव के दोनों किनारों पर ऊपर की ओर परों के गुच्छे बँधे हुए लटकते रहते थे, जो हवा चलने पर इधर-उधर उड़ते हुए बहुत ही सुन्दर जान पड़ते थे। इन लोगों में पक्षियों के पर श्रृंगार की विशेष सामग्री माने जाते रहे हैं।

मावरी लोगों का नृत्य बड़ा विचित्र होता है। स्वभाव से ही ये लोग नाचने के बड़े शौकीन होते हैं। इनका नाच केवल मनोविनोद का साधन और नवयुवकों को युद्धप्रिय बनाने एवं उनमें वीरता के भावों का संचार करने का उपादान मात्र न होकर, उनकी धार्मिक प्रथाओं का भी एक आवश्यक अंग माना जाता है। इसके अतिरिक्त उनके नृत्यों की विशेषता यह है कि प्रत्येक नाच किसी-न-किसी कथा

को प्रदर्शित करता है और वह कथा मावरी जाति के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली होती है। इस प्रकार उनके नृत्य में पर्याप्त रूप से उनके प्राचीन गौरव और वीरगाथाओं का सजीव रूप देखने को मिलता है। उनका सब से प्रिय नृत्य 'नावों का नृत्य' कहलाता है। इसमें बीस या चालीस लड़कियाँ मिलकर नाचती हैं, जिनमें से कुछ लड़कियाँ तो बैठी रहती हैं, जिनको मल्लाह या नाविक समझ लिया जाता है, और दूसरी कुछ उनके पीछे खड़ी होकर अपने शरीर को इधर-उधर बड़े कलापूर्ण ढंग से हिलाती-डुलाती हैं, जिनसे लहरों के आरोह-अवरोह का प्रदर्शन होता है। इस नाच में सम्मिलित होनेवालों द्वारा नियमित अंग-संचालन के अतिरिक्त नाव से टकरानेवाली लहरों के शब्द का भी अनुकरण किया जाता है ! लड़कियों की नाचने की पोशाक में पेड़ों की जटा और सन का एक-एक घाँघरा मुख्य रहता है, जिसको पहनकर नाचने से अपने आप लहरों के टकराने जैसा शब्द होता है। घूम-घूमकर नाचने से उस घाँघरे की लटकती हुई लम्बी झालरों की हरएक लड़ी से बहते हुए जल का आभास होता है। लड़कियाँ अपने हाथों में वैसी ही जटाओं के बने हुए छोटे-छोटे गेंद, जिन पर पत्तियाँ लिपटी होती हैं, लेकर नाचती हैं और बीच-बीच में उन गेंदों को वे एक-दूसरे से टक्कर मारती जाती हैं। उनके टकराने से ऐसा जान पड़ता है, मानो जल में खेते समय नाव के डाँडों का शब्द हो रहा हो !

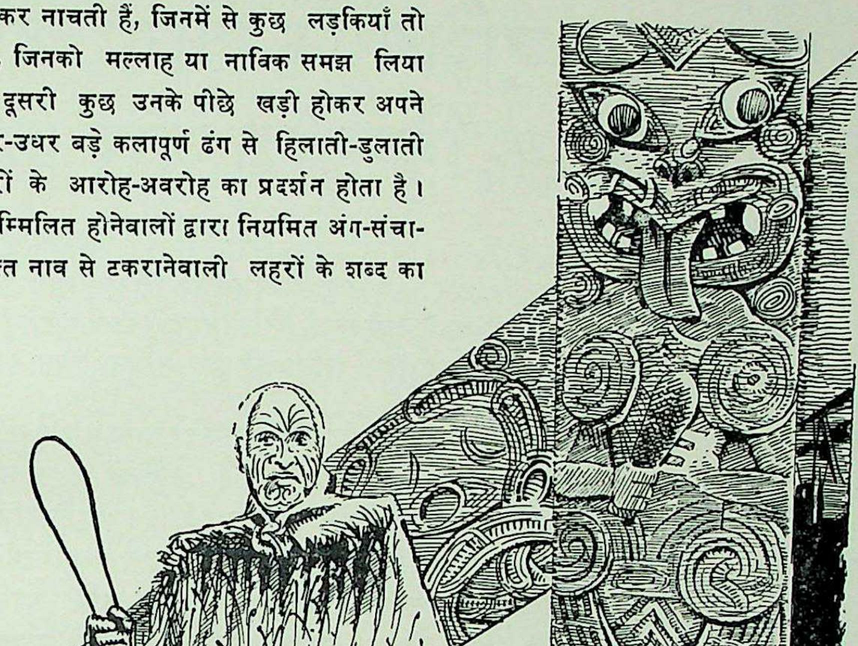

एक मावरी सरदार और उसके मकान का अग्र भाग। मावरियों के मकानों पर प्रायः नक्काशी द्वारा चित्रित ऐसी आकृतियाँ खुदी रहती हैं।

मावरी जाति के लड़के-लड़कियाँ धागों से 'गिल्ली के झूले' का खेल खेलते, पतंगें उड़ाते, रस्सियों पर उछलते, लट्टू नचाते और फंदे फेंकते हैं। ये खेल उनमें पुराने जमाने से ही प्रचलित हैं। उनका एक खेल ऐसा है, जिसमें सब लड़के-लड़की परस्पर इकट्ठा होकर जमीन पर बैठ जाते हैं और अपनी आँखें, नाक, भौं, मुँह चढ़ाकर बड़ी भयंकर आकृतियाँ बनाते हैं। साथ-ही-साथ वे खूब चीखते, दहाड़ते और अपने बदन को ऐंठते-मरोड़ते रहते हैं। जो सब से भयानक आकृति बना पाता है, वही विजयी समझा जाता है।

आज अधिकांश मावरी ईसाई धर्म को मानने लगे हैं, किन्तु अभी भी उनमें से कुछ अपने प्राचीन जादू-टोने आदि में विश्वास रखते हैं। वे पृथ्वी, सूर्य, आकाश, आदि को किसी-न-किसी देवात्मा का चमत्कार बतलाते हैं।

उत्तरी और मध्य एशिया के खानाबदोश :: समूदी, ऑस्तिआक, किरगीज और कज्जाक

इस ग्रंथ के पिछले एक खंड में आप 'एस्किमो' और 'लाप' नामक दो उत्तराखंडवासी जातियों का परिचय पा चुके हैं। अब आइए, उन्हीं के भाई-बंधु जैसे 'समूदी' और 'ऑस्तिआक' नामक दो उत्तरी एशियाई खानाबदोशों एवं 'किरगीज' और 'कज्जाक' नामक दो मध्य एशियाई घुमक्कड़ों की जीवन-झाँकी आपको दिखलाएँ, जो कि भूमण्डल के कतिपय सब से कठोर प्रदेशों में प्रकृति से लोहा लेते हुए जीवन-यापन कर रहे हैं।

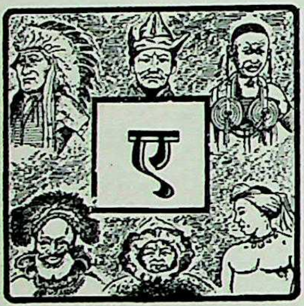

एशिया महाद्वीप के हिमाच्छादित उत्तराखण्ड तथा मध्यवर्ती वीरान शीतप्रदेशों में जहाँ-तहाँ छुटपुट बसी हुई पीतवर्णीय मानव जातियों के प्रतिनिधि आदि काल से ही पर्यटनशील रहे हैं, जिसके कारण उनका प्रसार काफी दूर-दूर तक पाया जाता है। मंगोलिया, मंचूरिया, पूर्वी साइबेरिया, तुर्किस्तान और तिब्बत के आदिम निवासी उन्हीं की कोटि में आते हैं। यद्यपि उनकी विभिन्न शाखाओं में परस्पर अधिक साम्य नहीं है, फिर भी वे हैं एक ही वर्ग के मनुष्य। जिन उत्तरी और मध्य एशियाई खानाबदोश जातियों का विवरण अब हम यहाँ प्रस्तुत करने जा रहे हैं, वे भी मूलतः उसी महान् घुमक्कड़ पीतवर्ण मानव-समूह के वंशज हैं। ये लोग सदियों से उक्त समूह के अपने अन्य भाई-बन्धुओं से बिछड़ जाने के कारण इतने एकाकी और पृथक्-से हो गए हैं कि इनमें से कई का तो संसार में बहुत कम लोगों को पता होगा।

समूदी

एशियाई रूस के उत्तरी भाग—साइबेरिया—का पश्चिमवर्ती हिमाच्छादित प्रदेश लम्बे चौड़े हिम-पठारों और वनों से घिरा हुआ है। यही समूदी जाति की आवासभूमि समझा जाता है। इन प्रदेशों में भी मुख्यतः ओबी नदी के निकट के प्रान्त और आर्कटिक तट पर चेस्काया और खटंगा की खाड़ियों से सीमित प्रदेश में ही समूदियों की भ्रमणशील टोलियाँ अपना डेरा डाले हुए हैं। इस क्षेत्र के दक्षिण में प्रकृति के कई उपादान मध्यवर्त्ती विशाल हिमाच्छादित पठारों और भूमिखंडों के रूप में एक बृहत प्राचीर बनकर खड़े हुए हैं, जिन्होंने दक्षिण से उठकर आनेवाली सभ्यता की लहर से इन प्रदेशों को सदैव अछूता बनाए रखा। यही कारण है कि समूदी तथा उनके पड़ोस की अन्य जातियाँ इतने लंबे समय तक आदिमकाल का जीवन व्यतीत करती रही हैं।

समूदी जाति के लोग अधिकांश में खानाबदोश होते हैं। वे अपने जीवन-यापन की परिमित सामग्री, बर्तन-भाँड़े तथा छोटे-छोटे खालों के बने तम्बू बारहसिंघों से जुती 'स्लेज' गाड़ियों पर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते दिखाई देते हैं। परन्तु उनका यह भ्रमण निरर्थक या निरुद्देश्य नहीं होता। ऋतुओं की प्रतिकूलता और आहार की सामग्री का अभाव ही उनकी इन यात्राओं का मुख्य कारण होता है।

शीत ऋतु में समूदियों के देश की यात्रा कीजिए। आप मीलों तक बर्फ से ढके मैदान और समतल पठार ही फैले हुए देखेंगे। यहाँ आसपास दूर तक जीवन का कोई चिह्न नहीं देख पड़ता। कोई शब्द भी नहीं सुन पड़ता! किसी जीवधारी की हलचल का भी पता नहीं चलता! एक विचित्र स्तब्धता, श्मशान जैसी नीरवता यहाँ विराजती है! इस नीरवता को भंग करती हुई तीव्र वर्फीली आँधी मात्र कभी-कभी इस प्रदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ जाती है, जिससे यहाँ की

ठंडक इतनी बढ़ जाती है कि साँस लेने में भी कठिनाई होने लगती है । यदि कुतुबनुमा पास न हो, तो यहाँ दिशाओं का ज्ञान भी नहीं रहता । केवल आकाश में इधर-उधर छिटके हुए नक्षत्र ही मार्ग-प्रदर्शक का काम देते हैं । यहाँ के निवासी उन्हीं के द्वारा अपनी यात्रा में दिशा का ज्ञान रखते हैं । गरमियों में यही बर्फीले पठार और मैदान सुविशाल दलदलों में परिणत हो जाया करते हैं । उनमें जगह-जगह बड़े-बड़े पोखरे, झील और तालाब बन जाते हैं । छोटे टीलों पर एक प्रकार की कड़ी और मोटी काईनुमा घास यहाँ उग आती है । इन दिनों रास्ता चलना कठिन हो जाता है, क्योंकि धरती में कीचड़ के कारण पाँव धँस जाते हैं । इसके बाद पुनः ज्योंही ऋतु-परिवर्तन हुआ, त्योंही यहाँ का सारा दृश्य बदल गया ! अब दूर-दूर तक पौधों और झाड़ियों के चिह्न नहीं मिलते । हाँ, कहीं-कहीं चटकीले रंग के फूल दिखाई दे जाते हैं, जिनका जीवन केवल दो-चार दिनों का ही होता है ! जीव-जन्तुओं के नाम पर यहाँ केवल 'रेनडियर' नामक बारहसिंघे, सफेद उल्लू और 'लेमिंग' नामक एक बड़ी जाति के चूहे मिलते हैं । गरमियों में राह चलते आपको जगह-जगह धरती में अनेक छिद्र दिखलाई देंगे । ये छिद्र इन लेमिंगों ने ही बनाए हैं । वह देखिए—दो-चार चूहे उन छिद्रों से गर्दन बाहर निकाले यात्रियों को कौतूहल से देख रहे हैं ! पास ही किसी टीले पर सफेद रंग का एक उल्लू भी बैठा हुआ है, जो इन चूहों का शिकार करने की ताक में है !

'समूदी' शब्द का अर्थ रूसी भाषा में 'कच्चा आहार खानेवाला' समझा जाता है । सम्भव है कि किसी युग में वे ऐसे ही रहे हों । मानवशास्त्र के विद्वानों ने जो खोज की है, उससे पता चलता है कि यह जाति निश्चय ही बहुत प्राचीन है, जो किसी जमाने में अल्ताई की पर्वतमालाओं से लेकर आर्कटिक महासागर तक फैली हुई थी । इसकी सभ्यता के अनेक प्राचीन चिह्न पश्चिमी साइबेरिया में पुराने टीलों के नीचे से निकले हैं । इनकी धातुओं की कारीगरी के प्रमाणस्वरूप ताँबे, टीन, काँसे और सोने की अनेक वस्तुएँ खुदाई करने पर निकली हैं, जिनमें बर्तन, अस्त्र-शस्त्र और गहने सभी कुछ हैं । इनमें काँसे के बर्तनों पर तो ऐसी सुन्दर नक्काशी की गई है कि उसे देखकर आश्चर्य करना पड़ता है । इन प्रमाणों से जान पड़ता है कि प्राचीन युग में समूदी लोग ऐसे खानाबदोश नहीं थे, वरन वे स्थायी रूप से घर बनाकर रहते थे । कहते हैं, तुर्कों और तातारों के आक्रमण से पाँचवीं शताब्दी में उनको अपनी आवासभूमि छोड़कर भागना पड़ा था और तभी से वे पर्यटनशील बन गए ।

आकृति और पहनावा, आदि

अपनी मुखाकृति और शरीर से समूदी स्पष्टतः मंगोल शाखा के सदस्य प्रतीत होते हैं । उनका सिर चौड़ा और चपटा, चेहरा भी छोटा परन्तु चौड़ा, एवं मस्तक पीछे की ओर ढालू होता है । इनकी भौंहें धनुषाकार, पलकें बड़ी और कुछ भारी-सी, आँखें गोल और छोटी, तथा बदन गठा हुआ होता है । इनकी नाक चीनियों की-सी सीधी परन्तु चपटी होती है, और वर्ण पीलापन लिए हुए कुछ भूरा होता है । परन्तु कहीं-कहीं ललाई लिए हुए गेहुँए रंग के लोग भी पाए जाते हैं । बचपन और युवावस्था में इनके कपोलों पर झलकनेवाली लाली प्रौढ़ होने तक लुप्त हो जाती है । इनके होठ मोटे, दाढ़ी बिखरी हुई और मूँछें श्याम रंग की होती हैं । केश प्रायः काले और कड़े होते हैं । कद में समूदी प्रायः ठिगने होते हैं—पुरुषों की ऊँचाई का औसत ५ फीट २ इंच और स्त्रियों का ४ फीट १० इंच तक पाया जाता है ।

समूदी जाति के स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा में अधिक अन्तर नहीं होता । स्त्रियाँ यदि पृथक् पहचानी जाती हैं, तो अधिकतर अपने भड़कीले वस्त्रों और आभूषणों के कारण ही । स्त्री-पुरुष दोनों ही चर्म-निर्मित जैकेट और पाजामे पहनते हैं । उनके खाल के बने जूतों और मोजों की बनावट में भी कोई अन्तर नहीं होता । यदि भेद है तो केवल इतना ही कि स्त्रियाँ जूतों को घुटने के ऊपर बाँधती हैं और पुरुष घुटने से नीचे । जैकेट के ऊपर ये लोग अपना वह मुख्य वस्त्र धारण करते हैं, जो चमड़े के लबादे-जैसा होता है । बारहसिंघे की खाल का बना उनका यह लबादा गर्दन से लेकर नीचे तक बंद रहता है और उसे गर्दन डालकर ऊपर से पहना जाता है । उसका खाल का रोएँदार भाग अन्दर की ओर रहता है । इस लबादे से जुड़ा हुआ एक चुस्त कंटोप भी होता है, जिसे ये सिर पर पहनते हैं । लबादे की आस्तीनों के छोर पर अक्सर ताँत से सिले हुए खाल के दस्ताने लगा लिए जाते हैं । शीत वायु से बचने तथा शरीर को गरम रखने के हेतु उस लबादे को ये लोग कमर से ऊपर रस्सियों और चमड़े की पेटियों से कसे रहते हैं । जब ठंड ज्यादा पड़ने लगती है, तो वे इसके ऊपर एक और रोएँदार लबादा पहन लेते हैं, जो इससे कुछ भारी और बड़ा होता है । इस लबादे के नीचे के छोर पर झालर की भाँति विभिन्न रंगों की मृगचर्म की पट्टियाँ लगा ली जाती हैं, जिनसे वह काफी आकर्षक बन जाता है । स्त्रियों के लबादे पिंडलियों तक लम्बे, ढीले और बिना बटन के बनते हैं । इनको

वे पेटियों द्वारा कमर से कसे रहती हैं। इनकी बाँहों पर सफेद मृग-चर्म की आठ या नौ पट्टियाँ टँकी रहती हैं, जिनके बीच-बीच में हरे और लाल ऊन की पतली पट्टियाँ सिली रहती हैं।

जातीय गुण और मान्यताएँ

समूदी, स्वभावतः, अत्यन्त गंदे और आलसी होते हैं। शीतप्रधान देश के निवासी होने के कारण स्नान करने या कपड़े धोने का अवसर तो उनके जीवन में कदाचित् ही कभी आता हो! अतएव उनके वस्त्रों और केशों में जुओं आदि छोटे-छोटे कीटाणुओं की मानो एक दुनिया ही आबाद रहती है, जिनको अवकाश के समय बड़े चाव से ये लोग यमपुरी पहुँचाया करते हैं! उनके कपड़ों और तम्बुओं से, जो खालों के बनते हैं, ऐसी तीव्र दुर्गन्ध आया करती है कि सभ्य दुनिया का कोई भी मनुष्य देर तक उनके निकट खड़ा नहीं रह सकता। परन्तु उनकी इस दुरावस्था को देखकर हमें यह न भूल जाना चाहिए कि ठण्डे देश के निवासी इस भाँति रहने के लिए प्रकृति द्वारा विवश हैं! उस कड़ाके की सरदी में, जब मुख से निकली भाप भी हवा में जम जाती हो और हाथ-पैर चेतनारहित-से बन रहे हों, भला स्नान करने या वस्त्र धोने का साहस कौन कर सकता है? परन्तु जहाँ उनके शरीर इतने गन्दे होते हैं, वहाँ मन सभ्य जातियों के-से मैले कदापि नहीं होते—यह उनकी एक खास विशेषता है। वे अत्यन्त, विश्वासपात्र और मिलनसार होते हैं। अतिथियों और अपने पड़ोसियों के प्रति उनका व्यवहार अबाध उदारता और सम्मान का परिचायक होता है। अतिथि-सत्कार तो उनका एक विशेष जातीय गुण है। इसी तरह अवकाश के समय इकट्ठे बैठकर गपशप करने और स्वजाति के व्यक्तियों से मैत्री निभाने में भी कोई जाति उनकी समता नहीं कर सकती। मीलों दूर बसनेवाले जाति-बन्धुओं और परिचितों से मिलने के लिए जाने में वे किंचित् मात्र श्रम या कठिनाई का अनुभव नहीं करते। इस मेल-जोल और पारस्परिक भेंट-व्यवहार को बनाए रखने के प्रयत्न में समूदी अपना आवश्यक से आवश्यक कार्य भी छोड़ देता है। बर्बरता और कलहप्रियता का समूदियों में सर्वथा अभाव पाया जाता है और इस विषय में वे सभ्य-जगत् के मनुष्यों को अच्छा पाठ पढ़ा सकते हैं। उनकी स्त्रियाँ भी आपस में मेल-जोल से रहती हैं और व्यर्थ के प्रपंच में समय नष्ट करना अनुचित समझती हैं। एक-दूसरे की निन्दा करने की उनमें आदत नहीं होती। माता-पिता अपने बच्चों के साथ बड़ी नरमाई का व्यवहार करते हैं, जिसके कारण वे व्यर्थ के लिए भयभीत, आतंकित या दब्बू नहीं हो पाते। बच्चों के खिलौनों में प्रायः बर्फ पर चलने की 'स्लेज' नामक गाड़ियों की प्रतिमूर्तियाँ और धनुष-बाण होते हैं। समूदी मंत्र-तंत्र में गहरा विश्वास करते हैं और भालू के दाँत तथा अन्य कई वस्तुएँ तावीज की भाँति अपनी कमर की पेटी में लटकाए रहते हैं। वे एक आदिशक्ति के विशेष उपासक होते हैं, जिसे वे अपनी भाषा में 'नम' कहते हैं। और भी कतिपय देवी-देवताओं की पूजा का रिवाज उनमें प्रचलित है, जिनको प्रसन्न करने के लिए प्रायः मंत्र-तंत्र और बलिदान का आयोजन किया जाता है। वे प्रायः पत्थर और काष्ठ-खण्डों में देवी-देवताओं की भावना करके उनकी पूजा किया करते हैं।

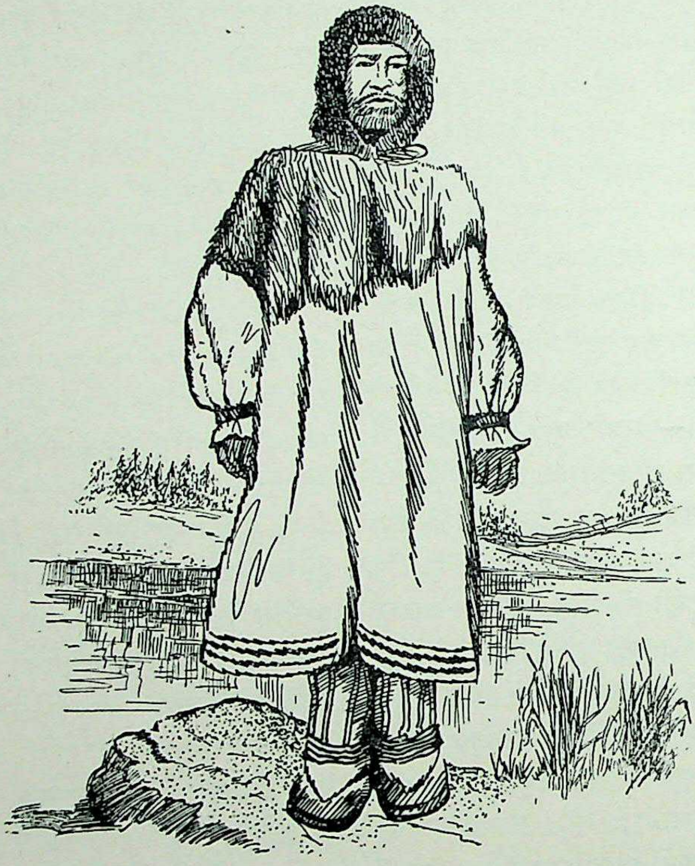
समूदी पुरुष की वेशभूषा।

रहन-सहन, काम-धंधा, आदि

समूदी लोग प्रायः तम्बुओं में ही रहते हैं, जिन्हें वे तोड़-मोड़कर बड़ी आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। ये तम्बू लगभग बीस फीट लम्बे बाँस, बलूत की छाल, बारहसिंघे की खाल और ताँत से बनाए जाते हैं। जाड़े और गरमी के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के तम्बू बनते हैं। जाड़ों में बलूत की छाल का स्थान मृग-चर्म ले लेता है। नई और सुन्दर खालें ये लोग बेचने के लिए बचाए रखते हैं और अपने तम्बुओं में पुराने जूते, मोजे और फटी-पुरानी खालों के चमड़े का ही प्रयोग करते हैं। ये तम्बू उनको बर्फ और शीत से बचाते हैं तथा आँधियों से उनकी रक्षा करते हैं। तम्बू को गरम रखने के लिए उसके मध्य में आग जलाकर रखी जाती है और धुआँ निकलने के लिए उसमें ऊपर की ओर एक छेद रखा जाता है, जिसे आवश्यकता के समय एक डोरी खींचकर बन्द भी किया जा सकता है। तम्बू के भीतर अत्यन्त सीमित और उपयोगी सामग्री ही रखी जाती है। उसके मध्य में पत्थर का एक टुकड़ा रखा रहता है। उसी पर आग जलाई जाती है। लकड़ी के कँटिए से लटकती हुई एक केतली, कुछ अन्य पात्र तथा थोड़े से मृग-चर्म, जो ओढ़ने-बिछाने के काम आते हैं, प्रत्येक तम्बू में अवश्य रहते हैं। कुछ सम्पन्न व्यक्तियों के तंबुओं में इन वस्तुओं के अलावा कुछ कम्बल, ऊनी दरियाँ और चीड़ के बने संदूक भी पाए जाते हैं। समूदी लोगों में रूसियों के सम्पर्क के कारण अब चाय-पान की भी आदत बढ़ने लगी है, अतएव आजकल उनके पास अन्य सामान के साथ-साथ चीनी के प्याले, तश्तरियाँ तथा चाय और बिस्कुट के डिब्बे आदि भी प्रायः कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

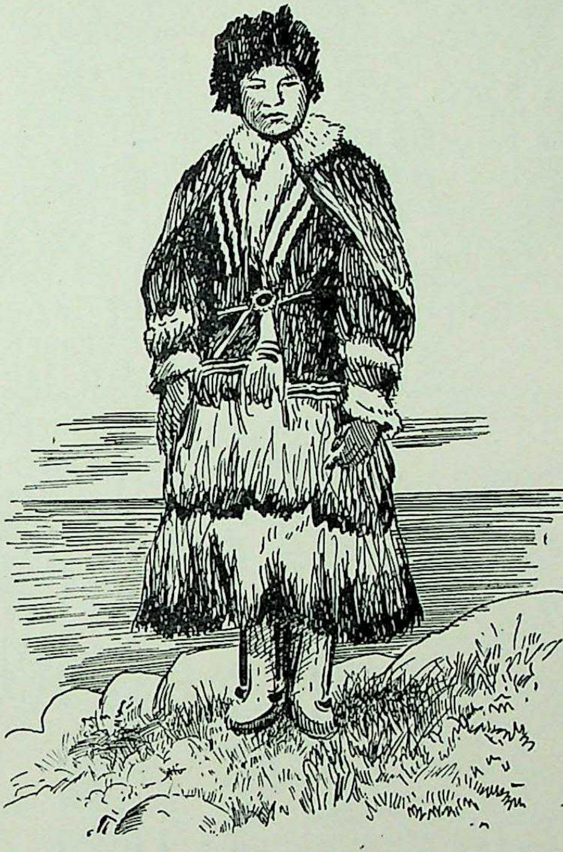

समूदी स्त्री की वेशभूषा।

समूदी लोग अधिक काम-काज नहीं करते। एक तो उनका देश ही ऐसा है, जहाँ खेती-बारी नहीं हो सकती और न किसी प्रकार का व्यवसाय ही चल सकता है। दूसरे उद्योग-धंधों का भी वहाँ अभी अधिक फैलाव नहीं हो पाया है। पश्चिम की एक-दो नदियों में मछलियाँ अवश्य पकड़ी जाती हैं, पर इनका मुख्य धन यदि कोई है, तो वह है बारहसिंघा। जंगली बारहसिंघों को पकड़ना, आहार और खाल के लिए उनका शिकार करना, उन्हें पालना, उन्हीं पर बोझा ढोना, आदि वे खूब जानते हैं। उनकी सम्पत्ति का परिमाण बारहसिंघों की संख्या से ही जाना जाता है। परन्तु सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि समूदी अपने इस अत्यन्त लाभदायक पशु से किंचित मात्र भी स्नेह नहीं करता! हाँ, उसकी मृत्यु पर वह केवल अपनी आर्थिक हानि की दृष्टि से कुछ चिन्तित अवश्य होता है।

समूदियों के औजार और अस्त्र-शस्त्र भी विचित्र होते हैं। इस सम्बन्ध में मुख्यतः तीन वस्तुएँ उनके काम में आती हैं—कुल्हाड़ी, छेद करने का बर्मा और चाकू। इन्हीं के द्वारा वे अपना सब काम चला लेते हैं। समूदियों की स्त्रियाँ बारहसिंघे की हड्डियों की सुइयाँ बना लेती हैं, जिनसे वे ताँत के डोरे द्वारा अपने पहनने के चर्म-वस्त्र सी लेती हैं। वे बड़े सुन्दर और आकर्षक मोजे बनाती हैं। बारहसिंघे के मांस के अतिरिक्त सुलभ होने पर समूदी लोग 'राई' नामक एक पौधे के बीजों को पीसकर आटे की तरह गूँधते हैं, जिससे उनके यहाँ रोटियाँ बनाई जाती हैं। तम्बाकू के आदी न होने पर भी समूदियों में सुँघनी का अधिक प्रचार है। इसके लिए साधारण तम्बाकू खरीदकर खरल में पीसी जाती है, जिससे सुँघनी बनती है। अतिथि को सुँघनी पेश करना उनमें सम्मान का एक अंग समझा जाता है। कालान्तर में सभ्य दुनिया के सम्पर्क में

आ जाने से उनमें चेचक, गरमी और अन्य अनेक रोगों का भी प्रवेश हो गया है, जिससे उनकी जनसंख्या का बड़ा ह्रास हुआ है। फिर भी इस समय उनकी आबादी १०,००० के लगभग समझी जाती है।

प्रथाएँ

समूदी लोग अपने परिवार के मृतकों का बड़ा आदर करते हैं और उनकी दिवंगत आत्माओं की शान्ति के लिए बलिदान आदि किया करते हैं। घरों में उनके पूर्वजों की काष्ठ-मूर्तियाँ भी देखी जाती हैं। शपथ लेना समूदियों में एक पवित्र धार्मिक कृत्य समझा जाता है, जिसको सब मानते हैं। अपराध का निर्णय करने के लिए शपथ लेना उनमें आवश्यक समझा जाता है। 'बैंगाज' नामक द्वीप को समूदी एक देवस्थान जैसा पवित्र मानते हैं और प्रत्येक व्यक्ति मरने के पश्चात् वहीं समाधिस्थ किए जाने की इच्छा रखता है। उनमें ईसाई धर्म काफी फैल चुका है, परन्तु आपत्तिकाल में अथवा रोगाक्रान्त दशा में समूदी सब-कुछ भूलकर पुनः अपने देवी-देवताओं को मानने लगते हैं और उनका आवाहन करते हैं।

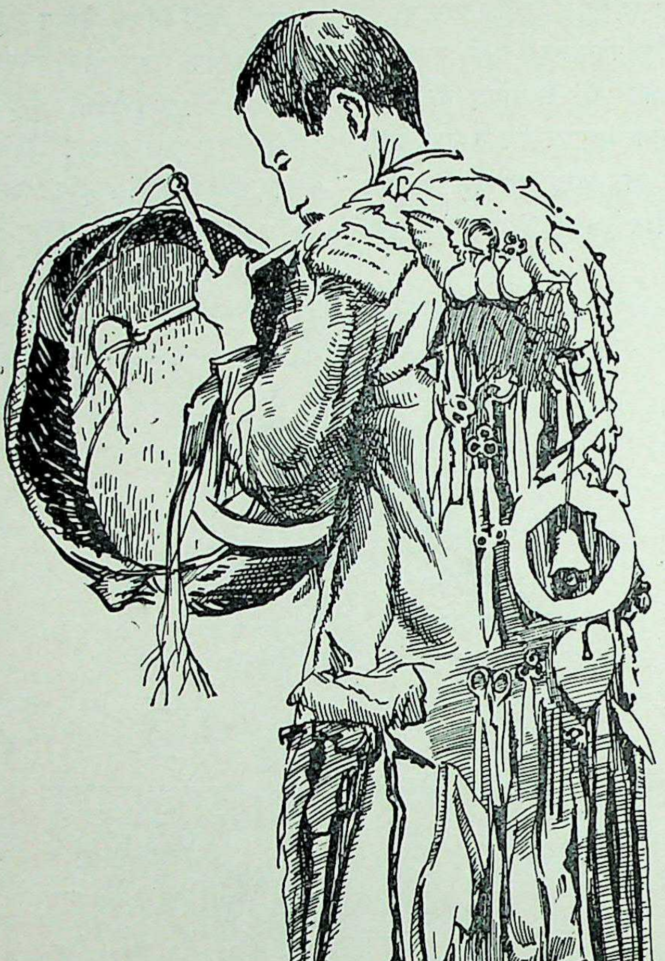

शमन-धर्म का एक ओझा। ये लोग साइबेरिया के सीधे-सादे आदिम जातिवालों को पिछले दिनों तक खूब ठगते रहे हैं।

समूदियों में विवाह की प्रथा अत्यन्त मनोरंजक है। दूल्हा अपनी भावी वधू के पैतृक तम्बू में जाकर उसके माता-पिता के कंधों पर अपनी छोटी छड़ी से धीरे-धीरे आघात करके अपनी लाई हुई खाने-पीने की वस्तुएँ वहीं रखता और उन्हें अपने साथ भोजन करने को आमंत्रित करता है। भोज में उनके सम्मिलित होने पर सब लोग साथ बैठकर भोजन करते हैं। तब वधू के माता-पिता वर को किसी दिन उसी समय आने का निमंत्रण देते हैं। दूसरी बार समूदी युवक खूब बन-ठनकर आता है और साथ में बहुत-सी 'वोदका' मदिरा भी लाता है। तम्बू में प्रवेश कर वह अपनी भावी वधू के निकट बैठ जाता है। तदुपरान्त उनका प्रेम-संलाप आरम्भ होता है। कच्चे मांस का भोजन और 'वोदका' के दौर चलने लगते हैं। युवक स्वयं प्याले में मदिरा भरकर अपने बाएँ हाथ के नीचे दायाँ हाथ ले जाता और युवती को प्याला देता है। युवती सावधानी से प्याले को रिक्त कर देती है। युवक इसी ढंग से युवती को भोजन-सामग्री भी अर्पित करता है। बाद में यही क्रिया युवती की ओर से प्रारम्भ होती है। कुछ घंटों के बाद विवाह निश्चित समझा जाता है। पुरोहित के आने पर वर से यह आशा की जाती है कि वह अपनी भावी वधू के चरित्र के विषय में प्रश्न करे। यदि पुरोहित इस विषय में अनभिज्ञ होता है और वह जान-बूझकर चुप रहना चाहता है, तो मंत्रोच्चारण के बजाय वह एक ढोल बजा देता है। इस क्रिया के साथ

ही विवाह की रस्म पूरी समझी जाती है। वधू के चरित्र के विषय में आपत्तिजनक मत होने पर वर के लिए केवल दो ही मार्ग शेष रहते हैं––या तो वह पूर्ण सम्मान के साथ चुपचाप वापस घर लौट जाए अथवा अपने उत्तरदायित्व के विचार से उदारतापूर्वक वधू को अंगीकार कर उसे साथ ले जाए एवं कुछ समय तक उसके चरित्र की परीक्षा करके असंतुष्ट होने पर उसे माता-पिता के यहाँ वापस भेज दे। समूदियों में थोड़ी अवस्था में ही विवाह कर दिया जाता है। तेरह वर्ष की आयु तक पहुँचते-न-पहुँचते लड़कियों का विवाह कर दिया जाता है और चौदह वर्ष की होते-होते तो वे माताएँ भी बन जाती हैं !

रूसियों के सम्पर्क में आने के बाद समूदियों में नए युग का वातावरण स्थान पाने लगा है। परन्तु इसके परिणामस्वरूप वे धीरे-धीरे अपने जातीय गुण खोते जा रहे हैं। गरमियों के मौसम में रेनडियर की खालें संग्रह करने के लिए रूसी लोग उन्हें अपने साथ ले जाते हैं और लोमड़ी, भालू, सील तथा वालरस का शिकार करने का काम उनसे लेते हैं। इन लोगों को धन के रूप में पारिश्रमिक न देकर यदि उन्हें वे वस्तुएँ, जिनका प्रचार सभ्य जगत् में अधिक है, थोड़ी-बहुत दे दी जाती हैं, तो उतने से ही समूदियों को संतोष हो जाता है ! वस्तुतः परिश्रम का मूल्य माँगने को क्षमता अभी तक उनमें जाग्रत नहीं हुई है। बाहरी दुनिया में समूदी अवश्य एक पिछड़ी हुई जाति कही जाती है, पर उसका संगठन, मानवोचित व्यवहार और एकता का गुण सभ्य जगत् के लिए ऐसे उदाहरण हैं, जो मनुष्य के अनेक विवादों का समाधान कर विश्व-शान्ति का मार्ग दिखा सकते हैं।

ऑस्तिआक

समूदियों के पड़ोस में बसनेवाली अन्य एक आदिम जाति के लोग ऑस्तिआक नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनकी छोटी-बड़ी बस्तियाँ अधिकतर ओबी नदी के तटप्रदेश में पाई जाती हैं। ऑस्तिआक लोगों की संख्या अनुमानतः २५,००० के लगभग है। उनकी आवासभूमि का विस्तार 'समारोव' के इलाके से आगे चलकर उस स्थान से आरम्भ होता है, जहाँ इर्तीस नदी आकर ओबी से मिलती है। संगम से आगे दोनों नदियाँ जब एक होकर बहती हैं, तो उनका पाट कहीं चौड़ा और कहीं संकीर्ण बनता हुआ उन्हें अनेक शाखाओं तथा उपशाखाओं में वितरित कर देता है। एशियाई रूस की ओर भी कई छोटी-छोटी उपनदियाँ उनमें आकर मिल जाती हैं, जो यूराल पर्वतमालाओं की पूर्वी सीमा से निकलकर उत्तर की ओर प्रवाहित होती हैं। एक लम्बे-चौड़े मैदान को सींचती हुई ओबी और उसकी ये सहायक नदियाँ क्रमशः सहस्रों धाराओं में छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और बीच-बीच के छोटे-छोटे भूभागों को द्वीपों का रूप देकर पुनः वे एक विशाल नद में परिणत हो जाती हैं। ओबी नदी जिस भूभाग से होकर बहती है, वह पर्याप्त लम्बा-चौड़ा क्षेत्र है और उसके दोनों तटों पर उत्तराखंडीय झाऊ और लम्बी घास के अच्छे खासे जंगल खड़े दिखाई देते हैं। यह प्रदेश दो दिशाओं से ऊँची पहाड़ियों द्वारा घिरा हुआ है, जो देवदार, सरो और भोजपत्र के वृक्षों से सदैव आच्छादित रहती हैं। इन ऊंचे तटों के आगे से पठार आरम्भ हो जाते हैं, जिनके किनारे-किनारे नदी सर्पाकार होकर बहती है। इस प्रदेश में भयंकर शीत पड़ती है। जब उत्तर से आनेवाली हवाएँ बर्फ की फुहारे लेकर दौड़ती हैं, उस समय पेड़ों के पत्ते एकदम लुप्त हो जाया करते हैं, धरती पर हरियाली और पौधों का नामोनिशान नहीं रहता और चारों ओर एक असीम सूनापन छा जाता है। इसी प्रदेश को साइबेरिया की यह आदिम जाति 'ऑस्तिआक' अपनी क्रीड़ाभूमि बनाए हुए है। यहीं पर उनकी वे बिखरी हुई बस्तियाँ फैली हैं, जो 'यौत्ती' कहलाती हैं।

ओबी नदी ऑस्तिआकों के लिए सचमुच एक वरदान के तुल्य है। वे उसे अपनी 'माता' कहते हैं, कारण शिकार द्वारा अपना भरण-पोषण करनेवाले इन मनुष्यों का जीवन इस नदी पर ही निर्भर है। उसी से वे मछलियाँ पकड़ते हैं, जिन्हें बेचकर अपनी आवश्यकताएँ वे पूरी करते हैं। जो छोटी जाति की मछलियाँ जाल में आ जाती हैं, उनसे ही ऑस्तिआक अपना तथा अपने प्रिय पशु कुत्ते का पेट भरता है। पानी से बाहर निकालते ही कच्ची मछली को उदरस्थ कर जाने में उसे किंचित् पशोपेश नहीं होता ! कभी-कभी सौभाग्य से नदी के किनारे के जंगलों में सारस, बत्तख और हंस भी उसके हाथ लग जाते हैं। इसके अलावा जंगली बेर-जैसे फल भी उसके क्षुधा-निवारण में सहायता देते हैं। ग्रीष्म-ऋतु के प्रारम्भ में जब पहाड़ों पर बर्फ पिघलती है, तब ओबी और उसकी सहायक नदियों में भयंकर बाढ़ आ जाती है। ऐसा अवसर ऑस्तिआकों के जीवन में बड़ी कठिनाई उपस्थित कर देता है। तब वे अपनी बस्तियाँ छोड़-छोड़कर जंगलों में भागते हैं, जहाँ कंद-मूल-फल के अतिरिक्त उन्हें कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। परन्तु संकट से न घबराना इस जाति का विशेष गुण है। बाढ़ के शान्त होने पर ये लोग पुनः अपनी बस्तियों में लौट आते

हैं और नए सिरे से झोपड़ियाँ बनाने में लग जाते हैं। ये झोपड़ियाँ एक प्रकार की गुफा जैसी बनाई जाती हैं। जंगली वृक्षों की बेडौल शाखाओं को काटकर उनका वर्गाकार ढाँचा खड़ा किया जाता है, जिस पर भोजपत्र की छाल मढ़ दी जाती है। छत पाटने के लिए पेड़ों की टहनियाँ और छाल काम आती हैं। इस छाल के बड़े-बड़े टुकड़े पानी में उबालकर पीटे जाते हैं और बराबर करके उसके ही रेशों से उन्हें परस्पर सी दिया जाता है। इस प्रकार उनकी चटाइयाँ जैसी तैयार हो जाती हैं। ये चटाइयाँ ओढ़ने और बिछाने दोनों काम में आती हैं एवं झोपड़ियों पर भी ये मढ़ी जाती हैं। झोपड़ी में हवा के लिए खिड़कियाँ नहीं रक्खी जातीं।

ऑस्तिआकों के कुत्ते

हर ऑस्तिआक एक कुत्ता तो अवश्य ही पालता है, जो शिकार करते समय, यात्रा में और घर में बराबर उसके साथ रहता है। कुत्ता उनके पथ-प्रदर्शक, संकट के समय के सहायक और चौकीदार का भी काम करता है। कुत्ता बड़ा बुद्धिमान साथी होता है और उसकी स्वामिभक्ति का मूल्य ऑस्तिआक लोग अच्छी तरह समझते हैं। इन कुत्तों के साहस और वीरता की अनेक कहानियाँ उस प्रदेश के निवासियों में प्रचलित हैं, जिनसे प्रकट होता है कि इस आदिम जाति के जीवन में इस पशु ने कितना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। ये कुत्ते अवसर पड़ने पर भालुओं तक से लड़ जाते हैं और उन्हें बुरी तरह से खदेड़ते हुए कभी-कभी मार भी डालते हैं! इसी पृष्ठ पर अपने प्रिय कुत्ते के साथ एक ऑस्तिआक का चित्र प्रदर्शित है।

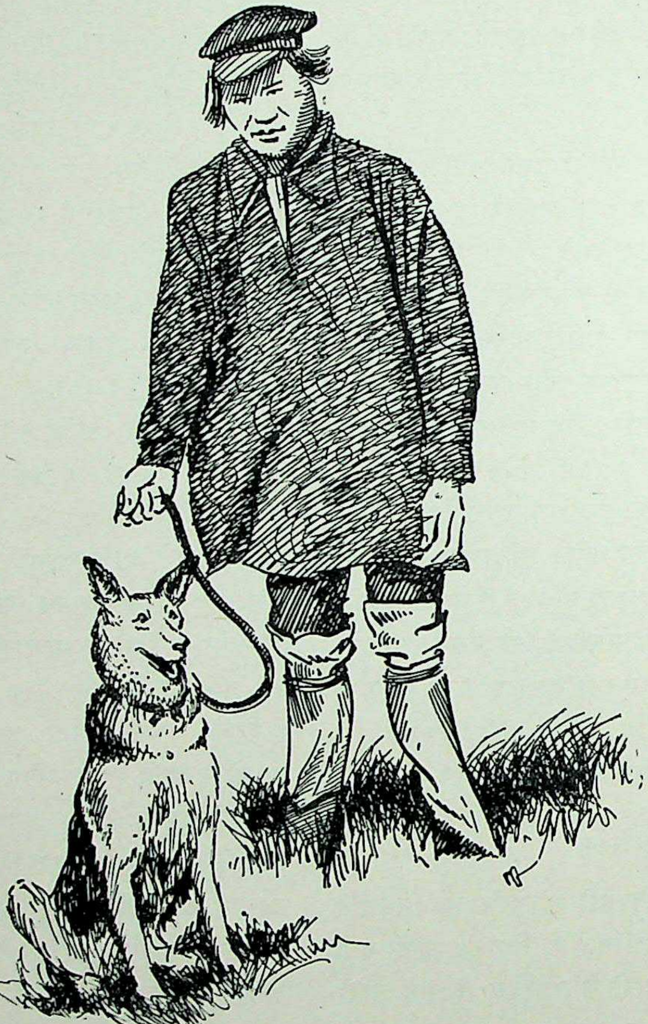

ऑस्तिआक शिकारी और उसका कुत्ता।

रहन-सहन, आहार, वेशभूषा, आदि

आप किसी ऑस्तिआक की झोपड़ी का निरीक्षण करें। भोजपत्र की छाल की बनी पानी भरने की एक छोटी-सी बाल्टी, उसी छाल का एक चौड़ा बर्तन, लकड़ी के बने दो-एक चम्मच, कुछ मृगचर्म--बस, यही उनकी सामग्री दिखाई देगी। भीतर फर्श के बीचोबीच में एक छोटा-सा गढ़ा होगा। इसी गढ़े में आग जला करती है। इस गढ़े के ठीक ऊपर झोपड़ी की छत में एक छिद्र दिखाई देगा, जो धुआँ निकलने, प्रकाश के आने और वायु-प्रवेश के विचार से रखा गया है। झोपड़ी के पास ही लकड़ी के लट्ठों से बना हुआ भांडारगृह भी दृष्टिगोचर होगा, जिसमें इनकी आहार-सामग्री रक्खी होगी। जाड़े के दिनों के लिए ऑस्तिआक पक्की और मजबूत झोपड़ियाँ बनाते हैं, जो कुछ नीची और छोटी होती हैं और जिनकी दीवारें बाहर से मिट्टी लगाकर दृढ़ कर दी जाती हैं।

ऑस्तिआक लोगों की अनेक शाखाएँ हैं, जो इस प्रदेश के विभिन्न भूभागों में बिखरी हैं। इन्हें पूर्णतया खानाबदोश नहीं कहा जा सकता। कारण, आवश्यकता के समय ही आहार की खोज में अपना आवासस्थान छोड़कर जंगलों और पहाड़ों की तराइयों में ये जाते हैं, अन्यथा मैदानों और नदियों के किनारे ही बसा करते हैं। राई नामक पौधों के बीज, जंगली पक्षी और मछलियाँ ही ऑस्तिआक लोगों का मुख्य आहार हैं। इन लोगों में मछलियों और जंगली पक्षियों के शिकार द्वारा जीवन-यापन करनेवाले समुदायों के अतिरिक्त

कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो रेनडियर या जंगली बारहसिंघे पालते हैं और सुदूर उत्तर में आर्कटिक तट तक पहुँचकर सील मछलियों का शिकार करते हैं। उनकी रहन-सहन समूदियों जैसी होती है। ये लोग जाड़े में जंगलों में लौट आते हैं, जहाँ उत्तरी बर्फीली आँधियों से उनका बचाव हो जाता है। यहाँ आकर वे गिलहरियों, छोटे-छोटे जानवरों और पक्षियों को मारकर अपना पेट भरते हैं। सुदूर दक्षिण में रहनेवाले ऑस्तिआक अब काफी उन्नत अवस्था को पहुँच चुके हैं, क्योंकि उनका रूसियों से अधिक सम्पर्क रहता है। वे खेती-बारी करते, मवेशी पालते अथवा बोझा ढोने का पेशा करते हैं। उनकी रहन-सहन भी रूसियों जैसी ही बन गई है, परन्तु रूसी अब भी उन्हें पिछड़ी हुई जाति के प्राणी समझते हैं और उनसे निम्न स्तर के काम कराते हैं।

वेशभूषा और आकृति में ऑस्तिआक समूदियों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उनमें से कुछ जातियों के लोगों का वर्ण अधिक साफ और भूरापन लिए हुए होता है। छोटी आँखें, चौड़ी और चपटी नाक तथा मोटे होठ ऑस्तिआकों की खास पहचान है। उनके मुख्य शस्त्र बर्छे और धनुष-बाण होते हैं, जिनसे वे पशु-पक्षियों का शिकार करते हैं। मछलियाँ पकड़ने के लिए वे जाल का उपयोग अधिक करते हैं और सील के शिकार में बर्छे से काम लेते हैं। ऑस्तिआक लोग स्वभावतः सीधे-सादे और सरल होते हैं। वे ईमानदारी और सच्चाई के लिए विख्यात हैं। ऋण और राजकर चुकाने में वे कभी नहीं चूकते। पारस्परिक एकता भी उनका एक विशेष गुण है। शीतप्रधान देश के निवासी होने के कारण समूदियों की भाँति वे भी प्रायः गन्दे रहते हैं और स्नान करना जानते ही नहीं। रेनडियर की खाल के वस्त्र धारण करने के कारण उनके भी शरीर से सदा दुर्गन्ध निकला करती है। इस पर प्रायः खाल को नरम रखने के लिए वे अपने कपड़ों पर मछली की चर्बी भी मल लेते हैं, जो उस दुर्गन्ध को असह्य बना देती है। परन्तु उनको वैसे ही रहने का इतना अभ्यास हो चुका है कि वे अपनी दुर्दशा का तनिक भी अनुभव नहीं करते। आहार की कमी के कारण ऑस्तिआक जीवित या मृत सभी प्रकार के छोटे-बड़े जन्तुओं, कौओं, गिलहरियों और जंगली पक्षियों का मांस खाते रहे हैं। वे पड़ोस के इलाकों में जाकर अक्सर खाने की चीजें माँग लाते रहे हैं और उसी से अपना पालन-पोषण करते रहे हैं। उनकी इस निर्धनता ने ही उन्हें सभ्य जगत् की दृष्टि में हेय और तुच्छ बना दिया, अन्यथा उनके जातिगत गुणों को पहुँचना दूसरों के लिए कठिन है।

ऑस्तिआक लोग भालू के शिकार में बड़े निपुण होते हैं। इस शिकार में उनकी असाधारण वीरता और साहस का परिचय मिलता है। शीतप्रदेशीय भालू का शिकार करने के लिए अत्यधिक फुर्तीला होने और होशहवास ठीक रखने की आवश्यकता होती है। ऑस्तिआक युवक स्वभावतः भालू से डरता नहीं। वह सब से पहले बर्फीले पठारों पर जाकर उसकी माँद खोज निकालता है। फिर अनेक उपायों से उसे छेड़छाड़कर माँद से बाहर निकालने की चेष्टा वह करता है। अन्त में जब भालू झुँझलाकर अपनी माँद से निकलकर दो पैरों पर खड़ा हो उस पर झपटता है, तो ऑस्तिआक शिकारी बड़ी फुर्ती से दौड़कर उसके पेट में अपना छुरा भोंक देता है! इस प्रकार बात की बात में वह उसका पेट फाड़ डालता है और भालू मर जाता है। परन्तु शिकार करने पर भी ऑस्तिआक भालू को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। वे उसे मारते हैं, उसका मांस भी खाते हैं, उसकी खाल उधेड़कर बेच लेते हैं, लेकिन यह सब करके भी वे उसके आगे क्षमा-याचना करना नहीं भूलते! वे उसके पंजे काटकर अपने घर में स्थापित देवी-देवताओं की मूर्तियों के आसपास लटका देते हैं!

धार्मिक विश्वास :: 'शमन' ओझा

ऑस्तिआक जातिवाले आदिकाल से ही मूर्तिपूजक रहे हैं। यद्यपि विवश होकर पिछली पीढ़ियों में उन्होंने ईसाई मत स्वीकार कर लिया है, फिर भी घरेलू जीवन में मूर्तिपूजा उनसे अब तक नहीं छूटी है। वे शैतान को अपना इष्टदेव मानते हैं और प्रत्येक घर में उसकी मूर्ति अवश्य रखते हैं। उसे वे अपनी सम्पत्ति का रक्षक कहते हैं। प्रायः वे शैतान की मूर्ति को अपने वस्त्रों में छिपाकर हर वक्त अपने साथ रखते हैं। मानव-आकृति की वह मूर्ति लकड़ी की बनी होती है। उसकी कमर में एक पेटी लिपटी रहती है, जिसमें कोई सिक्का बँधा होता है। ऑस्तिआक ऊपर से उसे अपनी जातीय पोशाक पहना देते हैं। वे कम-से-कम सात जाकिटें और कंटोपदार लबादे उस मूर्ति को पहनाते हैं। वे उसे पोत आदि की मालाओं और आभूषणों से भी अलंकृत करते हैं। इस प्रकार उसका आकार बहुत बढ़ जाता है। यह मूर्ति घर के कोने में स्थापित कर दी जाती है। भोजन तैयार होने पर सब से पहले उस मूर्ति के आगे परोसा जाता है। अदृश्य रूप में उसके भोग लगा चुकने पर गृह-परिवार भोजन करने बैठता है। कभी-कभी अधिक भक्तिभाव से प्रेरित होकर भोजन-सामग्री का कुछ

अंश मूर्ति के होठों पर भी चुम्बन किया जाता है। ऑस्तिआक लोग पुराने भोजपत्र के वृक्षों की भी पूजा करते हैं। उन्हें इन धार्मिक विश्वासों में जकड़े रखने में ओझाओं का बड़ा हाथ रहा है। इन पुरोहितों को 'शमन' कहा जाता है। वे धर्म के गोपनीय रहस्यों के ज्ञाता समझे जाते रहे हैं और उनकी भविष्यवाणियों पर ऑस्तिआक लोग बड़ा विश्वास करते रहे हैं। ये स्याने जादू-टोने में पारंगत समझे जाते रहे हैं और चमत्कार दिखलाने में उनकी क्षमता अद्भुत मानी जाती रही है। इन धर्मपुरोहितों को ऑस्तिआक सदैव भेंट-उपहारों से संतुष्ट करना अपना कर्तव्य समझते रहे हैं, और उनके कथन में अटूट विश्वास रखते रहे हैं। मृतकों को दफनाते समय ये ही धर्म-पुरोहित मंत्र-पाठ करने को बुलाए जाते रहे हैं। पर अब सोवियत रूस द्वारा प्रस्तुत नए वातावरण में इन स्यानों की तूती बंद हो गई है।

वैवाहिक रस्में

ऑस्तिआक जाति के लोगों में विवाह की रस्में बड़ी विचित्र रही हैं। अब तो नए राजनीतिक वातावरण ने इन लोगों के लिए भी हवा बदल दी है, अन्यथा पहले ऑस्तिआक वर को वधू प्राप्त करने के हेतु दहेज-रूप में उसके माता-पिता को बहुत-कुछ देना पड़ता था। यह दहेज उनकी भाषा में 'कलीम' कहा जाता था। इसकी मात्रा प्रायः वर की स्थिति के अनुकूल ही निश्चित की जाती थी। फिर भी यदि वह समर्थ नहीं होता, तो उतना मूल्य जुटाने के लिए उसे महीनों अथक परिश्रम करना पड़ता था। पहले ऑस्तिआक स्त्रियों को खरीदते भी थे, जिसके फलस्वरूप उनमें विवाह एक सौदा-मात्र बन जाता था और उसमें प्रेम एवं उदारता की छाया भी नहीं होती थी। जिस स्त्री का मूल्य जितना ही अधिक मिलता था, उतनी ही अपने माता-पिता तथा ससुरालवालों की दृष्टि में वह सम्मान योग्य समझी जातीथी। मँहगे दामों में पत्नी को खरीदने का प्रभाव पति पर भी पड़ता था और वह उसे अच्छी तरह सुरक्षित रखना अपना कर्तव्य समझता था। धनी-मानी व्यक्ति यद्यपि अपनी लड़कियों के ब्याह में वर-पक्ष से 'कलीम' या दहेज स्वीकार तो करते थे, परन्तु बदले में अपनी ओर से वे कन्या को यथाशक्ति भेंट-उपहार देना नहीं भूलते थे। हाँ, गरीब अपनी लड़कियों के बदले थोड़ा-सा दहेज पाकर अवश्य संतुष्ट हो जाते थे। यह दहेज प्रायः एक रेनडियर तक ही सीमित रहता था, जिसका मूल्य पाँच रूबल (रूसी सिक्का) से अधिक नहीं होता था। रईसों की लड़कियाँ सौ से दो सौ रूबल तक दहेज पाती थीं। अब नई हवा में ये सब बातें निस्संदेह खत्म हो चुकी हैं।

शमन धर्म के अनुयायी ऑस्तिआकों में बहुविवाह का भी प्रचलन रहा है। केवल वे ही लोग, जिन्होंने ईसाई मत स्वीकार कर लिया है, एक विवाह करते रहे हैं। पर ईसाई मतावलम्बी हो जाने पर भी ऑस्तिआक लोग अपने प्राचीन रीति-रिवाजों, परम्परागत रूढ़ियों और अन्य विश्वासों को नहीं छोड़ सके हैं, क्योंकि उनके बिना वे जीवन-यापन नहीं कर सकते। वे सीने पर क्रूस का चिह्न लटकाए रहने पर भी अपने घरेलू जीवन के प्रत्येक कार्य में पूर्वजों की राह का ही अनुकरण करते हैं। वस्तुतः वे दोनों धर्मों को निभाने की निरंतर चेष्टा करते रहते हैं। जो कुछ उन्हें सुविधाजनक लगता है, उसे ही वे धर्म की परिभाषा दे देते हैं। ऑस्तिआकों का वैवाहिक जीवन साधारणतया सुखी रहता है और दम्पति आहार-संचय के कार्य में एक दूसरे के सच्चे साथी रहते हैं। कौटुम्बिक कलह और प्रपंच की उनमें कभी छाया भी नहीं दिखाई देती। स्त्रियाँ अधिकतर सीना-पिरोना तथा घर का कामकाज करती हैं और अवसर पड़ने पर अपने पति और पुत्रों के साथ शिकार करने को भी निकल जाती हैं। प्रत्येक परिस्थिति में शान्त रहना और निर्धनता में भी सुखी जीवन व्यतीत करना उनका स्वभाव है। वे सच्ची गृहिणी बनकर अपनी गृहस्थी चलाती हैं।

किरगीज :: मध्य एशिया के प्रसिद्ध अश्वारोही

मध्य एशिया के सुविस्तृत पठारों तथा उनके आसपास के प्रदेश में—उत्तर में ओबी नदी की शाखाओं से लेकर दक्षिण की ओर पामीर तक तथा पश्चिम में वोलगा से लेकर तुर्कोमान प्रान्त के कुछ भागों तक—किरगीज जाति बिखरी पाई जाती है। इस विशाल भूखण्ड पर अपना आधिपत्य जमानेवाले खानाबदोशों की यह जाति वास्तव में मंगोलों और तुर्कों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई है। किरगीजों की समस्त आबादी तीस लाख से कुछ अधिक मानी जाती है। उनकी आकृति मंगोलों से अधिक मिलती-जुलती है और उनकी बोली पड़ोस के तातारियों जैसी है। किरगीज जाति के दो मुख्य समूह प्रसिद्ध हैं—एक तो 'कारा किरगीज', जो उत्तर-पश्चिम के प्रदेश में बसे हुए हैं, और दूसरे किरगीज-कज्जाक, जो स्टेपीज के मैदानों को अपनी आवासभूमि बनाए हुए हैं।

पामीर के पठारों में बसे हुए किरगीजों की चार उपशाखाएँ हैं—(१) निआमान, (२) किपचाक, (३) तैइत,

और (४) कज्जाक। इन उपशाखाओं के भी अनेक भेद पाए जाते हैं। किरगीजों के वास्तविक प्रतिनिधि कारा-किरगीज ही समझे जाते हैं, जो आदि से ही अपने पड़ोसियों के सम्पर्क में बहुत कम आए हैं।

किरगीज शब्द फारसी भाषा का है, जिसका अर्थ होता है 'चालीस पुत्रियाँ'। इस जाति के बड़े-बूढ़ों के मुँह से सुना गया है कि हजरत नूह के एक पुत्र का नाम किरगीज था, जो बाढ़ आने के समय तुर्किस्तान में आकर बस गया था। उसके चालीस पुत्रियाँ हुईं, जिनकी सन्तानें किरगीज कहलाईं।

किरगीज लोगों की आवासभूमि

चीन, साइबेरिया और मध्य एशियाई स्टेपीज प्रान्त की सीमाएँ जिस स्थान पर एक कोण के आकार में आकर मिली हैं, वह उत्तरी एशिया का झीलों और पहड़ियों का एक सुन्दर भूभाग है! वहीं बैंकाल नामक प्रसिद्ध झील है, जिसे वहाँ के लोग 'सागर' कहते हैं। किंचित् नमकीन पानी की यह झील सेमीपालतिंस्क और सेमीरेर्तशिस्क नामक क्षेत्रों के बीच में ३०० मील तक फैली हुई है। इसमें गिरनेवाली अनेक नदियों के बावजूद इसमें कभी बाढ़ नहीं आती। इली नामक नदी भी इसी झील में आकर गिरी है, जिसके मुहाने पर की भूमि बहुत उपजाऊ है। इस नदी की घाटी का निचला भाग किरगीज जाति की छोटी-छोटी बस्तियों से खचित है। यह प्रदेश वास्तव में मध्य एशिया भर में सब से अधिक सम्पन्न और प्रकृति के वरदानों से पूर्ण है, क्योंकि सात नदियाँ इसे सींचती हैं। वहाँ वर्षा भी अधिक नहीं होती। ग्रीष्म और शीत ऋतु का समान प्रभाव यहाँ रहता है और पार्श्ववर्त्ती पहाड़ियों के कारण आँधियों और तूफानों से भी इसका बचाव रहता है। किरगीजों की अनेक उपजातियाँ, जिनमें कज्जाक भी हैं, इसी प्रदेश में बसी हुई हैं।

परन्तु कारा-किरगीज इतने भाग्यशाली नहीं हैं। वे ऊपर के प्रदेशों में रहते हैं, जहाँ जीवन-संघर्ष अपेक्षाकृत कठिन है। इसी कारण वे सदियों से खानाबदोश रहे हैं और उनमें बहुत कम ऐसे हैं, जो उपजाऊ भूमि पाकर स्थायी रूप से कहीं-कहीं बस पाए हों। 'कारा' शब्द का अर्थ किरगीज बोली में 'काला' समझा जाता है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस जाति के लोग श्यामवर्ण होते हैं। वास्तव में काले रंग के नमदों के बने तम्बुओं में रहने के कारण ही लोग उन्हें कारा-किरगीज कहने लग गए हैं। किरगीज जाति के विशुद्ध और प्राचीन प्रतिनिधि यही हैं। इनकी संख्या आठ लाख अनुमान की जाती है। जिस प्रान्त में इनका आवास है, वहाँ की भूमि अधिक उपजाऊ नहीं। अतएव इन लोगों ने पशुपालन को ही अपना मुख्य उद्यम बना लिया है। उनके यहाँ दुम्बा भेंड़ें, याक, बकरियाँ, ऊँट और छोटी जाति के किन्तु बड़े ही मजबूत घोड़े पले रहते हैं, जो सवारी और बोझा ढोने के काम आते हैं। इन मवेशियों के दूध को वे अपना मुख्य आहार मानते हैं। परिस्थिति और अनुकूल भूमि पाकर कहीं-कहीं वे खेती-बारी भी करते हैं। वे प्रायः गेहूँ, जो, बाजरा तथा राई नामक अन्न उपजाते हैं। इन्हीं से वे एक मदिरा भी तैयार कर लेते हैं, जिसे 'वोडका' कहा जाता है। पहले व्यापार में इनके यहाँ सिक्के का प्रचलन नहीं था। एक वस्तु से दूसरी वस्तु बदलना मात्र वे जानते थे और क्रय-विक्रय का यही माध्यम उनको सुविधाजनक लगता था। चीन, तुर्किस्तान और रूस से समय-समय पर व्यापारी तैयार माल लेकर आया करते थे, जिसके बदले में किरगीज लोग उन्हें मवेशी दिया करते थे। परन्तु अब तो सभ्यता के सभी वरदानों से वे लाभ उठाते हैं।

जन्मजात अश्वारोही

कारा-किरगीज प्रायः कहा करते हैं कि उनका जन्म ही घोड़े की जीन पर होता है। उनका यह कथन नितान्त सत्य है। वे उच्चकोटि के अश्वारोही होते हैं और बचपन से ही इस कला को सीख जाते हैं। घोड़ों को वे अपनी मुख्य सम्पत्ति मानते हैं। बात भी ऐसी ही है, क्योंकि उनके यहाँ किसी की सम्पन्नता का अनुमान इसी बात को देखकर लगाया जाता रहा है कि उसके पास कितने घोड़े हैं। उनके लम्बे काफिले, घोड़ों पर चढ़े हुए और अन्य मवेशियों पर सामान लादे, बंजारों की भाँति, स्पेटीज पर दिखाई देते रहते हैं––कभी चौड़े मैदानों में, कभी पहाड़ियों के ढाल पर और कभी अपने पालतू पशुओं के लिए चारे की तलाश में नदियों की तराई में। भेड़ों की ऊन से वे मोटे-मोटे नमदे तैयार करते हैं, जिनसे उनके तम्बू बनते हैं। ऊँटों और बकरियों के बालों को एकत्र करके वे सवारी की जीन के फीते, पट्टियाँ और पहनने का वस्त्र आदि बुन लेते हैं। घोड़ के बालों की भी रस्सियाँ और रास बनाई जाती हैं। भेड़ की खाल और ऊन जाड़े के वस्त्र बनाने के काम आते हैं। शिकार के पशुओं तथा बैलों के चर्म से वे चाबुक, पानी की बोतलें श्रौर लम्बे बूट एवं जूते बना लेते हैं। दूध और माँस उनका मुख्य आहार होता है। दूध प्रायः सभी जानवरों का व्यवहार में आता है। भेड़-बकरियों के दूध से दही, पनीर और मक्खन तथा घोड़ियों और ऊँटनियों के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दूध से 'कौमिस' नामक दूधिया शराब तैयार की जाती है। इस शराब का प्रचार अब योरप में भी होने लगा है।

मध्य एशिया के अन्य प्राचीन खानाबदोशों की तरह किरगीज लोगों की बस्तियाँ तंबुओं और खीमों के पड़ाव का रूप लिए रहती हैं। ये खीमे गोल स्तूपाकार होते हैं और ऊनी नमदे को तानकर निर्मित किए जाते हैं। ये समेटकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जाए जा सकते हैं। इन तम्बुओं के अतिरिक्त इनमें बटे हुए झाऊ और सरकंडों से झोपड़ियाँ बनाने का भी चलन है। जब तक आहार-सामग्री सरलता से उपलब्ध रहती है, तब तक ये लोग बड़े मौज से रहते हैं। उनका समय अधिकतर घोड़ों की दौड़, कुश्ती और गाने-बजाने तथा शादी-ब्याह के उत्सवों में ही बीतता रहता है। इनमें शादियाँ प्रायः पूरे समारोह के साथ बड़ी धूमधाम से हुआ करती हैं। अपनी प्राचीन मूर्तिपूजा को छोड़कर किरगीज लोगों ने मुसलमानी मजहब को अपना लिया है। यद्यपि उनमें मस्जिदों और मुल्लाओं की संख्या नाम मात्र की पाई जाती है, फिर भी वे इस्लाम के अनुयायी अवश्य कहे जाते हैं।

इनके मृतकों के अन्तिम संस्कार में बन्धु-बान्धव और सम्बन्धियों के अतिरिक्त इष्ट-मित्र तथा जाति के प्रमुख व्यक्ति अवश्य सम्मिलित होते हैं। चाहे कोई पचास मील के फासले पर ही क्यों न रहता हो, परन्तु कबीले के किसी की मृत्यु होने पर वह अवश्य आता है और उसके अंतिम संस्कार में सम्मिलित होता है। ऐसे अवसर पर मरनेवाले व्यक्ति का सब से प्रिय घोड़ा उसकी कब्र के पास लाया जाता है, फिर उसकी दुम काट दी जाती है। एक वर्ष बाद जब मातम की अवधि समाप्त समझी जाती है, तब उसी घोड़े का उस कब्र पर बलिदान दिया जाता है। कब्र के ऊपर कोई मकबरा या छत्री अथवा छोटी-मोटी समाधि खड़ी कर देने का भी इन लोगों में रिवाज है, परन्तु ऐसा करना प्रायः सम्पन्न व्यक्तियों के

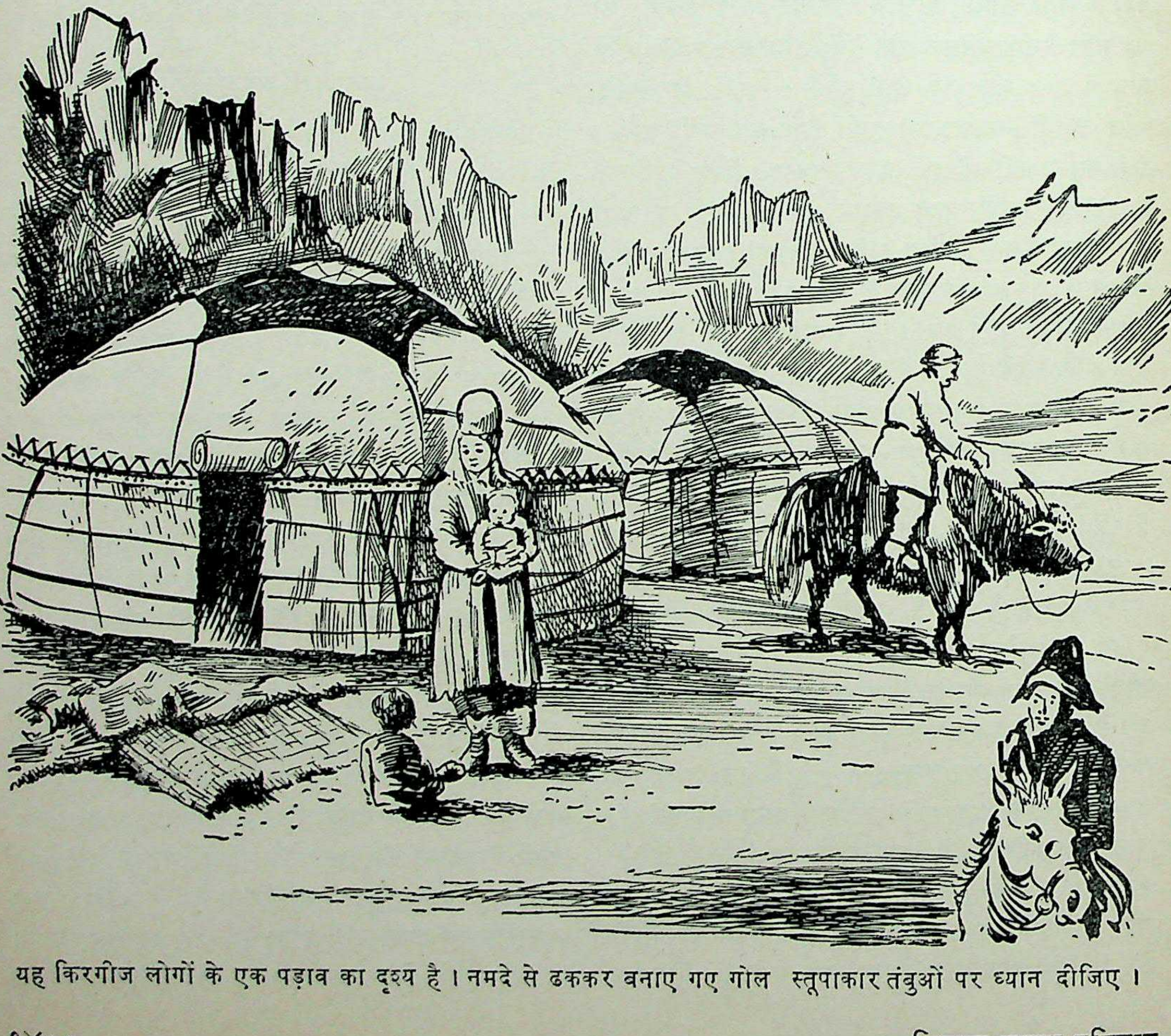

यह किरगीज लोगों के एक पड़ाव का दृश्य है। नमदे से ढककर बनाए गए गोल स्तूपाकार तंबुओं पर ध्यान दीजिए।

लिए ही सम्भव होता है। इस काम में अधिकतर लकड़ी अथवा ईंट-गारे का प्रयोग होता है।

आकृति, डीलडौल और वेशभूषा

किरगीज लोग कद में साधारण होते हैं, परन्तु उनका शरीर खूब गठा हुआ, सुडौल और मजबूत होता है। मंगोल शाखा के होने के कारण उनकी आकृति पड़ोस की अन्य जातियों जैसी ही पाई जाती है। उनके सिर के बाल काले, मँछ-दाढ़ी बहुत कम या कहीं-कहीं बिल्कुल नदारद, आँखें छोटी और तिरछी, नाक चिपटी, चेहरा चौड़ा, मुँह छोटा, हाथ-पाँव छोटे और चमड़ी का रँग कुछ भूरा-मटमैला होता है। किसी-किसी उपजाति के लोगों की आँखें भूरी और नीली भी पाई जाती हैं। इनकी बोली में फारसी, अरबी और दक्षिणी साइबेरिया की भाषा के शब्दों का समावेश पाया जाता है, यद्यपि तुर्की से वह अधिक मिलती-जुलती है।

जहाँ तक इनकी वेषभूषा का संबंध है, वह अधिक आकर्षक नहीं कही जा सकती। जाड़ों में पशुचर्म के मोटे अँगरखे, वैसे ही चुस्त पाजामे, लम्बे जूते, चौड़ी आस्तीनों के लबादे, सिर पर भेड़ के ऊन की भारी टोपी, उस पर बँधा हुआ फेंटा, एक चौड़ा कमरबन्द, बस यही किरगीज जाति के पुरुषों की पोशाक रहती हैं। गरमियों में वे मोटे सूत के अँगरखे और लम्बे कुर्ते पहनते हैं। स्त्रियाँ सिर पर सूती पगड़ियाँ-सी धारण करती हैं, जिनमें भाँति-भाँति के सिक्के और जेवर टँके रहते हैं। लुंगी या घाघरे के ऊपर कुर्ता और उस पर लबादा पहनने का उनमें रिवाज है। पुरुषों की अपेक्षा किरगीज स्त्रियाँ अधिक मेहनती होती हैं और घर-बाहर का बहुत-सा कामकाज वे ही करती रहती हैं। इसी परिश्रम के कारण उनमें थोड़ी आयु में ही प्रौढ़ता के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं। उनमें पर्दे का प्रचार नहीं है और घूमने-फिरने की उनको पूरी स्वतंत्रता रहती है।

कज्जाक

कज्जाक लोगों की बस्तियाँ अधिकतर स्टेपीज और पामीर के पठारों के आसपास पाई जाती हैं। आकृति और वेषभूषा में वे किरगीज लोगों से भिन्न नहीं होते। वे भी इस्लाम धर्मावलम्बी हैं और उसके सुन्नी मत के पक्षपाती हैं। उनमें सिर घुटाने का रिवाज है। उनके चेहरों पर किरगीज की अपेक्षा दाढ़ी-मूछें अधिक होती हैं। आर्थिक दृष्टि से भी उनकी दशा उनसे बेहतर रही है। पर रहन-सहन और आचार-व्यवहार में किरगीज से समानता होने पर भी कज्जाक धर्म के मामले में उनसे अधिक कट्टर और अन्धविश्वासी होते हैं।

कज्जाक परिवार में कुटुंब के सब से बूढ़े व्यक्ति का ही शासन रहता है और सभी व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते एवं उसकी इच्छा का आदर करते हैं। कुछ परिवारों को मिलाकर एक कबीला या टोली बनती है, जिसका एक सरदार या खान चुना जाता है। सब लोग उसको ही अपना नेता और पथप्रदर्शक मानते हैं। पहले तो वही न्याय करता था, अभियुक्तों को उचित दण्ड देता था, पारिवारिक झगड़े निपटाता था और उसे शासन-संबन्धी सारे अधिकार प्राप्त होते थे। कई कबीलों की बस्ती कुछ केन्द्रीय शासकों के अधीन रहती थी। ये केन्द्रीय शासक रूस की सरकार द्वारा निर्वाचित होते थे। वे राजकर वसूल करके रूसी सरकार को भेजते थे तथा कबीलों की बस्तियों पर नियंत्रण रखते थे। परन्तु अब वातावरण बदल गया है, और सोवियत-संघ की अन्य सोवियतों की तरह इनकी भी सोवियत बन गई है।

कज्जाकों की प्राचीन शासन-व्यवस्था बड़ी कटु और अमानुषिक थी। लूटमार करनेवाले को अति कठोर दण्ड मिलता था और कभी-कभी उसे मार डाला जाता था। किसी की हत्या या व्यभिचार के अपराधी को गला घोटकर मारना और फाँसी देना वे लोग नियमानुकूल समझते थे। चोरी करनेवाले को चुराए हुए माल का पचास गुना धन दण्डस्वरूप देना पड़ता था और न देने पर कोड़ों से मार-मारकर उसके प्राण तक ले लिए जाते थे। इस कठिन दण्ड-विधान के फलस्वरूप कज्जाकों के प्रदेश में अपराध बहुत कम होते थे।

महान् घुड़सवार

घोड़े की सवारी में कज्जाकों की समता कोई नहीं कर सकता। शैशव से ही वे इस कला में दक्ष होने लगते हैं। कज्जाक अपने घोड़े को अपना सब से विश्वासपात्र साथी समझता है। उसे अच्छे-अच्छे घोड़े पालने का बड़ा चाव होता है। त्योहारों के अवसर पर घुड़सवारी की प्रतियोगिता और खेलकूद भी होते हैं। कोई एक कज्जाक भेड़ की खाल में पतावर और झाऊ आदि भरकर उसे फुला लेता है, फिर उसे लेकर घोड़े पर बैठ जाता है। संकेत मिलते ही वह भागता है। उसके पीछे पक्ष और विपक्ष की दो अश्वारोही टोलियाँ दौड़ती हैं। इस खेल में यह आवश्यक होता है कि एक निश्चित अवधि तक भेड़ एक पक्ष के कब्जे में रहे, जिससे विपक्षी उसे छीनने का प्रयत्न करते रहें। ऐसे अवसरों पर कज्जाक लोग घुड़सवारी के अद्भुत करतब दिखलाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

८-९ साल के बालक तक ऐसी अच्छी घुड़सवारी करते हैं कि जिसे देखकर ताज्जुब होने लगता है ।

आइए, अब हम आपको कज्जाकों के एक तम्बू में ले चलें । समतल भूमि पर एक ओर बना हुआ लाल रंग का वह गोलाकार तम्बू लकड़ियों का एक सुन्दर ढाँचा बनाकर उसे ऊनी नमदों से मढ़कर रचा गया है। पास ही कुछ घोड़े बँधे हैं । इधर-उधर कुछ भेड़ें चरती दिखाई देती हैं और एक कुत्ता उनकी रखवाली कर रहा है । हम तम्बू के द्वार पर पहुँचते हैं। वहाँ एक चित्र-विचित्र नमदे का पर्दा-सा पड़ा है । तम्बू का मालिक एक बूढ़ा कज्जाक है, जिसकी दाढ़ी सफेद है । वह हमारे पैरों की आहट पाकर बाहर निकलता है और हमारा स्वागत करता है। हम उसके पीछे-पीछे तम्बू के भीतर प्रवेश करते हैं । भीतर एक ओर दो-तीन बूढ़ी औरतें गृहस्थी का काम कर रही हैं । उनमें से एक ऊन कात रही है । दो बच्चे हैं, जो हमें देखते ही आश्चर्य से उठ खड़े होते हैं । तम्बू के बीच में एक गड्ढा है, जिसमें आग जल रही है । आग पर एक केतली रखी है, जिसमें कुछ पक रहा है । गड्ढे के ठीक ऊपर तम्बू में एक छेद दिखाई देता है, जो शायद हवा आने के अभिप्राय से रखा गया है । हम एक ओर पड़े हुए नमदों के ढेर पर जाकर बैठ जाते हैं । हमारा मेज़बान चीनी के चौड़े प्यालों में गरम दूध लाकर हमें पीने को देता है । दूध वास्तव में बड़ा स्वादिष्ट और मीठा है । इस सत्कार के बाद हम लोग आपस में कुशल-प्रश्न पूछते है।

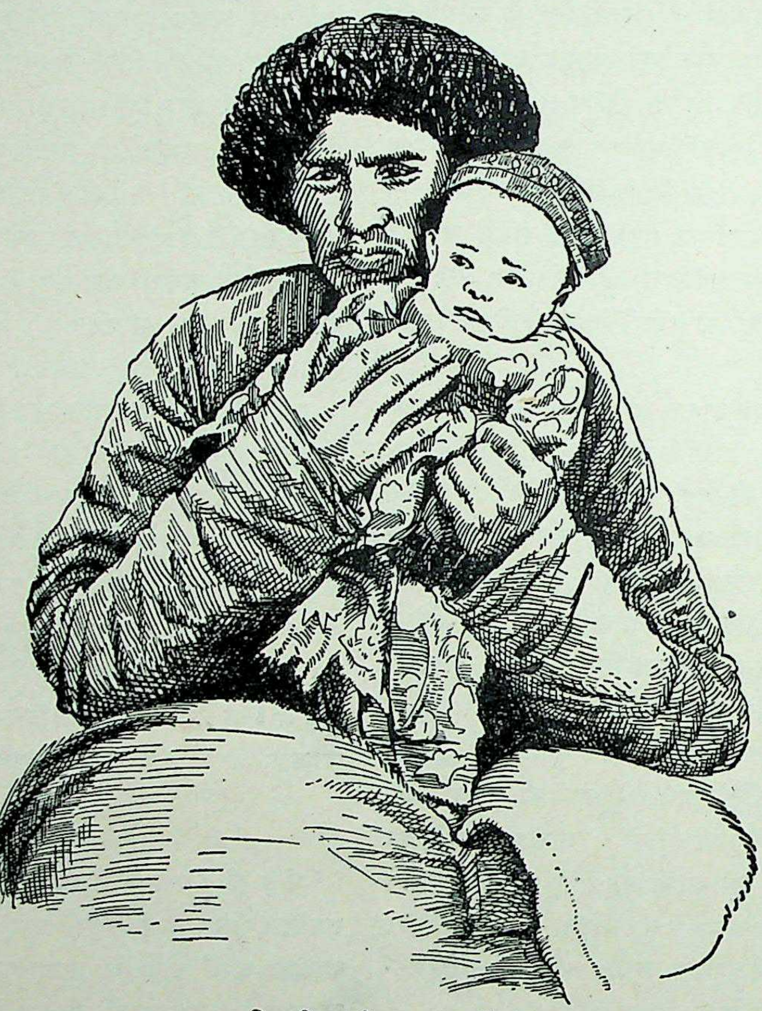

एक किरगीज और उसका शिशु ।

बातों-बातों में पता चलता है कि बूढ़ा कज्जाक एक मेले में सम्मिलित होने जा रहा है, जो यहाँ से लगभग तीस मील पर एक कस्बे में लगता है। वहाँ पर बहुत व्यापारी आते हैं, जिनसे उसे कुछ सामान खरीदना है । बुड्ढे के दो सयाने लड़के हैं, जो मवेशियों की खरीदारी करने बाहर गए हैं । वे कल वापस लौटेंगे । हमारी दृष्टि तम्बू के चारों ओर जाती है । एक कोने में लकड़ी की एक पेटी रखी है, जिसमें शायद जरूरत का सामान रहता है । इधर-उधर चीनी और मिट्टी के दो-चार बर्तन दिखाई देते हैं। दीवारों के पास एक किनारे घोड़ों की जीनें रखी हुई हैं। एक ओर पानी का पात्र रखा है, जो मिट्टी का है। थोड़ी देर बाद हमारा मेजबान हमें बड़े सम्मान से विदा देता है और ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ हमसे पुनः भेंट होने की कामना करता है। हम बाहर आते हैं और हमारी दृष्टि उन ऊँचे पठारों पर पड़ती है, जो चारों ओर दूर तक फैले हुए हैं और जिनकी तराई में हरियाली दिखाई दे रही है। कैसी सुन्दर इनकी भूमि है !

यह एक उल्लेखनीय बात है कि कज्जाक लोग अपनी स्त्रियों से अच्छा व्यवहार रखते हैं । हाँ, उनका बच्चों पर उचित शासन नहीं रहता, जिससे वे हठी और आवारे हो जाते हैं । स्त्रियों में पर्दा नहीं होता और उनको बाहर निकलने तथा घूमने-फिरने की पूरी स्वतन्त्रता रहती है । वे उच्च कोटि की गृहिणियाँ और कर्त्तव्यशील माताएँ प्रमाणित होती हैं । पहले गरीब कज्जाकों को विवाह करने में बड़ी

कठिनाई का सामना करना पड़ता था, क्योंकि वधू का पर्याप्त मूल्य चुकाना उन दिनों उनके लिए अनिवार्य होता था। वर को कम-से-कम एक 'याम्बू' चाँदी, जो १६०) के लगभग होती थी, दो घोड़े, दो ऊँट, आठ बैल (याक), बीस भेड़ें और एक बन्दूक वधू के मूल्य में साधारणतया अवश्य देनी पड़ती थी। सोवियत शासन में यह परिस्थिति अब नहीं रही है। कज्जाकों में विवाह की प्रारम्भिक रस्में आम तौर पर कबीले के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा अदा की जाती हैं, जो वर पक्ष की ओर से वधू के माता-पिता से मिलने के लिए भेजे जाते हैं। वे ही वधू के दहेज का सामान भी साथ ले जाते हैं। यदि वधू का पिता उस सामान को पर्याप्त समझकर स्वीकार कर लेता है, तो शादी तय हो जाती है। प्रस्ताव की स्वीकृति का परिचय वधू का पिता आगन्तुक मध्यस्थों को एक-एक 'खिलत' अर्थात् लम्बा चोगा भेंट करके देता है। तब वे वर के पास लौटकर अपनी सफलता की सूचना देते हैं। इसके बाद 'छोटी शादी' अथवा मँगनी का दिन नियत किया जाता है, जिसके लिए कबीले के बड़े-बूढ़ों से सलाह ली जाती है। उस दिन वर लगभग दस दुम्बों को जिबह करके ऊँट पर लादकर अपने भावी श्वसुर के घर ले जाता है, जहाँ कन्या-पक्ष के समस्त सम्बन्धी और बन्धु-बांधव एकत्रित होते हैं। वर उन्हें दावत के लिए यह भेंट देता है। तब पूरी टोली घोड़ों पर सवार होकर पास के मैदान में जाती है और वे अपने साथ एक बकरा भी ले जाते हैं। वहाँ एक व्यक्ति बकरे को बीच मैदान में ले जाकर जिबह करता है, और बाकी सब लोग घोड़े दौड़ाते हुए बकरे को छीनने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार उनमें भयंकर छीनाझपटी होती है। उसके बाद घुड़दौड़ की बारी आती है। उसमें जीतनेवाले को साधारणतया एक ऊँट या बैल इनाम में मिलता है।

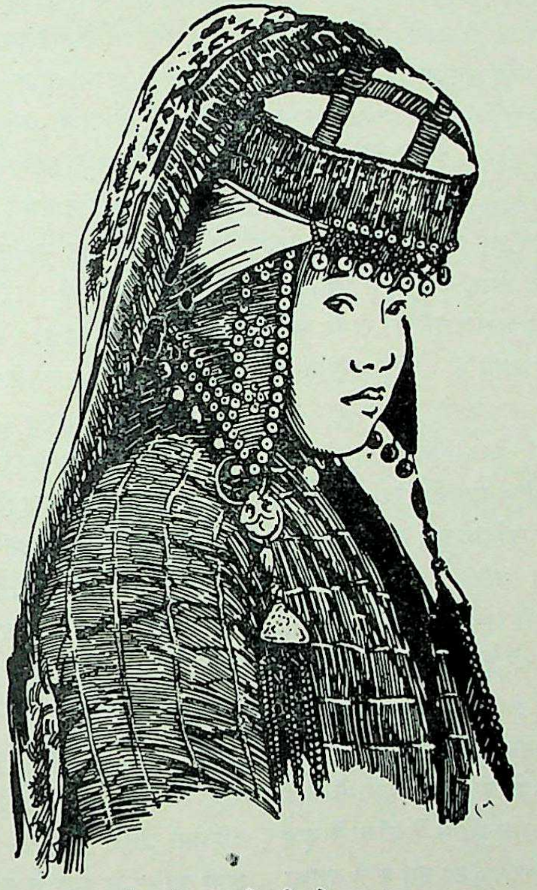

किरगीज स्त्री की वेशभूषा।

यह सब खेल-तमाशे समाप्त होने के बाद, वर अपने दोस्तों के साथ डेरे पर वापस लौट आता है। वहाँ से वधू के जेवर तथा अन्य उपहार लेकर वह ससुराल पहुँचता है और सारी चीजें श्वसुर के आगे रख देता है। तब वर और उसके मित्रों को भी श्वसुर की ओर से खिलत या चोगे प्रदान किए जाते हैं। इसके बाद फिर घुड़दौड़ और दावतें होती हैं। रात में नाच-गान का समारोह चलता है। अन्त में शादी की रस्म पूरी की जाती है। वर-वधू के लिए एक अलग 'अकोई' या तम्बू तैयार किया जाता है, जिसमें वे शादी के बाद जाकर आराम करते हैं। उस तम्बू से वे तीन दिन बाद बाहर निकलते हैं। चौथे दिन वर अपनी वधू को लेकर अपने कबीले में वापस लौट आता है और वे दोनों पति-पत्नी की भाँति रहने लगते हैं।

कज्जाक लोग भी किरगीजों की भाँति अपने यहाँ 'कौमिस' नामक दूधिया शराब तैयार करके पीते हैं। दैनिक श्रम के पश्चात् रात को वे खूब आनन्द मनाते हैं। उनमें काव्य और संगीत की रुचि विशेष रूप से पाई जाती है। उनके कुछ पुराने जातीय गीत हैं, जिनका प्रचार एक दूसरे से सुनकर होता चला आया है। इन गीतों में उनके पूर्वजों की वीरता और पराक्रम तथा प्रेम-प्रसंगों का वर्णन पाया जाता है।

धातुओं के काम में कज्जाक लोग विशेष निपुण नहीं होते, परन्तु वे कलापूर्ण दरियाँ, कालीन और नमदे तथा ऊन के वस्त्र बनाना खूब जानते हैं। अब तो सोवियत रूस के अधीन उनके प्रदेश में जोरों से औद्योगिक और कृषि-संबंधी विकास-कार्य आरंभ हुआ है, अतः इस खानाबदोश जाति ने हर क्षेत्र में प्रगति की ओर अपना कदम बढ़ाना शुरू कर दिया है और उनमें एक नए जीवन का संचार हो गया है। वे खेती-बारी भी करने लगे हैं और कल-कारखानों में भी काम करने लगे हैं।

पूर्वकाल में 'कज्जाक' शब्द से मध्य एशिया के उन लुटेरे, खूँखार और नृशंस अश्वारोही डाकुओं का ही बोध होता था, जो पास-पड़ोस के गाँवों और बस्तियों पर छापा मारा करते थे और जो कुछ मिलता उसे लूट-खसोट ले जाते थे। सम्भव है कि कज्जाकों के पूर्वज ऐसे ही रहे हों, जिनके नाम से यह जाति आज भी पुकारी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि कई पीढ़ियों पहले कज्जाक लोगों के कबीले अत्यंत असभ्य थे और खानाबदोशों की जिन्दगी बसर करते थे। लूट-मार, डाका और चोरी उनका मुख्य उद्यम था। परन्तु जब से उनका प्रदेश रूस के शासन में आया, तब से वे शान्त प्रजा के रूप में रहने लग गए। वस्तुतः शिक्षा का अभाव ही उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति का मुख्य कारण था। वे अन्य धर्मावलंबियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और किसी भी विदेशी से अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। अपने यहाँ के फकीरों और नजूमियों पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। वे उन्हें त्रिकालज्ञ मानते तथा उनकी असंभव को भी संभव बना देने की क्षमता पर उन्हें पूरा विश्वास रहता था। रोग, शोक, जन्म, मृत्यु तथा व्याधियों में भी वे इन्हीं औलिया या पीरों की शरण लेते थे। रोजा, वजू, नमाज की पाबंदी उनमें नहीं पाई जाती थी। परंतु धर्मस्थानों, मजारों और मकबरों की जियारत करने वे दूर-दूर तक जा पहुँचते थे। धर्म के प्रति यह अन्धविश्वास ही उनकी कट्टरता का मूल कारण था। तुर्किस्तान के पूर्वी इलाके में उक्त पीर-पैगम्बरों की असंख्य समाधियाँ पाई जाती हैं। जहाँ कज्जाकों के दल के दल परिवार सहित बराबर भेंट-पूजा चढ़ाने पहुँचते रहते थे। आज भी अपने परिवार के मृतकों के प्रति वे बड़ा सम्मान प्रकट करते हैं और उनकी कब्रों पर यदा-कदा सजावट करते रहते हैं।

आज से कुछ ही वर्ष पूर्व तक कज्जाकों में पढ़ना-लिखना कोई भी नहीं जानता था। यदि सौभाग्यवश उनमें से कोई रूसियों या पास-पड़ोस के अन्य सभ्य लोगों के बीच में कुछ दिन रहकर थोड़ा-बहुत सीख आता था, तो सब कोई उसका बड़ा सम्मान करते थे। कुरान का पाठ कर लेनेवालों को वे असाधारण विद्वान् समझते थे और ऐसे व्यक्ति के पास सलाह-मशविरे के लिए उन लोगों की भीड़ सदैव इकट्ठा रहती थी। सभी उसे सम्मान देते और वह मन चाहे ढंग से उनसे लाभ उठा सकता था। पर आज तो कज्जाक न केवल धड़ाधड़ शिक्षित ही होते जा रहे हैं, प्रत्युत विविध उद्योग-धंधों के क्षेत्र में भी वे पर्याप्त चतुर और व्यवसाय-निपुण बन गए हैं। स्वभावतः सरल-प्रकृति, विश्वस्त और सच्चे होने के कारण वे अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं।

सोवियत रूस के शासन में आ जाने के पश्चात् किरगीज और कज्जाक दोनों ने ही बड़ी उन्नति की है। उनके प्रदेश में रूस ने भाँति-भाँति के उद्योग-केन्द्र स्थापित कर दिए हैं, जहाँ बड़ी संख्या में किरगीज और कज्जाक श्रमिक काम करने लगे हैं। कज्जाकों की जन्मजात वीरता और साहसवृत्ति के कारण उन्हें सोवियत सेना में भी प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त है। रूस ने अनेक युद्धों में कज्जाकों की अश्वारोही सेनाओं का उपयोग करके अपूर्व सफलता प्राप्त की है। वे बड़े साहसी, परिश्रमी, वीर और दृढ़प्रतिज्ञ होते हैं। संग्राम में आगे बढ़कर पीछे पाँव हटाना तो कज्जाक सैनिक जानता ही नहीं, मारना और मर जाना ही उसका सिद्धान्त रहता है। इस सैनिक योग्यता के अतिरिक्त उनमें शिक्षा और कला-कौशल भी दिनोंदिन विकास पाता जा रहा है और अपने पूर्वजों का खानाबदोशी का जीवन छोड़कर अब वे नागरिक जीवन अपनाते जा रहे हैं। पर यह सब होने पर भी कज्जाक लोग अपनी प्राचीन वेशभूषा, अपने रीति-रिवाज, लोकगीत आदि से अत्यन्त प्रीति रखते हैं। आज भी वे प्रायः अपने लम्बे चोगे, पाजामे, पगड़ी और कमरबन्द से सुशोभित दिखाई देते हैं।

वोलगा नदी से लेकर चीन की सीमाओं तक फैला हुआ 'कज्जाक जनतंत्र' आज विस्तार की दृष्टि से सोवियत संघ का द्वितीय सब से बड़ा जनतंत्र है। उसका क्षेत्रफल लगभग साढ़े दस लाख वर्गमील है, जिसमें पच्चासी लाख नर-नारी बस रहे हैं। इस क्षेत्र में जस्ता, ताँबा, सीसा, लोहा, कोयला, आदि की मूल्यवान् खानें विकसित हो चुकी हैं। साथ ही लगभग पाँच करोड़ एकड़ अछूती जमीन को कृषि के दायरे में लाकर इस क्षेत्र को सोवियत संघ के प्रमुख अनाज-उत्पादन-क्षेत्रों में बदल दिया गया है। इसी तरह मध्य-एशिया के उत्तर-पश्चिमी अंचल में स्थित 'किरगीज जनतंत्र' का भी स्वरूप रूसी क्रान्ति के बाद से बदलकर क्या से क्या हो गया है। लगभग पचहत्तर हजार वर्गमील के क्षेत्रफल में फैले हुए इस पर्वतीय प्रदेश की जनसंख्या आज उन्नीस लाख के लगभग है और यद्यपि वहाँ का मुख्य व्यवसाय कृषि और पशुपालन है, तथापि उद्योग के क्षेत्र में भी अब वह पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। वहाँ पारे और एंटीमनी जैसी मूल्यवान् धातुओं के अलावा आज कोयले और तेल की भी उपज हो रही है और अनेकों छोटे-बड़े उद्योग चालू हो गए हैं। इस प्रकार इन खानाबदोश जातियों की पिछड़ी हुई दशा की कहानी अब केवल इतिहास के पन्नों पर ही शेष रह गई है।

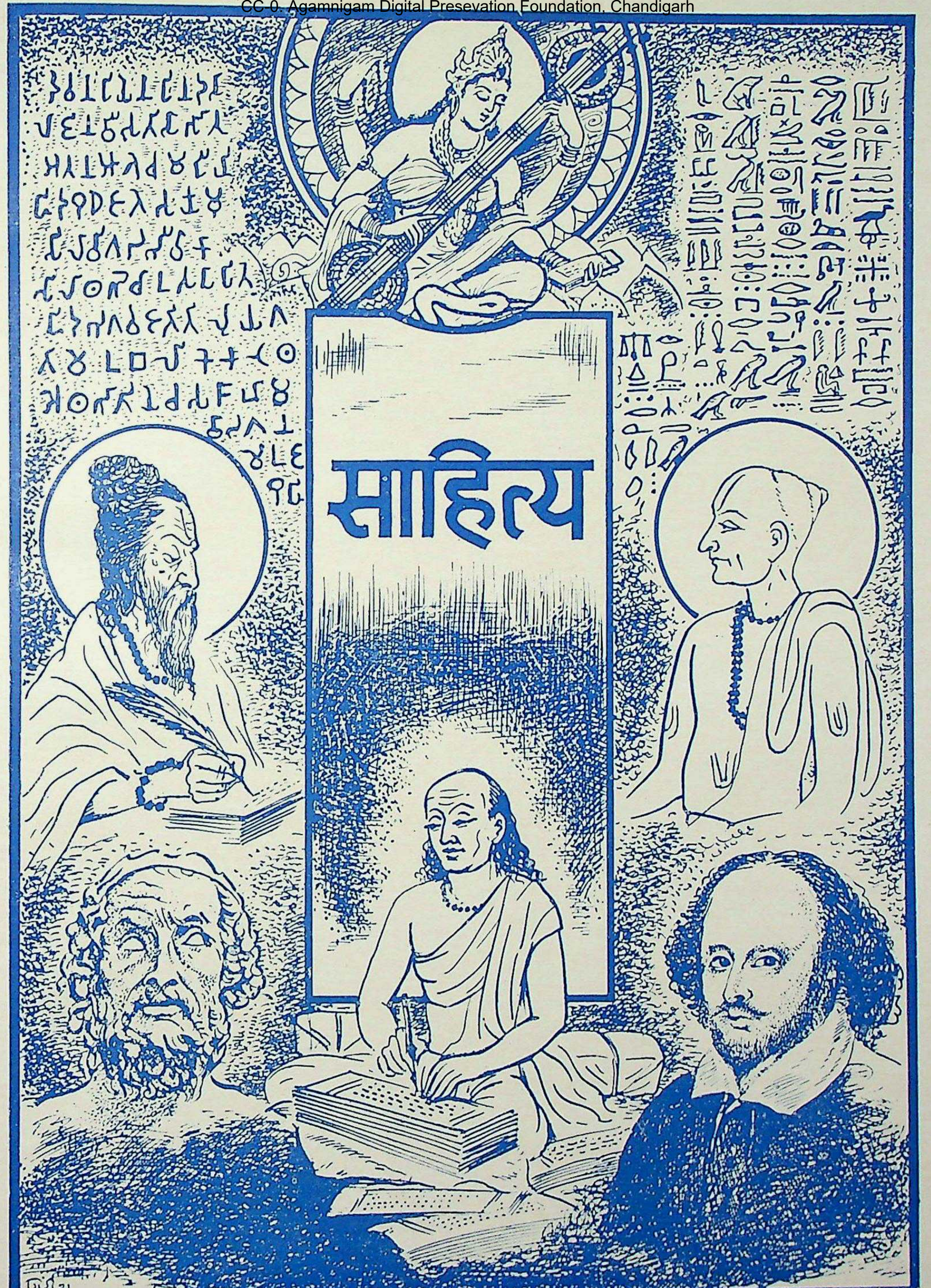

साहित्य
गिरी २१

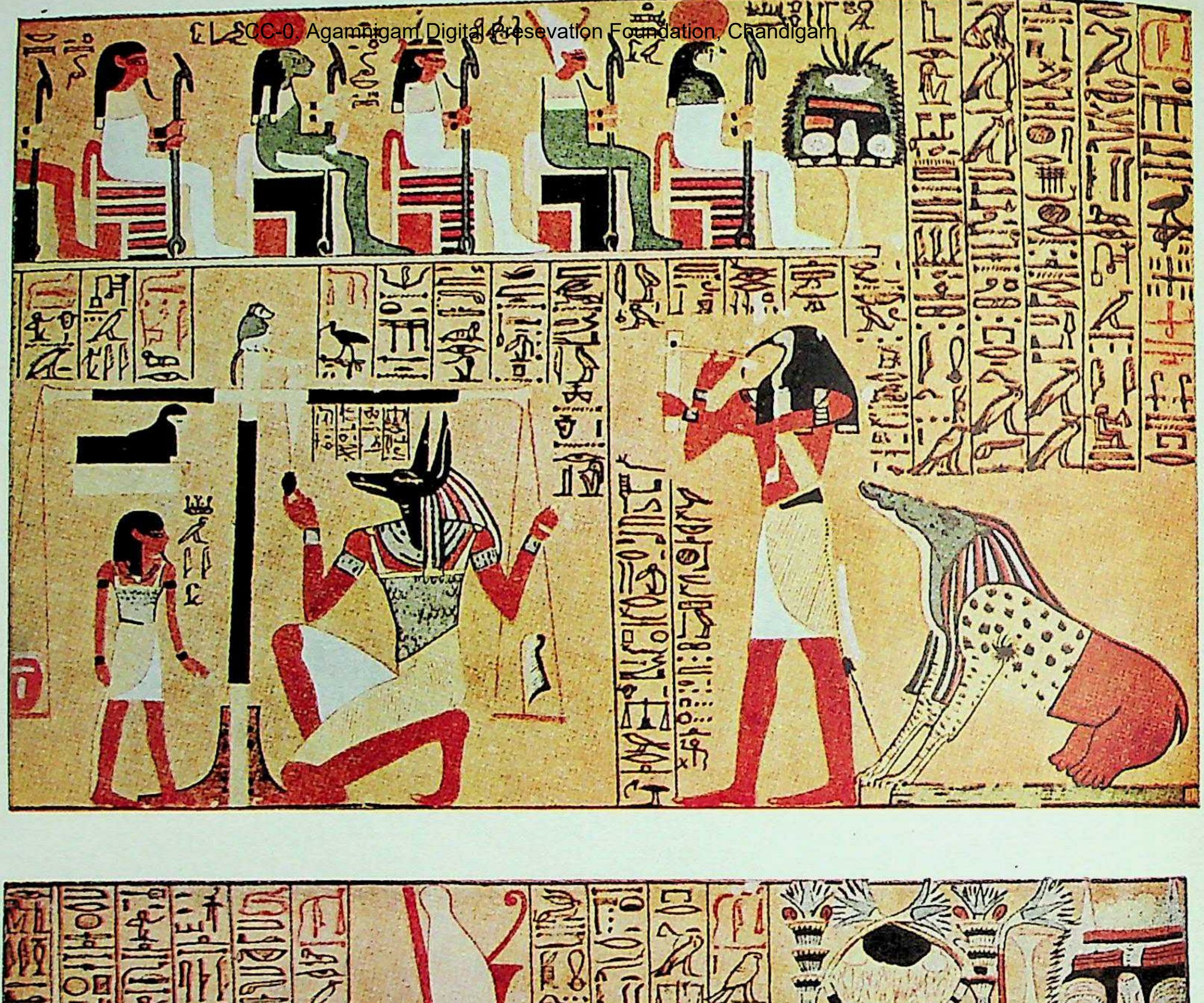

पाँच हजार वर्ष की लेखन-कला :: प्राचीन मिस्री चित्र-लिपि की झाँकी

ये चित्र प्राचीन मिस्र के एक 'पेपाइरस' (एक प्रकार के कागज पर लिखित लेख) के अंश हैं । बीच-बीच में अंकित संकेत ही मिस्री भाषा की चित्र-लिपि के चिह्न हैं, जिनसे आगे चलकर ग्रीक, लैटिन आदि के वर्णाक्षर बने ।

साहित्य का प्रादुर्भाव क्यों और कैसे हुआ ?

मनुष्य की सभ्यता और उन्नति का चरम विकास और उसका सब से अद्‌भुत आविष्कार न तो रेल और हवाई जहाज ही हैं, न पेचीदा यन्त्रों से सजे हुए उसके वे कल-कारखाने ही, जिनका उल्लेख पिछले एक खंड में हो चुका है। उसकी सब से अद्‌भुत सृष्टि वास्तव में उसकी साहित्य-सृष्टि है। इस समय आप इस पुस्तक द्वारा मानव-जाति के अब तक संचित ज्ञान की जो झलक पा रहे हैं, वह भाषा, वर्णमाला और उनके सहारे निर्मित साहित्य के अद्‌भुत चमत्कार ही का फल है। इस विभाग में मनुष्य की इसी अद्‌भुत अनोखी सृष्टि का परिचय कराया गया है।

मैं अपने कमरे की खिड़की से एक दृश्य देख रहा हूँ; अमीरों के प्रासाद और अट्टालिकाएँ; गरीबों की झोपड़ियाँ; मोटरें, ताँगे, इक्के; विविध रंग की रेशमी साड़ियाँ पहने हुए महिलाएँ; बदन पर चीथड़े लपेटे भीख माँगते हुए भिक्षुक, इत्यादि, इत्यादि।

इस दृश्य को देखकर मेरे मन में अजीब भाव जाग्रत हो रहे हैं, एक प्रतिक्रिया-सी हो रही है। मैं विचार कर रहा हूँ अमीर-गरीब के इस आर्थिक असाम्य पर। गरीबों की दयनीय दशा देखकर मेरी आँखों में आँसू छलछला आए हैं। अमीरों का घमंड देखकर मैं क्रोध से दाँत पीस रहा हूँ। मैं इस जीवन के वैषम्य का दोषी भाग्य को न ठहराकर मानव की स्वार्थान्धता को ही ठहरा रहा हूँ।

दो प्रकार की दृष्टि––वाह्य और आन्तरिक

मैं इस जगत् को दो प्रकार से देख रहा हूँ। एक प्रकार है, इंद्रियों की अनुभूति द्वारा; दूसरा, विचार द्वारा। ये दोनों ही प्रकार मुझे वस्तुस्थिति समझाने में सहायक हैं। अंतर केवल इतना ही है कि प्रथम प्रकार से मैं बाह्य पदार्थ-संसार को देख भर लेता हूँ, और दूसरे प्रकार से मैं बाह्य पदार्थ-संसार पर मस्तिष्क का प्रयोग करके अपने या समाज के हिताहित पर मनन करता हूँ।

मनन करने पर हमें यह समझने में देर न लगेगी कि दूसरा प्रकार ही अधिक विस्तृत तथा उपादेय है। इंद्रियों द्वारा तो मुझे केवल अपने कमरे या कमरे से बाहर के सीमित जगत् का ही ज्ञान उपलब्ध होता है, पर विचार द्वारा मैं विश्व भर का भ्रमण एवं दर्शन कर सकता हूँ।

अंतर्दर्शन ही साहित्य का मूल स्रोत

दूसरे प्रकार द्वारा ही साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है। मानव को जब अपने विचारों, रीति-रस्मों और अनुभवों को एक रूप देने एवं उन्हें सुरक्षित रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तभी तो प्रकृति की सृष्टि से भी अधिक सुन्दर एक सृष्टि-रचना की ओर वह अग्रसर हुआ। उसकी यही साध कला एवं साहित्य की जननी है।

जीवन के प्रभात में मानव कितना संबलहीन रहा होगा, इसका अनुभव सभ्यता के इस मध्याह्नकालीन प्रकाश में भी हम बहुत-कुछ कर सकते हैं। जब अकाल पड़ता है और मानव भूख से तड़पता फिरता है, तब हमारी आँखों के सामने एक दारुण दृश्य उपस्थित हो जाता है। इसी तरह आदिकाल में, जब पहले-पहल अपने साथी को कष्ट से चीखते देखकर मानव-हृदय में करुणा का संचार हुआ होगा, तब उससे सहानुभूति के दो शब्द कहने को वह कैसा तड़पा होगा !

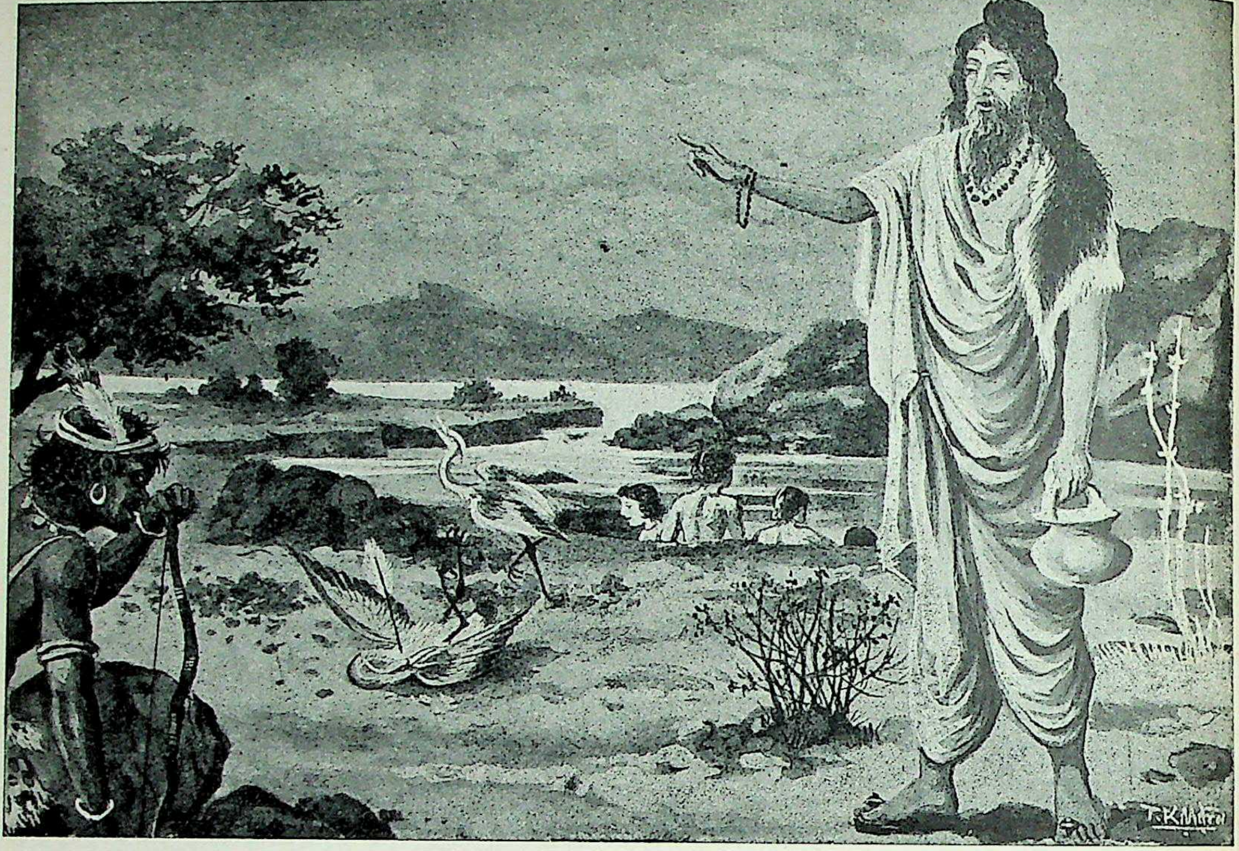

साहित्य के उद्गम पर प्रकाश डालनेवाला ऐसा मार्के का उदाहरण हमें शायद ही और कहीं मिलेगा, जैसा कि हमारी अनुश्रुति में आदिकवि वाल्मीकि की प्रथम काव्यधारा के प्रस्फुटन संबंधी ज्वलंत उपाख्यान में मिलता है। कहते हैं, कि व्याध के बाण से हत क्रौंच (कुररी) पक्षी की तड़पन से आदिकवि का हृदय करुणा से ऐसा आर्द्र हो उठा था कि उसी समय उनके मुख से आप ही आप एक छंदबद्ध कविता की धारा फूट पड़ी थी। ऋषि ने इसी छंद में बाद में अपने अमर महाकाव्य 'रामायण' की पूरी रचना कर डाली !

उस समय उसने अभिव्यक्ति के साधन के अभाव का जो अनुभव किया होगा, इसकी कल्पना हम कर सकते हैं !

मेरे पड़ोस में एक गूँगा रहता है। वह बहरा भी है। जब उसे भूख लगती है, तब वह थाली लाकर रख देता है। प्यास लगती है, तो गिलास हाथ में ले लेता है। जब थाली नहीं होती, तो मुँह में झूठमूठ को कौर बनाकर रखता है। गिलास नहीं मिलता, तो ओक करके बैठ जाता है। जीवन के उषःकाल में भाषा के अभाव में मानव का व्यवहार भी इस गूँगे के व्यवहार से मिलता-जुलता ही रहा होगा। उसके व्यवहार में उन दिनों निश्चयपूर्वक इंगितों का प्राधान्य रहा होगा। तब आवश्यकयाओं के दबाव के फलस्वरूप पारस्परिक विचार-विनिमय में प्रकृति के विविध दृश्यों एवं पदार्थों से काम निकाला गया होगा। उनके अभाव में उनके चित्र बनाए जाने लगे होंगे। ये प्रथम चित्र ही बदलते-बदलते सहस्रों वर्ष बाद आधुनिक अक्षरों के रूप में आज हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। ये तमाम अक्षर, जिन्हें हम पढ़ते-लिखते हैं, कल्पना की नींव पर अवस्थित हैं। कहारिन जैसे बर्तनों को जूने-मिट्टी से माँजकर स्वच्छ कर देती है, वैसे ही मानव ने भी कला के जूने-मिट्टी से भौंड़े-बदसूरत चित्रों एवं चिन्हों को माँज-माँजकर उन्हें यह आधुनिक रूप दिया है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर मानव मस्तिष्क पर सदा के लिए अंकित हो जानेवाली पुराकाल की एक अमिट स्मृति का सूचक है। वह मानव के कृत्यों को अमर बनाने का साधन है—मानव को मानवता के सूत्र में बाँधने का, जीवन की विभिन्नता में एकता संपादन करने का वह अमूल्य उपाय है। यह वह अमर ज्योति है, जिसके अभाव में कदाचित् मानव मानवता की परिधि से बाहर ही रह जाता और सदैव अज्ञान के लोक में कालयापन करता रहता।

अक्षरों की महिमा और साहित्य के प्रचार में मुद्रण-कला का योग

ज्ञान और विज्ञान की विविध स्रोतस्विनियों के वर्तमान स्वरूप का श्रेय अक्षर ही को है। अक्षर 'अक्षर' है। यदि ऐसा न होता, तो वेद और उपनिषद्, रामायण और महाभारत, होमर की वीरगाथाएँ, सुकरात और प्लेटो के अमर वचन, कुरान और इंजिल, कबीर और सूर के अमर पद आदि कभी के मिट गए होते और इन सबके अभाव में आधुनिक साहित्य एवं हमारी सभ्यता का निश्चय ही दूसरा स्वरूप हुआ होता।

अक्षर को 'अक्षर' या अक्षुण्ण बनाये रखने का अधिक श्रेय मुद्रणालय को है। मुद्रणालय के आविष्कार के पहले पुस्तकों का उत्पादन-क्षेत्र बहुत ही परिमित तथा सीमित था। वर्षों में कहीं एक पुस्तक लिखी जाती थी। पाठकों की संख्या भी सीमित ही थी। ज्यों-ज्यों ज्ञानेषणा बढ़ती गई, पुस्तक-उत्पादन विस्तृत होता गया। इस उत्पादन-कार्य में वास्तविक प्रेरणा उन बालकों द्वारा मिली, जो खेल के लिए उद्यान में छाल पर अक्षर काटकर छाप रहे थे। हमारा आधुनिक मुद्रणालय उसी खेल का परिमार्जित रूप है।

साक्षरता एवं सभ्यता के प्रसार में मुद्रणालय का प्रमुख भाग है। यदि कहा जाय कि आज की सभ्यता की प्रगति अधिक-से-अधिक पुस्तकों एवं समाचारपत्रों के उत्पादन पर अवलंबित रही है, तो अत्युक्ति न होगी। सफल सामाजिक जीवन के लिए साक्षरता अनिवार्य है। जिस प्रकार भोजन और आच्छादन हमारे जीवन के लिए परमावश्यक हैं, उसी प्रकार साक्षर होना भी है। साक्षरता के अभाव में मानव अपने कंदरानिवासी पूर्वजों के ही युग में श्वासें भरता दृष्टिगोचर होता है। प्रातःकाल बिस्तरे पर से उठते ही हमें सर्वप्रथम समाचारपत्र चाहिए। उसका अभाव आज उतना ही खलेगा, जितना कि भोजन का। मानव का हित बहुत अंशों में साक्षरता पर निर्भर है। साक्षरता की उन्नति पर ही साहित्य की उन्नति अवलंबित है। ज्यों-ज्यों मानव को अपने हित का अधिक ज्ञान होता जायगा, उसी अनुपात से सुन्दर साहित्य की रचना होगी। साहित्य शब्द तभी सार्थक भी होगा। यह समझ लेना आवश्यक है कि साहित्य शब्द उन्हीं ग्रन्थों पर लागू होता है, जिनमें सार्वजनीन हित-संबंधी विचार सुरक्षित हैं। साहित्य में प्राकृतिक दृश्यों, नगरों, महलों, झोपड़ियों, खेतों, वनस्पतियों, वृक्षों, नदियों, पहाड़ों इत्यादि का वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं होता; वरन् इस दृष्टि से कि इन सबकी मानव के लिए क्या उपादेयता है, इनसे मानव का क्या बनता-बिगड़ता है। जहाँ तक इनका संबंध मानव से है, वहीं तक इनका साहित्य में स्थान है। साहित्य के लिए मानव मुख्य है, इसीलिए साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

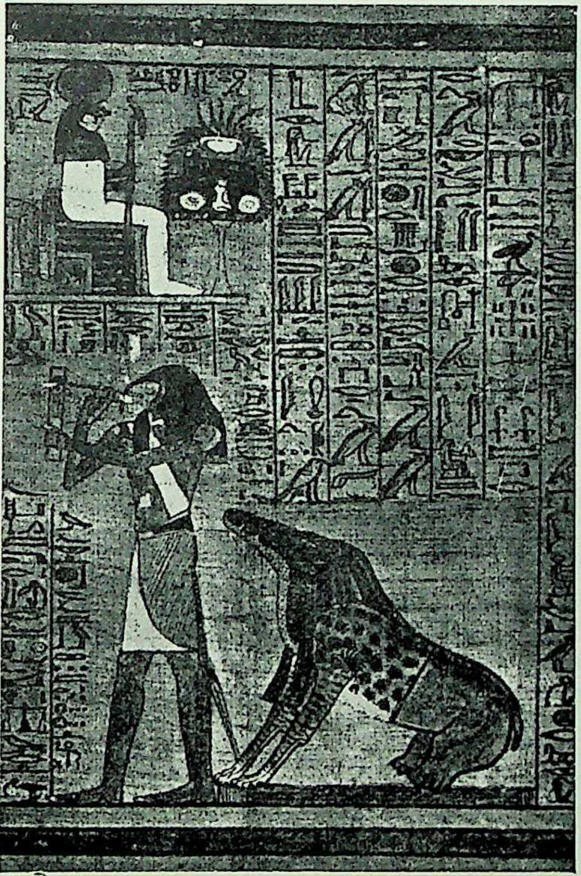

यह पाँच-छः हजार वर्ष पूर्व के मिस्र के सम्राटों के समाधि-स्तूपों से प्राप्त लेखों के एक अंश का चित्र है। ऐसे लेखों में प्रयुक्त अक्षर चित्र-लिपि में अर्थात् वस्तुओं के चित्रों के रूप में होते थे! उन्हीं से आगे चलकर संसार की बहुतेरी वर्णमालाओं का विकास हुआ।

साहित्य और संस्कृति

साहित्य के अंतर्गत मानव-जीवन से संबंध रखनेवाली समस्त बातें और प्रकृति की समस्त क्रिया-प्रक्रियाएँ आती हैं। जो कुछ मानव ने किया, कहा और विचारा है, उस सब का समावेश साहित्य में है। इसी कारण मानव-जीवन पर साहित्य का पूर्ण प्रभाव रहा है। साहित्य को ही हमारी सभ्यता के विकास का सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है। जो संबंध विश्वास और प्रेम के बीच है, वही साहित्य और सभ्यता का है। यह

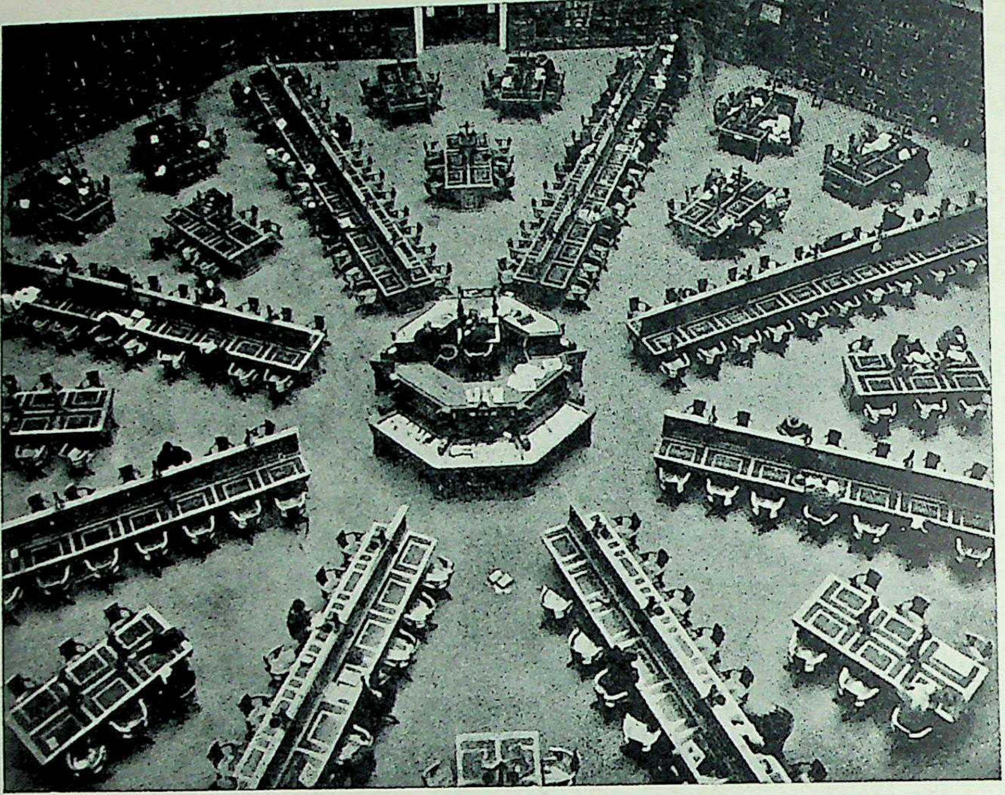

यह एक महान् आधुनिक पुस्तकालय के वाचनालय-कक्ष का प्रभावोत्पादक दृश्य है ! किसी विशाल चक्र के आरों की तरह केन्द्रीय नाभिक के चहुँ ओर लंबी कतारों में मेज-कुर्सियाँ बिछी हैं और बड़े आराम के साथ शान्ति के वातावरण में सैकड़ों पाठक अपने-अपने चाव की पुस्तकें पुस्तकालय से लेकर पढ़ रहे हैं। बीच की केन्द्रीय मेज पर अधिकारीगण बैठे हैं, जो पुस्तकों के आदान-प्रदान में योग देते हैं।

संबंध अति महत्वपूर्ण है। आप और हम वर्तमान में रहते हैं, पर निरे वर्तमान के लिए ही नहीं, भविष्य के लिए भी। बर्बर और सभ्य मनुष्यों में यही तो अंतर है। बर्बर वर्तमान के लिए जीवित हैं; सभ्य वर्तमान के लिए और भविष्य के लिए भी। हमारी सभ्यता का आधुनिक स्वरूप इस कथन को प्रमाणित करता है। जीवन एक विकासधारा है। मानव का वर्तमान स्वरूप विकास का ही प्रतिफल है। हम एकदम वृद्ध नहीं हो जाते––शिशु, युवा, प्रौढ़ इन अवस्थाओं के पश्चात् कहीं वृद्ध होने की नौबत आती है। यही दशा सभ्यता की है। ज्यों-ज्यों विचारशीलता बढ़ती गई, स्वार्थांधता की अपेक्षा निःस्वार्थ भावना मान्य समझी जाने लगी। साथ-ही-साथ साहित्य का दृष्टिकोण भी बदलता गया और सभ्यता विकसित होती गई।

साहित्य की तुलना सरिता से की गई है। सरिता सदैव प्रवाहित रहती है। यही दशा साहित्य की भी है। वस्तुतः मानवता इसके सतत प्रवाहित रहने में ही है। जीवन परिवर्तनशील है। जिस जगत् में हम रह रहे हैं, उसका अर्थ ही है चलते रहना। साहित्य यदि सरिता जैसा न होकर एक स्थिर तलैया अथवा पुष्करिणी जैसे होता, तो मनुष्य बर्बर ही बना रहता और जिसको आज हम संस्कृति अथवा सभ्यता कहते हैं, उसका कोई अस्तित्व ही न होता। साहित्य द्वारा ही हम ऋषियों की अमृतवाणी, जो वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, दर्शनों और पुराणों में सुरक्षित है, सुन सकते हैं और वेदव्यास, वाल्मीकि, गौतम बुद्ध, सुकरात, प्लेटो, कबीर, तुलसी, सूर, जायसी, मीराबाई, शेक्सपीयर, गेटे, दाँते, ह्यूगो, वाल्ट विट्मॅन, कीट्स, शैली, इत्यादि महान् कवियों, दार्शनिकों, इतिहासकारों, औपन्यासिकों आदि से वार्तालाप कर सुख पा सकते हैं। साहित्य का महत्व ही यह है कि वह महान्-से-महान् और छोटे-से-छोटे व्यक्तित्व को भी हमारे निकटतम कर देता है। साहित्य द्वारा हम बाह्य जगत् को भली प्रकार समझने में समर्थ होते हैं।

संक्षेप में साहित्य मानव-जाति का एक बृहत् मस्तिष्क है। जिस भाँति व्यक्तिगत रूप से हम निज के अनुभव का लेखा अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखते हैं और इस पूर्वानुभव द्वारा नवीन ज्ञान और अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, उसी भाँति समष्टि रूप में मानव-जाति का अब तक का अर्जित ज्ञान एवं अनुभव साहित्य में सुरक्षित है। इसी पूर्वार्जित ज्ञान पर हमारी भावी प्रगति निर्भर है।

भाषा का उद्भव और विकास :: विविध भाषा-परिवार

भाषा की बदौलत ही साहित्य का निर्माण संभव हुआ है, अतएव साहित्य के विकास का अध्ययन करने के पहले भाषा के जन्म और विकास का पर्यावलोकन करना उपयोगी होगा ।

आदिम मनुष्य ने कैसे बोलना सीखा, इसकी विद्वानों ने खोज की है और अनेक मतों का प्रतिपादन किया है, पर निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा मत सही है और कौन-सा भ्रान्त । एक पुराना मत यह है कि मनुष्य को भाषा ईश्वर से मिली है । इस मत को मानने वाले केवल धर्मविश्वासी मनुष्य हैं । सभी देशों और जातियों के धर्मानुयायी अपनी-अपनी धार्मिक पुस्तकों को दैवी या ईश्वरीय बतलाते हैं । बौद्ध लोग पाली को ईश्वर की प्रथम भाषा मानते हैं, तो मुसलमान अरबी को, ईसाई हिब्रू को और वैदिक धर्मानुयायी देवभाषा संस्कृत को । यह मत कितना दोषपूर्ण है, कहने की आवश्यकता नहीं । धर्म के पचड़े में न पड़कर निस्संकोच यह मान लेना चाहिए कि भाषा का प्रथम और अन्तिम अधिकारी मनुष्य है । भाषा मनुष्य की अपनी ही कमाई हुई संपत्ति है ।

दूसरा मत यह है कि भाषा का जन्म संकेतों द्वारा हुआ और मनुष्य की आधुनिक विकासावस्था उन्हीं संकेतों के परिणामस्वरूप है । इस मत में कुछ सत्य अवश्य है, पर वह इतना ही है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोकेच्छा पर निर्भर होता है, केवल संकेतों द्वारा मनुष्य अपने मस्तिष्क का विकास नहीं कर सकता ।

तीसरा मत यह है कि प्रथम शब्द अनुकरणात्मक थे । मनुष्य ने पशु-पक्षियों की बोलियों का अनुकरण कर अपना शब्दभांडार बढ़ाया है । बिल्ली की 'म्याऊँ' आवाज, कुत्ते का 'भों-भों', घोड़े का 'हिनहिनाना', कौए का 'काँव-काँव' आदि सुनकर मनुष्य ने शब्द गढ़े । इस मत के माननेवाले यह भूल जाते हैं कि मनुष्य ने अपने मानव साथियों की बोलियों का भी तो अनुकरण किया होगा। इतना अवश्य है कि कुछ शब्द अवश्य अनुकरणमूलक होते हैं और उनके द्वारा अवश्य कुछ शब्दों की सृष्टि भी हो सकती है, पर यह कहना कि सारा का-सारा शब्दभांडार इन्हीं की कृपा का फल है, भ्रमात्मक है । इस मत को 'बाउ-वाउ-वाद' कहते हैं ।

चौथा मत यह है कि प्रथम शब्द मनोभावों के द्योतक थे। विस्मय, भय, घृणा आदि के मनोभावों को प्रकाश में लाने के लिए मनुष्य के मुख से स्वतः ही कुछ शब्द निकल पड़ते हैं । उदाहरणार्थ ओह, आह, हा, पिश्, पूह शब्दों की व्युत्पत्ति का एकमात्र कारण मनुष्य के मनोभाव ही हैं, और इन मनोभावों की उत्पत्ति के कारण शारीरिक हैं । प्रायः देखा गया है कि मनोभावों के द्योतक शब्दों का प्रयोग तभी होता है, जब भावाधिक्य के कारण मनुष्य के मुख से भाषा का कोई शब्द निकलता ही नहीं, अतएव ऐसे शब्दों को भाषा के अन्तर्गत मानना भूल है। अपरंच ओह, आह, पिश, पूह आदि ध्वनियाँ सांकेतिक हैं । समस्त देशों और जातियों में इनका थोड़ा-बहुत उसी रूप में प्रचार है । दर्द के मारे हिन्दुस्तानी 'ऊह' कहकर चिल्लाता है, तो अंग्रेज 'ओह' और जर्मन 'औ' कहकर । अन्तर अधिक नहीं है ।

पाँचवा मत कहता है कि आदिम मनुष्य के प्रथम शब्द वे थे, जिनकी सृष्टि बाह्य जगत् के संसर्ग में आकर स्वभावतः ही हो गई हो। जैसे लोहा, पत्थर आदि बजाने से विभिन्न स्वर निकलते हैं, वैसे ही मनुष्य को जैसा भी अनुभव हुआ, उसके

लिए वैसा शब्द बन गया। जैसे-जैसे भाषा विकसित होती गई, यह स्वाभाविक शक्ति घटती गई। इस मत का नाम मैक्समूलर ने 'डिंग-डांग-वाद' रक्खा है।

छठवाँ मत कहता है कि जब मनुष्य खूब परिश्रम करता है, तो उसकी साँस वेग से चलने लगती है, जिससे स्वर-तंत्रियों में कम्पन होने लगता है। यही कम्पन आदिम मनुष्य के प्रथम शब्दों का कारण है। 'हेइया', 'आहो' आदि ध्वनियाँ परिश्रमपूर्वक किए गए कार्य के ही परिणामस्वरूप उपजी हैं। इस मत को 'यो-हे-हो-वाद' के नाम से पुकारते हैं।

शब्दों का विकास

इन मतों को ध्यान में रखते हुए हम आदिकाल के प्रारंभिक शब्दभांडार की कल्पना कर सकते हैं। अनेक शब्द बने, पर उनमें केवल वही जीवित रहे, जो सर्वाधिक उपादेय समझे गए—जो आसानी से बोले जा सके और कानों को पूर्णतया स्पष्ट सुनाई पड़े। इन शब्दों के विकास में 'उपचार' का बहुत बड़ा भाग है। 'उपचार' का अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात को समझाना। अंग्रेजी के 'पाइप' शब्द का अर्थ जहाँ पहले 'गड़रिये का बाजा' होता था, उसी का आधुनिक अर्थ 'नल' भी है। ऋग्वेद-काल में यदि 'रम' धातु का अर्थ 'स्थिर होना' था, तो आज उसका अर्थ 'आनंद लेना' है।

उस सुदूर काल में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवश्य ही उतना स्पष्ट नहीं रहा होगा, जितना कि वह आज है। लोग समझने में अनेक भूलें भी करते रहे होंगे। जो इच्छा हुई, वही अर्थ लगा लेते होंगे। शब्दों का ठीक-ठीक बोध तो कदाचित् सहस्रों वर्ष बीतने पर ही होना सम्भव हुआ होगा। आज भी अधिकांश मनुष्यों के लिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अस्पष्ट ही रहता है।

आदिमानव ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम साङ्केतिक भाषा का ही प्रयोग किया होगा, यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं है। आज भी दो विभिन्न भाषाभाषी एक-दूसरे को समझने के प्रयत्न में संकेतों का ही प्रयोग करते हैं। संकेत के साथ-साथ वे ध्वनि का भी प्रयोग करते हैं। अमेरिका के रेड इंडियनों तथा अफ्रीका और प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों के निवासियों में आज के दिन भी सांकेतिक भाषा द्वारा विचारों का आदान-प्रदान होता है।

प्रारम्भिक अवस्था में परिस्थितियों से बाध्य होकर आदिमानव ने आवश्यकता-निवारण के लिए जो प्रथम संकेत किया होगा, उसके द्वारा अवश्य ही उसने एक पूर्ण विचार का आभास दिया होगा। वह संकेत एक पूर्ण वाक्य का द्योतक रहा होगा। यदि ध्वनि-संकेत किया होगा, तो उसमें भी पूर्ण वाक्य निहित रहा होगा। मानव का संकेत-प्रयोग अथवा शब्द-प्रयोग पूर्ण वाक्य का ही काम देता है। केवल संकेत अथवा शब्द, जब तक वह ध्यान आकर्षित न करे, व्यर्थ ही है, और ध्यान आकर्षित करना भाषा है।

जैसे-जैसे शब्दभाण्डार बढ़ता गया और सामाजिक परिवर्तन होने लगे, शब्दों के आदिम प्रयोगों तथा अर्थों में भी यथेष्ट परिवर्तन होने लगे और उन सांकेतिक अर्थों का अपनाना प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी शब्द 'ब्रोकर' का अर्थ है 'वह आदमी जो मद्य के पीपों में सुराख करता है'। आज इसी शब्द का अर्थ है 'दलाल'। 'सैलेरी' का मूल अर्थ है 'नमक का पैसा'। आज उसका अर्थ है 'वेतन'। ग्रीक शब्द 'पोलिस' का अर्थ है 'नगर'। वही शब्द अंग्रेजी में हुआ आज का 'पोलिस'। इसी से अनेक शब्द बने यथा 'पॉलिटिक्स (राजनीतिशास्त्र), 'पालिसी' (नीति), 'पोलीटीशियन' (राजनीति-विशारद)। एक शब्द है 'इन्डिगो'। इस शब्द का मूल अर्थ है 'भारतीय'। पहले नील का उत्पादन भारतवर्ष में होता था। ग्रीक लोगों ने इसका नाम रक्खा 'इंडिकॉन', लैटिन भाषाभाषियों ने इसको नाम दिया 'इन्डिकम' और इटली-स्पेन-निवासियों ने 'इंडिगो'। अंग्रेजों ने इसको इसी रूप में अपनाया। अंग्रेजी शब्द 'फॉरेन' का, जिसका आज 'विदेशी' के अर्थ में प्रयोग होता है, आदिम अर्थ है 'घर के बाहर'। 'बार्गेन', जो आज 'सौदा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अंग्रेजी में लैटिन शब्द 'बार्का' द्वारा आया, जिसका अर्थ होता है 'नाव का'।

ऐसा क्यों होता है, इसका एक कारण है। किसी भी शब्द का आदिम अर्थ कुछ भी रहा हो, पर सामाजिक परिस्थिति और आवश्यकता के आगे उस शब्द को सिर झुकाना ही पड़ता है। भाषा की उन्नति सदैव ही सामाजिक उन्नति की आश्रित रही है, क्योंकि भाषा कोरे शब्दों का समूह ही नहीं है, वह मानव-समाज के पारस्परिक व्यवहार का साधन है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया है, भाषा भी अधिक व्यवहारक्षम तथा शक्तिमती होती गई है। इसी से कहा जाता है कि भाषा का विकास होता है।

भाषा का आदि स्रोत

भाषा के पूर्वरूप का अध्ययन विद्वानों ने कई प्रकार से किया है। अंग्रेजी भाषा के प्रकाण्ड वैयाकरण जैस्पर्सन ने असभ्य जातियों की भाषा, बच्चों की भाषा और विविध भाषाओं का इतिहास इन तीन विचित्र क्षेत्रों का विशेष

अध्ययन कर आदिम मानव की भाषा को खोज निकालने का प्रयत्न किया है । इन तीनों क्षेत्रों में सब से अधिक सफलता विविध भाषाओं के इतिहास के अध्ययन द्वारा ही मिली है । उदाहरणार्थ, आधुनिक हिन्दी की पूर्वी और पश्चिमी बोलियों से तुलना की जाय; फिर पश्चिमी हिन्दी की बाँगड़ू भाषा से, पंजाबी से और डिंगल से तुलना की जाय; फिर इनकी नागर अपभ्रंश से, नागर अपभ्रंश की शौरसेनी से, शौरसेनी की दूसरी प्राकृत अथवा पाली से, फिर दूसरी प्राकृत की पहली प्राकृत से, तब पहली प्राकृत की संस्कृत से, तदनंतर संस्कृत की वैदिक संस्कृत से, फिर वैदिक संस्कृत की अवेस्ता अथवा मीडिक भाषा से तुलना करके तत्पश्चात् इण्डो-योरपियन परिवार की लैटिन, ग्रीक, हित्ती, तोखारी आदि भाषाओं के साथ तुलना की जाय, तो बहुत सन्तोषजनक परिणाम निकाला जा सकता है । निम्नलिखित तालिका से हम भली प्रकार यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये सब भाषाएँ किसी एक आदिम जननी की संतान हैं——

(संस्कृत)	(लैटिन)	(फारसी)	(हिन्दी)	(अंग्रेजी)
पितृ	पेटर	पिदर	पिता	फादर
मातृ	मेटर	मादर	माता	मदर

कौन व्यक्ति कौन-सी भाषा बोलेगा, यह परिस्थिति या शिक्षा पर निर्भर है, जन्म पर नहीं । भाषा मानव की अर्जित संपत्ति है । प्रत्येक मानव प्रत्येक भाषा को सीख सकता है । अंग्रेजी भाषा को आज संसार भर के देशों और जातियों के स्त्री-पुरुष पढ़ते, लिखते और बोलते हैं । यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि समस्त भाषाएँ ग्राह्य हैं और आरंभ में उन सबका अपना कोई एक ही मूल परिवार रहा होगा । इस प्रकार आज तक की खोज के परिणामस्वरूप कोई तेरह परिवारों का पता लगा है । पर इन सबके एक मूल का पता नहीं लग सका है। इन परिवारों में से इण्डो-योरपियन अथवा इण्डो-जर्मेनिक, सैमिटिक, हैमेटिक, यूराल-अल्ताई, चीनी, द्रविड़, मलय-पोलिनेशियन, दक्षिण अफ्रीकी, अमेरिकन और काकेशन मुख्य हैं ।

भाषाओं का वर्गीकरण——उनके विविध परिवार

भौगोलिक दृष्टि से दुनिया की भाषाएँ चार प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित की जा सकती हैं —(१) यूरेशिया, (२) अफ्रीका, (३) दक्षिण और उत्तरी अमेरिका, और (४) प्रशांत महासागर ।

यूरेशिया क्षेत्र की भाषाएँ संस्कृति और सभ्यता के दृष्टिकोण से सब से अधिक महत्व की हैं । सभी में सर्वश्रेष्ठ साहित्य-सर्जन हुआ है। इनके मुख्य परिवार हैं——(१) इण्डो-योरपियन, (२) काकेशन, (३) चीनी अथवा एकाक्षर, (४) यूराल-अल्ताई, (५) सैमिटिक, (६) द्रविड़, और (७) बास्क तथा सुमेरियन ।

इंडो-योरपियन परिवार

इण्डो-योरपियन परिवार में दस उप-परिवार हैं—(१) केल्टिक, (२) ट्यूटैनिक, (३) लैटिन, (४) हैलेनिक, (५) हित्ती (हिट्टाइट), (६) तोखारी, (७) अल्बेनियन, (८) आर्मेनियन, (९) लैटो-स्लाव्हिक, और (१०) आर्य (इण्डो-ईरानी) । भारत की संस्कृत, पाली, फारसी, हिन्दी, उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी आदि से लेकर योरप की ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटैलियन, रूसी, स्पैनिश, स्वीडिश, आदि भाषाएँ इसी महत्वपूर्ण परिवार में हैं ।

काकेशन परिवार

काकेशन परिवार में छः भाषाएँ हैं—(१) किरकासियन, (२) किस्तियन, (३) लैस्घियन, (४) मिग्रेलियन, (५) जार्जियन और (६) सुआनियन । इन भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य होता है ।

चीनी परिवार

चीनी अथवा एकाक्षर-परिवार में चार भेद मुख्य हैं—(१) चीनी, (२) स्यामी (३) अनामी और (४) तिब्बती-बर्मी । एकाक्षर-परिवार के बोलनेवालों की संख्या इण्डो-योरपियन परिवार की तुलना में दूसरी ठहरती है । इसमें चीनी भाषा ही मुख्य है और इस वर्ग की अन्य भाषाओं पर इसी का सर्वाधिक प्रभाव है । चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द के लिए एक चित्र होता है । स्वर-भेद और स्थान-भेद से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव प्रकट करने की इसमें क्षमता है ।

यूराल-अल्ताई परिवार

यूराल-अल्ताई परिवार में पाँच उप-परिवार हैं—(१) मंगोलियन, (२) टर्को-तार्तार, (३) टुंगूज, (४) फिनो-अग्रिक और (५) सैमोयेद ।

मंगोलियन भाषा मंचूरिया और मंगोलिया में, टुंगूज ओखोटस्क सागर के निकटवर्त्ती प्रदेश और मंचूरिया के कुछ भागों में, तथा सैमोयेद आर्कटिक सागर के तटवर्त्ती पश्चिमी भागों में बोली जाती है । फिनो-अग्रिक उप-परिवार में अनेक भाषाएँ है । ये सब हंगरी, बल्गेरिया, यूराल पर्वत और साइबेरिया में बोली जाती हैं । इस परिवार की

भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य है और स्वरों में पूर्ण अनुरूपता है ।

सैमिटिक परिवार

सैमिटिक-परिवार में नौ भाषाएँ हैं--(१) असीरियन, (२) बैबिलोनियन, (३) परवर्त्ती अर्माइक, (४) हिब्रू, (५) मोबाइट, (६) प्यूनिक, (७) अरबी, (८) हिम्यार्टिक और (९) अबीसीनीयन । इण्डो-योरपियन परिवार को छोड़कर सब से अधिक महत्वपूर्ण परिवार यही है । इस परिवार ने अधिकांश संसार को लिपि-कला सिखलाई है । केवल चीन और भारत की लिपियाँ ही शुद्ध स्वदेशी हैं । इस भाषा में सर्वनाम क्रिया के अन्त में प्रयुक्त होते हैं, जैसे कतबइ (मेरी किताब) । धातुएँ तीन व्यंजनों से बनती हैं, जैसे क्त्ब् (लिखना), स्वर एक भी नहीं होता । रूप चलते हैं—नाक्तूब्(हम लिखते हैं) ; कतबत्(उसने लिखा)आदि ।

द्रविड़-परिवार

द्रविड़-परिवार में बारह भाषाएँ है--(१) तमिल, (२) मलयालम, (३) कन्नड़ (४) तुलु, (५) टोडा, (६) कोडगू, (७) कूई, (८) कुरुख, (९) गोंडी, (१०) कोलामी, (११) तेलुगू, और (१२) ब्राहुई ।

इस परिवार की भाषाओं में उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं, जिनमें से एक में श्रोता भी शामिल रहता है ।

वास्क तथा सुमेरियन भाषाएँ

बास्क भाषा स्पेन और फ्रांस के सीमा-क्षेत्र की बोली है । इसमें लिंग-भेद क्रियाओं में होता है और क्रिया वाक्य के अन्त में प्रयुक्त होती है । सुमेरियन भाषा प्रत्यय-प्रधान है और यह बेबिलान में बोली जाती थी ।

अफ्रीकी, अमेरिकन और प्रशान्त महासागरीय परिवार

अफ्रीका-विभाग में चार मुख्य भाषा-परिवार हैं--(१) बाँटू, (२) हैमेटिक, (३) सैमिटिक, और (४) सूदानी । इनमें सर्वाधिक महत्व के केवल हैमेटिक और सैमिटिक परिवार हैं । हैमेटिक परिवार की 'काप्टिक' भाषा में लिखा गया धार्मिक साहित्य महत्वपूर्ण है । सैमिटिक परिवार की प्रसिद्ध भाषा अरबी है ।

अमेरिका-विभाग की भाषाओं में एस्किमो, मोदेरू, अजतेक, मय, कारिब, अरबाक, गुआर्नी-तूपी, अरौकन, चाको, आदि मुख्य हैं । इनका विशेष अध्ययन नहीं हुआ है ।

प्रशांत महासागरीय विभाग के परिवार में पाँच उप-परिवार माने जाते हैं——(१) मलयन, (२) मेलानेशियन, (३) पोलीनेशियन, (४) पापुअन, और (५) ऑस्ट्रेलियन । मलयन भाषाएँ मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्निओ, फिलिपाइन्स आदि द्वीपों में बोली जाती हैं । मेलानेशियन न्यूगिनी और फीजी द्वीपों में, पोलीनेशियन न्यूजीलैण्ड में, और ऑस्ट्रेलियन ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप में बोली जाती है । इन भाषाओं में कोई साहित्य-सृष्टि नहीं हुई है और इनका विशेष अध्ययन भी नहीं हुआ है ।

संसार की भाषाओं में वाक्य का कैसा रूप है, उसकी कैसी रचना है, इसका भाषाविज्ञों ने अनुसन्धान किया है और वाक्यों के चार भेद बतलाए हैं--(१) समास-प्रधान, (२) व्यास-प्रधान, (३) प्रत्यय-प्रधान और (४) विभक्ति-प्रधान । समास-प्रधान वाक्य वह हैं, जिसमें उद्देश्य, विधेय, विशेषणादि सम्मिलित होकर समास के रूप में पूर्ण वाक्य बनाते हैं । ऐसे वाक्य पूर्ण शब्द के तुल्य प्रयुक्त होते हैं । उदाहरणार्थ, मैक्सिकन भाषा में 'मैं उसे खाता हूँ' के लिए कहेंगे 'निक्क', जो एक पूर्ण वाक्य है ।

'व्यास-प्रधान' वाक्य में शब्द स्वतंत्र रहते हैं । उद्देश्य, विधेय, विशेषणादि का पारस्परिक सम्बन्ध स्वर, स्थान, निपात आदि पर निर्भर होता है । चीनी, बर्मी भाषाएँ व्यास-प्रधान ही होती हैं । चीनी भाषा के केवल ५०० साहित्यिक शब्दों से लगभग १,५०० शब्दों का निर्माण हो जाता है । उदाहरणार्थ 'न्गो ता नी' का अर्थ होता है, 'मैं तुम्हें मारता हूँ' । यदि इसको 'नी ता न्गो' कर दें, तो अर्थ होगा 'तुम मुझे मारते हो' । उच्चारण करने में 'क्वेइ क्वोक' में यदि 'इ' पर उदात्त स्वर रहे, तो अर्थ होगा 'दुष्ट देश' । और यदि 'इ' पर अनुदात्त स्वर रहे तो अर्थ होगा 'श्रेष्ठ देश' ।

प्रत्यय-प्रधान वाक्य में कारक, लिंग, वचनादि के भेद प्रत्ययों द्वारा बतलाए जाते हैं । तुर्की भाषा में 'एव' का अर्थ 'घर' है । बहुवचन के लिए 'लेर' जोड़ देने से अर्थ हो जायगा 'बहुत-से घर' । इसी में 'मेरा' अर्थवाला प्रत्यय जोड़ देने से हो जाता है 'एवलेरिम' (मेरे बहुत-से घर) ।

विभक्ति-प्रधान वाक्य में शब्दों का सम्बन्ध विभक्तियों द्वारा सूचित किया जाता है । संस्कृत भाषा विभक्ति-प्रधान है । इसमें कारक, लिंगादि के भेद प्रदर्शित करनेवाले प्रत्यय मूल शब्द से अलग नहीं किए जा सकते ।

आदिकाल में अधिकांश शब्द विस्मयादिबोधक और मूर्त पदार्थों के रहे होंगे । जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती गई शब्दों में वृद्धि हुई और अमूर्त भावों के लिए भी शब्द गढ़े गए

मानव ने लिखना कैसे सीखा—(१)

विविध वर्णमालाओं का विकास

पिछले एक प्रकरण में हम यह बता चुके हैं कि मनुष्य के आविष्कारों में सब से अद्भुत वस्तु लिखने-पढ़ने में प्रयुक्त उसके वे तरह-तरह के संकेत-चिह्न या 'अक्षर' हैं, जिनकी बदौलत वह देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर अपने विचारों को आनेवाली पीढ़ियों के लिए शाश्वत रूप में छोड़ जाने में समर्थ हुआ है। किस प्रकार इन अक्षरों का आविष्कार हुआ और अपने आदिम रूप से क्रमशः विकसित होते-होते बदलकर ये संकेत-चिह्न क्या से क्या बन गए, आइए, जानने का यत्न करें।

मनुष्य ने जब सर्वप्रथम बोलना सीखा, उसने एक शक्ति का अनुभव किया। उसने समझा कि बोलकर वह अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकता है। जब सामाजिक जटिलताएँ बढ़ीं, तब उसे यह आवश्यक जान पड़ा कि जिन बातों को वह जीवन के लिए आवश्यक समझता है, अथवा जो बातें उसे सुन्दर प्रतीत होती हैं, उनसे उसकी मृत्यु के पश्चात् और लोग वञ्चित न रह जाएँ, उन्हें भूल न जाए। ऐसा क्योंकर हो, इस प्रयास में उसे सफलता कैसे मिले, यह उसकी आवश्यकताओं ने उसे सुझाया। इतिहास साक्षी है कि बोलने से पहले मानव ने चित्रण करना सीखा और जब उसे बोलना आ गया तथा बोलने की शक्ति को उसने समझा, तो फिर उसे अपने विचारों को आनेवाली पीढ़ियों के लाभार्थ एक स्थायी रूप में छोड़ जाने की प्रेरणा मिली। इसके लिए उसने चित्रकला का माध्यम अपनाया।

वर्णमाला की आवश्यकता और महत्व

वर्णमाला के अक्षरों द्वारा आज हम अपने विचारों को जितनी सरलता के साथ व्यक्त कर लेते हैं, ६,००० वर्ष पूर्व यह उतना सरल कार्य नहीं था। ऐसी वर्णमाला का आविष्कार, जिसके द्वारा मानव अपने अर्जित एवं सञ्चित विचारों और अनुभवों को समाज के लाभार्थ चिरकाल के लिए सुरक्षित रख सके, सभ्यता की प्रगति में मानव की सब से पहली महत्वपूर्ण विजय है। कारण, जब तक मानव अपनी कृतियों का लेखा आनेवाली पीढ़ियों के लिए न छोड़ सके, तब तक उसकी ज्ञान-राशि में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं हो सकती। लेखा रहने से ही आनेवाली पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों की कमाई से लाभ उठा सकती हैं और उन्नति कर सकती हैं। लेखन-कला के अभाव में भी किन्हीं अंशों में सभ्यता अवश्य उन्नतिशील हो सकती है। विभिन्न वस्तुएँ, जैसे कपड़ा, मिट्टी के बर्तन, आदि विशेष रूप से लेखन-कला के आश्रित नहीं हैं। इनमें ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे तक की उन्नति बिना लिखा-पढ़ी के हो सकती है। परन्तु लेखन-कला के अभाव में विधान रीति-रिवाज तक ही सीमित रह जायगा, और धर्म मन्त्र-तन्त्र की परिधि से बाहर नहीं आ सकेगा। हमारा प्राचीन साहित्य, रामायण और महाभारत की कथाएँ, यूनानवालों की ट्रॉय की कहानी, तथा देश-देश की परम्परागत लोककथाएँ आदि इस बात की साक्षी हैं कि धर्म, इतिहास, साहित्य आदि लेखन-कला के अभाव में भी पर्याप्त उन्नति कर सकते हैं। जिस प्रकार लेखन-कला के अभाव में साहित्य का होना सम्भव है, उसी प्रकार बिना वर्णमाला के लेखन-कला का भी होना संभव है। परन्तु निश्चित वर्णमाला के अभाव में जो कुछ भी लेखा-जोखा होगा, वह अत्यन्त ही क्लिष्ट होगा और उसकी उपादेयता

का क्षेत्र भी बहुत संकुचित होगा। मिस्र, असीरिया और चीन आदि देशों की वर्णमालाएँ पूर्ण न होने के कारण विशद वर्णनों के समय विशेष कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं। फल यह होता है कि एक विशेष वर्ग ही ज्ञान और धर्म का ठेकेदार बन जाता है; देशव्यापी संस्कृति का प्रसार असम्भव हो जाता है, तथा राज-सत्ता और प्रजा के बीच की खाई बढ़ती ही चली जाती है। इस तरह जिसके द्वारा उन्नति होनी चाहिए थी वही लेखन-कला मानव को दासता की बेड़ियों में जकड़ने का प्रबल साधन बन जाती है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मानव की उन्नति के लिए विचारों को केवल लिपिबद्ध करने की विधि को मालूम करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आवश्यक यह भी है कि कोई ऐसी सरल विशद लेखन-प्रणाली का आविष्कार किया जाय, जिसे सब कोई थोड़े समय में ही सीखकर उपयोग में ला सकें।

वर्णाक्षरों द्वारा विचारों को लिपिबद्ध करने की प्रणाली यद्यपि आज इतनी सरल और सुविधाजनक है, परन्तु उसका आविष्कार अनेक कठिनाइयों से अभिभूत रहा है और सहस्रों वर्षों के अविरल परिश्रम द्वारा ही आज हम उसका पूर्ण रूप देखने में समर्थ हो सके हैं। अंग्रेजी वर्णमाला के २६ एवं देवनागरी के ४२ जैसे अक्षरों को कार्योपयोगी बनाने के लिए मानव ने अपना समस्त मस्तिष्क-बल लगा दिया है। मिस्री, सैमिटिक और यूनानी, इन तीनों विचारशील जातियों के अथक परिश्रमस्वरूप ही आज हमें रोमन लिपि के २६ वर्णाक्षर मिल सके हैं।

यह बताने के पूर्व कि मानव ने किस प्रकार लिखना सीखा, आदिम मनुष्य के जीवन के बारे में भी थोड़ा ज्ञान लेना आवश्यक है। आरम्भिक अवस्था में मानव का जीवन पूर्णतया अव्यवस्थित था। चेतनता किसे कहते हैं, इसका मानव को लेशमात्र भी भान नहीं था। हजारों वर्षों में मानव ने प्राकृतिक जीवन की देखा-देखी अनुकरण करना सीखा। उस संचित अनुभव ने ही कालान्तर में परम्परा का रूप ग्रहण किया। इस तरह परम्परा मानव की संपति बनी। तब मानव ने चित्रकला सीखी, बोलना सीखा, मूर्तियाँ बनाना सीखा और स्थापत्यकला को अपनाया। बहुत काल तक, जब तक मानव को लिखना नहीं आया, उसने अपनी जातीय कथाओं, कविताओं, नाटकादि को कण्ठस्थ ही रखा। उदाहरणार्थ वेद, उपनिषद् आदि सहस्त्रों वर्षों तक कण्ठस्थ रक्खे गए। वीरों की यशोगाथा हजारों वर्षों तक भाटों द्वारा राजदरबारों में जीवित रक्खी गई। भाषाओं के आधुनिक रूप के लिए हम बहुत अंशों में उन भाट-चारणों के आभारी हैं।

जब मनुष्य को लिखना आया, तब परम्परागत ज्ञान ने सुव्यवस्थित रूप पाया। वह विश्वसनीय बना। विचार-शक्ति में अधिक प्राण सञ्चरित हुआ। मानव एक दूसरे के अधिक निकट आने लगा। पहले तो पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ ही प्राप्य थीं। लिखने में अधिक परिश्रम आवश्यक होने के कारण प्रतियों की संख्या परिमित ही रहती थी। परंतु मुद्रणकला ने इस कठिनाई को दूर किया। मुद्रणालय के आविष्कार से मानव ने एक असीम शक्ति प्राप्त कर ली। पहले अनेक बातें गोपनीय तथा रहस्य से आवृत रहती थीं। जो थोड़े-से लोग लिखना-पढ़ना जानते थे, उनसे जनता भयभीत रहती थी—उनका आतंक छाया रहता था। जब ज्ञान-प्रसार हुआ, तब रहस्य रहस्य नहीं रह गया। अब ज्ञान के अनेक साझीदार बने। मानव ने आत्मशक्ति का आभास पाया। उसने जीवन का शाश्वत रूप देखा और ज्ञान-राशि का सञ्चय किया। उसका यह उद्योग अब भी जारी है और तब तक जारी रहेगा, जब तक कि उसे व्यष्टि एवं समष्टि रूप में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नहीं हो जाती। मानव का अपने विचारों को लिपिबद्ध करने का पहला उद्योग उसकी वह प्रथम ज्ञान-किरण थी, जिसका कि प्रकाश आज भी शनैः-शनैः उसके तिमिरावृत जीवन को ज्योतिपूर्ण करने में संलग्न है।

ध्वनि-बोधक और भाव-बोधक संकेत

विचारों को लिपिबद्ध करने की प्रत्येक प्रणाली का आरंभ मूर्त पदार्थों के चित्रों द्वारा ही हुआ है। कालान्तर में यही चित्र सांकेतिक बन गए और मौलिक ध्वनियों के लिए काम में आने लगे। सर्वप्रथम लिपि भावचित्रानुरूप रही, तत्पश्चात् वह ध्वनि-बोधक चित्रों में परिणत होने लगी। भाव-बोधक चित्र पदार्थों अथवा विविध भावनाओं के द्योतक होते हैं। वे मूर्त पदार्थों के वास्तविक सांकेतिक चित्र हैं और अमूर्त पदार्थों के भी।

ध्वनि-बोधक चित्र ध्वनियों के द्योतक होते हैं। इनकी उत्पत्ति भाव-बोधक चित्रों द्वारा हुई है। ये तीन प्रकार के होते हैं—(१) मौखिक, जो पूर्ण शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं; (२) आक्षरिक, जो शब्दों के उच्चारण मात्र के लिए प्रयुक्त होते हैं, और (३) वर्णमाला के द्योतक चित्र अथवा अक्षर, जो मौलिक ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आज की वर्णमाला के अक्षरों में अभी भी अनेक संकेत ध्वनिचित्रात्मक तथा भावचित्रात्मक होते हैं। ग्रोतफेन्द के कथनानुसार रोमन संख्या के भी संकेत प्राचीन भावचित्र

ही हैं। I, II, III उँगलियों के चित्र हैं। V हाथ का कोण है, जो सिमटी हुई उँगलियों और अँगूठे से बनता है। इसी तरह VV या X दोनों हाथों के द्योतक चित्र हैं। IV और VI भी हाथ के ही चित्र हैं, जो कि एक उँगली के घटाने-बढ़ाने से बनते हैं।

प्रत्येक वर्णमाला के अक्षर ध्वनि-बोधक चित्र मात्र हैं, जिनका रूप अब परिमार्जित होते-होते सरल रह गया है। यदि किसी भी वर्णमाला का प्राचीन रूप खोजा जाय, तो हम उसे किन्हीं मूर्त पदार्थों का ही सांकेतिक चिन्ह पाएँगे। अनेक शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आज संसार भर में प्रयुक्त रोमन वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर अक्षुण्ण रूप से अपने सनातन रूप को रक्खे हुए है। उदाहरणार्थ, रोमन वर्णमाला के अक्षर M (एम) का प्राचीनतम रूप खोजने पर पता लगा है कि वह उलूक का सांकेतिक चित्र मात्र है। प्राचीन मिस्री भाषा में उलूक को 'मूलक' कहते हैं। मूल रूप में उलूक का चित्र उलूक का ही भाव-बोधक चित्र रहा होगा; तत्पश्चात् वह ध्वनि-बोधक चित्र बना; इसके बाद वह आक्षरिक हुआ। 'मू' ध्वनि को व्यक्त करने के लिए अन्ततोगत्वा वह केवल 'म' ध्वनि को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होने लगा। इन अनेक परिवर्तनों के होने पर भी 'म' का प्राचीन उलूक का रूप अक्षुण्ण ही बना रहा। परन्तु जब पत्थर के स्थान पर चित्र पेपाइरस (एक प्रकार के कागज) पर अंकित किए जाने लगे, तो सुगमता और शीघ्रता के साथ लिखे जाने के कारण उनका रूप अनवरुद्ध लिपि का हो गया और इसी कारण उलूक का चित्र भी ऐसा बना दिया गया, जैसा पृष्ठ १४२१ के चित्र में नं० १ में दिखाया गया है। हाइरेटिक लिपि में चित्र इतना सांकेतिक बन गया कि मूल चित्र का उसमें लेशमात्र भी आभास न रहा। केवल वे रूप रह गए, जो उक्त चित्र में नं० २ और ३ में दिखाए गए हैं। दिमौटिक लिपि में, जो कि और भी अधिक अनवरुद्ध गति से लिखी जाती है, रूप और भी सरल हो गया। वह पहले उपर्युक्त चित्र में नं० ४ जैसा और तत्पश्चात् नं० ५ जैसा रूप बन गया। सैमिटिक वर्णमाला के अक्षर मिस्री चित्रों के हाइरेटिक रूपों से ही लिए गए मालूम होते हैं। सैमिटिक लिपि का प्राचीनतम लेख जो प्राप्त हो सका है, वह मोआबाइट शिला का अभिलेख है। इस अभिलेख में अक्षर M (एम) का रूप पृष्ठ १४२१ के चित्र में नं० ६ जैसा है। यह रूप बिना किसी कठिनाई के नं० ७ में प्रदर्शित हाइरेटिक अक्षर से समानता रखता है। मोआबाइट अक्षर से वह पूर्व-ग्रीक रूप हो जाना एकदम आसान है, जो चित्र में नं० ८ में प्रदर्शित है। इसी के पीछे के रूपान्तर वे हैं, जो चित्र में नं० ९, १० और ११ में दिखाए गए हैं। इटली में यूनानियों के जो उपनिवेश थे, वहीं से रोमन वर्ण M का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे रूपान्तर हुआ नं० १२ में प्रदर्शित चिन्ह में, जिससे हमें अंग्रेजी का m मिला। ६,००० वर्ष पुराना होने पर भी इस अक्षर में अब भी उलूक का पूर्व रूप देखने को मिलता है। M (एम) की दो चोटियाँ ही उलूक के दोनों कान हैं और उनके बीच में उलूक की चोंच देखी जा सकती है, और इसी में पहली सीधी लकीर वक्षःस्थल के स्थान पर है। m में बीच की लकीर चोंच की है और उसके दोनों ओर की लकीरें कानों का आभास देती हैं। जो विशेषताएँ M(एम) अक्षर में दिखलाई गई हैं, वे सब अन्य अक्षरों में भी निहित हैं। अंग्रेजी अक्षर F (एफ) का मूल है मिस्री बर्र (दे० पृष्ठ १४२१ के चित्र में नं० १३)। इसमें दो समानान्तर रेखाएँ उसके दो सींघ हैं और सीधी लकीर उसका शरीर। इसी प्रकार यह साबित किया जा सकता है कि A का मूल उकाब का चित्र है, R का मुँह और D का हाथ।

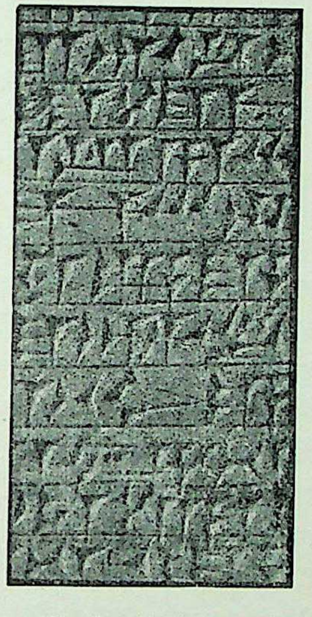

हजारों वर्ष पूर्व के ये अक्षर कील के आकार के हैं और वेबिलोनिया और ईरान के प्राचीन लेखों में प्रचुरता से पाए गए हैं। इस कीलाकार लिपि को 'क्यूनीफार्म' नाम दिया गया है।

प्राचीन चित्र-लिपि के प्रमुख पाँच रूप

आइए, अब इस बात का दिग्दर्शन करें कि भावचित्रात्मक और आक्षरिक संकेतों से किस प्रकार वर्णमाला के अक्षरों का उद्भव हुआ। विद्वानों ने पता लगाया है कि संसार में चित्र-लिपि का अविष्कार पाँच स्वतंत्र रूपों से हुआ है। ये हैं—

(१) मिस्री या इजिप्शियन, (२) क्यूनीफार्म, (३) चीनी, (४) मैक्सिकन, और (५) हिटाइट या हित्ती।

इन पाँचों प्रकार की चित्र-लिपियों के नमूने हमें पुरातत्व के प्राचीन संग्रहालयों में देखने को मिलते हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इनके अतिरिक्त कितनी ही असभ्य जातियों की चित्र-लिपियों के भी उदाहरण सुरक्षित हैं। वस्तुतः लेखन-कला का इतिहास बड़ा पुराना है। वह कितना पुराना है, यह केवल कल्पना और उपमान की सहायता से ही कुछ-कुछ बतलाया जा सकता है। इस काम के लिए उन जातियों से, जिन पर सभ्यता का रंग नहीं चढ़ा है, जो अब भी आधुनिक संस्कृति के संसर्ग से दूर रहकर जीवन बिता रही हैं, बहुत-कुछ सहायता मिल सकती है। दक्षिणी फ्रांस में उन लोगों ने, जो बर्फीले युग के पीछे आए, अपने जीवन का कुछ लेखा छोड़ा है। यह लेखा पशुओं की हड्डियों, सींघों और हाथीदाँत पर खुदे हुए कुछ चित्रों के रूप में उपलब्ध है। ऐसा जो प्राचीनतम लेखा मिल सका है वह है एक दृश्य का, जो एक सींघ पर खुदा हुआ है। यह औवर्न नामक स्थान में मिला है। इस दृश्य में एक शिकारी दिखाया गया है, जो कि पूर्ण नग्नावस्था में है और ऊरस नाम के एक बड़े पशु के पास तक, जो कि घास चर रहा है, पहुँच गया है और भाले से उस पर हमला करने ही वाला है। उसी काल की गुफाओं से मैमथ, बारहसिंघे, सील, ह्वेल और भालुओं के चित्र भी उपलब्ध हुए हैं। इन चित्रों में अत्यंत उच्च कोटि की कला देखने को मिलती है। आधुनिक समय की असभ्य जातियों में भी हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। जंगली जातियों में जब कोई बड़ा आदमी मर जाता है, तो उसकी समाधि पर एक पत्थर रख दिया जाता है, जिस पर उसके घराने के परम्परागत पशु का चित्र बना होता है। स्कॉटलैंड के पिक्ट लोगों के पत्थर, लैपलैंड-निवासियों के ढोल पर बने चित्र, तथा ऑस्ट्रेलिया, अरब व पीरू की चट्टानों पर खुदे हुए लेख हमें याद दिलाते हैं कि मानव ने अपनी कृतियों का लेखा छोड़ने का कैसा प्रयत्न किया है। इनके अनुशीलन से यह तथ्य प्राप्त होता है कि मानव मस्तिष्क ने इस काम के लिए प्रत्येक देश में प्रायः एक ही साधन को अपनाया है।

अमेरिका के आदिवासियों के भाव-बोधक चित्र

उत्तरी अमेरिका की रेड इण्डियन जाति के २५० वर्ष पुराने कुछ लेख मिले हैं, जो कि पेड़ों की छाल पर खुदे हुए हैं। पृष्ठ १४१९ पर दिए गए चित्र में, जो लगभग २००, वर्ष पुराना है और अमेरिका के ओहियो राज्य में एक पेड़ की छाल पर खुदा हुआ मिला है, विंज मुण्ड नाम के सरदार की विजय की स्मृति को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। यह विजय उसने अंग्रेजों पर प्राप्त की थी। उक्त चित्र में नीचे की ओर २३ योद्धा युद्धभूमि की ओर जा रहे हैं। सूर्य चमक रहा है। सेनाएँ युद्धभूमि में दो बार गई हैं—पहली लड़ाई छः दिन तक चलती रही, दूसरी चार दिन तक। बीच में तीन अंग्रेजी किलों के चित्र हैं, जिन पर हमले हुए हैं। दो नदियों के संगम पर स्थित सब से नीचे वाले किले का नाम फोर्ट पिट है। सीधे हाथ की ओर का चौकोर किला, जिसमें दो व्यापारगृह हैं, दित्रोआ का है और तीसरा किला ऐरी झील में स्थित है। बाईं ओर को दस विजित शत्रु खड़े हैं। चार शत्रु (जिनके सिर हैं) कैद कर लिए गए थे और बिना सिर के शेष छः खेत रहे। कोने में एक कछुए का चित्र है। यह एक भाव-बोधक चित्र है, जिसका अर्थ 'रक्षा का स्थान' है। यह भाव-चित्र लिपिकला की प्रगति दिखलाता है। शेष अन्य चित्र केवल भौतिक पदार्थों के हैं। कछुए का चित्र सांकेतिक लिपि का अग्रदूत है। वह एक भावना का द्योतक है।

इसी तरह से 'पाइप' शान्ति का, 'अंगूर की बेल' मित्रता का, 'पंख फैलाये हुए पक्षी' शीघ्रता का, 'अग्नि' कुटुम्ब का, और 'वृत' समय का द्योतक है। ऐसे ही सांकेतिक चित्रों द्वारा नोवास्कोटिआ और न्यू ब्रन्सविक के मिकमाक लोग पूर्ण वाक्यार्थ व्यक्त कर लेते हैं। चित्र-लिपि एक कदम और आगे बढ़ गई, जब कि सीधे-साधे भाव-चित्रों को सम्मिलित कर जटिल विचारों को व्यक्त किया जाने लगा। प्राचीन चीनी लिपि में 'विवाहिता स्त्री' का बोध कराने के लिए 'स्त्री' और 'झाड़ू' के सांकेतिक चित्रों को जोड़ दिया जाता था; और 'प्रेम करना' क्रिया का बोध 'स्त्री' और 'पुत्र' के चित्रों द्वारा कराया जाता था। क्यूनीफार्म लिपि में भी यही तरीका काम में लाया जाता था। 'बन्दीगृह' का बोध 'घर' और 'अंधकार' के सांकेतिक चिन्हों से कराया जाता था। 'अश्रु' का बोध 'चक्षु' और 'जल' के चिन्हों से।

ध्वनि-बोधक चित्र

भाव-बोधक चित्रों के पश्चात् ध्वनि-बोधक चित्रों की बारी आती है। मैक्सिको देश की चित्र-लिपि के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भावचित्र ध्वनि-बोधक चित्रों में परिणत हो गए। चतुर्थ मैक्सिकन राजा का नाम था इत्ज-कोत्ल। 'इत्ज' का अर्थ है 'चाकू' और 'कोत्ल' का अर्थ है 'सर्प'। इसका बोध कराया गया है, पृष्ठ १४२१ के चित्र में नं० १४ में दिखाए गए चिह्न द्वारा। जब व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं का बोध कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब ध्वनि-बोधक चित्रों का निर्माण हुआ।

अमेरिका के यूकातान निवासी मय लोगों के ध्वनि-संकेतों में लिखित कुछ आलेख प्राप्त हुए हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन संकेतों के मूल रूप मैक्सिकन चित्र हैं। उसी वर्णमाला में लिखी हुई तीन हस्तलिपियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ आक्षरिक संकेतों और भाव-चित्रों के अतिरिक्त मय लोग २४ चिन्ह और काम में लाते थे, जो कि अवश्य ही वर्ण-माला के अक्षर रहे होंगे। यह लिपि चीनी या असीरियन जातियों की लिपियों से कहीं अधिक पूर्ण है। पर दुःख का विषय है कि मध्यवर्ती अमेरिका की लिपियों के बारे में विशेष ज्ञान किसी को भी नहीं है। वे केवल अजायबघर की ही शोभा बढ़ा सकती हैं।

चीनी चित्र-लिपि

जब हम चीनी वर्णों पर दृष्टिपात करते हैं, तो और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि आदि काल में मानव ने किस प्रकार चित्र-लिपि द्वारा अपने विचारों तथा संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया था। चीनी वर्णों के अध्ययन से एक बात और भी मालूम होती है कि यह लिपि सांकेतिक चित्र-लेखन की परिधि से बाहर नहीं जा सकी। यह बात चीनी लेखन-कला की प्रगति के लिए बहुत घातक सिद्ध हुई है।

यदि आधुनिक चीनी लिपि की वहाँ की प्राचीन लिपि से तुलना की जाय, तो उसके मूल का पता तो लग जाता है, पर साम्य किसी भी बात में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ, 'श्वान' के लिए सांकेतिक चिह्न है पृष्ठ १४२१ के चित्र में नं० १५ जैसा, और लकड़ी के लिए नं० १६ जैसा। इन दोनों सांकेतिक चिह्नों में उन वस्तुओं की अपेक्षा, जिनका बोध उनके द्वारा होता है, अधिक साम्य है। किन्तु जब हम इन सांकेतिक चिह्नों के मूल रूप का पता लगा लेते हैं, तो सब समझ में आ जाता है। 'लकड़ी' के लिए मूल सांकेतिक चिह्न पहले १४२१ पृष्ठ के चित्र में नं० १७ जैसा था। इस रूप में वृक्ष की शाखाओं, तने और जड़ों को पहचानना कोई मुश्किल नहीं है। 'श्वान' के मूल सांकेतिक रूप नं० १८, १९ और २० के चित्रों जैसे थे। इनमें श्वान का आकार स्पष्ट झलक रहा है। मूल भाव-चित्र में श्वान का शरीर, टाँगें, दुम, सिर और कान देख-कर आधुनिक लिपि-संकेत समझ में आ जाता है।

'साधु' का बोध कराने के लिए दो सांकेतिक चिह्न हैं, जो कि संयुक्त रूप में इस प्रकार लिखे जाते थे, जैसे १४२१ पृष्ठ के चित्र में नं० २१ में दिखाए गए हैं। इनका प्राचीन रूप नं० २२ के चिह्न जैसा था, जिसमें दो सांकेतिक चित्र 'मनुष्य' के 'पर्वत' पर रहने का बोध कराते हैं।

अधिक विशद वर्णन के लिए प्रतीकों का सहारा लिया गया। मूर्त पदार्थों के चित्र अमूर्त विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रतीकतुल्य काम में लाए गए। 'रक्षा' का बोध कराने के लिए एक 'हाथ' का चित्र बनाया गया, जो कि 'अबला' की सहायता के लिए तना हुआ है। 'वृक्ष' के चित्र के नीचे 'सूर्य' का चित्र अन्धकार का बोध कराने लगा और वैसे ही 'वृक्ष' के चित्र के ऊपर 'सूर्य' का चित्र या 'चन्द्रमा' और 'सूर्य' के चित्र साथ-साथ प्रकाश का बोध कराने लगे। दो मिले हुए हाथों से 'मित्र' का अर्थ लिया गया। इसी प्रकार ४०,००० चीनी शब्दों में से अधिकांश के सांकेतिक चिह्न बन गए। इन्हें चित्र के बजाय प्रतीक कहना अधिक युक्ति-संगत होगा; क्योंकि आधुनिक चीनी लिपि में बहुत कम चिह्न ऐसे रह गए हैं, जिनसे मूल चित्रों का लेशमात्र भी आभास मिल सके। चीनी लिपि का अध्ययन करने पर हमें उसकी क्लिष्टता और उसके निर्माताओं की बुद्धिमत्ता पर चकित होना पड़ता है। चीनी भाषा की विचित्रता के ही कारण उसकी लिपि भी विचित्र प्रकार की बनी। चीनी भाषा धातु-प्रधान भाषा है। उसमें ऐसे कोई चिह्न नहीं, जिनके द्वारा काल, पुरुष, वचन, कारक और अर्थ का पता लग सके। एक शब्द अपने उसी रूप में संज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण सबके लिए प्रयुक्त हो सकता है!

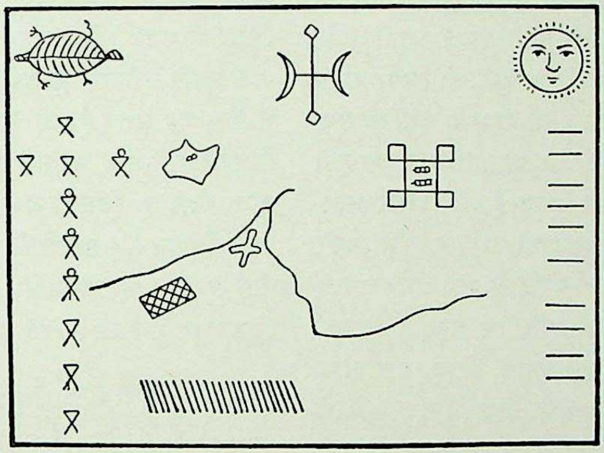

रेड इंडियन जाति के २०० वर्ष पुराने इस संकेत-चित्र में एक सरदार की विजय का आलेख है। चित्र में नीचे की ओर २३ खड़ी रेखाएँ युद्ध-भूमि की ओर जा रहे २३ योद्धाओं की द्योतक हैं। अन्य संकेत-चिह्नों के लिए पृष्ठ १४१८ का मैटर देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रत्येक शब्द में एक अक्षर होता है । शब्दों का व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान वाक्य में उनकी जैसी स्थिति हो उसी से लग सकता है । चीनी भाषा में स्वर और व्यंजनों की विभिन्न एकाक्षरी संहिताओं की संख्या ४५० है । केवल चार विभिन्न स्वरपातों के प्रयोग से १,२०३ सुबोध एकाक्षरी शब्दों का उच्चारण संभव है । परन्तु सभ्यता की दौड़ में बढ़ी हुई चीनी जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ये शब्द बहुत ही थोड़े हैं, यह स्पष्ट है । इसीलिए चीनी भाषा में बहुत से 'होमोफोन' हैं । 'होमोफोन' वह संकेत है, जिसमें एक ही उच्चारण से अनेक शब्दों का काम निकाला जाता है । इसी कारण अधिकांश चीनी एकाक्षरों के एक से अधिक अर्थ होते हैं । बहुत-सी गड़बड़ें संकेतों और स्वरपात से दूर की जाती हैं । लिखने के समय भी किसी ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता प्रत्यक्ष है । अंग्रेजी में तो 'राइट' (सही) और 'राइट' (लिखना) उच्चारण में एक होने पर लिखते समय विभिन्न वर्णविन्यासयुक्त होते हैं । चीनी भाषा में किसी भी शब्द को पूर्णतया बुद्धिगम्य करने के लिए दो प्रतीक प्रयुक्त होते हैं । इनमें एक तो ध्वनि-बोधक होता है और दूसरा भाव-बोधक । ऐसे भाव-बोधक प्रतीकों को टीका या कुंजी कहते हैं । उदाहरणार्थ, चीनी में 'पा' ध्वनि के आठ विभिन्न अर्थ होते हैं; इसका अर्थ है कि आठ विभिन्न शब्द हैं, जिनका एक ही उच्चारण है । एक ध्वनि-बोधक चिह्न इस तरह लिखा जाता है जैसा पृष्ठ १४२१ के चित्र में नं २३ के दो चिह्नों में ऊपर का चिह्न है; इस चिह्न का मूल रूप उसी के नीचे दिखाया गया है, जो किसी जानवर की दुम के सदृश है । 'वृक्षों' की टीका के साथ इस ध्वनि-बोधक चिह्न का अर्थ होगा 'केले का पेड़'; 'लोहे' की टीका के साथ इसका अर्थ होगा 'लड़ाई का रथ'; 'रोग' की टीका के साथ अर्थ होगा 'घाव'; और 'मुख' की टीका के साथ अर्थ होगा 'चिल्लाहट' । इसी प्रकार अन्य चार अर्थ और होंगे ।

विचार करने से समझ में आ जायगा कि चीनी भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं है । वह लगभग एक असम्भव कार्य है । एक मामूली चिट्ठी लिखने या एक मामूली पुस्तक पढ़ने भर को लगभग ६,००० या ७,००० सांकेतिक चिह्नों को स्मरण रखने की आवश्यकता है । जितनी पढ़ने-लिखने की क्षमता हिन्दी के एक विद्यार्थी में ६ या ७ वर्ष की अवस्था में होती है, उतनी चीनी विद्यार्थी में २५ वर्ष की अवस्था में भी मुश्किल से पाई जाती है । यदि हिन्दी भाषा या साहित्य का साधारण ज्ञान चार या पाँच साल में हो सकता है, तो चीनी भाषा के विद्यार्थी को उतना ही सीखने के लिए बीस साल लग जाते हैं । । भला, इतना समय कहाँ से आए, और किसको इतना अवकाश और धैर्य प्राप्त है, जो ऐसी क्लिष्ट भाषा को सीखने का उद्योग करे ? स्पष्ट ही है कि ऐसा कार्य एक विशेष वर्ग के लोगों के मत्थे डाल दिया जाता है, जिनका काम ही जीवन-पर्यन्त पढ़ना-लिखना रह जाता है ।

जापानी लिपि

लेखन-कला को अधिक सुविधाजनक तथा सरल बनाने के लिए आक्षरिक साधन का आश्रय ग्रहण किया गया । इसका सर्वोत्तम उदाहरण है जापानी लिपि, जिसका उद्भव चीनी लिपि से हुआ । चूँकि जापानी भाषा अनेकाक्षरी है, अतएव उसमें मौखिक ध्वनि-बोधक चीनी वर्णों का प्रयोग आक्षरिक चिह्नों के रूप में होना संभव था । अतः आक्षरिकता की ओर प्रगति अनिवार्य हो गई । 'हीराकाना' अक्षरों में 'त्सी' के लिए वह अक्षर है, जो १४२१ पृष्ठ के चित्र में नं० २४ में प्रदर्शित है और 'काताकाना' में इसी के लिए नं० २५ वाला चिह्न है, जिसका अव्यहृत लिपि-चिह्न है नं० २६ वाला चिह्न । यह प्रतीक लिए गए हैं चीनी सांकेतिक चिह्न 'सि' से (दे० उक्त चित्र में नं० २७), जिसका अर्थ है 'पुत्र' । इसका मूल रूप उक्त चित्र में नं० २८ का चित्र है ।

क्यूनीफार्म लिपि का आविर्भाव

चार हजार वर्षों तक चीनी लोग भाव-बोधक सांकेतिक चिह्नों की परिधि से आगे न बढ़ सके । किन्तु जब दूसरी जाति के लोगों ने उनके प्रतीकों को देखा और समझा तो तुरन्त ही आवश्यकतानुसार उन्होंने उनका उपयोग किया । देखा गया है कि ऐसे परिवर्तन दो विभिन्न जातियों के पारस्परिक संसर्ग द्वारा ही संभव हैं । उदाहरणार्थ, मिस्री चित्र-लिपि में सुधार सैमिटिक जाति ने किए और सैमिटिक वर्णमाला में सुधार यूनानियों, आर्यों और ईरानियों ने किए । जब एक जाति ने अन्य जाति की लिपि को देखा, तो उसने उसमें अपने लिए उपयोगी आवश्यक परिवर्तन और सुधार किए । क्यूनीफार्म या कीलाक्षर लिपि के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य घटित हुई । तुरानी जाति ने इसका आविष्कार किया; उनसे सैमिटिक जातिवाले असीरियनों और बैबिलोनियन लोगों के यहाँ वह पहुँची । सैमिटिक क्यूनीफार्म से तुरानी 'प्रोटोमीडिक' का जन्म हुआ और ईरानी आर्यों ने क्यूनीफार्म वर्णमाला को जन्म दिया । जिस ढंग से लिपि में विविध सुधार और परिवर्तन होते हैं, क्यूनीफार्म लिपि इसका एक

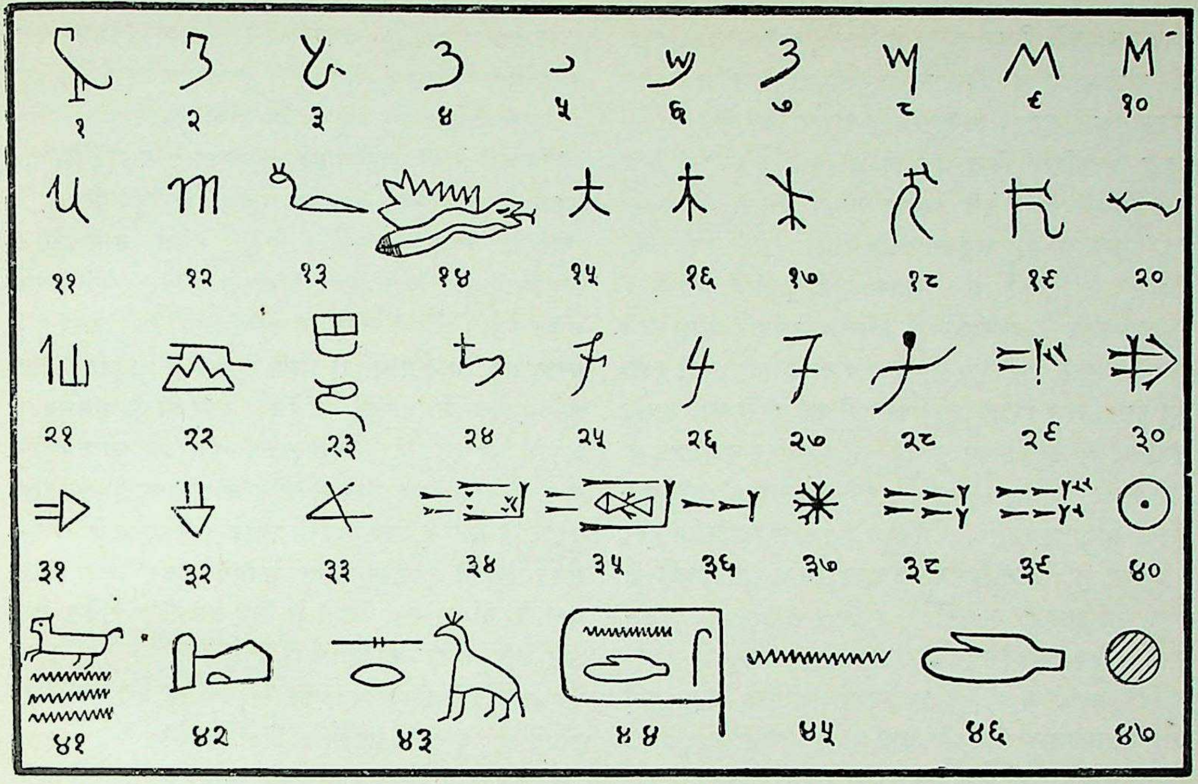

अक्षरों के आदिम रूप के द्योतक इन चित्रमय संकेत-चिह्नों का क्या अर्थ रहा है, इसका निर्देश प्रत्येक चिह्न के नीचे दिए गए नंबर द्वारा इस अध्याय में स्थान-स्थान पर किया गया है।

आश्चर्यजनक सच्चा उदाहरण है कि किस तरह मूल चित्र से भाव-बोधक चित्र बनते हैं और फिर ये मौखिक ध्वनि-बोधक चित्रों से आक्षरिक संकेतों में परिणत हो जाते हैं तथा अन्ततोगत्वा वर्णमाला के अक्षर बन जाते हैं! इसी पृष्ठ के मानचित्र नं २९ का चिह्न एक असीरियन सांकेतिक चिह्न है, जिसको 'अल्पू' कहते हैं; इसका अर्थ है 'बैल'। इस असीरियन रूप का हाइरैटिक बैबिलोनियन रूप नं० ३० का चिह्न है और इसका लीनियर बैबिलोनियन रूप है नं० ३१ का चिह्न। यदि इसको थोड़ा घुमाकर सामने से देखा जाय (दे० नं० ३२ का चिह्न), तो बैल के सिर और सींगों का आकार दिखलाई पड़ेगा। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इस मूल चित्र और नं० ३३ के फिनीशियन सांकेतिक चिह्न में अधिक अन्तर नहीं है। संयुक्त सांकेतिक चिह्न भी छोटे-छोटे रूपों के मेल से बनाए गए। निनवे नगर का बोध कराने के लिए भाव-बोधक प्रतीक नं० ३४ में प्रदर्शित चिह्न है। इसका प्रचीन रूप है नं० ३५ का चिह्न। यह सांकेतिक चित्र दो भाव-बोधक चित्रों को मिलाने से बना। इसमें एक 'घर' प्रदर्शित है, जिसमें 'मत्स्य' है। इस चित्र में उस काल के इतिहास की झलक मिलती है, जब निनवे नगर एक समय केवल मछुओं की बस्ती मात्र था। जब यह लिपि असीरिया पहुँची, तो उसमें अनेक सुधार किए गए। क्यूनीफार्म लिपि के निर्माताओं की भाषा अनेकाक्षरी थी। अतएव उन्होंने अपनी भाषा को सरल करने के लिए उसे आक्षरिक बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने मूल भाव-बोधक चित्र को ध्वनि-बोधक मान लिया, फिर इस प्रतीक द्वारा उन्होंने शब्द के आदि अक्षर के उच्चारण का बोध कराया। उदाहरणार्थ, आकाश का वाचक साधारण संकेत (इसी पृष्ठ के चित्र में नं० ३६ का चित्र) है। यह भाव-बोधक तारे के चित्र (देखो चित्र में नं० ३७) सरलीकृत रूप है। प्रोटो-बैबिलोनियन धर्म में नक्षत्रों की उपासना मुख्य थी। इसलिए यह सांकेतिक चिह्न 'भगवान्' के लिए प्रतीकात्मक भाव-बोधक चित्र बना। भगवान् के लिए मूल शब्द ऐकेडियन भाषा में 'ऐना' है। इसका सरलीकृत रूप हुआ 'ऐन'। इस प्रकार हमने देखा कि पहले तो सांकेतिक चिह्न आकाश का बोध करानेवाला भाव-बोधक चिह्न बना और भगवान् के लिए भी वह प्रयुक्त हुआ, और अन्तिम अवस्था में वह केवल 'ऐन' के उच्चारण

से युक्त ध्वनि-बोधक चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ। जब एक बार मूल ध्वनि-बोधक संकेतों से अक्षरों का निर्माण हो गया, तो इन अक्षरों को मिलाकर अनेकाक्षरी शब्दों का बोध कराया जाने लगा। उदाहरणर्थ, 'प्रकाश' का बोध करानेवाला आक्षरिक चिह्न वह है, जो पृष्ठ १४२१ के चित्र नं० ३८ में है। इसे 'पर्वत' बोधक चिह्न से संयुक्त करा दिया, तो वह संयुक्त ध्वनि-बोधक संकेत बना, जो, नं० ३९ में दिया है, और जिसका अर्थ होता है 'आत्मा'।

कालान्तर में क्यूनीफार्म में अनेक जटिलताएँ प्रवेश करने लगीं। असली वर्णमाला का उद्भव तो ईरानी आर्यों द्वारा ही हुआ, परंतु ईरानी क्यूनीफार्म में कई बातों का अभाव खटकता है, जिसके कारण वह पूर्ण विकसित वर्णमाला के अधिकार से वंचित रह गई। कदाचित् ईरानियों को वर्णमाला की आवश्यकता फिनीशियन वर्णमाला से परिचय होने पर सूझी हो। फिनीशियन वर्णमाला फरात की घाटी में ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दी में प्रचलित थी और वह क्यूनीफार्म लिपि की समकालीन थी। औपर्ट के कथनानुसार पोटोमीडिक अक्षरों से थोड़े-से क्यूनीफार्म वर्ण लिए गए, उन्हें और सरल बनाया गया और भाव-बोधक सांकेतिक अर्थों का ईरानी भाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार ईरानी शब्द बनने पर 'आद्यक्षरोच्चारण सिद्धांत' के अनुसार वर्णमाला तैयार की गई। ईरानी वर्णमाला के अनुशीलन से विकासवाद के सिद्धांत की पुष्टि होती है। वस्तुतः मनमाना आविष्कार नाम की कोई चीज नहीं है। जिस प्रकार वृक्षों और पशुओं का विकास होता है, उसी प्रकार लिपि का भी। जिस प्रकार मूल चित्रों से ईरानी वर्णमाला के अक्षरों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार मिस्री चित्रों से रोमन वर्णमाला की उत्पत्ति हुई। इस का इतिहास बड़ा ही विस्मयजनक है।

मिस्री चित्र-लिपि का विकास

जब हम क्यूनीफार्म और चीनी लिपियों की मिस्री चित्र-लिपि से तुलना करते हैं, तो शीघ्र ही समझ में आ जाता है कि किस प्रकार मिस्री चित्र-लिपि बनी।

यह तो स्पष्ट ही है कि मिस्री चित्र-लिपि का श्रीगणेश अन्य लिपियों की भाँति भाव-बोधक चित्रों से हुआ और बहुत-से चित्र अपने पूर्वरूप में अन्त तक प्रयुक्त होते रहे। उदाहरणार्थ पृष्ठ १४२१ के चित्र नं० ४० वाला प्रतीक सूर्य का बोध करानेवाला भाव-बोधक चित्र-संकेत ही है। अनेक अमूर्त विचार प्रतीकों द्वारा बुद्धिगम्य किए गए। 'प्यास' का बोध जल की ओर दौड़ते हुए वत्स द्वारा कराया गया (दे० उक्त पृ० के चित्र में नं० ४१); 'लड़ाई' का बोध दो भुजाओं द्वारा कराया गया है (उक्त चित्र में नं० ४२), जिसमें एक ढाल को पकड़े हुए है और दूसरी एक भाला ग्रहण किए हुए है। इसके पश्चात् मूल भाव-बोधक संकेतों से मौखिक ध्वनि-बोधक संकेतों की उत्पत्ति हुई। तदनंतर आद्यक्षर सिद्धांतानुसार ये ध्वनि-संकेत आक्षरिक संकेतों के लिए प्रयुक्त हुए। 'वंशी' का चित्र 'उत्तमता' का प्रतीक समझा जाता था। तत्पश्चात् वह 'अच्छे' का बोध कराने के लिए ध्वनि-बोधक संकेत बना। मिस्री भाषा में इसके लिए 'नेफर' शब्द है। परन्तु यह ध्वनि-संकेत दो शब्दों के अर्थ में प्रत्युक्त होता है—एक का अर्थ 'अच्छे' का है और दूसरे का 'यथासंभव'। अतएव हम देखते हैं कि वही संकेत 'वंशी' का बोध कराने के लिए भाव-बोधक चित्र संकेत है और 'अच्छाई' का बोध कराने के लिए है भाव-बोधक प्रतीक। फिर वही 'यथासंभव' के अर्थ में ध्वनि-बोधक उपसर्ग 'नेफर' बना और अन्त में 'ने' का बोध कराने के लिए आक्षरिक संकेत बन गया ('ने' 'नेफर' का आद्याक्षर है)।

जब ध्वनि-बोधक कठिनाई दूर हो गई, तो आक्षरिक संकेतों को मिलाकर संयुक्त ध्वनिबोधक संकेत बने। ऐसा होने पर बहुत-से प्रतीक अनेक-ध्वनि-बोधक बन गए। इसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया जाने लगा। ये विशेषण दो प्रकार के होते थे—एक विशेष, दूसरे जाति-बोधक। उदाहरणार्थ पृ० १४२१ के चित्र में नं० ४३ वाले समूह में (जो मिस्री शब्द 'सेर' का प्रतीक है, और जिसक अर्थ है 'जिराफ'), पहले दो प्रतीक ध्वनि-बोधक संकेत हैं और वे 'सेर' की ध्वनि को व्यक्त करते हैं। इसके पश्चात् एक पशु का चित्र है, जो कि विशेष विशेषण है। इन विशेष विशेषणों की संख्या अपरिमित है। जाति-बोधक विशेषणों की संख्या लगभग १०० है और इनका प्रयोग विशष स्थलों पर ही होता है। उदाहरणार्थ, 'चक्षु' का प्रयोग उन शब्दों के लिए होता है, जो देखने और समझने से सम्बन्ध रखते हैं; 'दो टाँगों' का प्रयोग होता है चलने का भाव व्यक्त करने के लिए, और 'बत्तख' का प्रयोग समस्त पक्षियों के लिए होता है।

यहाँ तक तो मिस्री लिपि क्यूनीफार्म और चीनी लिपियों की भाँति कार्य-साधन करती रही। लेकिन अब एक अन्तर उपस्थित हुआ। इसमें अनेक भाव-बोधक और आक्षरिक चिह्न से सम्बन्धित कुछ ऐसे संकेत हैं, जिन्हें हम वर्णाक्षरिक कहने के लिए मजबूर हैं। इन्हीं वर्णाक्षरिक प्रतीकों से पाश्चात्य जगत् में व्याप्त रोमन लिपि का उद्भव हुआ। ये

प्राचीनतम स्मारकों पर अभिलिखित हैं। सम्राट संत के प्राचीनतम लेख में राजा का नाम व्यक्त करने के लिये जो वर्णाक्षर प्रयुक्त हुए हैं, वे पृ० १४२१ के चित्र में नं० ४४ में प्रदर्शित हैं। अंग्रेजी अक्षर एन (n) और डी (d) के मूल हैं उक्त चित्र में नं० ४४ और ४५ वाले संकेत-चिह्न, जिनके द्वारा राजा संत का नाम लिखा गया है।

एक और उदाहरण मिस्री सम्राट् खैफरे की अँगूठी का है। खैफरे ने पिरामिड बनवाए हैं। इस अँगूठी पर अंकित जो प्रतीक हैं, उनका हम आज भी प्रयोग करते हैं। पहला प्रतीक है पृष्ठ १४२१ के चित्र में नं० ४७ का चिह्न, जो एच (H) का मूल है; दूसरा प्रतीक है बर्र (दे० उक्त चित्र में नं० १३), जिससे F, Y, V, U और W की उत्पत्ति हुई है। इन वर्णाक्षरों से एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात प्रकट होती है। वह यह है कि ये अक्षर पिरामिडों से भी प्राचीन हैं। उस आदिकाल में भी मिस्री जाति इतनी उन्नतिशील थी, यह कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है।

वर्णाक्षरों का आविष्कार कोई मामूली बात न थी। न तो बेबिलान के लोग, न असीरिया के निवासी, न मीडी, न जापानी—कोई भी आक्षरिक मंजिल से आगे नहीं बढ़ पाए। इन जातियों के अक्षरों में स्वर-ध्वनि-बोधक प्रतीक तो मिलते हैं, पर इनसे अधिक कठिन व्यञ्जन-बोधक प्रतीक तक उनकी पहुँच नहीं हो पाई थी। ऐसी ध्वनि की उत्पत्ति, जो बिना दूसरी ध्वनि की सहायता के उच्चारित न की जा सके, आसान नहीं है। यह काम मिस्री जाति ने ही किया! अन्त में मिस्री वर्णमाला के निर्माण में कुछ विशेष प्रतीक प्रयुक्त होने लगे। आरंभ में लगभग ४०० मिस्री ध्वनि-संकेत थे। घटते-घटते वे केवल ३५ रह गए।

वर्णाक्षरों का प्रादुर्भाव

वर्णाक्षर हजारों वर्षों तक चित्र-लिपि में ही छिपे रहे। आवश्यकता इस बात की थी कि उनमें जितने भी अनावश्यक पुछल्ले थे, उनको अलग कर दिया जाता, जिससे कि वर्णमाला का प्रयोग और अधिक सरल तथा सुबोध हो जाता। यह काम सैमिटिक जाति ने किया। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इसी जाति ने संसार को वास्तविक वर्णमाला दी।

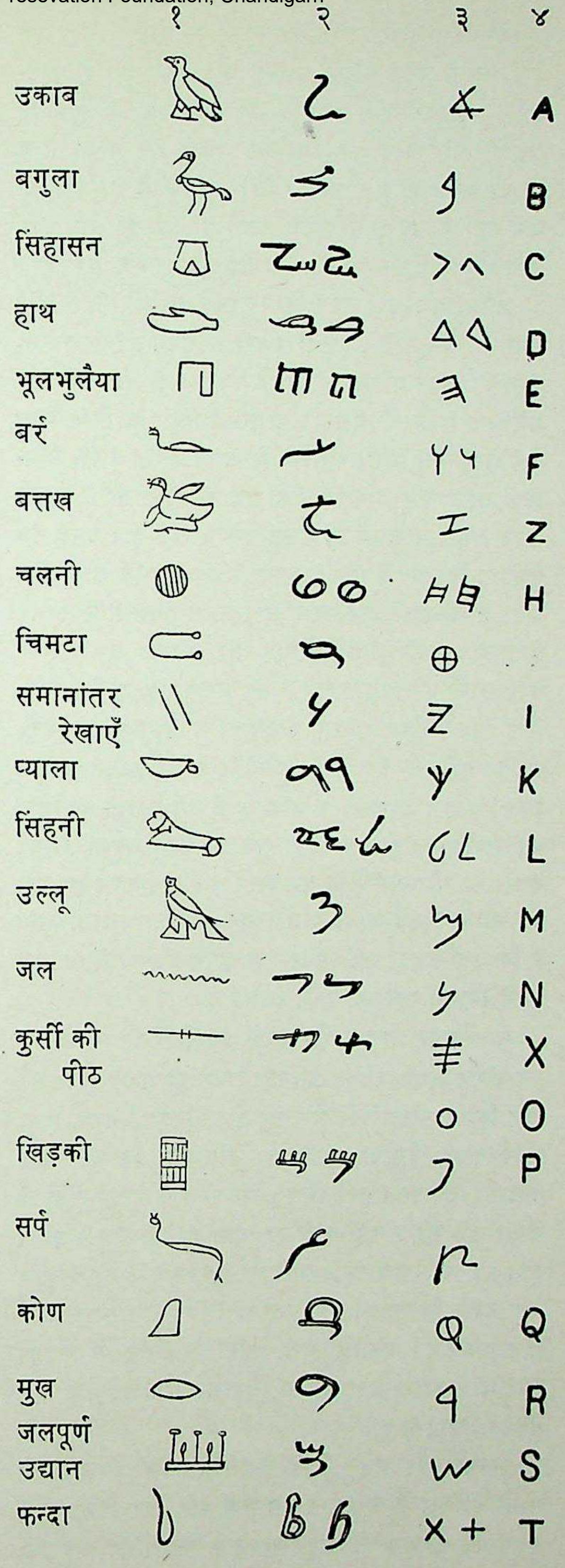

(दाहिनी ओर) रूजे के अनुसार अक्षरों का विकास-क्रम। नं० १ के नीचे के चित्र-संकेत मिस्री हाइरोग्लाफिक संकेत हैं, जिनसे क्रमशः नं० २ के नीचे दिए गए हाइरेटिक संकेत-चिह्न, फिर उनसे नं० ३ के नीचे दिए गए फिनीशियन संकेत-चिह्न और अंत में नं० ४ के नीचे दिए गए रोमन अक्षर बन गए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अंग्रेजी में वर्णाक्षरों को 'अल्फाबेट' कहते हैं। जैसा कि इस नाम से प्रकट है, यह यूनानी भाषा के प्रथम दो वर्णाक्षरों––'अल्फा' और 'बीटा'––के सम्मिलन से बना है। 'अल्फा' और 'बीटा' तथा 'अलिफ' और' बेथ' में जो साम्य है, वह प्रकट ही है। 'अल्फा' और 'बीटा' के तो कोई भी अर्थ नहीं हैं, परन्तु सैमिटिक भाषा के 'अलिफ' और 'बेथ' सार्थक हैं। अलिफ 'बैल' का द्योतक है और बेथ 'गृह' का।

अंग्रेजी वर्णाक्षरों का सम्बन्ध रोमन वर्णाक्षरों से है और रोमन का यूनानी से। यूनानी अक्षरों का संबंध सैमिटिक से है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यूनानी और सैमिटिक वर्णाक्षरों में केवल नाम का ही साम्य नहीं है, किन्तु जिस क्रम से यूनानी वर्णाक्षर प्राप्य हैं, उससे प्रत्यक्ष है कि सैमिटिक जाति ने ही यूनानियों को पूर्ण वर्णमाला दी। यद्यपि उनके नामों में साम्य है, परन्तु रूप में नहीं है। उनके रूप पूर्णतया विभिन्न हैं और इस बात के साक्षी हैं कि रूप-विभिन्नता अपनी-अपनी अवस्थाओं और आवश्यकताओं पर निर्भर होती है। यद्यपि अर्वाचीन हीब्रू और यूनानी वर्णाक्षरों में कोई साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु हम आदिम सैमिटिक और आदिम यूनानी वर्णाक्षरों में पर्याप्त ही नहीं, लगभग पूर्ण साम्य के दर्शन करते हैं (देखिए पृ० १४२७ का चित्र)। इन वर्णाक्षरों के अध्ययन से हमें यूनानी वर्णाक्षरों की उत्पत्ति का ही पता नहीं लगता, वरन् अंग्रेजी के बड़े वर्णाक्षरों और सैमिटिक वर्णाक्षरों की प्राचीनतम रूपरेखा का भी पता लग जाता है और यह देखकर आश्चर्य होता है कि ढाई हजार वर्षों से अधिक समय बीत जाने पर भी इनमें कितना कम परिवर्तन हुआ है!

मोआबाइट प्रस्तरवाले लेख में बिना किसी कठिनाई के हम रोमन वर्णाक्षरों का तो पता लगा ही सकते हैं, परन्तु यदि विशेष परिश्रम किया जाय तो सीरिएक, रूसी, हीब्रू, आर्मीनियन, पैह्लवी आदि का भी पता लगाने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। जो भी कठिनाइयाँ होंगी, वे केवल क्रम की। कहीं-कहीं पर क्रम नहीं मिलेगा। इतना होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों को यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि सम्पूर्ण वर्णाक्षरों की (जिनकी संख्या लगभग तीन हजार है) उत्पत्ति मूल सैमिटिक लिपि से ही हुई और मोआबाइट प्रस्तरालेख में सभी वर्णाक्षरों के बीज सूक्ष्मतः प्राप्य हैं।

परम्परा का कथन है कि लेखन-कला को फिनीशियन लोगों ने मिस्र से ले जाकर यूनान में प्रतिष्ठित किया। इस कथन पर सच्चाई की मोहर लगाने के लिए प्लेटो, प्लूटार्क, और टैसिटस आदि के नामों का उल्लेख किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार यूनानी और सैमिटिक वर्णाक्षरों में हमने साम्य स्थापित किया है, उसी प्रकार सैमिटिक वर्णाक्षरों की उत्पत्ति मिस्री चित्र-वर्णमाला से स्थापित करना सरल कार्य नहीं है। न क्रम, न नाम, न रूप, किसी में भी उनमें साम्य नहीं दिखलाई पड़ता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि परम्परा का यह कथन कि सैमिटिक अक्षर मिस्र से प्राप्त हुए हैं, अमान्य है।

रूजे की महत्वपूर्ण खोज

जिसैनियस नामक विद्वान् का कथन है कि सैमिटिक चित्र वर्णमाला ही बाद की संशोधित वर्णमाला का मूल आधार है। उदाहरणार्थ, 'अलिफ' का पूर्वरूप बैल के सिर का चित्र है, 'बेथ' का मूल रूप 'खेमा' है, आदि। प्रोफेसर ह्विटनी और अर्नेस्ट रेनॉन जैसे प्रकाण्ड पण्डितों का कथन है कि फिनीशियन जाति ने मिस्री जाति से ही लेखन-कला को सीखा और संसार भर में फैलाया। कई शताब्दियों तक वर्णमाला की मूल उत्पत्ति के बारे में कोई भी निश्चयात्मक बात स्थिर नहीं की जा सकी थी। परन्तु खोज करने से अब पता लग गया है कि सैमिटिक वर्णाक्षर किस प्रकार प्रादुर्भूत हुए। इसका श्रेय एक फ्रान्सीसी विद्वान् इमानुअल रूजे महोदय को है। इनकी खोज का सिद्धांत यह है कि सैमिटिक वर्णमाला का पूर्वरूप मिस्री चित्र-वर्णमाला में न ढूँढ़कर वहाँ की चित्र-वर्णमाला की अनवरुद्ध लिपियों में ढूँढ़ना चाहिए, जिन्हें जनता प्रतिदिन व्यवहार में लाती थी। चित्र-वर्णमाला तो केवल जातीय महान् कार्यों और धार्मिक व्यवस्थाओं के लिए ही व्यवहृत होती थी।

रूजे महोदय की खोज यह है कि मिस्र की चित्र-वर्णमाला का अनवरुद्ध लिपि-रूप प्राचीन हाइरेटिक लिपि थी, जिसका उत्पत्तिकाल 'हिक्सोस' के आक्रमण के पश्चात् आता है, जब सैमिटिक सेना ने दक्षिणी मिस्र पर आधिपत्य जमाया था। लगभग छः शताब्दियों के अन्दर-अन्दर सैमिटिक वर्णमाला बढ़ी और पनपी।

रूजे महोदय ने प्राचीनतम प्रचलित सैमिटिक वर्णाक्षरों से अपने अनुसंधान का कार्य प्रारंभ किया। इनसे समानता स्थापित करने के लिए इस सूक्ष्मदर्शी विद्वान् ने 'हिक्सोस' के मिस्र से बहिष्कृत होने के पूर्वकाल के हाइरेटिक अक्षरों को खोज निकाला। फिर प्रत्येक चिह्न की शुद्ध ध्वनियों को भी खोज निकाला। इसके लिए इन्होंने सीरिया प्रदेश के नगरों के नामों का व्यवहार किया, जिनका उल्लेख 'पेपाइरस

अनासतासी' में किया गया है । यह पेपाइरस सीरिया में यात्रा-सम्बन्धी विवरण की एक पुस्तक है। इस विधि से रूजे ने प्रत्येक सैमिटिक वर्णाक्षर के हाइरेटिक पूर्वरूप का पता लगाया । रूजे के इस प्रयास का फल यह हुआ कि उक्त खोज का पदानुसरण कर शुद्ध वैज्ञानिक रूप से भाषा-सम्बन्धी खोजें सम्भव हो गई ।

हाइरेटिक लिपि में लिखी गई संसार की प्राचीनतम पुस्तक, जो उपलब्ध हो सकी है, वह है 'पेपाइरस प्रीस'। यह थेबीज में प्रीस नामक विद्वान को बहुत खोज के अनन्तर मिली थी । सर्वप्रथम यह सन् १८४७ में प्रकाशित की गई। इसमें कुल मिलाकर अठारह पृष्ठ हैं । पहले दो पृष्ठ कुछ अस्पष्ट हैं और अन्तिम सोलह पृष्ठों में उपदेश लिखे हुए हैं । लिपि के वर्ण पूर्ण सुगठित और सुन्दर हैं । जब सैमिटिक जाति की विजय-पताका मिस्र में फहराई, उस काल में यह हाइरेटिक लिपि साहित्यिक और व्यापारिक कार्यों के लिए व्यवहृत होने लगी । उसी का सर्वोत्तम उदाहरण यह पेपाइरस प्रीस है ।

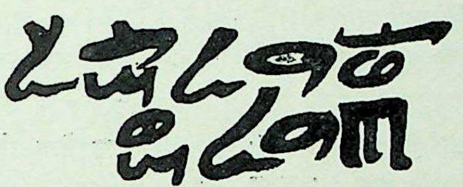

पेपाइरस प्रीस की दो पंक्तियाँ :: यह हाइरेटिक लिपि में लिखित संसार की प्राचीनतम उपलब्ध पुस्तक का एक अंश है ।

पृष्ठ १४२३ पर दिए गए चित्र में तीसरे खाने में फिनीशियन (सैमिटिक) अक्षर दिए गए हैं, जैसे कि वे मोआबाइट प्रस्तर पर खुदे हुए हैं। उसी चित्र के दूसरे खाने में हाइरेटिक अक्षर दिए गए हैं । पहले खाने में मिस्री हाइरोग्लाफिक संकेत दिए हुए हैं । समस्त हाइरेटिक अक्षर एक या दो के अतिरिक्त पेपाइरस प्रीस से लेकर दिए गए हैं । फिनीशियन (सैमिटिक) और हाइरेटिक रूपों का अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पेपाइरस प्रीस और मोआबाइट प्रस्तर के बीच का काल लगभग १,३०० वर्ष का है । इस अवधि में वर्णमाला के अक्षरों में परिवर्तन होना अनिवार्य था । आश्चर्य तो इस बात का है कि रूपान्तर इतना थोड़ा हुआ, और अधिक न हो सका । विशेष अन्तर तो हाइरेटिक और हाइरोग्लाफिक चित्र-संकेतों में दृष्टिगोचर होता है ।

रूजे महोदय ने बड़ी छानबीन के पश्चात् अपनी खोज के नतीजों को लिखा है । पूर्ण विवरण तो उनकी पुस्तक के अवलोकन से ही मिल सकता है, अतः यहाँ एक-दो उदाहरण देकर ही हम सन्तोष कर लेंगे ।

फिनीशियन भाषा में अन्य भाषाओं की तरह 'र' और 'ल' में विशेष अन्तर नहीं है । 'र' ध्वनि का प्रतीक चित्र-वर्णमाला में 'मुख' है (दे० १४२३ पृष्ठ का चित्र) और 'ल' का प्रतीक है 'सिंहनी' (दे० वही चित्र) । इसके हाइरेटिक और सैमिटिक रूप भी (उसी चित्र में) इन संकेत-चिह्नों के आगे दिए गए हैं । पेपाइरस प्रीस की गोलाई मोआबाइट प्रस्तर के कोण में परिवर्तित हो गई है । यह अन्तर लेखन-सामग्री के कारण है ।

हाइरोग्लाफिक वर्णमाला में 'ब' का प्रतीक 'बर्र' है (दे० पृष्ठ १४२३ का चित्र) । इसके मोआबाइट प्रस्तर के रूप और हाइरेटिक रूप में कोई विशेष अन्तर ही नहीं है, प्रत्युत पूर्ण समानता दिखलाई पड़ती है ।

'श' ध्वनि के लिए हाइरोग्लाफिक संकेत है 'जलपूर्ण उद्यान' का चित्र (दे० उक्त चित्र) । इसके फिनीशियन रूप और हाइरेटिक रूप में कितनी समानता है, स्पष्ट ही है । फिनीशियन वर्ण केवल अनावश्यक पुछल्ला हटाकर बना लिया गया है । कदाचित् पुछल्ला लेखक की अपनी कलात्मक भावना का प्रदर्शन भी हो सकता है ।

इसी प्रकार अन्य वर्णों का अध्ययन करके हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कम से कम १६ वर्णों की समानता तो पूर्ण सन्तोषप्रद है । अन्य वर्णों के लिए सन्देह की काफी गुञ्जाइश है । यदि खोजकर और कुछ सामग्री मिल सकी, तो बहुत अंशों में शेष वर्ण-संबंधी संदेह भी मिट जायँगे, ऐसी आशा है ।

एक बात यहाँ और स्पष्ट करना आवश्यक है । जिस अनुमान के सहारे रूजे महोदय ने मिस्री और सैमिटिक वर्णों में समानता दिखलाने की चेष्टा की है, वह यद्यपि मैक्समूलर, लेनोर्मा, माहाफी जैसे भाषाविज्ञों को मान्य है, फिर भी बहुतों ने उस अनुमान को मिथ्या सिद्ध किया है ।

मिथ्या सिद्ध करनेवालों में प्रो० लागार्दे प्रमुख हैं । इन महोदय का कहना है कि कितनी ही सैमिटिक ध्वनियाँ सैमिटिक भाषा की विशेषताएँ हैं और वे मिस्री वर्णमाला में कभी भी स्थान नहीं पा सकतीं । अतः सैमिटिक वर्णों की उत्पत्ति सैमाइट जाति के ही मस्तिष्क की उपज हो सकती है । परन्तु इसमें लागार्दे महोदय यह भूल करते हैं कि जब एक जाति दूसरी जाति की वर्णमाला को अपनाती है, तो यह आवश्यक नहीं कि ध्वनियों में पूर्ण साम्य हो । समानता लगभग मिलती-जुलती ही हो सकती है । उसी ध्वनि को हम अन्य जातियों की वर्णमाला द्वारा प्रकट कर सकते हैं ।

सैमिटिक अक्षर सैमिटिक चित्र-लिपि से बने, यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। न तो प्राचीन भाव-चित्र मिलते हैं, न पुरातन स्मारक ही, जिन पर प्राचीन चित्र अभिलिखित हों। कुछ विद्वानों का कथन है कि सैमिटिक अक्षर हिट्टाइट (हित्ती) चित्र-लिपि के परिवर्तित रूप हैं। परन्तु इसकी पुष्टि के लिए भी कोई प्रमाण नहीं मिले हैं। अतएव हमारे लिए रूजे के सिद्धान्त को अपनाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है।

सैमिटिक वर्णमाला के विविध रूप

सैमिटिक वर्णमाला का कुटम्ब बहुत बड़ा है। उसमें फिनिशियन, हीब्रू, सीरिएक, अरामियन, मोआबाइट और अरबी संमिलित हैं। इनके अक्षरों के रूप विभिन्न हैं, परंतु इन सबकी उत्पत्ति एक ही आदिम वर्णमाला से है। मोआबाइट प्रस्तर के अभिलेख पर सैमिटिक लिपि की समस्त विशेषताएँ—अक्षरों का क्रम, संख्या, नाम, शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव, दाईं से बाईं ओर को लिखना, आदि—देखने को मिलती हैं और यह पेपाइरस प्रीस के काल से लेकर अब तक ज्यों-की-त्यों बनी हैं। शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव सर्वप्रधान विशेषता है। सैमिटिक वर्णमाला में जितनी भी ध्वनियाँ हैं, उनमें भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कंठच ध्वनि के लिए कोई प्रतीक नहीं। अक्षरों की संख्या उतनी ही है; न घटी है, न बढ़ी।

अक्षरों के रूप बहुत बदल गए हैं। उनका अनवरुद्ध लिपि की ओर ही अधिकाधिक झुकाव रहा है और आधुनिक अरबी में वे अन्तिम सीमा को पहुँच गए हैं। मोआबाइट प्रस्तर पर अभिलिखित अक्षरों में से बारह के रूपों में पूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। ये आदिम चिन्ह उनके परिवर्तित रूपों के साथ नीचे दिए जाते हैं:—

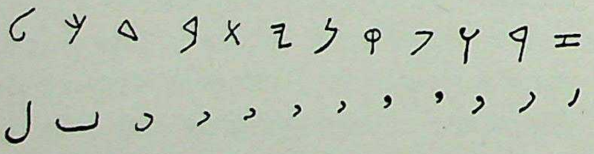

इन रूपों को पहचानने में कितनी कठिनाई है, यह स्पष्ट है। पढ़ने की कठिनाई को दूर करने के लिए नुकते लगाए गए, जिससे कि ये ठीक-ठीक पढ़े जा सकें। अब ये इस प्रकार लिखे जाते हैं:—

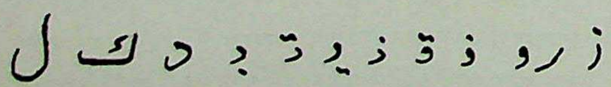

वास्तव में नुकतों के लगाने से अक्षर अथवा वर्ण गायब हो गया और शब्द मात्र रह गया। अक्षर का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व ही न रह गया। 'बे' 'नून' 'ये' 'ते' का नुक्तों के अभाव में एक ही रूप है। प्राण-ध्वनि 'ह' स्थिति के अनुसार चार प्रकार से लिखी जाती है और इसके चार रूप और भी हैं, जिन्हें हम यहाँ 'महाप्राण' कह सकते हैं। वस्तुतः अभी वर्णमाला पूर्णरूपेण विकसित नहीं हुई थी। पूर्णता तो अनेक शताब्दियाँ बीतने पर उसे मिली। इस पूर्णता का श्रेय आर्यों को है। आर्यों ने ही संसार को स्वर दिए।

अरबी की लिपि पढ़ने से पहले उसे भाषा के रूप में जानना नितान्त आवश्यक है। इसके विरुद्ध आर्य भाषाओं में अक्षर की महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। प्रत्येक अक्षर स्पष्ट है और उसकी आदिम रूपरेखा ज्यों-की-त्यों बनी रही है। अंगरेजी के अक्षर O, Y, H, Q के आदिम रूप मोआबाइट अक्षरों के उन रूपों से मिलते-जुलते हैं, जो पृष्ठ १४२३ के चित्रों में इन रोमन अक्षरों के सामने दिए गए हैं। अन्य अक्षरों में भी विभिन्नता विशेष नहीं है। उनमें जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे आदिम रूप को और अधिक स्पष्ट करने के हेतु से ही हुए हैं। उदाहरणार्थ, D के लिए हाइरेटिक संकेत का आधुनिक रूप कितना पुष्ट होकर निखरा है! उसी प्रकार P का हाइरेटिक आदिम रूप भी है। परिवर्तन कम-से-कम हैं और हैं अक्षर को एकदम भिन्न, सरल, सुस्पष्ट रूप देने के लिए। आर्य वर्णमाला के अक्षर पढ़ने में सीधे हैं; सैमिटिक वर्णमाला के अक्षरों को लिखने के लिए कम समय की अपेक्षा है। टेलर महोदय के कथनानुसार "यदि सैमिटिक लिपि मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी का ढाँचामात्र है, तो आर्य लिपि एक जीवित मनुष्य का पूर्ण स्वस्थ मुख है, जिसमें हृदयगत भावनाओं, क्रोध की भभकती ज्वाला और मीठी मृदु मुसकान को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है।"

तीन प्रधान शाखाएँ

सैमिटिक वर्णमाला की तीन प्रधान शाखाएँ थीं—फिनीशियिन, जिससे ग्रीक (यूनानी) वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई; अरामियन, जिससे ईरानी वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई; और दक्षिणी सैमिटिक, जिससे कि पाश्चात्य लेखक देवनागरी अक्षरों की उत्पत्ति मानते हैं, यद्यपि भारतीय विद्वानों को यह मत मान्य नहीं है, जिनका विवेचन हम आगे करेंगे।

सैमिटिक वर्णाक्षरों का प्रामाणिक इतिहास ई० पू० नवीं शताब्दी से थोड़ा-बहुत मिलता है। अतः उस समय से लेकर

हीब्रू वर्णमाला			अरबी वर्णमाला		ग्रीक वर्णमाला	
ध्वनि-चिन्ह	रूप	नाम	रूप	अर्थ	रूप	नाम
अ	א	अलिफ	ا	बैल	α	अलफा
ब	ב	बे (बेथ)	ب	गृह	β	बीटा
(ग) ज	ג	जीम	ج	ऊँट	γ	गामा
द	ד	दाल	د	द्वार	δ	डेल्टा
ह	ה	हे	ح	खिड़की	ε	ऐपसाइलौं
व	ו	वाव	و	हुक	ϛ	वाउ
ज़	ז	जे	ز	अस्त्र	ζ	जीटा
ख़	ח	खे	خ	रोक	η	ईटा
त	ט	तोय	ط	सर्प	θ	थीटा
य	י	ये	ي	हाथ	ι	आइओटा
क	כ	काफ	ک	हथेली	κ	काप्पा
ल	ל	लाम	ل	अंकुश	λ	लामडा
म	מ	मीम	م	जल	μ	यू
न	נ	नून	ن	मत्स्य	ν	नू
स	ס	सीन	س	मेख	ξ	क्सी
अ	ע	ऐन	ع	चक्षु	ο	आमाइक्रों
प	פ	पे	پ	मुख	π	पाई
स	צ	स्वाद	ص	भाला	ϡ	सान
क़	ק	काफ़	ق	गाँठ	ϟ	कोप्पा
र	ר	रे	ر	शिर	ρ	र्हो
श	ש	शीन	ش	दाँत	σ	सिग्मा
त	ת	ते	ت	चिन्ह	τ	ताउ

अब तक उसके वर्णमाला के रूपों के विकास के इतिहास कुछ तथ्यता के साथ प्रस्तुत किया ही जा सकता है। इससे कुछ काल पूर्व यूनानी वर्णमाला का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्हीं यूनानी अक्षरों से सैमिटिक अक्षरों के पुराने रूपों का अनुमान कर लिया गया है। इसी प्रकार आदिम अरबी अक्षरों का भी काल निर्णय किया गया है।

अरामियन वर्ग के वर्णाक्षरों का साहित्य-निर्माण में बड़ा जबर्दस्त हाथ रहा है। हीब्रू, सीरिएक और अरबी इसी वर्ग में हैं। इस वर्ग की वर्णमाला की उत्पत्ति सीरिया प्रदेश में बतलाई जाती है। इस युग से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व फिनीशियन जाति की शक्ति का जब ह्रास हो चुका, तो अरामियन वर्ग की वर्णमालाओं ने फिनिशियन वर्णमाला का स्थान ग्रहण किया और शनैः शनैः वे पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। फिनीशियन वर्णमाला का तो आज अस्तित्व ही नहीं रहा है। हाँ, उसकी एक उत्तराधिकारणी––आधुनिक सैमेरिटन–अवश्य बच रही है, जिसके बोलने-लिखनेवाले इने-गिने परिवार ही हैं।

मोआवाइट प्रस्तर

फिनीशियन वर्णमाला द्वारा लिखित साहित्य के निर्माण का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके द्वारा केवल थोड़े-से पत्थर अमर हो गये हैं। इन पत्थरों पर अभिलिखित लेखों से ही आज हम इसकी वर्णमाला का पता लगा सके हैं। ऐसे अभिलेखों में सब से प्राचीन 'मोआबाइट प्रस्तर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर मोआब के राजा मेशा द्वारा खुदवाए गए निम्न टूटे-फूटे वाक्य हैं—"मैं मोआब के राजा कामोशगाद का पुत्र मेशा हूँ। मैं दिवोनाइत हूँ। मेरे पिता ने मोआब में ३० वर्ष तक राज्य किया, और मैंने अपने पिता के पश्चात् राज्य किया, और मैंने मैदान में......कामोश के स्मृत्यर्थ यह स्मारक निर्माण कराया। मुक्ति......क्योंकि उसने मेरी सब भय से रक्षा की थी, और उसने मेरे शत्रुओं पर मेरी मनोकामना प्रकट करने का मुझे अवसर दिया था......इजरायल के राजा ओमरी ने बहुत काल तक मोआब को सताया, क्योंकि कामोश उसके देश से क्रुद्ध था। उनके पश्चात् उसका पुत्र राजा हुआ। उसने भी कहा मैं मोआब को चैन न लेने दूंगा।"

इस प्रस्तर में छः सतरें हैं। जिस प्रस्तर पर यह खुदा है, वह बड़ा ही सख्त है। अक्षर सब स्पष्ट हैं। इससे निश्चित तिथि का पता लगता है। इस प्रस्तर का ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट है। यह प्रस्तर आजकल लूव्रे (पेरिस) में सुरक्षित है। लव्रे में आने से पहले यह प्रस्तर ४१ इंच ऊँचा और २१ इंच चौड़ा था और इस पर ३४ सीधी सतरें थीं। फिर फ्रांस और जर्मनी दोनों ने इसको अपने कब्जे में करने की कोशिशें कीं। बहुत झगड़े हुए। इस पर अरब निवासियों ने उसको तोड़ डाला और वे उसके टुकड़े अपने-अपने घरों पर उठाकर ले गए। लगभग ४० टुकड़ों का पता लग सका है। जो टुकड़ा लूव्रे में सुरक्षित है, वह भाषाविज्ञों के बड़े ही काम का है। उसी का अनुवाद ऊपर दिया गया है।

अरामियन लिपि का प्रचार

फिनीशियन साम्राज्य और व्यापार के नष्ट होने पर जब अधिकांश वर्णमालाओं की जननी फिनीशियन लिपि प्रभावहीन हो गई, तो उसकी उत्तराधिकारिणी एशिया महाद्वीप में अरामियन और योरप में ग्रीक लिपि हुई। अरब के पठारों में जन्म लेने के कारण ही यह अरामियन कहलाई। अरामियन वर्णमाला के विस्तार का कारण मुख्यतः राजनीतिक और किसी हद तक व्यापारिक भी था। टाइर की विजय के पश्चात् इस लिपि ने राज्याश्रय पाया। सेना, कचहरी, दफ्तर सभी जगह यही लिपि लिखी जाने लगी। यरूशलम में मन्दिर बनवाने के लिए एजरा को जो आज्ञा पत्र दिया गया था, वह अरामियन लिपि में ही लिखा गया था। असीरियन और बेबिलोनियन इन दो साम्राज्यों के आश्रय में क्यूनीफार्म (कीलाकार) लिपि के पश्चात् यही लिपि खूब फली-फूली। सिकंदर की विजयों के पश्चात् जब दुनिया का नकशा बदला, तब जहाँ-जहाँ ग्रीक वर्णमाला न पहुँच पाई, वहाँ-वहाँ अरामियन लिपि ही प्रचलित हुई। इस के प्रमाण-स्वरूप अनेक सिक्के भारत, मिस्र, फारस और अरब आदि देशों में मिले हैं।

लगभग ८०० वर्ष तक शक्ति-संचय करने के पश्चात् यह लिपि पदच्युत हुई और इसका स्थान अनेक (विशेषकर धार्मिक) कारणों से अन्य लिपियों ने ले लिया। अब सिरिएक, अरबी, हिब्रू, पारसी, मंगोलियन आदि उपलिपियों ने अपना-अपना विस्तार करना आरम्भ किया। इस्लाम, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म आदि सब अपनी विशेष लिपियों को साथ लेकर बढ़े। मंगोलियन वर्णमाला का चीन में प्रचार है, पारसी लिपि का पारसियों में, सीरिएक का लैबनन तथा कैस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेशों एवं भारत के मलावार प्रदेश में। उधर अरबी उत्तरी अफ्रीका के मोरक्को प्रदेश से लेकर सुमात्रा द्वीप पर्य्यन्त अधिकतर मुस्लिम क्षेत्रों में प्रचलित है।

अरामियन लिपि का महत्व केवल ऐतिहासिक है। इसने तीन साहित्यिक लिपियों को जन्म दिया—अरबी, हीब्रू और सीरिएक। यद्यपि उनका निजी अस्तित्व अब नहीं है, तथापि वर्णमाला के इतिहास में उसकी छाप अमर है।

दक्षिणी सैमिटिक या ईथियोपिक

आदिम सैमिटिक वर्णमाला की तीसरी शाखा दक्षिणी सैमिटिक के नाम से प्रचलित है। फिनीशियन शाखा से योरप की विभिन्न वर्णमालाओं का जन्म हुआ। दूसरी अरामियन शाखा से मध्य और पश्चिमी एशिया की वर्णमालाओं का जन्म हुआ, और तीसरी से अबीसीनिया की वर्णमालाओं का विकास हुआ। तीसरी शाखा को 'ईथियोपिक' और 'जोकतानाइत' भी कहते हैं।

अनेक वर्षों तक दक्षिणी सैमिटिक की केवल एक ही वर्णमाला का पता था——ईथियोपिक। इसमें अबीसीनिया-निवासी ईसाइयों की धार्मिक पुस्तकें लिखी हुई हैं। इसकी लिपि का इतिहास एवं इसमें क्या-क्या परिवर्तन क्यों और कैसे हुए, आदि सब अंधकार के गर्त में है। परन्तु यह सैमिटिक वर्ग की ही एक शाखा है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, क्योंकि इसकी वर्णमाला के कुल नाम सैमिटिक हैं। पिछले दिनों अदन के निकट कुछ सिक्के मिले हैं, जो कि साबियन लिपि में हैं। साबियन लिपि ईथियोपिक का पूर्वरूप है। उत्तरी सैमिटिक लिपि और साबियन लिपि में कोई साम्य नहीं है। लगभग १०० वर्ष पूर्व दमिश्क के निकट साफा में कुछ लेख मिले हैं। इनके अध्ययन से उत्तरी और दक्षिणी सैमिटिक लिपियों में साम्य स्थापित करनेवाली एक लिपि का पता चला है, इसे थामूदाइत कहते हैं। इन बातों से पता लग जाता है कि किस प्रकार फिनीशियन वर्णमाला से ईथियोपिक वर्णमाला विकसित हुई।

यूनान की वर्णमाला

ऐतिहासिक खोज के आधार पर इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक प्रत्येक यूनानी राजधानी की अपनी वर्णमाला थी। पीछे से समस्त यूनान में साधारणतया एक ही वर्णमाला का प्रचलन हुआ, और इस वर्णमाला में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए। पेलोपोनेशियन युद्ध के पश्चात् समस्त जनता की राय से लिखने-पढ़ने के लिए आइओनियन वर्णमाला चुन ली गई और यही वर्णमाला यूनान देश के अधिकांश भाग में व्यवहृत होने लगी। एक अभिलेख के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि एशिया माइनर में ईस्वी पूर्व ४६० तक अर्थात् ओलिम्पिक खेलों के अस्सीवें अधिवेशन तक आइओनियन वर्णमाला अपने पूर्ण रूप को पा चुकी थी। किस प्रकार यह फिनीशियन वर्णमाला से निर्मित हुई और इसका परिवर्तन-क्रम क्या रहा, यह कुछ अभिलेखों के आधार पर कहा जा सकता है।

अबू सिम्बेल के अभिलेख

इन अभिलेखों में से एक अबू सिम्बेल के अभिलेख हैं। यह स्मारक नील नदी के द्वितीय प्रपात के निकट स्थित है। इस मन्दिर की भित्तियों पर सम्राट् रामसेस के राज्यकाल की गाथाओं के साथ-साथ प्रत्येक देश के मनुष्यों का भी वर्णन अंकित है। इतना ही नहीं, इसकी भीमकाय मूर्तियों पर अगणित यात्रियों और दर्शकों द्वारा अपने हाथों से विभिन्न वर्णाक्षरों में अंकित स्मृतिचिन्ह भी सुरक्षित हैं। इनमें अधिकतर नाम ही हैं। उनमें से अनेक नाम भाषाविज्ञों के लिए बहुमूल्य हैं। छः नाम फिनीशियन वर्णाक्षरों में है और उन्नीस यूनानी (ग्रीक) में। सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रीक वर्णाक्षरों में लिखित पाँच पंक्तियोंवाला एक अभिलेख है, जिससे उसके लिखे जाने की तिथि निर्धारित की जा सकती है। इसके द्वारा ज्ञात हुआ है कि छब्बीसवें वंश के मिस्री राजा सामेटीकस की नौकरी में कुछ यूनानी थे, जो अबू सिम्बेल गए थे। इसकी तिथि ईसा से पूर्व छठी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है। अन्य छोटे-छोटे यूनानी अभिलेखों में से आठ और हैं, जो इसी काल के मालूम होते हैं।

अबू सिम्बेल में आदिम ग्रीक लिपि के कुल मिलाकर नौ अभिलेख हैं, इनकी तिथि निश्चयपूर्वक कही जा सकती है। इनके अक्षर दो इंच लम्बे हैं, और ये ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। अबू सिम्बेल के पाँच पंक्तियोंवाले अभिलेख का अनुवाद नीचे दिया जाता है——

“जब राजा सामेटीकस एलीफैन्टिना पहुँचा तो, उस समय थिओक्लीज का पुत्र (कप्तान) सामेटीकस साथ था, उसने यह लिखा। वे नावों में चले और कर्कीज तक चले गए, जहाँ तक सरिता में जा सके। पोटासिम्टो विदेशियों का नायक था, और आमासीस मिस्रियों का। इसके लेखक अमोईबिकॉस का पुत्र आर्कन और यूदामॉस का पुत्र पैलीकॉस थे।”

अनुमान किया जाता है कि कुछ यूनानी सिपाही न्यूबिया प्रदेश में खोज के लिए नावों द्वारा गए। जब यह द्वितीय प्रपात पर पहुँचे, तो आगे न बढ़ सके। लौटते समय वे अबू

CC-0. Digamber Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिम्बेल ठहरे, और अपनी महत्वपूर्ण यात्रा का विवरण वहाँ अंकित करके चलते बने ।

छोटे-छोटे अभिलेखों से लेखकों की जाति का भी पता लगता है । एक ने लिखा है--"मैं कोलोफोनिया-निवासी पाबीस हूँ । मैं सामेटीकस के साथ आया था ।" दूसरे ने लिखा है—"मैं ईआलिसिया-निवासी तैलीफस यह लिख रहा हूँ" इत्यादि । इन सबको पढ़ने से आइओनियन यूनानियों में साक्षरता के प्रसार का पता लगता है ।

बड़े अभिलेख द्वारा लेखन-तिथि का निर्णय किया जा सकता है । विद्वानों ने यह तिथि ईस्वी पूर्व ६५४ और ६१७ के बीच में रक्खी है । यूनान के प्रसिद्ध और सर्वप्रथम इतिहासकार हिरोडोटस ने भी अपने इतिहास में आइओनिया और कारिया के सैनिकों का मिस्र देश के राजा के यहाँ नौकरी करने का उल्लेख किया है । अबू सिम्बेल के अभिलेखों से प्रकट है कि ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी में ग्रीक लिपि अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हो गई थी । अबू सिम्बेल के नौ अभिलेखों के समस्त अक्षरों में लगभग पूर्ण साम्य है । एक-दो अक्षरों में जो रूप विभिन्नता है, वह नगण्य है और अन्य बातों में जो समानता है, वह प्रमाणित करती है कि ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी में ग्रीक लिपि बहुत उन्नति कर गई थी, यहाँ तक कि विदेशी राजाओं के यहाँ भी जो ग्रीक सैनिक नौकरी करते थे, वे भी उससे भिज्ञ थे, यद्यपि ये ग्रीक सैनिक ग्रीस (यूनान) के विभिन्न प्रदेशों के निवासी थे । साक्षरता के इतने अधिक प्रसार के लिये काफी समय आपेक्षित है । इससे प्रकट हो जाता है कि ग्रीक लिपि अवश्य ही बहुत पुरानी है । यह कितनी पुरानी है, यह तत्कालीन फिनीशियन और कारियन लिपियों की तुलना करके मालूम हो सकता है । कारियन और आइओनियन लिपियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इतनी अधिक विभिन्नता, और वह भी दो पड़ौसियों की लिपियों में, यूनान देश के लिपिज्ञान की प्राचीनता को ही प्रमाणित करती है ।

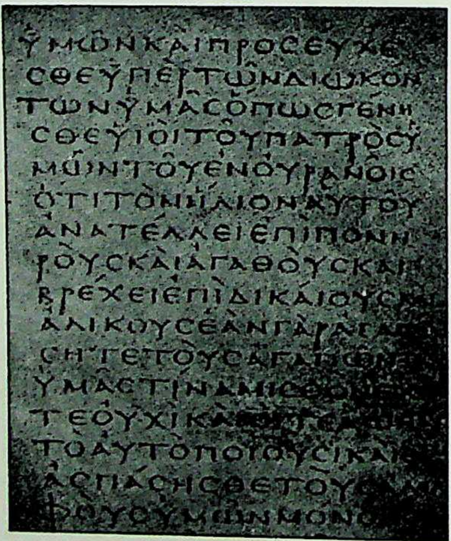

प्राचीन ग्रीक लिपि में लिखित बाइबिल की कुछ पंक्तियाँ । यह १,६०० वर्ष पूर्व की एक प्राचीन पांडुलिपि का अंश है ।

ग्रीक और फिनीशियन अभिलेखों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हो जाता है कि ग्रीक अभिलेखों में पहले जहाँ दाई ओर से बाई ओर को लिखा जाता था, वहाँ अब बाई ओर से दाई ओर को लिखा जाता है । ध्वनि-विकार और भी स्पष्ट हैं । चार कंठ्य ध्वनियाँ और दो अर्द्ध-व्यंजनात्मक ध्वनियाँ अलफा, ऐपसाइलौं, ईटा, ओमाइक्रौं, नू और आइओटा में परिणित हो गई हैं, और तीन और नए वर्णाक्षर, जो किसी भी सैमिटिक वर्णमाला में नहीं हैं, जोड़ दिए गए हैं । इसके अलावा लगभग आधे से अधिक वर्णाक्षरों में आकृतिमूलक परिवर्तन भी कर दिए गए हैं। वे सभी विशेषताएँ, जो योरप और एशिया के वर्णाक्षरों में दृष्टिगोचर होती हैं, ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी में प्रकट होने लगी थीं ।

फिनीशियन वर्णमाला में जो इतने परिवर्तन हुए, उन्हें होते-होते अवश्य बहुत समय लगा होगा । बाई ओर से दाई ओर को लिखना, स्वरों में वृद्धि होना, इनमें तो अधिक समय की अपेक्षा होती ही है; पर वर्णाक्षरों के रूप-परिवर्तन में भी अनेक पीढ़ियाँ लग गई होंगी । अन्य वर्णमालाओं के अध्ययन से प्रकट हो जाता है कि रूपांतर बहुत धीमा होता है, और एक दो पीढ़ियों में जो कुछ हो पाता है, वह तो नहीं के बराबर होता है ।

अबू सिम्बेल के अभिलेखों की वर्णलिपि को अपना पूर्ण रूप पाने में अनेक शताब्दियाँ लग गई होंगी, इसमें कोई भी संदेह नहीं ।

जब सैमिटिक वर्णमाला गैर-सैमिटिक लोगों के पास पहुँची, तो उसमें अनेक परिवर्तन हो जाना और त्रुटियों का होना अवश्यम्भावी था ही । उसमें अतिरिक्त वर्णों एवं ध्वनियों का लोप हो जाना अथवा सजातीय ध्वनियों का संकेत बन जाना, तथा नवीन वर्णों का प्रकाश में आना भी कोई आश्चर्य उत्पन्न नहीं करते । जब ग्रीक वर्णमाला बनी, तो सैमिटिक अर्ध-व्यञ्जन और कंठ्य ध्वनियाँ स्वरों में परिणत हो गईं । सप्राण स्पर्श वर्णों और अन्य स्वरों का विकास हुआ । ऊष्म वर्णों में भी परिवर्तन हुए । कुछ अक्षरों के रूप बदले और कुछ ज्यों-के-त्यों बने रह गए ।

जिन परिवर्तनों की अत्यधिक आवश्यकता प्रतीत हुई, वे पहले किए गए । तत्पश्चात् जैसे-जैसे आवश्यकता पड़ी, परिवर्तन होते

गए। सर्वप्रथम परिवर्तन स्वरों में हुए। उदाहरणार्थ 'अलिफ', 'हे' और 'ऐन' 'अलफा', 'ऐपसाईलौं' और 'ओमाइक्रौं' में परिणत हो गए। अर्ध-व्यञ्जन 'ये' का 'आइओटा' की सजातीय स्वरध्वनि में परिवर्तन हो गया। अन्य वर्णाक्षरों में परिवर्तन किस क्रमानुसार हुआ यह बहुत ही विवादग्रस्त है। 'ईटा' के इतिहास को थीरा के अभिलेखों के आधार पर प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। 'ओमेगा' का इतिहास 'ईटा' के एक शताब्दी पीछे का इतिहास कहा जाता है। कहते हैं, 'ओमेगा' वर्णाक्षर का विकास होने पर ही ग्रीक-वर्णमाला की इति हुई। इसका आदिम रूप फिनीशियन वर्णाक्षर 'जे' कहा जाता है। ऊष्म वर्णों की समस्या सब से अधिक कठिनाई उत्पन्न करती है। सैमिटिक वर्णमाला में चार ऊष्म वर्ण हैं। ग्रीक में केवल तीन ऊष्म वर्णों की आवश्यकता थी, परन्तु विद्वानों के मतानुसार इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक वर्णमाला में भी चार ऊष्म वर्ण थे। उनमें से कालान्तर में एक ऊष्म वर्ण का लोप हो गया। हेरोडोटस ने इसका प्रयोग किया है, और आदिम अभिलेखों से इसका पता लगता है। 'लामडा' के लिए कहा जाता है कि यह थीरा के अभिलेखों से भी पुराना है। परन्तु इसका आदिम रूप जैसा फिनीशियन में है, लगभग वैसा ही है। यह वर्ण अंग्रेजी के L के अनुरूप है। 'कोप्पा' का पता प्राचीनतम ग्रीक अभिलेखों में मिलता है। इसका उल्लेख दो बार थीरा के अभिलेख में और दो ही बार एथेन्स के अभिलेख में किया गया है और वह कोरिन्थ, कोरोनिया, कौस, क्रोटन और सिराक्यूज के सिक्कों पर भी अभिलिखित है। अबू सिम्बेल के अभिलेखों में 'सिग्मा' का आदिम रूप ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। जिस रूप में यह आजकल प्रयुक्त होता है, वह आठवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। 'जीटा' का प्राचीन रूप ईत्रस्कन लिपि से लिया गया था। इसका जो रूप सिक्कों पर अभिलिखित मिलता है, वह पृष्ठ १४२३ के चित्र में तीसरे खाने में Z वर्ण के सामने दिया हुआ है। 'ऐपसाइलौं' का आदिम रूप आधुनिक रूप से अधिक भिन्न नहीं है। 'आइओटा' का प्राचीन रूप उक्त पृष्ठ पर तीसरे खाने में अंग्रेजी I वर्ण के सामने दिया हुआ है। इसको और अधिक सरल करने की गुञ्जाइश ही नहीं रही, इसी से यह एक सीधी लकीर के रूप में है। 'ताउ' पहले क्रॉस के आकार का था, फिर ऊपर की चोटी गायब कर दी गई और अंग्रेजी वर्णाक्षर 'टी' (T) के रूप में व्यवहृत होने लगा। 'र्‌हो' का प्राचीन रूप अंग्रेजी वर्णाक्षर R के सामने उक्त पृष्ठ के चित्र में दिया हुआ है। ग्रीक 'डेल्टा' से अन्तर दिखाने के लिए इसमें पुछल्ला और लगा दिया गया है। यही 'आर' (R) के रूप में अभी तक अंग्रेजी में व्यवहृत होता है। प्राचीन हस्तलिखित लिपियों में 'र्‌हो' को लकीर के कुछ नीचे से P के अनुसार लिखते हैं। 'बीटा' के प्राचीन रूप अनेक हैं। अबू सिम्बेल के अभिलेख पर दिया गया इसका रूप बहुत पीछे का है। प्राचीनतम अभिलेखों में 'गामा' का पता लगाना बहुत कठिन है। इसको चार प्रकार से लिखा गया है। 'मू' और 'नू' का नामकरण 'जीटा' और 'ईटा' के वजन पर किया गया है।

अरामियन, फ़्रीजियन, कारियन, लीसियन, सिप्रिओट आदि

इधर ग्रीक वर्णमाला का विकास आइओनिया के नगरों में हो रहा था, उधर एशिया माइनर में भी इस वर्णमाला के साथ-साथ अन्य वर्णमालाओं का विकास यूनानियों से इतर जातियों में हो रहा था। इनमें से कुछ प्रसिद्ध वर्णमालाएँ हैं अरामियन, फ्रीजियन, कारियन और लीसियन। इन वर्णमालाओं में बहुत-कुछ ग्रीक वर्णमाला की छाप है। अरामियन का उल्लेख पिछले पृष्ठों में हो चुका है। फ्रीजियन वर्णमाला का पता प्रिमनीसस के अभिलेखों से मिला है। यह ग्रीक वर्णमाला का कोई प्राचीन रूप ही है। दो या तीन अक्षर स्पष्टतया थीरा में प्राप्य रूपों से मिलते-जुलते हैं। अबू सिम्बेल में चार अभिलेख किसी अज्ञात लिपि में हैं। सन्देह किया जाता है कि ये कारियन लिपि में हैं। इस कारियन लिपि में तीस और चालीस के बीच में अक्षर प्रयुक्त हुए हैं, और अधिकांश ग्रीक लिपि से मिलते-जुलते हैं। लीसिया प्रदेश की वर्णमाला लीसियन है। लीसिया में एक अभिलेख मिला है, जिसमें २५० पंक्तियाँ हैं। ईस्वी पूर्व लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लौंगिमेनस नामक एक उच्च पदाधिकारी ने इसको लिखवाया था। लीसियन वर्णमाला आर्य वर्णाक्षरों से प्रकट रूप में विभिन्न है। २८ वर्णाक्षरों में से आधे से अधिक ग्रीक हैं, और शेष वर्णाक्षरों के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जब सिकन्दर महान् ने सम्पूर्ण ग्रीस पर अपना आधिपत्य जमा लिया, तब से लीसियन वर्णमाला का स्थान ग्रीक ने पाया। कालान्तर में लीसियन वर्णमाला का महत्व बहुत-कुछ घट गया। लीसियन में आधे व्यञ्जन हैं और आधे स्वर। व्यञ्जनों में दो के अतिरिक्त सभी फ्रीजियन हैं। स्वरों में चार ग्रीक हैं, और शेष सब ग्रीक से इतर हैं। जो ग्रीक वर्ण हैं, वे फ्रीजियन के रूपान्तर मात्र हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एक और वर्णमाला का पता साइप्रस में लगा है । उसकी नगर में, प्राचीन इदालियन नगर के निकट, १८६९ ई० में एक तख्ती मिली है, और उसके साथ ही फिनीशियन में उसका अनुवाद भी है, जिसकी तिथि ईस्वी पूर्व लगभग चौथी शताब्दी है । इस वर्णमाला को सिप्रिओट कहते हैं । यह एक स्वतन्त्र आक्षरिक वर्णमाला है । इसका सैमिटिक से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं मालूम होता । कम-से-कम इसका अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है । यह वर्णमाला आक्षरिकता के आगे न बढ़ सकने के कारण मृतप्राय हो गई, और जो वर्णमालाएँ अधिक विकसित हो सकीं, वे उसकी स्थानापन्न हो गई । सम्भव था कि यदि वह अधिक विकसित हो जाती, तो पश्चिमी जगत् में मुख्य स्थान पाती ।

इटालिक वर्णमालाएँ

यदि फिनीशियन जाति ने व्यापार द्वारा योरपीय सभ्यता के प्रसार में सब से पहले हाथ बँटाया तो यूनानियों ने विदेशों में बसकर उसको और आगे बढ़ाया । भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों में सब से पहले बसनेवाले यूनानी ही थे । जहाँ-जहाँ ये बसे, वहाँ-वहाँ विभिन्न लिपियाँ प्रादुर्भूत हुई । इनमें से मुख्य हैं ईत्रस्कन, लातिन तथा रूनिक; और इनके पश्चात् की लिपियाँ हैं ग्लैगौलिथिक, मीसोगौथिक, सिरिल्लिक, अलबानियन और कौप्टिक ।

लातिन और ईत्रस्कन जातियों की वर्णमालाएँ इटालिक के नाम से प्रचलित हैं । इटालिक वर्णमालाएँ पाँच हैं—ईत्रस्कन, आँस्कन, अम्ब्रियन, लातिन और फालिस्कन । एक दूसरे के निकटवर्ती प्रदेशों की वर्णमालाएँ होने पर भी इनमें विशेष अन्तर है । लातिन बाईं ओर से दाईं ओर को लिखी जाती है और शेष सब दाईं ओर से बाईं ओर को । ईत्रस्कन में कोमल स्पर्श वर्णों का अभाव है; लातिन में ठीक इसके उल्टा है । ईत्रस्कन और अम्ब्रियन में 'सान' और 'सिग्मा' प्रयुक्त होते हैं, और शेष तीनों में केवल 'सिग्मा' ही व्यवहृत होता है ।

फालिस्कन और लातिन वर्णमालाओं का मूल स्थान चाल्सीडिया है । ईत्रस्कन वर्णमाला के मूल के लिए कोई तो एथेन्स और कौरिन्थ के कुम्भकारों को बताता है, और कोई-कोई सीधे फिनीशियन वर्णमाला को । लगभग सम्पूर्ण इटालिक वर्णमालाओं का मूल चाल्सीडिया है । यह कहना कठिन है कि इन सबकी जननी एक ही लिपि थी । लिखित प्रमाणों के बल पर भाषाविज्ञों का कथन है कि जब यूनानी जाति इटली में आकर बसी, तो वह एक ही वर्णमाला काम में लाने लगी । इसको पेलास्जिक नाम दिया गया है । इटालिक वर्णमालाओं और पेलास्जिक वर्णमाला के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जो भी विभिन्नताएँ तथा अन्तर हैं, वे केवल दोषपूर्ण लेखन के कारण हैं । सप्रमाण कहा जा सकता है कि इटली की सम्पूर्ण वर्णमालाएँ पेलास्जिक वर्णमाला से निकलीं और पेलास्जिक वर्णमाला का मूल चाल्सीडिया की आदिम वर्णमाला थी ।

राजनीतिक कारणों से और सब इटालिक वर्णमालाओं का तो लोप हो गया, केवल लातिन ही शेष बची रही । यही अंततोगत्वा इटली की जातीय वर्णमाला बनी । रोम नगर की वर्णमाला होने के कारण वह ईसाई-जगत् की वर्णमाला बन गई । लातिन अनेक कारणों से फिनीशियन से मिलती-जुलती है [देखो पृ० १४२३ का चित्र] । रोमन लोगों के प्राचीनता के पुजारी होने, इस लिपि के प्रस्तर अभिलेखों पर अधिकाधिक प्रयुक्त होने और साम्राज्य के वर्धनशील होने के कारण, लातिन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो पाए । लातिन वर्णमाला में २० अक्षर फिनीशियन वर्णमाला के हैं, और केवल तीन नये संकेत-चिह्न हैं ।

ग्रीक-वर्णमाला का प्रारम्भिक इतिहास प्रस्तर-अभिलेखों और थोड़े-से सिक्कों पर आश्रित है । प्रस्तर के अभिलेख अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते हैं । लेकिन जब पेपाइरस और कागज आदि प्रयोग में आए, तो वर्णाक्षरों का प्रस्तरवाला रूप बदलने लग गया । कागज पर लिखा जानेवाला वर्णाक्षरों का रूप प्रस्तर-अभिलेखों पर प्रयुक्त होनेवाली वर्णमाला का ही भ्रष्ट रूप है ।

रोमन साम्राज्य का पतन होने पर प्रस्तर-वर्णाक्षरों के रूप में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ । जब फिर से रोमन संस्कृति का उद्धार किया गया और पुस्तकों और पेपाइरस पर लिखे जाने योग्य वर्णाक्षरों की आवश्यकता हुई, तो प्रस्तर-वर्णाक्षरों के भ्रष्ट रूप को ही अपनाया गया । द्रुत गति से लिखी जानेवाली यह लिपि 'माइनस्क्यूल' कहलाई । इसका रूप सुन्दर और पढ़ने में स्पष्ट था ।

'बृहत्', 'अनवरुद्ध' और 'अंसियल' लिपियाँ

वर्णाक्षरों के प्रारंभिक इतिहास में तीन प्रकार की लिपियों के दर्शन होते हैं—एक तो हस्ताक्षर और नाम आदि लिखने योग्य लिपि; इसको 'बृहत् लिपि' कहते हैं । दूसरी चिट्ठी-पत्री आदि लिखने योग्य लिपि, जो अनवरुद्ध गति से लिखी जाती थी । इसीलिए इसे 'अनवरुद्ध लिपि' नाम दिया गया । तीसरी लिपि थी पुस्तकों में प्रयोग करने के

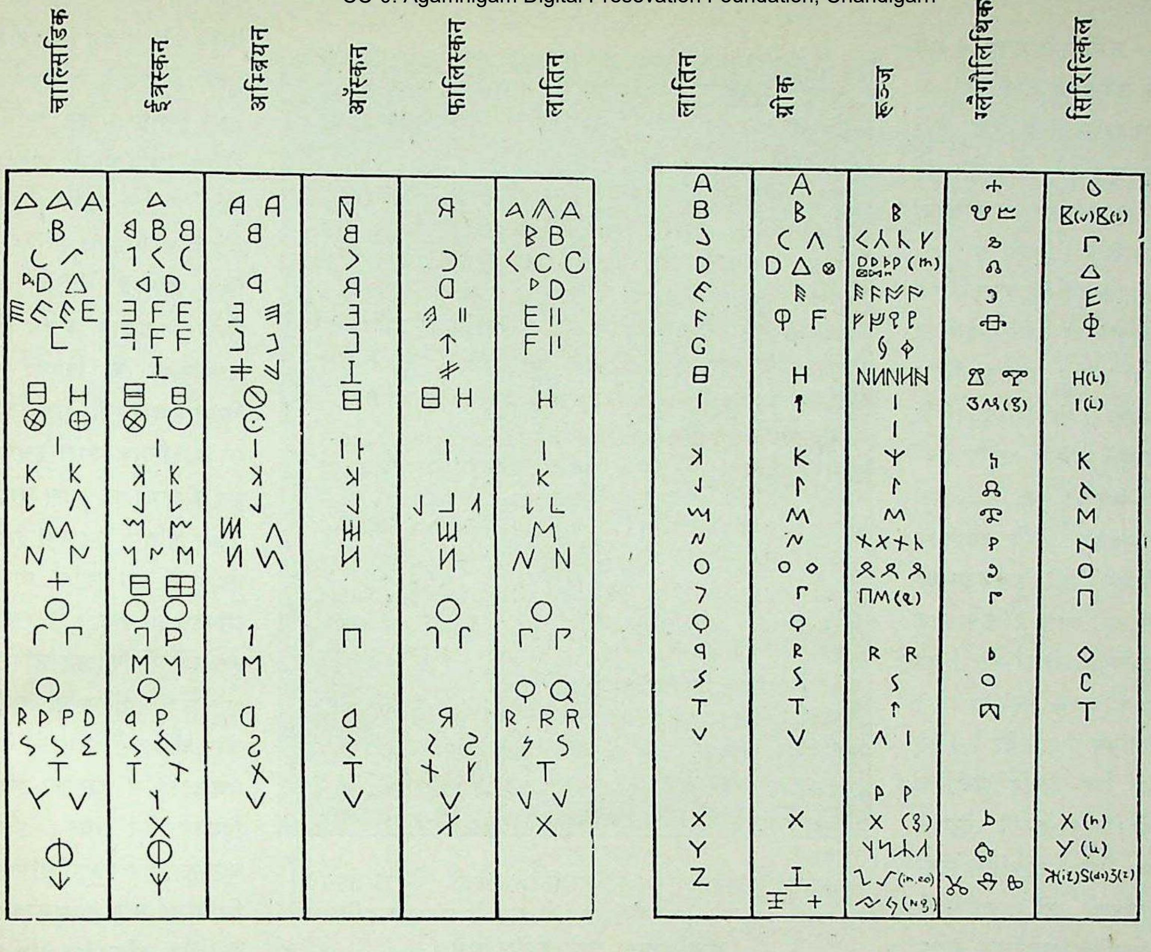
चालसिडिक
ईट्रस्कन
अम्ब्रियन
ऑस्कन
फालिस्कन
लातिन
लातिन
ग्रीक
रूज
ग्लैगोलिथिक
सिरिलिकल

योरप में प्रचलित वर्णाक्षरों के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक मानचित्र :: इन तालिकाओं में ग्रीक और इटालिक समूह की विविध वर्णमालाओं के रूप दिग्दर्शित किए गए हैं, जिनसे उनकी पारस्परिक समानता और विभिन्नता का अनुमान किया जा सकता है। लातिन के दो रूप प्रदर्शित हैं।

लिए। इसको 'अंसिअल लिपि' कहा गया। 'अंसिअल' शब्द अंग्रेजी के इंश या इंच शब्द का विशेषण है, परन्तु ये अक्षर एक इंश (इंच) ऊँचे हर्गिज नहीं लिखे जाते! सार्वजनिक प्रयोग में होने के कारण यह अब भी इसी नाम से पुकारी जाती है। अंसिअल अक्षर कुछ गोलाई लिए हुए और थोड़े तिरछे होते हैं। नवीं शताब्दी तक अंसिअल और अनवरुद्ध लिपियाँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती रहीं। इसके पश्चात् एक नई लिपि का विकास हुआ। अक्षर छोटे होने के कारण ही यह 'माइनस्क्यूल' कहलाई। इसमें विशेषता यह थी कि दो समानान्तर रेखाओं के ऊपर और नीचे तक इसके अक्षर लिखे जा सकते थे। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के बृहत् लिपि के रूप (कैपिटल) B, D, H, P हैं और इसी के माइनस्क्यूलर रूप b, d, h, p हैं। माइनस्क्यूलर लिपि बारहवीं शताब्दी में अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हुई।

ग्रीक हस्तलिखित लिपियों की सर्वप्रथम प्रतियाँ मिस्र देश में मिली हैं। ये प्रमाणित करती हैं कि मिस्र ग्रीस-निवासियों का उपनिवेश रहा है। प्रतियों के सुरक्षित रहने का कारण मिस्र-निवासियों के मृतक के साथ ही समाधिस्थल में पुस्तकों को भी समाधिस्थ करने की प्रथा और वहाँ की जलवायु का सहयोग है। ग्रीक अंसिअल हस्तलिखित प्रतियों के प्राचीनतम नमूने इलियड महाकाव्य की सत्रहवीं पुस्तक के दो कटे-फटे पृष्ठ हैं। इनमें लगभग ५०० सतरें हैं। ये १८५० ई० में एक समाधि से उपलब्ध हुए थे। ये ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के समझे जाते हैं।

लातिन वर्णाक्षर भी ग्रीक वर्णाक्षरों की तरह चार प्रकार से लिखे जाते हैं—कैपिटल (बृहत्), अंसिअल, कर्सिव (अनवरुद्ध) और माइनस्क्यूलर। लातिन का अंसिअल रूप ग्रीक की देखा-देखी हुआ और बहुत काल के पश्चात्।

लातिन के अनवरुद्ध रूप के उदाहरण कोई अधिक संख्या में प्राप्य नहीं है। १८५७ ई० में पाम्पिआई में १३२ मोम की तख्तियाँ मिली हैं। इनमें सन् ५५ और ५६ ई० के काल में एक कोषाध्यक्ष का लेन-देन का ब्यौरा है। अनुमान किया जाता है कि पाम्पिआई के ध्वस्त होने से पहले कम-से-कम दो सौ साल तक अनवरुद्ध लिपि व्यवहार में आती रही। इसके प्रमाण में कहा जाता है कि सम्राट् जूलियस सीजर भी d को a की तरह लिखता था। लातिन में शार्टहैंड के लिए भी एक लिपि प्रचलित थी। जल्दी-जल्दी लिखने के लिए उपयोगी छठी शताब्दी की यह लिपि आधुनिक शार्टहैंड से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी।

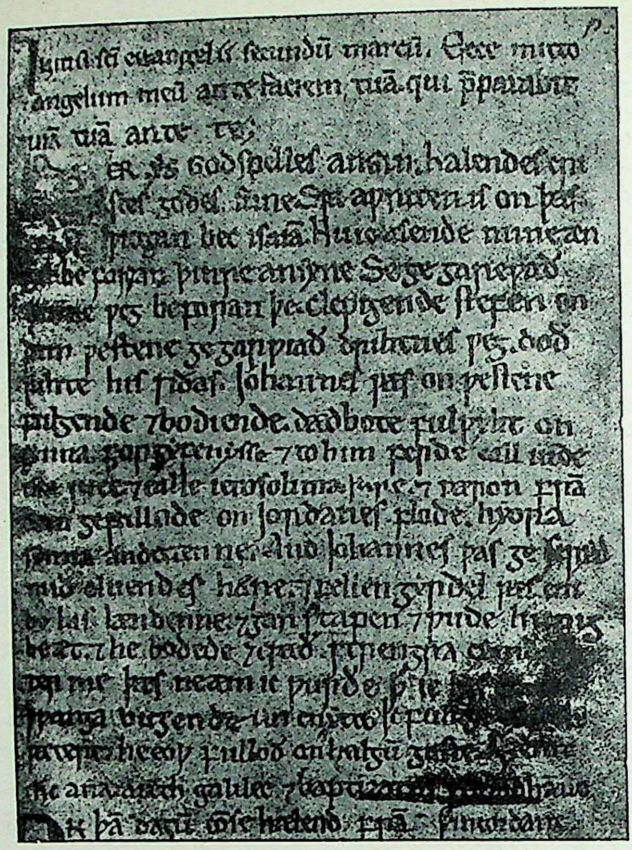

लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की प्राचीन अंग्रेजी (ऐंग्लो-सैक्सन) लिपि का नमूना :: यह कैंटरबरी के मठ से प्राप्त बाइबिल की एक प्राचीन प्रति का अंश है।

विभिन्न जातीय लिपियाँ

रोमन साम्राज्य के नष्ट होने पर अनेक जातीय लिपियाँ प्रकट हुईं। फ्रांस में मैरोविजियन नामक लिपि का, इटली में लोम्बार्डिक लिपि का, स्पेन में वीजोगौथिक लिपि का और आयलैंड में आइरिश लिपि का उदय हुआ। आइरिश लिपि का प्रचार आयलैंड के मठों में संत पैट्रिक द्वारा होना बताया जाता है। इस आइरिश लिपि का योरप की अन्य लिपियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। आयलैंड के साधुओं ने जर्मनी, फ्रांस, इटली और स्विट्जरलैंड में जाकर मठ स्थापित किए, और इस प्रकार आइरिश लिपि का प्रचार सारे योरप महाद्वीप में हुआ। अंग्रेजों ने लिखना रोम के पादरियों और आयलैंड के साधुओं से ही सीखा। आइसलैंडिक लिपि भी आइरिश वर्णाक्षरों की नकल ही है। ऐंग्लो-सैक्सन लिपि कैरोलाइन लिपि की जननी थी, जिसको सम्राट् शार्लमेन के मित्र तथा गुरु आलक्विन ने लोम्बार्डिक माइनस्क्यूल लिपि और रोमन अंसिअल लिपि के संयोग से बनाया था। इसीलिए वह लिपि रोमन लिपि की भी जननी हुई। रोमन लिपि में ही अंग्रेजी का विशाल साहित्य लिखा जाता है। कैरोलाइन लिपि का प्रचार योरप में आलक्विन के शिष्यों ने किया। बारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल इसके पूर्ण विकास का काल था। उसके अंतिम चरण में इस लिपि में परिवर्तन होने आरम्भ हो गए। तेरहवीं शताब्दी में वर्णाक्षर कोण-रूप में परिवर्तित हो गए और चौदहवीं शताब्दी में वर्णाक्षरों में क्रूस का रूप दिखाई देने लगा। इस क्रूस-लिपि को ही 'गौथिक लिपि' के नाम से पुकारते हैं, और अधिकांश जर्मन भाषा की पुरानी पुस्तकें इसी लिपि में छपी हुई हैं। अब वे रोमन लिपि में छपती हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में जब मुद्रण-कला जर्मनी के प्रदेश से इटली को ले जाई गई, तो गौथिक लिपि में परिवर्तन किए गए। इन्हीं परिवर्तनों को 'रोमन लिपि' के रूप में हम जानते हैं। १४७० ई० में यह रोमन लिपि रोम से पेरिस ले जाई गई और यहाँ सॉरबौं (विश्वविद्यालय) में फ्रांस देश में इस लिपि में सब से पहली पुस्तक छपी। यही रोमन वर्णाक्षर पेरिस से लन्दन लाए गए। रोमन लिपि में जो सब से पहली पुस्तक मुद्रित हुई थी, वह हैनरी अष्टम द्वारा लिखित एक पुस्तक थी, जिससे प्रसन्न होकर पोप ने हैनरी को 'धर्मरक्षक' की उपाधि से विभूषित किया था। यह उपाधि आज के दिन भी अंग्रेजी सम्राटों के सिक्कों पर अभिलिखित है। यह भी हो सकता है कि पोप को प्रसन्न करने के लिए ही रोमन लिपि में पुस्तक छापी गई हो। इस प्रकार रोमन लिपि गौथिक लिपि को हटाकर इंग्लैंड की लिपि बन गई। गौथिक लिपि का प्रचार जर्मनी, हॉलैंड और डेन्मार्क में आज भी है। यह लिपि रोमन लिपि जैसी सुन्दर नहीं है,

और न यह उतनी सरलतापूर्वक पढ़ी ही जा सकती है । यह गौथिक और रोमन लिपियों की तुलना करने से शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है । जिस लिपि में जिस देश की प्रथम पुस्तक मुद्रित हुई, उस देश में उसी लिपि का प्रचार बढ़ता गया । इस प्रचार का श्रेय मुद्रण-कला को है । वर्णाक्षरों के इतिहास में धातु के ढले हुए अक्षरों का अस्तित्व एक महत्वपूर्ण घटना है । रोमन लिपि का प्रचार आज संसार में अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है । एशिया में भी अनेकों पुस्तकें रोमन लिपि में छापी जाने लगी हैं । मुस्तफा कमालपाशा ने टर्की में रोमन लिपि को ही अपनाया था । जर्मनी भी रोमन लिपि की ओर झुक गया है ।

लातिन वर्णाक्षरों से पश्चिमी योरप के वर्णाक्षरों का उद्भव हुआ, और पूर्वीय योरप के वर्णाक्षरों का उद्भव ग्रीक वर्णाक्षरों से हुआ । पूर्वीय योरप के वर्णाक्षरों में प्राचीनतम 'कौप्टिक' है । यह डेढ़ लाख से कुछ कम जनता की धार्मिक भाषा है । कौप्ट जाति ईसाई धर्म की प्राचीनतम रूढ़ियों की उपासक है । कौप्टिक भाषा में सैमिटिक और ग्रीक का बहुत मिश्रण है । इनकी प्रार्थना-पुस्तकें कौप्टिक में लिखी हुई हैं, और उनके सामने अरबी में अनुवाद भी छपा रहता है ।

रूसी वर्णाक्षर

रूसी वर्णाक्षर महत्व में लातिन और अरबी वर्णाक्षरों के समकक्ष ठहरते हैं । पीटर महान् के राज्यकाल में ४८ वर्णाक्षरों में से १४ वर्णाक्षर अनावश्यक समझे जाकर निकाल दिये गए थे । कितने ही अक्षरों के रूप बदल दिए गए । प्राचीनतम रूसी वर्णाक्षर ९९६ ईस्वी के हैं, जो कि एफ के अभिलेख में मिले हैं । इन वर्णाक्षरों और स्लैवौनिक् अथवा सिरिल्लिक वर्णाक्षरों में अधिक अन्तर नहीं है । सिरिल्लिक वर्णाक्षरों का आविष्कार सिरिल और मैथोडियस नामक दो व्यक्तियों द्वारा सन् ८५५ और ८६३ ई० के बीच में हुआ था । इस वर्णमाला में आदि में ३८ अक्षर थे, पीछे वे ४८ हो गए ।

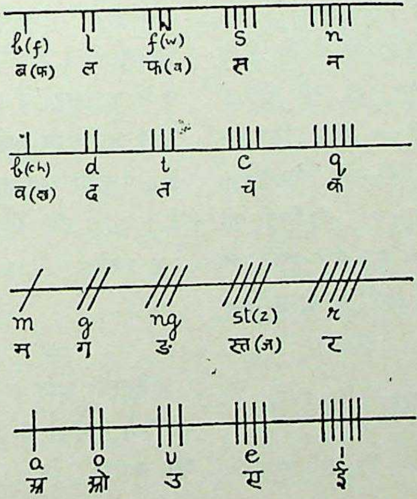

औघेम लिपि :: इस में आड़ी-टेढ़ी रेखाओं के संकेत का प्रयोग होता है । चिह्नों के नीचे उनके अंग्रेजी-हिन्दी पर्याय सूचित हैं ।

ग्लैगौलिथिक नामक एक लिपि स्लोवीनिया, इलीरिया और क्रोटिया के निवासियों की धार्मिक लिपि थी, जिस प्रकार सिरिल्लिक रूथीनिया, रूस, बलगारिया और सर्विया के निवासियों की लिपि थी । आज के दिन सिरिल्लिक (आधुनिक रूसी) लिपि संसार की प्रमुख लिपियों में आदृत है और ग्लैगौलिथिक का स्थान लातिन ने ले लिया है ।

उत्तरी अलबानिया में लातिन वर्णाक्षर व्यवहृत होते हैं, और दक्षिण में ग्रीक माइनस्क्यूल का एक परिवर्तित रूप, जिसमें नुकतों का प्रयोग अधिक है ।

रूनिक और औघेम लिपि

स्वीडन, डैन्मार्क और नार्वे में हजारों प्राचीन अभिलेख मिलते हैं, जो रूनिक लिपि में लिखे हुए हैं । यह कदाचित् पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी के हैं । ग्यारहवीं शताब्दी में रूनिक लिपि का स्थान लातिन ने ले लिया । रूनिक लिपि के तीन विभाग हैं—गौथिक, आंग्लियन और स्कैण्डिनेवियन । गौथिक में २४ वर्ण हैं, जो प्राचीनतम समझे जाते हैं; आंग्लियन वर्ण भी २४ हैं और ये सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक, दो सौ वर्ष तक, व्यवहृत हुए । स्कैण्डिनेवियन वर्ण, जो संख्या में १६ हैं, डेन्मार्क, स्वीडन, नार्वे और आइल-आफ-मैन द्वीप में व्यवहृत होते हैं ।

रूनिक लिपि के लगभग २०० अभिलेख मिलते हैं । ऐतिहासिक महत्व का एक ठोस सोने का कड़ा है, जो वालाशिया प्रदेश में ब्यूजियो नामक स्थान में मिला है । इस पर इस लिपि में लिखा है कि यह "गौथ जाति के मन्दिर के निमित्त अर्पित है ।"

वेल्स और आयरलैंड की औघेम लिपि रूनिक लिपि का ही एक परिवर्तित रूप है । आयरलैंड के निवासी औघेम को एक वन, प्रत्येक वर्ण को वृक्ष और एक आड़ी रेखा को वृन्त समझते थे । औघेम लिपि आठवीं शताब्दी से पहले की है । इस लिपि का आदिम उद्गमस्थान पेम्ब्रोक कहा जाता है, जो ट्यूटन जाति का एक प्राचीन उपनिवेश था ।

इन वर्णाक्षरों के अतिरिक्त और भी अनेक वर्णाक्षर हैं, जिनका अब न तो कोई विशेष महत्व ही है और न कोई अस्तित्व ही शेष है । उदाहरणार्थ—वैनेटिक लिपि, जिसमें लिखे हुए अभिलेख आज के दिन भी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्तर-पश्चिमी इटली में मिलते हैं; या मेस्सापियन लिपि, जो कि कभी इटली के दक्षिण की लिपि रह चुकी है और जिसका सम्बन्ध प्राचीन इलीरियन लिपि से बतलाया जाता है। कुछ समय पूर्व क्रीट में एक और लिपि का पता चला है, जिसके लिखनेवाले यूनान देश के आदिम निवासी अनुमान किए जाते हैं। एक और भी लिपि का पता तुर्किस्तान में लगा है, जिसे 'तोखारिश' नाम दिया गया है। कहा जाता है कि यह लिपि अनेक लिपियों के सम्मिश्रण से बनाई गई थी। खोज द्वारा पता लगा है कि तोखारिश अनेक इन्डो-योरपियन और एक अज्ञात लिपि के सहयोग से प्रादुर्भूत हुई।

ईरानी वर्णमाला का विकास

ईरानी वर्णमालाओं का इतिहास आवश्यक अभिलेखों के अभाव में क्रमबद्ध नहीं मिलता। असीरिन साम्राज्य के पतन से लेकर ससानियन साम्राज्य के स्थापनकाल तक, जो लगभग ९०० वर्ष का दीर्घकाल है, अभिलेखों का संपूर्ण अभाव एक खटकनेवाली बात है। केवल एक-दो सिक्कों अथवा एक भारतीय अभिलेख के सहारे ही अनुमान द्वारा कुछ कहा जा सकता है। इसका एक कारण है। महानगरी निनवे के समूल नष्ट होने के पश्चात् वैसा एक भी अभिलेख न बच रहा, जैसे कि असीरिया के प्रासादों से उपलब्ध हुए हैं। बड़े-बड़े अभिलेखों के लिए वहाँ क्यूनीफार्म वर्णाक्षर ही प्रयुक्त हुए और सिकन्दर की विजय के पश्चात् ग्रीक वर्णाक्षर ही अङ्कित मिलते हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ग्रीक और क्यूनीफार्म वर्णाक्षरों के साथ-साथ, जिनका प्रयोग केवल सिक्कों और अभिलेखों के लिए ही होता था, साधारण कार्यों के लिए अरामियन वर्णाक्षर भी अवश्य ही प्रयुक्त होते रहे होंगे। प्रमाणों के अभाव का कारण अभिलेखों के लिए विनाशशील सामग्री का प्रयोग ही हो सकता है—जैसे पेपाइरस, जानवरों की खालें, वृक्षों की छालें, तथा मोम या मिट्टी की तख्तियाँ। जब हम अनेक वर्णमालाओं को एक-दूसरे से मिलती-जुलती पाते हैं, तो स्पष्ट ही है कि ये किसी आदिम वर्णमाला ही से जनमी होंगी।

अरामियन ही से ईरानी वर्णमालाएँ निकलीं

इसके प्रमाणस्वरूप कहा जा सकता है कि अग्निपूजकों की धर्मपुस्तकों के निर्माणकाल के आसपास ईरान में अवश्य ही कोई लिपि रही होगी। दसवीं शताब्दी के अरब इतिहासकार मसूदी का कथन है कि जरथुश्त्र द्वारा आविष्कृत अक्षरों में १२,००० गौचर्मों पर जैन्द अवेस्ता लिखी गई थी। सिकन्दर की विजय के बहुत काल पूर्व बैक्ट्रीयन साहित्य का अस्तित्व रहा होगा और वह कदाचित् अरामियन लिपि में ही लिखा भी गया होगा। इसका प्रमाण सम्राट् अशोक का कपूर-दी-गीरी का अभिलेख है, जिसका काल तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व है। इस अभिलेख के अतिरिक्त अगाथोक्लीज का एक सिक्का भी प्राप्त है, जिसकी तिथि २४० ईस्वी पूर्व है। चौथी और पाँचवीं शताब्दियों के नरेशों के अनेक सिक्के प्राप्य हैं, जिन पर अरामियन वर्णाक्षर अङ्कित है—लगभग वैसे ही जैसे कि अशोक के अभिलेख पर प्रयुक्त हुए हैं। जब चौथी शताब्दी में ग्रीक और क्यूनीफार्म वर्णमालाओं का प्रयोग घटने लगा, तो अरामियन वर्णमाला अधिकाधिक व्यवहार में आने लगी और सातवीं शताब्दी तक इसका प्रचलन रहा। इस अरामियन से ही ईरानी वर्णमालाएँ निकलीं।

ईरानी वर्णाक्षरों की चार शाखाएँ

कपूर-दी-गीरी के अभिलेख से, जो कि ईरानी वर्णमाला का आदिम अभिलेख है, इतना प्रकट है कि ईरानी वर्णमाला का अस्तित्व ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी के लगभग अवश्य था। यह कहना कठिन है कि ईरानी वर्णाक्षरों का सर्वप्रथम रूप कैसा था। ईरानी वर्णाक्षरों की चार शाखाएँ बताई जाती हैं—(१) इण्डो-बैक्ट्रीयन, (२) पैह्लवी, (३) आर्मीनियन, (४) जार्जियन। इनमें से कौन वर्णमाला किसके पूर्व व्यवहृत होती थी, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। इन्डो-बक्ट्रीयन वर्णमाला का केवल एक अभिलेख मिलता है और इसमें और इसके निकटतम स्वरूपवाले वर्णाक्षरों में शताब्दियों का अन्तर है। आर्मीनियन और जार्जियन वर्णमालाएँ भी एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। पैह्लवी वर्णाक्षर केवल कुछ सिक्कों पर अङ्कित मिले हैं। इसके तीन विभिन्न रूपों में से केवल पारसी रूप ही अब प्रचलित हैं।

पैह्लवी वर्णमाला

पैह्लवी शब्द कदाचित् पार्थिवी का समानार्थक है। जिस काल में पैह्लवी भाषा और साहित्य का सर्जन हो रहा था, उस काल में ईरानी राष्ट्र की बागडोर पार्थिअनों के हाथ में थी। इसका आधार प्राचीन 'ईरानी' है और इसमें अनेक शब्द सैमिटिक हैं, जो ईरानी व्याकरण का पदानुसरण करते हैं। जिस प्रकार आजकल 'डॉग लैटिन' और 'पिजिन

इंगलिश' बोली जाती है, वैसे ही यह भाषा भी बोली जाती थी। भाषाविज्ञों का अनुमान है कि पैह्लवी जनता की भाषा न होकर केवल सासानी नरेशों के राजदरबारियों तक ही सीमित थी। प्रोफेसर हॉग ने प्रमाणित कर दिया है कि पैह्लवी मिश्रित भाषा न होकर केवल मिश्रित लिपि थी। जब अरामियन लेखकों ने फारसी लिखना प्रारम्भ किया, तो उन्होंने फारसी शब्दों के द्योतनार्थ सैमिटिक वर्णाक्षरों का प्रयोग किया। जैसे हम आजकल 'ए. एम.' और 'पी. एम.' प्रातःकाल और तीसरे पहर का निर्देश करने के लिए प्रयुक्त करते हैं, ठीक वैसे ही अरामियन लेखक भी करते थे।

पैह्लवी वर्णमाला सासानी युग की वर्णमाला थी और इसी में पैह्लवी भाषा के अभिलेख सुरक्षित हैं। परन्तु इससे पार्थिअन साम्राज्य की आदिम वर्णमाला और आधुनिक पारसी का भी निर्देश होता है। ईरान के राजनीतिक इतिहास के साथ पैह्लवी का घनिष्ट सम्बन्ध है। सिकन्दर महान् के साम्राज्य के बँटवारे के समय मध्यवर्ती एशिया सिन्धुनद के निकट तक सैल्यूकस निकातोर के हिस्से में आया। सैल्यूकस की मृत्यु के पश्चात् अरसासीज ने बलवा कर दिया और छठे अरसासीज 'मिथ्रीडेटीज प्रथम' ने समस्त ईरान पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अरसासीज पार्थिया प्रदेश (आधुनिक खुरासान) का हाकिम था। देश छोटा था, पर यहाँ के निवासी बड़े ही पराक्रमी थे। इन लोगों ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया, और लगभग ५०० वर्षों तक इन्होंने मध्यवर्ती एशिया को विदेशियों के हाथों में जाने से बचाया। जब पार्थियन साम्राज्य का अन्त हुआ, तो ईरान का साम्राज्य सासानियों के हाथ में आया। यह महान् परिवर्तन आर्देशर द्वारा संपादित हुआ। आर्देशर ने ईरान भर में देशप्रेम की ज्वाला प्रज्वलित की। इसने पुनर्वार अग्निपूजा जारी कराई, और नक्शए-रुस्तम के पास की चट्टान पर एक प्रस्तर-मूर्ति बनवाई। इस मूर्ति पर तीन लिपियाँ अङ्कित हैं--पश्चिमी पैह्लवी, पूर्वी पैह्लवी और ग्रीक (यूनानी) में उनका अनुवाद। इसके पुत्र शाहपुर ने भी अपनी विजय-गाथा नक्शए-रुस्तम के निकट की चट्टान पर अंकित कराई। इस तरह के जितने अभिलेख चट्टानों, प्रस्तर-मूर्तियों और सिक्कों पर उपलब्ध हुए, उनके द्वारा पैह्लवी वर्णाक्षरों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। सासानी साम्राज्य का अन्त मुसलमानों ने किया। ईरान प्रथम देश था, जिस पर पैगम्बर मुहम्मद के अनुयायियों ने आक्रमण किया। नेहावेन्द के युद्ध में एक लाख ईरानी काम आए और ईरान से पारसी धर्म को देशनिकाला दे दिया गया। मुसलमानों की विजय के पीछे ईरान में पैह्लवी लिपि का स्थान अरबी लिपि ने ग्रहण किया और यही आधुनिक पर्शिया या ईरान की लिपि है। जब मुसलमानों ने तलवार के बल पर ईरानियों को अपने मत इस्लाम की दीक्षा देना शुरू किया, तो अनेक कट्टर ईरानी अपनी जन्मभूमि को छोड़कर भागे। इन्हीं भागे हुए लोगों की सन्तान आज बम्बई, सूरत आदि नगरों में बसी हुई पारसी जाति है। ये लोग अग्निपूजक हैं और अपनी प्राचीन लिपि का प्रयोग करते हैं, जिसके संरक्षण के हेतु ये सदैव तत्पर रहते हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक रेखा-वर्णन से हम पैह्लवी वर्णमाला के इतिहास को तीन विभिन्न कालों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अरसासीज का काल, अर्थात् पार्थियन साम्राज्य का काल; (२) सासानी युग; (३) पारसी अथवा भारतीय पैह्लवी का काल।

पैह्लवी के विविध रूप

अरसासीज के काल की पैह्लवी में बहुत कम संख्या में अभिलेख मिले हैं। इसका कारण यह है कि पार्थिया के सम्राट् साधारणतया ग्रीक वर्णाक्षरों का ही व्यवहार करते थे। उन्होंने ऐसा लगभग दो या ढाई सौ साल तक किया। प्रारम्भिक काल के सिक्कों पर जो ग्रीक वर्णाक्षर अंकित हैं, वे सुस्पष्ट तथा सुन्दर आकृतिवाले हैं। कालान्तर में लापरवाही अथवा अनभिज्ञता के कारण उन यूनानी वर्णाक्षरों की आकृति में परिवर्तन होने लगे और फलतः ग्रीक लिपि का स्थान दूसरी लिपि ने ग्रहण किया। यही प्रारम्भिक पैह्लवी लिपि है और यह अनेक नृपों के सिक्कों पर अङ्कित मिलती है। इसका सर्वाङ्गसंपूर्ण रूप नक्शए-रुस्तम और हाजियाबाद के अभिलेखों में देखने को मिलता है। अनेक शताब्दियों तक तो पैह्लवी लिपि केवल सिक्कों पर अङ्कित मिलती है, फिर कहीं उसके दर्शन अभिलेखों में भी होते हैं। यही लिपि बदलते-बदलते अवेस्ता की प्राचीनतम प्रतियों में मिलती है। सासानी युग की पैह्लवी आर्देशर के अभिलेख से प्रारम्भ होती है। किन्तु उस काल में भी उसके अक्षरों के रूपों से यह बात स्पष्ट झलकती है कि उसका वह रूप काफी पुराना है। सम्राट् आर्देशर और शाहपुर ने अपनी वीर-गाथाओं को दो लिपियों में अङ्कित कराया, यह तथ्य इस बात का प्रबल प्रमाण है कि दोनों पैह्लवी लिपियाँ (सासानी और अरसासीज) उन दिनों जनता में व्यवहृत होती थीं। जो कुछ भी अन्तर था केवल भौगोलिक था। एक पूर्वी थी और दूसरी पश्चिमी। अरसासीज

के युग की पैह्लवी पुरानी है और उसके कई वर्ण कपूर-दी-गीरी के वर्णों से मिलते हैं।

जैन्द या पारसी लिपि

पैह्लवी लिपि के सर्वाङ्गसंपूर्ण रूप को जैन्द के नाम से पुकारा जाता है। इसी जैन्द में 'जैन्द अवेस्ता' की वर्तमान प्रतियाँ प्राप्त हैं। परन्तु जैन्द नामकरण ठीक नहीं है। इसके प्रयोग से काफी भ्रम होने की गुञ्जाइश है। जैन्द भाषा ईरानियों की बोलचाल की प्राचीनतम भाषा है और जैन्द वर्णाक्षर ईरानी लिपि के अन्तिम विकसित रूप हैं। जैन्द भाषा और जैन्द वर्णाक्षरों में लगभग २,००० वर्षों का अन्तर है। इसलिए इनको पारसी वर्णाक्षर कहना अधिक उपयुक्त है। पारसी लोग जिस लिपि को अपनी धर्मपुस्तकों की प्रतियों के लिए प्रयुक्त करते हैं, वह उनके महान् धर्मग्रंथ 'जैन्द अवेस्ता' में प्रयुक्त वर्णमाला का ही परिवर्तित रूप है। परन्तु वर्णों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं है।

जैन्द अवेस्ता का सर्वप्रथम अधिकारपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत करने का श्रेय एक फ्रांसीसी विद्वान् डुपेरों को है, जिसने कठोर परिश्रम के पश्चात् १७७१ ई० में उसे मुद्रित कराया। परंतु विद्वानों ने उसके अनुवाद का परिहास किया और उसे झूठा करार दिया ! बेचारे अनुवादक की मृत्यु के २० वर्ष पश्चात् रास्क और बूर्नू की खोजों ने कहीं जाकर उसको सही प्रमाणित किया।

ईरानी लिपि में अशोक का महत्वपूर्ण अभिलेख

ईरानी वर्णमालाओं का प्राचीनतम अभिलेख सिन्धुनद के पश्चिम में मिला है। जिस ग्राम में यह मिला है, उसी के नाम से यह प्रख्यात है। इसीलिए इसको कपूर-दी-गीरी का अभिलेख कहते हैं। अनेक विद्वानों की खोज के फलस्वरूप यह सम्राट् अशोक के १४ प्रस्तर-अभिलेखों में से एक प्रमाणित कर दिया गया है।

अशोक के इस अभिलेख में लिखित आलेख दो भिन्न अभिलेखों से दो लिपियों में प्राप्य है। कपूर-दी-गीरी का अभिलेख दाईं ओर से बाईं ओर को अरामियन द्रुत-लेखन-लिपि में है। अन्य अभिलेख एक दूसरी ही लिपि में है, जिससे भारतीय लिपियों का संबंध बताया जाता है।

कपूर-दी-गीरी के नाम से इस अभिलेख को पुकारना वास्तव में एक भूल है, क्योंकि जिस स्थान से अभिलेख उपलब्ध हुआ है, वह वास्तव में शाहबाजगढ़ी का ग्राम है। कपूर-दी-गीरी के अभिलेख की लिपि को टॉमस महोदय ने इन्डो-बैक्ट्रीअन नाम दिया है, क्योंकि न केवल यह बैक्ट्रिया प्रदेश की ही वरन् अफगानिस्तान और पंजाब की भी लिपि थी।

कपूर-दी-गीरी का अभिलेख लगभग २५१ ई० पू० लिखा गया बतलाया जाता है। आगाथोक्लीन का एक सिक्का भी इस लिपि में अंकित मिला है, जिसकी तिथि ईस्वी पूर्व २४० है। इससे यह प्रकट है कि यह लिपि बैक्ट्रिया और भारत में प्रचलित थी। इण्डो-सीथिअन राजाओं के काल में इस लिपि का बहुत प्रचार बढ़ा, जैसा कि बहावलपुर में प्राप्त कनिष्क के एक सिक्के से स्पष्ट हो जाता है। ईसा की पहली शताब्दी में इस लिपि का भारतवर्ष से प्रचार उठ गया और उसका स्थान भारत में सर्वोपरि आसन पर प्रतिष्ठापित ब्राह्मी लिपि ने ले लिया। इण्डो-बैक्ट्रिअन लिपि से ही हमें भारतीय और योरपीय संख्या-चिह्न मिले हैं। यही संख्या-चिह्न अरबवासियों द्वारा स्पेन पहुँचे और १२ वीं तथा १३ वीं शताब्दियों से समस्त योरप में उनका प्रयोग होने लगा।

आर्मीनियन और जार्जियन वर्णमालाएँ

आधुनिक पारसी समाज द्वारा व्यवहृत पारसी लिपि को छोड़कर आर्मीनियन और जार्जियन लिपियों द्वारा ही ईरानी वर्णाक्षरों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। कुछ विशेष कारणों से ही ये दो लिपियाँ सुरक्षित रह सकी हैं और इन पर अरबी और यूनानी भाषाओं का प्रभाव नहीं पड़ पाया है। जार्जियन लिपि कुछ तो निजी विचित्रता के कारण और कुछ भौगोलिक स्थिति के कारण तथा आर्मीनियन लिपि इन दो कारणों के अतिरिक्त धार्मिक कट्टरता के कारण सुरक्षित रह सकी है।

जार्जियन और आर्मीनियन वर्णमालाओं के आविष्कार का श्रेय सन्त मेस्रौब को दिया जाता है। यह महाशय आर्मीनियन राजाओं के यहाँ सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त थे। राजदरबार में ईरानी लिपि का आदर था। राजनीतिक और धार्मिक कारणों से प्रेरित होकर मेस्रौब ने धार्मिक कार्यों के उपयुक्त एक वर्णमाला की आवश्यकता को समझा और ग्रीक वर्णाक्षरों का पदानुसरण कर आर्मीनियन वर्णमाला का आविष्कार किया। मेस्रौब ने इञ्जील का अनुवाद आर्मीनियन भाषा में किया। इतना कर चुकने पर यह महाशय जार्जिया पहुँचे और २८ वर्णों की एक लिपि उन्होंने वहाँ की जनता के लिए बना दी। विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि आर्मीनियन लिपि ग्रीक वर्णाक्षरों में परिवर्तन करके बनाई गई है अथवा वह ईरानी वर्णमाला समूह से सम्बन्ध रखती है।

मानव ने लिखना कैसे सीखा—(२)

भारतीय लिपियों का विकास

पिछले प्रकरण में वर्णाक्षरों की उत्पत्ति और विकास का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा चुका है कि पाश्चात्य भाषाविद् सैमिटिक वर्णमाला ही से भारतीय वर्णाक्षरों की भी उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे भारतीय विद्वान् इस मत से सर्वथा असहमत हैं। उनका कथन है कि भारतीय वर्णाक्षर स्वतन्त्र उपज हैं। उनका क्या मत है, आइए, प्रस्तुत प्रकरण में देखें।

भारतीय लिपियों की मौलिकता तथा प्राचीनता का प्रश्न वर्षों तक यहाँ के तथा पश्चिम के पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए एक गम्भीर समस्या की तरह रहा है। प्राचीन आर्यों की पर्याप्त शृंखलाबद्ध पुरातत्त्व-सामग्री आज सुलभ होती, तो खोज के मार्ग में अड़ी हुई अड़चनों का अनुभव न होता। भाग्य से जो कुछ बच सका, वह बर्बर आक्रमण के विध्वंसकारी परिणामों के चरणों पर चढ़ गया! मंदिर, मठ, पुस्तकालय आदि या तो लूट लिए गए अथवा जला दिए गए! केवल कुछ शेष बचे खंडहर अपनी प्राचीन गौरव-गाथा सुनाते हैं।

भारतीय वर्णाक्षर भारतीय मस्तिष्क की ही उपज हैं

तथापि विद्वानों की छानबीन द्वारा अब वह स्पष्ट हो चुका है कि भारत के प्राचीन आर्य लेखन-कला से पूर्णतया भिज्ञ थे। इस कथन की पुष्टि के लिए वे अपने पीछे प्रचुर प्रमाण छोड़ गए हैं। किन्तु इससे पहले उचित सामग्री के अभाव में पाश्चात्य विद्वानों ने यहाँ की सभ्यता और साहित्य के विषय में अनेक विचित्र अटकलें लगाई। भारत के प्राचीन उत्कर्ष का सम्बन्ध पश्चिम की न जाने कौन-कौन-सी सभ्यताओं के साथ जोड़कर यहाँ की मौलिकता को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। लेकिन आधुनिक अनुसंधानों ने पाश्चात्य हठधर्मियों के भ्रमों को दूर करके यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार भारत की सभ्यता उसकी अपनी चीज है, उसी तरह यहाँ की लिपियाँ भी भारतियों के ही मस्तिष्क की मौलिक उपज हैं।

खोज-संबंधी अड़चनें

हमारा सब से प्राचीन साहित्य वैदिक काल का है। पुराण, रामायण, महाभारत आदि हमारे महाकाव्य, एवं बिल्हण, कल्हण और बाण आदि कवियों द्वारा रचित इतिहासपरक काव्यों में भी भारत के प्राचीन उत्कर्ष का इतिहास निहित है। किन्तु शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें कई त्रुटियाँ हैं। ग्रन्थों का काव्यमय स्वरूप प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण होता है। इन ग्रंथों का अनिश्चित रचनाकाल भी इनका ऐतिहासिक महत्व कम कर देता है।

इस साहित्य के अलावा हमारे सामने वह सामग्री आती है, जो स्तूपों, शिलालेखों, दानपत्रों तथा सिक्कों के रूप में उपलब्ध हो सकी है, यद्यपि समय के विनष्टकारी प्रभाव ने इनका भी भांडार कम कर दिया है! क्रमशः सौंदर्य और सरलता के विचार से लिपियों में परिवर्तन होते चले गये और एक जमाना आया जब कि पुरानी लिपियों को पहचानना लोग प्रायः भूल-से गए। इसका तब और अधिक कटु अनुभव हुआ, जबकि भारतीय लिपियों की प्राचीनता एवं मौलिकता के विषय में लगाई गई अटकलों को दूर करने के लिए प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों आदि का सही-सही पाठ पढ़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई! फिरोज तुगलक एवं अकबर की

Digital Preservation Foundation Chandigarh

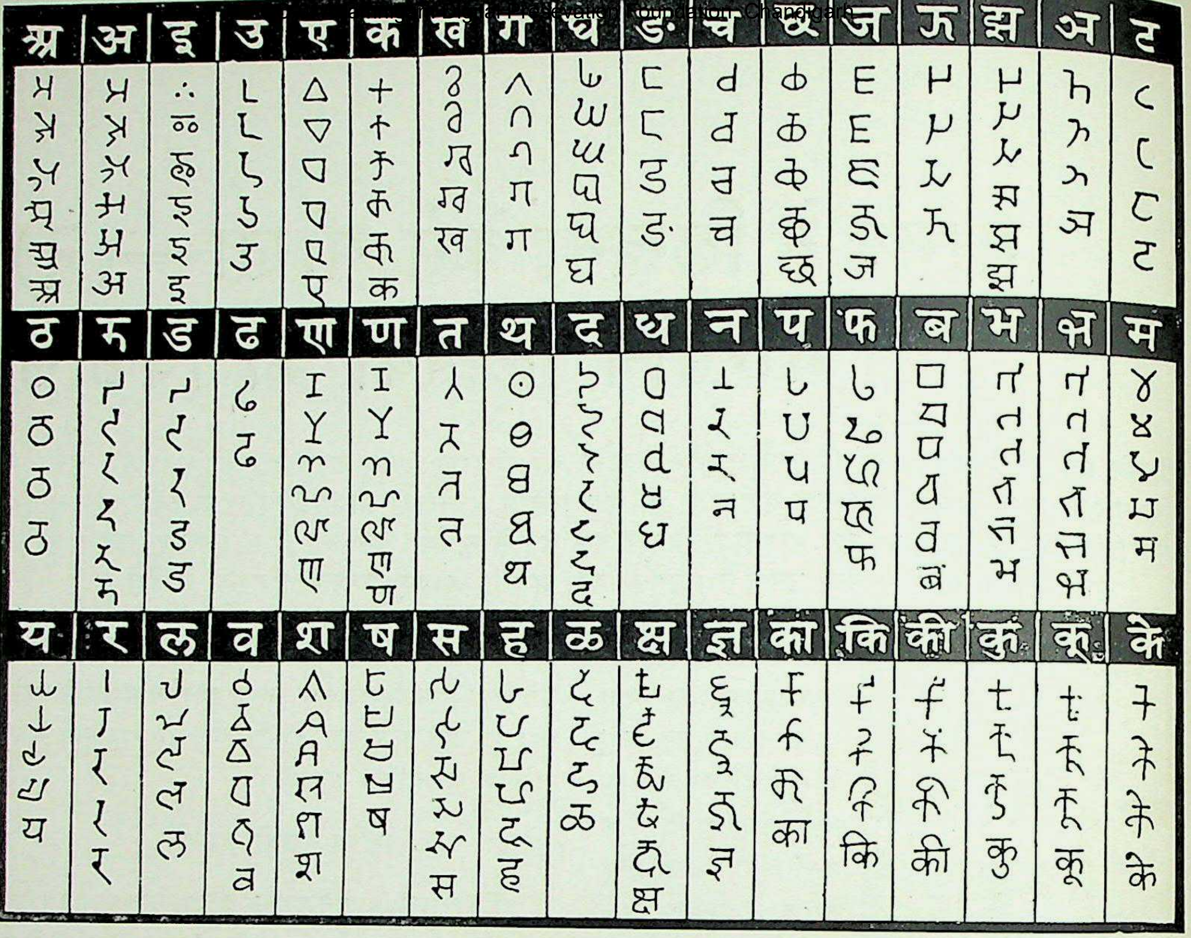
अ
अ
इ
उ
ए
क
ख
ग
घ
ङ
च
छ
ज
झ
झ
ञ
ट
ठ
ड़
ड
ढ
ण
ण
त
थ
द
ध
न
प
फ
ब
भ
भ
म
य
र
ल
व
श
ष
स
ह
ळ
क्ष
ज्ञ
का
कि
की
कु
कू
के

स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार देवनागरी वर्णमाला का विकास :: इस तालिका में सफेद अक्षर आधुनिक देवनागरी वर्ण हैं और उनके नीचे काले रंग में प्रत्येक के आदिम ब्राह्मी रूप तथा विकास की श्रेणी में क्रमशः प्रकट होनेवाले रूप दिखाए गए हैं।

जिज्ञासा केवल इसी कारण पूर्ण न हो सकी थी कि कोई भी विद्वान् प्राप्त शिलालेखों का ठीक-ठीक पाठान्तर नहीं बता सका था ! तब तक प्रचलित और प्राचीन लिपियों की बनावट में इतनी असमानता आ गई थी कि उन्हें देखकर विद्वान् तक यह कह देते थे कि 'ये तो देवताओं के अक्षर हैं' या 'गड़े धन के बीजक हैं' अथवा 'सिद्धिदायक यन्त्र हैं' !

किन्तु बात यहीं तक रहती, तब भी ठीक था ! खोज से पता चला है कि अनेक शिलालेख साधारण पच्चीकारी के पत्थर समझकर दीवारों में चुनवा दिये गए; खुरदरे समझकर उन पर भंग पीसी गई; ताम्र-पत्रों पर लिखे गए दान-पत्रों के बर्तन बन गए; सोने-चाँदी के सिक्के आग में गलकर आभूषण बनने के काम आए ! आरंभिक विद्वानों के सम्मुख ये सब अड़चनें मौजूद थीं। इसलिए उन बेचारों की कलम जहाँ थम जाती, वहाँ वे काव्य-कल्पना एवं अतिशयोक्ति की दलीलों का सहारा लेकर बढ़ा करते थे। इसीलिए उनका साहित्य बहुत-कुछ भ्रमपूर्ण है।

आधुनिक युग के हृदय के साथ भारत ही में नहीं, वरन् अमेरिका, जर्मनी, इटली आदि देशों में भी एशिया-संबंधी खोज के लिए विशिष्ट संस्थाएँ स्थापित हुई। कई योरपीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त तिब्बती, चीनी, पाली, अरबी, आदि अन्यान्य एशियाई भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। इस तरह कठोर अध्यवसाय एवं अध्ययन के पश्चात् तत्संबंधी साहित्य एकत्रित कर प्रकाशित किया गया।

इन आरम्भिक खोजों का अधिकांश श्रेय योरपीय विद्वानों ही को है। वर्षों के कठोर परिश्रम से शिलालेखों, दान-पत्रों तथा सिक्कों को टटोलने के बाद वर्णमालाओं का ज्ञान संभव हो सका। इस प्रकार चार्ल्स विल्किन्स, जेम्स टॉड, पं० राधाकान्त शर्मा, यति ज्ञानचंद्र, प्रिंसेप आदि के अथक

परिश्रम के फलस्वरूप ब्राह्मी और खरोष्ठी नामक हमारी पुरातन वर्णमालाओं का रहस्योद्घाटन हो सका।

यह सब कुछ तो हुआ, किन्तु भारतीय लिपियों का सौष्ठव एवं इनकी सुगमता को देखकर योरपीय विद्वान् यही सिद्ध करने की चेष्टा में लगे रहे कि भारत की प्राचीन लिपियाँ न तो अत्यन्त प्राचीन ही हैं और न वे मौलिक ही हैं! यहाँ की प्राचीनतम लिपि 'ब्राह्मी', जिसकी प्राचीनता ईस्वी पूर्व की दसवीं शताब्दी तक मानी जा सकती है, उनके कथनानुसार 'सैमिटिक' समूह ही की है, जिससे योरप की अन्यान्य लिपियाँ उत्पन्न होकर विकसित हुई हैं। किन्तु वे यह न समझ सके कि ब्राह्मी के मूल ६३ या ६४ उच्चारणों की समता दरिद्र सैमिटिक कैसे करेगी, जिसमें उच्चारणों के लिए केवल १८ संकेत ही हैं। सैमिटिक में ब्राह्मी की तरह व्यंजनों के साथ स्वरों का सहयोग मात्राओं से नहीं दिखाया जाता। यह ब्राह्मी ही की अपनी विशेषता है, जो अन्य किसी भाषा-लिपि में नहीं है। फिर यह भी समझ में नहीं आता कि जिस भाषा को ६४ मूलाक्षरों की आवश्यकता हो, वह अन्य अक्षरों का तो निर्माण कर ले और जरा-से संकेतों के लिए दूसरे का मुँह ताके! जिस लिपि के बनानेवालों में अनुस्वार आदि संकेतों के निर्माण करने की क्षमता है, वे क्या अठारह संकेतों का निर्माण नहीं कर सकते थे? वास्तव में, सैमिटिक से ब्राह्मी की उत्पत्ति माननेवाले इसकी महत्ता समझ हीं न पाए। वस्तुतः ब्राह्मी तो आज से हजारों वर्ष पूर्व ही ध्वनिसूचक चिन्हों की समानता एवं शास्त्रीय क्रम की उस कसौटी पर कसी जा चुकी थी, जिस पर लिपियों की उन्नति का क्रम कसा जाता है। आज का व्यवहृत अंकों का क्रम भी उसी समय निश्चित हो चुका था। ये सब ऐसी बातें हैं, जो विपरीत धारणावाले मस्तिष्कों में एकबारगी ही नहीं पैठतीं। वे स्वयं अपनी धारणाओं के विषय में अनिश्चित रहते हैं।

इन गड़बड़ियों के बीच सन् १८९४ में स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा की एक पुस्तक 'प्राचीन लिपिमाला' नाम से निकली। अपने ढंग की इस मौलिक तथा गवेषणापूर्ण पुस्तक ने विद्वानों की दुनिया में सनसनी फैला दी। किन्तु

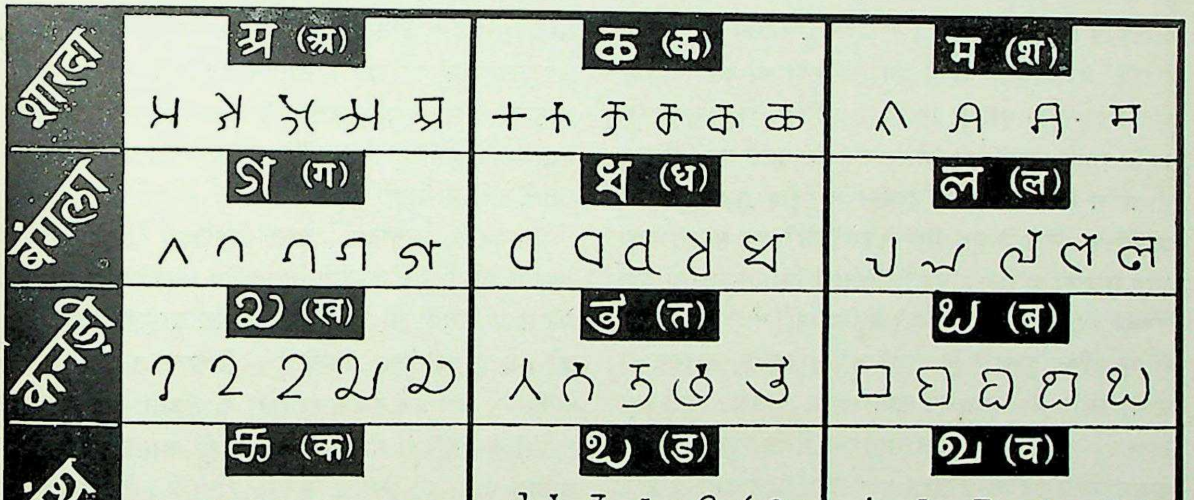

विभिन्न भारतीय लिपियों के अक्षरों के विकास के कुछ उदाहरण :: सफेद अक्षरों द्वारा इन वर्णों के आधुनिक रूप और काले अक्षरों द्वारा आदिम ब्राह्मी रूप से विकास का क्रम दिखाया गया है।

सत्य तो वह है, जो सर पर चढ़कर बोलता है। इस पुस्तक में प्रतिपादित ब्राह्मी की भारतीय उत्पत्ति के सत्य को पाश्चात्य विद्वानों ने बड़े कष्ट के साथ स्वीकार किया। केवल कुछ साधुमना योरपीय विद्वान् ही इस प्रयत्न को सराह सके। इसके बाद श्री ओझाजी ने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक एक बृहद् ग्रंथ ८४ लिपिपत्रों सहित प्रकाशित किया, जिसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई। आज भी अपने ढंग की यह एक ही कृति है।

प्राचीन भारत में लेखन-कला

हमारे देश का ऐतिहासिक साहित्य शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों, भोजपत्रों, ताड़पत्रों और कागजों में (चौथी शताब्दी ईस्वी में रुई-चीथड़ों आदि को कूटकर भारत में कागज बनने लग गया था) पर्याप्त सुरक्षित मिलता है, यद्यपि बहुत-कुछ सामग्री नष्ट हो गई और शेष बचा हुआ बहुत-कुछ सामान स्मृति के आधार पर संकलित किया गया है। पुराने जमाने में आज की तरह ग्रंथों का प्रचार नहीं हो पाता था। वे या तो लेखक की निजी वस्तु रहते थे, या उसके शिष्य अथवा ग्रंथ से रुचि रखनेवाले कुछ लोग ही उन्हें जानते थे। कभी-कभी तो लेखक अपने शिष्यों को कंठस्थ कराने के पश्चात् अपने ग्रंथ को नष्ट भी कर डालता था। इतना होने पर भी सिक्के, शिलालेख, दानपत्र, पुस्तकें आदि इतनी प्रचुर मात्रा में लभ्य हैं कि उनसे यह निश्चित हो जाता है कि अधिकतर प्राचीन भारतीय पढ़ना-लिखना जानते थे। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक महाराजाओं और सम्राटों द्वारा स्थापित शिलालेखों, विशाल स्तम्भों तथा सड़कों पर खड़े किए गए दूरी के निशानों (मील के पत्थरों) से यह सूचित होता है कि उन दिनों अधिकांश भारतवासी भाषा, लिपि और अंकों का ज्ञान अवश्य रखते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक लिपि काफी विकास पाकर अपने उद्गम से बहुत दूर आगे निकल चुकी थी और इस प्रकार वह साधारण जनता की चीज बन चुकी थी।

ब्राह्मी लिपि का प्राचीनतम रूप अशोकी है! इससे पूर्व के भी स्वच्छ लिखावट के दो छोटे-छोटे लेख बड़ली और नेपाल की तराई के पिपरावा नामक स्थान से मिले हैं। अशोक और उसके बाद होनेवाले राजाओं के शिलालेखों के बाद हमारे समक्ष वह साहित्य आता है, जो बाहरी यात्रियों के ग्रंथों में सुरक्षित है। मेगास्थनीज की 'इंडिका' में पाटलीपुत्र की शासन-व्यवस्था का विशद विवरण उपलब्ध है इस अप्राप्य पुस्तक के उपलब्ध उद्धृत अंशों से विदित होता है। कि भारतवासी ज्योतिषशास्त्र के महान् ज्ञाता थे। जन्म-पत्रिकाएँ बनती थीं। उनके न्यायालय भी थे, जहाँ धर्मशास्त्रों के आधार पर न्याय मिलता था। इसी प्रकार की अन्य पुस्तकों में, विशेषकर बौद्ध ग्रंथों में, लेखन-कला की प्राचीनता के कई पुष्ट उदाहरण मिलते हैं। 'शील' नामक एक ग्रंथ में लिखा है कि पाठशाला में लड़के अक्सर 'अक्खरिक' (अक्षरों का खेल) खेला करते थे, जिस तरह कि आज के लड़के 'शब्द-रचना' का खेल खेलते हैं। एक लड़का उँगली से अथवा लकड़ी की सींक से शून्य में लिखता था, जिसे दूसरे लड़के पहेली की तरह बूझते थे। यह खेल बौद्धों के लिए निषिद्ध था। इसी तरह के कई मनोरंजक उदाहरण मिलते हैं। 'ललित-विस्तर' में भगवान् बुद्ध का लिपिशाला में चाँदी की तख्ती पर सोने की कलम से लिखने का हाल मिलता है।

वेद यद्यपि एक दूसरे तक कंठाग्र होते-होते पहुँचते रहे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लिखे ही नहीं गए। अधिक संभावना तो यही है कि उच्चारण की शुद्धता सुरक्षित रखने के लिए ही वेदों को कंठाग्र करने का क्रम निश्चय किया गया था। संस्कृत की कई पाठशालाओं में आज भी यही क्रम जारी है। हम देखते हैं कि कई पाश्चात्य विद्वान् अच्छे संस्कृतज्ञ होने पर भी वेद की ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते। पद्य-ग्रंथों में अलबत्ता यह कार्य आसानी से संभव हो सकता है। गद्य-ग्रंथों के बारे में यह बात सरल नहीं होती, क्योंकि बड़े-बड़े गद्य-ग्रंथ स्मृति में उतारे नहीं जा सकते।

ऋग्वेद में 'अनुष्टुप्', 'बृहती', 'पंक्ति', 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' नमक छंदों के नाम मिलते हैं। अथर्ववेद में ११ छंदों की संख्या-गणना भी लिखी है। शतपथ ब्राह्मण में तो पदों की अक्षर-संख्या तक मिली है। लिखना न जाननेवाली जाति के लिए यह सब संभव नहीं हो सकता था। छन्दशास्त्रों के रचयिता को उदाहरणों के ही आधार पर पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करना होता है। केवल कंठस्थ किए गए छंदों के आधार पर यह सब संभव नहीं। पदों की अक्षर-संख्या का भी अर्थ यही है कि उस समय वेदों की लिखित पंक्तियाँ अवश्य थीं।

फिर यदि लिखित ग्रंथ न होते, तो यास्क, पाणिनि आदि महान् शब्दशास्त्रियों का साहित्य कैसे रचा जाता! व्याकरण की विद्यमानता का अर्थ है भाषा का उस अवस्था में पहुँच जाना, जबकि उसे सुचारु और नियमित रूप देने के लिए नियमबद्ध कर दिया जाय। व्याकरण-रचयिता के सम्मुख जब तक विविध शैलियाँ अथवा वाक्य-रचनाएँ न होंगी, वह अपने व्याकरण के नियमों का आधार ही किसे बनाएगा?

निश्चित है कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' बुद्ध से बहुत पहले की है । इस व्याकरण-ग्रंथ में पाणिनि ने अपने से पूर्व के कुछ वैयाकरणों, जैसे स्फोटायन, गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन, गालव, भारद्वाज और काश्यप आदि का उल्लेख करके उनके व्याकरणों के नियमों के संबंध में मत प्रकट किए हैं । अपने से पूर्व होनेवाले विद्वान् 'यास्क' का उल्लेख तो पाणिनि ने स्थान-स्थान पर किया है । आखिर इन सबका विवेचन संभव कैसे हो सका ? क्या उक्त सभी विद्वानों के ग्रंथों को कंठस्थ करनेवालों को सम्मुख बिठाकर उनके विभिन्न मतों को अलग-अलग सुनते-सुनते ये सब टिप्पणियाँ बनाई गईं और मन में ही निबंध रूप में बनाकर शिष्यों के सम्मुख रटने के लिए वे छोड़ दी गईं ? लिखित ग्रन्थों के अभाव में क्या इस प्रकार की रचनाएँ संभव हो सकती हैं ?

जब हम यह मान लेते हैं कि आदियुग ही में लेखक ग्रंथ-रचना करता था, तो सहज ही में यह प्रश्न उठता है कि तो फिर उसे प्रचार का लाभ क्यों नहीं मिल सका ? बात दरअसल यह थी कि लेखन-कला का उपयोग केवल साहित्य-रचना ही में होता था, प्रचार-कार्य में नहीं । यही कारण था कि लिखित ग्रन्थों का हमारे यहाँ बड़ा महत्व माना गया । पुराणों में लिखित ग्रन्थों का दान बड़ा पुण्य-कार्य बताया गया है ।

लिखित ग्रंन्थों का प्राचीन भारत में विस्तृत प्रचार नहीं था, इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत में लिखित ग्रंथ थे ही नहीं । प्राचीन काल में लिखित ग्रंथ होने के प्रचुर प्रमाण मिले हैं । बूलर और बोथलिंग महाशय भी इस सत्य को स्वीकार करते हैं । राँथ ने तो यहाँ तक लिखा है कि वेद अवश्य ही लिखित रहे होंगे, वरना उनके प्रातिशाख्य नहीं बन सकते थे । आगे चलकर चीनी यात्री य्वान च्वाङ् का बीस घोड़ों पर ६५७ पुस्तकें लाद ले जाना, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय तक पर्याप्त संख्या में लिखित ग्रंथ उपलब्ध थे । मध्यभारत का श्रमण 'पुण्योपाय' सातवीं शताब्दी ईस्वी में १,५०० से भी अधिक पुस्तकें भारत से चीन ले गया था । इन आँकड़ों से सहज में लिखित ग्रंथों की प्रचुरता का अन्दाज लगाया जा सकता है ।

ब्राह्मी और खरोष्ठी

भारतीय प्राचीन लिपियाँ अशोक ही के समय तक की प्राप्य हैं, यह हम पहले ही बतला चुके हैं । उनके अध्ययन से पता लगा है कि उस समय दो प्रकार की लिपियाँ यहाँ प्रचलित थीं । एक तो वह थी जो बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी और दूसरी वह जो दाहिनी से बाईं ओर को चलती थी । इनमें से पहली 'सार्वदेशिक' और दूसरी 'एकदेशिक' कही गई है । इन दोनों लिपियों के प्राचीन नाम कौन-से रहे, इस सम्बन्ध में वैदिक ग्रन्थों में तो कुछ लिखा मिलता नहीं । लेकिन जैनों की 'पन्नवणासूत्र' एवं 'समवायांगसूत्र' नामक दो पुस्तकों में १८ लिपियों की नामावली दी गई है । सबके सिरे पर 'बंभी' लिपि का नाम है । स्पष्टतः यह 'ब्राह्मी' का ही प्राकृत रूप है । यह लिपि कब और किस तरह चली, इसका तो पता नहीं लगता, लेकिन इसका आदर खूब था । 'भगवती-सूत्र' नामक ग्रन्थ में 'नमो बंभीए लिखिए' लिखकर इस लिपि की वंदना की गई है । इन दो ग्रन्थों के बाद बौद्धों के 'ललित-विस्तर' में ६४ लिपियों की गणना मिलती है । इनमें भी पहले ब्राह्मी और फिर खरोष्ठी आती है । खरोष्ठी का अर्थ है 'गधे के ओठवाली' । यह चीनी अर्थ है । यहाँ शंका संभव है कि चीन का भारत से कैसा सम्बन्ध ! बात यह है कि जब से अशोक ने भारत से बाहर चीन, ब्रह्मा, स्याम, लंका आदि देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए श्रमणों को भेजना आरम्भ किया, तब से इन देशों में जोरों से विचारों तथा संस्कृति का आदान-प्रदान शुरू हो गया । संस्कृति के इस विकास में चीन की ओर से मित्रता का काफी हाथ रहा ।

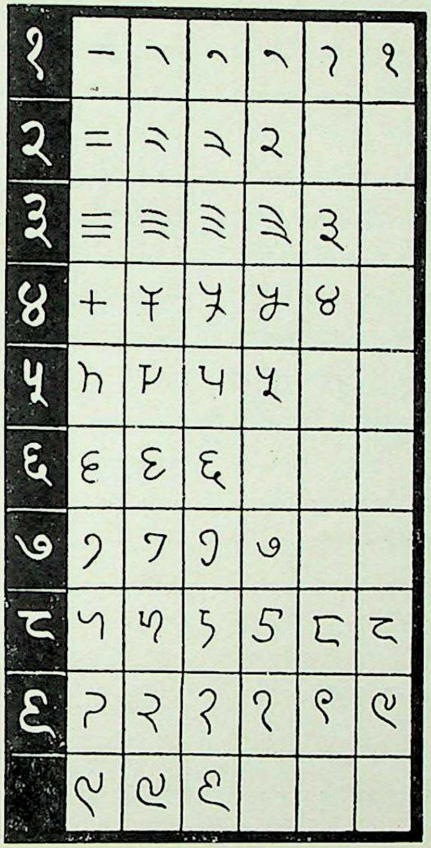

देवनागरी अंकों का विकास (पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार) ।

चीनी विद्वान् भारतीय साहित्य का अध्ययन करने के लिए निरन्तर आते रहे। उन्होंने कई ग्रंथों के अनुवाद भी किए और यह क्रम लगभग एक हजार वर्ष तक चलता रहा! भारतीय और चीनी विद्वानों के सहयोग से ६६८ ई० के उत्तरार्ध में एक बौद्ध विश्व-कोष का भी निर्माण किया गया था, जो चीनी भाषा में उपलब्ध है। इस कोष का नाम है "फा-युआन-चु-लिन"। इस विश्व-कोष ने भी ललितविस्तरवाली ६४ लिपियों की नामावली दी है। इसके रचयिताओं ने लिपियों के प्रवर्तकों के नामों की भी खोज की है। उनके मतानुसार दैवी शक्तियों से युक्त तीन आचार्यों ने इन लिपियों को बनाया है। सब से पहली और सर्वश्रेष्ठ लिपि 'ब्राह्मी' को वे ब्रह्मा नाम के आचार्य से प्रवर्तित मानते हैं और दूसरी 'खरोष्ठी' की उत्पत्ति खरोठ नाम के आचार्य से। इस लिपि को उन्होंने ब्राह्मी की समता प्रदान नहीं की। तीसरी लिपि चीनी है, जो ऊपर से नीचे की ओर चलती है। इसे सब से कम महत्व प्राप्त है। इसके प्रवर्तक 'त्सं-की' माने गए, जो चीन में हुए। ब्रह्मा और खरोष्ठ को भारत का ही बतलाया गया है। इन्होंने अपनी लिपियाँ देवलोक से पाई। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ब्राह्मी यहीं की लिपि थी। इसीलिए इस लिपि में यहाँ की ग्रंथरचना हुई और यही कारण है कि इस लिपि को अन्य लिपियों के मुकाबले में अधिक महत्व का स्थान प्रदान किया गया। इसी ब्राह्मी लिपि से भारत की अन्य लिपियों की भी उत्पत्ति हुई। पृष्ठ १४४०-१४४१ के मानचित्र देखिए।

पाश्चात्य विद्वानों का भ्रमपूर्ण मत

हमें अब संक्षेप में ब्राह्मी की उत्पत्ति के संबंध में योरपीय विद्वानों के मत की परीक्षा कर लेनी चाहिए। इसका नाता कई विद्वानों ने यूनानी से, कई ने खरोष्ठी से, कई ने अरामिक से और किसी ने सैमिटिक से जोड़ा है। किन्तु सबकी बातें गोलमोल-सी ही हैं। फिर एक प्रश्न पर इतने विभिन्न मत किसी निश्चय के प्रतीक नहीं हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि जिन-जिन लिपियों से ब्राह्मी की उत्पत्ति निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता है, उनके अक्षरों से ब्राह्मी अक्षरों के उच्चारण की समानता एक-दो अक्षरों को छोड़कर कदापि नहीं मिलती। इस विषमता को दूर करने के अभिप्राय से यद्यपि खींचतान से भी काम लिया गया, फिर भी सत्य अधिक समय तक न छिप सका।

ब्राह्मी की उत्पत्ति फिनीशियन से सिद्ध करने के लिए १८९५ ई० में बूलर महाशय ने एक पुस्तक प्रकाशित करवाई थी। फिनीशियन लिपि अरबी की तरह उल्टी ओर को चलती है। ब्राह्मी को भी उल्टी चलाने के लिए बूलर महोदय ने निहायत उम्दा बहाना खोज निकाला! वे कहते हैं कि ब्राह्मी लिपि पहले उल्टी ही चलती थी, पीछे से इसे उलटकर बाईं ओर से चलाया गया! यही नहीं, शब्दों के ऊपर-नीचे उलट देने की बात भी उन्होंने लिखी है, क्योंकि फिनीशियन लिपि का ऊपरी भाग प्रायः स्थूल और निचला हिस्सा टेढ़ी लकीर लिए हुए होता है, जो ब्राह्मी का उल्टा रूप है। इस वैषम्य को मिटाने की गरज से संभवतः उलट देने की यह कल्पना प्रस्तुत की गई। ब्राह्मी के उलटे हुए रूप को फिनीशियन से अधिक से अधिक समानता देने के लिए बूलर ने कुछ लकीरों को घटाया-बढ़ाया अथवा टेढ़ा-सीधा भी किया है। किन्तु इस तरह तो किसी भी लिपि का संबंध संसार की अन्य किसी भी लिपि से जोड़ा जा सकता है!

बूलर की सूझ और चतुराई की चाहे प्रशंसा की जा सकती है, किन्तु उनका तर्क नितान्त थोथा है। यों उन्होंने प्रमाण में 'एरण' से प्राप्त एक ऐसे सिक्के का उदाहरण दिया है, जिस पर उल्टी लिपि में उल्टे अक्षर खुदे हुए हैं। लेकिन मुद्रण-कला के इस बड़े-चढ़े जमाने में भी जब असावधानी के कारण अक्षर उल्टे ढल जाते हैं, तब क्या यह संभव नहीं हो सकता कि एरण के सिक्के के लिए जिस कारीगर ने यह ठप्पा बनाया था, उसने दाहिनी ओर से बाईं ओर को अक्षर खोदने के बजाय बाईं ओर से खोद दिए हों? यदि जरा-सी असावधानी से अक्षर उल्टे के बजाय सीधा ही खुद जाय, तो वह अक्षर छापे में उल्टा आ ही जायगा। छापने की कला के बचपन में इस प्रकार की असावधानी की गुंजायश हो सकती है। ऐसी गलतफहमियों के कई ताजे उदाहरण भी मिले हैं। संवत् १९४३ वि० का इंदौर राज्य (मालवा) का एक पैसेवाला सिक्का उल्टा ही ढला है; किन्तु इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि ये लिपियाँ अरबी की नाईं दाहिनो ओर से बाईं ओर को लिखी जाती रहीं अथवा इनका संबंध इसी तरह लिखी जानेवाली किसी लिपि से है! 'एरण' के उक्त सिक्के के अलावा और कोई सिक्का या शिलालेख ऐसा नहीं मिल सका है, जिसमें इस प्रकार से ब्राह्मी अक्षरों का उल्टा रूप अंकित हो। अतएव उल्टे छापे की बात को खोदनेवाले की असावधानी मानना ही युक्तिसंगत है। ऐसी थोथी दलील के आधार पर कल्पना के घोड़े दौड़ाना उचित नहीं है।

इस विवेचन के पश्चात् हम एडवर्ड थामस के शब्दों में यही कह सकते हैं कि ब्राह्मी अक्षर भारतवासियों की

ही अपनी मौलिक उपज है और उनकी सरलता को देखकर उनके आविष्कारकों की बुद्धिमत्ता ही प्रकट होती है। लासन आदि विद्वानों का कथन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। चूँकि इसका प्राचीनतम प्राप्त रूप काफी प्रौढ़ और किसी भी प्रकार के विदेशी प्रभाव से अपनी स्वतंत्रता प्रकट करता है, अतएव हजारों वर्ष पूर्व इसका निर्माण किया जाना ही संभव हो सकता है।

विकास के नियमों के अनुसार कालान्तर में ब्राह्मी कई रूपों में बदली। गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा आदि लिपियाँ ब्राह्मी से ही उत्पन्न हैं, जो पृष्ठ १४४१ के मानचित्र से स्पष्ट है। जब ब्राह्मी के पढ़े जाने की समस्या आई, तब इन्हीं परिवर्तित रूपों के आधार पर वह पढ़ी गई। आज के देवनागरी अक्षर जिन परिवर्तनों में से होकर गुजरे हैं, उनका अनुमान ब्राह्मी के इन विविध रूपान्तरों के अध्ययन से हम कर सकते हैं। विभिन्न रूपान्तरों के छापों की नकल लेकर यदि मिलान किया जाय, तो सहज ही में मूल अक्षर खोजे जा सकते हैं। प्रिंसेप ने बड़े परिश्रम से इसी तरह ब्राह्मी और खरोष्ठी वर्णमालाओं का ज्ञान सम्पादन किया है। किन्हीं सिक्कों के एक ओर एक लिपि और दूसरी ओर दूसरी लिपि के अक्षर खुदे मिलते हैं। ये लिपियाँ प्रायः एक-दूसरे से सम्बद्ध रहती हैं, इसीलिए कुछ अक्षरों का ज्ञान इनके ही आधार पर हुआ है। इसी तरह प्राचीन लिपियाँ पढ़ी गई हैं।

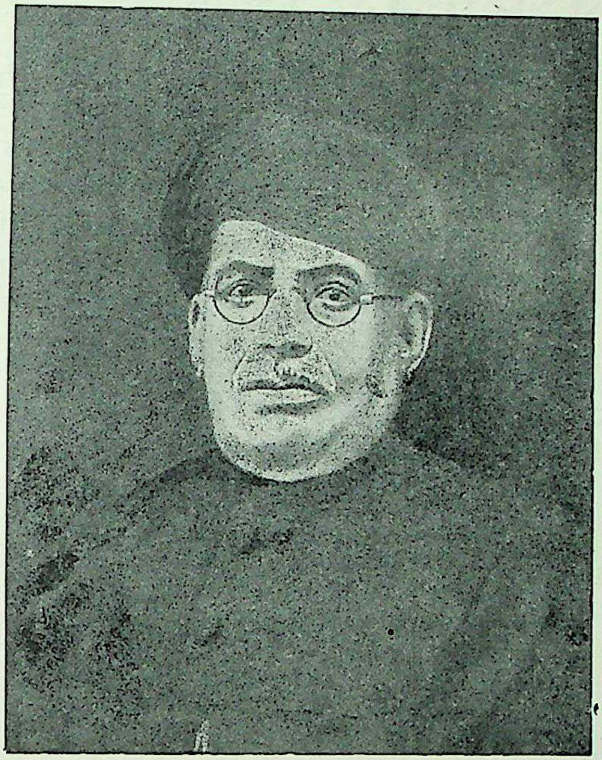

महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, जिनके भारतीय लिपियों-संबंधी महत्वपूर्ण अनुसंधानों के लिए संसार सदैव ऋणी रहेगा।

खरोष्ठी लिपि

खरोष्ठी के केवल दो लेख पाए गए हैं। यह लिपि उत्तर-पश्चिम में गांधार में प्रचलित थी और अरबी की भाँति दाहिनी ओर से चलती थी। इसका मतलब यह है कि इसकी उत्पत्ति सेमिटिक से है। 'अरामिक' के मूल २२ अक्षरों को घटा-बढ़ाकर उपयोगी बना लिया गया था। चीनी विश्वकोष के आधार पर यह खरोष्ठ नाम के आचार्य की देन है। इसमें संयुक्ताक्षर बहुत कम हैं और मात्राएँ तथा ह्रस्व, दीर्घ आदि भी नहीं होते। इसीलिए संस्कृत की पुस्तकें लिखने के लिए यह अनुपयुक्त समझी गई। यह लिपि भारत में बहुत जल्दी ही अस्त हो गई, किन्तु बाहर सदियों तक चलती रही। कठोर परिश्रम के बाद इस लिपि में लिखा गया कुछ साहित्य उपलब्ध हो सका है। किन्तु इस लिपि में ब्राह्मणों के धर्मग्रंथ नहीं लिखे मिलते। अतएव जो लोग इनका सम्बन्ध ब्राह्मी से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं, वे नितान्त भ्रम में हैं।

ब्राह्मी की शाखाएँ

शैलियों की दृष्टि से ब्राह्मी के दो विभाग किए गए हैं—पहला उत्तरी और दूसरा दक्षिणी। उत्तरी विभाग में क्रमशः (१) गुप्त, (२) कुटिल, (३) नागरी, (४) शारदा और (५) बंगला हैं। दक्षिणी विभाग में भी क्रमशः (१) पश्चिमी, (२) मध्यप्रदेशी, (३) तेलुगु-कन्नड़ी, (४) ग्रंथ, (५) कलिंग और (६) तमिल हैं। ब्राह्मी का विकास इन्हीं रूपों से हुआ है। पृ० १४४१ के नक्शे के कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो सकेगी। यह विभाजन विभिन्न समयों में पाए जानेवाले अक्षरों के आधार पर हुआ है।

अंकों की भारतीय उपज के बारे में ओझाजी ने लिखा है—"अंकों की सृष्टि भारतवर्ष ही में हुई और फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश योरप में हुआ।" निश्चय ही ये अंक काफी प्राचीन हैं। पृष्ठ १४४३ पर दिया गया मानचित्र देखिए। उससे इनके विकास का क्रम आपको ठीक से समझ में आ जायगा।

संस्कृत-वाङ्मय—(१)

देवभाषा संस्कृत का बृहत् साम्राज्य

साहित्य का प्रादुर्भाव क्यों और कैसे हुआ तथा मानव ने लिखना कैसे सीखा, इस संबंध में विगत अध्यायों में हम प्रकाश डाल चुके हैं, साथ ही संसार में प्रचलित विविध भाषाओं और उनके कुटुम्ब-परिवारों का भी संक्षेप में परिचय दे चुके हैं। अब हम संसार के विविध प्राचीन और अर्वाचीन वाङ्मयों की जानकारी कराने की दिशा में पहला कदम बढ़ा रहे हैं। इस महत् अनुष्ठान का आरंभ स्वभावतः ही हमारे अपने देश के प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन से करना सर्वथा उचित होगा। यह वाङ्मय जोकि संसार की सब से प्रौढ़ भाषा संस्कृत में निबद्ध है, न केवल हमारे ही अपने देश की प्रत्युत सारी दुनिया की प्राचीनतम साहित्य-निधि है। इस महान् निधि का परिचय कालक्रमानुसार कई एक अध्यायों में इस खंड में कराया जा रहा है। प्रस्तुत प्रकरण इस लेखमाला का प्रवेशक है।

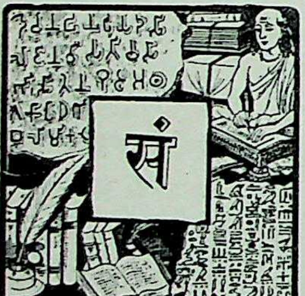

संस्कृत वाङ्मय का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। जिस प्रकार आर्य जाति की शाखा-प्रशाखाएँ भू-मण्डल के विविध प्रदेशों में फैली हुई हैं, उसी प्रकार संस्कृत-वाङ्मय की शाखा-प्रशाखाएँ भी अनन्त अक्षय-वट की भाँति पृथ्वी के कोने-कोने में फैली हुई हैं। आर्य जाति का विस्तार पश्चिमोत्तर में आर्कटिक सागर के पश्चिमी किनारे से हिन्द-महासागर के तटवर्त्ती दक्षिण-पूर्व तक, फिर अटलांटिक के दोनों तटों पर है। आर्य भाषा का प्रसार आर्य जाति के विविध निवासस्थानों में तो है ही, परन्तु वह उनसे बाहर अन्य अनार्य भाषाओं के अन्तर में भी पैठ चुका है। यथार्थतः तो यह कहना कि आर्य भाषाएँ बोलनेवाली सारी जातियाँ आर्य हैं, एक कल्पित धारणा है, जिसकी असत्यता अब सिद्ध हो चुकी है और जिस दृष्टिकोण को अधिकतर अधिकारी विद्वानों ने छोड़ भी दिया है। वस्तुतः भाषा का प्रभुत्व सांस्कृतिक सम्बन्ध और व्यापारिक आदान-प्रदान से जमता है। उसी से प्रायः एक भाषा में दूसरी भाषा का शब्द-बाहुल्य होता है। परन्तु किसी अन्य भाषा के शब्द-बाहुल्य से कोई भाषा उस अन्य की शाखा नहीं कही जा सकती। उत्तरी भारत में आज जो सैकड़ों बोलियाँ बोली जाती हैं, वे किसी न किसी प्रकार से संस्कृत से ही प्रादुर्भूत हुई हैं। हाँ, संस्कृत से आज की स्थिति तक पहुंचने में कई मार्ग उनके सहायक रहे हैं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। परन्तु इनके विपरीत दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ी आदि ऐसी भाषाएँ भी हैं, जो संस्कृत से नहीं निकलीं, जिनका अपना स्वतंत्र साहित्य है और जो संस्कृत के संसर्ग के पूर्व से ही फूल-फल रही थीं। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि उनके साहित्य को संस्कृत-साहित्य ने बहुत-कुछ भरा-पूरा है और उनमें संस्कृत भाषा के सैकड़ों शब्द कई रूप से जाने-अनजाने व्यवहृत होते हैं। इस रूप से संस्कृत भाषा का औपनिवेशिक साम्राज्य संसार के सुदूर खण्डों में अनार्य भाषाओं में भी फैला हुआ है।

संस्कृत का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है

वास्तव में संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है। उसका प्रसार आर्य जाति का भौगोलिक प्रसार है, उसकी सांस्कृतिक प्रगति है। जिन जातियों को हम आज 'आर्य' कहते हैं, वे कभी आर्य थीं कि नहीं अथवा

जिन्हें ऋग्वेद में 'आर्य' कहा गया है, वे स्वयं भी एक ही शुद्ध जाति के थे या नहीं, यह कहना कठिन है, विशेषकर इस कारण से कि संसार की सभी प्राचीन जातियाँ कबीलों की अवस्था में घुमक्कड़ रहीं और घुमक्कड़ अवस्था में एक जाति का दूसरी से वैवाहिक अथवा जनन-सम्बन्ध प्रचुरता से स्थापित होता रहा है। इस अर्थ से रक्त-शुद्धि अथवा जाति-पावनता एक भ्रान्ति, मृगतृष्णा-मात्र ही सिद्ध होती है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि आर्य जाति ने अपनी जातीय पावनता बनाए रखने की असाधारण चेष्टा की है और किसी अंश तक उसे बनाए भी रक्खा है।

आर्य जाति की अपनी कुछ विशिष्टताएँ रही हैं, जिनके कारण उसकी संस्कृति संसार की अन्य कुछ जातियों की संस्कृति से विशिष्ट बन सकी है। उदाहरणार्थ, आर्य और सेमिटिक जातियों की संस्कृति में बड़ा गहरा भेद रहा है। यह भेद अब तक बहुत अंशों में बना हुआ है। इनमें एक की संस्कृति का प्राण उदार और दूसरे का आतंकमय रहा है। यह कहना तो अत्युक्ति होगी कि आर्यों ने अपने प्रसार और भौगोलिक विजय में आतंक अथवा संघर्ष को स्थान ही न दिया, या सेमिटिक जातियों ने सदा आतंक को ही अपनाया, परन्तु लाक्षणिक रूप में उनकी ये विशेषताएँ वस्तुतः सिद्ध हैं। एक बार घुमक्कड़ आर्य जाति ने जब किसी भूखण्ड को अपना गृह बनाया, तो फिर उसमें अपने निवासस्थान की नींव के साथ ही उसने झट अपनी संस्कृति की जड़ें भी डालीं और धीरे-धीरे अपनी मेधा की विभूतियों और कायिक विसर्जन से उसे दृढ़ कर दी। उनकी अन्य जातियों पर विजय असि द्वारा नहीं, प्रत्युत धर्म द्वारा हुई, जिसकी विशेष अभिव्यक्ति बुद्ध और अशोक ने की। विजित जातियों में उनके आतंक से कभी कराह नहीं पैदा हुई, वरन् ब्रह्मघोष का निनाद ही फैला। अर्जुन का दिग्विजय अवश्य गांडीव धनु का चमत्कार था, परन्तु आर्य संस्कृति का वैभव अर्जुन का गांडीवघोष नहीं, कृष्ण का गीतानाद है। आर्य संस्कृति ने जब आवश्यकतावश 'शस्त्र' को ग्रहण किया, तब उसने उसके ऊपर 'शास्त्र' की प्रतिष्ठा की।

इस प्रकार आर्य संस्कृति का प्रसार विचार-स्वातंत्र्य की जड़ बनाए हुए.उदारतापूर्वक हुआ। इसी कारण संस्कृत भाषा ने जिन-जिन भाषाओं में प्रवेश किया, वे दुर्बल न बनीं, वरन् उसके सामीप्य से उनका उपवन फला-फूला। यही कारण है कि संसार की अनेक जातियाँ अनार्य होते हुए भी इस आर्यभाषा संस्कृत की शब्दावली का व्यवहार करती हैं, तथापि नहीं जानतीं कि वे विजातीय बोली बोलती हैं। न स्वयं संस्कृत भाषा ने ही अन्य भाषाओं से आनेवाली शब्दमाला को कभी अग्राह्य समझा। उसने उस पर अपनी मुद्रा लगाकर उसे भी अपनी घोषित कर दिया और आज आर्य भाषा का कट्टर पुजारी भी विजातीय शब्दों का प्रयोग करता हुआ पूर्ण रूप से संतुष्ट है।

मातृसंस्कृत अथवा पूर्वप्राकृत

संस्कृत भाषा आर्यों की भाषा है—उसी प्रकार जैसे संस्कृत से पहले मातृसंस्कृत अथवा पूर्वप्राकृत आर्यों के पुरखों की भाषा थी। इसी पूर्वप्राकृत-संस्कृत से वे अनेक भाषाएँ निकलीं, जिनकी आज आर्य अथवा 'इण्डो-ट्यूटोनिक' भाषाओं में गणना है। इसी मातृसंस्कृत का साम्राज्य भूमध्यसागर के तटवर्ती ग्रीक और रोमन प्रदेशों पर फैला हुआ था, जिसकी सत्ता आज भी उनकी अनेक बोलियों में विद्यमान है। इस साम्राज्य की परिखा एक ओर अटलान्टिक महासागर ने बनाई, जिसके ऐंग्लो-सैक्सन, फ्रांसीसी, जर्मन (ट्यूटन अथवा द्वायतशलंदीय), लिथुएनियन, आदि अन्तपाल हुए। लिथुएनियनों ने तो इस भाषा का इस प्रकार स्तवन किया कि क्रापात्किन के शब्दों में आज भी 'लिथएनिया का कृषक संस्कृत के ही पदों का व्यवहार करता है।' यहाँ की भाषा से संस्कृत के घने सम्बन्ध के कारण कुछ लोगों ने आर्यों का आदिम निवासस्थान लिथुएनिया को भी माना है। फिर इसका सिक्का मध्य योरप की स्लाव आदि अनेक भाषाओं में भी चला और सोलहवीं शती में जब योरपीय जातियों ने अमेरिका में अपना घर बनाया, तो वहाँ भी इस भाषा-बोधितरु की कलमें जा लगीं। पर इनके बहुत पूर्व 'मयों' ने आर्य संस्कृति की धरोहर वहाँ रख छोड़ी थी। इधर संस्कृत भाषा का एक बहुत बड़ा प्रांगण ईरान देश में, जो कभी आर्यों का निवासस्थान था, खड़ा हो गया। यहाँ तक कि प्राचीन पैह्लवी, जिसमें पारसियों की धर्मपुस्तक 'जैन्द अवेस्ता' लिखी गई है, संस्कृत की निकटतम भगिनी है। उसके कुछ अक्षरों की ध्वनियों को बदलकर पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है, मानो वेद ही पढ़े जा रहे हों। यह भाषा बाद की प्राकृतों अथवा बोलियों से संस्कृत के कहीं निकट है। फिर संस्कृत का विशेष आधार सप्तसिन्धु का प्रदेश बना, जहाँ उसकी विशेष वृद्धि हुई और जहाँ वह देवभाषा बनी। यहीं से उसका प्रसार भारतवर्ष के विविध प्रान्तों से होता हुआ आर्यों के अनेक उपनिवेशों—सिंहल, जावा, बालि, सुमात्रा, लवंगद्वीप, आदि—में आर्य संस्कृति के साथ-साथ हुआ। तदनंतर उसका प्रभाव कोरिया,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जापान, चीन, तिब्बत, पूर्वी तुर्किस्तान आदि देशों के साहित्य पर भी पड़ा।

संस्कृत के विविध युग

संस्कृत को आर्यों ने आर्यभाषा, देवभाषा और भारती आदि की संज्ञा प्रदान की है। संस्कृत भाषा का आरम्भ कितना प्राचीन है, यह कहना आज कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है, क्योंकि उसका प्राचीन अर्थात् प्राग्वैदिक रूप बिल्कुल ही अनजाना है। केवल जाने हुए रूप का ही अध्ययन और उसके उत्तरकालीन विकास का अनुशीलन संभव है। इस जाने हुए रूप का आरम्भ उपलब्ध ज्ञान—ऋग्वेद-संहिता से होता है और उसका अन्त अथर्ववेद-संहिता के साथ हो जाता है। यह इस रूप का प्रथम युग है, जिसे हम संहिता-काल कहेंगे। दूसरा ब्राह्मण-उपनिषद्-काल है, जिसमें गद्य का प्रारम्भ और पद्य का पोषण हुआ है। ये दोनों काल मिलकर उस युग का निर्माण करते हैं, जिसे हम वैदिक युग कहेंगे। तीसरा युग सूत्र-ग्रन्थों का था। चौथे युग में रामायण और महाभारत जैसे वीरकाव्यों का प्रादुर्भाव हुआ। पाँचवाँ युग प्राक्कालिदासकालीन काव्य और नाटकों का था; छठा स्वयं कालिदास का; सातवाँ कालिदासोत्तर काव्यों, नाटकों आदि का; और अन्तिम युग विविध टीकाओं और भाष्यों का था।

संस्कृत और प्राकृत

ऋग्वेद से पूर्व की संस्कृति भाषा अथवा उसके साहित्य का ज्ञान हमें नहीं होता, क्योंकि उसके अध्ययन की सामग्री उपलब्ध नहीं है। परन्तु साहित्य का न सही, किन्तु भाषा का तो फिर भी हम कुछ-न-कुछ अटकल लगा ही सकते हैं। स्वयं ऋग्वेद को यद्यपि हम ठीक उसी रूप में स्वतः पूर्ण पाते हैं, फिर भी लोगों ने भाषा-विकास के अनुसार उसके स्तरों को जानने की भी बात कही है। कुछ स्तरों का पता स्वयं ऋग्वेद के एकाध मंत्रों से ही चल जाता है। उदाहरण-स्वरूप, एक मंत्र में पूर्व, मध्यकालीन और वर्तमान ऋषियों की चर्चा की गई है। ऋग्वेद-संहिता की भाषा पद्यमयी है। परन्तु इसके पद्यों के छन्द उत्तरकाल के अलंकारशास्त्र की पद्धति का अनुकरण नहीं करते, जो स्वाभाविक ही है। इससे यह बात प्रकट होती है कि अभी छन्दों के उस रूप का अधिकतर अभाव था, जिसका दर्शन हमें बाद के अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में होता है। समसामयिक साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह भाषा साधारण बोलचाल की नहीं है, क्योंकि पद्यमयी भाषा साधारण बोलचाल की नहीं हुआ करती। फिर भी जो छन्दबद्ध भाषा है, वही गद्य-रूप में जनता की भी हो सकती है। इस छन्दरहित गद्य-भाषा के दो रूप हो सकते हैं—एक तो वह शुद्ध रूप, जो पद्य से वर्जित ऋग्वेद की भाषा का हो सकता है, जिसे तत्कालीन शिष्ट लोग बोलते रहे होंगे, और दूसरा वह जो ग्रामीण अथवा अशिक्षित जन की भाषा का रहा हो। जो भाषा शिष्ट लोगों की रही होगी, वही पाणिनि की 'संस्कृत' का पूर्वरूप है, जिसमें संस्कार का समावेश तो हो चुका है, परन्तु जिसके पूर्ण 'संस्कृत' होने में स्वयं पाणिनि को अभी बहुत-कुछ करना है। इसके विपरीत वह भाषा है, जो जनसाधारण की रही होगी। उसे हम पूर्वकाल की प्राकृत कह सकते हैं।

कुछ लोगों ने संदेह किया है कि संस्कृत, जिसे हम आज के रूप में जानते हैं, कभी वास्तव में बोली भी जाती थी या नहीं! एक महोदय ने तो सन्देह की मात्रा हद दर्जे तक पहुँचा दी है! उनकी राय में तो संस्कृत-साहित्य बल्कि स्वयं संस्कृत भाषा भी, एक भारी जाल है, "जिसे धूर्त ब्राह्मणों ने सिकंदर के आक्रमण के बाद ग्रीक भाषा के अनुरूप गढ़ डाला!"

यह विचारधारा संस्कृत-भाषा के अनुशीलन में निस्संदेह अनोखी है! यहाँ इसका विवेचन श्रेय नहीं। इसकी अप्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। हाँ, संस्कृत कभी बोली जानेवाली जीवित भाषा थी या नहीं, इस पर यहाँ हम कुछ विचार करेंगे। इस संबंध में इस बात पर विचार कर लेना अधिक आवश्यक है कि पहले प्राकृत का जन्म हुआ अथवा संस्कृत का। इस विषय पर भी विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कुछ तो प्राकृत को संस्कृत से प्रादुर्भूत मानते हैं और कुछ संस्कृत को प्राकृत से। संस्कृत से प्राकृत का प्रादुर्भाव युक्तिसंज्ञक नहीं जँचता, क्योंकि स्वयं 'संस्कृत' पद में उसका विरोध है। 'संस्कृत' शब्द अब संज्ञा होते हुए भी एक प्रकार का विशेषण है और इसमें एक 'संस्कार की हुई' भाषा का भाव निहित है। यह संस्कार किसका? स्वयं संस्कृत का? इसका कुछ अर्थ नहीं निकलता। तब अवश्य उस भाषा का संस्कार किया गया, जो ग्रामीण और जनसाधारण की थी और जो खरादी जाने से निखरकर शिष्टों की संस्कारपूत संस्कृत भाषा बनी। स्वयं 'प्राकृत' शब्द में भी 'संस्कृत' पद की व्युत्पत्ति के विरोध में 'स्वाभाविक', 'प्राकृतिक', 'अपरिमार्जित', 'असंस्कृत' का भाव निहित है। इस हेतु यह मानना

आवश्यक हो जाता है कि 'प्राकृत' पहले की है और संस्कृत बाद की, अर्थात् 'प्राकृत' की ही संस्कारयुक्त भाषा। बाद की प्राकृतें बिना संस्कृत के मध्य आधार के पुरातन प्राकृतों से निकलती रहीं, यद्यपि समय-समय पर उनका स्वयं संस्कृत हो जाना और संस्कृत के अनेक शब्दों का फिर से अपभ्रंश अथवा भ्रष्ट होकर प्राकृत बन जाना असंभव न था। परन्तु यह बात स्मरण रखने की है कि संस्कृत की बुनियाद भी प्राकृत की भाँति ही प्राचीनतम स्तरों में पाई जायगी, क्योंकि उस समय की कल्पना कष्टकर होगी, जब 'शिष्टों' का अभाव रहा हो अथवा प्राकृतों को वे विशेष रूप से न बोलते रहे हों। संस्कृत का प्रादुर्भाव किसी सनातन संस्कृत से मानना अयुक्तिसंगत नहीं, परन्तु तब भी प्राकृत की प्राकृतिकता और भी पूर्वकाल में जा पहुँचेगी। संस्कृत का मूल वहाँ खो जायगा, जहाँ से पूर्व 'शिष्टों' की कल्पना न हो सकेगी। और यदि मानव-विकास का सिद्धान्त सही है, तो अवश्य एक अवस्था रही होगी, जब प्रकृति का सहचर आदिमानव शिष्ट-वर्ग के अभाव में उनसे वर्ज्य केवल समान प्राकृत ही बोलता रहा होगा। यदि उस अवस्था की कल्पना हम करें, जब भाषा का जनन हुआ, तो निस्संदेह बालक की भाँति उच्चारण का प्रयास करते हुए मानव का भाषा-सम्बन्धी कोलाहल प्राकृत के अधिक निकट रहा होगा और संस्कृत से अधिक दूर।

ऊपर जो कई स्थलों पर कहा गया है कि संस्कृत भाषा का इतिहास आर्य जाति का इतिहास है, उसका एक विशेष अर्थ है। यह अर्थ अन्य जातियों की भाषाओं के सम्बन्ध में अथवा भारतीय आर्यों से इतर स्वयं अन्य आर्य भाषाओं के सम्बन्ध में भी सार्थक नहीं है। क्योंकि औरों के प्रतिकूल इस जाति की आदितम (संस्कृत) भाषा के साथ उसके अध्यात्म का भी गहरा संबंध है। बाद में प्रादुर्भूत अनुकूल अथवा प्रतिकूल सारे भारतीय धर्मों का मूल ऋग्वेद-संहिता में छिपा है। बौद्ध और जैन तथा लोकायत (नास्तिक) धर्मों को छोड़कर अन्य सभी आस्तिक संप्रदाय तो ऋग्वेद को ही अपनी आधार-शिला बनाते हैं और स्वयं बौद्ध और जैन धर्मों की आचारनीतियाँ भी उसी संहिता के विधान के बहुत कुछ अनुकूल हैं। सहस्रों वर्षों तक आर्य जाति की विलक्षण मेधा का एकमात्र कलेवर संस्कृत ही रही है। उसके अद्भुत अध्यात्म का एकमात्र यान यही भाषा रही। इसी में उसने वे रत्न प्रसूत किए, जिनकी मर्यादा की संसार ने सराहना की और जिनकी सीमाएँ अन्य जातियाँ अथक परिश्रम करके भी आज तक न छू सकीं। तो फिर क्या आश्चर्य है कि हमारे पुरखों ने इस सर्वतोमुखी भाषा को 'देववाणी,' 'भारती' आदि उपाधियों से अलंकृत करके पुकारा ?

संस्कृत 'शिष्ट' जनों की ही बोली थी

संस्कृत भाषा, जैसी उसे हम आज पाते हैं, कभी बोली जाती थी या नहीं, इस पर जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्वानों का मतभेद है। पाँचवी शती ई० पू० में होनेवाले वैयाकरण पाणिनि ने संस्कृत को विशेषकर वह रूप दिया, जैसा हम उसे आज पाते हैं। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों ने तो 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। महाकवि दण्डी ने छठी शती ई० में अपने 'काव्यादर्श' में 'संस्कृत' का व्यवहार जनसाधारण की बोली—प्राकृतों—के विरोध में किया है। यास्क और दूसरे प्राचीन भाषाशास्त्रियों और वैयाकरणों ने वैदिक संस्कृत से इतर संस्कृत को 'भाषा' कहा है। उनके अन्य वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि इस संस्कृत को भाषा कहकर वे प्रचलित बोली जानेवाली भाषा की ओर संकेत करते हैं। पतञ्जलि ने 'लौकिक' संस्कृत की ओर संकेत किया है। स्वयं पाणिनि के अनेकों विधानों का कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि वे जीवित बोली जाती हुई संस्कृत के सम्बन्ध में न कहे गए हों। उनकी कई उक्तियाँ प्रयत्न और उच्चारण आदि के संबंध में हैं, कुछ दूर से बुलाने, प्रणाम करने तथा प्रश्नोत्तर में प्रयुक्त होनेवाली स्वर की ध्वनियों के प्रति कही गई हैं। वास्तव में संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा हो भी नहीं सकती थी, क्योंकि अति प्राचीन काल से ही बोली-संबंधी बहुतेरी शाखाएँ और भेद हमें उपलब्ध हैं। यास्क और पाणिनि दोनों बोली की 'पूर्वी' और 'उत्तरी' विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। कात्यायन भी बोली-सम्बन्धी स्थान विशेष के परिवर्तनों की बात करते हैं और स्वयं पतञ्जलि ने भी ऐसे शब्दों की गणना की है, जिनका व्यवहार स्थान विशेष में होता था। मैक्डोनल की राय में तो 'द्वितीय शती ई० पू० में हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के मध्यवर्ती समूचे आर्यावर्त्त प्रदेश में अवश्य संस्कृत बोली जाती थी।' ब्राह्मण तो इसे बोलते ही थे, परंतु केवल उनमें ही नहीं प्रत्युत उनसे इतर वर्णों में भी इसका प्रचार था। महाभाष्य का सूत [सारथि] वैयाकरण से शब्दों की व्युत्पत्ति पर कथोपकथन करता है! इस प्रकार बाद के नाटकों में भी संस्कृत और प्राकृतें साथ-साथ व्यवहृत होती हैं। संस्कृत पतञ्जलि के 'शिष्ट'—राजा, मंत्री, ब्राह्मण, आदि—बोलते हैं, और प्राकृतें निम्न पात्रों—सेवक, विदूषक, स्त्रियों द्वारा व्यवहृत

होती हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये नाटक तभी खेले जाते रहे होंगे, जब कि साधारण जनता भी संस्कृत को खूब समझती रही होगी। वह उनमें निहित विशेषताओं, श्लेषों और गूढ़ ग्रन्थियों को वैसे ही समझती होगी, जैसे नाटकों के निम्न पात्र स्वयं प्राकृतभाषी होते हुए भी संस्कृत के कथोपकथन को समझकर उसका उत्तर और प्रत्युत्तर देते थे।

इस प्रकार यह तो सिद्ध हो जाता है कि संस्कृत किसी सीमा तक बोली जाती थी और उसे 'शिष्ट' बोलते थे। पर 'शिष्ट' कौन थे और किस सीमा तक उसे बोलते थे? यह बात याद रखने की है कि शिष्टता की सीमा तो अवश्य थी ही पर प्राकृतों की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती होगी। यदि शिष्ट व्यक्ति भी प्राकृतों यानी बोलियों की प्रमुखतावाले प्रान्तों का रहनेवाला हुआ, तो सम्भवतः अपने घर के भीतर वह प्राकृत ही बोलता रहा होगा। हाँ आपस में जब 'शिष्ट' मिलते थे, तब संस्कृत बोलते रहे होंगे। जब साहित्यिक प्रसंग उपस्थित होते थे, तब भी 'शिष्ट' जन संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। राज-कार्य में भी बहुधा इसी का व्यवहार होता था, यद्यपि पालि अथवा अन्य प्राकृतें भी राज-कार्य में निषिद्ध न थीं। इस बात का प्रमाण मिलता है कि कई अवसरों पर पालि राजकीय कार्यों के लिए भी व्यवहृत होती थी। वस्तुतः संस्कृत का स्थान राष्ट्रभाषा का था। उन साहित्यिक केन्द्रों में, जहाँ का वातावरण पूर्ण 'शिष्टों' का था, सर्वथा संस्कृत का ही व्यवहार होता था। परन्तु यह बात भी बराबर ध्यान में रखने की है कि उधर प्राकृतों का भाण्डार भी साहित्यिक रूप में धीरे-धीरे भर रहा था। नाटकों में इस बात के उदाहरण भी मिलते हैं।

संस्कृत आर्य वाङ्मय का मेरुदण्ड है

संस्कृत भाषा का आर्य विद्या से शरीर और आत्मा का-सा संबंध है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, आर्यों की विद्या अध्यात्म के रूप में सर्वप्रथम संस्कृत भाषा ही में अवतीर्ण हुई। आर्यों की और मानव-जाति की प्रथम पुस्तक ऋग्वेद-संहिता संस्कृत ही में है। इस प्रकार संस्कृत भाषा का जो सर्वप्रथम रूप उपलब्ध है, उसमें उच्च कोटि का अध्यात्म और परमात्म-चिन्तन सन्निहित है। आर्य जाति ने पाँच सहस्र वर्षों तक अपनी विलक्षण बुद्धि का जादू निरन्तर इसी भाषा में उतारा। इस लम्बी अवधि के बीच आर्यों में एक से एक उत्कट मेधावी हुए, एक से एक प्रकाण्ड मनीषी जनमे। उन सब ने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से संस्कृत को सजाया। अनीश्वरवादी जैनों, बौद्धों और लोकायतों तक ने इसे अपनी सरस्वती से सरस किया। जैनों के अधिकांश ग्रंथ तो संस्कृत में है ही; बौद्धों में भी, जब प्राकृत पालि की नवीनता नीरस हो चली, तो संस्कृत ही की कामना जागी। प्रथम शती ई० में अश्वघोष ने 'बुद्धरचित' और 'सौन्दरनन्द' जैसी कृतियाँ संस्कृत में ही लिखीं। यह संस्कृत का उस उत्कट बौद्ध भिक्षु के प्रति कैसा व्यंगपूर्ण प्रहसन था! फिर तो महायान के प्रसार में संस्कृत अधिक काल तक सहायक हुई। जब महायान से मंत्रयान और वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ और तन्त्रों के प्रभाव से इनकी विद्या अधिक गूढ़ हो चली, तो मंत्रयान और वज्रयान का साहित्य भी संस्कृत भाषा में ही लिखा गया।

वैदिक संहिताओं के बाद 'ब्राह्मण' और ब्राह्मणों के बाद आरण्यक और उपनिषद् भी संस्कृत ही में पनपे। फिर सूत्र-ग्रंथ और वेदाङ्ग आए एवं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, गणित, ज्यामिति, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य, नाटक, चम्पू, व्यवहार, आदि पर अनेकों ग्रन्थ रचे गए। इस संस्कृत-रत्नाकर से मंत्र, छन्द, गाथा, अनुश्रुति, जनश्रुति, धर्म, आचार, गल्प, कहानियाँ, जीवनचरित, इतिहास-पुराण, राजनीति और अर्थ शास्त्र जैसे विविध रत्न प्रसूत हुए एवं वाद्य, गान, नृत्य, नाट्य, इन्द्रजाल, अलंकार, काम और भूत-वनस्पति विषयक वैज्ञानिक शास्त्रों की भी उत्पत्ति उससे हुई।

एक विशेष बात संस्कृत के बारे में यह रही है कि आर्य मस्तिष्क ने अपने शास्त्रों की रचना प्रायः पद्यात्मक ही की है। अध्यात्म और आन्वीक्षिकी से लेकर आयुर्वेद, ज्योतिष, मानसार (वस्तु) तथा अन्य कलाओं तक के ग्रन्थ काव्य ही में रचे गए। व्याकरण और शब्द-कोष तक पद्य में बने! पद्यात्मक शब्द-कोष की रचना तो अद्भुत क्षमता की सीमा तक पहुँच गई। इस विशद वाङ्मय में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जिन-जिन विषयों की चर्चा जीवन में वांछनीय थी, उनका तत्कालीन वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतया विवेचन हुआ।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि उस सुदूर काल में भी सद्यःजात ग्रन्थ अपने अधिकारी आलोचकों को तत्काल ही उपलब्ध हो जाते थे! तब आज की भाँति न कागज था, न छपाई। लोग भोजपत्र और ताड़पत्र पर ही अपने ग्रन्थ लिखा करते थे। उत्तरी क्षेत्रों में स्याही का व्यवहार होता था, परन्तु दक्षिण में ताड़पत्र घोटकर उस पर सलाका से अक्षर बनाकर उनमें रंग भर लेते थे। ऐसे लिखित पत्रों को एकत्र करके उन्हें छेदकर सूत से नथकर उनमें ग्रन्थि देते थे। इसी से उनका नाम 'ग्रन्थ' पड़ गया

इन ग्रन्थों की नकल करनेवाले लेखक सैकड़ों की संख्या में उनकी प्रतिलिपि तैयार करने में व्यस्त रहते थे।

संस्कृत-वर्णमाला और देवनागरी

संस्कृत की वर्णमाला मानवीय मस्तिष्क की एक अद्भुत उपज है। इसकी अभिसृष्टि किसी भी आधुनिक वैज्ञानिक शोध से कम महत्व की नहीं है। इस वर्णमाला का पूर्ण वैज्ञानिक रूप पहलेपहल महावैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। उसमें संस्कृत भाषा की सारी ध्वनियों का प्रतिनिधित्व तो है ही, साथ ही उनका अंकन एक अद्भुत वैज्ञानिक शैली में हुआ है। सर्वप्रथम उसमें लघु और गुरु स्वर आते हैं, फिर संयुक्त स्वर, फिर ध्वनि के अनुसार वर्गों में व्यञ्जन और संयुक्त व्यंजन। पाणिनि द्वारा सूत्रबद्ध यह वर्णमाला निम्न प्रकार से है—"अइउण्। ऋऌक्।एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्।कपय्। शषसर्। हल्।" इनका प्रयत्न-उच्चारण कितना वैज्ञानिक है, यह वर्गों के उच्चारण-विधान से और स्पष्ट हो जायगा—"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इचुयशानां तालु, ऋटुरषाणां मूर्धा, ऌतुलसानां दन्ताः, उपुपध्मानीयानां ओष्ठौ, ञमङणनानां नासिका च।"

इनमें मुख के वे स्थान, जहाँ से शब्द का उच्चारण होता है, एक विशेष क्रम से प्रयुक्त हुए हैं। ध्वनि के मुख से बहिर्गत होने के जो द्वार हैं, उनमें कण्ठ सर्वप्रथम है। फिर क्रम से तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ आते हैं और बाद में वे संकर वर्ण आते हैं, जो मुख-नासिका से उच्चारित होते हैं। यह आर्यों के लिए कुछ कम गौरव की बात नहीं थी कि उन्होंने उस प्रारम्भिक युग में भी एक ऐसी वैज्ञानिक वर्णमाला का व्यवहार किया, जो इस विज्ञान के युग में भी योरप को उपलब्ध नहीं और जिससे बेहतर वर्णमाला की कल्पना संसार न कर सका। इस वर्णमाला की एक-एक ध्वनि एक-एक विशेष संकेत से सूचित होती है। मैक्डोनल के शब्दों में 'आज का विज्ञानगर्वित योरप सहस्रों वर्ष बाद भी एक नितान्त अवैज्ञानिक सैमिटिक वर्णमाला का उपयोग करता है, जिसे ग्रीस ने लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व ले लिया था, और जो भाषा की प्रत्येक ध्वनि को प्रकट नहीं करती एवं जिसमें स्वरों और व्यञ्जनों की एक अजीब खिचड़ी है।'

ब्राह्मी लिपि

कुछ आश्चर्य नहीं कि आर्यों ने उपर्युक्त लिपि का नाम 'ब्राह्मी' अर्थात् 'ब्रह्मा की बनाई हुई' रखा। बाद का इसका 'देवनागरी' नाम भी 'देवभाषा' संस्कृत के अनुरूप ही है। 'ब्राह्मी' देवनागरी का ही प्राचीन नाम है। इसी लिपि से 'देवनागरी' की भाँति बंगला, गुजराती, मोड़ी आदि भारतवर्ष की अन्य अनेक लिपियाँ निकलीं। यह ब्राह्मी कब की है, इस पर पाश्चात्य विद्वानों के अनेक मत हैं। परन्तु महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अनेक युक्तिपूर्ण प्रमाणों से सिद्धकर दिया है कि भारतीय लेखन-कला उतनी ही प्राचीन है, जितना कि संहिता-काल। (इस संबंध में 'भारतीय लिपियों का विकास' शीर्षक इसी विभाग के पिछले एक प्रकरण में सविस्तार जानकारी कराई जा चुकी है।)

'ब्राह्मी' के उस पूर्व रूप में आर्यों की यह अद्भुत वर्णमाला एक महान् क्षमतावाली वर्णमाला बनकर उनकी पूतवाणी संस्कृत का अक्षराधार बनी और आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व से ही उसके लिखने के पूर्ण विकसित साधन वह प्रस्तुत करने लगी। तभी से उस अद्भुत तेज और क्षमतावाली आर्य जाति का भावोद्रेक द्रवित होकर संस्कृत-वाङ्मय की सरस्वती में बहने लगा। इस सरस्वती का प्रबल प्रवाह बीच में यद्यपि कुछ समय तक विदेशी आतंक की मरुस्थली में खो गया, फिर भी उसकी धारा अब भी इस देश के प्राङ्गण में जीवित है—वह सर्वथा लुप्त नहीं हो पाई है। इस प्रकार लगभग पाँच सहस्र वर्षों की अनवरत साहित्य-साधना के एक अटूट तारतम्य को उसमें पिरोया हुआ हम देखते हैं, जो इस पृथ्वीतल पर अन्यत्र देखने को मिलना दुर्लभ है।

प्राकृत और अपभ्रंश

प्राकृत का जो प्राचीनतम रूप साहित्य में व्यवहृत हुआ है, वह है बौद्धों की 'पालि', जिसमें बौद्ध धर्म की पुस्तकें और जैनों का प्राचीन साहित्य लिखित है। अशोक के शिलालेखों की भाषा भी यही है। इसके बाद पश्चिम में सिन्धु की तलहटी में 'अपभ्रंश' पनपी और गंगा-जमुना के दोआबे के मथुरा केन्द्र में 'शौरसेनी' फूली। 'शौरसेनी' की शाखाएँ 'गौर्जरी' (गुजराती), 'अवन्ती' (मालवी) और महाराष्ट्री हुईं। पूर्व में मगध अथवा बिहार में 'मागधी' और काशी के चतुर्दिक 'अर्धमागधी' फैली। अपभ्रंश से सिंधी, पश्चिमी पंजाबी और काश्मीरी; 'शौरसेनी' से पूर्वी पंजाबी, हिन्दी (प्राचीन काल की अवन्ती) और गुजराती एवं 'मागधी' तथा 'अर्धमागधी' से बंगाली, मैथिल और भोजपुरी आदि की सृष्टि हुई।

संस्कृत-वाङ्मय—(२)

वैदिक संहिताएँ

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, संस्कृत-वाङ्मय के इतिहास का प्रारंभ वैदिक वाङ्मय से होता है । वैदिक वाङ्मय के तीन विभाग हैं—१. 'संहिताएँ', जो इस विशाल वाङ्मय के सब से प्राचीन अंश हैं और जिनमें सूक्त, मंत्र, यज्ञ-स्तवन की प्रशस्तियाँ आदि संकलित हैं; २. 'ब्राह्मण', जिनमें वैदिक मंत्रों और यज्ञ-क्रियाओं के गद्यात्मक भाष्य लिखे गए हैं; और ३. 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद्', जिनमें वैदिक अध्यात्म-चिन्तन का सार संगृहीत है । आइए, अब क्रमानुसार इनका विस्तृत परिचय प्राप्त करें । पहले हम संहिताओं को ले रहे हैं ।

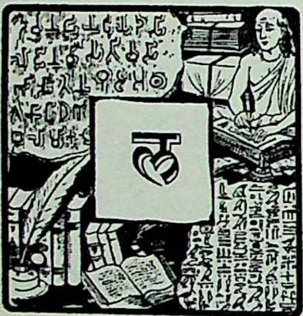

लगभग तीन हजार वर्ष ईस्वी पूर्व एक तरुण और पराक्रमी जाति भारतवर्ष की उत्तरी-पश्चिमी सीमा लाँघकर 'सप्तसिन्धु' की देहली पर आ खड़ी हुई । आर्यों की यह भारतीय शाखा, जो हिन्दयोरपीय आर्य जाति की पूर्वी लहर थी, अपनी नई अर्जित भूमि पर खड़ी होकर चतुर्दिक् देखने लगी । उसके चरणों में तेज बहनेवाली नदियों की हरी-भरी सुन्दर चौड़ी तलहटी फैली पड़ी थी । नदियों की चौड़ाई देखकर 'सिन्धु' का भान होता था । पर उन दुर्दान्तविक्रम नवागतों को ज्ञात न था कि उनके लोहे की चोट लोहे पर बजेगी—ऐसे लोहे पर जिसकी मूठ मजबूत हाथों में होगी । वे नहीं जानते थे कि इस आकर्षक भूमि का इंच-इंच उन्हें रक्त के दामों मिलेगा ।

इन दूर तक फैले जंगलों में जहाँ-तहाँ अनेक नगर भी खड़े थे । इन नगरों के 'लौह दुर्गों' को आर्यों ने देखा । उनकी छतें 'सौ-सौ स्तम्भों' पर टिकी थीं । इन सौ-सौ स्तम्भों के लौह दुर्गों के अधिष्ठाता कृष्ण वर्ण के नत नासिकावाले यहीं के आदिवासी थे, जिन्हें आर्यों ने 'दास' और 'दस्यु' कहकर पुकारा । ये छोटे कदवाले नागरिक जीवन के अभ्यस्त थे और उनकी भौतिक संस्कृति उन सुन्दर, गौरवर्ण, ऊँचे डीलवाले आर्यों की खानाबदोश सभ्यता से कहीं बढ़कर थी । पर घोड़ों की पीठ को अपना घर और धनुष-बाण को अपनी संपत्ति समझनेवाले आर्य पराक्रम में उनसे बढ़े-चढ़े थे । अतः इन नवागन्तुकों ने युगों से इस भूमि पर अपने पैर जमाए रहनेवाले उन आदिनिवासियों को उनके उन दुर्गों से मार भगाया ।

ऋग्वैदिक गायक

आर्य भावुक थे, प्रेम-पटु और कृतज्ञ । उनके सामने वनों का जो अनन्त विस्तार था, उसके संख्यातीत निकुंजों में वे रम गए । यहाँ आकर उनके विश्वव्यापी चिन्तन की अनेकधा बेलें फूट चलीं । इधर इस रहस्यमय देश ने भी नवागंतुकों के सम्मुख अपनी अमूल्य निधियाँ बिखेर दीं । उन्होंने उनमें वे साधन पाए, जो उन्हें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिले थे । अपने अनवरत भ्रमणशील जीवन में उन्हें अब तक विराम न मिला था । पहली बार इस संमोहक भूमि में उन्होंने टिकाऊ जीवन के लक्षण देखे । सप्तसिन्धु के इस सुखद जीवन से उन्होंने अपने पिछले अभागे दिनों की तुलना की और इस समृद्ध निसर्ग में सदा के लिए अपनी बस्तियों के बल्ले गाड़ दिए । कोसों तक फैले उन मैदानों में उनके घोड़े दौड़ने लगे । उनके फूस के घरों के सामने गाएँ जुगाली करने लगीं । उपत्यकाओं में भेड़ें चरने लगीं । खानाबदोशों ने यह सुख कभी भी न जाना था । हृदय कृतज्ञता से भर उठा और प्रेमालु स्वर अनियंत्रित हो उठा । उनके काँपते होठों से निसर्ग की स्तुति में

स्पन्दित राग का प्रादूर्भाव हुआ। उनके वे कृतज्ञता के संगीत-सूक्त प्रकृति के अवयवों का स्तवन करने लगे और उनके विकम्पित स्वरों का तारतम्य जाति की नस-नस में स्फूर्ति भरने लगा और भविष्य की सुन्दर स्थिर सत्ता में उनका विश्वास जमा। इस प्रकार जो गीत गूँजे, उन्हीं की विशाल थाती आज हमें वैदिक वाङ्मय के रूप में उपलब्ध है। इसका प्राचीनतम अंश 'ऋग्वेद' के नाम से पुकारा जाता है, जो न केवल संस्कृत-साहित्य ही का बल्कि सारी मानव-जाति का प्राचीनतम गीत-संग्रह है।

इन गीतों की सृष्टि के साथ ही इतिहास में पहली बार मनुष्य ने अपनी आकृति के अनुरूप देवताओं की अभिसृष्टि भी आरम्भ की। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्ण के शब्दों में "मानव-मस्तिष्क रूपी कारखाने में देव-निर्माण का जो कार्य हुआ है, उसका रूप जिस सफाई के साथ ऋग्वेद में देखने को मिलता है, वैसा और कहीं नहीं मिलता। इसमें हमें मानव-मस्तिष्क के प्रभात की ताजगी और गौरव के दर्शन होते हैं, जिसे क्रमागत रीतियों और जड़ीभूत परम्परा ने निष्प्राण नहीं कर दिया है।" इन ऋग्वैदिक गायकों ने विकंपित स्वरों से अपनी नित्य की आवश्यकताओं के हेतु स्नेहशील देवताओं के स्तवन किए और अपने अनजान में किए पापों से त्राण के अर्थ रुद्रकाय देवों की प्रार्थना की। ऋग्वेद इन्हीं आर्यों के भय और प्रेमभरे सूक्तों का संचय और मानवता का प्रथम ग्रन्थ है।

ऋग्वैदिक साहित्य के विकासक्रम का हमें कोई ज्ञान नहीं, क्योंकि इसके पूर्व की किसी मानवी पुस्तक का आधार उपलब्ध नहीं है। विलसन ने यथार्थ कहा है—"जब ऋक् और यजुर्वेद के पाठ पूर्ण हो जाएँगे, तब हमारे हाथ वह सामग्री लगेगी, जिससे उपलब्ध परिणाम का हम पूर्ण रूप से अन्दाजा लगा सकेंगे। उस सामग्री से हिन्दुओं की राजनीतिक और धार्मिक स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सकेगा—उस समय की परिस्थिति का ज्ञान, जो आदितम सामाजिक संगठन की नींव है, जो ग्रीक सभ्यता के प्रभात से बहुत पूर्व का है, और प्राचीनतम हिब्रू लेखों से भी पुराना है।"

वैदिक साहित्य के तीन खण्ड

'वेद' शब्द 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है जानना, ज्ञान—धार्मिक पूत ज्ञान। इस ज्ञान को मेधाचक्षु आत्माओं ने देखा, जिससे वे द्रष्टा—ऋषि—कहलाए। ज्ञानार्थक होने के कारण 'वेद' का अर्थ कोई पुस्तक विशेष नहीं हो सकता। जिस अर्थ में 'कुरान', 'बाइबिल' अथवा 'त्रिपिटक' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं, उस अकेली पुस्तक के रूप में भी 'वेद' का प्रयोग नहीं होता। 'वेद' ज्ञान की वह सन्निहित धारा है, जो अखण्ड और अनादि है। जैसे ज्ञान की सृष्टि नहीं होती, वह उपलब्ध होता है, वैसे ही वेदों का ज्ञान भी निर्मित नहीं हुआ, केवल देखा गया। यह दृष्ट ज्ञान सहस्रों वर्षों तक विविध वंशों की क्रमागत पीढ़ियों में मौखिक साधन से ऊपर से नीचे उतरता आया।

वैदिक साहित्य से जिस ज्ञान-समुदाय का बोध होता है, उसके तीन मुख्य खण्ड हैं—(१) संहिताएँ, जो सूक्त, मंत्र, प्रशस्ति, यज्ञ-स्तवन आदि के संकलित ग्रंथ हैं; (२) ब्राह्मण, जो वैदिक मंत्रों और ऋचाओं के गूढ़ार्थ भाष्यरूप में अथवा यज्ञ-क्रियाओं के अर्थ लिखे गए गद्यात्मक व्याख्या-ग्रन्थ हैं; और (३) आरण्यक और उपनिषद्, जिनमें से कुछ तो ब्राह्मणों के ही परिशिष्ट रूप हैं, कुछ स्वतंत्र हैं। उनका संपर्क वन की निर्जनता में ईश्वर, विश्व, मानवादि सत्यों के सम्बन्ध में कहे गए ज्ञान से है। उपनिषदों में आर्यों का प्राचीनतम अध्यात्म निहित है।

संहिताएँ

किसी समय में अनेकों संहिताएँ प्रचलित रही होंगी, जिनका निर्माण विविध गुरुकुलों में हुआ होगा। परन्तु इनमें से अधिकतर केवल पाठभिन्न 'शाखाएँ' थीं। इस समय हमें चार संहिताएँ उपलब्ध हैं—(१) 'ऋग्वेद-संहिता', जो ऋचाओं का संग्रह है; (२) 'सामवेद-संहिता', जो सामों अर्थात् गीत-छन्दों का संग्रह है; (३) 'यजुर्वेद-संहिता', जो यज्ञ-सम्बन्धी क्रियाओं और मन्त्रों का संग्रह है [इसके दो भिन्न पाठ हैं—कृष्ण यजुर्वेद, जिनकी अनेकों शाखाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें से प्रमुख तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता है; और शुक्ल यजुर्वेद, जिसे वाजसनेयि संहिता कहते हैं।]; (४) 'अथर्ववेद-संहिता', जो विविध प्रकार के मंत्रों और छन्दों का संग्रह है, जिनमें रहस्यमय विषयों की प्रचुरता है।

इन चार संहिताओं के कारण ही साधारणतया 'वेद' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में का प्रत्येक ग्रन्थ किसी-न-किसी संहिता से संबद्ध है। इस प्रकार ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की केवल संहिताएँ ही नहीं, वरन् उनके अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी हैं। उदाहरणार्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' ऋग्वेद का है, 'शतपथ' ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का है और 'छान्दोग्य' उपनिषद् सामवेद का है। वेदों को 'श्रुति' भी कहते हैं, क्योंकि वे सुने गए थे।

ऋग्वेद-संहिता

ऋग्वेद निर्विवाद रूप से प्राचीनतम संहिता माना जाता है। इसकी अनेक शाखाओं में से इस समय हमें केवल एक—शाकल शाखा—उपलब्ध है। इस शाखा में १,०२८ सूक्त संगृहीत हैं, जो दस मंडलों में विभक्त हैं। ये मंडल भी अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में प्रस्तुत हैं। ऋग्वेद की भाषा से स्पष्ट है कि वह प्राचीनतम भारतीय साहित्य है। ग्रन्थ रूप में तो यह संहिता निखिल मानवता की प्रथम पुस्तक है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें अनेक स्तर हैं, जो समय के विभाजन के अनुसार पूर्व और पर के हैं। इनमें से कुछ खण्ड पूर्वकालीन ऋषियों द्वारा और कुछ बाद के ऋषियों द्वारा प्रस्तुत किए गए। इसका प्रमाण हमें स्वतः ऋग्वेद से ही प्राप्त होता है——

पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यः नूतनैः

इसके कई मण्डलों के संपूर्ण और कुछ के अनेक भाग ऋषिकुल विशेष में निर्मित हुए हैं। द्वितीय से सप्तम मंडल तक का भाग संभवतः प्राचीनतम है, जिसके ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ हैं। आठवें मण्डल के सूक्तों को काण्वों और आंगिरसों ने प्रस्तुत किया है। बाकी के पहले, नवें और दसवें मंडलों के प्रत्येक सूक्त के ऋषियों के नाम अनुक्रमणियों में मिलते हैं। इनमें से कुछ स्त्री-ऋषि भी हैं। अनेक ऋचाओं के ऋषि देवता भी हैं, जैसे, इन्द्र, शची, वृषाकपि, यम, यमी, आदि।

अनुक्रमणियाँ

विन्टरनित्स आदि ने अनुक्रमणियों को निरर्थक बताया है, क्योंकि उनसे इन ऋषियों का हमें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता। परन्तु यह विचार अनुचित है, क्योंकि इन ऋषि-नामों की ऐतिहासिकता में हमें सन्देह नहीं हो सकता। इसका विशिष्ट कारण यह है कि विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि ऋषि पूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और इनके द्वारा रचे गए अनेक मंत्रों में तत्कालीन ऐतिहासिकता की पूर्ण छाप है। विश्वामित्र और वशिष्ठ का अनुक्रमिक विरोध, जिसका पूरा विवरण हमें बाद के पौराणिक साहित्य में मिलता है, इसी ऋग्वैदिक समय में आरम्भ हुआ था। उन दोनों के वैमनस्य के कारण तत्कालीन आर्य राजाओं में जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसमें अनेक कुल भस्म हो गए। उसी वैमनस्य के कारण दशराज्ञ-युद्ध नामक महासमर हुआ, जिसमें सुदास आदि दस राजाओं ने भाग लिया और जिसकी कथा बाद के वैदिक साहित्य और पौराणिक साहित्य में निर्दिष्ट है। ये ऋषिकुल और इनके प्रमुख व्यक्ति प्राङ्महाभारत-काल के राजकुलों के पुरोहित और ऋत्विज् हैं और इनका विवरण महाभारत-युद्ध के पूर्व के राजकुलों की अपनी तालिकाओं में पुराण सविस्तर देते हैं। उन तालिकाओं और ब्राह्मण-उपनिषदादि की गुरुपरम्परा की सूचियों को मिलाने से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि ऋग्वेद में आई इन अनुक्रमणियों की ऋषि-परम्परा ऐतिहासिक और सच्ची है।

ऋचाओं की प्राचीनता

नवें मण्डल के सूक्तों का रूप एक-सा है, क्योंकि उनका देवता केवल सोम है। सोम एक पौधे का नाम है, जिसे कूट कर एक प्रकार का आसव प्रस्तुत किया जाता था। यज्ञों में इस आसव को देवताओं के निमित्त अर्पित करते थे। ईरानी आर्यों के देवता भी सोम से प्रादुर्भूत आसव के पान से विशेष प्रसन्न होते थे। जैन्द अवेस्ता में इसका नाम 'होम' मिलता है। प्राचीन भारतीय अनुश्रुति में सोम देवताओं का 'अमृत' है और इस देवपानीय का उद्गम चन्द्रमा है। इसी कारण चन्द्रमा का एक नाम 'सोम' भी है। चन्द्रमा का एक और नाम 'इन्दु' है। 'इन्दु' कहते हैं बूँद को, जो चन्द्रमा की सुधावर्षिणी रश्मियों से टपकती है। इसी कारण 'इन्दु' का अर्थ संस्कृत में बूंद और चन्द्रमा दोनों हैं। सुधा का भी चन्द्रमा से विशिष्ट सम्बन्ध है, जिससे (सोम=सुधा) चन्द्रमा का 'सुधाकर' नाम सार्थक होता है। स्वयं ऋग्वेद में 'सोम' शब्द का प्रयोग लताविशेष और चन्द्रमा दोनों के अर्थ में हुआ है। बाद के साहित्य में 'सोम' शब्द, लताविशेष के अर्थ में प्रयुक्त न होकर, केवल चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के नवें मंडल में सोम लताविशेष भी है और आकाश का राजा चन्द्र भी। चूँकि सोम का वैदिक रूप ईरानी आर्यों के समय में ही निखर चुका था, अतः ऋग्वेद के नवें मंडल का समय काफी प्राचीन होना चाहिए। इस संहिता के प्रथम और दशम मंडल सम्भवतः बाद के हैं। इनमें अनेकों प्रकार की ऋचाओं का समावेश है। फिर भी यह कहना कि इनमें काफी प्राचीन ऋचाएँ नहीं है, कठिन होगा। ऋचाओं के काल-निर्णय के लिए भाषा पर निर्भर करना कठिन ही नहीं, अनुचित भी होगा। जिन आँकड़ों से विद्वान् किसी वस्तु का काल-निर्णय करते हैं, उनमें भाषा का स्थान बहुत निम्न है। इन मण्डलों का कालक्रम उनके ऋषियों के ऐतिह्य पर निर्भर है और उसका पुराणों और ब्राह्मण-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उपनिषदों में उल्लिखित राजकुलों और ऋषिकुलों की तालिकाओं से घना संबंध है ।

ऋग्वेद के 'खिलों' का समय बाद का है, जैसा 'खिल' शब्द के अर्थ से स्पष्ट है । 'खिल' का अर्थ है पूरक, बाद का । फिर भी संभव है, इनमें से कुछ तो पहले ही बन चुके होंगे । ये खिल सूक्त प्रत्येक हस्तलिपि में मिलते भी नहीं । 'बालखिल्य' सूक्त अवश्य प्रत्येक हस्तलिपि के आठवें मंडल के अन्त में जोड़े हुए मिलते हैं । ये भी सम्भवतः खिलों के प्रकार के ही हैं ।

मंत्रों की दुरूहता

यह बराबर ध्यान में रखने की बात है कि अभी तक ऋग्वेद की पूरी तौर से व्याख्या नहीं की जा सकी । बहुतेरे ऐसे सूक्त हैं, जिनका अर्थ अब विवादास्पद नहीं रहा । परन्तु अभी बहुतेरे ऐसे भी हैं, जिनका प्रस्तुत अर्थ नितान्त भ्रममूलक है । इसी कारण अनेक अभारतीय अनुवादकों ने कितने ही सूक्तों को 'निरर्थक' और 'अजीब' तक कह डाला है ! निरर्थक ऐसे सूक्त इसलिए हैं, क्योंकि उनका अर्थ इन अनुवादकों को ज्ञात न हो सका ! परन्तु शायद इन महाशयों से कुछ उत्तर न बन पड़े, यदि उनसे पूछा जाय कि इन सूक्तों का अर्थ यदि भारतीय अनुश्रुतियों से ओतप्रोत स्वयं यास्क जैसे प्राचीन निरुक्तकार और सायण जैसे व्याख्याता जब ठीक-ठीक न कर सके और उनके लिए जब ये सूक्त दुःसाध्य सिद्ध हुए, तो क्या भारतीय भावुकता और इतिवृत्त तथा अनुश्रुति से अनभिज्ञ अथवा केवल मीन-मेख की दृष्टि रखनेवाले इन विदेशी अनुवादकों के लिए ये सर्वथा दुरूह न होंगे ?

फिर भी प्रत्येक सूक्त का अनुवाद ये विदेशी पंडित करते ही हैं और कभी-कभी तो उनका निरा शाब्दिक अर्थ करते हुए उन सूक्तों और मंत्रों के अर्थ में एक ऐसी अनोखी शब्द-परम्परा प्रस्तुत कर देते हैं, जिसे पढ़कर हँसी नहीं रुकती ! इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि ऋग्वेद के अनुवाद में प्रायः अशुद्धियों का समावेश होना अनिवार्य है, चाहे वे अनुवाद अभारतीय भाषाओं में हों, चाहे प्राकृत-अपभ्रंश से बनी हिन्दी आदि प्रादेशिक भारतीय भाषाओं अथवा स्वयं बाद की संस्कृत में ही क्यों न हों । यास्क के समय (ल० छठी शती ई० पू०) में ही ऋग्वेद के मंत्र दुरूह बन चुके थे । इसीलिए उन्हें निरुक्त लिखने की आवश्यकता पड़ी । यह निरुक्त स्वयं पूर्व में बने इसी प्रकार के निघन्टुओं पर अवलम्बित है । यास्क ने अपने से पूर्व होनेवाले जिन सत्रह [illegible] का उल्लेख किया है, उनमें से एक ने ऋग्वेद की ऋचा-सम्बन्धी दुरूहता घोषित करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि मंत्र निरर्थक और संदिग्ध हैं। परन्तु यह निर्घोष वास्तव में दुरूहताजनित क्रोध का है ।

ऋग्वैदिक मंत्रों का निर्माण क्योंकर हुआ

एक विशिष्ट प्रश्न ऋग्वेद के सम्बन्ध में यह भी उठता है कि इस वेद के मंत्रों का निर्माण कैसे हुआ ? क्या इनका स्रोत, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आर्यों का उदार, भावुक हृदय है, जिसके फलस्वरूप मंत्र नैसर्गिक देवताओं और प्राकृतिक विभूतियों के स्तवन में नद की भाँति प्रवाहित हो चले अथवा उनका प्रादुर्भाव ऋत्विजों द्वारा यज्ञ के निमित्त हुआ ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर का मंत्रों के भावों से आश्चर्यजनक सम्बन्ध है । इसी कारण विविध विद्वानों ने इस विषय पर काफी बहस की है । इस प्रश्न पर पहले सिद्धांत के पक्ष में केगी नामक पाश्चात्य पंडित है और ओल्डेनबर्ग नामक अन्य एक पाश्चात्य विद्वान् ने दूसरे पक्ष के समर्थन में अपना प्रबल मत प्रकट किया है । परन्तु वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर इतना जटिल है नहीं, जितना कि पाश्चात्य विद्वानों ने उसे अपने वादविवाद से बना दिया है । यथार्थ में उत्तर मध्यम प्रतिपदा में है । ऋग्वेद में अनेकों ऐसे स्थल हैं, जो कवि के हृदय से सम्भूत हुए हैं, जैसे उषा के प्रति गाई गई ऋचाएँ, पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान आदि । दूसरे स्थल ऐसे हैं, जो यज्ञों से सम्बन्ध रखते हैं और जिनसे यह संहिता भरी पड़ी है । फिर कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ उपकृत की वाणी उदार दापकों की स्तुति में निनादित हो उठी है जैसे श्यावाश्व के सूक्त। श्यावाश्व के सूक्तों में काव्य का प्राचुर्य है क्योंकि वह स्वयं कवि है और विरह से विदग्ध एक तरल मानव। फिर उन स्थलों की भी संख्या कुछ कम नहीं, जिनमें समाज-सुधारकों की मेधा दीख पड़ती है, जैसे द्यूत-सम्बन्धी सूक्त, यम-यमी उपाख्यान आदि। अनेक सूक्त ऐसे भी आए हैं, जिनमें अपनी व्याधियों से घबड़ाकर ऋषि देवताओं की कृपा के लिए पुकार उठा है, जैसे घोषा के सूक्त और वे जो यक्ष्मा आदि के सम्बन्ध में कहे गए हैं। ऐसा होना अनिवार्य था । एक अद्‌भुत, दुर्द्धर्ष, पराक्रमी, भावुक, उदार, कृतज्ञ और पुजारी जाति की धर्म पुस्तक में इस प्रकार के विविध प्रसंगों का होना आवश्यक था । जैसी अनेकमुखी उस आर्य-जाति की प्रेरणा थी, वैसी ही अनेकमुखी उसकी प्रतिभा भी प्रवाहित हुई ।

जो कुछ भी हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद की विशेषता धार्मिक है। इसी संहिता से हमें पहली बार उस एकान्त मनस्वी आर्य जाति के उन देवताओं का ज्ञान होता है जिनसे द्रविड़ देवताओं के संपर्क से वे भावी देवनस्लें जनमीं, जो आज हिन्दुओं की आराध्य हैं। भौगोलिक विशेषताओं से प्रभावित होकर इन्हीं देवताओं के विकृत और विकसित रूप आर्यों की उन नस्लों में पनपे, जो योरप के ग्रीस, इटली, फ्रांस, जर्मनी, लिथुएनिया, इंगलैण्ड आदि देशों में जा बसीं। कुछ अंश तक तो देव-निर्माण का यह कार्य इस संहिता-रूपी विश्वकर्मा की वस्तुशाला में ही सम्पन्न हुआ। बाइबिल में लिखा है कि भगवान् ने अपनी आकृति के अनुरूप मनुष्य को सिरजा। परन्तु सच तो यह है कि मानव ने अपने भगवान् को अपने आकार की छाया में गढ़ा, उस पर उसने अपनी ही आकृति की छाप डाली। इस रूप का सब से उज्ज्वल दर्शन हमें ऋग्वेद कराता है। वहाँ यदि पुजारी के हाथ-पाँव हैं, तो उसके इन्द्र के भी हैं। यदि उसके उदर है तो इन्द्र के भी है। यदि वह वत्स को खाकर तृप्त हो जाता है, सोम पीकर प्रमत्त हो उठता है, तो उसका इन्द्र भी मधुपर्क से अभितृप्त होता है, सोमपान कर विक्षिप्त हो जाता है! हाँ इतना अवश्य है कि इन्द्र के हाथ-पाँव की संख्या अधिक होगी, उसका उदर विस्तृत होगा, उसके लिए मधुपर्क की मात्रा अमर्यादित होगी, उसके सोम की मात्रा भी अत्यधिक होगी।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः नैसर्गिक देवताओं की कल्पना उनके स्थूल रूप से परे की गई है--जैसे सविता सूर्य का जलता गोला नहीं है, सोम चन्द्रमा की कलाएँ नहीं, अग्नि जलती हुई ज्वाला नहीं है। इनके परे उनमें एक शाश्वत चेतन ब्रह्मस्मारक शक्ति का ही दर्शन और स्तवन ऋषि करता है।

इस चित्र का एक और रूप भी है। अनेक स्थल हैं, जहाँ कवि केवल प्रकृति के अद्भुत अवयवों के ब्राह्य दृश्य रूप को देखकर ही चकित हो गया है, थिरक उठा है। कितनी ही बार संध्या और प्रातः के अरुणाभ सूर्य के प्रभामण्डल, सुधाकर की कौमुदी के मुखरित गगन, वेदी और गृह की प्रज्वलित अग्निशिखा, मेघों में कौंधती नागिन-सी काँपती चपला, तड़पते झंझावात, दिवस के समुज्वल आकाश, रात्रि के निर्मल तारकमण्डल, सुनहरी उषा और अर्थकरी, अन्नकरी वसुकरी वितस्ता पृथ्वी की खरी प्रशस्ति में भी गायक का आर्द्र स्रोत फूटकर बह चला है। फिर इन स्पष्ट आकारों में प्राण फूंक-फूंककर वह गायक उन्हें अनेकनामा देवता बनाता है और उन्हें सूर्य, सोम, अग्नि, मरुत, वायु, द्यौस, रात्रि, उषस् और पृथ्वी की संज्ञा प्रदान करता है। कुछ ऐसे देवता भी हैं, जो अब तो प्राकृकित शक्ति जैसे नहीं दिखाई पड़ते, परन्तु वे कभी-न-कभी ऐसे अवश्य थे। ये हैं--इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषन्, अश्विनीकुमार, रुद्र और पर्जन्य। इसमें से मित्र, विष्णु, और पूषन् ऋग्वेद में सूर्य के ही नाम हैं। मित्र तो मिथ्र के रूप में अवेस्ता में भी मिलता है। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ देवता और देवियाँ ऐसे भी हैं, जिनका उद्गम भाव और मस्तिष्क है, जैसे 'श्रद्धा' और 'मन्यु' (क्रोध)। इन देवताओं के सिवा कुछ ऐसे भी हैं जो अर्ध-देवता हैं, जैसे ऋभु, अप्सरस्, गन्धर्व, आदि। पितरों का भी निर्देश ऋग्वेद में कितनी ही बार हुआ है। पितृलोक और मृतकों का शासक यम है, जिसका 'यिम' नाम ईरानियों की अवेस्ता में भी मिलता है। आत्मा का वह रूप, जो उपनिषदादि बाद के साहित्य में भरा पड़ा है और जिसमें पुनर्जन्म के अनेकानेक कथन हैं, ऋग्वेद में नहीं मिलता। ऋग्वेद का धर्म वास्तव में तत्कालीन जन-धर्म है, जनता का। उपनिषदों का धर्म वर्गविशेष का धर्म है, जिसमें असाधारण ज्ञान की प्रचुरता है। वह आन्वीक्षिकी की शिलाभित्ति है, जो जनसाधारण का धर्म कभी हो नहीं सकता।

ऋत का देवता--वरुण

वरुण ऋत का देवता है और वह देवताओं के भी आचार-नियमों का विधाता और रक्षक है। उसी के हाथ मनुष्यों के भी पाप-पुण्य का लेखा रहता है। जब यमी यम को पति-रूप में वरण करती हुई अपने निकट पुकारती है, तब यम वरुण का हवाला देता है। वह कहता है--यमी, वरुण के चर अपलक प्राणियों के दोषों को देखते रहते हैं! वरुण सर्वोन्नत राजा है, उसी ने सूर्य के सम्मुख पृथ्वी को बिछा दिया है। वही तरुपुलिनों पर वायु का विस्तार करता है, गायों में दूध भरता है, तुरंगों में स्फूर्ति उत्पन्न करता है। वही मस्तिष्क में मेधा, जल में अग्नि, आकाश में सूर्य, पर्वतों पर सोमलता जनमाता है और मनुष्यों को पापों से मुक्त करता है। ऋग्वेद में ही इस देवता ने बाद के पौराणिक साहित्य का वह रूप धारण कर लिया है, जिसमें वह जल का देवता समझा जाता है। वरुण आर्यों का प्राचीनतम और उच्चतम देवता है। इसी कारण वह देवताओं

का राजा कहा गया है। वरुण आर्यों का असुर महान् है और अवेस्ता का 'आहूरमज्दा'।

आर्यों का महान् राष्ट्रीय देवता——इन्द्र

भारत के उत्तर-पश्चिम छोर पर धीरे-धीरे जब आर्यों का द्रविड़ों से मरणांतक संघर्ष आरम्भ होता है, तब शान्ति के देवता वरुण की शक्ति क्षीण हो जाती है और उसका स्थान आर्यों-सा ही दुर्दम्य, पराक्रमी इन्द्र ले लेता है। इन्द्र आर्यों का राष्ट्रीय देवता है, जो उनको उनके कृष्णकाय दास-शत्रुओं पर विजय प्रदान करता है। उसी की सहायता से वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अद्भुत सभ्य द्रविड़ों के धन-जन-सम्पन्न नगरों को मिटा देते हैं। जब फणी वृत्र का आतंक छा जाता है, वह 'अपों' को 'पर्वत' में बन्द कर देता है, तब इन्द्र सोम से प्रमत्त होकर उसे युद्ध के लिए ललकारता है और उसके वज्र से हत होकर वृत्र जब अपनी माँ के शव पर गिरता है, तो 'अपों' की धारा उसके शव के ऊपर से बह निकलती है! इन्द्र दुर्मद योद्धा है। उसकी स्तुति में २५० सूक्त गाए गए हैं। ग्रीकों के देवताओं में 'जीयस' का जो स्थान है, वही आर्यों के देवताओं में इन्द्र का है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का बारहवाँ सूक्त विशेष रूप से इन्द्र की महानता प्रकट करता है।

यज्ञ का आधार——अग्नि

अग्नि आर्यों का विशेष बन्धु है। उसी की मध्यस्थता से आर्यों का अन्य देवताओं से सम्पर्क होता है, क्योंकि वही यज्ञ का आधार है। वह प्रथम अतिथि है, क्योंकि उसके प्रज्वलित होने पर ही अन्य देवता आहूत होते हैं। अग्नि कन्याओं का स्नेही और स्त्रियों का पति है, क्योंकि विवाह के समय दम्पति उसी की भाँवरें भरते हैं। उसकी लपकती रक्तमयी लपटों की अनेकधा कल्पना की गई है। कुछ मंत्रों में उसकी काव्यमय प्रशस्ति गाई गई है। अग्नि अपने जबड़ों से वनों का भक्षण करता है, वह उन्हें टूँगता है, और युद्ध में योद्धा की भाँति उन्हें सुला देता है। वायु की सहायता से वह वनों के छोर तक फैल जाता है और वसुधा को केशरहित कर देता है।

ज्योतिर्वसना उषा, जिसकी प्रशस्ति में वैदिक काव्यधारा उमड़ पड़ती है

परन्तु आर्यों की कविमेधा वास्तव में उषा की प्रशस्ति में मुखरित होती है। वैसे तो स्निग्ध भावों का सर्जन कवि ने वरुण, सूर्य, पर्जन्य, मरुत आदि अनेक देवताओं की स्तुति में किया है, परन्तु जो भावोद्गम इन सतत 'नवा' के संबंध में हुआ है, वह अद्वितीय है। जो मधुर कल्पना कवि ने उसके विषय में की है, वह संसार के प्रारंभिक साहित्य में तो बेजोड़ है ही, बाद के भी प्रगल्भ काव्य-जगत् में अछूती है। उसके दर्शन से प्रकृति-प्रेमी आर्य कवि का रोम-रोम खड़ा हो जाता है। उसका हृदय स्पन्दित हो उठता है और संगीत की मनोरम लहरें उसके भावसमुद्र में उठने—विलीन होने—लगती हैं।

उषा की स्तुति में ऋग्वेद में बीस सुन्दर सूक्त कहे गए हैं और समस्त ग्रंथ में लगभग ३०० बार उसका नाम आया है। उषा मानवों को पूर्वाकाश का द्वार उन्मुक्त कर नित्य नैमित्तिक पथ पर भेजती है। वही चराचर को उद्घोषित करती है। वह माता की भाँति सारे जगत् को करुणा से सराबोर कर देती है। यहाँ जब कवि उषा को नारी के रूप में व्यक्त करता है, तो वह उसके मोहक रूप से विक्षिप्त हो कुछ त्रस्त भी हो जाता है। वह उसे आकाश से नीचे भूमि पर खींच लाता है। वह उसे सुन्दरी लावण्यमयी लगती है। माता द्वारा सजाई तरुणी की भाँति वह अपना रूप विश्व को दिखाकर उसे मुग्ध कर लेती है। प्राणिमात्र में वह जागरूकता भारती है। प्रत्येक प्रेमी की मूक भाषा वह पहचानती है। कवि की कल्पना और भी भावुक हो उठती है, जब वह उषा को सुन्दर वस्त्रों से विभूषित चमकती-दमकती प्रसन्न नर्तकी के रूप में चित्रित करता है। हृदय हिला देनेवाले शब्दों में वह कहता है—'समान वर्ण के वस्त्रों से विभूषित वह पुराणी (सनातन की) देवी नित्यप्रति जन्म धारण करती है और नित्य वह पक्षी को थोड़ा-थोड़ा करके काटते हुए श्वघ्नी की नाईं मर्त्यों को दिन-दिन क्षीण करती जाती है। वह मानव-जीवन से नित्य एक दिन हरती जाती है।'

'वह ज्योतिर्वसना आकाश की दुहिता उषा प्राची के क्षितिज पर आ खड़ी होती है और अपने रूप से दर्शकों को चकित कर देती है। वह अमर नारी अजरा है। वह अतीत में चमकती रही, वर्तमान में चमक रही है और भविष्य में भी चमकती रहेगी। दमकते हुए रजतचक्र की भाँति वह नित्य पुनर्नवा हो उठती और नित्य वह मर्त्यों का एक दिन हर लेती है। स्वयं वह अनादि अतीत की अन्तिम उषा है और अनन्त भविष्य की प्रथम!'

इन भावों को ऋषि ने जिस रसपूरित तरलता से अपनी भाषा में व्यक्त किया है, वह संसार के साहित्य में अप्राप्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'उषा ऋत के मार्ग को जानती है, कभी वह उससे च्युत नहीं होती। वह देवताओं के चक्षु-सूर्य को अकाश की मूर्धा पर लाती है और उसके सुन्दर श्वेत अश्व को वहन करती है। उस कल्याणी उषा का सूर्य वैसे ही अनुसरण करता है जैसे तरुण तरुणी का।'

महिला ऋषि

ऋग्वेद में इस प्रकार के काव्य-प्रवाह के अतिरिक्त अनेकों शक्तिप्राण मंत्र भी हैं, जिनसे उस समय के भाषागत ओज का पता चलता है। वागम्भृणी उपनिषत्काल की ब्रह्मवादिनी नारियों की ऋग्वेदकालीन पूर्वप्रतिनिधि है। अद्वैत सिद्धान्त की घोषणा-सी करते हुए उसने सृष्टि-संहारिका शक्ति से अपनी एकता सिद्ध की है—किस प्रकार वह शक्ति ब्रह्मद्वेषियों के संहार के निमित्त रुद्र का धनुष चढ़ाती है, मनुष्यों के लिए युद्धों के वितान तनाती है, और पृथ्वी से आकाश तक सर्वत्र व्याप्त है। इन्द्राणी के उद्‌गार भी कुछ इसी प्रकार के सबल और दृप्त हैं। जिन ब्रह्म वादिनियों का निर्देश ऊपर किया गया है, उनकी शृंखला यथार्थ में ऋग्वेद में ही आरम्भ हो जाती है, जिसकी कड़ियाँ वाक्, घोषा, अपाला, विश्ववारा, लोपामुद्रा, रोमशा, आदि अनेकों महिला ऋषि हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से एक पराक्रमी जाति की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति का ज्ञान होता है, परन्तु उसका विवरण हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे सकते। स्त्रियों की दशा तो उसमें अत्यन्त ऊँची है। वे वहाँ अपने पतियों की पूर्ण मंत्रिणी हैं, उनकी शक्ति की जननी और रक्षिका हैं। स्वतंत्र, प्रसन्न, सबल इन स्त्रियों का ऋग्वैदिक इतिहास अद्‌भुत और अलौकिक है। पत्नी ऋग्वैदिक काल में अपने नाम को सार्थक करती है। पति के घर जाकर वह उसके बच्चे-बूढ़ों, द्विपद-चतुष्पदों सब का भार ले लेती है।

ऋग्वेद में ही उसके प्रबल स्वतंत्र देवताओं की एकता प्रतिष्ठित होने लगती है। इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि—जो आरंभ में पृथक्-पृथक् और स्वतंत्र देवता हैं—'प्रजापति' के रूप में समष्टि रूप धारण करते हैं और जब विश्वकर्मा की कल्पना मूर्त हो उठती है, तब प्रजनन का कार्य और प्रजापति की सत्ता और भी स्पष्ट हो आती है। इस एकता का चरम विकास उपनिषदों के एकेश्वरवाद और बाद के 'अद्वैत ब्रह्म' में होता है। स्वयं ऋग्वेद में देवताओं का समष्टीकरण हो चला है। ऋषि कहता है—"उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वही स्वर्पक्षी गरुत्मद् है। जो एक है, उसे कवि अनेक नामों की संज्ञा प्रदान करते हैं। वेद उसे अग्नि कहते हैं, यम कहते हैं, मातरिश्वन् कहते हैं।"

आख्यायिकाएँ

ऋग्वेद में कुछ मनोरम कथा-प्रसंग भी आए हैं, जिनसे बाद की संस्कृत-नाट्यपद्धति का विकास हुआ है। ऐसे प्रसंगों में पुरुरवा और उर्वशी; यम और यमी; श्यावाश्व; सोम-सूर्या-विवाह; इन्द्र-इन्द्राणी और वृषाकपि, एवं द्यूत-क्रीड़क आदि प्रकरण विशिष्ट हैं। इनमें श्यावाश्व और शशीयसी प्रसंग को छोड़ शेष सभी कथाएँ दसवें मण्डल में आती हैं। पुरुरवा और उर्वशी का संवाद ९५वें सूक्त में है। अप्सरा उर्वशी राजा पुरुरवा की पत्नी होकर चार वर्ष तक पृथ्वी पर रहती है। फिर वह उसे छोड़कर चली जाती है। तब उसका राजा के साथ वार्तालाप होता है, जिसमें राजा उससे रुकने का अनुनय करता है और वह अवधि की परिसमाप्ति की ओर संकेत कर चली जाती है। यम-यमी का वार्तालाप दसवें सूक्त में है। दोनों जुड़वें हैं। यमी यम का पति-रूप में वरण कर उससे पत्योचित आचरण चाहती है, जिसे वह वरुण का अनुगामी आचारप्रतिष्ठापक यम सर्वथा अस्वीकार करता है। श्यावाश्व का वर्णन पाँचवें मण्डल के कई सूक्तों में है। वह राजा रथवीति की कन्या से प्रेम करता है, परन्तु रानी उसे अस्वीकार कर देती है, क्योंकि उसके जामाता का आदर्श कवि है, जो श्यावाश्व नहीं है। फिर विरह की आग से जलकर जब श्यावाश्व कवि हो जाता है, उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। सोम-सूर्या का विवाह-प्रसंग दसवें मण्डल के ८५वें सूक्त में वर्णित है। इस प्राजापत्य आदर्श विवाह के मंत्र आज भी हिन्दू दम्पति को विवाह के अवसर पर सुनाए जाते हैं। वृषाकपि की आख्यायिका दसवें मण्डल के ८६वें सूक्त में वर्णित है। इसके वास्तविक भाव की अभी तक किसी ने व्याख्या नहीं की। इन धर्मभिन्न प्रसंगों में जुआरी की कथा, जो दसवें मण्डल के ३४वें सूक्त में है, एक अत्यन्त करुण कहानी है। जुआरी बारंबार द्यूत से विमुख होने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु 'अक्ष' की झंकृति उसे आकृष्ट करती है और वह नित्य प्रभात-काल सभाभवन के स्थाणु की भाँति अक्षों पर जा झुकता है। वह अपनी भार्या को देख कर विलखता है, जिसे अन्य प्यार करते हैं। उसकी सास उससे घृणा करती है। उसके साहु अपने ऋण के लिए उसे बाँध लेते हैं, परन्तु वह अपने स्वभाव से मजबूर है!

इस प्रकार अनेक प्रकार की कथाएँ, दान-स्तुतियाँ, देव-प्रशस्ति आदि ऋग्वेद के विषय है।

ऋग्वेद को शुद्ध और सुरक्षित रखने के लिए पद, घन, जटा आदि आठ (या बारह) पाठों का निर्माण किया गया था।

सामवेद

पुराणों के अनुसार सामवेद की एक सहस्र संहिताएँ थीं। परन्तु उनमें से हमें केवल तीन उपलब्ध हैं। उनमें प्रसिद्ध कौथुम शाखा की सामवेद-संहिता है। इसके दो खण्ड हैं--'आर्चिक' और 'उत्तर्चिक'। ये दोनों ही छन्दों के संग्रह हैं, जो लगभग कुल के कुल ऋग्वेद (अधिकतर आठवें और नवें मण्डल) से लिए गए हैं। केवल ७५ मन्त्र नए हैं। दोनों खण्डों में कुल १,५४९ मन्त्र हैं, पर इन में कितने ही कई बार आए हैं और उन पुनरुक्तियों को मिलाकर मन्त्रों का पूरा जोड़ १,८१० है। ऋग्वेद के छन्द अधिकतर गायत्री, जगती, उष्णिः, बृहती, अनुष्टुभ् आदि में हैं, सामवेद के भी प्रायः गायत्री, जगती और प्रगाथा में। सामवेद के सामों का मुख्य निमित्त गायन है। इसी अर्थ में आर्चिक और उत्तरार्चिक दोनों प्रस्तुत किए गए हैं। उद्गाता को पहले आर्चिक की सहायता से गान सीखना होता था। फिर वह उत्तरार्चिक में दिए यज्ञ में गाए जानेवाले स्तोत्रों को कण्ठाग्र करता था। आर्चिक में ५८५ ऋचाएँ हैं। इन्हीं के 'साम' हैं। 'साम' का प्रारम्भिक अर्थ है स्वर, राग। साम इन्हीं ऋचाओं से निकले हैं, इसीलिए ऋचाओं को 'योनि' अर्थात् गर्भ भी कहते हैं। उत्तरार्चिक में ४०० सूक्त हैं, जिनमें प्रत्येक में प्रायः तीन-तीन ऋचाएँ हैं। इन्हीं से यज्ञों में गाए जानेवाले स्तोत्र बने हैं। आर्चिक में ऋचाएँ अग्नि, इन्द्र, सोमादि देवताओं के क्रम से हैं। उत्तरार्चिक में वे यज्ञों के अनुसार हैं। एक स्तोत्र में कई ऋचाएँ होती हैं, जिन्हें एक राग--एक साम--से गाते हैं। अनुमानतः उत्तरार्चिक आर्चिक के बाद की कृति है। आर्चिक से ग्राम और वन के दो प्रकार के गान (ग्रामगेयगान और अरण्यगान) समबद्ध हैं। अरण्यगान ग्राम के बीच नहीं सीखे जा सकते थे। उनके लिए वन का एकाकी वातावरण आवश्यक था। उहगान और उह्यगान नामक दो और संकलन हैं, जिनसे विधिक्रिया के समय सामों का क्रम निर्धारित होता है। उहगान का संपर्क ग्रामगेयगान से और उह्यगान का अरण्यगान से है। सामगान का गौरव इतना उच्च है कि आर्य ग्रन्थों के अनुसार, सामों के स्वर सुनते ही ऋग्वेद और यजुर्वेद के मंत्रों का पाठ बन्द कर देना चाहिए! साहित्यिक समीक्षा के दृष्टिकोण से सामवेद बहुत महत्व नहीं रखता, परन्तु भारतीय संगीत के विकास के अध्ययन में यह प्रारम्भिक शिलाभित्ति है।

कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद

जिस प्रकार सामवेद उद्गाता का गेय ग्रन्थ है, वैसे ही यजुर्वेद अध्वर्यु का स्तोत्र-ग्रन्थ है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य की भूमिका में अध्वर्युओं के वेद की १०१ शाखाओं का कथन किया है और इस में सन्देह नहीं कि इस वेद की अनेक शाखाएँ रही होंगी, क्योंकि भौगोलिक क्रमानुसार इस वेद पर वैयक्तिक और प्रादेशिक छाप पड़ती गई होगी। परन्तु इस समय हमें केवल पाँच शाखाओं का ज्ञान है--(१) काठक-संहिता, (२) कपिष्ठल-कठ-संहिता, (३) मैत्रायणी-संहिता, (४) तैत्तिरीय-संहिता, (५) वाजसनेयि-संहिता। कपिष्ठल-कठ-संहिता के कुछ ही अंश उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय-संहिता को आपस्तम्ब-संहिता भी कहते हैं, क्योंकि आपस्तम्ब चरण में इसका विशेष महत्व था। इन में प्रथम चार शाखाएँ कृष्ण-यजुर्वेद की हैं।

वाजसनेयि-संहिता

पाँचवीं वाजसनेयि-संहिता शुक्ल यजुर्वेद की है। इसका नाम इसके प्रमुख ऋषि याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम पर चला है। वाजसनेयि-संहिता की दो प्रशाखाएँ काण्व और माध्यन्दिन नाम की हैं, जिनमें परस्पर बहुत कम अन्तर है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में विशेष अन्तर यह है कि 'शुक्ल' में केवल मन्त्र हैं और 'कृष्ण' में उनकी गद्यात्मक व्याख्या भी है। इसी कारण 'कृष्ण' से ब्राह्मण भाग संबद्ध है। कृष्ण यजुर्वेद वाजसनेय-संहिता से प्राचीन है।

वाजसनेय-संहिता के ४० भाग हैं। पहले २५ में मुख्य यज्ञों के स्तोत्र हैं, जिनमें अग्नि, पितृ, सोम, सौत्रामणि, अश्वमेघ आदि हैं। २६ से ३५ भागों को भारतीय अनुश्रुति 'खिल' कहती है, इसलिए ये बाद के होंगे। इनमें पुरुषमेघ, सर्वमेघ और मृत्यु आदि वर्णित हैं। ३६-३९ तक के भाग 'प्रवर्ग्य' से सम्बन्ध रखते हैं। ४० वाँ भाग प्रख्यात ईशोपनिषत् है।

यजुर्वेद की भी ऋचाएँ प्रायः ऋग्वेद की ही हैं, परन्तु वे सम्पूर्ण नहीं हैं। यजुर्वेद में आकर वे भिन्न रूप धारण करती हैं। अधिकतर उनमें ऋग्वेद की एक पंक्ति मिलती है। यजुर्वेद की महत्ता अधिकतर उसके गद्यांशों में है। बहुतेरे गद्यात्मक स्तोत्र हैं, जिनमें यजमान देवता के प्रति अपनी कामना स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है। 'ओइम्' शब्द का आरम्भ इसी वेद से होता है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी शब्द इसमें मिलते हैं, जिनका एकपदी प्रयोग बाद के

अनेकों सम्प्रदायों द्वारा एक दूसरे अर्थ में होता है। बाद में ओ३म् का दूसरा प्रर्यायवाची शब्द 'प्रणव' व्यवहृत होता है और ओ३म् उनिषपदों में ब्रह्मवाची हो जाता है।

अथर्ववेद

भारतीय अनुश्रुति से विदित होता है कि अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं हुई। वेदों में केवल ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इन तीन की ही गणना थी, बाद में अथर्ववेद भी सम्मिलित कर लिया गया और तब उनकी संख्या चार हुई। बहुत दिनों तक 'त्रयी' शब्द से केवल उक्त तीन वेदों का ही बोध होता रहा। वैसे अथर्ववेद का रचनाकाल चाहे बहुत पीछे का क्यों न हो, पर इसके भीतर वर्णित अनुश्रुतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। अथर्ववेद का अर्थ है 'अथर्वन् का वेद'। अथर्वन् शब्द का प्रारम्भिक अर्थ है 'अग्नि-पुरोधा' और यह शब्द ईरानी काल का है; क्योंकि ईरानियों की धर्मपुस्तक अवेस्ता में भी 'अथर्वन्' शब्द का प्रयोग हुआ है और वहाँ भी इसका अर्थ वही 'अग्नि-पुरोधा' है। भारतीय वाङ्मय में इस वेद का नाम है 'अथर्वाङ्गिरस'––अर्थात् अथर्वन् और अङ्गिरस्। अङ्गिरस् शब्द का अर्थ भी अथर्वन् की ही भाँति अग्नि-पुरोधा है। दोनों शब्दों का तात्पर्य वैसे एक प्रकार से मोहनादि से है। अन्तर इतना ही है कि अथर्वन् कल्याणकर मोहन है और अङ्गिरस् अहितकर। अथर्वन् के मन्त्रों से व्याधियों का शमन होता है और अङ्गिरसों से शत्रुक्षय आदि सिद्ध होते हैं।

अथर्ववेद की शौनक शाखा ७३१ सूक्तों की संहिता है। इनमें सब मिलकर लगभग ६,००० ऋचाएँ हैं। अथर्ववेद बीस मण्डलों में विभक्त है। इनमें १९वें और २०वें मंडल बहुत बाद में जोड़े गए। २०वाँ मंडल तो पूरा का पूरा ऋग्वेद से लिया गया है। कुल अथर्ववेद का लगभग सातवाँ भाग ऋग्वेद के मंत्रों का है। जो ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गई हैं, उनमें आधी से अधिक उसके दसवें मण्डल की हैं, बाकी पहले और आठवें की। अथर्ववेद का अठारहवाँ मण्डल मौलिक है और उसके सम्पादन में भी विशेष बुद्धि से काम लिया गया है। पहले सात मण्डलों में छोटे-छोटे सूक्त हैं। पंद्रहवें और सोलहवें के अधिकांश भाग गद्यात्मक हैं, बहुत-कुछ 'ब्राह्मणों' के अनुरूप। चौदहवें में केवल विवाह-संबंधी सूक्त हैं और सोलहवें में केवल मृत्यु-सम्बन्धी।

अथर्ववेद की भाषा और छन्द प्रायः ऋग्वेद के ही हैं। फिर भी उनका प्रयोग अधिकतर इतना प्राचीन नहीं दिखाई देता। इस संहिता का भौगोलिक विस्तार ऋग्वेद की अपेक्षा कहीं बड़ा है। अथर्ववेद में आर्यों का निवास गंगा की तलहटी है। ऋग्वेद के अनजाने व्याघ्रादि अथर्ववेद में मिलते हैं। इस वेद में ब्राह्मणों की सत्ता प्रतिष्ठित हो गई है। अथर्ववेद में आनेवाले ऋग्वैदिक देवता वस्तुतः अब केवल असुर-संहारक रह गए हैं। विश्वजनन के सम्बन्ध में भी अनेकों आध्यात्मिक अनाध्यात्मिक विचार चल पड़े हैं, जिनमें से अनेक औपनिषदिक हैं। अथर्ववेद के सूक्तों का जो मोहन-मारक रूप है, उसी कारण यह वेद नगण्य समझा गया।

अथर्ववेद की दुनिया निराली और ऋग्वेद से सर्वथा भिन्न है। इसमें पुरश्चरण और मारण की विद्या तथा रहस्यमय मन्त्रों का राज्य है। यह जन्तर-मन्तर की दुनिया है। इस संहिता का विशेष महत्व तत्कालीन सामाजिक स्थिति जानने में है। इसका एक भाग व्याधियों को दूर करनेवाली ऋचाओं से संपर्क रखता है। ये ऋचाएँ या तो व्याधियों के प्रति ही कही गई हैं या उनके रहस्यमय दैत्यों के प्रति। ज्वर का दैत्य तक्मन् है, जिसके प्रति अनेक ऋचाएँ गाई गई हैं। इनमें से कितनी ऋचाएँ काव्य की दृष्टि से बड़ी सुन्दर हैं। इन सूक्तों में आई कितनी ही वनस्पतियों के अवलोकन से भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की नींव पड़ी। लोगों को अस्थि-शास्त्र का भी ज्ञान हो गया था। अथर्ववेद रोगों में कृमि-उपद्रवों की ओर भी संकेत करता है! स्तोत्रों के देवताओं में पिशाचों और राक्षसों की प्रचुरता हो जाती है। अप्सरा और गन्धर्वों को भी इस संहिता ने राक्षसों की ही श्रेणी में रखा है।

इस संहिता में स्वास्थ्य और जीवन-वर्धक सूक्त भी हैं, जो प्रायः उसी प्रकार के हैं, जैसे ऊपर बताए गए हैं। सौ वर्ष जीने की और १,००० व्याधियों से छुटकारा पाने की कामना की गई है।

परन्तु अथर्ववेद में कुछ अत्यन्त उत्कर्षपूर्ण सूक्त भी हैं। वरुण के प्रति कहे गए एक सूक्त में ईश्वर की सर्वज्ञता का अद्भुत वर्णन है। उसी सूक्त का उत्तरार्ध मिथ्यावादियों के प्रति आग उगलता है। इस संहिता के कुछ मंडलों में वे रहस्यमय सूक्त हैं, जिनसे राष्ट्र में बल आता था, राजा विजयी होता था और जिनका पठन बराबर राज्यारोहण के समय राजाओं के सम्मुख बाद के युगों में होता आया है। इन्हीं की ओर मानवधर्मशास्त्र में निर्देश किया गया है। अथर्ववेद में कुछ सूक्त यज्ञात्मक और विश्वस्रजनात्मक भी हैं। इन्हीं में एक अद्भुत ओजभरा सूक्त पृथ्वी के प्रति कहा गया है। यह 'पृथ्वी-सूक्त' मनुष्य-जाति के देशप्रेम का सर्वप्रथम स्मारक है।

संस्कृत-वाङ्मय—(३)

वेदों का काल-निर्णय

वेद कितने पुराने हैं, यह प्रश्न इतिहास के पंडितों के लिए एक सिरदर्द है। इस संबंध में तरह-तरह के अटकल लगाए गए हैं और विशेषकर पाश्चात्य पंडितों ने निरन्तर यही कोशिश की है कि उनका रचनाकाल तिथिक्रम में जितना नीचे घसीटा जा सके, घसीटा जाय। प्रस्तुत प्रकरण में इसी विवादास्पद विषय का कुछ विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और पाश्चात्य आलोचकों की अटकलों का जवाब देते हुए वेदों (विशेषकर ऋग्वेद) के रचनाकाल की तिथि का निश्चय करने का प्रयास किया गया है।

संसार के साहित्य में शायद ही ऐसा कोई प्रसंग हो, जिसके तिथि-निर्णय के संबंध में इतने विरोधी विचार हों, जितने ऋग्वेद के संबंध में हैं। कई लोगों ने २५,००० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक इसके समय को आँका है ! इस गणना में हमने उनके विचार छोड़ दिए हैं, जो ऋग्वेद को अपौरुषेय मान उसकी तिथि का विचार ही नहीं उठाते अथवा जो उसके काल को लाखों वर्ष ईस्वी पूर्व रखते हैं।

वेदों की तिथि को कल्पनातीत पूर्वकाल तक ले जाने के प्रयास में अड़चनें

जो लोग ऋग्वेद को अत्यंत प्राचीन काल में रखते हैं, उन्हें दो-तीन बातें न भूलनी चाहिए। एक तो यह कि अत्यंत प्राचीन काल में (जैसे लाखों अथवा २५,००० वर्ष पूर्व) मनुष्य के विकास की क्या अवस्था थी, यह कहना कठिन होगा। बहुत संभव है, उस युग में मानव सभ्यता का शायद कोई रूप ही न रहा हो। शायद अभी अग्नि का ज्ञान भी नहीं हुआ था। दूसरे, जो लोग पृथ्वी के स्तरविज्ञान का सहारा लेकर यह कहते हैं कि आर्यों का आदिम निवासस्थान पंजाब था और वही उत्तर भारत में एक सूखा स्थल था, बाकी सारी भूमि समुद्र से ढकी जलमग्न थी, वे भी इस संबंध में दो गहरी गलतियाँ करते हैं। पहले तो उक्त भूमि की जलमग्न अवस्था कल्पनातीत पूर्वकाल की होगी। दूसरे, यदि मान भी लें कि यह प्रदेश जलमग्न था, तो फिर गंगा, यमुना और सरयू-सी पूर्वीय नदियों का ज्ञान आर्यों को क्योंकर हुआ, जिनका कि उल्लेख ऋग्वेद में आया है ?

फिर यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि ऋग्वेद को हम भाषा की दृष्टि से भी अत्यन्त दूर अथवा अत्यन्त निकट काल में नहीं रख सकते। २५,००० वर्ष पूर्व में तो कह नहीं सकते कि मनुष्य बोलता भी था या नहीं ! फिर इतनी दूर की भाषा में जो अन्तर होना चाहिए, वह ऋग्वेद और बाद के उपनिषदों अथवा काव्यों की भाषाओं में नहीं है। इस भाषा-विकास का एक अद्भुत सिलसिला हमें उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ हजार वर्षों के अन्तर पर बहुत अप्रगतिशील भाषा तक में भी अंतर पड़ता है। यही कारण है कि संस्कृत और प्राकृतों में लगभग एक सहस्र वर्षों में इतना अन्तर पड़ गया कि फलतः भारतवर्ष की विविध प्रादेशिक भाषाओं का जन्म हुआ। फिर यदि ऋग्वेद की भाषा २५,००० वर्ष पूर्व की मानें, तो ब्राह्मणों, उपनिषदों और काव्यों की भाषा तक पहुँचने पर उसका रूप इतना बदल जाना चाहिए था, जितना कल्पना में भी न आ सके।

इसके अतिरिक्त यदि इस विचार को मानकर पुराणों में दिए महाभारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों पर दृष्टि डालें,

तो एक बड़ी विषम और असम्भव समस्या खड़ी हो जाएगी। क्योंकि इनके राजन्य अधिकतर वेदों के समकालीन अथवा उनसे भी प्राचीन हैं और चूँकि इनके प्रदेशों को पुराणकार अति पूर्व की नदियों के काँठों में रखते हैं, अतः इनको जलमग्न प्रदेश में रखना पड़ेगा। इस विचार के विरोध में एक दिक्कत यह भी है कि इसमें मध्य-पूर्व एशिया में विकसित असुर-सुमेर प्रदेशों और सिन्धु-काँठे के मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की द्रविड़ सभ्यताओं की खुदाई के आश्चर्यजनक फल का समावेश नहीं है, जिसका निर्देश आगे होगा।

लोकमान्य तिलक और जैकोबी का मत

एक विचार ज्योतिष-संबन्धी भी है, जो स्वर्गीय लो० बाल गंगाधर तिलक और जैकोबी का है। इनमें से प्रथम महोदय ने ऋग्वेद का समय लगभग ६,००० ई० पू० और दूसरे ने लगभग ४,५०० ई० पू० रखा है। परन्तु दोनों विद्वानों की सम्मतियों में एक बुनियादी कमी है। वह यह है कि ऋग्वेद के जिन मंत्रों पर यह ज्योतिष-सम्बन्धी गणना की गई है, उनका अर्थ संदिग्ध है। ज्योतिष-सम्बन्धी गणना गणित पर अवलम्बित होती है, इसलिए जिन आँकड़ों पर यह गणना की जाय, वे स्वयं शिला की भाँति अचल होने चाहिएँ। परन्तु इन मन्त्रों के भाव अत्यन्त संदिग्ध हैं और इस कारण यह गणना कल्पनात्मिका है।

२०० ई० पू० के तिथि-निर्धारण संबंधी मत पर तो विचार करना ही व्यर्थ है। क्योंकि छठी शताब्दी ई० पू० के युग में होनेवाले बुद्ध आदि ऋग्वेद और उसके बाद के वैदिक साहित्य की भी प्राचीनता स्वीकार करते हैं।

मैक्समूलर और विन्टरनित्स की मान्यताएँ

अब रह गया मैक्समूलर का विचार, जो ऋग्वेद को १२००-१००० ई० पू० के बीच रखता है, परंतु इस विचार के पक्ष में उसने जो साहित्यिक क्रम माना है, वह कालक्रम और भाषा-विकास के दृष्टिकोण से हास्यास्पद है।

विन्टरनित्स ने ऋग्वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २५०० ई० पू० के लगभग माना है। यह तिथि सत्य के निकटतम प्रतीत होती है, केवल यह उससे कुछ नीचे है। यदि विन्टरनित्स की पुस्तक का दूसरा संस्करण मध्य-पूर्व एशिया के प्रदेशों की खुदाई के बाद निकलता, तो संभव है कि वह विद्वान् इस समय को तब इससे भी पूर्व ३००० ई० पू० के लगभग रखता। यह ३००० ई० पू० का समय ही यथार्थतः ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माण-काल जान पड़ता है और इस मानने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती। जिन प्रमाणों के आधार पर यह तिथि निश्चित की गई हैं, वे नीचे दिए जाते हैं।

बोगजकोई से प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्री की गवाही

ह्यूगो विंक्लर ने सन् १९०७ ई० में एशिया माइनर के बोगजकोई नामक स्थान में खत्ती (हित्ती) राज्य-संबंधी कुछ ईंटें खोद निकालीं। इन पर चौदहवीं शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में खुदे हुए लेखों में खत्ती और मितानी जातियों के संघर्ष के फलस्वरूप जो सन्धि हुई, उसका हवाला दिया गया है और उस सन्धि के साक्षीस्वरूप कुछ वैदिक देवताओं, जैसे मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यों के नाम आए हैं। ये नाम वहाँ कैसे आए, इस संबंध में मतभेद है। कुछ विद्वानों (जैसे मेयर और जाइल्स) का मत है कि ये आर्यों के भारत-प्रवेश से पूर्वकाल के ईरानी आर्यों के देवता हैं। परन्तु यह संभव नहीं, क्योंकि जैन्द अवेस्ता में जिस रूप में इन देवताओं के नाम मिलते हैं, ये वैसे नहीं हैं। बल्कि ये ठीक ऋग्वेद में आए नामों के अक्षरशः अनुकूल हैं। ऋग्वेद को सुरक्षित रखने के लिए जिन आठ तरह के पद, घन, जटा आदि पाठों की व्यवस्था की गई, ठीक उन्हीं में से एक पाठ के अनुरूप बोगजकोई के इन देवताओं के नाम हैं, जैसे मिइत्-त्र, व-अर्-रु-उण, आदि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन देवताओं का ज्ञान खत्ती और मितानी जातियों को आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार के समय नहीं हुआ, वरन् तब हुआ जब भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर ऋग्वेद के मंत्रों का निर्माण हो चुका था। और इस संबंध में विद्वान् प्रायः सहमत हैं कि ऋग्वेद के मंत्र भारतवर्ष में ही बने। इसी कारण यह सीधा निष्कर्ष निकलता है कि जब ऋग्वैदिक आर्य भारतवर्ष में बहुत काल से बस चुके थे, तब उनकी एक (अथवा अनेकों) शाखा उत्तर-पश्चिम की ओर निकल गई और उन्होंने विजातियों के बीच अपने देवताओं की पूजा प्रचलित की।

अब जरा यहाँ यह विचार कर लेना चाहिए कि यह समय कब रहा होगा। उपनिवेश-निर्माण के हेतु भारतीय आर्यों का इतिहास में निष्क्रमण बहुत बाद का है—शायद गुप्तकाल के आसपास का, जब हिन्द-महासागर के अनेक द्वीप-समूह भारत के उपनिवेश बने। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में केवल दो समय सिद्ध होते हैं, जब इस प्रकार की कोई घटना हुई होगी। एक तो ऋग्वेद

में वर्णित दशराज्ञ युद्ध से संबंधित है। पुराण कहते हैं कि इस युद्ध के बाद द्रुह्यु उत्तर की ओर चले गए और वहाँ जाकर वे म्लेच्छों पर राज्य करने लगे। फिर महाभारत के समय में भारतीय आर्यों की शक्ति अतुलनीय हो गई थी, जब उनके चरणों पर प्रायः सारा भारत लोटता था और उनसे मैत्री करने को विश्व उत्सुक रहता था। यह विवरण महाभारत में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय अर्जुन-भीमादि ने भारतेतर देशों का दिग्विजय किया था और उत्तर में अपने उपनिवेश बसाए थे। महाभारत की तिथि, जो सब से वैज्ञानिक कही जा सकती है और जिसका हम महाभारत के प्रसंग में निश्चिय करेंगे, १४०० ई० पू० के लगभग है। इस समय हम कार्यवशात् इस तिथि को मान लेते हैं। अतएव यदि महाभारत-युद्ध लगभग १४०० ई० पू० हुआ, तो इससे कुछ ही पूर्व ये एशिया-माइनर के आसपासवाले आर्य उपनिवेश बने होंगे। बोगज-कोई के लेख इसके कुछ ही बाद के हैं। इससे यह भी कहा जा सकता है कि आर्यों की कोई और शाखा इससे भी पूर्व वहाँ गई। इससे यह सिद्ध हो जायगा कि यदि १४०० ई० पू० से पहले ही यह आर्यों की शाखा भारत-वर्ष से आई (यह शाखा संभवतः वही द्रुह्युओं की है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं), तो अवश्य आर्यों के भारत में सर्वप्रथम बसने और फिर लौटकर बाहर उपनिवेश बनाने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी। इस प्रमाण से ऋग्वेद के निर्माण का प्रारम्भ लगभग ३००० ई० पू० ठहरता है।

पुराणों का ऐतिह्य

पुराणों में जिन राजवंशों की तालिका दी हुई है, उनकी ऐतिहासिकता में संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि उनके कितने ही नाम वैदिक साहित्य के ब्राह्मणों, उपनिषदों और वेदों तक में मिल जाते हैं। फिर बाद के राजन्यकुलों के ऊपरी छोर आखिर तो कहीं न कहीं जा ही मिलेंगे, यदि पिता-पुत्र के क्रम से कुलों का विकास होना निश्चित है। और जब बाद के मौर्यादि वंशों के सम्बन्ध में पुराण सही हैं, तो भारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों के सम्बन्ध में सही क्यों न होंगे——विशेषकर जब ये पुराण अत्यन्त प्राचीन अनुश्रुतियों से ग्रथित एक पूर्व पुराण पर बने हुए हैं और जब इतिहास-पुराण का अस्तित्व न केवल ब्राह्मण-उपनिषदों में ही वरन् स्वयं अथर्ववेद में भी निर्दिष्ट है! फिर इतनी लम्बी तालिकाएँ मनगढ़न्त कैसे हो सकती हैं, जब उन शृंखलाओं की अनेक कड़ियाँ (राजा) उपनिषदों और ब्राह्मणों में आए उपाख्यानों में मिल जाती हैं? यह भी न भूलना चाहिए कि इन पुराने राजाओं के नाम वैदिक संस्कृत में हैं, जो बाद के नामों से पूर्णतया भिन्न हैं। यही कारण है कि जब कभी आधुनिक राजाओं ने अपना वंश प्राचीन करने के लिए वैदिक समय के मनगढ़न्त पूर्वज गढ़े हैं, तब वे हास्यास्पद हो उठे हैं, क्योंकि ये नाम केवल संस्कृत ही रह सके, वैदिक नहीं। यहाँ पर हमारा मतलब पुराणों में दिए गए राजवंश-वृक्षों के उन भागों से है, जो महाभारत-युद्ध अर्थात् (१४०० ई०पू०) के पूर्वकाल के हैं। इनकी पीढ़ियाँ मिलाने पर हम इस काल के लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पूर्व पहुँच जाते हैं। यही अनुपात लगभग उपनिषदों और ब्राह्मणों में आई गुरुपरम्पराओं की पीढ़ियों को जोड़ने से भी प्राप्त होता है। ये पीढ़ियाँ लगभग ५०-६० हैं और यदि प्रत्येक पीढ़ी का जीवनकाल पचीस वर्षों के लगभग मानें, तो उनका कुल जोड़ (६०×२५=१५००) करीब पन्द्रह शताब्दियों तक जा पहुँचेगा। ये कुल महाभारत-पूर्व के हैं, इसलिए ऋग्वेद का समय ३००० ई०पू० के लगभग जा पहुँचता है।

संहिता के रूप में ऋग्वेद द्वैपायन व्यास द्वारा संगृहीत हुआ। यह व्यास महाभारतकालीन व्यक्ति थे। यदि उनके संग्रह का काल १४५० ई० पू० के लगभग माना जाय, तो ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्रों के निर्माण का समय उससे पूर्व ही रखना होगा। अन्तिम मंत्रों से हमारा मतलब उन मंत्रों से है, जिनमें महाभारत युद्ध से कुछ ही पूर्व होनेवाले देवापि और शान्तनु-सरीखे व्यक्तियों के नाम भी आए हैं। इस प्रकार इस बृहत् संहिता के प्राचीनतम स्तर बहुत आसानी से उनसे १५०० वर्ष पूर्व रखे जा सकते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद का आरंभ ३००० ई० पू० के लगभग हुआ होगा।

आर्यों का दक्षिण-प्रसार

प्रायः सभी विद्वान् इस बात को मानते हैं कि दक्षिण भारत की आर्यों द्वारा विजय ७०० ई० पू० के लगभग ही हो गई होगी, क्योंकि बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र दक्षिण में ही बने, जिसका समय उस काल के कुछ ही बाद रखा जाता है। परन्तु वास्तव में दक्षिण-विजय का समय बहुत पूर्व रखना पड़ेगा। जिन विद्वानों ने ७०० ई० पू० के लगभग आर्यों की दक्षिण-विजय रखी है, उन्होंने साहित्य का विशेष प्रमाण नहीं लिया है। यथार्थ में उन्हें इस संबंध में अपनी राय महाभारत-पूर्व की पौराणिक राजवंशतालिका

को ऐतरेय ब्राह्मण आदि की अनुश्रुति से मिलाकर कायम करनी थी। यह विचार कि ब्राह्मण-काल (लगभग १५०० ई० पू०) में आर्य पूर्व में कुरुपञ्चाल जनपद से आगे नहीं बढ़े थे, अत्यन्त दोषपूर्ण है और इसे अब शीघ्र छोड़ देना चाहिए। कुरुपञ्चाल जनपद निःसन्देह वैदिक आर्य संस्कृति का केन्द्र था। परन्तु इससे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि आर्य इस काल में बहुत दूर पूर्व में नहीं बढ़ चुके थे। वास्तव में कुरुपञ्चाल में सरस्वती और दृषद्वती, गंगा और यमुना-सी पावन नदियों के बहने के कारण वह जनपद आर्यों द्वारा अवध, मध्यभारत और दक्षिण-विजय के कई शताब्दियों बाद तक भी वैदिक संस्कृति का केन्द्र बना रहा। वास्तव में हमें दक्षिण-विजय का समय २००० ई० पू० से भी पहले रखना होगा, क्योंकि जैसा ऋग्वेद के स्तरों से भी ज्ञात है, यदि इतने लम्बे काल में आर्य केवल अफगानिस्तान और पंजाब के ही कुछ भागों में बढ़ सके, तो अवश्य दक्षिण तक पहुँचने और बीच का १,२३,००० वर्गमील प्रदेश जीतने में उन्हें लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी, विशेषकर जब प्रति इंच भूमि के लिए उन्हें द्रविड़ों से लोहा लेना पड़ा था और जब वे स्वयं परस्पर भी लड़ रहे थे। सो यह दक्षिण-विजय बड़ी आसानी से २००० ई० पू० से भी पहले रखी जा सकती है।

पुराणों के महाभारत-पूर्व का राजवंश-क्रम मिलाने से पता चलता है कि आर्यों का आखरी संघर्ष, जिसमें सरयू के तट पर राजा चित्ररथ ने अपने प्राण खोए, २००० ई० पू० के लगभग हुआ। चित्ररथ के पिता ने गया के विष्णुपाद और (उत्तर प्रदेश के) बाँदा जिले के कालिंजर पर्वतों पर इन्द्र के लिए यज्ञ किया था। इससे यह सिद्ध है कि आर्य राजाओं ने २००० ई० पू० से पहले ही पूर्वीय उत्तर प्रदेश, अवध और बिहार को जीत लिया होगा। जबलपुर के चतुर्दिक का चेदि जनपद यादव वंशानुक्रम के अनुसार लगभग दस पीढ़ी (यथार्थ में राज्यकाल) के बाद जीता गया। इस प्रकार इस घटना का काल लगभग २१५० ई० पू० होगा। चैद्य वंश के राजा कशु की प्रशस्ति ऋग्वेद के आठवें मण्डल में गाई गई है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह चेदि जनपद पहले-पहल यादव वंश की एक कनिष्ठ शाखा में होनेवाले राजा चिदि द्वारा महाभारत-युद्ध से पचास पीढ़ी अर्थात् लगभग ७५० वर्ष पूर्व जीता गया। इसलिए यह घटना लगभग २१५० ई० पू० घटी। इस प्रकार आर्यों का भारत में प्रादुर्भाव ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

काशी-राजवंश से जान पड़ता है कि काशी आर्यों के हाथों में प्रायः २६०० ई० पू० से भी पहले आ चुकी थी। पौराणिक और पश्चात वैदिक साहित्य की अनुवृत्ति से ज्ञात होता है कि राजा दिवोदास के राज्य के बाद ही क्षेमक नामक दैत्य ने काशी को उजाड़ डाला था। इस से यह सिद्ध है कि काशी कुछ समय के लिए आर्यों के हाथ से निकल गई थी। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि विदर्भ देश का राजा भीम राजा सहदेव का समकालीन था। सहदेव दाशराज्ञ युद्ध से चार पीढ़ी बाद यानी लगभग १८५० ई० पू० विद्यमान था। इस प्रकार दक्षिण की विजय राजा भीम से पूर्व ही हुई होगी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह घटना लगभग पचास पीढ़ी पूर्व प्रायः बाइसवीं शताब्दी ई० पू० घटी। अतः जब वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों के सम्मिलित प्रमाणानुसार विदर्भ (बरार) की विजय लगभग बाइसवीं शताब्दी ई० पू० ही हो गई, तो ऋग्वेद का प्रारम्भिक काल ३००० ई० पू० के आसपास रखना ही पड़ेगा।

संस्कृत-साहित्य के विकासक्रम की साक्षी

ऋग्वेद की तिथि निश्चित करने में जो एक और विशिष्ट प्रमाण सहायक है, वह है संस्कृत साहित्य का क्रमिक विकास। इस प्रमाण का उपयोग सर्वप्रथम मैक्समूलर ने किया, परन्तु उसके प्रयोग का ढंग विशेषकर गणनाक्रम में अत्यन्त संकीर्ण हो गया है, जिसकी तर्कहीनता का प्रतिवाद ह्विट्नी और विन्टरनित्स आदि विद्वानों ने किया है। परन्तु मैक्समूलर के ही तर्क को आधार बनाते हुए और उसकी संकीर्णता से बचते हुए हम ऋग्वेद का काल-निर्णय वैज्ञानिक रूप से कर सकते हैं। यह युक्ति इस प्रकार है। बौद्ध और जैनों ने न केवल उपनिषदों तक के वैदिक साहित्य का वरन् वेदांगों तक का निर्देश किया है। बुद्ध और महावीर छठी शताब्दी ई० पू० के हैं, और जैनों के तीर्थंकर पार्श्व तो उनसे पूर्व संभवतः सातवीं शताब्दी ई० पू० के हैं। सो सातवीं शताब्दी ई० पू० तक सारा वैदिक साहित्य तैयार हो चुका था। और इस बात का प्रमाण मिलता है कि इनसे भी पूर्व कुछ ऐसे वेदविरोधी धर्मवेत्ता पड़े थे, जिन्होंने वैदिक साहित्य का काफी विरोध किया था। लगभग इसी समय यास्क ने ऋग्वेद की लुप्त परम्परा से वेदार्थ के पुनरुद्धार के लिए प्राचीन निघंटुओं के आधार पर अपना निरुक्त रचा था। यास्क के समय अथवा उससे भी बहुत पूर्व वेद का अर्थ दुरूह हो चुका था, जिससे उसके निरुक्त की आवश्यकता पड़ी। प्राचीन निघंटुकार आचार्यों में से एक,

जिसका यास्क उल्लेख करता है, कहता है कि वेद निरर्थक हैं ! सो उससे पूर्व ही वेदों की अर्थपरम्परा लुप्त हो चुकी थी । ओल्डेनबर्ग ने यथार्थ ही सिद्ध कर दिया है कि प्राथमिक उपनिषदों और प्राथमिक बौद्ध साहित्य में कितनी ही शताब्दियों का अन्तर पड़ा होगा । उपनिषद्काल को डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लगभग ११७० ई० पू० और स्वर्गीय रानाडे ने लगभग १२०० ई० पू० रखा है । औपनिषदिक विचारों के इस क्रियात्मकता-काल को हमें १२०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच रखना होगा । इस बात को न भूलना चाहिए कि उपनिषदों में जो गुरुपरम्परा आई है, उसकी पीढ़ियाँ ९० तक हैं । फिर इन उपनिषदों का निर्माण ब्राह्मणों के बाद हुआ । ब्राह्मणकाल को इस प्रकार उपनिषद्काल से पहले लगभग १६०० ई० पू० और १२०० ई० पू० के बीच रखना होगा । इन ब्राह्मणों में भी गुरुकुलों की अनेक पीढ़ियाँ दी हुई हैं । ये ब्राह्मण कुछ तो यज्ञ-क्रियाओं को रूप देने और प्रायः ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों के भाव की व्याख्या के निमित्त लिखे गए थे । अतः १५०० ई० पू० के पहले ऋग्वेद के प्राचीन स्तर निर्मित हो चुके थे, जिनकी व्याख्या के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी । अवश्य इन मंत्रों के भाव-लोप में कुछ शताब्दियाँ बीती होंगी और ऋग्वेद के प्राचीन स्तरों और प्राथमिक ब्राह्मण-ग्रन्थों (लगभग १६०० ई० पू०) के निर्माण में सदियों का अन्तर पड़ा होगा । फिर ब्राह्मणों के पूर्व अथर्ववेद बन चुका होगा । यदि अथर्ववेद के प्राचीन स्तरों का निर्माण-काल प्राथमिक ब्राह्मण-काल से चार सौ वर्ष ही पूर्व मानें, तो हम अथर्ववेद के प्राचीन भागों को लगभग २००० ई० पू० रख सकते हैं (यहाँ हम अथर्ववेद के उन मंत्रों को छोड़ देते हैं, जो ऋग्वेद के हैं) । इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि अथर्ववेद बहुत काल तक वेदों में नहीं गिना गया और वेदों की संख्या केवल तीन रही, जिससे वे 'त्रयी' कहलाए । अतएव अथर्ववेद और त्रयी में इतने काल का अन्तर होना चाहिए, जितने में त्रयी का रूप भुलाकर अथर्ववेद को भी वेदों की संख्या में गिन लिया गया हो । इस रूप में ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तरों को ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा ।

भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण ऊपर हम कर आए हैं । यहाँ बस इतना ही कह देना उचित होगा कि भाषा और साहित्य का जो क्रम-संबंध एक ओर ईरानी आर्यों की धर्मपुस्तक 'जेन्द अवेस्ता' और ऋग्वेद में, और दूसरी ओर ऋग्वेद और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, सूत्र और इतिहास-पुराण इत्यादि की भारतीय संस्कृति में है, उसको देखते हुए हम ऋग्वेद का समय न कल्पनातीत पूर्व न पश्चात् ही रख सकते हैं, अतः उसे बीच में ही कहीं ३००० ई० पू० से उतरते हुए रखना होगा ।

ऋग्वेद ग्रन्थ नहीं है, 'संहिता' है और इस संहिता की अनुक्रमणियों में सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों के नाम दिए गए हैं । ये ऋषि मानव देहधारी पुरुष और स्त्री थे । उनकी बृहत् संख्या एक लम्बे काल को सामने रखती है । ये ऋषि बहुधा ऋषिकुल विशेष के थे, जिनका आपस में प्रायः संबंध पिता-पुत्र का था । इसी कारण उपनिषदों और ब्राह्मणों की गुरुपरम्परा की तालिकाएँ उनका वह संबंध घोषित करती हैं । ये तालिकाएँ पुराणों में दिए महाभारत-पूर्व के राजकुलों से प्रायः संबंध रखती हैं । ब्राह्मणों और उपनिषदों के कितने ही गुरु इन पौराणिक राजकुलों के गुरु हैं । सो ऋग्वेद के स्तर कई समय में निर्मित हुए हैं । उनका निर्देश हम आरम्भ में कर आए हैं । ये स्तर इतनी बड़ी संहिता में लगभग पन्द्रह शताब्दियों में बने होंगे और चूंकि संहिता का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग व्यास ने किया, अतः ऋग्वेद के स्तर तब तक समाप्त हो चुके होंगे । उनके अंतिम मंत्रों का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग ही समाप्त हुआ होगा, क्योंकि मंत्र में कौरव-पाण्डवों के निकट-पूर्वज राजा शान्तनु और उसके ऋत्विज् भाई देवापि का उल्लेख हुआ है ! अतः यदि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माण-काल हम पन्द्रह शताब्दी पूर्व लगभग ३००० ई० पू० रखें, तो अत्युक्ति न होगी ।

अन्तिम और ऊपर के सारे प्रमाणों में कदाचित् सब से सच्चा प्रमाण वह है, जो सिन्धु-काँठे के मोहनजोदड़ो और पंजाब के हड़प्पा तथा मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्त्व-सम्बन्धी आधुनिक खुदाई से प्राप्त हुआ है । विद्वानों की दृष्टि अभी उधर नहीं गई है, परन्तु आर्यों के भारत में आने और ऋग्वेद के निर्माण के समय पर उस खोज का महान् प्रभाव पड़ सकता है ।

सिन्धु-काँठे की पुरातत्त्व-सामग्री की गवाही

विद्वान् प्रायः इस बात में सहमत हैं कि सिन्धु-काँठे की सभ्यता द्रविड़ थी । इस निर्माण में सब से बड़ा सबूत यह है कि मोहनजोदड़ो के सहस्रों ठीकरों और प्रस्तारादि स्मारक अवशेषों में एक भी अश्व से सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है । केवल गैंडे के चित्र को उत्कीर्ण करनेवाले लगभग ३०० मुद्रांक उपलब्ध हुए हैं और वृषभ को उत्कीर्ण करनेवाले

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तो कितने ही हैं। यदि यह सभ्यता आर्यों की होती, तो उनके दुःख-सुख और यज्ञों के साथी सतत पार्श्वस्थ अनुचर 'घोड़े' का उसमें न होना असम्भव था। फिर जो मानव-आकृतियाँ मिट्टी या प्रस्तर-मिश्रण की मिलती हैं, वे स्पष्टतः अनार्य हैं। इस सभ्यता का प्रसार काल ३५०० ई० पूर्व और २७०० ई० पू० के बीच रखा गया है। कैसे यह सभ्यता टूटी? सिंधु-घाटी की सभ्यता-सम्बन्धी अपने ग्रंथ में सर जान मार्शल ने मोहनजोदड़ो के घरों की कुछ तस्वीरें दी हैं। इनके निचले कमरों में कई हाथ-पाँव, मस्तकादि से रहित मनुष्यों के अस्थि-पंजर बिखरे पड़े हैं। अवश्य यह कथा किसी मानव-आक्रमण का उपसंहार है। पैने अस्त्रों से ही वे सब जीवित काटे गए थे। संभवतः आक्रमण से बचने के लिए वे भागे थे, परन्तु आक्रमणकारियों ने उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर मारा था। ये आक्रमणकारी कौन थे? हमने ऊपर जो अन्य साधनों द्वारा ऋग्वेद का निर्माण-काल और सम्भवतः आर्यों का भारत-प्रवेश-काल स्थिर किया है, वह ३००० ई० पू० के लगभग है। फिर संभवतः वे आर्य ही थे, जिन्होंने ३००० ई० पूर्व के समीप भारत में प्रवेश कर दो-तीन सौ वर्षों तक निरन्तर लड़कर २७०० ई० पूर्व के लगभग द्रविड़ों की वह अद्‌भुत सभ्यता नष्ट कर दी। ऋग्वेद से विदित होता है कि आर्यों को उन अनार्यों से लड़ना पड़ा था, जो कृष्ण-काय थे, अनासा थे, दास थे, और दस्यु थे। इनके सेनापति दृप्त और शूर थे। भारत में ये लोग द्रविड़ों के अतिरिक्त और कौन हो सकते थे? और इन द्रविड़ों का प्रबल निवास-स्थान पंजाब और सिंधु का काँठा था, जिसे आर्यों को अपने निवास के लिए तोड़ना पड़ा। इन दुर्द्धर्ष सामरिकों पर विजय पाने के लिए और इनके विशाल दुर्गों को तोड़ने के लिए आर्यों को ऋग्वेद में अपने वीर देवता इंद्र से अहर्निश प्रार्थना करनी पड़ी। आर्यों ने द्रविड़ों का और इंद्र ने उनके लौह दुर्गों का अपने वज्र से विध्वंस किया। मिट्टी के बने मकानों में रहनेवाले आर्यों को मोहनजोदड़ो आदि के पकी ईंटों के द्रविड़ों के घर अवश्य लोहे के-से लगे होंगे। अतः आर्यों ने ही द्रविड़ों की यह सभ्यता नष्ट की, क्योंकि आर्यों के भारत-प्रवेश और मोहनजोदड़ो के अन्त के छोर प्रायः मिले हैं। एक बात और है। जिन कमरों का ऊपर निर्देश किया गया है, उन्हीं में से एक में (एक तस्वीर से जान पड़ता है) छोटे अस्थिपंजरों के बीच एक विशाल-काय अस्थिपंजर भी पड़ा है, जो सम्भवतः किसी आर्य का है। वह आर्य द्रविड़ों से लड़ता हुआ शायद वहीं मारा गया होगा। तस्वीर में एक सजीव पंजाबी कुली भी दिखाया गया है। वह अस्थिपंजर उस कुली से भी काफी बड़ा है।

सुमेर की वह सभ्यता, जिसके अवशेष मसोपटामिया में मिले हैं, द्रविड़ों से बहुत मिलती है। उस सभ्यता ने बहुत-कुछ मोहनजोदड़ो की सभ्यता से लिया था, यह सभी विद्वान् मानते हैं। सम्भव है, सुमेर लोग स्वयं द्रविड़ रहे हों। कम-से-कम इतना सत्य है कि सुमेरवाले आर्य न थे और वे अपने उत्तर-पश्चिम के महापराक्रमी असुरों के शत्रु थे। सुमेर-सभ्यता से असुरों का संघर्ष लगभग ३५०० ई० पू० आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे असुरों ने उस सभ्यता का विनाश करके उस पर अपने राज्य खड़े किए। यह कुतूहलजनक बात है कि लगभग इसी समय आर्यों ने सुमेर-सभ्यता से सम्पर्क रखनेवाली मोहनजोदड़ो की द्रविड़-सभ्यता की कमर तोड़ दी। क्या आर्यों और असुरों में वही सम्बन्ध था, जो सुमेर और मोहनजोदड़ो की सभ्यतावालों में था? सम्भवतः ऐसा ही हो। ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्रों में प्रायः ग्यारह स्थलों में असुरों का अविरोधी वर्णन है। वे पराक्रम के प्रतीक समझे गए थे। इसी कारण 'असुर' शब्द वरुण और इंद्र का विशेषण बना। असुरों ने कोई विशेष पराक्रम के कार्य किए होंगे, जिससे उनका नाम आर्य देवताओं का विशेषण बना। सम्भव है, यह पराक्रम असुरों द्वारा सुमेर-सभ्यता के विनष्ट होने पर उनको प्राप्त हुआ होगा। फिर जब उन्हीं असुरों से आर्यों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ, तब आर्यों ने अपने ऋग्वेद के बाद के मंत्रों में उन्हें विरोधी रूप में दरसाकर राक्षस कहा। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन असुरों से आर्यों का मध्य एशिया में बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा। असुरों से लड़नेवाले मध्य एशिया के आर्य पन्द्रहवीं शती ई० पू० के खत्ती-मितानी आदि थे, जो संभवतः द्रुह्यु राजन्यों के वंशधर थे, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। संभव है, स्वयं असुर भी आर्यों का ही बाद में आनेवाला एक दल हो और पृथ्वी के लिए उनमें समय-असमय युद्ध होता रहा हो। निष्क्रमण की एक लहर का दूसरी से टकराना साधारण है। यह बात पौराणिक साहित्य की एक साधारण कथा है कि देव और असुर एक ही पिता के पुत्र थे—कश्यप की सपत्नियों से उत्पन्न। दैत्य दिति से उत्पन्न हुए और आदित्य अदिति से। अदिति से आदित्यों का प्रादुर्भाव स्वयं ऋग्वेद घोषित करता है। दैत्य असुर थे और आदित्य देव आर्य।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद का निर्माण-काल लगभग ३००० ई० पू० और १४५० ई० पू० के बीच ठहरता है।

संस्कृत-वाङ्मय—(४)

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

संहिताओं के बाद वैदिकवाङ्मय के शेष अंश 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' के नाम से प्रख्यात हैं। इनमें उपनिषदों से हम अधिक परिचित हैं, कारण उन्हीं में वेदों के तत्त्वचिंतन का सार भाग और आध्यात्मिक ज्ञान का भांडार भरा है। आइए, इस प्रकरण में वैदिक वाङ्मय के इन तीनों गौरवपूर्ण अंगों की ब्योरेवार जानकारी प्राप्त करें।

संस्कृत-वाङ्मय में कालक्रम के अनुसार संहिताओं के बाद दूसरा स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। साहित्यिक माधुर्य के विचार से इनमें कुछ भी आकर्षक नहीं। यजुर्वेद की भाँति ये भी नीरस हैं, परन्तु इनमें सन्देह नहीं कि उत्तरकाल के धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य को समझने के लिए ये अद्भुत कुंजी की भाँति हैं। धर्म-विज्ञान का मनन करने में तो इनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। ईश-प्रार्थना के इतिहास में जिस प्रकार यजुर्वेद का प्रचुर महत्व है, उसी प्रकार यज्ञों और पौरोहित्य के इतिहास में इन ब्राह्मणों का विशिष्ट स्थान है।

'ब्राह्मण' क्या हैं

यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है किसी यज्ञक्रिया-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य का मत या टिप्पणी। ब्राह्मण-ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विज्ञान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याओं की संहिताएँ हैं। यद्यपि उनमें जगज्जनन और प्राचीन ख्यातों आदि से संबंध रखनेवाली और यज्ञकर्म से रिक्त अन्य कथाएँ भी हैं, तथापि उनका विषय प्रारम्भिक रूप में यज्ञकर्म ही है, जिनकी विवेचना में ये सारे मत-मतान्तर और ख्यातियाँ प्रसूत होती हैं। ब्राह्मणों के विषय यज्ञ हैं और उनमें उनकी विविध क्रियायों का विधान है। इन क्रियाओं के रहस्यमय अर्थ भी स्थान-स्थान पर दिए गए हैं और उनका सम्बन्ध प्रार्थना और ध्यान से भी बताया गया है। कई स्थलों पर वेदों के विविध मन्त्रों पर वे दार्शनिक मत भी स्थापित करते हैं और इस रूप में वे निरुक्तों का स्थान ग्रहण करते हैं। जहाँ तत्कालीन अथवा प्राचीन विद्वानों के मत परस्पर-विरोधी हैं, वहाँ ब्राह्मण एक के विरोध या दूसरे के पक्ष में अपने मन्तव्य प्रकाशित करते हैं। ऐसे स्थलों का ब्राह्मणों में प्राचुर्य्य है। कितने ही स्थल उनमें ऐसे भी हैं, जिनमें स्थान और सुविधा-विशेष से यज्ञ-क्रियाओं की रीतियों में होनेवाले अंतरों पर विचार किया गया है। किस यज्ञ में किस पुरोहित, होता आदि की किस रूप में कितनी दक्षिणा होगी——इसका उल्लेख भी जगह-जगह किया गया है। किस-किस यज्ञ से इस अथवा अगले जन्म में कौन-कौन-सी सुविधाएँ यजमान पाएगा——इसका भी विवेचन मिलता है। इस प्रकार ब्राह्मण वे ग्रन्थ हैं, जिनमें यज्ञ-विज्ञान का निरूपण है।

सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि किसी समय में इस प्रकार के अनेकों ग्रन्थ वर्तमान रहे होंगे—उनसे कहीं अधिक, जो हमें आज उपलब्ध हैं। भारतीय ख्याति तो ऐसी है ही, इसके अतिरिक्त उपलब्ध ब्राह्मणों के पाठों में ही अनेकों लुप्त ब्राह्मणों के उद्धरण मिलते हैं, और जो ब्राह्मण आज उपलब्ध हैं, स्वयं उनकी भी संख्या कुछ कम नहीं है। चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण हैं, जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ विविध चरणों में हुई थी।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कृष्ण यजुर्वेद की तो संहिता ही में मंत्रों के अतिरिक्त यज्ञों के अर्थ और प्रयोजन पर प्रकाशित मतों और व्याख्यानों का समावेश है। यजुर्वेद की संहिताओं के इन ब्राह्मण-सदृश भागों में ब्राह्मण-साहित्य का आरम्भ दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण यजुर्वेद के ये ही स्थल, जिनमें यज्ञक्रियाओं पर विधान अथवा उनके संबंध के मन्तव्य प्रकट किए हैं और जिनका संपर्क सीधा मंत्रों से है, वे प्रारंभिक ब्राह्मण-भाग हैं, जिनका प्रणयन ग्रन्थ-रूप में पश्चात्काल में विविध शाखाओं में सम्पन्न हुआ। यही कारण है कि एक तो इन ब्राह्मण-ग्रन्थों की संख्या भी प्रचुर मात्रा में बढ़ी और इसके अलावा ब्राह्मणों के अन्तर्गत गिने जानेवाले उन ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ, जो न तो अपने विषय और न अपने विस्तार के कारण ही 'ब्राह्मण' कहला सकते हैं। निःसन्देह ये ग्रंथ वैदिक साहित्य की अंतिम कड़ी हैं। इस वर्ग के अनेक ब्राह्मण सामवेद से संबद्ध हैं, जो वेदांगों के सिवा और कुछ नहीं हैं। अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण इसी प्रकार का एक प्रयास है। गोपथ ब्राह्मण सारे वैदिक साहित्य के अंतिम ग्रंथों में से एक है। वास्तव में प्रारम्भ में अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण न था। बाद में जब किसी वेद की स्थिति ब्राह्मण के बिना असाधारण समझी गई, तब गोपथ-जैसे प्रयास प्रस्तुत किए गए।

मुख्य-मुख्य 'ब्राह्मण'

ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण है। इसमें चालीस अध्याय हैं, जो आठ 'पञ्चकों' में विभक्त हैं। अनुवृत्त के अनुसार इसके ग्रन्थकार महिदास ऐतरेय हैं। वास्तव में वह इसके संकलनकर्त्ता अथवा संपादक मात्र थे। इस ब्राह्मण में मुख्यतः सोमयज्ञ का सविस्तर वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र और राजसूय का भी वर्णन है। इसके अन्तिम दस अध्याय कुछ लोगों के मत में बाद के हैं। इस ब्राह्मण से कौशीतकि या सांखायण ब्राह्मण का घना संबंध है। यह भी ऋग्वेद का ही ब्राह्मण है और इसमें तीस अध्याय हैं। इसके पहले ६ अध्यायों में अन्न-यज्ञ का वर्णन है और ७ से ३० तक में ऐतरेय ब्राह्मण से मिलता-जुलता सोम-यज्ञ का विवेचन है। यह ब्राह्मण ऐतरेय से बाद का है और एक ही व्यक्ति का प्रणयन है।

ताण्डच-महाब्राह्मण सामवेद का है। इसके पचीस भाग होने के कारण इसे पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहते हैं। यह प्राचीनतम ब्राह्मणों में से एक है और इसमें कुछ अत्यन्त प्राचीन कथानकों का वर्णन है। इसके विशिष्ट भाग का 'शुद्धि' से संपर्क है, जिसमें 'व्रात्यस्तोम' और उन यज्ञ-क्रियाओं का विवरण है, जिनके अनुसार 'व्रात्यों' को शुद्ध करके आर्यों अथवा ब्राह्मणों में मिला लेते थे। षड्विंश (अथवा छब्बीसवाँ) ब्राह्मण पचीस भागोंवाले पंचविंश अथवा ताण्डच का ही विस्तार है। षड्विंश का अंतिम भाग 'अद्भुत ब्राह्मण' कहलाता है, जो इन्द्रजाल पर एक वेदांग है। सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण ताण्ड्य-महाब्राह्मण से भी प्राचीन है। अनुश्रुति और धर्म दोनों के इतिहास के लिए यह ब्राह्मण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु यह अधिकतर असंबद्ध और अपूर्ण भागों में ही प्राप्य है।

कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण वास्तव में तैत्तिरीय संहिता का ही एक उत्तर विस्तार है, क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में आरंभ से ही ब्राह्मणों का समावेश हो गया है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण उस नाम की संहिता का अन्तिम भाग है। इस ब्राह्मण में पुरुषमेध का वर्णन है और चूंकि संहिता में पुरुषमेध का उल्लेख नहीं है, अतः यह सिद्ध है कि यह ब्राह्मण काफी बाद का है।

शतपथ ब्राह्मण शुल्क यजुर्वेद का है। इसमें सौ अध्याय हैं। यह ब्राह्मण सब ब्राह्मणों में बड़ा, विख्यात और अपने विषय के अनुसार प्रमुख माना गया है। वाजसनेयि संहिता की भाँति शतपथ की भी 'काण्व' और 'माध्यन्दिन' नामक दो शाखाएँ हैं। माध्यन्दिन शाखा में इसके सौ अध्याय १४ काण्डों में विभक्त हैं। इस ब्राह्मण के पहले नौ काण्ड वाजसनेयि संहिता के पहले अठारह भागों पर क्रमिक भाष्य हैं। ये शेष पाँच काण्डों निःसंदेह प्राचीन हैं। फिर इनमें भी सम्भवतः एक से पाँच तक के काण्ड परस्पर सन्निकट हैं। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य (जो चौदहवें काण्ड के अंत में शतपथ ब्राह्मण के रचयिता कहे गए हैं) का उल्लेख प्रायः ऐसे आचार्य के रूप में है, जिनका मत संदिग्ध और विवादास्पद विषयों पर सर्वथा मान्य है। अग्निचयन का वर्णन करनेवाले छठे से नवें तक के किसी भी काण्ड में याज्ञवल्क्य का नाम नहीं आया है। उनके स्थान पर शाण्डिल्य नामक एक दूसरे आचार्य का प्रमाण के रूप में उल्लेख हुआ है। यही शाण्डिल्य दसवें काण्ड के अग्निरहस्य के प्रवक्ता कहे गए हैं। ग्यारहवें से चौदहवें काण्ड में उपनयन, स्वाध्याय मृत्यु-संबंधी क्रियाओं आदि विषयों के संबंध में विवेचन किया गया है, जो साधारणतया ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय नहीं समझे जाते। अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध का वर्णन तेरहवें काण्ड में और प्रवर्ग्य-क्रिया का चौदहवें में है। इसी ब्राह्मण के अंत में बृहदारण्यक नाम का प्राचीन और प्रमुख उपनिषद् जुड़ा हुआ है।

भिन्न-भिन्न वेदों के ब्राह्मणों में परस्पर एक विशिष्ट अन्तर है। ऋग्वेद के 'ब्राह्मण' क्रियाओं के संबंध में उन विषयों पर जोर देते हैं, जो 'होता' से संपर्क रखते हैं। ये होता ऋग्वेद के मंत्रों और सूक्तों का गान करते हैं। इसी प्रकार सामवेद के ब्राह्मण मुख्यतः उद्गाता और यजुर्वेद के अध्वर्यु के कार्यों का विवेचन करते हैं। वैसे विषय-तत्त्व में ब्राह्मण प्रायः अभिन्न हैं।

'ब्राह्मणों' का काल-निर्णय

इन ब्राह्मणों के प्रणयन में कई शताब्दियों का समय लगा है। सामवेद के 'वंश ब्राह्मण' में दिए वंशवृक्षों में पचास-साठ गुरुओं के नाम आते हैं। इनका काल-प्रसार एक सहस्र वर्षों से कम किसी प्रकार न रहा होगा। कुछ लोगों ने इन तालिकाओं के ऐतिह्य पर संदेह किया है, जो बेबुनियाद है। पहले तो इन में से अनेकों ऐसे नाम हैं, जो अन्य वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। दूसरे इन गुरुओं में से बहुतेरों का संबंध पुराणों में दी हुई वंश-तालिकाओं के राजाओं से है, जिनके वे या तो पुरोहित या आचार्य हैं। इनका परस्पर मिलान करने से यह सिद्ध कर देना आसान हो जाता है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। तीसरे, इन तालिकाओं को सुरक्षित रखने में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि जो गुरु-भाई हैं, वे ऊपर-नीचे न होने पाएँ और कोष्ठबद्ध हो जाएँ। फिर वेदों की भाँति ही ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषदों के पाठों को भी साधारण धार्मिक श्रद्धा से सुरक्षित रखा गया है। इस कारण उनमें किसी प्रकार की संकरता की संभावना नहीं है।

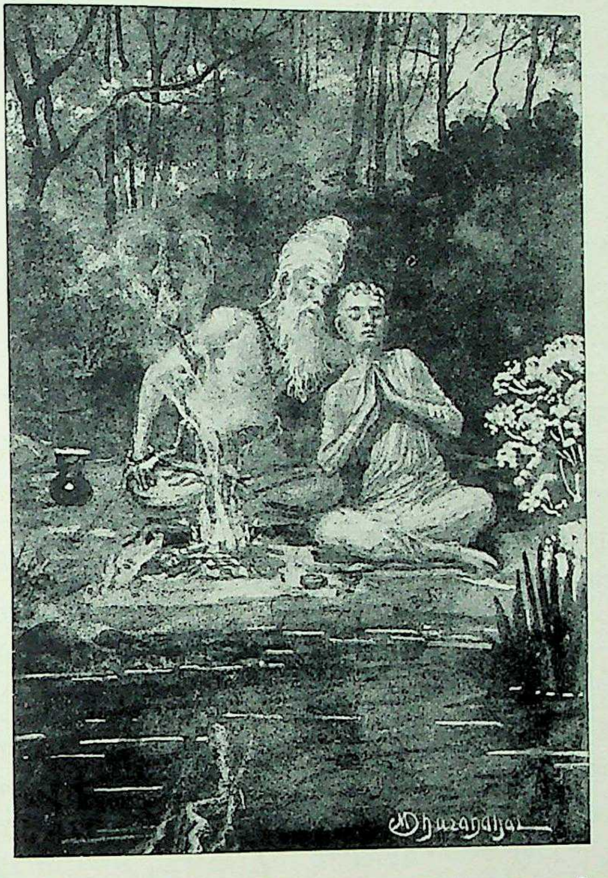

वैदिक वाङ्मय की अमूल्य निधि को लुप्त होने से बचाए रखने में विविध शाखाओं या चरणों की शृंखलाबद्ध गुरु-शिष्य-परंपरा का प्रमुख हाथ रहा है। अपने अरण्यस्थित विद्याकेन्द्रों के एकान्त में सुयोग्य आचार्य प्रायः इसी प्रकार सुपात्र शिष्यों को पुरातन विद्या का गुह्य मंत्र देकर एक से दूसरी पीढ़ी के हाथों इस महादेश की ज्ञान-मंजूषा को आगे बढ़ाते रहे हैं।

इस बात को भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यज्ञ-क्रिया की उन वैज्ञानिक विधियों के विकास में प्रचुर समय लगा होगा। यदि बौद्ध-साहित्य ब्राह्मणों को प्राचीन मानता है और स्वयं बुद्ध इनकी स्थिति अपने से पूर्व मानते हैं, जिनका काल ई० पू० छठी शताब्दी है, तो फिर ब्राह्मणों का संकलन उस समय तक पूरा हो चुका होगा। यदि महाभारत का समय हम १४०० ई० पू० के लगभग मानें, तो ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम मानव गुरु तुरु-कावषेय, जो जनमेजय का पुरोहित था, उस तिथि के लगभग जा पहुँचेगा। इस प्रकार १४०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक आठ शताब्दियों के बीच ब्राह्मण-साहित्य का विकास मानना कुछ अयुक्तियुक्त न गिना जाएगा।

वैसे इन ब्राह्मणों का समय स्थिर करना भी उनता ही कठिन है, जितना संहिताओं का। इस संबंध में एक बात निःसंदेह स्थिर हो जाती है। वह यह है कि जब इन ब्राह्मण-ग्रंथों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, उससे बहुत पूर्व ही ऋग्वेद का साहित्य समाप्त और संकलित हो चुका था और अति प्राचीन समझा जाने लगा था। केवल ऋग्वेद ही नहीं प्रत्युत अथर्ववेद के भेदभरे भाग, यजुर्वेद के याग-होम और सामवेद के गेय मंत्र सभी इन ब्राह्मणों से काफी पूर्वकाल में निर्मित हो चुके थे। विन्टरनित्स का कहना है कि यह भी संभव है कि अथर्ववेद की संहिताओं का संपादन और प्रारम्भिक ब्राह्मण-साहित्य का निर्माण प्रायः समकालीन रहा हो। इस प्रकार का अनुमान सर्वथा वैज्ञानिक नहीं होगा, क्योंकि इससे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुवृत को क्षति पहुँचेगी। अनुश्रुति है कि व्यास

ने अपने शिष्यों की सहायता से ऋग्वेदादि संहिताओं का संपादन किया, जो महाभारत-काल में हुआ। तब कदाचित् ब्राह्मण-काल की क्रियात्मिका प्रणाली का जन्म तो अवश्य हो चुका होगा, क्योंकि ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम आचार्य और जनमेजय का पुरोहित तुरु-कावषेय महाभारत-काल के निचले सिरे को छूता है। फिर भी ब्राह्मणों के ग्रंथन और इनके क्रियात्मक काल में काफी अंतर रहा होगा। इस बात को न भूलना चाहिए कि इन तालिकाओंवाले ब्राह्मणों का निर्माण तभी हुआ होगा, जब उन तालिकाओं की सब से निचली कड़ी के नाम का आचार्य भी भौतिक दृष्टि से रह चुका होगा। वैसे इसमें संदेह नहीं कि कुछ ब्राह्मणों के कतिपय अंश अत्यन्त प्राचीन होंगे--शायद इतने प्राचीन, जितनी स्वयं संहिताएँ हैं। क्योंकि जब से ऋचाओं का निर्माण हुआ होगा और जब से उनके क्रियात्मक और यज्ञात्मक रूप खड़े हुए होंगे, तब से ही उनमें अनुष्ठान-वैचित्र्य और मत-भिन्नताएँ भी उठ खड़ी हुई होंगी। इस रूप में जहाँ तक ब्राह्मणों में वेद अथवा यज्ञात्मिकाव्याख्या की बात है, उनका कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हो सकता है--शायद तुरु-कावषेय आदि से भी प्राचीन। प्रस्तुत ब्राह्मणों में उन प्राचीन ब्राह्मणों का उल्लेख भी है, जो इनके निर्माण के समय भी उपलब्ध नहीं थे और कभी के खो चुके थे।

ब्राह्मण-काल की परिस्थिति

ऋग्वेद का सप्तसिंधु प्रदेश ब्राह्मण-काल में काफी विस्तृत हो चुका था। उस काल के कार्यों की क्रियात्मिकता का क्षेत्र अब कुरु-पञ्चाल जनपद हो चुका था। अब 'कुरुक्षेत्र' यज्ञों का धर्म-क्षेत्र हो चुका था। इस कुरुक्षेत्र का विस्तार गंगा और यमुना के पश्चिम में सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच था। पड़ोस में ही गंगा और यमुना के बीच पंचालों का देश था। दिल्ली से मथुरा तक का यह देश बहुत बाद तक 'ब्रह्मावर्त्त' कहलाता रहा। इसी जनपद में उस संस्कृत का प्रादुर्भाव और विकास हुआ, जिसे ब्राह्मण-संस्कृत कहते हैं और आर्य अथवा हिन्दू संस्कृति जिसकी पर्यायवाची है। इस समय तक ऋग्वेद-काल की धार्मिक स्थिति में बहुत अन्तर पड़ गया था। देवता वही थे, जो ऋग्वेद के थे, परन्तु अब वे अपने पैरों नहीं खड़े होते, वे यज्ञों से अपनी शक्ति प्राप्त करते थे। कुछ देवता, जो ऋग्वैदिक काल में गौण थे, अब विशिष्ट हो जाते हैं। विष्णु और रुद्र अथवा शिव ऐसे ही देव हैं। इस काल में विशेष महत्व प्रजापति को मिलता है, जो देव और असुर दोनों का जनक समझा जाता है। ब्राह्मणों में देवासुर-संग्राम के अनेक निर्देश मिलते हैं। ऋग्वेद में असुर लगभग देवता-सा है, परन्तु ब्राह्मणों में वह केवल दैत्य है। अब यज्ञ किसी लक्ष्यार्थ नहीं किए जाते, वरन् वे स्वयं एक आवश्यक कार्य बन गए हैं--वे स्वयं लक्ष्य हो जाते हैं। पूर्वकाल में देवता मुख्य थे। यज्ञ उनके प्रसाद के लिए किए जाते थे। अब दोनों एक हो गए। अब यज्ञ ही प्रधान लक्ष्य बन गया, वही प्रजापति माना जाने लगा।

आरण्यक और उपनिषद्

साधारणतया यह धारणा की जाती है कि ब्राह्मण-काल में केवल यज्ञप्रसंगजनित शुष्क ब्राह्मण-साहित्य की ही रचना हुई परन्तु यह धारणा गलत है। आर्यों का-सा उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञ-संबंधी बाल की खाल निकालने में ही नहीं लगा रह सकता था। सच तो यह है कि स्वयं ब्राह्मण-ग्रंथों में ही, जैसा कि सायण ने कहा है, कल्प के अतिरिक्त इतिहास-पुराण, गाथा और नाराशंसी साहित्य का उदय हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण-काल में ही वीर-काव्य का आरम्भ होते हम पाते हैं। यह बात भी कुछ बेतुकी है कि उस समय की समृद्ध आर्य जनता सरल गीत न गाती रही होगी अथवा सुन्दर कथाओं पर वह कान ही न देती रही होगी। उन दिनों जो कुछ गाया जाता था, उसका कुछ आभास तो हमें वैदिक पाठों की शुनःक्षेप वाली आख्यायिका में ही मिल जाता है, वास्तव में उसका बड़ा भाग पुराणों और काव्यबद्ध इतिहासों में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के भाषा-साहित्य से ही स्पष्ट है कि उनसे पूर्व ही व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष आदि का रूप (जिनका विवाद और स्वतंत्र वर्णन बाद के वेदांगों का विषय है) खड़ा हो चुका था। साथ ही दार्शनिक विचार भी ब्राह्मणों से सर्वथा बाद में नहीं उठे। वास्तव में वे उनसे पूर्व ही जनमे। स्वयं ऋग्वेद के मंत्रों में इस प्रकार का विचार है और देवताओं के संबंध में प्रश्नात्मक धारणाएँ उठ खड़ी होती हैं। ऋग्वेद के वे सन्देहशील जिज्ञासु ही भारत के प्रथम दार्शनिक थे। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि इन दार्शनिकों ने अपने विचारों का प्रचार किया और अपने चरण स्थापित किए। यद्यपि यजुर्वेद की संहिताओं में उनकी मखौल उड़ाई गई है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इस मखौल में एक दबे भय का संचार रहा होगा।

इतना अवश्य है कि ये दार्शनिक हमें यज्ञपुरोहितों में नहीं मिलेंगे। यह संभव नहीं हो सकता था कि इन्द्र के प्रति यज्ञ करानेवाले होता अथवा अध्वर्यु को इन्द्र के देवत्व में

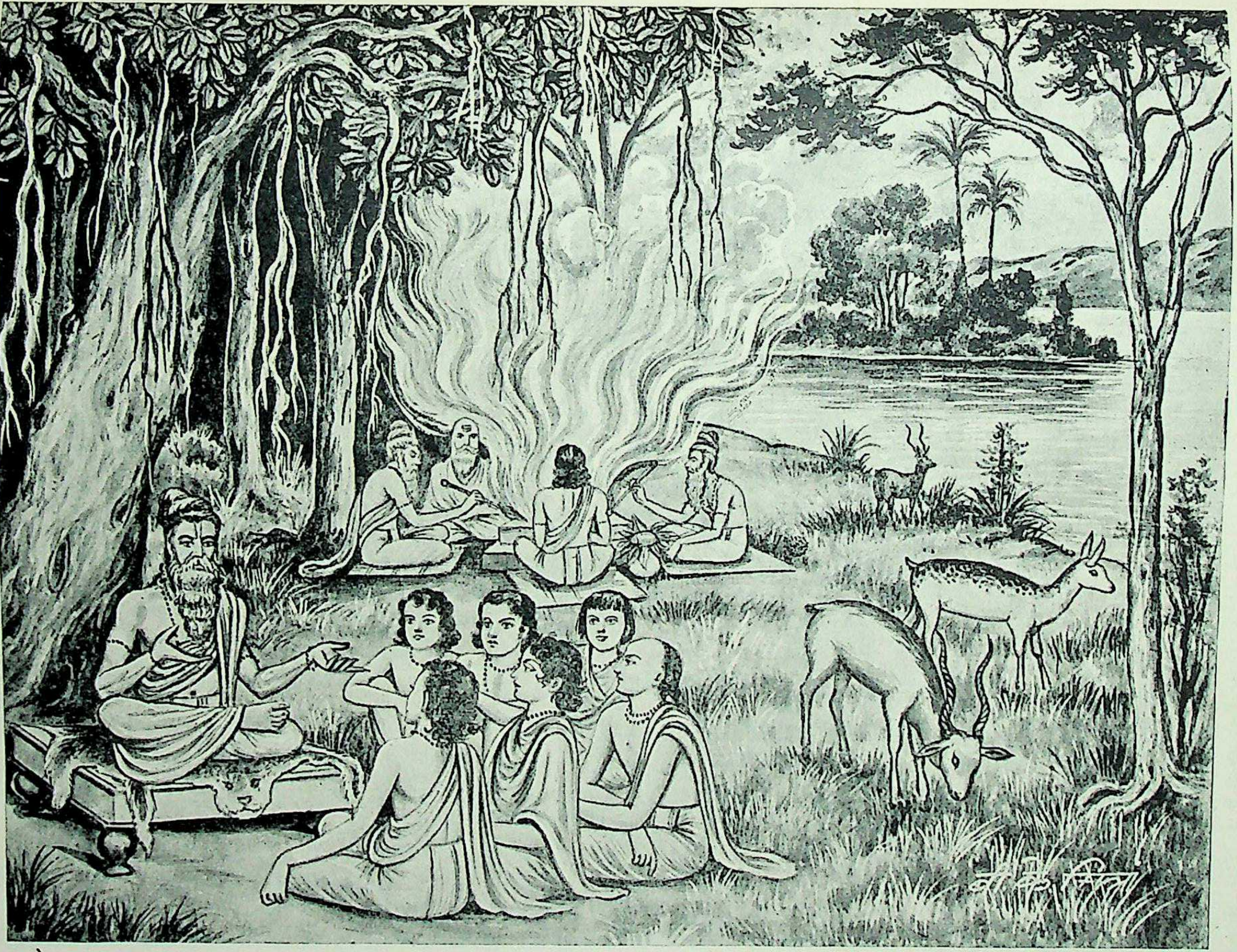

ब्राह्मण-उपनिषद्-काल में हमारे पूर्वजों के वन्य आश्रम-जीवन की झाँकी कदाचित् ऐसी ही कुछ रही होगी ! नगरों के कोलाहल से दूर, वनों के प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त शान्त वातावरण में स्थित ये आश्रम उस युग के महान् धर्म-केन्द्र ही नहीं थे, प्रत्युत आदर्श विद्या-केन्द्र भी थे। वहाँ केवल यज्ञों के अनुष्ठान ही पूरित नहीं होते थे, प्रत्युत् ज्ञान-मंथन एवं विद्यादान द्वारा उगती हुई पीढ़ियों को तैयार करने का महत्वपूर्ण कार्य भी सम्पन्न होता था। ऐसे ही तपोपुंज अरण्यवासियों के मुख से उपनिषदों की अमृतवाणी गूँजी थी।

सन्देह होता हो । वे इन्द्र अथवा अन्य देवताओं के प्रति किए यज्ञों को निरर्थक कदापि भी नहीं घोषित कर सकते थे । इसके अतिरिक्त यज्ञ ही उनकी जीविका के भी साधन थे । अधिक सम्भव तो यह है कि ये सन्देहात्मक विचार उन धनी वर्गों के दिमाग में उठे हों, जो यज्ञों से कुछ उदासीन और प्रमादी रहे हों—जिन्हें यज्ञों का विपुल व्यय अपव्यय-सा लगता रहा हो और पुरोहितों की बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ देना जिन्हें अखरता हो !

उपनिषदों और स्वयं ब्राह्मणों ही के कतिपय उदाहरणों से सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त राजन्य वर्ग का भी प्राचीन काल के मेधावी जीवन से घना संबंध था। कौशीतकि ब्राह्मण में राजा प्रतर्दन यज्ञ-विज्ञान पर पुरोहितों से विचार-विनिमय करता है । इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में विदेह जनक अनेकों बार अपने ज्ञान से पुरोहितों को चकित और निरुत्तर कर देता है । जब वह अग्निहोत्र के संबंध में श्वेतकेतु, सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है, तो ये तरुण स्नातक उत्तर नहीं दे सकते । उसके चले जाने पर स्नातक एक दूसरे से कहते हैं कि "आश्चर्य है कि राजन्य ने हमें निरुत्तर कर दिया, अब हमें उसे ब्रह्मोदय (शास्त्रार्थ) के लिए ललकारना चाहिए ।" युवक याज्ञवल्क्य इस विचार से सहमत न होकर जनक के पास जाता है और उससे उसका ज्ञान सीखता है । यजमान अयस्थण भी इसी प्रकार अपने पुरोहित शौल्वायन को पढ़ाता है । उपनिषदों में तो राजाओं और राजन्यों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी दार्शनिक व्याख्यानों में भाग लेती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में वचक्नु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से वादविवाद करती है । जनक के यज्ञ में वह याज्ञवल्क्य से कहती है कि "जिस प्रकार धनुर्धर दो अचूक बाणों को धनुष पर रखता है, मैं भी तुम्हारे विरोध में खड़ी होकर दो प्रश्न करती हूँ, उनका उत्तर दो ।" उसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को आत्मविद्या का रहस्य समझाते हैं । उपनिषदों में बार-बार वे स्थल आते हैं, जहाँ राजन्य (क्षत्रिय) ब्राह्मणों तक को दीक्षित करते और ज्ञान देते हैं । यह विदेह जनक, प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय का युग है । जनक याज्ञवल्क्य को उपदेश करता है, प्रवाहण जैवलि पञ्चाल परिषद् में दहाड़ता है और अश्वपति कैकेय याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु को शिष्य-रूप में अपनी ज्ञानाग्नि से विदग्ध करने को 'समितपाणि' होने का आदेश करता है । उपनिषद्-ज्ञान के दो मुख्य स्कन्ध 'आवागमन या पुनर्जन्म' और 'आत्मा' के सिद्धान्तों का निरूपण क्रमशः प्रवाहण और अश्वपति कैकेय नामक राजन्य करते हैं । जिस समय ब्राह्मणवर्ग यज्ञों में दत्तचित्त था, तभी राजन्यों और अन्य वर्गों के अनेकों समुदाय यज्ञ से इतर ज्ञान—परा-विद्या—की खोज में विचार कर रहे थे ।

परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन दार्शनिक विचारों से ब्राह्मण सर्वथा दूर थे । यह संभव भी नहीं हो सकता था, क्योंकि इन ब्राह्मणों के ही गुरुकुलों में क्षत्रियों की सारी प्रारम्भिक शिक्षा होती थी ।

'आरण्यक' और 'उपनिषद्'

'ब्राह्मणों' में ही अथवा उनके परिशिष्ट के रूप में हमें वैदिक साहित्य के वे भाग मिलते हैं, जिन्हें 'आरण्यक' कहते हैं । इनके पाठ रहस्यमय होते थे, जो साधारणतया हर किसी को नहीं दिए जा सकते थे । उस भेदभरे साहित्य में विशिष्ट शिष्य ही दीक्षित हो सकते थे और इसी कारण उनका दान अरण्य अर्थात् वन की निर्जनता में ही संभव था । इनमें यज्ञों की क्रिया अथवा उनके अनुष्ठान की रीति नहीं दी गई है, प्रत्युत उनका विषय यज्ञों का रहस्यवाद और पौरोहितिक आन्वीक्षिकी है । वन्य आश्रमों के स्थापित हो जाने के बाद इन 'आरण्यकों' का अनुशीलन वनवासी ऋषियों का कर्त्तव्य हो गया । प्राचीनतम उपनिषद् इन आरण्यकों के साथ इतने घनिष्ट रूप से जुड़े हुए हैं कि उन्हें उनसे पृथक् करना कठिन है । उपनिषद् ही वेदान्त हैं, क्योंकि वे अपेक्षाकृत बाद में बने। वेद के अध्ययन के अन्त में ही उन दार्शनिक पेचीदगियों पर गवेषणा होती थी, जो उपनिषदों के विषय हैं और जिनमें बाद के दार्शनिकों ने वेदों का रहस्य पाया ।

विविध वैदिक शाखाओं के विविध आरण्यक और उपनिषद् हैं । अधिकतर तो वे ब्राह्मणों के ही भाग हैं। उदाहरणार्थ ऐतरेय आरण्यक, जिसमें ऐतरेय उपनिषद् भी शामिल है, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के साथ जुड़ा हुआ है । इसी तरह हम देखते हैं कि कौशीतकि और महानारायण उपनिषद् एवं उसी नाम के आरण्यक ऋग्वेद के कौशीतकि ब्राह्मण के ही भाग हैं । कृष्ण यजुर्वेद में तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही भाग है, जिसका अंतिम भाग तैत्तिरीय उपनिषद् है । शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड के प्रथम तीन भाग एक आरण्यक हैं और इसी काण्ड का अन्तिम भाग सब से महान् और प्रमुख उपनिषद् बृहदारण्यक है । छान्दोग्य उपनिषद्, जिसका प्रारंभिक भाग एक आरण्यक है, स्वयं सामवेद के एक ब्राह्मण (सम्भवतः ताण्ड्य महाब्राह्मण) का अंश है । जैमिनीय उपनिषद्

सामवेद की जैमिनीय अथवा तलवकार शाखा का एक आरण्यक है। केन उपनिषद्, जिसे तलवकार उपनिषद् भी कहते हैं, इसी का एक भाग है।

चौदह प्रमुख उपनिषद्

तैत्तिरीय आरण्यक में बाद में जोड़े जानेवाले महानारायण उपनिषद् को छोड़कर ऊपर उल्लिखित सभी उपनिषद् प्राचीनतम हैं। भाषा और शैली में वे ब्राह्मणों के-से ही हैं, जिनके वे भाग हैं। उन्हीं की भाँति इनकी भी वही प्राचीन गद्यात्मिका शैली है। केवल केन उपनिषद् आधा पद्यात्मिक है। यह उपनिषद् ऊपर गिनाए गए उपनिषदों में से अंतिम है। प्रमुख उपनिषदों के स्वतंत्र भाग भी ब्राह्मणों और आरण्यकों से बहुत बाद के नहीं हैं। उनकी रचना कम-से-कम बुद्ध और पाणिनि से पूर्व अवश्य हो चुकी थी। इस प्रकार ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौशीतकि और केन उपनिषद् साहित्य के प्राचीनतम स्तर प्रस्तुत करते हैं। उनमें वेदांत सिद्धांत अपने मौलिक रूप में विद्यमान हैं। कुछ उपनिषद्, जो थोड़े बाद के हैं, संभवतः प्राक्-बौद्ध हैं। ये आरण्यकों के भाग नहीं हैं, तथापि इनका संबंध भी किसी-न-किसी वैदिक शाखा से है। कठ या काठक उपनिषद् का संपर्क कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा से है, जिससे शायद उस महानारायण उपनिषद् का भी सम्बन्ध है, जो तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट-सा है। वाजसनेयि संहिता का अन्तिम भाग अमूल्य 'ईश' उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का है। मुण्डक और प्रश्न उपनिषद् अथर्ववेद के हैं। इनका विषय भी वेदान्त ही है। इनमें सांख्य और योग सिद्धान्तों का भी रूप खड़ा हो गया है। कृष्ण यजुर्वेद का मैत्रायणीय उपनिषद् बुद्धोत्तर काल का है, परन्तु प्राचीन उपनिषदों की भाँति यह गद्य में लिखा गया है। भाषा, शैली और विषय के आधार पर हम इसे संस्कृत के काव्य-साहित्य के सन्निकट पाते हैं। इसी काल का अथर्ववेद का माण्डूक्य उपनिषद् भी है। परन्तु शंकर ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में जिन प्रामाणिक बारह उपनिषदों का उल्लेख किया है, उनमें न तो मैत्रयाणीय है और न माण्डूक्य। फिर भी इन दोनों की गणना उन बारह के साथ होनी चाहिए। ये चौदह उपनिषद् प्राचीनतम भारतीय दर्शन के आधार हैं।

विषयानुसार उपनिषदों का वर्गीकरण

बाद के लगभग २०० उपनिषदों का संबंध वेदों से बताया जाता है, परन्तु इनमें से केवल कुछ ही वास्तव में उनसे संपर्क रखते हैं। इनमें से अधिकतर दार्शनिक न होकर केवल धार्मिक अथवा उपासनापरक हैं, जो बहुत बाद के धार्मिक संप्रदायों के हैं। अधिकतर का संबंध पुराणों और तंत्रों से है। विषय के अनुसार इनके निम्नलिखित विभाग किए जा सकते हैं—(१) वेदान्त-सिद्धांतीय, (२) योग-संबंधी, (३) संन्यासपरक, (४) विष्णुप्रशंसक, (५) शिव-प्रशंसक, और (६) शाक्त अथवा अन्य संप्रदायों के उपनिषद्। इनके कुछ भाग तो गद्य में हैं, कुछ गद्य-पद्य में और कुछ वीर-काव्य सदृश्य श्लोकों में। इनमें से कुछ, जो अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, नीचे दिए जाते हैं:—(१) जाबाल उपनिषद् (इसका शंकराचार्य ने अपने प्रमाणों में उल्लेख किया है); (२) परमहंस उपनिषद् (इनमें परमहंसों का वर्णन है); (३) बृहदाकार सुबाल उपनिषद् (इसका रामानुजाचार्य ने अनेकों बार उल्लेख किया है; इसमें सर्ग, मनोविज्ञान, आन्वीक्षिकी आदि का समावेश है); (४) गर्भ उपनिषद् (इसमें पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना है); (५) शैवों का अथर्वशिरस उपनिषद् (इसका उल्लेख धर्मसूत्रों में मिलता है); (६) ब्रह्मसूचिका उपनिषद् (इसमें एकेश्वरवाद का उपदेश है)।

बहुत बाद के मुक्तिका उपनिषद् में १०८ उपनिषदों की सूची दी हुई है; जिनका संबन्ध वेदों से बताया गया है। इसके अनुसार ऋग्वेद के १० उपनिषद् हैं, शुक्ल यजुर्वेद के १९, कृष्ण यजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ और अथर्ववेद के ३१। परन्तु इस गणना का कोई प्राचीन आधार नहीं है।

औपनिषदिक चिन्तन की ऊँचाई

'उपनिषद्' शब्द उप-नि-सद् से बना है, जिसका अर्थ है 'किसी के समीप बैठना।' इसका भाव प्राचीन काल में रहस्य-सिद्धान्तों की दीक्षा के लिए शिष्य का गुरु के समीप बैठना था। स्वयं उपनिषदों में प्रायः 'इति रहस्यम्' का पाठ मिलता है। उपनिषदों के विषय 'ब्रह्म', 'आत्मा' और 'ब्रह्माण्ड' हैं। 'जीव' और 'प्रकृति' का भी उनमें समावेश है। इनमें आत्मा का जन्मान्तर रहस्य भी प्रतिपादित किया गया है। एक ब्रह्म और आत्मा का अमरता का सन्देश विशेष रूप में उपनिषदों का ही है। भारतीय दर्शन का प्राचीनतम रूप इनमें सुरक्षित है। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार तो उपनिषदों पर लट्टू था। वह कहा करता था कि "संसार में सब से अधिक संतोषप्रद और सर्वोच्च ज्ञान इन उपनिषदों का है! ये उपनिषद् मेरे जीवन के ढाढ़स रहे हैं, अब वे मेरी मृत्यु के आश्वासन होंगे!"

संस्कृत-वाङ्मय—(५)

वेदांग और सूत्र-साहित्य

संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के बाद संस्कृत-वाङ्मय के इतिहासक्रम में विविध विद्याओं से संवंधित उस विस्तृत साहित्य का स्थान आता है, जिसे वेदांग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस साहित्य की एक विचित्रता यह है कि यह अधिकांशतः सूत्र-शैली में ग्रंथबद्ध है, अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकेत-वाक्यों में उनकी रचना की गई है। आइए, इसका परिचय प्राप्त कीजिए।

मुण्डक उपनिषद् के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है—एक परा विद्या, दूसरी अपरा विद्या। परा वह उत्तम विद्या है, जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है और अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, समावेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का समावेश है।

वेदांग

उपर्युक्त तालिका में शिक्षा से ज्योतिष तक की विद्याएँ वेदांगों के अन्तर्गत आती हैं। साहित्य में वेदांगों का यह प्राचीनतम उल्लेख है। 'वेदांग' का अर्थ है 'वेदों के अंग', जो छः हैं। प्राचीन काल में इनसे पुस्तकों का नहीं, वरन् उन नामधेय विद्याओं का निर्देश होता था, जिनसे वेदार्थ समझने में सहायता मिलती थी। इस प्रकार इनका आरंभ ब्राह्मण और आरण्यकों में ही हो गया था, जिनमें इन पर विचार किया गया है। धीरे-धीरे इन विषयों में से प्रत्येक की पृथक्-पृथक् निर्देश-पुस्तकें प्रस्तुत हो गईं।

सूत्र-साहित्य

'सूत्र' का अर्थ है सूत—एक संक्षिप्त परिभाषा अथवा संकेत। अनेक सूत्रों के समाहार को भी सूत्र ही कहते हैं। इनका प्रयोग वैज्ञानिक था। उन दिनों लोग विचार्य विषयों को रट लेते थे। इस रटने के कार्य में सूत्र बड़े सहायक होते थे। संसार के साहित्य में यह भारतीय सूत्र-शैली अनूठी है। पतञ्जलि ने इनके संबंध में लिखा है कि सूत्रकार को एक मात्रा बचा लेने से पुत्रोत्पत्ति का सुख होता है। कालान्तर में गुरुओं द्वारा प्रस्तुत की गई इन सूत्रों की व्याख्या भी लिख डाली गई और अब तो सारे सूत्र-ग्रन्थों पर बड़े-बड़े भाष्य हैं, जिनकी सहायता के बिना वे समझे ही नहीं जा सकते। इस सूत्र-शैली का जन्म ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्यवहृत गद्य से हुआ था। ब्राह्मणों का यह गद्य अत्यन्त छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा निर्मित हुआ है।

कल्प, गृह्य, श्रौत और धर्म सूत्र

प्राचीनतम सूत्र-ग्रन्थ वे हैं, जो अपने प्रतिपाद्य विषय में ब्राह्मणों और आरण्यकों से संबद्ध हैं। ऐतरेय आरण्यक के अनेक स्थल सूत्रों में लिखे हुए हैं और इनके रचयिता अनुश्रुति के अनुसार आश्वलायन और शौनक के-से सूत्रकार हैं। सामवेद के भी कुछ 'ब्राह्मण' वास्तव में सूत्र ही हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय है कल्प (क्रियादि), जो प्रथम वेदांग है और जिसे 'कल्पसूत्र' कहते हैं। कल्पसूत्रों का निर्माण यज्ञ-क्रियाओं और उनके नियमादि की जानकारी के लिए ऋत्विक् पुरोहितों के हेतु हुआ। ब्राह्मणों में बताए गए वे कल्पसूत्र, जो श्रौत यज्ञों से संबंध रखते हैं, 'श्रौतसूत्र' कहलाते हैं। अन्य जो सूत्र गृह-संबंधी नित्य-प्रति के यज्ञ-होमादि का विधान करते हैं, वे 'गृह्यसूत्र' हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

श्रौतसूत्र धर्म के इतिहास और यज्ञादि के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें तीन प्रकार की यज्ञाग्नि, अग्निहोत्र, प्रतिपदा और पूर्णचन्द्र के यज्ञ और विशेषकर सोमयज्ञ के नियम लिखे हैं। गृह्यसूत्रों के विषय और भी विविध हैं। इनमें मनुष्य के गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त के (श्राद्ध आदि) संस्कारों का विधान है। रीति और आचार का वर्णन ही इनका प्रधान विषय है। इनमें गर्भाधान, शिशु-जन्म, जननी और शिशु, नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, उपनयन, ब्रह्मचारी, आचार्य आदि के संबंध में तत्कालीन रीति और आचार का उल्लेख है। विवाह के संबंध में भी विस्तृत रूप से इनमें सारे नियमों का संकलन है।

इन सूत्रों का एक तीसरा वर्ग, जो गृह्यसूत्रों से सम्बद्ध है और जो उन्हीं का एक सिलसिला-सा है, धर्मसूत्रों का है। इनमें धर्म, वर्ष और गृहस्थादि आश्रमों के संबंध में नियम प्रस्तुत हैं। इनका वर्णन हम आगे चलकर व्यवहार-साहित्य के साथ करेंगे। श्रौतसूत्रों से सम्बद्ध 'शुल्वसूत्रों' का उल्लेख कल्पसूत्रों के साथ ही होना चाहिए। इनमें अग्निवेदी और यज्ञ-स्थल के ठीक-ठीक मान का वर्णन है। भारतीय ज्यामिति पर प्राचीन ग्रन्थ होने के नाते शुल्वसूत्र गणित के इतिहास की प्राचीन सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

केवल कृष्ण यजुर्वेदीय बौधायन और आपस्तम्ब शाखाओं में ही कल्पसूत्र चारों प्रकार के श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्वसूत्रों से संयुक्त हैं। संभवतः बौधायन और आपस्तंब चारों खण्डों से संयुक्त संपूर्ण कल्पसूत्रों के रचयिता थे। आपस्तंबीय शाखा से मिली हुई ही भारद्वाज और सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी की शाखाएँ हैं। ये सारे सूत्र तैत्तिरीय संहिता से संबंध रखते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि इनमें दक्षिणवासी बौधायन सब से प्राचीन हैं और इनके शीघ्र बाद के भारद्वाज, आपस्तंब और हिरण्यकेशी हैं। गौतम के धर्मसूत्र भी लगभग इसी समय (अर्थात् लगभग ५००-४०० ई० पू०) के हैं। मानव, श्रौत, गृह्य एवं शुल्वसूत्र और मानव गृह्यसूत्र से सम्बद्ध काठक गृह्यसूत्र मैत्रायणी संहिता के हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र एवं कात्यायन शुल्वसूत्र शुक्ल यजुर्वेद के हैं, तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र और आश्वलायन गृह्यसूत्र एवं शांखायन के श्रौत और गृह्यसूत्र ऋग्वेद के हैं। इसी प्रकार लाट्यायन और द्राह्यायण के परस्पर सम्बद्ध श्रौतसूत्र, जैमिनीय श्रौत और गृह्यसूत्र एवं गोभिल तथा खादिर के गृह्यसूत्र सामवेद के हैं। इसी अन्तिम वेद के ही अर्षेयकल्प और मशककल्पसूत्र भी हैं। सामवेद का सामविधान ब्राह्मण भी वास्तव में सूत्र-साहित्य का ही अंग है। अथर्ववेद का कौशिकसूत्र है, जो भारतीय इन्द्रजाल, जादू आदि के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है। इसी वेद का परन्तु बहुत बाद में लिखा वैतान श्रौतसूत्र है। गृह्यसूत्रों के बाद ही श्राद्धकल्पों और पितृमेधसूत्रों का स्थान है। श्रौत-गृह्यादि सूत्रों के अतिरिक्त इस विषय पर कुछ और भी सामग्री है, जो इनके परिशिष्ट-सी है। इनको 'परिशिष्ट' कहते भी हैं। इनमें से गोभिलपुत्र का गृह्यसंग्रहपरिशिष्ट, कर्मप्रदीप, अथर्ववेदीय इन्द्रजालपरक परिशिष्ट और प्रायश्चित्तसूत्रादि मुख्य हैं। बाद के कल्पग्रन्थ 'प्रयोग', 'पद्धति' और 'कारिका' वर्गों के हैं।

शिक्षा-वेदाङ्ग—प्रातिशाख्य और अनुक्रमणियाँ

'शिक्षा' सम्बन्धी सूत्र कम-से-कम इतने ही प्राचीन हैं, जितने कि कल्पसूत्र। जिस प्रकार कल्पसूत्र ब्राह्मणों के पूरक ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार वेदांग-शिक्षा के सूत्र वैदिक संहिताओं के सन्निकट हैं। वैदिक संहिताओं के पाठों का ठीक-ठीक उच्चारण ही शिक्षा का विषय है। इस वेदांग का प्राचीनतम उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है, जहाँ इसके छः प्रकरणों अर्थात् वर्ण, स्वर, मात्रा-बल, साम, और सन्तान (वर्णः स्वर ॥ मात्रा बलम् ॥ साम संतानः ॥) का निर्देश हुआ है।

संहिता-पाठ और पद-पाठ शिक्षा के प्राचीनतम आविष्कार हैं। इस वेदांग की सब से प्राचीन रचनाएँ 'प्रातिशाख्य' हैं, जिनके नियमों के अनुसार पदपाठ से संहिता-पाठ बनाया जा सकता है। संहिताओं की प्रत्येक शाखा से सम्पर्क रखनेवाले साहित्यांग होने के कारण ये 'प्रातिशाख्य' कहलाते हैं। 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य' आश्वलायन के गुरु महर्षि शौनक का रचा बताया जाता है। यह ग्रंथ पद्यात्मक है, जो प्राचीन काल में सूत्ररूप में था। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य-सूत्र' तैत्तिरीय संहिता का है। कात्यायन द्वारा निर्मित 'वाजसनेयि प्रातिशाख्य-सूत्र' वाजसनेयि संहिता का और 'अथर्ववेद-प्रातिशाख्य-सूत्र' अथर्ववेद का है। एक 'साम-प्रातिशाख्य' भी उपलब्ध है। सामवेद के उत्तरगान का प्रातिशाख्य 'पुष्पसूत्र' है। 'पञ्चविध-सूत्र' में यज्ञों में सामों के गाने के नियम हैं।

इन ग्रन्थों का महत्व दो प्रकार का है। प्रथमतः तो वे संस्कृत-व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, दूसरे उनसे यह सिद्ध होता है कि प्रातिशाख्यों के समय से आज तक के हजारों वर्षों के बीच संहिताओं के पाठ में तनिक

भी अन्तर नहीं पड़ा है। प्रातिशाख्य शिक्षा-वेदांग के प्राचीनतम प्रतिनिधि हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा नाम से कुछ और ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जो भारद्वाज, व्यास, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्यादि द्वारा रचे कहे जाते हैं, परन्तु वे हैं बहुत बाद के। इनमें कुछ प्राचीन भी हैं। इन्हीं में से काफी पुराने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से संबद्ध 'व्यास-शिक्षा' है।

शिक्षा-वेदांग से मिलती-जुलती ही कुछ 'अनुक्रमणियाँ' हैं, जिनमें वैदिक संहिताओं की विषय-सूची दी हुई है। शौनक ने ऋग्वेद की कई प्रकार की अनुक्रमणियाँ प्रस्तुत कीं——ऋषियों की, सूक्त और छन्दों की, और देवताओं की। कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' निर्मित की जिसमें सूत्र-शैली में ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा के प्रथम शब्द, मंत्रों की संख्या, ऋषि और उसके कुल का नाम, देवता, और छन्द के नाम दिए हुए हैं। 'बृहद्देवता' और 'ऋग्विधान' भी शौनक द्वारा ही रचित कहे जाते हैं। इनमें से पहले ग्रन्थ में ऋग्वेद के देवताओं की बृहत् सूची है। दूसरे में मंत्र-शक्ति का वर्णन है।

निरुक्त और निघंटु

निरुक्त पर हमें इस समय केवल महर्षि यास्क का एक ग्रन्थ मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के ग्रन्थ और भी प्रस्तुत हुए होंगे, जो अब नष्ट हो गए हैं। निरुक्त-वेदांग से भी पता चलता है कि ऋग्वेद का पाठ अत्यन्त शुद्ध है। अनुश्रुति के अनुसार 'निघंटु' (शब्द-सूची) भी महर्षि यास्क द्वारा ही प्रणीत है। परन्तु वास्तव में निघंटु यास्क का नहीं है, स्वयं वह ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि 'निघंटु' की रचना प्राचीन ऋषियों के वंशजों ने की है। स्वयं यास्क की उन पर टीका अथवा भाष्य मात्र है।

निघंटु का निर्माण वेदार्थ समझने के लिए हुआ। निघंटुओं में शब्दों की पाँच सूचियाँ हैं, जो तीन भागों में विभक्त हैं। पहले भाग 'निघंटुकाण्ड' के भी तीन खण्ड हैं, जिनमें वैदिक शब्द एक विशेष क्रम में संगृहीत हैं। दूसरे 'नैगमकाण्ड' अथवा एकपदिक में कठिन वैदिक पदों की व्याख्या है और तृतीय 'दैवतकाण्ड' में पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश (स्वर्ग) के देवताओं के तीन वर्गों के विभाजन हैं। निरुक्त वैदिक भाष्यों में सर्वप्रथम-से थे और यद्यपि यास्क का निरुक्त अकेला है और भाष्यों में प्रथम है, तथापि निस्सन्देह इस प्रकार के प्राचीन निरुक्त ग्रन्थों में यह अन्तिम है। यास्क का समय स्थिर करना कठिन है, परन्तु अवश्य वह ई० पू० ७०० और ५०० के बीच विद्यमान थे। वह पाणिनि से पूर्ववर्ती थे, यह तो निर्विवाद है।

छन्द और ज्योतिष-वेदाङ्ग

छन्द और ज्योषि-वेदांगों में भी, जो आज हमें प्राप्त हैं, उन साहित्यों के निचले छोर ही उपलब्ध हैं। सामवेद का 'निदान-सूत्र' छन्द का ग्रन्थ है, जो पतञ्जलि का बनाया कहा जाता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद का एक छन्द-संबंधी वेदांग 'पिंगल' भी समझा जाता है, परन्तु यह बाद का है, क्योंकि यह उन छन्दों पर भी विचार करता है, जो पश्चात्काल के संस्कृत काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। 'ज्योतिष-वेदांग' ज्योतिष के ऊपर एक छोटा पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमें नक्षत्रों और चन्द्रमादि पर विचार किया गया है।

व्याकरण-वेदाङ्ग

व्याकरणपरक वेदांग-ग्रन्थ सर्वथा नष्ट हो गए हैं। यह वेदांग भी वेदों के अध्ययन में ही प्रस्तुत हुआ और वैदिक शाखाओं के साथ ही इसके भी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ होगा। आरण्यकों में हमें जहाँ-तहाँ पारिभाषिक व्याकरण-पद मिलते हैं। इस समय व्याकरण पर जो प्राचीनतम ग्रन्थ प्राप्त है, वह है पाणिनि की सर्वमान्य 'अष्टाध्यायी'। परन्तु इसमें वैदिक व्याकरण के संबंध में विचार कम हैं। प्रस्तुत रूप में यह किसी वैदिक शाखा से संयुक्त नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक अध्ययन की सहायता के लिए रचे गए व्याकरण-वेदांग भी थे, जो आज अभाग्यवश नष्ट हो गए हैं।

स्वयं पाणिनि ने अपने ग्रंथ में शाकटायनादि अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। परन्तु अष्टाध्यायी स्वयं वेद-परक नहीं है। इसका कारण यह है कि साहित्य धीरे-धीरे अपने को धर्म से स्वतंत्र करने लगा था और उत्तरोत्तर एक प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होने लगा था। 'अष्टाध्यायी' धर्म की शृंखला से सर्वथा स्वतन्त्र सर्वाङ्गपूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थ है। इसके रचयिता महामुनि पाणिनि उत्तर-पश्चिम में प्राचीन गांधार के इलाके में शालातुर गाँव के ब्राह्मण (पठान, पक्थ) थे, जो मगध के साम्राज्य के दिनों में उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में आ बसे थे। जैसा कि नवीन उपलब्ध ग्रन्थ 'मञ्जुश्री मूलकल्प' से विदित होता है, पाणिनि पाँचवीं शती ई० पू० में पाटलिपुत्र में सम्राट् नन्द के समकालीन और उसकी सभा के सभ्य भी थे। कतिपय विद्वानों ने पाणिनि का समय इससे एक-दो शताब्दी पहले का माना है।

संस्कृत-वाङ्मय—(६)

इतिहास-पुराण :: रामायण-महाभारत

आर्यों के प्राचीन धार्मिक साहित्य में वेदों के बाद इतिहास-पुराण (जिनमें रामायण और महाभारत सम्मिलित हैं) सब से गौरवपूर्ण पद पर आसीन हैं। वस्तुतः भारतीय धर्म और समाज के क्षेत्र में जितना प्रभाव आज के दिन इस इतिहास-पुराणों का है, उतना कदाचित् स्वयं वेदों का भी अब नहीं रहा है। यदि धर्म की चर्चा न भी की जाय, तो केवल साहित्य के लिहाज से भी हमारे प्राचीन वाङ्मय की इस विशद निधि का मूल्यांकन कोई कम नहीं उतरने का। प्रस्तुत प्रकरण में संस्कृत-वाङ्मय की इसी महान् संपत्ति का परिचय कराया गया है।

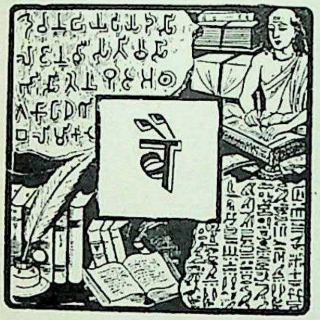

वैदिक साहित्य के बाद जिन ग्रंथों का निर्माण हुआ, अथवा जिनकी प्रधानता पाई जाती है, वे हैं इतिहास-पुराण। इतिहास - पुराणों की अत्यधिक प्राचीनता इससे भी प्रमाणित है कि उनका उल्लेख स्वयं वैदिक साहित्य के ग्रंन्थों में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण का वक्तव्य है—"मध्वाहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासननिन विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः। स य एवं विद्वाननुशासनानि...... इतिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्याहरहः स्वाध्यायम धीते मध्व हुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति।"

इतिहास-पुराणों की प्राचीनता

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्टतः सिद्ध है कि शतपथ ब्राह्मण के निर्माण के समय इतिहास-पुराण विद्यमान थे और तब तक वे पुराने (पुराण) भी हो चुके थे। इतिहास-पुराणों की और भी प्राचीनता अथर्ववेद के एक मंत्र से सिद्ध होती है––'इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथानां नाराशंसीनां स प्रियं धाम भवति य एव वेद।' 'ब्राह्मणों' से पता चलता है कि यज्ञादि तथा अन्य गृहोत्सवों के अवसर पर आख्यान, इतिहासादि गाए जाते थे। अश्वमेध की प्रारंभिक क्रियाओं में देवताओं और वीरों के आख्यानों का वर्ष भर तक गायन मुख्य कर्म था। उस अवसर पर एक ब्राह्मण और एक क्षत्रिय ऐसे दो बीन बजाने वाले स्वरचित गाथाओं में यजमान राजा की उदारता और दानादि की स्तुति करते थे। मृत्यु के अवसर पर भी शोकित व्यक्तियों को अन्यमना करने के लिए इतिहास और पुराणों की कथाएँ कही और गाई जाती थीं।

'पंचम वेद'

इन आख्यानों और इतिहासों के चक्र-से होते थे। इस प्रकार का एक चक्र 'सुपर्णाख्यान' नाम से आज भी उपलब्ध है। सुपर्णाख्यान में सर्पमाता कद्रू और पक्षिमाता विनता तथा गरुड़ और नाग की शत्रुता की कथा है। इस आख्यान का आरंभ वैदिक काल में हुआ और यह महाभारत के आस्तीक पर्व में वर्णित है। इतिहास-पुराण को छान्दोग्य उपनिषद् और बौद्ध सुत्तनिपात में 'पंचम वेद' कहा गया है। इससे सिद्ध है कि वैदिक काल में भी किसी-न-किसी रूप में ये विद्यमान थे और पेशेवर 'ऐतिहासिक' और 'पौराणिक' बहुत प्राचीन काल में इन्हें गाते और सुनाते फिरते थे। बुद्ध के समय भी इतिहास, पुराण और गाथाओं का कोष विद्यमान था, जिसका ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी समान रूप से व्यवहार करते थे।

गाथा-नाराशंसी :: वीरगाथाएँ

इतिहास-पुराणों के अतिरिक्त मानव-प्रशस्ति में गाथा-नाराशंसी का भी उल्लेख मिलता है। एक ओर तो इनका संबंध ऋग्वेद की दानस्तुतियों और अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्तों से है और दूसरी ओर वीरों और नृपतियों की ये गाथाएँ वीरकाव्य की जननी हैं। ये प्रशस्तियाँ शीघ्र ही वीरगाथाओं में विकसित हो गई, जिनके केन्द्र होते थे विशिष्ट वीर अथवा कतिपय प्रधान घटनाएँ। इनकी ही अटूट लंबी शृंखला में रामायण और महाभारत के-से वीरकाव्य भी थे। इन दोनों काव्यों की रचना से बहुत पूर्व ही निस्सन्देह रामायण के नायक राम और महाभारत के महायुद्ध से संबंधित गाथाएँ गाई जाती रही होंगी। राम के वनभ्रमण और कौरव-पाण्डवों के युद्ध-संबंधी काव्यों के अतिरिक्त अन्य राजकुलों की गाथाएँ और काव्य भी निर्मित हुए होंगे, ऐसा रामायण और महाभारत में दिए गए अनेक वीराख्यानों से प्रमाणित है।

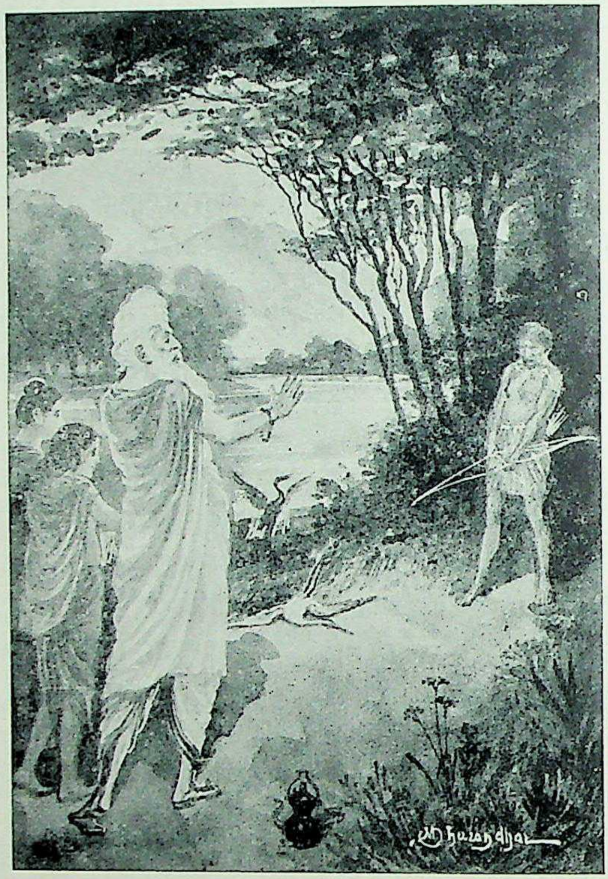

व्याध द्वारा क्रौंच पक्षी का बध देखकर करुणा से द्रवित महर्षि वाल्मीकि के मुख से अपने आप एक श्लोक निकल पड़ा था। इसी किंवदंती की झाँकी इस चित्र में कल्पित की गई है। इसी छंद में रामायण की रचना करके वाल्मीकि आदिकवि कहलाए।

सूत और कुशीलव

वीरकाव्यों के रचयिता, गायक और संरक्षक राजदरबारों में रहनेवाले ‘सूत’ थे, जो विशिष्ट अवसरों पर राजाओं का गौरवगान किया करते थे। ये सूत प्रायः युद्धों में भी जाते थे, जिससे अपने वीरगायन से शूरों का साहस बढ़ा सकें और समर के प्रत्यक्ष अनुभव से भविष्य में और भी वीरकाव्य रच सकें। इसी प्रकार सूत संचय ने महाभारत-युद्ध की कथा धृतराष्ट्र से कही थी। इन दरबारी चारणों का एक वर्ग (वर्ण) बन गया था, जिनके घरानों में वीरकाव्य पुश्तैनी रूप से पिता द्वारा पुत्र को प्रदान किया जाता था। वीरकाव्य इन्हीं सूतों द्वारा प्रस्तुत हुआ। इन सूतों का संबंध राजन्य अथवा क्षत्रिय वर्ग से ही था। इनके अतिरिक्त गायकों का एक वर्ग और था, जिन्हें ‘कुशीलव’ कहते थे और जो गाथाओं को याद करके बीन की सहायता से जनता में गाते फिरते थे। जनता में वीरगायन फैलाने का श्रेय इन कुशीलवों को था। राम के पुत्र कुश और लव वाल्मीकि से सीखकर इसी तरह रामायण गाते फिरते थे। इन्हीं कुशीलवों और चारणों के वर्ग के गायक आजकल वे लोग हैं, जो ढोलक लिए विवाहादि के अवसरों पर आल्हा गाया करते हैं।

परन्तु रामायण और महाभारत सर्वथा इस प्रकार के गाए हुए वीरगायन ही नहीं हैं। वे भारतवर्ष के तथा संस्कृत के आदि वीरकाव्य भी हैं, जिनमें दो कुलों की विशिष्ट प्रशस्तियाँ एक अद्भुत अद्वितीय शृंखला में काव्यबद्ध हुई हैं। इतना जरूर है कि इनमें से महाभारत में अन्य गाथाओं और आख्यानों का भी इस प्रकार मिश्रण हुआ है कि उसका महाकाव्य रूप मिट गया है और वह एक विश्वकोष-सा बन गया है।

आदिकाव्य रामायण

रामायण महाभारत से कई बातों में भिन्न है। प्रथमतः वह महाभारत से अत्यधिक अल्पाकार है और इसके कथानक (प्लाट) में उससे कहीं अधिक क्रमबद्ध एकता है। महाभारत के कथाभाग को छोड़कर उसके संपूर्ण कलेवर को काव्य कहने में अनेक विद्वानों को आपत्ति होगी और है। परन्तु रामायण को वर्तमान रूप में भी हम एक काव्य

कह सकते हैं । महाभारत के रचयिता व्यास की ऐतिहासिकता में शायद लोगों को संदेह भी हो, परन्तु रामायण के रचयिता वाल्मीकि के ऐतिहासिक व्यक्ति और कव्यकार होने में युक्तितः संदेह नहीं हो सकता । वाल्मीकि 'आदि-कवि' कहे जाते हैं और उनकी रामामण 'आदिकाव्य'। काव्य में कथावस्तु से अधिक प्राधान्य उसके काव्य-रूप को दिया जाता है। इस रूप का मंडन 'अलंकारों' से होता है। उपमा, व्यंजना, श्लेषादि काव्य के गुण होते हैं। संस्कृत काव्य-साहित्य में इन अलंकारों का आरम्भ रामायण में ही होता है । लगभग दो हजार वर्षों से रामायण भारतवर्ष में राजा-रंक, सेठ-साहूकार, गृही-संन्यासी सभी को प्रिय रही है और इसकी कथा और इसके पात्र उनमें आदर्श भाव जाग्रत करते रहे हैं । कालिदास और भवभूति-से महान् कवियों ने अपने रघुवंश और उत्तररामचरित तथा महावीरचरित के कथानक रामामग से लिए हैं। उत्तर-दक्षिण की सभी भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद और छायानुवाद हो गए हैं । हिन्दी में तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस इसी पर अवलंबित है और असंख्य धर्मप्राण हिन्दुओं का वह वेद है । परन्तु रामायण आज हमें मूल से अत्यन्त परिवर्द्धित रूप में उपलब्ध है । यह महाकाव्य सात काण्डों और २४,००० श्लोकों में प्राप्त है। निरसन्देह इसके सभी भाग एक-से प्राचीन नहीं हैं और न उनकी रचना ही पूर्णतया एक व्यक्ति की है ।

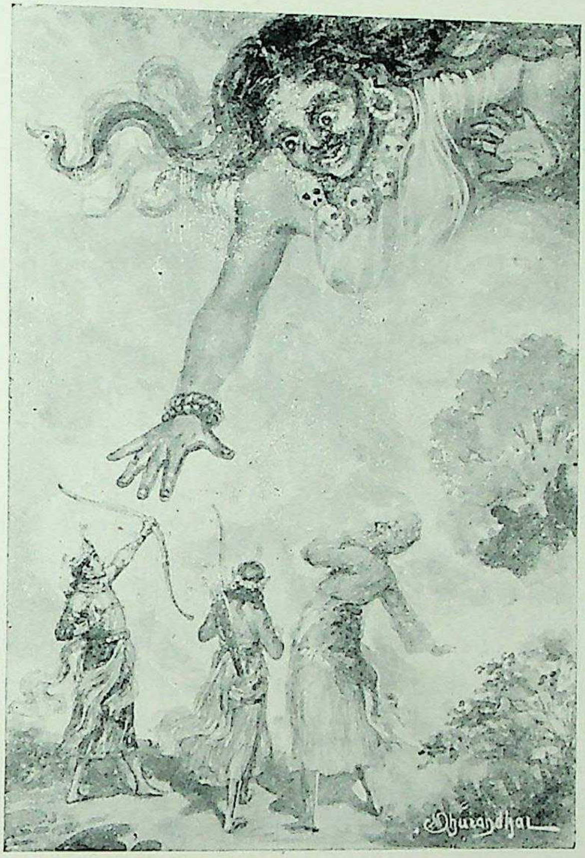

प्रस्तुत चित्र में रामायण के एक सुविख्यात प्रसंग—राम द्वारा ताड़का राक्षसी के वध—की झाँकी दिग्दर्शित है। दाहिनी ओर लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र खड़े हैं, जो राम को बुला ले गए थे।

रामायण का कथानक

रामायण की कथा यह है। अयोध्या के राजा दशरथ की रानी कौशल्या से राम उत्पन्न हुए। राम का विवाह जनक की पुत्री सीता से हुआ। तब राजा दशरथ ने राम को युवराज बनाना चाहा। इस संवाद से सर्वत्र आनन्द मनाया जाने लगा। परन्तु राम की विमाता कैकेयी को उनका युवराज बनना पसन्द न आया। इस बात में उसे उभाड़ने में उसकी दुष्टा दासी मंथरा का प्रमुख हाथ था। कैकेयी ने एक बार किसी युद्ध में राजा दशरथ की बड़ी सहायता की थी। तब राजा ने उससे दो वर माँगने को कहा था। पर उसने तब वे वर माँगे नहीं और किसी और समय के लिए उन्हें रख छोड़ा था। उनके लिए अवसर आया जान उसने अब वे दोनों वर माँगे । उसने अपने पुत्र भरत के लिए अयोध्या का राज्य और राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास माँगा ! राम अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण को लेकर वन को चले गए। वहाँ लंका के राजा रावण ने सीता का हरण कर लिया । राम बहुत काल तक विलखते हुए सीता को खोजते लक्ष्मण के साथ वन में भटकते रहे । तब उन्होंने बालि को मारकर सुग्रीव से मित्रता की और उसकी सहायता से लंका पर चढ़ाई करके तथा रावण को मारकर सीता को छुड़ाया। अयोध्या लौटकर राम ने बहुत काल तक राज्य किया । इस बीच लोकापवाद के कारण उन्हें अपनी गर्भिणी पत्नी सीता को त्यागकर वन भेज देना पड़ा। वहीं वाल्मीकि के आश्रम में सीता ने लव-कुश नामक दो पुत्रों को जन्म दिया।

रामायण का कथानक बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किधाकांड, सुंदरकांड, युद्धकांड, उत्तरकांड, प्रभृति सात कांडों या सर्गों में निबद्ध है। बालकांड में राम के जन्म और विवाह का वर्णन है। किशोरावस्था को प्राप्त राम-लक्ष्मण को ऋषि विश्वामित्र दशरथ से माँगकर वन में ले

जाते हैं और उन्हें धनुर्विद्या सिखाते हैं। राम ऋषियों के तप और यज्ञादिकर्म में विघ्न-बाधा प्रस्तुत करनेवाली दुष्ट ताड़का राक्षसी का वध करते हैं। वह धपुष-यज्ञ में भाग लेने को विश्वामित्र के साथ जनकपुर जाते हैं और वहाँ शिवधनुष को तोड़कर स्वयंवर में सीता को प्राप्त करते हैं। अयोध्याकांड में कैकेयी का वर माँगना और राम का वनगमन वर्णित है। अरण्यकांड में सीताहरण और किष्किंधा-कांड में सुग्रीव से मैत्री का वृत्तान्त है। सुन्दरकांड में लंका-दहन और सीता का अशोकवाटिका-निवास है। युद्धकांड में राम-रावण-युद्ध का वर्णन है और अन्तिम उत्तरकांड में राम का वापस अयोध्या लौटकर राज्यासन पर बैठने का विवरण है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकांड रामायण में बाद में जोड़ा गया। विद्वानों का यह भी कहना है कि संपूर्ण बालकांड वाल्मीकिकृत नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर-विरोधी स्थलों के अतिरिक्त दूसरे और छठे कांडों की तुलना में उसमें भाषा और शैली भी नगण्य है। केवल प्रथम और सप्तम कांडों में ही राम को विष्णु का अवतार माना गया है, अन्यत्र वह पुरुषोत्तम की भाँति वर्णित हैं।

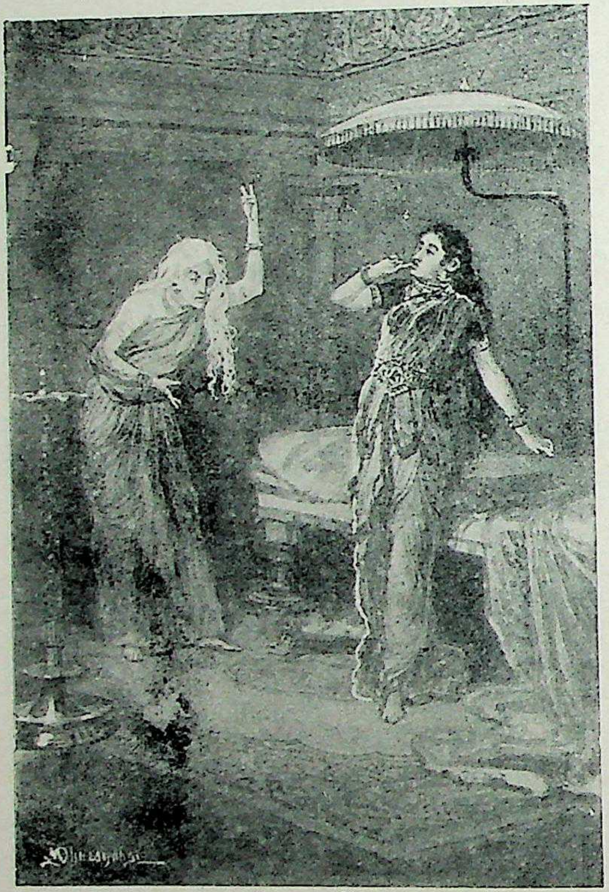

राम का युवराज बनना विमाता कैकेयी को नहीं भाया और उसने दशरथ से अपने पुत्र भरत के लिए राज्यासन एवं राम के लिए वनवास की माँग की। इस कार्य में उसे भड़कानेवाली दुष्टा दासी मंथरा थी, जो चित्र में रानी को बहकाते दिखाई गई है।

रामायण का समय

आधुनिक इतिहासकार रामायण के विविध स्तरों को ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी से लेकर द्वितीय शताब्दी ईस्वी के बीच रचित मानते हैं। इस संबंध में निम्न बातों पर गौर करना आवश्यक है:—

रामायण के बादवाले भाग, विशेषकर पहला और सातवाँ कांड, तथा मूल रामायण, अर्थात् दूसरे कांड से छठे कांड, के रचनाकाल में शताब्दियों का अन्तर है। प्राचीन कांडों में राम मानव वीर हैं, पिछलों में विष्णु के अवतार।

महाभारत के वर्तमान प्रक्षिप्त रूप के पूर्व ही सम्पूर्ण रामायण अपना वर्तमान रूप धारण कर प्राचीन समझी जाने लगी थी और उसकी प्रसिद्धि हो चुकी थी।

परन्तु महाभारत की प्राचीन कथाएँ राम की कथा से प्राचीन हैं। वेद में राम-काव्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता और राम-कथा का केवल क्षीण मात्र ही उल्लेख है। बौद्ध त्रिपिटकों में रामायण का उल्लेख नहीं है, परन्तु राम-संबंधी गाथाओं का है। रामायण में बौद्ध धर्म का संकेत नहीं है। रामायण को ग्रीकों (यूनानियों) का बिलकुल ज्ञान नहीं है। रामायण में पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं है और बौद्ध-कालीन साकेत के स्थान पर कोशल की राजधानी का नाम सर्वत्र अयोध्या ही लिखा मिलता है।

इन सब प्रमाणों से हम रामायण को न बहुत पूर्व ही रख सकते हैं और न बहुत पश्चात् ही। संभवतः उसकी काया ५०० ई० पू० और द्वितीय शताब्दी ई० के बीच गढ़ी जा चुकी थी।

आदिकवि वाल्मीकि

रामायण के रचयिता

वाल्मीकि के विषय में कुछ विशेष कहना कठिन है। परन्तु महाभारत और पुराण उन्हें प्राचीन ऋषि और राम के समकालीन मानते हैं। संभव है कि राम-संबंधी आदि गाथा उन्होंने ही लिखी हो, जो समयान्तर में अन्य कवियों के प्रभाव से आज का रूप धारण कर गई हो। वाल्मीकि का परिचय इस ग्रंथ के द्वितीय खंड में 'महापुरुष' विभाग के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है। रामायण ही से हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार प्रणयलीन क्रौंच पक्षी का व्याध द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

वध होते देखकर मुनि का हृदय विगलित हो उठा था और उनके मुख से काव्य के प्रथम स्वर फूट निकले थे। संभव है, रामायण के वर्तमान रूप का अधिकांश किसी शुंगकालीन अज्ञात कवि ने खड़ा किया हो। पर बाद के किसी कवि द्वारा निर्मित होकर भी मूलतः रामायण वाल्मीकि-रचित हो सकती है, बाद में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसका रूपान्तरीकरण भारतीय परम्परा के अनुकूल ही था। ऐसा महाभारत के संबंध में भी हुआ है। रामायण में उदात्त और आदर्श भावों का वर्णन चमत्कारपूर्वक हुआ है। इस ग्रंथरत्न में भारतीय समाज का आदर्श रूप स्थिर किया गया है।

महाभारत

महाभारत के विषय में ऊपर कहा जा चुका है कि वह एक शृंखलाबद्ध काव्य नहीं, बल्कि एक संहिता है। वास्तव में पुराणों की भाँति वह कई प्रकार के प्रकरणों से सजा हुआ कथाओं-उपकथाओं से युक्त एक संकलन-सा है। यह सच है कि उसमें भारत-युद्ध का प्रसंग मुख्य है, जो कुछ हद तक क्रमबद्ध भी है। परन्तु शताब्दियों की अवधि में इस मूल कृति के ऊपर अनेक कथाओं का आवरण चढ़ा दिया गया है। इस प्रकार महाभारत आज केवल भारतों (कौरव-पाण्डवों) के युद्ध का ही काव्य नहीं, वरन् बड़े कौशल से संपादित प्राचीन चारण-गान तथा सूत-कथाओं का एक साहित्य-सिन्धु है। इसमें विष्णु और शिव की पुराण-शैली की कथाएँ वंश-तालिकाओं के विवरण सहित वर्णित हैं। काव्य के अतिरिक्त इसमें कितने ही प्रसंग गद्य और कितने ही चम्पू शैली में संगृहीत हैं।

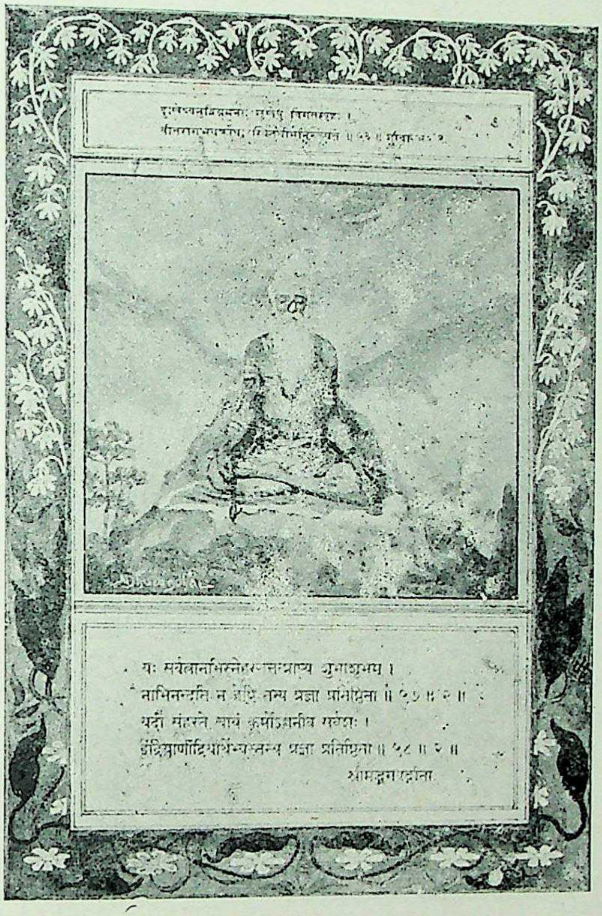
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥ २ ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥ २ ॥
श्रीमद्भगवद्गीता

महाभारत के स्रष्टा महर्षि वेदव्यास स्वतः उस वीतराग प्रज्ञावान् जितेन्द्रिय महापुरुष के साकार रूप थे, जिसका कि आदर्श उन्होंने निज लेखनी से भगवान् श्रीकृष्ण की अमृतवाणी को श्रीमद्भगवद्गीता में उतारकर रेखांकित कर दिया है।

महाभारत का वह रूप, जैसा वह हमें आज उपलब्ध है, लगभग १,५०० वर्ष पहले खड़ा हो चुका था। यह ग्रंथ अठारह पर्वों में विभक्त है और उन्नीसवें पर्व के रूप में उपसंहार (खिल) की भाँति हरिवंश नाम का एक पुराण इसमें जुड़ा हुआ है। इस समय इसमें एक लाख श्लोक हैं इसीलिए इसे 'शतसाहस्री' संहिता भी कहते हैं। इस विशाल ग्रंथ के रचयिता वेदों और पुराणों के संपादक महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते हैं, जिनका परिचय द्वितीय खंड में दिया जा चुका है।

महाभारत की बाहरी रूपरेखा का वर्णन करनेवाले उग्रश्रवस् हैं, परन्तु काव्य के भीतरी वक्ता वैशम्पायन हैं। नैमिषारण्य में ऋषियों के बीच यह कथा कही जाती है। सारे महाभारत का संवाद के रूप में होना निश्चय ही उसकी अत्यंत प्राचीनता का द्योतक है।

'जय' महाकाव्य

इसमें कोई संदेह नहीं कि महाभारत मूल रूप में आज से बहुत छोटा था। सर्वप्रथम इसका नाम 'जय' था। तब संभवतः इसमें केवल भारत-युद्ध का वर्णन ही था। उसके पश्चात् इसका नाम भारतों (कुरुओं) के इतिहास के नाम पर 'भारत' पड़ा। अन्त में जब यह ग्रन्थ बाद के प्रक्षेपों से वृहदाकार होकर शतसाहस्री बन गया, तब 'महाभारत' कहलाया। उग्रश्रवस् स्वयं कहते हैं कि वह इस ग्रन्थ को ८८,००० श्लोकों का जानते हैं, परन्तु व्यास का कथन है कि उसमें २४,००० श्लोक हैं। इससे यह सिद्ध है कि महाभारत धीरे-धीरे मूल से बढ़ता गया और अंत में उसने अपना यह वर्तमान शतसाहस्री रूप धारण किया।

महाभारत का कथानक

संक्षिप्त में महाभारत की कथा इस प्रकार है। कुरुराज विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरांत उनके ज्येष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण कनिष्ठ पुत्र पाण्डु राज-सिंहासन पर बैठे। पाण्डु की अकाल मृत्यु हुई, इस कारण कुछ काल के लिए धृतराष्ट्र को ही स्वयं राज्य की बागडोर सँभालनी पड़ी। पाण्डु के पाँच बेटे थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। वे पाण्डव कहलाते थे। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव कहलाते थे और संख्या में सौ थे। उनमें दुर्योधन, दुःशासन आदि बड़े थे। सद्गुणों से विभूषित होने के कारण धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को ही युवराज चुना। इससे कौरवों के अग्रज दुर्योधन के मन में आग लग गई। उसने कुछ चालों से पाण्डवों को राजधानी छोड़ने पर मजबूर किया। इधर-उधर घूमते हुए पाँचों पाण्डव राजा द्रुपद की राजधानी में पहुँचे। वहाँ राजपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। स्वयंवर में अर्जुन ने द्रौपदी को जीत लिया और उस राजकुमारी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हो गया। इस विवाह से पाण्डवों की स्थिति सुदृढ़ हो गई और धृतराष्ट्र ने उन्हें बुलाकर राज्य को दो भागों में बाँट दिया। बड़ा भाग दुर्योधन को मिला और अत्यन्त छोटा पाण्डवों को। कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर में थी और पाण्डवों की इंद्रप्रस्थ में। परन्तु यहाँ भी दुर्योधन ने पाण्डवों को शान्तिपूर्वक राज्य न करने दिया। दुर्योधन ने युधिष्ठिर को द्यूत खेलने के लिए ललकारा और अपने मामा शकुनि की सहायता से उसने पाण्डवों से उनका राजपाट, भाई, स्त्री सब-कुछ दाँव पर रखवाकर जीत लिया। हारनेवाले के लिए बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास की भी शर्त थी। वनवास से लौटने पर तेरह वर्ष के बाद पाण्डवों ने अपना राज्य वापस माँगा। दुर्योधन ने क्रोध से उन्हें दुत्कार दिया। वासुदेव कृष्ण और महात्मा विदुर के सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हुए। इस पर घमासान युद्ध छिड़ गया। अठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र के मैदान में अत्यन्त संहारक समर होता रहा। अन्त में विजय पांडवों की हुई। युधिष्ठिर ने कुछ काल तक बड़े ऐश्वर्य से राज्य किया, फिर अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राज्य देकर भाइयों और द्रौपदी सहित वह हिमालय गलने के लिए चले गए।

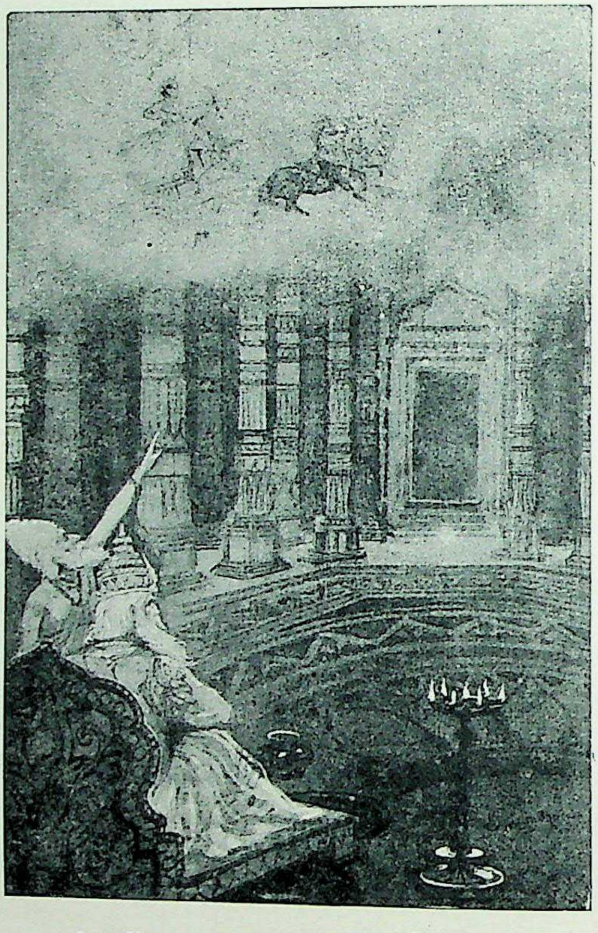

प्रस्तुत चित्र में संजय नामक सूत द्वारा अंधे राजा धृतराष्ट्र को घर बैठे ही महाभारत-युद्ध का आँखों-देखा हाल बताने की कल्पना दिग्दर्शित की गई है।

महाभारत के अन्य स्कंध

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, महाभारत में कौरव-पाण्डव-युद्ध के अतिरिक्त, अन्य विषय भी वर्णित हैं। इनमें युद्धपूर्व की प्राचीन गाथाएँ और आख्यान मुख्य हैं। उनमें शकुन्तला-दुष्यन्त, ययाति-देवयानी, नल-दमयन्ती, नहुष-विदुला आदि के आख्यान प्रसिद्ध हैं। महाभारत में कुछ दूसरे प्रकार की पौराणिक कथाएँ और ख्यातियाँ भी हैं। इनमें जनमेजय का नाग-यज्ञ, कद्रू-विनता की कथा, इन्द्र-वृत्र का युद्ध, जल-प्रलय का प्रसंग, सावित्री-सत्यवान की कथा, ऋष्यशृंग का आख्यान, वसिष्ठ-विश्वामित्र का संघर्ष आदि प्रकरण पुराणपरक हैं। इसी प्रकार कितनी ही दृष्टान्तपरक कथाएँ भी हैं। परन्तु महाभारत के इन अतिरिक्त स्कंधों में जो सब से महत्वपूर्ण हैं, वे हैं अध्यात्म-संबंधी प्रकरण, जिनमें नीति, धर्म और मोक्ष का विधान है।

शान्तिपर्व के पूर्वार्द्ध में राजधर्म की बृहत् व्याख्या की गई है और अनुशासनपर्व में धर्मशास्त्रानुचरण अथवा व्यवहार का विवेचन है। इनके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर बृहस्पति और विदुर आदि की नीतियाँ भी कही गई हैं। अध्यात्मपरक प्रसंगों में जो सर्वप्रधान और सर्वमान्य प्रकरण है, वह है छठे पर्व की श्रीमद्भगवद्गीता। अध्यात्म का यह अपूर्व ग्रन्थ उपनिषद्तत्त्वों का निचोड़ है। यह कर्ममार्ग का अपूर्व उपनिषद् है। इसके उपदेशों में कर्मयोग भक्तियोग और ज्ञानयोग के परस्पर विरोधी-जैसे सिद्धान्तों का विस्मयजनक सामंजस्य किया गया है। इसके वक्ता श्रीकृष्ण हैं और श्रोता अर्जुन। इसका प्रसंग तब आता है, जब अर्जुन मोहवश अपने आत्मीयों को मारने से इन्कार कर देता है। विषाद की उस घड़ी में श्रीकृष्ण युद्धभूमि ही में उसे कर्मयोग का संदेश देकर उसे पुनः कर्त्तव्यपथ पर आरूढ़ करते हैं। इस ग्रन्थ को संसार भर के विद्वानों ने सराहा है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल और काव्यमय है। इसके अतिरिक्त अनुगीता और नारायणीय नामक दो और अध्यात्मपरक प्रकरण महाभारत में प्रसिद्ध हैं।

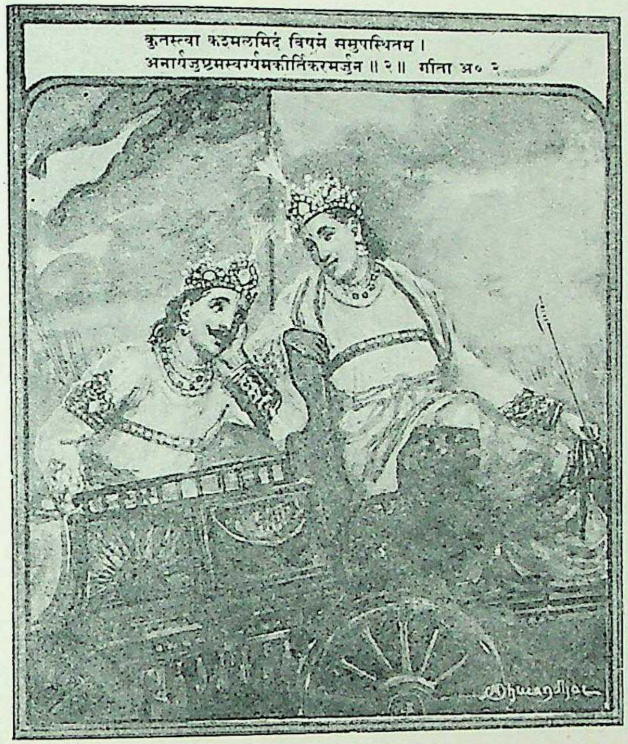
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥ गीता अ० २

'महाभारत' के अध्यात्मपरक प्रसंगों में सर्वश्रेष्ठ श्रीमद्भगवद्गीता है, जिसका प्रादुर्भाव कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अर्जुन के विषाद के समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कर्मयोग के उपदेश के रूप में हुआ था। चित्र में उसी प्रसंग की झाँकी दिग्दर्शित है।

हरिवंश-पुराण

महाभारत का अन्तिम भाग हरिवंश-पुराण है, जो इसमें उपसंहार की भाँति जुड़ा हुआ है। इसमें वृष्णि और अन्धक कुलों का विशेष वर्णन है, जिनमें श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए थे। यह पुराण विष्णु की प्रशंसा में संकलित है। हरिवंश के तीन मुख्य भाग हैं—हरि-वंशपर्व, विष्णु-पुराण और भविष्य-पुराण। हरिवंश में राजाओं और ऋषियों की कथाएँ और सूर्यादि वंशों का विवरण है; विष्णु-पुराण में कृष्णचरित वर्णित है, और भविष्य-पुराण में आगे की संभावित घटनाओं का कथन है।

महाभारत का समय

महाभारत का काल-निर्णय करते समय इन बातों पर गौर करना आवश्यक है। महाभारत की कुछ ख्यातियाँ और कथाएँ वेदों के काल में पहुँच जाती हैं। वैदिक काल में 'भारत' या 'महाभारत' नाम का कोई काव्य तो न था, पर महाभारत में अनेक ऐसी कथाएँ हैं, जिन्हें छठी शताब्दी ई० पू० से बाद तक बौद्धों और जैनों ने भी अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। ये कथाएँ वास्तव में बहुत पुरानी थीं। यदि महाभारत नाम का कोई काव्य ई० पू० छठी से चौथी शती के बीच उपलब्ध था, तो उसकी जानकारी कम-से-कम बौद्धों को न थी। महाभारत के अस्तित्व का प्राचीनतम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है। यह काल संभवतः चौथी शती ई० पू० का है। इसी प्रकार लगभग ५०० ई० के एक भूमिदान के लेख में महाभारत को शतसाहस्री संहिता कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में लगभग ४०० ई० में प्रस्तुत हो चुका था। इस प्रकार महाभारत को 'जय' से लेकर अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में करीब आठ-नौ सौ वर्ष लगे होंगे। इसी बीच उसके मूल महाकाव्य-रूप के साथ अनेक ख्यातियाँ, आख्यान, गाथाएँ आदि जोड़ी गईं। अतः महाभारत की रचना का समय ई० पू० पाँचवीं शती और ४०० ई० के बीच रखना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

पुराण

तिथिक्रम और वर्णित विषय दोनों के नाते संस्कृत-साहित्य में पुराणों का स्थान स्थिर करना बड़ा कठिन कार्य है।

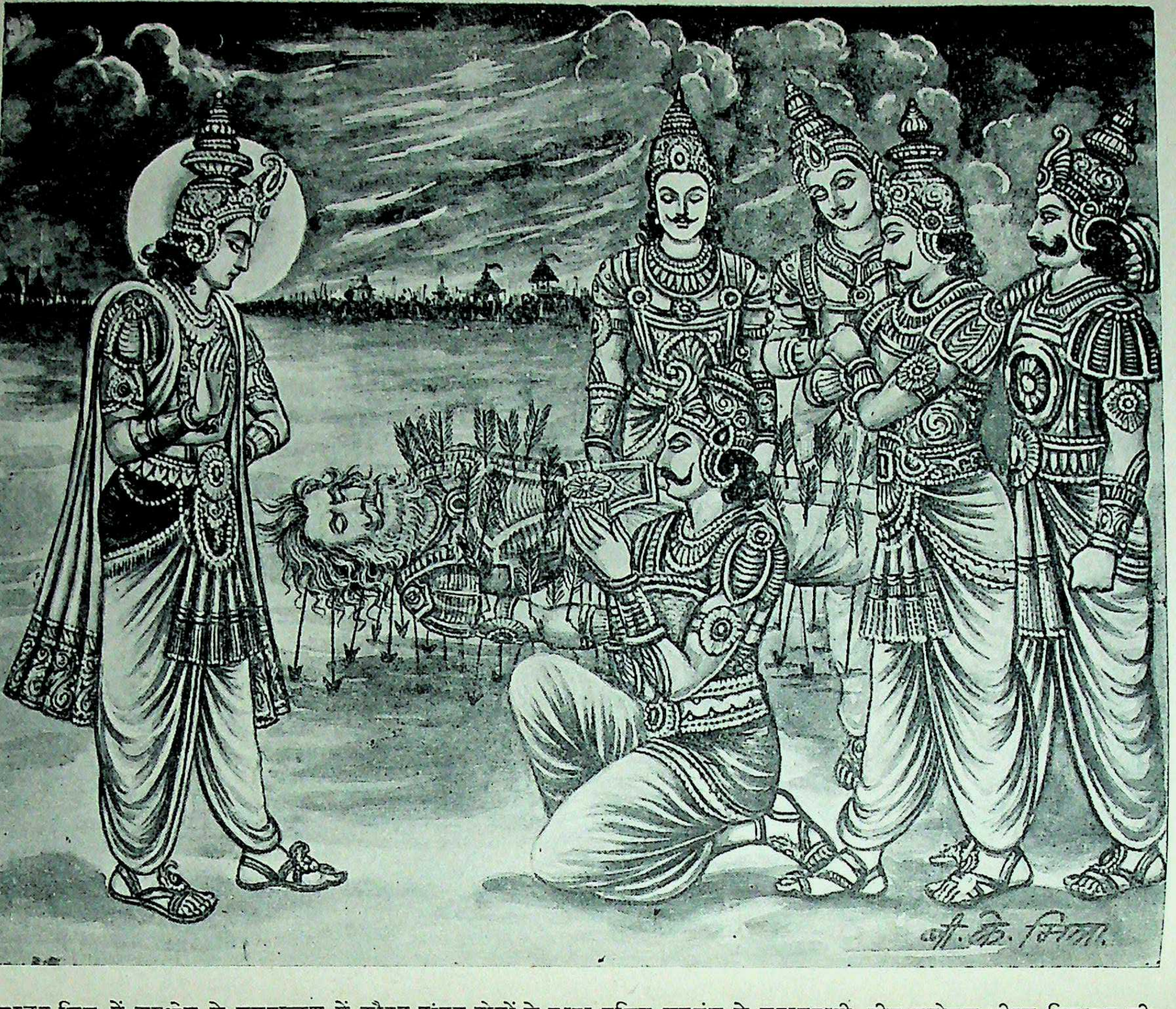

प्रस्तुत चित्र में कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में कौरव-पांडव दोनों के द्वारा पूजित कुरुवंश के महाप्रतापी वीर वयोवृद्ध भीष्म पितामह की शरशैय्या का दारुण दृश्य दिखाया गया है। वाणों से बिंधे हुए वृद्ध पितामह अपने अन्तिम समय में युद्धभूमि में लेटे हुए हैं। सामने भगवान् श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पंच पांडव भी समुपस्थित हैं। यह 'महाभारत' का एक सुप्रसंग है।

उनका स्थान वास्तव में जितना महत्त्वपूर्ण इतिहास में है, उससे कहीं बढ़कर धार्मिक साहित्य में है। वैदिक साहित्य के बाद हिन्दुधर्म को जिस साहित्य-शाखा ने विशेष रूप से प्रभावित किया है वह पुराण ही हैं। इन ग्रंथों में विशेषकर विष्णु और शिव की महिमा गाई गई है और बाद का सारा भारतीय धार्मिक जीवन इन्हीं देवताओं अथवा इन्हीं के वर्ग के अन्य देवी-देवताओं की पूजा-उपासना से ओतप्रोत है।

पुराण का मौलिक अर्थ है 'पुराण आख्यानम्', अर्थात् प्राचीन कथाएँ। ब्राह्मणों, उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द प्रायः इतिहास शब्द के साथ संबद्ध मिलता है। इस इतिहास पुराण संज्ञा से यह स्पष्ट नहीं है कि इतिहास-पुराण नाम के कौन-से ग्रंथ उपलब्ध थे। यह केवल एक प्रकार के विशिष्ट साहित्य मात्र का द्योतक है। फिर भी अथर्ववेद में जहाँ वेदों के अतिरिक्त पुराणों का भी उल्लेख है, वहाँ अवश्य पुराणों द्वारा किसी-न-किसी रूप के ग्रन्थ ही की ओर संकेत किया गया होगा। सूत्र-साहित्य में आकर तो पुराणों का ग्रंथ-रूप में अलग अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है। गौतम-धर्मसूत्र में लिखा है कि राजा को दण्डनीति में वेद, धर्मसूत्र, वेदांग और पुराणों को प्रमाण मानना चाहिए। निश्चय ही यहाँ वेदादि की भाँति पुराणों का ग्रन्थबद्ध साहित्य के रूप में उल्लेख है। आपस्तंबीय धर्मसूत्र में भी पुराणों के संदर्भ उल्लिखित हैं। चूँकि इन धर्म सूत्रों को हम ई० पू० पाँचवी और चौथी शताब्दियों के बाद नहीं रख सकते, अतः पुराणों का यह ग्रन्थबद्ध रूप किसी न किसी प्रकार ई० पू० चौथी-पाँचवीं शताब्दियों में ही स्थिर हो जाता है। जो पुराण आज हमें उपलब्ध हैं, वे निश्चय ही वे ग्रन्थ नहीं हैं, जिनका उल्लेख इन धर्मसूत्रों में मिलता है। यथार्थ में वह आदि पुराण एक मूल संहिता रही होगी, जिसके आधार पर आधुनिक पुराणों के प्राचीन ऐतिहासिक वृतान्त लिखे गये हैं। वायु-पुराण एक स्थल पर बताता है कि किस प्रकार यह आदि पुराण बना था। उसमें लिखा है कि यह मूल पुराण विविध वंशों की यशस्वी कीर्तियों से संबंध रखनेवाले इतिहास के आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं के योग से निर्मित हुआ था। प्राचीन आख्यानों का यह गाथाबद्ध इतिहास वैदिक काल में भी प्राप्य था और शतपथ ब्राह्मण ने 'पुराण' को जो वेद घोषित किया है, उससे ब्राह्मण-काल में पुरातन पुराण साहित्य की महत्ता लक्षित होती है।

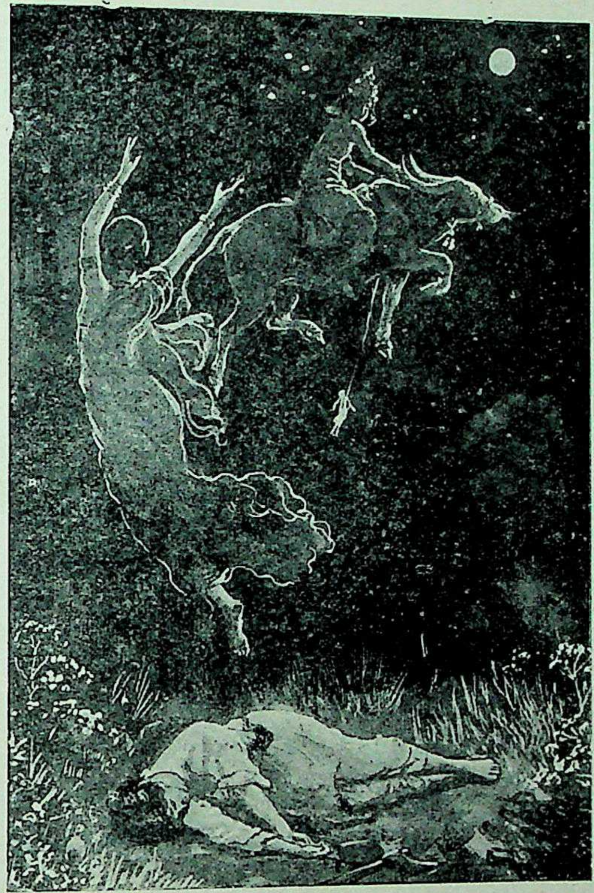
महाभारत के आख्यानों में सावित्री-सत्यान की कथा भी है। प्रस्तुत चित्र में अपने मृत पति को पुनर्जीवित कराने के लिए यम-राज के पीछे चली जा रही सती सावित्री की झाँकी दिग्दर्शित है।

पुराण प्राचीन काल में वैदिक मंत्रों ही की भाँति समादृत होते थे। इसी कारण पुराणों में वर्णित विषय पूरी तरह सुरक्षित रक्खे जा सके थे। जिस प्रकार ब्राह्मणों ने वेद-निधि को अत्यन्त क्षमता और परिश्रम से बचाए रखा, उसी प्रकार पुराण साहित्य के प्रचार और उसकी रक्षा के लिए भी एक विशिष्ट ऋषि-परिवार पनप उठा। इन्हें 'सूत' कहते थे और इनका काम कथा बाँचना था। दुर्भाग्यवश सूतनामधारी कथावाचकों और पुराणकारों की श्रृंखला अब टूट गई है। यदि वे भी ब्राह्मणों की भाँति जीवित रहते, तो वेदों की तरह ही पुराणों की परंपरा भी सुरक्षित रहती और उनकी कथाओं की पावनता भी ऋचाओं की नाईं बनीं रहती। तब उनमें प्रक्षेप की भी गुंजायश नहीं रहती।

अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में जिस इतिहास-पुराण का उल्लेख है, उसमें तत्कालीन एवं अति प्राचीन वंशों के आख्यानों और कुलकर्मों का समावेश रहा होगा। जब

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन गुप्तकालिक वर्तमान पुराणों में भी क्रमागत वंशतालिकाएँ इतने सुरक्षित रूप में मिलती हैं, तब अन्त्यवैदिककाल में तो उस समय की तथा उससे भी पूर्व की तालिकाएँ और पूर्ण रूप में प्राप्य रही होंगी। सार्वजनिक सूतों का वह समुदाय वैदिक काल में पूरी तन्मयता से प्राचीन इतिहास की सामग्री से उसका तत्कालीन ढाँचा तैयार करने में संलग्न था। उस पैतृक निधि को वे सूत उत्तरकालीन पीढ़ियों को सूत्रबद्ध करके देते जाते थे। उनके सूत्र वर्तमान पुराणों में भी जहाँ-तहाँ आसानी से खोजे जा सकते हैं। आज के पुराण भारत-युद्ध के पूर्व के व्यक्तियों के संबंध में प्रायः नाममात्र को लिखते हैं, परंतु जब किसी महत्वपूर्ण राजा का प्रसंग आ जाता है, तब वे वहाँ तक की नाराशंसी गाथाओं के अवतरण देते हैं। उदाहरणार्थ, वायु-पुराण को ही लीजिए। उसमें इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के नाम गिनाते हुए पुराणकार जब मान्धाता के समीप आता है, तब वह कहता है—"पौराणिक ब्राह्मणों ने इस राजा के संबंध में ये दो श्लोक संभाल रखे हैं।" इसी प्रकार की नाराशंसी गाथाएँ त्रिशंकु, हरिश्चन्द्र, दिलीप, अलर्क, ज्यामेघ, बभ्रु, भरत, कीर्तवीर्य आदि राजाओं के विषय में भी सुरक्षित हैं। इन राजाओं की साधारण नामावली उपस्थित करते हुए भी पुराणकारों ने वैज्ञानिक रीति से काम लिया है। इसी तरह वायु-पुराण और मत्स्य-पुराण इक्ष्वाकु-वंशावली पर विचार करते हुए जब नल नामक राजा तक पहुँचते हैं, तब उनकी धारा रुक जाती है और वे कहते हैं—"पुराणों में दो नल विख्यात हैं—एक वीरसेन का पुत्र और दूसरा इक्ष्वाकुवंशीय।" इसी प्रकार एक ही नाम के कई राजाओं का उल्लेख करते हुए, ब्रह्म-पुराण कहता है कि "चंद्रवंश में दो ऋक्ष और दो परीक्षित हुए, तथा तीन भीमसेन और दो जनमेजय हुए।" वायु-पुराण तुर्वसुवंश के संबंध में भी कहता है—"अविक्षित का पुत्र राजा मरुत, जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है, उस नाम के इस राजा से सर्वथा भिन्न था।" ऊपर के उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि इन राजवंशों की तालिकाओं पर पूर्ण रूप से विचार किया जाता था और ये तालिकाएँ महाभारत-युद्ध से लगभग ५० वर्ष पूर्व कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा मूल पुराण में इकट्ठी कर ली गई थीं।

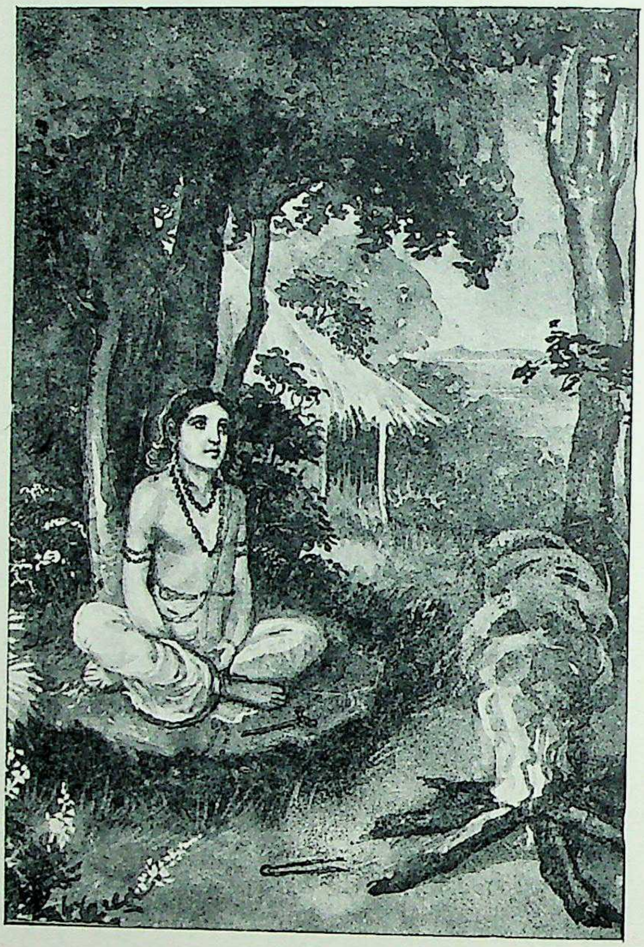

विमाता के उपालंभ से प्रेरित होकर कुमार ध्रुव अल्पायु ही में वन में जाकर तपलीन हो गया और ईश्वर का साक्षात्कार करने में सफल हुआ। पुराणों में ऐसे आख्यानों का बाहुल्य है।

पुराणों में वर्णित विषय

प्राचीन परिभाषा के अनुसार पुराणों में वर्णित पाँच विषय हैं — सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद की पुनर्सृष्टि), वंश (देवताओं और ऋषियों आदि की वंशतालिकाएँ), मन्वन्तर (प्रत्येक मनु के युग विशेष का वर्णन) और वंशानुचरित (अर्थात् सूर्य और चंद्रवंश की राजतालिकाएँ)। परन्तु प्रस्तुत पुराणों में इन पाँचों से कहीं अधिक विषयों का वर्णन मिलता है, जिनमें अध्यात्म, धर्म, संप्रदाय, आचार, व्यवहार, आदि सभी का समावेश है। इन पुराणों में प्राचीन सूर्य और चंद्रवंशों के साथ भविष्य के भी अधिकतर राजवंश जोड़ दिये गये हैं, जो वास्तव में ऐतिहासिक काल के राजकुल हैं। पुराणों की प्राचीनता का लाभ लेने के लिए ही इस भविष्य-कथन-शैली का सहारा लिया गया है। इन पिछले राजकुलों में शैशुनागों, नन्दों, मौर्यों, आंध्रों, शुङ्गों, कण्वों, और गुप्तों के वंश आते हैं और इस कारण इन पुराणों की गुरुता बढ़ जाती है। पुराणों में इन राजकुलों का तिथिक्रम लगभग छठी शताब्दी ई० पू० से

चलकर सातवीं शती ईस्वी के कुछ ही पहले समाप्त हो जाता है, क्योंकि हर्ष और उसके बाद के व्यक्तियों और कुलों का वर्णन इनमें नहीं मिलता। इन तालिकाओं के कारण ही पुराण प्राचीन राजनीतिक इतिहास के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। उनकी सत्यता इस प्रकार और भी निश्चित हो जाती है कि उनमें उल्लिखित राजव्यक्तियों का वर्णन तत्कालीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी मिलता है।

अठारह पुराण

पुराणों की संख्या प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अठारह है। वे निम्नलिखित हैं—(१) ब्रह्म, (२) पद्म, (३) विष्णु, (४) शिव अथवा वायु, (५) भागवत, (६) नारद, (७) मार्कण्डेय, (८) अग्नि, (९) भविष्य अथवा भविष्यत्, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) लिंग, (१२) वाराह, (१३) स्कंद, (१४) वामन, (१५) कूर्म, (१६) मत्स्य, (१७) गरुड़ और (१८) ब्रह्माण्ड। यह तालिका सभी पुराणों में दी हुई है। इन पुराणों के अतिरिक्त कुछ महापुराण और उपपुराण भी हैं।

ब्रह्म-पुराण को आदि पुराण भी कहते हैं, परन्तु वास्तव में इसका कुछ ही भाग प्राचीन है। पद्म-पुराण बृहदाकार है। इसके ६ काण्ड हैं—आदिकाण्ड, भूमिकाण्ड, ब्रह्मकाण्ड, पातालकाण्ड, सृष्टिकाण्ड और उत्तर काण्ड। विष्णु-पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा एक काव्य-सा प्रतीत होता है। इसके भी छः भाग हैं। वायु-पुराण का दूसरा नाम शिव-पुराण भी मिलता है। इस पुराण में चौथी शती ई० के गुप्त शासन और उस राज्य के प्रसार का उल्लेख है। भागवत-पुराण भक्ति संप्रदायवालों में बहुत प्रसिद्ध है। इसमें वर्णित विषय विष्णु-पुराण के विषय से बहुत मिलते हैं। संभवतः यह उसी पर अवलंबित है। दसवीं सदी ईस्वी तक यह संकलित हो चुका था। नारद-पुराण भी भक्ति-विषयक पुराण है। इसमें 'सर्ग-प्रतिसर्गों' का पुराण-परक वर्णन नहीं है। मार्कण्डेय-पुराण विष्णु, वायु और अग्नि पुराणों की भाँति प्रधान पुराणों में से है। यह प्राचीनतम पुराणों में से एक है। पार्जिटर की राय में इसके कुछ भाग तृतीय शताब्दी ईस्वी अथवा इससे भी प्राचीन हैं। अग्नि-पुराण एक विश्वकोष जैसा है, जिसमें भगवद्गीता से लेकर अलंकार-शास्त्र तक के निचोड़ हैं। भविष्य-पुराण में भविष्य-कथन है और शाकद्वीप के भोजन और मग वर्ग के सूर्य-पुजारियों का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में वैष्णव संप्रदाय की ख्यातियाँ आदि दी गई हैं। लिंग-पुराण में लिंगपरक शैव पूजा का माहात्म्य है। वाराह-पुराण में विष्णु के वाराहावतार की कथा है। स्कन्द-पुराण भी शैव संप्रदाय-परक पुराण है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी उसमें पुराणोचित अनेक विषय हैं। कूर्म-पुराण में विष्णु, शिव और शक्ति आदि पर विचार है। मत्स्य-पुराण भी प्राचीन पुराणों में से एक है। इसमें भी राजओं की वंशावली दी हुई है। आंध्रों के संबंध में यह प्रमाणवत् है। गरुड़-पुराण वैष्णव पुराण है। ब्रह्माण्ड-पुराण संभवतः वायु-पुराण का प्राचीन रूप है। इसमें स्तोत्र, माहात्म्य आदि भरे पड़े हैं। विख्यात अध्यात्म-रामायण इसी का भाग है।

प्राचीनतम पुराण, जिसकी इनमें गणना नहीं है, गार्गी संहिता का एक भाग है, जिसे 'युग-पुराण' कहते हैं। इससे दूसरी शती ई० पू० के इतिहास और ग्रीक-शक आदि के भारत-आक्रमणों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार का यह अद्वितीय पुराण है।

उपपुराणों में मुख्य निम्नलिखित हैं—विष्णुधर्मोत्तर-पुराण, बृहद्धर्म-पुराण, शिव-पुराण, गणेश-पुराण, चण्डी-पुराण, शाम्ब-पुराण, कल्कि-पुराण, कालिका-पुराण, नीलमत-पुराण आदि। नैपाल की वंशावलियाँ, नेपाल-माहात्म्य, आदि भी उपपुराणों से संबंधित हैं।

तन्त्र-साहित्य

पौराणिक साहित्य पर तान्त्रिक साहित्य का खासा असर पड़ा दिखाई देता है। उसके कई रूप हैं—जैसे शिव-पार्वती के संवाद, गूढ़ मंत्रों और यन्त्रों का प्रयोग आदि। परन्तु पुराण जहाँ काव्य का कलेवर धारण करके ख्यातियों और प्राचीन अनुवृत्तों पर जोर देते हैं, वहाँ 'तन्त्रों', 'संहिताओं', और 'आगमों' में धर्मतत्त्व का निरूपण है और वे सांप्रदायिक आचार एवं रहस्यमय मंत्रों और गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। सूत्रतः संहिता वैष्णवों के, आगम शैवों के और तंत्र शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं। परन्तु इन तीनों के साहित्य में विशेष अन्तर न होने के कारण सब की संज्ञा तंत्र ही है। सम्पूर्ण तंत्र में चार भागों का होना आवश्यक है—(१) ज्ञान (सिद्धान्त), (२) योग, (३) क्रिया, और (४) चर्या (नियमादि)। प्रत्येक तंत्र में ये चारों प्रकरण तो सदा नहीं होते, परंतु उनमें से प्रत्येक में अध्यात्म और रहस्यवाद की चर्चा अवश्य रहती है।

शैव आगमों के विषय में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। आगम २८ हैं और प्रत्येक के कई-कई 'उपागम' हैं। इनकी तिथि के विषय में कुछ कहना कठिन है।

वैष्णव पाञ्चरात्र संप्रदाय की 'संहिताओं' के विषय में हमारा ज्ञान कुछ अधिक है। अनुश्रुति के अनुसार तो पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या १०८ है, परन्तु वास्तव में उल्लेख २१५ का है, जिनमें से केवल बारह प्रकाशित हैं। ऐसी प्राचीनतम संहिताओं में से एक 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' है। यह लगभग चौथी शती ईस्वी का काश्मीरी ग्रन्थ है। यद्यपि पाञ्चरात्र संहिताओं का आरम्भ उत्तर में हुआ, पर उनका प्रसार अधिकतर दक्षिण में ही हुआ। ये प्रायः पाँचवीं से नवीं सदियों के ग्रंथ हैं। इन दक्षिणात्य संहिताओं में से एक प्राचीन संहिता 'ईश्वर-संहिता' है। इसका उल्लेख श्रीरामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य ने किया है। आचार्य यामुन का देहान्त १०४० ई० में हुआ था। स्वयं श्रीरामानुज ने भी 'पौष्कर', 'परम' और 'सात्त्वत' संहिताओं का उल्लेख किया है। नारद पाञ्चरात्र की 'बृहद्ब्रह्म संहिता' में श्रीरामानुज के संबंध में भविष्यद्वाणी होने के कारण वह बारहवीं सदी ई० से पूर्व की नहीं हो सकती। नारद पाञ्चरात्र के नाम से प्रकाशित 'ज्ञानामृतसार संहिता' में राधा-कृष्ण की प्रशस्ति है और चूँकि इसका विषय वल्लभ संप्रदाय के सिद्धान्तों से मिलता है, अतः इसका निर्माण श्रीवल्लभाचार्य से कुछ पूर्व लगभग सोलहवीं सदी के आरम्भ में हुआ होगा।

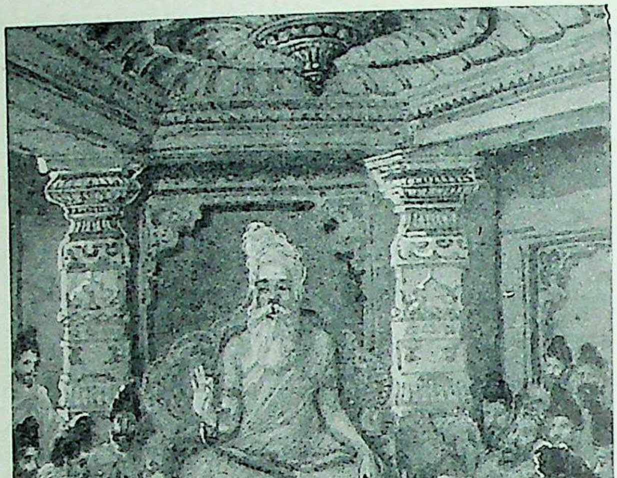

'व्यास-गद्दी' के नाम से अभिहित कथा-मंच से वंशानुगत क्रम से सूत नामाधारी कथावाचकों के मुख से पुराणों के जो पारायण होते चले गये, उन्हीं से उनका रूप निरंतर बदलता चला गया।

आगम और निगम

तंत्र-ग्रन्थ साधारणतया शाक्तों के हैं, जिनमें शक्तियाँ प्रधान मानी गई हैं। इनमें पाण्डित्यपूर्ण अध्यात्म-सिद्धान्तों के साथ ही अत्यन्त निगूढ़ रहस्यवाद तथा अन्धविश्वास की बातें भी हैं। इनमें आचार का विधान अत्यन्त कठोर है। अनुश्रुति के अनुसार तंत्र ६४ हैं, परन्तु तंत्रों की हस्तलिपियों की संख्या इससे कहीं अधिक है। इनका आदिस्थान बंगाल था, जहाँ से ये बौद्ध संप्रदाय के जरिए आसाम और नैपाल तथा तिब्बत और चीन तक फैले। इनमें से प्रत्येक में शिव-पार्वती के संवाद होते हैं। जिसमें शिव उत्तर देते और पार्वती प्रश्न करती हैं, उसे 'आगम' कहते हैं और जिसमें शिव शिष्य और पार्वती गुरु का आचरण करती हैं, उसे 'निगम' कहते हैं। इन आगमों में प्रधान 'महानिर्वाणतंत्र' है, जिसमें शाक्त धर्म का सर्वोत्तम विवेचन है। यह बहुत प्रचीन तो नहीं है, परन्तु महत्वपूर्ण अवश्य है। शाक्तों के 'कौल' नामक प्रधान ग्रन्थों में एक 'कुलार्णव-तंत्र' है, जिसमें छः प्रकार के कुलाचारों का वर्णन हैं। कौल संप्रदाय का दूसरा प्रधान ग्रंथ 'कुल-चूड़ामणि' है। यह एक निगम है।

'प्रपंचसारतंत्र' में विश्व-तत्त्व का निरूपण है। यह शंकराचार्य द्वारा रचा कहा जाता है। 'तंत्रराज-तंत्र' में प्रसिद्ध श्रीयन्त्र का वर्णन है। श्रीयन्त्र में नौ त्रिभुज और नौ वृत्त एक-दूसरे में गुंथे हुए दिखाए जाते हैं। यह अत्यन्त रहस्यपूर्ण यन्त्र है, जिसका चिन्तन करने से साधक की इष्ट के साथ एकता स्थापित होती है। 'काली-विलास-तंत्र' निषिद्ध तंत्र है। 'ज्ञानार्णव तंत्र' में क्रियाओं का विधान है। ११ वीं सदी के लक्ष्मण देशिक विरचित 'शारदातिलक-तंत्र' में मंत्रों और यंत्रों का निरूपण है।

तंत्रों की प्राचीनतम नैपाली हस्तलिपियाँ सातवीं से नवीं सदी ईस्वी की हैं, अतः इस साहित्य का आरम्भ पाँचवीं सदी के पूर्व ही हुआ होगा। परन्तु तंत्रों के कुछ तात्त्विक रूप उपनिषदों, ब्राह्मणों और अथर्ववेद तक में मिलते हैं।

संस्कृत-वाङ्मय—(७)

कालिदास से पहले का काव्य

कालिदास का साहित्य संस्कृत-वाङ्मय में वह ऊँची भूमि है, जहाँ खड़े होकर हम आगे-पीछे दोनों ओर देख सकते हैं। प्रस्तुत और आगे के प्रकरण में कालिदास से पहले के काव्य और नाट्य साहित्य का विवरण दिया जा रहा है। तदुपरान्त स्वयं कालिदास की विशद साहित्य-साधना और उनके बाद की साहित्य-धारा का विवरण हम प्रस्तुत करेंगे।

संस्कृत-काव्य का आरम्भ अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ था। संभवतः वाल्मीकीय रामायण से पूर्व एक प्रकार के वीर-काव्य विद्यमान थे, जिन्हें 'कुशीलव' कहते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि रामायण से पहले भी तदनुरूप कुछ काव्य विद्यमान थे। स्वयं ऋग्वेद में 'दानस्तुतियाँ' हैं, जिनमें छन्दोबद्ध भाषा में दानियों की प्रशस्ति गाई गई है। इन दानस्तुतियों के बाद ही उस गाथा-काव्य की परम्परा चली, जिसे 'नाराशंसी' कहते हैं और जिसके उल्लेख अथर्ववेदादि वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। स्वयं उपनिषद् भी काव्यानुप्राणित हैं, यद्यपि वे (महाकाव्यार्थ में) कथागर्भित न होकर केवल छन्दोबद्ध हैं। स्वयं ऋग्वेद के आर्ष कवियों ने उषा के शाश्वत वंचक रूप का सजीव और संमोहक वर्णन किया है और उसकी उपमा एक नर्त्तकी और नव-यौवना से दी है। अतः यह संभव नहीं कि उन्होंने किसी प्रकार के पार्थिव काव्य का सर्जन न किया हो। फिर इस बात का भी स्मरण रखना होगा कि जिन विविध छन्दों का उपयोग रामायणादि महाकाव्यों अथवा कुछ अंश में उनसे भी पहले के उपनिषदादिक में किया गया है, उनकी अभिसृष्टि करनेवाले मेधावियों ने उनका प्रयोग काव्य में, संभवतः कथानकों के रूप में अन्यत्र भी किया ही होगा।

रामायण-महाभारत का काव्य-रूप

संस्कृत-काव्यधारा में पहला स्थान निस्संदेह रामायण का है। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत रामायण का समय ५००-२०० ईस्वी पूर्व के पहले नहीं रखा जा सकता और इसमें भी समय-समय पर विविध प्रसंग जोड़े गए हैं। कितने ही आख्यान, जो इसमें मिलते हैं, प्रमाणतः इसके अंतरंग भाग नहीं माने जा सकते। फिर भी काव्य का प्रथम रूप रामायण ही है और शैली तथा रूपरेखा के कारण इसके प्रबन्ध-भाग को एक कवि की कृति मानने में आपत्ति न होनी चाहिए। काव्य के जो नियम और प्रतिपाद्य विषय तथा विवरण बाद के मीमांसा-शास्त्रों में मिलते हैं, वे सब वास्तव में रामायण के आधार ही पर बने हैं और कालिदास आदि असाधारण कवियों ने भी अनेक अर्थ में इस महाकाव्य से प्रचुर सहायता पाई है।

काव्य-जगत को महाभारत की देन दूसरे ही प्रकार की है। उसके अनेक प्रकरणों और काण्डों में जो असंख्य ऐतिहासिक घटनाओं और अनुश्रुतियों का संकलन है, वह बाद के काव्य और नाटच-साहित्य के लिए अत्यन्त श्रेयस्कर सिद्ध हुआ हैं। पाश्चात्काल के साहित्यिकों को प्रतिपाद्य विषय और प्रबन्ध-आदर्श अत्यधिक मात्रा में इसी ग्रंथ से उपलब्ध हुए हैं। स्थल-स्थल पर इस महाकाव्य में भी काव्यस्रोत फूट पड़ा है, परन्तु इसकी इकाइयों का तारतम्य स्रोतवत् प्रवाहित न होकर संकलित-सा है। उसमें हारगुंफित मुक्ताओं का अपना व्यक्तिगत पार्थक्य है। इस कारण महाभारत संस्कृत-काव्य

के विकास में एक सोपान नहीं माना जा सकता। उसमें जहाँ-तहाँ प्रकट काव्य-स्रोत वस्तुतः विविध समयों के हैं।

पाणिनि

अनुश्रुति कहती है कि वैयाकरण पाणिनि भी काव्यकार थे। राजशेखर ने उन्हें 'जाम्बवती-विजय' का रचयिता घोषित किया है। इसके अतिरिक्त 'पाताल-विजय' नाम का एक और महाकाव्य भी पाणिनि की कृति बताया गया है। इन दोनों के अवतरण संस्कृत-साहित्य में कहीं-कहीं मिलते हैं। कहना कठिन है कि इनके कर्त्ता वैयाकरण पाणिनि थे अथवा उस नाम के कोई अन्य कवि। परन्तु चूँकि राजशेखर-सा जिज्ञासु समालोचक जब इस वातव्य का समर्थक है और अनुश्रुति भी इसकी साक्षी है, इसलिए हमें वैयाकरण पाणिनि को कवि भी मानना होगा।

पतंजलि का युग

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' लिखनेवाले वैयाकरण पतंजलि का समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी है, जब कि मगध का शासक ब्राह्मण-सम्राट् पुष्यमित्र शुंग था। महाभाष्य में 'भारत' (महाभारत) का किसी-न-किसी रूप में हवाला मिलता है और इसी प्रकार अन्य काव्य-कृतियों के प्रति भी उसके व्याकरण-सम्बन्धी प्रवचनों में निर्देश मिलता है, जिससे यह स्वीकार कर लेना सार्थक होगा कि पतंजलि के समय में रामायण के अतिरिक्त अन्य अनेक काव्य विद्यमान थे।

एक 'वाररुचि काव्य' का तो स्पष्ट उल्लेख पतंजलि ने किया है, परन्तु इस काव्य का ज्ञान हमें किसी और साधन से नहीं होता। संभवतः यह नष्ट हो गया। इनके अतिरिक्त महाभाष्य में नाट्य-साहित्य का भी संकेत है।

पतंजलि-काल में अथवा उससे पूर्व ही वैदिक छन्दों के उपरान्त मालती, प्रहर्षिणी, प्रमिताक्षरा और वसन्ततिलका आदि छन्दों का प्रादुर्भाव हो चुका था। इस युग में प्राचीन 'श्लोक', 'त्रिष्टुभ', आदि के साथ-साथ नवीन इन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, वंशस्था, समानी और विद्युन्माला आदि का प्रचलन निरर्थक न रहा होगा—उनसे काव्यों ही का कलेवर सजाया गया होगा। संभवतः उसी काल में उस साहित्य का भी प्रारम्भ हुआ होगा, जिससे 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' आदि पंचतंत्रीय कथानकों का पश्चात्काल में विकास हुआ। पतंजलि के अतिरिक्त 'छन्दःसूत्र' के रचयिता महर्षि पिंगल का शास्त्र भी काव्य-कला की मीमांसा करता है। पिंगल पतंजलि के बाद कदापि नहीं रखे जा सकते। कुछ लोगों ने तो पतंजलि और पिंगल को एक ही व्यक्ति माना है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि ईस्वी सन् का आरम्भ होने से पूर्व ही संस्कृत-वाङ्मय में वीर, खण्ड, गेय और गाथा-काव्यों की रचना काफी जोर पकड़ चुकी थी।

प्रशस्ति-काव्य

जो शिलालेख, स्तंभलेख तथा प्रशस्तियाँ आदि भारतीय इतिहास के प्रणयन में सहायक हुए हैं, उनसे संस्कृत-साहित्य के ज्ञान में भी बड़ी सहायता मिली है। उज्जयिनी के शक-कुल के क्षत्रप चष्टन के पौत्र रुद्रदामा ने गिरनार में १५०-५२ ईस्वी में एक शिलालेख खुदवाया था, जो अब तक विद्यमान है। वह संस्कृत-गद्यकाव्य का संभवतः प्रथम उदाहरण है। उसमें संस्कृत-वाङ्मय की वीरकाव्य से साधारण काव्य की ओर जो प्रगति हुई है, उसके विकास के दर्शन होते हैं। नासिक में प्राप्त आंध्रराज श्रीपुलुमावि का प्राकृत गद्य-लेख भी इस सम्बन्ध में उदाहरणतः रखा जा सकता है। कुछ विद्वानों का तो मत है कि यह लेख प्रथमतः संस्कृत में प्रस्तुत करके फिर प्राकृत में लिखा गया होगा। इस लेख में दृष्टव्य बात यह है कि इसमें शब्दयोजना और संदर्भ दोनों में संस्कृत-काव्यों की अलंकार-कला का अनुकरण किया गया है। इस प्रशस्ति-साहित्य से तत्कालीन संस्कृत-काव्य की बलवती धारा का प्रवाहित होना प्रकट है।

अश्वघोष

ईस्वी सन् के आरंभ में संस्कृत के जिन कवियों ने अपने ज्ञान, पदलालित्य और काव्य से देववाणी के वाङ्मय को मुखरित किया, उनमें बौद्ध भिक्षु अश्वघोष का स्थान सर्वोच्च है। अश्वघोष काव्य और बौद्ध दर्शन में अपने काल के अद्वितीय महारथी थे और न केवल इतिहास ही पर वरन् साहित्य पर भी उन्होंने अपने गहरे पद-चिह्न छोड़े हैं। संस्कृत के अनेक कवि अश्वघोष की भाषा, शैली और वर्णन-वैचित्र्य से प्रभावित और अनुगृहीत हुए हैं। उनमें स्वयं कालिदास भी हैं। परन्तु अश्वघोष कब हुए, इस सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत नहीं है। भारतीय कवियों ने अपने जन-संसार के संबंध में तो बहुत-कुछ लिखा, परन्तु स्वयं अपनी बाबत कुछ नहीं। इसी कारण काल के क्रम में उनका स्थान निश्चित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

अनुश्रुति के अनुसार अश्वघोष कुषाणराज कनिष्ठ के सम्मानित सभासद् थे। वही नृपति उन्हें पाटलिपुत्र से

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बलपूर्वक पुरुषपुर ले गया था। श्रीनगर में बुलाई गई चौथी बौद्ध संगीति में अश्वघोष उपस्थित थे। अपने 'सूत्रालंकार' में दो स्थलों पर अश्वघोष ने कनिष्क का उल्लेख किया है, यद्यपि दोनों निर्देश भूतकाल के हैं। संभवतः उनका तात्पर्य उस काल से है, जो शीघ्र व्यतीत हो चुका है। इससे कनिष्क और अश्वघोष की समकालीनता में बाधा नहीं पड़ सकती। अश्वघोष संभवतः कनिष्क के बाद तक जीवित रहे। यह बात इससे और भी स्पष्ट हो जाती है कि कनिष्क स्वाभाविक मृत्यु से नहीं मरा था, बल्कि उसकी हत्या की गई थी। कनिष्क के एक लेख में इस कवि का नाम आया है, यद्यपि वहाँ अश्वघोष न कहलाकर 'अश्वघोषराज' के नाम से उनका उल्लेख है। हमारी राय में अश्वघोष का काल १०० ईस्वी के लगभग मानना समुचित जान पड़ता है।

अनुश्रुति के अनुसार अश्वघोष पहले ब्राह्मण थे, फिर उन्होंने बौद्ध सर्वास्तिवाद को अपनाया और अन्त में बुद्ध के व्यक्तित्व से मुग्ध होकर वह महायान के अग्रदूत बन गए। महायान का प्रवर्तन तो कुछ काल के बाद नागार्जुन आदि ने किया, परन्तु उसकी ओर कुछ व्यक्तियों की प्रवृत्ति पहले ही हो गई थी। अश्वघोष उन्हीं में से एक थे। चीनी भिक्षु-यात्री ईत्सिंग (६७१-६९५ ई०) ने उनको महान् प्राचीन आचार्यों में माना है। उसका कहना है कि उस समय उनके ग्रन्थों का श्रद्धा और प्रेम-पूर्वक अनुशीलन होता था। स्वयं ही उनके ग्रन्थों की भूमिका आदि से विदित होता है कि अश्वघोष साकेत (अयोध्या) के थे और उनकी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' था।

अश्वघोष अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता माने जाते हैं। 'महायान-श्रद्धोत्पाद' और 'वज्रसूची' नाम के दो ग्रन्थ भी अश्वघोष-प्रणीत माने जाते हैं, यद्यपि इसे स्वीकार करना कई कारणों से कठिन है। इन ग्रन्थों में प्रथम तो महायान से सम्बन्ध रखता है और दूसरा ब्राह्मणधर्म की आलोचना से। ऑरेल स्टाइन ने एशियाई तुर्किस्तान में गोबी की मरुभूमि से इस महाकवि द्वारा प्रणीत कुछ नाटकों के टुकड़े खोद निकाले हैं। 'गण्डीस्तोत्र-गाथा', जिसके अश्वघोष द्वारा लिखित होने में संदेह करना अयुक्तियुक्त है, गेय साहित्य और ध्वनि में एक आदर्श उपस्थित करती है। इस पुस्तक का प्रयोजन दो लकड़ियों की चोट से ध्वनि उत्पन्न करके शब्दों द्वारा लोगों तक धार्मिक सन्देह को वहन करना है। अश्वघोष का 'सूत्रालंकार' अथवा 'कल्पनामदण्डितिका' नामक एक ग्रन्थ भी खण्डतः प्राप्त है। यह गद्य-पद्यात्मक (चम्पू) संकलन है, जिसमें अनेक बौद्ध कथाएँ सुरक्षित हैं। इस ग्रन्थ से अश्वघोष के विशद ज्ञान की सूचना मिलती है। इसमें महाभारत, रामायण, सांख्य और वैशेषिक दर्शनों और जैन सिद्धान्तों के अनेक हवाले मिलते हैं। सूत्रालंकार में ही अश्वघोष के सुन्दर महाकाव्य 'बुद्धचरित' का भी निर्देश मिलता है।

'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित'

अश्वघोष का कहना है कि जनसाधारण निर्वाण-प्राप्ति के उपाय नहीं करता, इसका कारण है सिद्धान्तों की जटिलता और इहलौकिक आनन्द के प्रति उनका अनुराग। इसलिए यदि कोई वस्तु औचित्य की ओर उन्हें झुका सकती है, तो वह केवल पार्थिव आकर्षण ही है। अतः काव्य-ग्रथित बुद्धचर्य्या ही उन्हें सत्य की ओर आकर्षिक कर सकती है। ऐसा विचार करके ही अश्वघोष काव्य-प्रणयन की ओर झुके और उन्होंने 'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित'-सी सुन्दर कृतियाँ रचीं। सौन्दरनन्द सम्भवतः उनका प्रथम काव्य था। इस काव्य की कथा 'महावग्ग,' और 'निदानकथा' में किसी-न-किसी रूप में वर्णित मिलती है, जिसे अश्वघोष ने काव्यानुकूल कर लिया है। अठारह सर्गों में प्रणीत इस काव्य का विश्लेषण इस प्रकार है—(सर्ग १) कपिलवस्तु का निर्माण; (२-३) राजा शुद्धोदन का परिवार और सर्वार्थसिद्ध तथा उनके सौतेले भाई नन्द का जन्म; (३) बुद्ध का वर्णन; (४-५) सुन्दरी का सौंदर्य, नन्द का विलास और बुद्धाभिमुख-गमन, तथा बुद्ध का उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का प्रयास; (६-९) सुन्दरी का अवसाद, नन्द की तृष्णा और पलायन-प्रयत्न, स्त्रियों के दुर्गुणों का वर्णन और उनके संसर्ग से प्राचीन महानुभावों का पतन; (१०) एकाक्षी वानरी के निर्देश से सुन्दरी के सौन्दर्य पर व्यंग्य और अप्सराओं के सौन्दर्य पर नन्द का मोह; (११) आनन्द के उपदेश; और अन्त में (१२-१८) बुद्ध द्वारा नन्द की दीक्षा और जनकार्य में अभिरुचि।

सौन्दरनन्द से 'बुद्धचरित' अधिक गौरवमय कृति है। परन्तु अभाग्यवश यह अपूर्ण है। इसके प्राप्त १७ सर्गों में अन्तिम चार सर्ग अश्वघोष के नहीं हैं। सौ वर्ष हुए अमृतानन्द ने ये चार सर्ग इस महाकाव्य में इसलिए जोड़ दिए थे कि उन्हें इसकी पूर्ण हस्तलिपि उपलब्ध न हो सकी थी। इसके चीनी और तिब्बती पाठों में २८ सर्ग हैं, जो ४१४ और ४२१ ईस्वी के बीच प्रस्तुत किए गए थे। ईत्सिंग को इन सर्गों का पता था। बुद्धचरित में अश्वघोष कलाकार के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। उसमें वर्णित स्थल काव्य के विचार से अत्यन्त सुघड़ हैं। कुछ दृश्य तो बहुत ही आकर्षक और

भव्य हैं । जब कुमार प्रासाद से बहिर्गत होता है, उसे सुन्दरियों की भीड़ आकर्षित करती है । परन्तु इस पृष्ठभूमि से उठकर उसकी मस्तिष्क-प्रक्रिया आगे आनेवाली जरा को देखकर स्तंभित और विषादपूर्ण हो जाती है । अन्ततः कुमार प्रासाद-विसर्जन का निश्चय कर लेता है ।

इसमें सन्देह नहीं कि एक अंश तक अश्वघोष के प्रतीक वाल्मीकि हैं । जैसे राम-विरहित दशरथ का रथ लौटता है, उसी तरह सिद्धार्थ-रहित शुद्धोदन का रथ भी वापस आता है । शुद्धोदन सिर पीट लेते हैं और उन्हें दशरथ की मृत्यु पर ईर्ष्या होती है । 'रामायण' के सुमन्त की जगह 'बुद्धोचरित' का छन्दक है । रथ को देखकर रामायण और बुद्धचरित दोनों में नागरिकाएँ वातायानों की ओर दौड़ जाती हैं, पर उसे रिक्त देख वेदना से कराह उठती हैं । अश्वघोष की प्रारम्भिक कल्पना जब कालिदास की पुष्ट कला में परिणत हो जाती है, तो वह महाकवि अपने 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' में दो-दो बार हमें इसी झाँकी के पुनः दर्शन कराता है ।

अश्वघोष की काव्य-शैली

यहाँ अश्वघोष की काव्य-शैली पर भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा । इस महाकवि की शैली 'वैदर्भी' है, जिसमें प्रसाद गुण अधिक होता है और जिसकी पदावली असमासित होती है । जनता काम-पीड़ित और तृषित है । उस पर शुष्क बौद्धों की प्रतारणा असर नहीं करती । कठोर सत्य कुण्ठित हो जाता है । जनसाधारण को तो चाहिए रंजित दृश्यों का अंकन, नारी का पार्थिव सौन्दर्य, अप्सरोचित नग्न वीभत्सता और फिर इन सब का लाक्षणिक परन्तु सशक्त विरोध । अपनी सादी परन्तु रुचिकर शैली में अश्वघोष अपने पाठकों को पहले श्रृंगार-सामग्री देते हैं, फिर उसके वीभत्स और असत् रूप का निराकरण करते हैं, और यह सब वह करते हैं एक सरल, चित्रमय और आकर्षक जगत् की अभिसृष्टि द्वारा । कवि अपने ग्रन्थों में पाण्डित्य की विवेचना नहीं करता, इसी से उसके सद्यःपतित दृश्यों की चोट गहरी होती है । अश्वघोष की कला आदिम जातियों के नृत्य की भाँति है, उसमें राजदरबारों की नर्तकी का तुलित-व्यंजित नर्त्तन नहीं, वरन् प्रारम्भिक मानव का आह्लाद सुरक्षित है, जिसे देखकर कलावन्त स्वयं अपनी मूर्च्छना को भूलाकर शिशून्माद में खो जाता है । बोधिसत्त्व निर्वाण प्राप्त करके अपने दुःखों का अन्त नहीं करता, वह प्राणियों के मोक्ष के लिए प्रयास करता है । यह दृष्टि-बिन्दु अश्वघोष का सर्वथा अपना न होकर भी एक ऐसे आर्द्र संसार की सृष्टि करता है, जो काव्य-जगत में नितान्त नवीन है । नन्द द्वारा सुन्दरी का श्रृंगार और उसके 'भक्ति-विशेषक-पत्रलेख' के अंकन बौद्ध भिक्षु की विसारित नागरिकता को क्षण भर के लिए पुनर्जाग्रत् कर देने की क्षमता रखते हैं ।

'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित' में रामायण के चरित्र-चित्रण की छाप तो है ही, उनमें उसकी उपमाएँ भी विशिष्ट रूप से प्रयुक्त हुई हैं । यमक का प्रयोग अश्वघोष ने बड़ी पटुता से निबाहा है, यद्यपि कवि ने अनोखेपन का जहाँ-तहाँ जो प्रयास किया है, वह वाल्मीकि के प्रसाद से अवश्य घट गया है । अश्वघोष का छन्दोज्ञान भी प्रचुर और पर्याप्त है । सामान्य छन्दों के अतिरिक्त महाकवि ने उद्गता, वर्धमान और उपस्थितप्रचुपित आदि का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग किया है ।

मातृचेट : : अवदान

कभी-कभी अश्वघोष और कवि मातृचेट को कुछ विद्वानों ने भ्रमवश एक ही माना है । परन्तु मातृचेट वस्तुतः एक अन्य व्यक्ति है, जिसके 'शतपंचाशतिकस्तोत्र' के अनेक अंश संस्कृत में इधर-उधर बिखरे मिल जाते हैं । इस स्तोत्र-शैली का विकास संस्कृत में प्रचुर रूप से हुआ है ।

मातृचेट ने जिस पद्धति को अपनाया था, उसका विशेष निरूपण उस साहित्य में हुआ, जिसे 'अवदान' कहते हैं । भक्तिपूर्ण गेय काव्य का आरम्भ वैसे तो गाथाओं में ही हो गया था, परन्तु इस काल में वह विशेष रूप से फूला-फला । धर्म के संबंध में किए गए विविध प्रयासों और प्रयोगों को पद्यबद्ध भाषा में सुनने की प्रगाढ़ अभिरुचि इस काल में उत्पन्न हुई । फलस्वरूप 'अवदानों' की सृष्टि हुई, जिनका रूप संकुचित धार्मिकता से कहीं उदार और निखरा हुआ है । इन अवदानों के रचयिता बौद्ध थे और इनका प्रतिपाद्य विषय बौद्ध कथानक था । इनके रचयिता इस बात में विश्वास करते थे कि बुद्ध की भक्ति मनुष्य के जीवन को मधुरतम और सुखमय बनाने में समर्थ है । हीनयान की मरुभूमि से हटकर बौद्ध मानव अब मानो हरी-भरी उपत्यका में जा पहुँचा था । बुद्ध और अर्हतों का मानवीय और मृदुल रूप उसे अधिक स्वादु और श्रेयस्कर प्रतीत हुआ और इसीलिए उसने उस साहित्य का निर्माण कर डाला, जिसे अवदान कहते हैं ।

इन अवदानों में सब से प्राचीन 'अवदानशतक' है, जिसका चीनी अनुवाद ईस्वी सन् की तृतीय शती के पूर्वार्द्ध में ही प्रस्तुत किया जा चुका था । अतः इस काल से पूर्व इस अनूदित पुस्तक के मूल की तो कम-से-कम रचना हो ही चुकी थी ।

फिर इसकी तिथि का ऊपरी छोर भी निश्चित किया जा सकता है। चूँकि मूल ग्रंथ में 'दीनार' (रोमक मुद्रा) का उल्लेख है, अतः इसे हम १०० ईस्वी से पूर्व किसी प्रकार भी नहीं रख सकते। वैसे कला के विचार से इस ग्रंथ का स्थान बहुत ऊँचा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु बौद्ध इतिहास के सम्बन्ध में इसका मूल्य कुछ थोड़ा नहीं है।

इस शतक का वर्णन-क्रम चुनी हुई बौद्ध पद्धति के अनुरूप है। इसमें अतिशयोक्ति और अस्वाभाविक वर्णनों की प्रचुरता है और भाव की खींचातानी में भाषा का सौन्दर्य नष्ट हो गया है। परन्तु इस विचार से देखने पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रंथ में भावों की उच्चता होगी। यह सत्य भी है। कथाएँ सारगर्भित अवश्य हैं, यद्यपि अस्वाभाविकता उनके सत्य को कितने ही स्थलों पर निस्सन्देह हास्यास्पद अथवा निर्मूल कर देती है। एक उदाहरण इस प्रकार है—मैत्रकन्यक अपनी माता के प्रति किए गए अपराध का भोग भोगने के लिए नरक में ६०,००० वर्षों तक अपने मस्तक पर जलते हुए लौह-चक्र को धारण करता है! वह इससे तभी उपरित हो सकता है, जब उसी का-सा कोई अपराधी उसके भार को अपने मस्तक पर धारण कर ले! परंतु मैत्रकन्यक दूसरे को अपने भार से दुःखी करने की अपेक्षा स्वयं उसे सहन करना उत्तम समझता है। उसके ऐसा घोषित करने के साथ ही उसके मस्तक का लौह-चक्र गायब हो जाता है! इस कथा में अस्वाभाविकता अवश्यक है, परन्तु कष्ट सहन के आदर्श का और साथ ही उसके सुन्दर फल का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

अन्य एक कथा में भी इसी प्रकार के एक धर्मपरक साहस-कार्य का निर्देश है। श्रीमती राजा बिंबिसार की पत्नी है, और उसके पुत्र एवं हन्ता राजा अजातशत्रु की वह विमाता है। अन्तःपुर की नारियों के लिए बिंबिसार ने एक स्तूप में बुद्ध का स्मारक रखा छोड़ा है। पितृहन्ता सम्राट् अजातशत्रु अपनी आज्ञा द्वारा उक्त स्मारक की पूजा निषिद्ध करता है। श्रीमती सम्राट् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करती है और फलस्वरूप प्राणदण्ड पाती है। पर तुरन्त ही दिव्यलोक में उसका अमानवीय जन्म होता है!

'दिव्यावदान'

निश्चय ही ये अवदान बौद्ध पुराण कहे जा सकते हैं। इन अवदानों में सब से सुन्दर और ऐतिह्यपरक कृति 'दिव्यावदान' है। इसका भी कलेवर 'अवदानशतक' की भाँति प्रायः सर्वास्तिवादियों के 'विनयपिटक' के कथानकों से निर्मित हुआ है। इसकी लगभग सम्पूर्ण काया हीनयान की है, यद्यपि इसका एक अंश महायानपरक भी है। उक्त अंश को 'महायानसूत्र' कहा भी गया है। ब्राह्मणराज पुष्यमित्र शुंग की असहिष्णुता का इसमें यथेष्ट वर्णन मिलता है। इसके अनुसार उस मिलिन्द-विजयी सम्राट् ने पाटलिपुत्र से जालंधर तक के सारे बौद्ध विहार जला डाले थे और शाकल (स्यालकोट) में घोषणा की थी कि जो कोई उसे बौद्ध श्रमण का एक मस्तक देगा, उसे वह सौ दीनार देगा! इस अवदान का एक अंग 'शार्दूलकर्णावदान' २६५ ई० में ही चीनी भाषा में अनूदित हो चुका था। इसमें भिक्षु आनन्द के पतन और बुद्ध द्वारा कन्या पतन की दीक्षा का वर्णन है। प्रकृति ने भिक्षु आनन्द को मोह लिया था। अन्त में आर्त्त होकर बुद्ध-शिष्य ने जब तथागत को पुकारा, तो बुद्ध ने उपदेश द्वारा दोनों का नियंत्रण किया।

परन्तु दिव्यावदान का सब से हृदयग्राही अवदान अशोक-पुत्र कुणाल के प्रसंग का है। विमाता चारुवाकी खंजननेत्र कुणाल पर मुग्ध होकर जब उसे नहीं पा सकती और वह आचारशील युवक जब उसे विरतमनोरथ कर देता है, तब वह वृद्ध अशोक के कान भर देती है। फलतः चारुवाकी की प्रवंचना से कुणाल के नेत्र निकाल लिए जाते हैं। परन्तु इस पर भी वह संयत युवक न तो विषाद के वशीभूत होता है, न क्रोध के! इस अवदान में भारतीय काव्य का आदर्श करुणा-स्रोत फूट पड़ा है।

'दिव्यावदान' की शैली वैसी ही विकृत और अनेकधा है, जैसी अनेकधा उसकी निर्माण-रश्मियाँ हैं। कहीं-कहीं तो इसमें नितान्त साधारण संस्कृत गद्य है, जो जहाँ-तहाँ गाथाओं से घुला-मिला है और कहीं-कहीं उसकी भाषा अत्यन्त समासित तथा छन्दयुक्त पद्यपरक है। 'दिव्यावदान' ही का एक अंश 'अशोकावदान' है, जिसमें कलिंग-युद्ध के बाद उपगुप्त द्वारा सम्राट् और मार की धर्मदीक्षा का विवरण है। मार को जीतकर जब उपगुप्त उसके बुद्ध रूप के सम्मुख अर्चना में दण्डवत् होते हैं, तब अश्वघोष के सूत्रालंकार का तद्विषयक प्रसंग नेत्रों के सामने आ जाता है। अवदान का रचयिता इस संबंध में निस्सन्देह अश्वघोष का ऋणी है।

'जातकमाला' :: आर्यशूर

अवदानों के बाद संस्कृत-काव्य-साहित्य कतिपय ऐसी कृतियों से सुशोभित हुआ, जिनकी भी काया अश्वघोष के आदर्श से अनुप्राणित थी। पालि से संस्कृत की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ओर बौद्धों का झुकाव अधिकतर अश्वघोष के कारण ही हुआ जान पड़ता है। स्वयं अश्वघोष का इस ओर झुकाव एक तो इस कारण से हुआ होगा कि वह ब्राह्मण था, दूसरे इसलिए भी कि इसी माध्यम के द्वारा वह लोगों में धर्म-प्रचार करना चाहता था। जब सर्वमान्य अश्वघोष का उदाहरण सामने था, तब समर्थ लोग उस उच्चवर्गीय साहित्य-शैली को क्यों न ग्रहण करते ? संभवतः इसी से संस्कृत ब्राह्मणों की भाषा होने के कारण यद्यपि बौद्धों द्वारा त्याज्य थी, फिर भी उन्हें उपादेय प्रतीत हुई।

अवदानों के बाद जिन लोगों ने अश्वघोष का अनुकरण करके संस्कृत में लिखा, उनमें 'जातकमाला' के रचयिता आर्यशूर का स्थान सर्वोच्च है। जातकमाला में संस्कृत-काव्य में बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथा दी गई है। जान पड़ता है कि अब संस्कृत जनों की 'व्यसनशीला' भाषा पुनः 'जन'-स्तुत्य पालि से बदलकर जन-भिन्न संस्कृत हो गई थी। देश की राजनीतिक स्थिति में भी तदनुरूप परिवर्तन हो चुका था। अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि भारत का शासन फिर अबौद्ध ब्राह्मण-मंत्रियोंवाले क्षत्रियों के हाथों में चला गया था। इससे देश में पालि के विपरीत फिर से संस्कृत का अनुशीलन आरंभ हो गया था। चूँकि वाकाटकों और नागों ने कनिष्क के बौद्ध उत्तराधिकारियों के दुर्बल हाथों से तलवार छीन ली थी, अतः इस परिवर्तन के अनुरूप ही क्षत्रिय नाग और ब्राह्मण वाकाटक राजाओं के प्रोत्साहन से फिर संस्कृत की धारा बह चली थी। इसी कारण बौद्ध लोग संस्कृत का प्रयोग अधिक करने लगे थे।

जातकमाला का प्रायः सारा विषय पालि 'जातकों' में उपलब्ध था। उनकी बारह कथाएँ तो जातकों के अतिरिक्त पालि 'चरियापिटक' में भी वर्णित थीं। ईत्सिंग के अनुसार बौद्धों में 'जातकमाला' की बड़ी प्रसिद्धि थी। अजन्ता के चित्रों में भी जातकमाला का विषय पंक्तियों सहित उल्लिखित है। इससे भी इस पुस्तक की प्राचीनता प्रमाणित है। इसके अतिरिक्त चूँकि आर्यशूर के अन्य एक ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में ४३४ ईस्वी में हो चुका था, अतः यह मानना कुछ अयुक्तियुक्त नहीं है कि जातकमाला उस समय से काफी पहले रची जा चुकी होगी। इससे आर्यशूर का तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी में होना ठीक जान पड़ता है।

आर्यशूर की शैली

आर्यशूर की शैली काव्य-प्रणाली-परक है। उसमें कला-चातुर्य तो है ही, साथ ही सुरुचि की पुष्टता और अतिरंजन विषयक संयम भी है। इसके गद्य और पद्य दोनों ही सुरुचिपूर्ण, सतर्क और संयत हैं, यद्यपि उसकी गद्य-शैली में समासित पदों का प्रचुर पुट है। इतना अवश्य सही है कि उसका गद्य समासित-पदगर्भित होने पर भी अस्वाभाविक और दूरूह नहीं होने पाता। उसकी पंक्तियों में सुरुचि और कारुण्य का अद्‌भुत पुट है, अतिरंजन अथवा अस्वाभाविकता का उसमें कहीं नाम तक नहीं है। उसके श्लोकों की सुघड़ता बरबस हमें अश्वघोष और कालिदास की याद दिला देती है।

बौद्ध होने के नाते आर्यशूर ने जहाँ-तहाँ प्राकृत का भी प्रयोग किया है, परन्तु उसकी भाषा अथवा छन्द-मर्यादा में कहीं दोष नहीं मिलता।

आर्यशूर की शैली के संबंध में एक बात का और विचार कर लेना समुचित है। अपने गद्य में स्थल-स्थल पर उसने पद्य का भी सहारा लिया है और यथास्थान श्लोकों का प्रयोग किया है। यह शैली निस्सन्देह आर्यशूर की अपनी सूझ नहीं है। इसमें उसका पथनिर्देशक कुमारपाल है।

वास्तव में इस मिश्रित शैली के प्रवर्तक के विषय में विद्वान् लोग एक मत नहीं हैं। ओल्डैनबर्ग के कथनानुसार अन्य देशों की भाँति भारत के भी प्राचीन साहित्य का मूल रूप 'पद्यवितरित' गद्य ही था। गद्य में पद्य का प्रयोग वहाँ किया जाता था, जहाँ या तो प्रारम्भिक मानव का अन्तस्तल गेय काव्य की प्रेरणा से थिरक उठता था, या जहाँ देवता के प्रति श्रद्धा और असाधु के प्रति शाप का उद्रेक होता था अथवा आशीर्वाद की भावना उच्छ्‌वसित होती थी। तात्पर्य यह है कि लिखते समय जिन-जिन स्थलों में भावना के सूक्ष्म तार स्पन्दित होकर बज उठते थे, वहाँ लेखक पद्य का सहारा लेकर अपनी अभिव्यक्ति करता था। इस विचार में काफी बल है, क्योंकि जातकों, पालि-ग्रन्थों, रामायण-महाभारत, ब्राह्मणों और अथर्ववेद तक में इस शैली का प्रयोग दिखाया जा सकता है। 'जातकमाला' और 'पञ्चतंत्र' इस शैली के प्राचीनतम उदाहरणों में से हैं। एक बात यह भी हो सकती है (जो अधिक संभावित जान पड़ती है) कि गद्य में पद्य का प्रयोग विचारपुष्टि के लिए उद्धरण की भावना से भी किया जाता रहा हो। क्योंकि यह भी भूला नहीं जा सकता कि इस युग के भारतीय साहित्य में हमें जहाँ पद्य सहित गद्य के उदाहरण मिलते हैं, वहाँ उसमें स्वतंत्र गद्य अथवा पद्य की विविध शैलियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में पाई जानेवाली 'कारिकाओं' को प्रसंग को उद्धृत करनेवाली ही मानना होगा। जो भी हो, आर्यशूर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और उससे भी पहले का कुमारपाल संस्कृत-साहित्य में इस शैली के विशिष्ट लेखक हैं ।

नागार्जुन, आर्यदेव, आदि

आरम्भकाल के इस संस्कृत-साहित्य में बौद्धों की देन का अनुपात प्रचुर है, पर ऊपर उल्लिखित लेखकों के अतिरिक्त अन्य नाम बहुत थोड़े हैं । वास्तव में अन्य बौद्ध लेखकों का दान संस्कृत-साहित्य के प्रति उतना नहीं, जितना कि भारतीय दर्शन और आन्वीक्षिकी के प्रति है । पहली शताब्दी ईस्वी के अन्त में या संभवतः दूसरी शताब्दी में होनेवाले नागार्जुन ने अपनी 'मध्यमकारिकाओं' में जिस नवीन शैली का उद्घाटन किया है, उसे हम 'वाग्वैचित्र्य' कह सकते हैं । उसकी प्रणाली में वर्णन-प्रगति है । उसके शब्दवैचित्र्य की वाह्याकृति में एक सत्य की निगूढ़ता है । नागार्जुन के प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद (२५० ई० के लगभग) होनेवाले आर्यदेव ने अपनी शैली में अद्भुत व्यंग्य-शक्ति का प्रदर्शन किया । उसकी 'चतुःशतिका' में ब्राह्मण-धर्म के अन्धविश्वासों, विशेषकर पाप-नाश के निमित्त गंगा-स्नान पर कठोर कुठाराघात हुआ है ।

अन्य बौद्ध लेखक

नागार्जुन ने अपने 'सुहृल्लेख' में किसी राजा के लिए बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण किया है । उसी के अनुकरण में चन्द्रगोमिन् ने अपना 'शिष्यलेखधर्म-काव्य' लिखा, जो पत्र के रूप में शिष्य के लिए प्रस्तुत बौद्ध उपदेशों का निचोड़ था । चन्द्रगोमिन् संभवतः सातवीं शती ईस्वी में हुआ । वास्तव में उसका वर्णन कालिदास के बाद होना चाहिए था, परन्तु उसका इस स्थल पर उल्लेख कर देने से शैली-विशेष की समुचित व्याख्या हो जाती है । चन्द्रगोमिन् के व्याकरण का उपयोग 'काशिकावृत्ति' में हुआ है और ईत्सिंग के संकेत से जान पड़ता है कि वह शायद उस चीनी विद्वान् के समय तक जीवित था । इस समय के ठीक-ठीक निर्णय में त्रुटि भी हो सकती है और संभव है चन्द्रगोमिन् का काल कुछ और पूर्व भी रखा जा सके । वैय्याकरण होने के कारण उसकी भाषा निर्दोष और गतिमती है, यद्यपि उसकी शैली में कोई विशेषता नहीं है ।

चन्द्रगोमिन् के साथ ही कतिपय अन्य बौद्ध आचार्यों का भी यहीं उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा । 'शिक्षा-समुच्चय' का लेखक शान्तिदेव लगभग सातवीं सदी ई० में हुआ था । उसने अपने 'बोधिचर्यावतार' में उनके आचरण का वर्णन किया है, जो बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं । उसका यह ग्रन्थ हीनयानश्रयी 'अर्हत'-पदेच्छकों की प्रचुर प्रतारणा करता है । अनुश्रुत्यानुसार शान्तिदेव किसी राजा का पुत्र था, जिसने विलास के जीवन से प्रव्रज्या का जीवन पसन्द किया था । उसका काव्य अधिकतर 'स्वान्तःसुखाय' लिखा गया प्रतीत होता है । महायान-सिद्धान्तों से मिश्रित उसका यह काव्य शैली की दृष्टि से काफी सशक्त है । उसमें वस्तु की अनित्यता के साथ ही भावना ही असत्यता का भी पूरा-पूरा निर्देश है । उसके कथनानुसार "कुछ सत्य नहीं, किसी वस्तु का लाभ-अलाभ नहीं, सुख-दुःख नहीं, राग-विराग नहीं । चाहे जितना खोजो, 'भाव'-जैसी कोई वस्तु नहीं ।" परन्तु शान्तिदेव का हृदय जनहित की भावना से अनुप्लावित है और इस विषय में लिखते समय वह अपार्थिव और प्रमत्त हो उठता है । इसी हेतु 'बोधिसत्त्व' का प्रयास उसे सर्वोपरि प्रतीत होता है । उसकी तुलना में उसी के संप्रदाय के चौथी सदी के वसुबन्धु और उसका अनुज असंग कितने शुष्क हैं ! असंग का 'महायानसूत्रालङ्कार' अत्यन्त लाक्षणिक और बोझिल शैली में लिखा गया है । उसकी शब्दयोजना अत्यन्त दुरूह है ।

वास्तव में अब ब्राह्मणों और बौद्धों दोनों ने संस्कृत को अपना लिया था । जब-तब बौद्ध सिद्धान्तों द्वारा संस्कृत की उपेक्षा में पालि-प्राकृत की काया अवश्य सजाई जाती रही, परन्तु लाक्षणिक व्याख्या के सिद्धान्त-सर्जन का मौका आने पर जब पालि-शब्दावली में उपयुक्त शब्दों का अभाव खलने लगा, तब ब्राह्मण, बौद्ध और अन्य आचार्य फिर संस्कृत की ओर लौटे । इसके अतिरिक्त काव्य-कला में पालि और संस्कृत की धाराओं में व्यंजनाशक्ति का असीम अन्तर था, जिसका प्रमाण शांतिदेव का अद्भुत पुष्ट, मार्मिक और हृदयहारी काव्य 'बोधिचर्यावतार' है ।

वात्स्यायन का 'कामसूत्र'

कालिदास के पूर्व संभवतः तृतीय-चतुर्थ शती ईस्वी में ही वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का भी प्रणयन हो चुका था । कामशास्त्र-विषयक यह सूत्र-ग्रन्थ अत्यन्त वैज्ञानिक कृति है और कामविज्ञान-सम्बन्धी गुह्य बातों के अतिरिक्त इसमें नागरिकों और नागरिकाओं के शृंगार तथा वेषभूषा पर भी विस्तृत व्याख्यान हैं । संस्कृत के काव्य-साहित्य की प्रगति में यह ग्रंथ अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है । इसमें वर्णित विषयों का सहारा लेकर कवियों ने अपने वर्णनों को पुष्ट और मार्मिक बनाया । स्वयं कालिदास भी अनेक अर्थों में वात्स्यायन के ऋणी हैं ।

संस्कृत-वाङ्मय—(८)

कालिदास से पहले का नाटच-साहित्य

पिछले अध्याय में हमने कालिकास से पूर्व के केवल काव्य-साहित्य ही के विकास का विहगावलोकन किया। आइए, अब नाटकों को भी लें, क्योंकि काव्य के साथ-साथ नाटच-साहित्य की पगडंडी पर भी कालिदास से पूर्व संस्कृत-वाङ्मय बहुत आगे कदम बढ़ा चुका था, जिसके कि साक्षी भास, शूद्रक आदि पूर्ववर्ती महान् नाटककार हैं। आइए, अव उनसे भी परिचय प्राप्त करें।

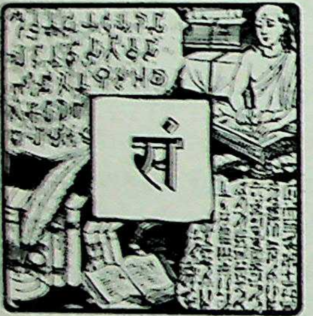

संस्कृत-काव्य को 'दृश्य' और 'श्रव्य' दो भागों में बाँटा गया है। नाटक दृश्य काव्य है। भारतीय नाटक का प्राचीनतम रूप हमें ऋग्वेद में ही देखने को मिल जाता है। ऋग्वेद में लगभग बीस सूक्तों में पात्रों के कथोपकथन हैं, जैसे सरमा और पणि; यम और यमी; इन्द्राणी, इन्द्र और वृषाकपि; पुरुरवा और उर्वशी आदि के प्रसंग। इन्हीं के कथोपकथनों में भारतीय नाटकों का आरंभ हुआ है। इनके अतिरिक्त वैदिक यज्ञों (जैसे पारिप्लव, महाव्रत आदि) में गायन के साथ नर्तन (नाट्य) आदि का जो समावेश था, वह भी नाटक के विकास में सहायक सिद्ध हुआ होगा।

पुत्तलिका-नाटच

भारत में पुत्तलिका-नाट्य भी बड़े प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। इसका भी उसके काया-निर्माण में काफी हाथ रहा होगा। कतिपय विद्वानों का तो मत है कि वास्तव में इस पुत्तलिका-नाट्य से ही भारतीय नाटक का स्पष्ट विकास हुआ। इस विचार को पूरा-पूरा स्वीकार करना तो कठिन है, परन्तु इतना माना जा सकता है कि उसके विकास पर इस नृत्य का प्रभाव अवश्य हुआ होगा। पुत्तलिका-नाट्य को दिखानेवाला 'सूत्रधार' कहलाता है और एक सूत्र के द्वारा पुत्तलिकाओं को खींच-खींचकर वह नचाता है। संस्कृत-मंच पर नाटक का आरम्भ करनेवाले भी 'सूत्रधार' और 'नटी' होते हैं। दोनों की यह समता आकस्मिक नहीं कही जा सकती। नाटक में पहले 'सूत्रधार' और उसका सहकारी 'स्थापक' रंगमंच पर आकर 'वस्तु' (प्लाट), 'नायक' और 'बीज' का निर्देश करते हैं। पुत्तलिकाओं के नृत्य में भी विविध पात्रों के नर्तन और अभिनय होते हैं। राजशेखर के एक नाटक में इस प्रकार की एक पुत्तलिका सीता का अभिनय करती है। संस्कृत-नाटक के विकास का आरंभिक संबंध प्राचीन छाया-नाटकों से भी रहा होगा। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में छाया-सीता का प्रवेश उसी प्राचीन पद्धति का अवशेष है।

भारतीय नाटक पर विदेशी विद्वानों ने ग्रीक पद्धति का जो प्रभाव सूचित किया है, वह कुछ अंशों में तो माना जा सकता है, परन्तु उनका यह कथन कि भारतीय नाटक ग्रीक नाटक की नकल है, सर्वथा निर्मूल है। इतना अवश्य है कि ग्रीक नाटक-पद्धति का संस्कृत नाटक पर प्रभाव पड़ा है। पर यवनिका को ग्रीक न मानकर पारसीक या ईरानी मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है। पारसीकों के नाटकों का वृत्तान्त हमें ज्ञात नहीं। फिर पारसीक ग्रीकों की भाँति इस देश में कभी रहे भी नहीं। एलक्जेण्डर और दिमित दोनों ने भारत में ग्रीक नागरिकों से भरे नगरों की स्थापना की थी। अन्य भारतीय नगरों में भी आज के हिन्दू-मुस्लिम पड़ोसियों की भाँति हिन्दू-ग्रीक एक साथ रहते थे। अन्तर केवल इतना ही था कि जहाँ मुसलमान धर्म में स्पष्टतया

हिन्दुओं से भिन्न हैं, वहाँ ग्रीकों ने अपने आचार तो हिन्दू कर ही लिए थे, साथ ही उनका धर्म भी वैष्णव हो गया था। तक्षशिला के ग्रीकराज अन्तलिखिद के दूत हेलियोदोर द्वारा स्थापित बेसनगर का वैष्णव गरुड़ध्वज आज भी इस बात का साक्षी है। इतना ही नहीं, बल्कि ये भारतीय ग्रीक अपने और हिन्दू नगरों में अपने नाट्याभिनय भी करते थे, जिसके अनेक अकाट्य प्रमाण मौजूद हैं। इसलिए ग्रीक नाटक का प्रभाव पश्चात्कालीन संस्कृत-नाटक के प्रवाह पर स्वीकार कर लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर विदेशी विद्वानों ने ग्रीक सन्धियों की जो बात कही है, वह अग्राह्य है। भारतीय नाट्य-शैली ग्रीक संधियों के प्रतिकूल है। जहाँ ग्रीक नाटकों में काल-सन्धि पूरी-पूरी निभाई जाती है, संस्कृत में ठीक उसके विपरीत है। इनमें दो अंकों के बीच कई वर्षों का अन्तर हो सकता है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' नाटक के प्रथम दो अंकों में बारह वर्ष का अन्तर पड़ता है। फिर संस्कृत नाटकों में एक स्थान के दृश्यों का नाट्य एक अंक में ही होता है, उसका पूरे नाटक में होना अनिवार्य या आवश्यक नहीं। 'शाकुन्तल' का छठा अंक दुष्यन्त के राज्य प्रासाद में परिघटित होता है और सातवें का दृश्य हिमालय के शिखर पर मारीच ऋषि के आश्रम में खुलता है, जिसका एकांश आकाश में संपादित है। अतः उक्त सिद्धान्त को स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है। सत्य यह जान पड़ता है कि संस्कृत-नाटक मूलतः भारतीय मस्तिष्क की ही उपज है, परन्तु इसके विकास में ग्रीक, आदि अन्य अनेक शक्तियाँ भी सहायक हुई हैं, जिनका इतिहास के प्रवाह में इस देश के साथ संपर्क होता रहा है।

संस्कृत-नाटक की रूपरेखा

भारतीय नाटककारों ने पात्र-चित्रण, वस्तु अथवा रंगमंच की आवश्यकताओं से अधिक ध्यान भावप्रदर्शन पर दिया। इसी कारण उनके नाटक अधिकतर आदर्शवादी और रोमैंटिक हो गए। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें भी जहाँ-तहाँ चरित्र-निर्माण और यथार्थ जीवन के उज्ज्वल चित्र हैं, परन्तु इन नाटककारों ने साधारणतया अभिनय-अंकन अथवा पात्रचित्र की अपेक्षा काव्यपरक विभूतियों को मुख्य माना। परन्तु इससे यह हरगिज न समझना चाहिए कि संस्कृत-नाटक अभिनय की 'गतिशीलता' में किसी प्रकार कमजोर हैं। वस्तु-निर्माण में भी उसमें पर्याप्त बुद्धि-व्यय हुआ है। आचार्यों ने नाटक 'वस्तु' को निम्नलिखित पाँच 'सन्धियों' में बाँटा है— (१) मुख (आरंभ), (२) प्रतिमुख (प्रसारारंभ), (३) गर्भ (बीज-विस्तार), (४) विमर्श (विराम) और (५) निर्वहण (समाप्ति)। भारतीय नाटकों में केन्द्रीय रूप में विशेषकर शृंगारिक और वीर भावों की ही प्रतिष्ठा की गई है। एक विशेष बात इन नाटकों में ध्यान देने की यह है कि ये 'दुःखान्त' नहीं हैं, यद्यपि 'विप्रलम्भ-शृंगार' में करुण विरह का प्रचुर समावेश हो जाता है। संस्कृत-रंगमंच पर मृत्यु, वध, रक्त, युद्ध, विप्लव आदि का प्रदर्शन निषिद्ध है। चूंकि संस्कृत-नाटकों में भाव-प्रदर्शन मुख्य रहा है, अतः इन्होंने अपनी वस्तु-सामग्री को जनप्रिय इतिहास (रामायण-महाभारतादि) से लिया है। इनके नायक का आदर्श 'धीरोदात्त' है।

रूपक के विभिन्न भाग

यहाँ पर यह कह देना श्रेयस्कर जान पड़ता है कि 'ड्रामा' का संस्कृत पर्याय 'नाटक' नहीं 'रूपक' है, यद्यपि हिन्दी की परम्परा से हमने भी यहाँ नाटक शब्द का ही प्रयोग किया है। 'नाटक' 'रूपक' का एक विभाग मात्र है। संस्कृत-नाट्य के दो भेद हैं— (१) रूपक, और (२) उपरूपक। इनमें से रूपक के विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में निम्नलिखित दस विभाग किए हैं—(१) नाटक (जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल), (२) प्रकरण (मालतीमाधव), (३) भाण (कर्पूरचरित), (४) व्यायोग (मध्यमव्यायोग), (५) समवकार (समुद्रमंथन), (६) डिम (त्रिपुरदाही), (७) ईहामृग (रुक्मिणी-हरण), (८) अङ्क अथवा उत्सृष्टिकाङ्क (शर्मिष्ठा-ययाति), (९) वाथी (मालविका), और (१०) प्रहसन (मत्तविलास)। इसी प्रकार उपरूपक के भी अठारह विभाग किए गए हैं, जो निम्नलिखित हैं—(१) नाटिका (जैसे रत्नावली), (२) त्रोटक (विक्रमोर्वशी), (३) गोष्ठी (रैवत-मदनिका), (४) सट्टक (कर्पूरमंजरी), (५) नाट्यरासक (विलासवती), (६) प्रस्थान (शृङ्गारतिलक), (७) उल्लाप्य (देवी-महादेव), (८) काव्य (यादवोदय), (९) प्रेङ्खण (बालिवध), (१०) रासक (मेनकाहित), (११) संलापक (मायाकापालिक), (१२) श्रीगदित (क्रीड़ारसातल), (१३) शिल्पक (कनकावतीमाधव), (१४) विलासका, (१५) दुर्मल्लिका (बिन्दुमती), (१६) प्रकरणिका, (१७) हल्लीश (केलिरैवतक), और (१८) भाणिका (कामदत्ता)। ये वर्ग इतने हैं कि विश्वनाथ दो के उदाहरण तक न दे सके! परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उदाहरण थे ही नहीं, क्योंकि परिभाषा बाद में बनी और विभाग भी बाद में हुए, जबकि नाटक पहले रचे गए थे।

भारतीय नाटकों की रचना पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से भी पहले आरंभ हो गई थी, इसके स्पष्ट प्रमाण हैं । पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के महावैयाकरण पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में नाटकीय 'सूत्रों' का उल्लेख किया है। ये सूत्र उन नाटकों के संबंध में ही बने होंगे, जो तत्कालीन समाज में प्रचलित रहे होंगे। 'अर्थशास्त्र' में प्रयुक्त 'कुशीलव' शब्द भी नाट्यनिरूपित काव्य की संज्ञा हो गया था । पुष्यमित्र शुंग के समकालीन, द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व के महर्षि पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में विदित दो नाटकों—'कंसवध' और 'बलिबन्ध'––का स्पष्ट उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने पात्रों के प्रसाधन (वर्णचित्रण) और तीन प्रकार के कलाकारों का भी निर्देश किया है। 'रामायण' में 'नाटक' शब्द और 'महाभारत' में 'काष्ठमयी नारीमूर्ति' का उल्लेख है। 'हरिवंश' में तो स्पष्टतया उस नाटक का उल्लेख है, जिसे कृष्ण के वंशजों ने खेला था। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक काल में रचे गए अनेक प्राचीन नाटक भी उपलब्ध हैं। मध्य एशिया की तुरफानी मरुभूमि में सर आरेल स्टाइन ने कुछ संस्कृत ग्रन्थ खोद निकाले हैं। उनमें बौद्ध दार्शनिक और कवि अश्वघोष के लिखे 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक एक नाटक (या 'प्रकरण') का कटा-फटा रूप मिला है। उपलब्ध नाटकों में निस्संदेह यह प्राचीनतम है—प्रथम शताब्दी ईस्वी का। परन्तु इसकी परिमार्जित शैली से सिद्ध है कि यह भारतीय नाटकीय परम्परा की एक कड़ी है, न कि उसका श्रीगणेश। अश्वघोष की कोई नाटयकृति पूरी नहीं मिली है, इससे हम उसका उल्लेख मात्र करके रह जाते हैं, उस पर विचार नहीं कर सकते।

भास

'मालविकाग्निमित्र' नाटक के आरंभ में, अनेक प्राचीन नाटककारों की रचनाओं के होते हुए भी, अपनी कृति की सराहना करते हुए कालिदास कहते हैं—"प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।" इसमें भास, सौमिल्लक और कविपुत्रादिकों को पूर्ववर्ती माना गया है। भास का काल संदिग्ध है। सौमिल्ल और कविपुत्र के तो नाम भी हमें विदित नहीं, परन्तु चूँकि कालिदास ने अपने नाटकों को उनकी कृतियों से श्रेष्ठ घोषित किया है, इसलिए उनके नाटक भी तब अवश्य उपलब्ध रहे होंगे। संभवतः वे दोनों भास से भी प्राचीन रहे हों। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि उनका समय ईस्वी पूर्व की शताब्दियों में रहा हो और इस प्रकार वे अश्वघोष के भी पूर्ववर्ती रहे हों। प्रमाणों के अभाव में अभी उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। परंतु भास की ऐतिहासिकता तो पं० गणपति शास्त्री द्वारा उनके तेरह नाटकों के पुनरुद्धार से स्पष्टतया स्थापित हो गई है। अतः अब हम भास के संबंध में ही विचार करेंगे।

भास पर इधर काफी विचार-संघर्ष हुए हैं। पहले तो उनकी कृतियों के सम्बन्ध में ही दो मत रहे हैं और अब भी वे सर्वथा एक नहीं हो सके। विद्वानों का एक मत गणपति शास्त्री द्वारा प्राप्त नाटकों को भासकृत मानता ही नहीं। परन्तु अधिकतर लोगों की प्रवृत्ति उन्हें भास के ही मानने की ओर है। उनके पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन से भी यह बात प्रमाणित हो जाती है। भास की कृतियों के पुनरुद्धार का श्रेय, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पं० गणपति शास्त्री को ही है। उन्होंने ही सन् १९१२ ई० में इन्हें सम्पादित कर हमारे सामने रखा और अपने सम्पादकीय वक्तव्य में भास का काल लगभग तीसरी शताब्दी ई० पू० निश्चित किया। परन्तु प्राकृत और भाषा-संबंधी अन्य प्रमाणों के सामने भास का काल वस्तुतः तीसरी सदी ईस्वी से पहले नहीं रखा जा सकता। भास का उल्लेख कालिदास, बाण, राजशेखर, प्रभृति सभी प्राचीनों ने किया है और उनकी विविधमुखी प्रतिभा उनके अनेक नाटकों और भिन्न-भिन्न कथावस्तुओं से सिद्ध है। भास की शैली सरल, सशक्त, और वैदर्भी है। परन्तु उनका विशिष्ट सौंदर्य उनके नाटकीय निरूपण, अभिनय-क्षमता और नाटच-गति में है, जिनका उन्होंने काव्य-सौंदर्य की वेदी पर बलिदान नहीं किया है। भास के तेरहों नाटक तीन भागों में विभाजित किए जा सकते हैं––(१) रामायण-वस्तुकथावाले, (२) महाभारत, हरिवंश और पुराण-वस्तुकथावाले, और (३) गुणाढच की 'बृहत्कथा' और इसी प्रकार के अन्य ग्रंथों से आकृष्ट वस्तुकथावाले।

इनमें रामायणपरक नाटकों में से 'प्रतिमा नाटक' विशेष लोकप्रिय हुआ। यह सात अंकों में है। इसकी कथा दशरथ के मृत्यु-काल से आरंभ होकर राम के अयोध्या-आगमन तक चलती है। 'अभिषेक-नाटक' की कथा भी रामायण से ही ली गई है और उसमें रामाभिषेक का वर्णन है। महाभारत की कथाओं से लिए गए नाटकों में 'मध्यमव्यायोग' प्रमुख है। यह एक ही अंक में समाप्त है। इस प्रकार यह आधुनिक एकांकी नाटकों का पूर्ववर्ती है, यद्यपि वर्तमान

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एकांकीयों का यह प्रतीक नहीं है । इसमें हिडिम्बा राक्षसी और मध्यम पाण्डव भीम के प्रेम का वर्णन है । 'मध्यमव्यायोग' की ही भाँति 'दूत-घटोत्कच' भी एकांकीय 'व्यायोग' ही है । इसनें अभिमन्यु के निधन के बाद, घटोत्कच कौरवों के प्रति यह संदेशवहन करता है कि अर्जुन उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था में शीघ्र सजग है । 'कर्ण-भार' और 'ऊरुभङ्ग' भी दोनों एकांकीय नाटक ही हैं । इनमें से पहले में इन्द्र द्वारा कर्ण के कवच और कुण्डलों का अपहरण है और दूसरे में भीम-दुर्योधन-युद्ध तथा प्रतिद्वन्दी द्वारा दुर्योधन का ऊरुभंजन वर्णित है । कौरवों के प्रति पाण्डवों की ओर से मैत्री-भाव उत्पन्न करने के अर्थ कृष्ण का दौत्य-कार्य 'दूतकाव्य' नामक एक अन्य एकांकीय का विषय है । 'पञ्चरात्र' तीन अंकों में प्रस्तुत समवकार वर्ग का एक नाटक है । इसमें द्रोण के उस यज्ञ का वर्णन है, जिसकी दक्षिणा में आचार्य पाण्डवों के लिए दुर्योधन से आधा राज्य माँगते हैं । दुर्योधन उसे देना स्वीकार तो कर लेता है, परन्तु उसके बदले वह चाहता है कि पाण्डव अपने अज्ञातवास से पाँच रातों के भीतर ही प्रकट हो जायँ । 'बाल-चरित' पाँच अंकों में है । इसका सम्बन्ध कृष्ण के बालपन से है और इसकी वस्तुकथा सम्भवतः 'हरिवंश' और अन्य पुराणों से ली गई है । भास के नाटकों में 'स्वप्नवासवदत्ता' सब से सुन्दर है ! इसमें वस्तु निर्माण खूब हुआ है और इसके अभिनयन तथा पात्रचित्रण में नाटककार की कला खुल पड़ी है ! यह नाटक आरम्भ से अन्त तक घटना-वैचित्र्य से पूर्ण तथा नाटकीय भावांकन में सुन्दर है । इसके ६ अंकों में मंत्री यौगन्धरायण द्वारा राजनीतिक उद्देश्य से सम्पादित वत्सराज उदयन और मगधराज दर्शक की भगिनी पद्मावती का विवाह वर्णित है । इसे संपन्न करने के अर्थ वत्सराज का मंत्री यौगन्धरायण मिथ्यारूपेण यह प्रकाशित करता है कि प्रासाद में आग लग जाने के कारण पूर्वमहिषी वासवदत्ता जल गई है । 'स्वप्नवासवदत्ता' के पूर्वभागस्वरूप चार अंकों में प्रस्तुत 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाम का एक और नाटक है, जिसमें यौगन्धरायण बन्दी वत्सराज उदयन को उज्जयिनी से छुड़ा लाने की प्रतिज्ञा करता है और उसे तथा उसकी प्रेयसी वासवदत्ता को हाथी पर भगा लाता है । हाथी पर भागनेवाला यह चित्र शुङ्गकालीन (दूसरी शताब्दी ई० पूर्व) के एक ठीकरे पर भी अंकित है, जो उदयन की राजधानी कोशाम्बी से मिला है और जिसके दो नमूने काशी के 'भारत-कला-भवन' में सुरक्षित हैं । वासवदत्ता अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत महासेन की कन्या थी । प्रद्योत वत्स-विवाह करना चाहता था । उसने गजाखेटप्रेमी उदयन को आखेट के समय धोखे से पकड़कर उज्जयिनी में बन्दी कर लिया । वहाँ वत्सराज और वासदत्ता का प्रेम हो गया । फिर यौगन्धरायण ने बड़ी युक्तिपूर्वक उनको कोशाम्बी पहुँचाया । यही इस नाटक का प्रसंग है । उदयन-संबंधी एवं अन्य शेष नाटकों की कथाएँ 'बृहत्कथा' और 'कथा-सरित्सागर से ली गई जान पड़ती हैं । 'चारुदत्त' नामक प्रकरण (नाटक) अपूर्ण है । यह चार अंकों में है । शूद्रक का 'मृच्छकटिक' भास के इसी नाटक पर अवलंबित है । इसका नायक ब्राह्मण चारुदत्त और नायिका वेश्या वसन्तसेना है । 'अविमारक' नामक छः अंकों के अन्य एक नाटक में विष्णुसेन (अविमारक) और कुरङ्गी का प्रेम-प्रसङ्ग है ।

शूद्रक

वामन ने सब से पहले राजा शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' का उल्लेख किया है । 'मृच्छकटिक' दस अंकों का एक 'प्रकरण' है । 'मृच्छकटिक' के भी रचना-काल और नाटककार के संबंध में विद्वानों में मतभेद है । एक वर्ग का कहना है कि यह नाटक वस्तुतः दण्डी का है, जिसने अपने 'काव्यादर्श' में इसका एक श्लोक उद्धृत किया है । परन्तु भास के नाटकों के पुनरुद्धार से पता चलता है कि यथार्थतः वह श्लोक मूल रूप में भास के 'चारुदत्त' और 'बालचरित' में मिलता है । अतः 'मृच्छकटिक' चारुदत्त की रचना के शीघ्र ही बाद संभवतः प्रथम शताब्दी ईस्वी में लिखा गया होगा । राजा शूद्रक अनेक शास्त्रों का आचार्य कहा गया है । मृच्छकटिक में लिखा है कि शूद्रक ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था और ११० वर्ष की अवस्था में अपने पुत्र को राज्य सौंप कर अग्निप्रवेश किया था । इससे यह सिद्ध है कि या तो इसका यह अंश प्रक्षिप्त है या इसका रचयिता कोई अन्य है । इस बात में भी संदेह किया गया है कि शूद्रक नाम का कोई राजा कभी हुआ भी ! शूद्रक का नाम 'राजतरङ्गिणी', 'कथासरित्सागर' और 'स्कन्दपुराण' में भी मिलता है । कुछ हस्तलिपियों में लिखा है कि शूद्रक पहले शालवाहन राजा का मंत्री था, फिर प्रतिष्ठान का राजा हो गया था । प्रो० तेन कोनो ने शूद्रक को आभीरराज शिवदत्त माना है । फ्लीट के मतानुसार शूद्रक के पुत्र ईश्वरसेन ने आंध्रों को हराकर २४८-४९ ईस्वी में चेदि संवत् चलाया । 'मृच्छकटिक' नाटक की भाषा सजीव और उसका चरित्रांकन सुन्दर है । इस रचना में चारुदत्त और वसन्तसेना का बड़ा अभिराम चित्रण नाटककार ने किया है ।

संस्कृत-वाङ्मय—(६)

कविकुलगुरु कालिदास

कालिदास संस्कृत-काव्य-गगन के चन्द्रमा हैं। उन्होंने अपनी सुधा-रश्मियों से जो अमृत बरसाया है, उससे हमारे वाङ्मय का मुख अनन्तकाल के लिए उजागर हो उठा है। उनकी देन इतनी गरिमामय है कि अकेले उन्हीं के बल पर संस्कृत-साहित्य विश्व-साहित्य के प्रांगण में सब से अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित रह सकता है। तो फिर आइए, इस महाकवि के व्यक्तित्व और उसकी महान् साधना का परिचय प्राप्त करें।

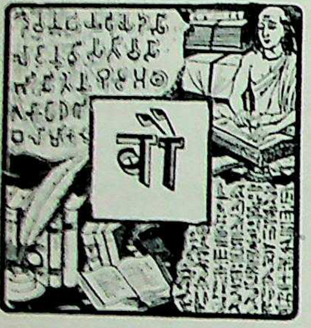

बौद्ध कुषाणों के शासन-काल के बाद नाग-वाकाटकों ने अपने साम्राज्य की नींव डाली। उनके समय में ब्राह्मण-धर्म का फिर एक बार भाग्योदय हुआ और जब उनके बाद गुप्त कुल का प्रादुर्भाव हुआ, तब तो ब्राह्मण-धर्म का अपूर्व पुनरुत्थान हो गया। गुप्त सम्राट् 'परम भागवत' और 'परम वैष्णव' थे। इस कारण उनकी छाया में देववाणी संस्कृत का पुनरोदय अवश्यम्भावी था।

भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग

गुप्त काल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं, क्योंकि उस काल में इस देश के जन-जीवन के क्या राजनीतिक और क्या सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अपूर्व उन्नति हुई थी। इस काल में 'चिरोत्सन्न' अश्वमेध की परंपरा फिर बलवती हुई। सम्राट् समुद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय की तथा शाहानुशाहि और शक-मुरुण्डों को काबुल की उपत्यका में धकेल दिया। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने शकों को मालवा से बहिर्गत कर दिया और लौहित्य से आगे बढ़कर सिंधु के सातों मुखों को पार कर कोजक-अमरान पर्वतों की छाया में वह्लीक के हूणों को धूल चटा दी। इन उदात्त वीरों की प्रशस्ति से संस्कृत-भाषा क्योंकर न मुखरित होती ! फिर जिस प्रकार एक ओर चित्र-तक्षणादि कला के आचार्यों ने इस स्वर्ण-युग का नाम सार्थक किया, उसी प्रकार दूसरी ओर हरिषेण और वत्सभट्टि तथा कालिदास और विशाखदत्त जैसे उद्भट साहित्यकारों ने साहित्य का साज सँवारा। इनमें कालिदास न केवल इस काल ही के वरन् समस्त इतिहासकाल के एक दैदीप्यमान् रत्न थे। विश्व-साहित्य में उनका स्थान सब से अग्रिम पंक्ति में है और संस्कृत-साहित्य में तो उनकी जोड़ का कवि हुआ ही नहीं। यशस्वी वाल्मीकि तक का ऐश्वर्य उनके सम्मुख धूमिल हो जाता है। उन्होंने काव्य में अपने नाम का साका चलाया है।

संस्कृत-काव्य की प्रगति के दिग्दर्शन के पूर्व इस युग के अन्य स्कन्धों का भी सूक्ष्मावलोकन लाभकर होगा। इस युग में तक्षणकला में तो आश्चर्यजनक कुशलता दिखाई ही दी, साथ ही मुद्राओं के क्षेत्र में भी अपूर्व उन्नति हुई। गुप्त काल के सुवर्ण-सिक्के कला की पराकाष्ठा हैं। उनकी सुन्दरता भारतीय मुद्रांकन में न तो इससे पूर्व और न पश्चात् ही फिर प्रकट हुई। गणित, ज्योतिष आदि भी इस युग में विशेष रूप से चमके। वराहमिहिर (लगभग ५५० ईस्वी) की 'पंचसिद्धान्तिका' और आर्यभट (जन्म ४७६ ईस्वी) की कृतियों में इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। इस काल में विदेशों से भी खूब संबंध बना रहा। यह वैदेशिक संबंध चीन के साथ विशेष प्रकार से फूला-फला। भारतीय बौद्ध चीन गए और चीनी बौद्ध भारत में आते-जाते रहे। फाह्यान ने, जो भारत में ४०१ से ४१० ईस्वी तक भ्रमण करता रहा, तत्कालीन समाज का अत्यन्त उदार वर्णन किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वह लिखता है कि देश में आने-जाने की यथेष्ट सुविधाएँ थीं; न्याय-व्यवहार का समुचित रीति से पालन होता था; दण्ड साधारण और शुल्कप्राय था; प्राणदण्ड उठा दिया गया था; राजमार्ग दस्युओं से सुरक्षित थे; साम्राज्य की आय भूमिकर पर अवलंबित थी और राजकर्मचारी नियमित वेतन पाते थे; चाण्डाल और अन्य नीच व्यक्ति नगर के बाहर रहते थे और जब वे नगर में आते थे तो सवर्णों को सूचित करने के लिए दो लकड़ियों को बजाकर ध्वनि उत्पन्न करते थे !

अन्तिम प्रसंग से स्पष्ट है कि इस युग में ब्राह्मण-धर्म का पूर्णतया पुनरावर्त्तन हो गया था। ऊपर कहा जा चुका है कि गुप्त सम्राट् परम वैष्णव थे। विष्णु का वाहन गरुड़ उनकी विजयवाहिनी की ध्वजा पर अंकित था और उनकी मुद्राएँ मयूर, कार्तिकेय और लक्ष्मी के चित्रों से अंकित थीं। फिर भी सभी गुप्त सम्राट् पूर्णतया सहिष्णु थे और बौद्ध धर्मावलंबियों का वे आदर करते थे। तत्कालीन बौद्ध आचार्य वसुबन्धु समुद्रगुप्त का गुरु और मित्र था, यद्यपि समुद्रगुप्त ने चिरोत्सन्न अश्वमेध का फिर से संस्कार किया, जिसका उसके पौत्र कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने भी अनुष्ठान किया। इस शक्तिशाली राजपरंपरा का एक असाधारण वैभव तो यही था कि देश में शान्ति और समृद्धि बनी हुई थी। ऐसे काल में काव्य का चमक उठना कुछ अद्भुत बात न थी।

गुप्त राजकुल संस्कृत भाषा और साहित्य से प्रगाढ़ स्नेह रखता था। स्वयं समुद्रगुप्त ने अपनी प्रतिभा से कविकुल में प्रतिष्ठा पाई थी और वीणावादन में तो उसने 'तुम्बरु' और नारद को भी लज्जित कर दिया था। प्रयाग के स्तंभ-लेख में सम्राट् का प्रशस्ति-गायक कवि हरिषेण उसे 'कविराज' कहता है और उसे अनेक कविताओं का रचयिता बताता है। उस प्रशस्ति के अनुसार 'कविराज' समुद्रगुप्त विद्वानों और कवियों के साथ समागम करता था, वह उनसे शास्त्रार्थ और संगीतचर्चा तथा कथोपकथन करता था। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य सहज ही उज्जयिनी के विक्रमादित्य के नाम से व्यक्त किया जाने लगा। अनुश्रुति ने उसे 'नवरत्नों' का पालनकर्त्ता घोषित किया। ये 'नवरत्न' थे—धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, बेताल भट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि। इतिहास के अनुशीलन ने इस अनुश्रुति को हिला दिया है, कारण ये रत्न समकालीन न थे। धन्वन्तरि, जिनके नाम पर संस्कृत में कुछ वैद्यक-ग्रन्थ मिलते हैं, अमरसिंह से काफी प्राचीन हैं। स्वयं अमरसिंह कालिदास के ग्रन्थों का ऋणी है, इससे उनके बाद का है। शंकु और बेताल भट्ट इतिहास में जाने हुए व्यक्ति नहीं हैं। कोषकर्त्ता क्षपणक और वररुचि का भी समय अज्ञात है। वररुचि यदि कात्यायन (शकटार) है, तो उसे नन्दराज का समकालीन (संभवतः चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व का) होना चाहिए। हाँ, वराहमिहिर निस्संदेह ईसा की छठी शती में विद्यमान थे। ये नवरत्न चाहे समकालीन अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा के सभासद न रहे हों, परंतु इससे चन्द्रगुप्त का कवि-कुल से तो संबंध स्थापति हो ही जाता है। फिर उसके पिता का प्रशस्ति-लेखक कवि हरिषेण भी संभवतः उसके प्रश्रय में था। यदि विद्वानों के इस मत को हम मानें कि प्रयाग का स्तंभ-लेख समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् लिखा गया, तब तो सहज ही हरिषेण चन्द्रगुप्त का राजकवि हो जाता है। इसके अलावा उस सम्राट् का मंत्रिप्रवर कौत्स वीरसेन काव्य से अपना मनोरंजन करता था और सम्भवतः स्वयं एक कुशल कवि भी था।

इन्हीं दिनों सांख्य-कारिकाओं का रचयिता ईश्वरकृष्ण अपना दर्शन-विस्तार कर रहा था, जो सम्राट् समुद्रगुप्त के पूर्वगुरु और मित्र वसुबन्धु की उत्कट आलोचना का लक्ष्य बना था। इसी समय के कुछ ही पूर्व अथवा पश्चात् दुर्धर्ष समालोचक और बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग हुआ, जिसकी जिज्ञासा से कवियों के हृदय आकुल हो जाते थे। उसे अनुश्रुति कवि कालिदास का कठोर आलोचक कहती है। उसके नाम की छाया टीकाकार मल्लिनाथ ने उस महाकवि के मेघदूत की 'दिङ्नागानां पथिपरिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्' पंक्ति में ढूँढ़ निकलती है। नाटचकला के क्षेत्र में भी इस काल में प्रचुर अभिव्यक्ति हुई। स्वयं कालिदास ने अपने शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र जैसे सुन्दर नाटक लिखे। 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त' का अद्भुत रचयिता नाटककार विशाखदत्त भी संभवतः इसी काल में हुआ। कलाप्रेमी सम्राटों के आश्रय में नाटचकला का विकास न हो, यह कैसे संभव था?

कालिदास का कहना है कि राजा की ओर से विचक्षण राजपुरुष नियुक्त होते थे, जिनका कर्त्तव्य यह देखना था कि पहली बार खेला जानेवाला नाटक सुन्दर है या असुंदर! संभवतः स्वयं कालिदास का प्रारंभिक नाटक 'मालविकाग्निमित्र' भी इस राजकीय आलोचना से नहीं बच सका था।

प्रशस्ति-काव्य :: हरिषेण, वत्सभट्टि आदि

गुप्त काल की काव्य-धारा के अनुशीलन में तत्कालीन प्रशस्ति-लेख भी अत्यन्त सहायक होते हैं। ये प्रायः शिलाओं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और स्तंभों पर खुदे हुए हैं। यह समय कुछ ऐसा था कि सम्राटों ने अपनी मुद्राओं पर भी उपजाति आदि छन्दों के काव्य-खण्ड खुदवाए थे। इन प्रशस्ति-लेखों में चार तो प्रसाद, माधुर्य और ओज में असाधारण हैं। इनमें से एक कवि हरिषेण द्वारा रचित सम्राट् समुद्रगुप्त की वह प्रसिद्ध प्रशस्ति है, जो प्रयागवाले अशोक-स्तंभ पर अंकित है। यह लगभग ३४५ ईस्वी में प्रस्तुत हुई थी। दूसरी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की प्रशस्ति है, जो दिल्ली-मेहरौली के लौह स्तंभ पर अंकित है। तीसरी सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की प्रशस्ति है, जो गिरनार-जूनागढ़ (काठियावाड़) की शिला पर खुदी है, और चौथी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में सैदपुर भीतरी के स्तंभ पर अंकित प्रशस्ति है। इनके अतिरिक्त अश्वमेधपराक्रम सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य और उनके सामन्तराज मालवा के बन्धुवर्मा के समय का दशपुर (मंदसौर) का एक सुन्दर लेख और है, जो किसी राजकवि का नहीं प्रत्युत एक साधारण नागरिक कवि वत्सभट्टि का है। यह लेख ४७३-७४ ईस्वी का है। इन लेखों से स्पष्ट है कि इस समय तक काव्य का कितना अधिक विकास हो गया था और किस प्रकार राजकाज में भी वह व्यवहृत होता था।

इन कवियों में कई तो साम्राज्य के मंत्री तक थे। हरिषेण सम्राट् समुद्रगुप्त का महासान्धिविग्रहिक था। उसकी प्रयाग-स्तंभवाली प्रशस्ति को समीक्षकों ने काव्य की संज्ञा प्रदान की है। एक प्रकार से यह प्रशस्ति कुछ अजीब-सी है। सारी कविता प्रायः एक ही लंबा वाक्य है, जिसमें प्रारम्भ में आठ श्लोक हैं, फिर एक गद्य-वाक्य है और अंत में फिर एक श्लोक है। इसमें भावों और भाषा की काफी गुत्थी है। इसके बचे हुए सात श्लोकों में चार छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनकी शैली वैदर्भी है। वे छन्द हैं—स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीड़ित, मन्दाक्रान्ता और पृथ्वी। गद्य के पद बाण की भाँति समासित हैं। शब्दचित्र का अद्‌भुत प्रभाव हरिषेण का वह श्लोक वहन करता है, जिसमें पिता चन्द्र गुप्त (प्रथम) पुत्र समुद्रगुप्त को 'आर्य' कहकर ग्रहण करते और अपने सारे मलिनमुख पुत्रों के बीच उसे ही अपने बाद के साम्राज्य का उत्तराधिकारी घोषित करते हैं।

मेहरौली के लोहे के स्तंभ पर गुप्त ब्राह्मी में 'चन्द्र' की जो प्रशस्ति खुदी है, वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ही है। इसमें ओज और लालित्य दोनों का काफी पुट है :—

"बंग देश में एकत्र होकर सामना करनेवाले शत्रुओं को रण में मारकर अपने वक्ष से हटाते हुए जिसके खड्ग से भुजा पर कीर्ति लिखी गई; समर में सिन्धु नद के सातों मुखों को लाँघ जिसने वाह्लीकों (बलख—बाख्त्री = वंक्षुनद की उपत्यका के वासी) को पराजित किया, जिसके पराक्रमानिल से दक्षिण समुद्र आज भी सुवासित है ॥१॥

"(वह) जिसके रिपुनाशक प्रयत्न का शेषरूप महान् प्रताप महावन में शांत हुई अग्नि की भाँति अब तक धरा को नहीं छोड़ता, यद्यपि वह नरपति खिन्न होता हुआ इस पृथ्वी को छोड़कर कीर्ति द्वारा उस पर विराजमान अपने पुण्यकर्मों से अर्जित दूसरे लोक को सदेह पहुँच गया है ॥२॥

"अपनी भुजा से अर्जित चिरस्थायी एकाधिराज्य जिसने पृथ्वी पर भोगा, पूर्णचन्द्र की कांति मुख पर धारण करनेवाले उस चन्द्र नामवाले राजा ने भाव से विष्णु में चित्त को डाल विष्णुपद-गिरि पर भगवान् विष्णु का यह ऊँचा ध्वज स्थापित किया ॥३॥"

उधर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के जूनागढ़ के प्रशास्ति-लेख (४५७-५८ ई०) में इस बात का वर्णन है कि "साम्राज्य के पश्चिमी भाग सौराष्ट्र का शासक (गोप्ता) किसको नियुक्त किया जाय"।

इस युग का तीसरा प्रशस्ति-लेख सैदपुर भीतरी का लेख भी काव्य-सौन्दर्य में अच्छे कवि से टक्कर ले सकता है।

परन्तु दशपुर के सूर्यमन्दिर का पुनरुद्धार करानेवाले रेशम के व्यापारियों की ओर से जो सुन्दर काव्य-रचना (४७३-७४ ईस्वी) कवि वत्सभट्टि ने इसी युग में की है, वह प्रशस्ति-जगत् में तो बेजोड़ है ही, साथ ही कितने ही स्थलों में समकालीन महाकवि कालिदास के काव्य से भी टक्कर लेती है। वत्सभट्टि स्कन्दगुप्त के पिता अश्वमेधपराक्रम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के समकालीन थे। हरिषेण और वत्सभट्टि के जीवनस्तरों में अत्यन्त अन्तर था। हरिषेण गुप्तसाम्राज्य के महासान्धिविग्रहिक मंत्रिप्रवर थे और वत्सभट्टि थे जनकवि, स्वयं साधारण नागरिक।

उपर्युक्त लेख में एक अत्यन्त मनोरंजक श्लोक रेशम के व्यापारी-संघ द्वारा बनाए गए काषाय-युगल के सम्बन्ध में है, जो संसार का सब से प्राचीन विज्ञापन कहा जा सकता है। इसमें कवि ने उपमा के बहाने उस संघ द्वारा निर्मित परिधान के लिए वस्त्र-युगल की प्रशंसा की है। वत्सभट्टि की शैली समासित पदोंवाली गौड़ीय है।

कालिदास

भारतीय इतिहास के इसी सुवर्ण-युग में महाकवि कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ और उनकी भारती का स्रोत प्रवाहित

हुआ। अपने युग की देन से चमत्कृत होकर इस महाकवि ने वह प्रभा उद्भासित की, जिसके तेज से समसामयिक शिला, स्तंभ और सिक्के तक चमक उठे! आइए, अब उसी महापुरुष का ऐतिह्यानुशीलन करें।

कालिदास के संबंध में हम वास्तव में कुछ भी नहीं जानते। कवि अश्वघोष ने कम-से-कम अपनी माता का नाम तो दे दिया है, परन्तु कालिदास ने तो अपने संबन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। उनके जीवन से संपर्क रखनेवाली जो कुछ भी किंवदन्तियाँ और अनुश्रुतियाँ हैं, वे उस महाकवि की जीवन-संबंधी गुत्थियों को और उलझा देती हैं। किंवदन्ती है कि कालिदास पहले अत्यन्त मूर्ख थे और भगवती काली की आराधना से वह कवि बन पाए। निश्चय ही यह किंवदन्ती कवि के 'कालिदास' नाम के विश्लेषण से ही प्रसूत हुई है। एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार उनकी मृत्यु सिंहल में अपने मित्र राजा कुमारदास के यहाँ एक वेश्या के हाथों हुई। कुछ लोगों का कहना है कि कालिदास ने दक्षिण की ओर प्रयाण संभवतः इसलिए किया था कि उत्तर में हूणों के आक्रमण और आतंक शुरू हो गए थे। इस मत को स्वीकार करना असंभव है, कारण उनके विस्तृत काव्य में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि का ही वर्णन है और कहीं भी किसी प्रकार की राजनीतिक उथल-पुथल का संकेत हमें उसमें नहीं मिलता। फिर कालिदास तो रघुदिग्विजय में हूणों को वंक्षु की उपत्यका (बाख्त्री, बलख-बुखारा) में बसा बताते हैं!

कालिदास का समय

कालिदास कब हुए यह एक समस्या है, परन्तु उनकी कृतियों के आभ्यन्तर और बाह्य प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह गुप्तकालीन थे। इस तिथि-काल को प्रमाणित करने में जो तर्क सहायक होते हैं, उनमें से कुछ ये हैं।

कालिदास के समय की दो सीमाएँ सरलता से निश्चित की जा सकती हैं। उनकी प्राचीनतम सीमा तो कवि के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से स्थिर हो जाती है, क्योंकि इसमें शुंगवंश के प्रतिष्ठापक सेनापति पुष्पमित्र के पुत्र अग्निमित्र का वर्णन है, जो उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा का शासक था। पुष्यमित्र का शासन-काल संभवतः ई० पू० १४८ तक समाप्त हो चुका था और चूँकि कालिदास ने उसके पुत्र अग्निमित्र के अन्तःपुर का वर्णन किया है, अतः वह ई० पू० १४८ के पूर्व नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार उनके काल की निचली सीमा ६२४ ई० के ऐहोल लेख से सीमित हो जाती है, क्योंकि इस लेख में उनके नाम का उल्लेख है।

ख्याति के अनुसार कालिदास को ईस्वी पूर्व प्रथम शती के किसी विक्रमादित्य नामक राजा का समकालीन होना चाहिए, परन्तु इस सिद्धान्त को मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिनका समाधान संभव नहीं जान पड़ता। यह धारणा बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि विक्रम सम्वत् विक्रमादित्य नामक किसी राजा द्वारा ५६ ई० पू० में प्रचलित किया गया और वह राजा कालिदास का संरक्षक था। परन्तु ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में होनेवाले विक्रमादित्य नामक किसी ऐसे राजा को हम नहीं जानते, जो इतना प्रतापी हुआ हो कि शकों को निकालकर 'शकारि' कहला सके और सम्वत् चला सके। स्वयं कालिदास भी अपने ग्रन्थों के लम्बे प्रसार में शकों का कहीं उल्लेख नहीं करते। यदि वह ईस्वी पूर्व प्रथम शती में हुए होते, तो 'गार्गीसंहिता' के युगपुराण में वर्णित उस शक-आक्रमण की ओर किसी-न-किसी रूप में अवश्य संकेत करते, जो प्रथम शती ई० पू० के अंतिम चरण में मगध पर हुआ था।

वस्तुतः कालिदास के ग्रंथों से हमें उस समय के भारत की जिस शान्ति और समृद्धि का पता चलता है, वह प्रथम शती ई० पू० की राजनीतिक उथल-पुथल से मेल नहीं खाती। वह तत्कालीन भारतीय जगत में किसी प्रकार संभव न थी। तीसरा प्रमाण यह है कि उस कवि के ग्रन्थों में पौराणिक संदर्भों का अनन्त समुद्र प्रवाहित होता दिखाई देता है, जो पुराणों के संहिता-रूप में उपस्थित किए जाने के बाद ही संभव था और यह मानी हुई बात है कि इन पुराणों के अधिकतर संस्करण गुप्त काल में ही प्रस्तुत हुए। चौथी बात यह है कि देवताओं की अनन्त मूर्तियों और उनके मन्दिरों का जो अथक वर्णन कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किया है, वह किसी प्रकार ई० पू० प्रथम शती की झांकी नहीं हो सकती, वह गुप्तकालीन ही हो सकती है। कारण, हिन्दू देवताओं की प्रतिमाओं का अनन्त संख्या में निर्माण कुषाणकाल के पश्चात् ही संभव हो सका था।

इन विपरीत प्रमाणों के कारण हमें कालिदास के प्रथम शती ई० पू० में होने का विचार छोड़ देना होगा।

कालिदास के ग्रन्थों में हमें तत्कालीन देश और समाज में पूर्णतया राजनीतिक शान्ति और आर्थिक समृद्धि दृष्टिगोचर होती है। ऐसा वैभव का जीवन, विशेषकर ललितकला और साहित्य का व्यसन, पूर्णतया संरक्षित और सुसमृद्ध शासन में ही संभव हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास का काल एक सुखसमृद्धि का और प्रजावत्सल शासन का काल है। यह अवस्था उस काल में केवल गुप्त शासन की ही थी।

गुप्तों की धार्मिक सहिष्णुता, जो उन सम्राटों के लेखों से विदित होती है और जिसका चीनी यात्री फाह्यान ने उल्लेख किया है, कालिदास के ग्रन्थों द्वारा पूर्णतया समर्थित है। वे पौराणिक ख्यातियाँ और जनविश्वास, जिनके संदर्भ कालिदास में भरे पड़े हैं, गुप्त काल में ही संकलित हुए थे।

काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने कालिदास द्वारा विरचित 'कौन्तलेश्वरदौत्य' नामक एक नाटक का उल्लेख किया है। इसमें विक्रमादित्य द्वारा कालिदास को दूत बनाकर कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) देश के राजा के पास भेजे जाने का उल्लेख है। लौटकर कालिदास ने एक श्लोक में जो कुछ बताया है, वह श्लोक राजशेखर की 'काव्यमीमांसा', भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण', और 'शृंगारप्रकाश' में भी मिलता है। कौन्तलेश्वरदौत्य नामक यह नाटक स्वयं उपलब्ध नहीं है। 'भरतचरित' के अनुसार कुन्तलेश ने 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य की रचना की थी। इसकी 'रामसेतुप्रदीप' नाम की टीका से सिद्ध है कि 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन था, जिसके काव्य को विक्रमादित्य ने कालिदास द्वारा शुद्ध कराया था। कुन्तल पर तब वाकाटक कुल का शासन था। 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन उसी कुल का था। वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता और उसके ब्राह्मण जामाता वाकाटराज रुद्रसेन का पुत्र था। वह कुन्तल का राजा था। इसलिए प्रवरसेन, कालिदास और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तीनों परस्पर समकालीन सिद्ध हुए।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कालिदास वात्स्यायन से पहले न हुए होंगे, क्योंकि उन्होंने उसके कामसूत्रों से अपने शृंगारिक वर्णनों को काफी चमत्कृत किया है। वात्स्यायन का काल विद्वानों ने तीसरी शती ईस्वी के लगभग निश्चित किया है। इधर ख्याति-परंपरानुसार कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। परन्तु तीसरी शती ईस्वी के बाद और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पहले चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिवा अन्य कोई विक्रमादित्य हमें नहीं मिलता, इसलिए कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन और लगभग ४०० ईस्वी के होने चाहिए।

हूणों को कालिदास के 'रघु' ने उनके देश वंक्षुतीर में पराजित किया। उस घाटी में हूण लगभग ४२५ ईस्वी में ही बस चुके थे, जब बहरामगौर के विजयी होने पर ईरान और हूणों की सीमा वंक्षुनदी निर्धारित हुई। मेहरौली के लोह स्तंभ के लेखानुसार चन्द्रगुप्त ने बलख की विजय की थी। जान पड़ता है, 'रघुवंश' ४२५ ई० के तुरन्त बाद लगभग ४३० ई० में रचा गया होगा और चूँकि 'रघुवंश' कवि की मेधा का पूर्ण विकसित रूप है, अतः संभवतः वही उनकी अन्तिम रचना रहा होगा।

ऊपर दिए प्रमाणों के अतिरिक्त और भी अनेक अंतरंग और बहिरंग प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनके द्वारा यह मत सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि कालिदास गुप्तकालीन कवि थे। उनके काव्यों में जो शान्ति दर्शित है, वह कवि को स्कन्दगुप्त के राज्यकाल और कुमारगुप्त के शासनकाल के अन्तिम छोर से विलग कर देती है, क्योंकि तब 'पुष्यमित्रों' और हूणों के उपद्रव प्रारम्भ हो गए थे। इस कारण कालिदास के काल की पिछली सीमा ४५० ई० में निर्धारित की जा सकती है, जो पुष्यमित्रों के युद्ध का समय है। परन्तु यदि कवि ने कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों की ओर अस्पष्ट रूप से संकेत किया है, तो संभव है कि वह स्कन्दगुप्त के जन्म तक जीवित रहे हों। कालिदास ने काफी लिखा है और उनके ग्रन्थों की सीमाएँ विस्तृत हैं। यदि हम यह मानें कि वह वृद्धावस्था तक जीवित रहे (संभवतः सत्तर वर्ष तक), तो ४४५ ईस्वी के आसपास उनकी मृत्यु मानते हुए उनका जन्म-संवत् हम ३७५ ईस्वी के निकट रख सकते हैं। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासनकाल के अन्त में जन्म लेकर वह संभवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल की पूरी अवधि में और कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के राज्यकाल के एक बड़े भाग तक जीवित रहे। उन्होंने संभवतः स्कन्दगुप्त का जन्म भी देखा होगा, क्योंकि पुष्यमित्रों को पराजित करते समय स्कन्दगुप्त की आयु कम से कम बीस वर्ष की तो रही ही होगी। और यदि कालिदास का कवि-जीवन पच्चीसवें वर्ष से आरम्भ हुआ, तो उनका 'ऋतुसंहार' संभवतः ४०० ईस्वी के लगभग लिखा गया होगा। इस प्रकार उनका क्रियात्मक काल उस लंबे समय से संबद्ध रहा होगा, जिसे इतिहासकार भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं।

कालिदास के ग्रंथ

अनुश्रुति के अनुसार कालिदास अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं—लगभग बीस के—जिनमें व्याकरण और ज्योतिष तक के ग्रन्थ हैं! परन्तु वास्तव में, जैसा कि उनके ग्रन्थों और अन्य प्रमाणों से जान पड़ता है, इन उपलब्ध कृतियों में केवल सात ही उनकी मानी जा सकती हैं। इनमें से चार तो काव्य हैं तथा शेष तीन नाटक हैं। काव्य ये हैं—(१) ऋतु-संहार, (२) मेघदूत, (३) कुमारसंभव, (४) रघुवंश, और नाटक हैं—(१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशी (३) अभिज्ञान शाकुन्तल। एक चौथे नाटक 'कौन्तलेश्वरदौत्य'

का हवाला हम पहले दे आये हैं, जो क्षेमेन्द्र के अनुसार कालिदास द्वारा रचित था। परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है, अतः उस पर विचार नहीं किया जा सकता। अनेक विद्वानों का पहले यह मत था कि काव्यों और नाटकों के रचयिता कालिदास नामधारी दो अलग-अलग व्यक्ति हैं। परन्तु यह मत अब बदल चुका है और प्रायः दोनों का कर्त्ता एक ही को मानने में अब किसी को भी आपत्ति नहीं है। इन ग्रन्थों में से नाटकों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। आइए, पहले काव्यों को लें।

ऋतुसंहार

ऋतुसंहार को कालिदास का मानने में कुछ विद्वानों ने संदेह किया है। लोगों का कहना यह है कि चूंकि यह काव्य अत्यन्त सरल, अकृत्रिम और साधारण है, अतएव यह कालिदास जैसे महाकवि का नहीं हो सकता। परन्तु इस कारण से तो शायद कोई भी ग्रन्थ किसी कवि के नाम से सम्बद्ध या असंबद्ध किया जा सकता है। इस संबंध में आक्षेपों की गुंजाइश है, परन्तु कवि के कई स्तर अथवा मंजिलें होती हैं और वह मंजिल-मंजिल पर सीखता है। इस प्रकार ऋतुसंहार के बारे में यह कहना कि यह कालिदास का इसलिए नहीं है कि यह सरल, अकृत्रिम और साधारण है, कुछ अर्थ नहीं रखता। फिर यदि हम पर्याप्त विचार करें, तो उसे नितान्त नगण्य कृति भी नहीं कहा जा सकता।

ऋतुसंहार का प्रतिपाद्य विषय 'ऋतुओं का वर्णन' है। 'संहार' का अर्थ है समाहार, समूह। इस काव्य में अकृत्रिम सरल भाषा और वैदर्भी शैली में कालिदास ने षड्ऋतुओं का वर्णन किया है। प्रत्येक ऋतु की विशेषताएँ बड़ी मार्मिक आडम्बरशून्य भाषा में कही गई हैं। इसकी वर्णन-शैली अत्यंत मृदुल है। कवि इसमें मानव का वनस्पतियों से प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर देता है। कालिदास की प्रत्येक कृति में और ऋतुसंहार में तो विशेषकरके मनुष्य का मानो पेड़-पौधों से ऐक्य हो गया है। एक दूसरे को मानो समझता, उससे कहता-सुनता और रोता-गाता है। सब से विशिष्ट बात तो यह है कि इसमें मानवपात्र नहीं हैं, केवल ऋतुओं का ही वर्णन है और जहाँ प्राणी का किसी प्रकार का उल्लेख आता है, वह ऋतु के ही प्रभाव को दर्शाने के लिए। मानवप्रेम के संकल्प-विकल्प, यौवन के उल्लास-विलास, नवोढ़ा के मान-शृंगार किस प्रकार इन ऋतुओं के सम्पर्क से परिवर्तित होते रहते हैं, यह कवि ने हृदयस्पर्शी अनुभूति के साथ इस काव्य में व्यक्त किया है। निदाघ के दिवस दाहक होते हैं, परन्तु उसकी रजनी को चन्द्र शीतल सुधा से सींचता है। निशीथ में स्नेह-स्निग्ध नर-नारी नृत्य-गान और आसव से झूमते हैं और प्रणय की ईर्ष्या से चन्द्र तिरोहित हो जाता है। पावस नृपति के परिच्छद लिए आता है, मेघ उसके गज हैं, चपला उसकी ध्वजा है, उसका गर्जन ही उसकी

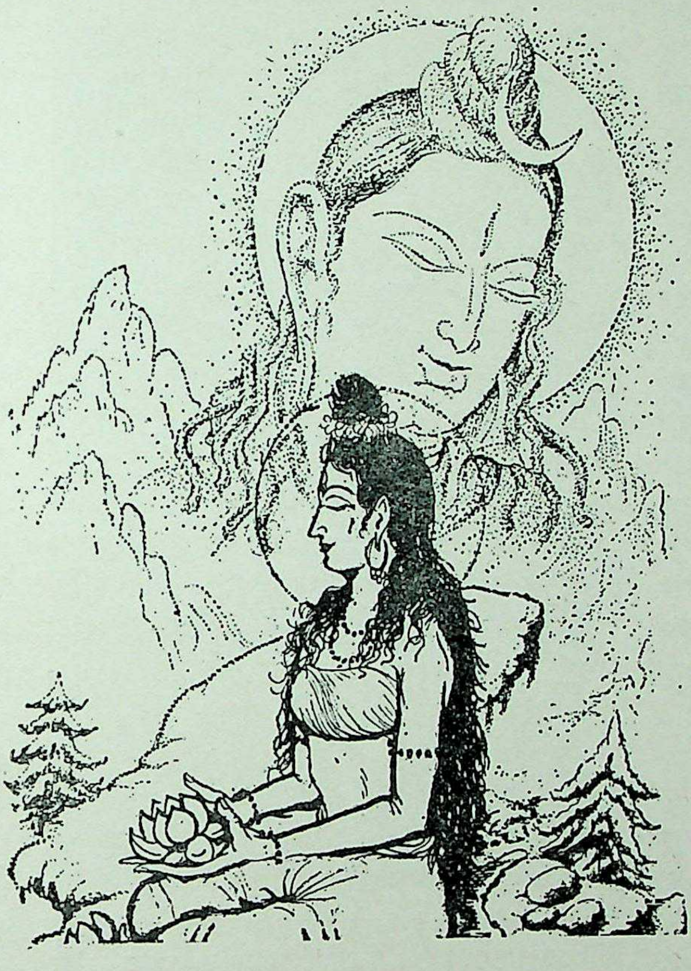

प्रस्तुत चित्र में शिवप्राप्ति के हेतु कठोर तप में निरत हिमालय-कन्या उमा की 'कुमारसंभव' में वर्णित वह झाँकी दिग्दर्शित है, जब तपस्वी के छद्मवेश में आकर शिव उस बाला को अपने संकल्प से डिगाने में असफल होते हैं और प्रसन्न हो उसके समक्ष स्वाभाविक रूप में प्रकट हो जाते हैं!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दुंदुभी है। पर्वत-शिखरों को चूमते मेघों के आगमन से कामनाएँ खिल उठतीं और प्रेम जाग उठता है। शरत् नववधू की भाँति प्रफुल्ल पद्ममुखमण्डल लिए, इक्षु का वसन पहने, परिपक्व धान्य की मेखला धारण किए आता है और शिशिर प्रेमियों के आलिंगन को अधिकाधिक प्रगाढ़ कर देता है। हेमन्त में प्रणयी वातायन बन्द कर लेते हैं, भारी वस्त्रों से अंग ढकते हैं, और मरीचिमाली की एक-एक रश्मि से शरीर सेंकते हैं। परन्तु वसन्त उनके सारे उपालम्भ मिटा देता है। वह प्राणियों और प्रकृति में नवजीवन, नवाह्लाद और नवीन स्फूर्ति भरता है। ऋतुसंहार ग्रीष्म से आरंभ होकर वसन्त में समाप्त होता है, जिसमें नववर्ष का जन्म होता है और तरुण-तरुणी प्रणय के सौगन्ध लेते हैं, आह्लाद के गीत गाते हैं। वस्तुतः ऋतुसंहार अप्रौढ़ आरंभिक कृति होते हुए भी कालिदास की एक सुकुमार रचना है।

मेघदूत

मेघदूत एक खण्डकाव्य है और गेय काव्यों में वह बेजोड़ है। इस कृति को संसार भर के साहित्यालोचकों ने मुक्त कण्ठ से सराहा है। मेघदूत कालिदास की परिपक्व प्रतिभा का काव्य है। इस काव्य में केवल एक ही छन्द मन्दाक्रान्ता का प्रयोग हुआ है और कवि ने अद्भुत क्षमता से उसे निबाहा है। इस काव्य ने साहित्य-संसार में हमेशा के लिए कालिदास की सत्ता जमा दी है। मेघदूत का विषय विषादपूर्ण और सर्वथा मौलिक है—वह व्यक्तिगत-सा है! कुबेर का एक यक्ष अपनी कान्ता के प्रणय में विभोर हो कर्त्तव्य से स्खलित होता है और वर्ष भर की अवधि के लिए दण्डित होकर पत्नी से बिछुड़ रामगिरि पर निवास करता है। उसकी प्रणयिनी अलका में विसूरती है। वर्षागम पर मेघों का उमड़-घुमड़कर बरसना यक्ष को विकल करता है और वह कामी एक मेघ के प्रति अलका तक अपना प्रेमसंदेश वहन करने की याचना करता है। वह कहता है कि हे मेघ, तू माल और आम्रकूट के उन्नत प्रदेश से चलकर दशार्णों के नगर विदिशा को जाना, फिर वेत्रवती और निर्विन्ध्या को लाँघ जाना। फिर उज्जयिनी पहुँच महाकाल की अर्चना में अपने गर्जन से मृदंग का योग देता तथा सुन्दरियों के कटाक्षों की चोट वहन करता हुआ चर्मण्वती पार कर जाना। दशपुर के बाद तुझे ब्रह्मावर्त्त मिलेगा, जहाँ कुरुक्षेत्र में अर्जुन के हस्तलाघव की छाप है और जहाँ महाभारत से विरक्त होकर बलराम ने सरस्वती के तट पर वारुणी का त्याग कर दिया था। वहाँ से चलकर तू कनखल पहुँचना, जहाँ गंगा हिमगिरि से उतरती है और तब परशुराम के विक्रम के साक्षी क्रौंचरन्ध्र से निकलकर कैलास को जा पहुँचना। वहाँ मानसरोवर का जल तुझे नवजीवन प्रदान करेगा। कैलास के शिखर पर ही यक्षपुरी अलका है। वहीं मेरी प्रेयसी निवास करती है। इसके बाद यक्ष बड़े सुन्दर शब्दों में अलका के ऐश्वर्य का वर्णन करता है। फिर समृद्ध सौध-प्रासादों में से मेघ कैसे उसके गृह को पहचानेगा, इसकी व्याख्या वह करता है। द्वार-तोरण, पद्म और इन्द्रधनु के चित्रण से मेघ उस गृह को दूर ही से पहचान लेगा। द्वार पर बालमन्दार अपने स्तवकों सहित झूमता होगा। यक्ष-पत्नी विरह से व्याकुल, विषाद

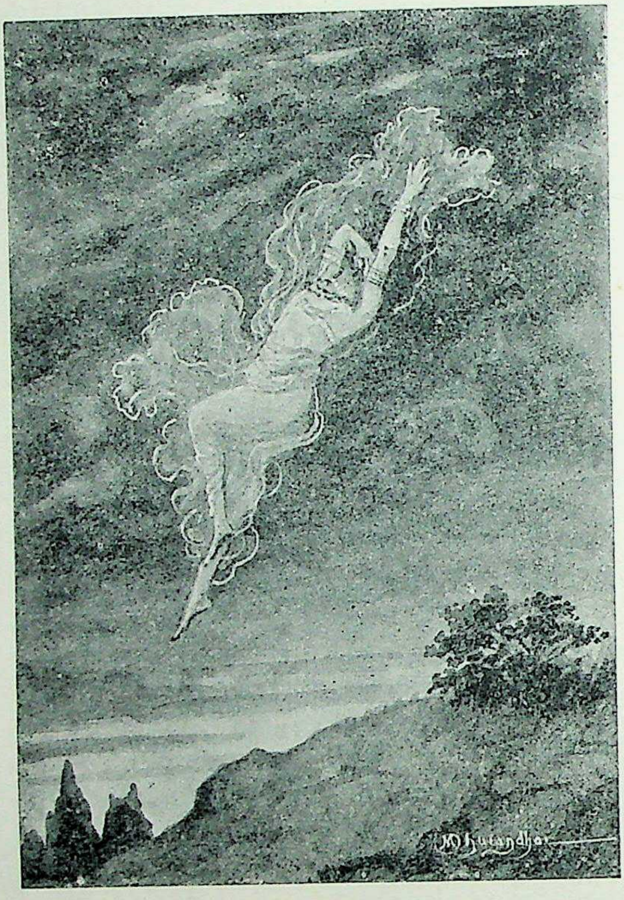

इस चित्र में कलाकार ने शाप से निवृत्त होने पर अप्सरा उर्वशी के इस मर्त्यलोक से पुनः इन्द्रलोक को प्रयाण करने की झाँकी दरसाई है। पृथ्वी पर उर्वशी के अल्पकालिक आवास के बीच राजा पुरुरवा के साथ उसके प्रणय की मधुर गाथा पर ही कालिदासप्रणीत 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का निर्माण हुआ है।

से कृश हो गई होगी और अनेक उपायों से विछोह के दिन काट रही होगी। मेघ को उसे हल्के-हल्के जगाकर उससे अपने प्रेमी यक्ष के विरहाकुल जीवन और अवधि के अन्त में मधुर मिलन की आशा का सन्देश कहना होगा।

इस संदेश में अद्भुत माधुर्य है और इसको पढ़कर भावावेगों को सँभाल सकना अत्यन्त कठिन है। यह यक्ष कौन है? कुषाण और गुप्त काल में यक्ष-मूर्तियों की प्रमुखता थी। वही प्रणय और विरह के देवता माने जाते थे। अतः कालिदास ने अपने इस असामान्य खण्ड-काव्य का नायक यक्ष को ही चुना है। परन्तु यह यक्ष है कौन? मेघदूत को पढ़कर यह भाव बलवान हो उठता है कि यह यक्ष स्वयं कालिदास हैं! स्वयं वही अपने इस काव्य के नायक हैं। एक किंवदन्ती भी है कि कालिदास काश्मीर में अपनी प्रेयसी को छोड़ आए थे। किसी कारणवश उन्हें स्वदेश को छोड़ देना पड़ा था, जहाँ वह लौट नहीं सकते थे। इसी कारण वह अलका के रूप में अपने काश्मीर की याद करते और पाठक को अपनी चोट से मर्माहत कर देते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि कालिदास काश्मीरी थे। उनके ग्रन्थों में बारम्बार जो हिमालय के प्रति निर्देश है, वह केवल प्रासंगिक ही नहीं है। रघुवंश में अनेक स्थल हिमालयपरक हैं, कुमारसंभव की सारी कहानी हिमालय की है और मेघदूत में तो उसके लिए हृदयस्पर्शी रुदन है। नाटकों में भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो हमें बरबस हिमालय की ओर खींचते हैं। चूँकि कालिदास काश्मीरी थे और कारणवश स्वदेश से दूर जा पड़े थे, इसीलिए मेघदर्शन पर प्रोषितपतिका की याद कर 'मेघदूत' में वह बरस पड़े! मेघदूत की काव्य-व्यंजना, चित्रमय वर्णन तथा पदलालित्य ने संस्कृत-काव्य-साहित्य में कालिदास का सिक्का चला दिया है। इसकी आश्चर्यजनक प्रौढ़ता और व्यक्तिगत भाव-व्यंजना से प्रभावित होकर संस्कृत में बीसियों कवियों ने इस प्रकार का काव्य-प्रयास किया है, परन्तु कोई इसके निचले छोर को भी नहीं छू सका है। आठवीं शती में जिनसेन ने जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवनचरित के रूप में मेघदूत के १२० श्लोकों को फिर से लिखा। इसका एक-एक चरण वह अपने एक-एक श्लोक में रखते गए। बारहवीं शताब्दी में कवि धोई ने मेघदूत की नकल में अपना 'पवनदूत' लिखा। मेघदूत पर वल्लभ, दक्षिणावतारनाथ और मल्लिनाथ ने टीकाएँ कीं। यह संस्कृत-साहित्य में रोमैन्टिक शैली का पहला प्रयास था, जिसे कालिदास ने पहलेपहल सामने लाकर भी अपनी अद्भुत प्रतिभा से अनुपम बना दिया।

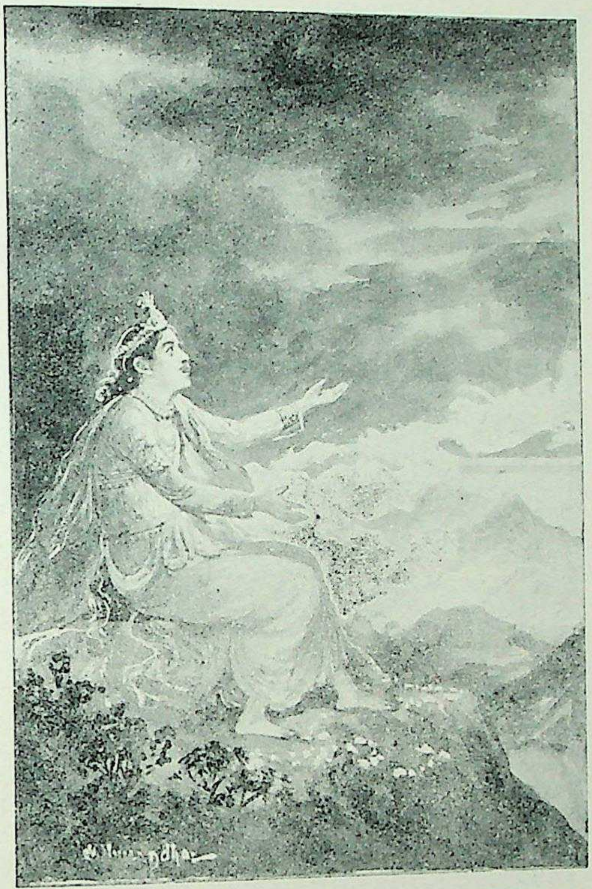

इस चित्र में 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नायक पुरुरवा की वह अवसादावस्था दिग्दर्शित है, जब उसकी प्रेयसी उर्वशी उसे छोड़कर इन्द्रलोक को वापस चली गई थी।

कुमारसंभव

कुमारसंभव परिणित का ग्रन्थ है, वह काव्य-सौन्दर्य में अनूठा है। उसमें निसर्ग मानव-संयोग से चमक उठता है। इस महाकाव्य में हिमालय के उत्तुङ्ग गिरि-शिखर, कोल-किरात, ऋषि-मुनि, यक्ष-गन्धर्व और उनकी नारियों का आश्चर्यजनक कवित्वपूर्ण चित्रण किया गया है। यह कृति मेघदूत की भाँति केवल भाव-काव्य ही नहीं, वरन् एक प्रबन्ध-काव्य है। वह महाकाव्य है, यद्यपि अपूर्ण है। अज्ञात कारणों से कालिदास इसे पूरा न कर सके। इसमें उनके लिखे केवल आठ सर्ग ही हैं, बाकी दस बाद में लोगों ने मिला दिए हैं, जिनका ज्ञान प्राचीन टीकाकारों के समय तक न था। भारवि, कुमारदास और माघ को भी कुमारसंभव के आठ सर्गों का ही पता था। कालिदास ने क्यों इस ग्रन्थ को पूरा नहीं किया, यह समझ में नहीं आता।

कालिदास की समस्त कृतियों में उनका यह अपूर्ण महाकाव्य प्रबंध की दृष्टि से असाधारण और अत्यंत मार्मिक है । इस महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय था हिमाचल-कन्या उमा का शिव के साथ विवाह और उसके फलस्वरूप कुमार (स्कन्द) का जन्म । पर कालिदास स्कंद के जन्म के प्रसंग तक नहीं पहुँच सके । प्राचीन आलोचकों (विशेषकर आनन्दवर्धन) ने इस देव-प्रणय के विषय पर लिखना अनुचित माना है । परन्तु प्राचीन दृष्टिकोण से देखने पर भी यह ग्रंथ इस कारण से अनुचित नहीं कहा जा सकता । स्वयं मम्मट ने आनन्दवर्धन के-से विचारों का विरोध किया है । वास्तव में उमा और शिव के विवाह का प्रसंग केवल प्रणय-लीला ही नहीं है । तारकासुर के विक्रम से प्रताड़ित, धर्षित, देवसेना चीत्कार कर रही है । उसके संचालन के लिए स्कंद जैसा सेनानी चाहिए, जो उमा और शिव ही प्रस्तुत कर सकते हैं । फिर दोनों का प्रेम मानव जोड़े के उस भाव-बन्धन का प्रतीक है, जिससे कुल की अभिसृष्टि होती है और मानव-प्रसूति की शृंखला टूटने नहीं पाती ।

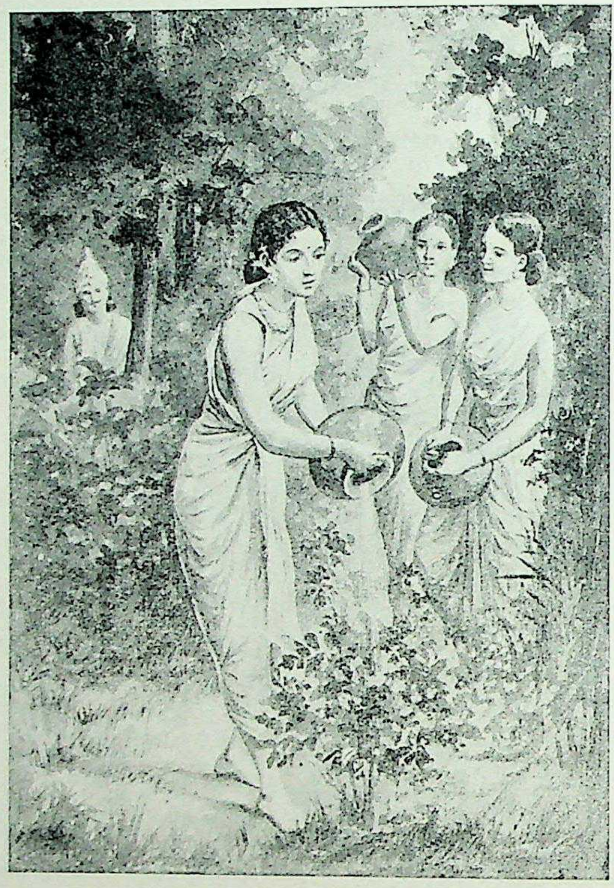

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रथम अंक के इस सुप्रसिद्ध दृश्य की जानकारी भला किसे न होगी ? सखियों सहित पौधों को सींचती शकुंतला की यह झाँकी पाकर ही दुष्यन्त उस पर मुग्ध हो गया था ।

कुमारसंभव में वर्णित विषय का विवरण इस प्रकार है । आरम्भ में हिमालय का वर्णन है—उसके मनोहर शिखरों और उन पर रहनेवाली किन्नरियों का, जिनके वस्त्र-परिवर्तन के समय मेघों का परिधान आड़ बनकर उनका सहायक होता है । गंगा के पतित नीहारों से आर्द्र शीतल वायु देवदारों की शाखाओं को सहलाती है और मयूर-पक्षों को झुका देती है । इस वातावरण से निर्लिप्त शिव घोर समाधि में निरत हैं । वहीं उमा अन्य कुमारियों के साथ उन्हें कुसुम प्रदान करने के लिए फूल चुन रही है । दूसरे सर्ग में तारक द्वारा पीड़ित देवसमूह त्राण के लिए ब्रह्मा के पास जाता है । ब्रह्मा से उनका कोई उपकार नहीं हो सकता । ब्रह्मा और विष्णु दोनों से बड़े केवल शिव ही उनका कल्याण कर सकते हैं । यदि किसी प्रकार उमा (हिमालय की कन्या) शिव को आकर्षित कर सके, तो दोनों के मिलन से प्रसूत कुमार देवताओं की रक्षा और तारक का नाश कर सकता है । इन्द्र कामदेव को बुलाकर यह कार्य उसे सौंपता है । तृतीय सर्ग में काम वसन्त की सहायता से अपना कार्य करने को सन्नद्ध होता है । वसन्त की सारी शोभा सहसा निसर्ग पर बरसने लगती है । तृण-तृण थिरक उठता है । परंतु शिव की समाधि प्रज्ज्वलित ब्रह्मवर्चस् की शिखा की भाँति निश्चल है । काम उन्हें देखकर काँप उठता है । उमा शिव के सम्मुख उपस्थित होकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करती है । शिव एक अद्भुत शक्ति से अपने को डिगते हुए पाते हैं । तभी उनकी दृष्टि जो सामने जाती है, तो वह आम्रमंजरी से हिलती शाखाओं पर बैठे काम को अपने ऊपर शर सन्धानते पाते हैं । उनका तृतीय नेत्र खुल जाता है और मन्मथ जलकर भस्म हो जाता है, साथ ही चराचर जगत् ताप से त्राण पाने के निमित्त त्राहि-त्राहि कर उठता है ! चौथे सर्ग में चित्रण अत्यन्त अद्भुत और विषादपूर्ण हो जाता है । नववसन्त के भरे विलास में रति को जो वैधव्य ग्रस लेता है, उससे वह विलाप करती है । उसके विलाप से चराचर द्रवित हो जाता है । सती होने के लिए रति अपने सहचर वसन्त से चिता प्रस्तुत करने की प्रार्थना करती है । तभी आकाशवाणी होती है कि शिव के उमा को ग्रहण कर लेने के बाद काम फिर जी उठेगा । इसी आशा में रति अपने को जीवित रखती है ।

उधर उमा उत्साहहीन हो जाने पर भी शिवप्राप्ति के अर्थ अत्यन्त कठिन तप करने का संकल्प करती है। ग्रीष्म में वह पंचाग्नि तपती है, शीत में जमते हुए जल में पड़ी रहती है, और वर्षा में पर्वतशिला पर शयन करती है। इस घोर तप में निरत उमा के समक्ष एक दिन एक तापस उपस्थित होता है। उमा के उच्छ्वासों से वह जान लेता है कि वह प्रणयाकांक्षिणी है और उसकी सखियों से उसका लक्ष्य भी सूचित हो जाता है। तापस शिव के अमोहक अवधूत रूप को हिमालय-कन्या के सामने चित्रित करता है, परन्तु उमा उसे बारंबार स्पृहणीय कहती है। अंत में तापस प्रसन्न हो अपना स्वाभाविक शिव-रूप धारण कर लेता है। छठे सर्ग में शिव की ओर से सप्तर्षि उमा को माँगने हिमालय के समीप जाते हैं। सलज्जा उमा नेत्र नीचे किए कमल की पंखुड़ियाँ गिनती है। पिता सम्मति के अर्थ पत्नी की ओर देखते हैं, फिर स्वीकृति प्रदान करते हैं। दोनों ओर तैयारियाँ होती हैं। सातवें सर्ग में विवाह सम्पन्न होता है और स्त्रियाँ उमा को आशीर्वाद देती हैं। अन्तिम आठवें सर्ग में शिव का विहार वर्णित है।

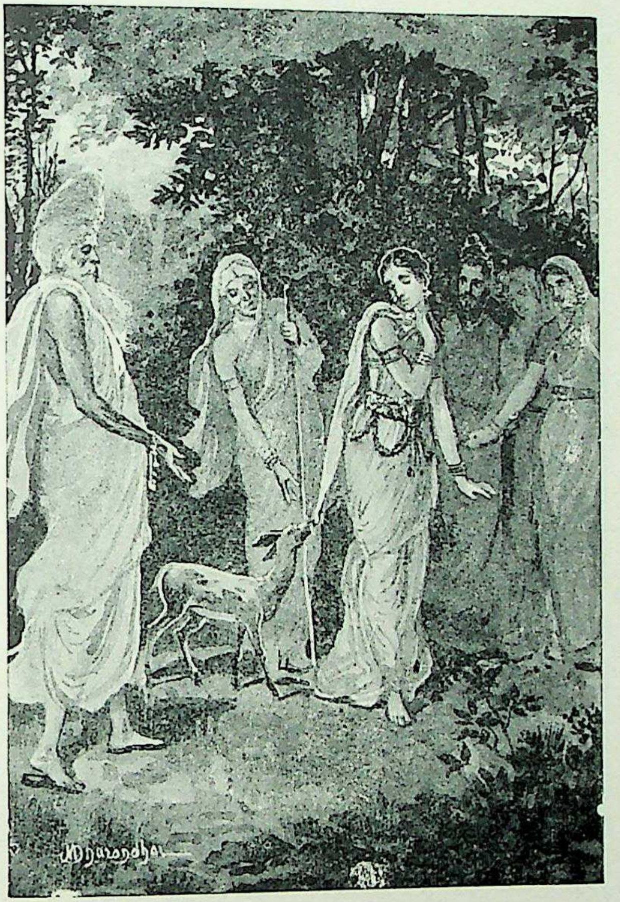

इस चित्र में कण्व के आश्रम से विदा होकर शकुन्तला के पतिगृह जाते समय का मर्मस्पर्शी दृश्य अंकित किया गया है।

कुमारसंभव में (और रघुवंश में भी) कई स्थलों पर अश्वघोष का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'बुद्धचरित' के तीसरे सर्ग का रूप कुमारसंभव के हिमनगर की वातायनस्थित नारियों के बर्ताव में प्रतिबिंबित है। अश्वघोष के बुद्धचरित सर्ग ३ (१३-२४) की पूरी छाया कुमारसंभव के सर्ग ७ (५६-६९) पर पड़ी है। यह चित्रण कालिदास को इतना प्रिय लगा है कि उन्होंने कुमारसंभव के ये श्लोक जैसे के तैसे रघुवंश के तद्विषयक चित्रण (सर्ग ७, ५-१६) में धर दिए हैं!

रघुवंश

रघुवंश कालिदास का अन्तिम और प्रौढ़तम ग्रंथ है। इसमें कवि कुमारसंभव से कहीं गम्भीर हो जाता है और उसका पांडित्य भी निखर जाता है। इसका विशिष्ट दर्शन योग है। रघुवंश को प्राचीन पंडितों ने 'रस', 'भाव' और सन्धियों से युक्त महाकाव्यों में सब से सुन्दर कहा है। वाल्मीकीय रामायण के आधार पर निर्मित इस महाकाव्य के कथा-प्रबन्ध का विस्तार उन्नीस सर्गों में है। इस काव्यकृति में सविस्तर सूर्यवंश की कथा है, जिसके मनु के बाद के ऐतिहासिक आदिपुरुष ईक्ष्वाकु थे। इस वंश की तालिका पुराणों में भी दी हुई है। प्रथम सर्ग में ही कवि पाठकों को रोचक घटना-वैचित्र्य की ओर ले जाता है। राजा दिलीप के पुत्र नहीं है। इन्द्र के यहाँ से लौटते हुए संयोगवश वह सुनते हैं कि एक बार उन्होंने सुरधेनु की उपेक्षा की थी, इसी कारण उससे अभिशप्त हो वह उस अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इस पर वह सुरधेनु की वत्सा नन्दिनी की सेवा करने का संकल्प करते हैं। नन्दिनी एक बार उनकी परीक्षा लेती है और वह अपने प्राण तक की बलि देकर सिंह से उसकी रक्षा करने के लिए उद्यत होते हैं। आखिर उसके आशीर्वाद से उनके रघु-सा पुत्ररत्न उत्पन्न होता है। समग्र विद्याओं का समुचित अध्ययन करके कुमार रघु युवराज पद प्राप्त करता है। उसके पिता अश्वमेध यज्ञ करना चाहते हैं और कुमार अश्व का रक्षक बनकर उसके पीछे-पीछे घूमता है। इन्द्र उसका अश्व चुरा लेते हैं और युद्ध ठन जाता है। अन्त में इन्द्र उसके पिता को अश्वमेध का सारा श्रेय देकर प्रसन्न होकर विदा होते हैं।

अश्वमेध का अनुष्ठान समाप्त कर [illegible] रघु को राज्य दे दिलीप वन को चले जाते हैं (सर्ग १-३) । चौथे सर्ग में रघु दिग्विजय करते हैं । वह वंगों पर विजय पाकर अपना विजयस्तंभ खड़ा करते हैं । कलिंगराज महेन्द्र भी उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है । फिर कावेरी लाँघकर रघु पांडचों पर टूट पड़ते हैं और उनसे मुक्ताओं का कर स्वीकार करते हैं । वहाँ से मलय और दर्दुर पर्वतों की संधि को लाँघते हुए वह अपरांत के केरलों का पराभव करते हैं । तदुपरान्त मुरला लाँघकर वह त्रिकूट को अपना विजयस्तंभ घोषित करते हैं । इसके बाद स्थलमार्ग से बढ़कर पारसीक यवनों पर वह टूट पड़ते हैं और द्राक्षवलय पारसीक भूमि पर उनके योद्धा आसवपान करते हैं । फिर कौवेरी दिशा की ओर बढ़ वंक्षु की उपत्यका में बसनेवाले दुर्द्धर्ष हूणों को धूल चटाकर वह उनकी केसर की क्यारियों में अपने अश्वों को विश्राम देते हैं। इसके बाद काम्बोजों की लक्ष्मी के साथ अश्व और 'भूयिष्ठ द्रविणराशियों' को कर में स्वीकार कर, हिमालय लाँघते समय मार्ग में किरातों को हराते हुए, वह लौहित्य की उपत्यका में उतर जाते हैं । वहाँ प्रागज्योतिष के कामरूपों से गजों के रूप में कर लेकर अंत में वह वापस अयोध्या लौटते हैं । निश्चय ही इस दिग्विजय में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजयों की छाया है । समुद्रगुप्त ने दक्षिण की विजय की थी और चन्द्रगुप्त ने उत्तर में पारसीक वाह्लीकों की । समुद्रगुप्त की दिग्विजय-प्रशस्ति प्रयाग के अशोक-स्तंभ पर खुदी हुई है और चंद्रगुप्त की दिल्ली-मेहरौली के लौहस्तंभ पर । रघु की दिग्विजय में भी कालिदास गंगास्रोतों और त्रिकूट में प्रशस्ति-स्तंभों की स्थापना की सूचना देना नहीं भूलते ।

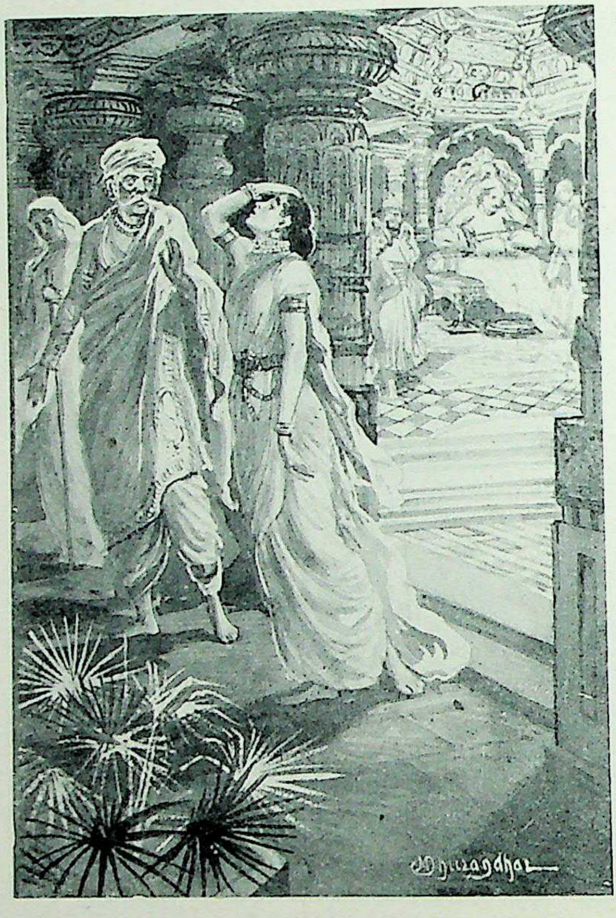

दुर्वाशा के शापवश दुष्यन्त शकुन्तला को बिलकुल भूल जाता है और वह उसे अंगीकार करने से इंकार कर देता है !

पाँचवें सर्ग में महाकवि के कौशल से रघु की कथा अद्भुत सरलता से बदल जाती है । रघु की उदारता उन्हें क्षण भर में कंगाल बना देती है । वरतन्तु-शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए उनसे अनन्त धन माँगता है, परन्तु मृत्तिका-पात्र में अर्घ्य देनेवाले राजा के पास इतना धन कहाँ ? रघु कुबेर पर आक्रमण करते हैं, और यक्षराज डरकर पहले ही स्वर्ण की वर्षा कर देते हैं । रघु का पुत्र अज भी पिता की ही भाँति शूर है । छठे सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर का अद्भुत चित्रण है । इस वर्णमय चित्र को प्रायः इन्दुमती की सखी सुनन्दा प्रस्तुत करती है । सातवें में विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर में प्राजापत्य रीति के अनुसार अज का इन्दुमती के साथ विवाह संपन्न होता है । उधर रघु वन में इन्द्रियों का शमन करते हैं, इधर अज राज्य के शत्रुओं का । तब अभाग्यवश एक घटना घटती है । नारद की वीणा से पतित पुष्पहार के स्पर्श से अयोध्या की उपवनपरंपराओं में पति के साथ विहार करती हुई इन्दुमती की मृत्यु हो जाती है और अज का भुवनभेदी रोमांचक विलाप शुरू होता है । उस दुःख के समय विधिक्रियाओं में विलग्न वसिष्ठ स्वयं उपस्थति न होकर अपने शिष्य द्वारा अज की शान्ति के लिए संवाद भेजते हैं, जिसमें निम्नलिखित चिरस्मरणीय पंक्ति है—'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।' परन्तु अज अपने विषाद का वेग सहन नहीं कर सकने के कारण सद्गति को प्राप्त होते हैं और उनकी जगह उनके पुत्र दशरथ राज्य करने लगते हैं । नवें सर्ग में वन्य वसन्त का और दशरथ के आखेट का वर्णन है, जिसमें गज के भ्रम से राजा मुनितनय श्रवण को मार देते हैं । उसके वृद्ध प्रज्ञाचक्षु माता-पिता अग्निप्रवेश करते हुए दशरथ को भी पुत्रशोक में मरने का शाप देते हैं ।

दसवें सर्ग में राम के रूप में विष्णु का अवतरण है। ग्यारहवें में विश्वामित्र के आश्रम में ताड़का की वध, सीता-स्वयंवर, राम का विवाह, कैकेयी की दुरभिसन्धि, राम-सीता और लक्ष्मण का वनगमन, सीता-हरण, बन्दरों की सहायता से लंका में सीता की खोज और राम द्वारा रावण-विजय आदि बातें चित्रित हैं। बारहवें में दक्षिणी भारत और समुद्र का अपूर्व वर्णन है। फिर रस और ध्वनि का अनुपम सामंजस्य इस महाकाव्य में निखरता है, जब राम और सीता विधवा रानियों से मिलते हैं एवं रामराज्य का आरंभ होता है। परन्तु अदृष्ट वाम है। दीर्घकाल तक सीता के रावण की लंका में रहने की शंकाजन्य किंवदन्ती राम को पत्नी-त्याग के लिए विवश करती है। लक्ष्मण गर्भवती सीता को घने वन में छोड़ आते हैं और वह वाल्मीकि के आश्रम में आश्रय लेती हैं। राम अकेले राज्य करते हुए यज्ञ में सीता की सुवर्ण-मूर्ति का सार्थक्य स्वीकार करते हैं (सर्ग १३-१४)। तब शत्रुघ्न यमुना-तट पर लवणासुर का वध करते हैं और उधर सीता लव-कुश का प्रसव करती हैं। राम अश्वमेध का अनुष्ठान करते हैं। लव-कुश रामचरित गाते हैं और जनता राम के साथ उनकी गाथा स्वीकार करती है। वाल्मीकि सीता को वापस बुलाने के लिए राम से प्रार्थना करते हैं। पर सीता जब तक मुख में तीर्थजल लेकर उनके सामने शपथ करती हैं, पृथ्वी उन्हें अंक में भरकर पाताल की ओर धँस जाती है! यह सर्ग विषाद और कारुण्य का अद्‌भुत रूप खड़ा कर देता है। अंत में राम पुत्रों को राज्य देकर स्वर्ग चले जाते हैं (सर्ग १५)। सोलहवें सर्ग में कुशावती में राज्य करते हुए कुश का वर्णन है। स्वप्न में राज्यलक्ष्मी उनके सामने प्रकट होती है और अयोध्या की दैन्य दशा का वर्णन कर उन्हें फिर से उसे राज्यधानी बनाने का आह्वान करती है। कुश अयोध्या को लौटते हैं। बाद के सर्गों में सूर्यकुल के पश्चात्कालीन राजाओं का संक्षिप्त विचरण है। उन्नीसवें सर्ग में विलासी अग्निवर्ण के विलास का वात्स्यायनपरक वर्णन है। अग्निवर्ण क्षयरोग से पीड़ित होकर मर जाता है और उसके बाद उसकी रानी अपने गर्भस्थ बालक की रक्षा करती हुई प्रजापालन करती है।

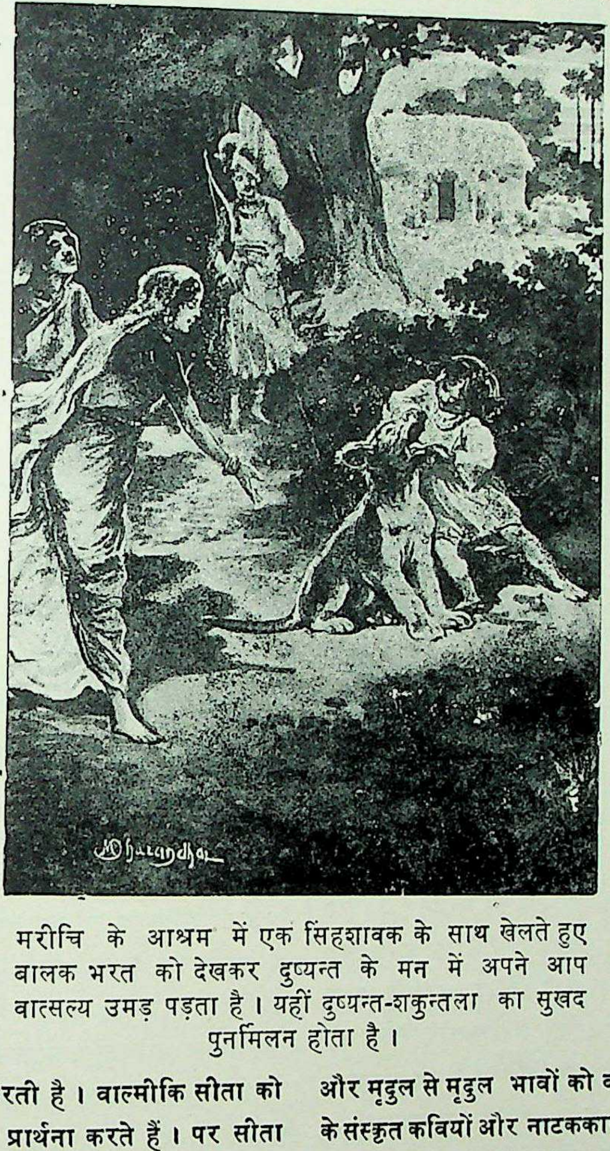

मरीचि के आश्रम में एक सिंहशावक के साथ खेलते हुए बालक भरत को देखकर दुष्यन्त के मन में अपने आप वात्सल्य उमड़ पड़ता है। यहीं दुष्यन्त-शकुन्तला का सुखद पुनर्मिलन होता है।

कालिदास के नाटक

कालिदास काव्य के क्षेत्र में जिस प्रकार बेजोड़ हैं, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी वह अनुपम हैं। जर्मन कवि और आलोचक गेटे तो कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक पर इतना मुग्ध हो गया था कि उसने अपनी प्रसिद्ध कृति 'फॉस्ट' उसी से प्रभावित होकर लिखी थी! कालिदास के नाटकों में मानव प्रकृति और चरित्र का अद्वितीय चित्रण हुआ है। पदलालित्य और प्रसाद के तो वह आचार्य हैं ही तथा संस्कृत भाषा के ऊपर उनका असाधारण प्रभुत्व है। सुकुमार भावों की ऊहापोह करने में नट का-सा अद्‌भुत कौशल उन्हें प्राप्त है। वह थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक और मृदुल से मृदुल भावों को व्यक्त करने में सक्षम हैं। बाद के संस्कृत कवियों और नाटककारों की भाँति हम उन्हें वाचाल नहीं पाते। उनके नपे-तुले शब्द अचूक बाण जैसे मर्मान्तक हैं, साथ ही वे आघात की औषधि के तुल्य भी हैं। इसी कारण वे अमोघ हैं। कालिदास की विशेषता यह है कि उनका प्रत्येक पात्र भीड़ से पृथक् अपना एक व्यक्तित्व रखता है।

कालिदास द्वारा प्रणीत केवल तीन नाटक मिलते हैं--(१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशीय, और

(३) अभिज्ञान शाकुंतल। सौन्दर्य और रचना-काल की दृष्टि से भी उनका यही क्रम है। 'मालविकाग्निमित्र' युवावस्था का आरंभिक नाटक है, जो 'ऋतु-संहार' के लिखने के समय के आसपास ही रचा गया होगा। 'विक्रमोर्वशीय' उसके बाद लिखा गया होगा और अन्त में कवि की प्रौढ़ा मेधा की सुन्दर रचना 'अभिज्ञान शाकुन्तल की सृष्टि हुई होगी। 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नाम की एक और रचना कालिदास ने की थी, जिसके संकेत इधर-उधर मिले हैं। परन्तु यह रचना आज उपलब्ध नहीं है, इसलिए हम इस पर विचार नहीं कर सकते।

मालविकाग्निमित्र

'मालविकाग्निमित्र' पाँच अंकों में है। उसका कथानक यह है। मगध के शुंग सम्राट् सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक है। उसके अन्तःपुर में कई रानियाँ हैं। नाटक में अन्तःपुर के षड़यन्त्रों का कुछ संकेत है। फिर मालविका और अग्निमित्र के प्रेम का वर्णन है। इस नाटक से दो ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। एक तो पुष्यमित्र के अश्वमेध में उसका पोता और अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र पितामह के अश्व की रक्षा करता हुआ सिन्धुनद के तट पर ग्रीक यवनों की सेना को हराता है। दूसरे उसका पिता अग्निमित्र विदर्भ देश को जीतता है। इस नाटक के आरम्भ में भारतीय नाट्य का विशद निरूपण है।

विक्रमोर्वशीय

'विक्रमोर्वशीय' वस्तु के गठन के विचार से निस्सन्देह 'मालविकाग्निमित्र' से उत्तम नाटक (त्रोटक) है। यद्यपि इसमें 'मालविकाग्निमित्र' का वेग नहीं है, फिर भी इसका पात्र-चित्रण और भाषा-प्रवाह अवश्य उससे श्रेष्ठतर हैं। इस नाटक की वस्तुकथा ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुरवा-उर्वशी संवाद से ली गई है। इसके पाँच अंकों में चन्द्रवंश के राजा पुरुरवा और स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी के प्रेम और मिलन का चित्रण है। चौथे अंक में राजा का विक्षिप्त होकर वृक्ष-वृक्ष को उर्वशी समझना वाल्मीकि द्वारा चित्रित सीताहरण के बाद राम की दशा का स्मरण कराता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' कालिदास की पूर्ण विकसित मेधा की कृति है। देश-विदेश के साहित्यालोचकों ने मुक्त कंठ से इसकी प्रशंसा की है और संसार की अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। सात अंकों में प्रस्तुत इस नाटक में अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर रीति से राजा दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम, दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का विस्मरण और त्याग, और अंत में दोनों का पुनर्मिलन वर्णित है। इसकी कथा 'महाभारत', 'पद्मपुराण' और जातकों में भी मिलती है। परन्तु कालिदास ने अपनी वस्तुकथा में महाभारत की कथा से काफी रूपान्तर कर लिया है। महाभारत का लम्पट राजा दुष्यन्त 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में आदर्श नृपति हो गया है! कालिदास की यह कृति संस्कृत-नाटकों की शिरोमणि है।

विचार-संकलन

अपने ग्रंथों में कालिदास का दृष्टिकोण आर्ष है, जिसका पुनरुद्धार गुप्त युग की विशेषता थी। ब्राह्मण और क्षात्र-धर्म का उनका वर्णन सर्वथा स्मृतिपरक है। उनके विचार में आश्रमों का निर्वाह आवश्यक है—युवावस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम में अर्थोपार्जन, वानप्रस्थकाल में वनवास और संन्यासाश्रम में जनकल्याणार्थ सर्वत्याग और भ्रमण, इन आश्रम-धर्म के कर्त्तव्यों से च्युति होने पर कवि-लेखनी आग बरसाने लगती है। राजा को कालिदास अनेक स्थलों पर 'वर्णाश्रमाणांरक्षिता' कहकर अभिहित करते हैं। शम्बुक के वध पर उनके विचारों में एक शिकन तक नहीं पड़ती। इसी आश्रमधर्मोल्लंघन का विनिश्चित फल शकुन्तला का दण्ड है। शकुन्तला द्वारा कुमार्यावस्था में उक्त धर्म का सीमोल्लंघन ही उसे ग्रहस्थाश्रम की सौम्यावस्था नहीं प्राप्त करने देता। रघुवंश के (प्रारंभ के) राजा कालिदास की दृष्टि में इसी आश्रम की लीक (नेमिवृत्ति) पर चलनेवाले थे। कवि उनका प्रशंस्त्यात्मक वर्णन करता है और उनके ही वंशज विलासी अग्निवर्ण का वह नग्न विलास-चित्रण करता है।

कालिदास ने अपने ग्रंथों में अपने समय के सारे मानव प्रयासों पर प्रकाश डाला है। भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, कलाप्रासंगिक, विद्याजनीय और धर्माध्यात्मिक सभी विषयों का तत्कालीन अध्ययन इस कवि के ग्रंथों से हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन वर्णनों में अधिकतर 'आर्ष' दृष्टिकोण का समावेश है।

धर्म और अध्यात्म के संबंध में कवि का विचार नवीनता की ओर नहीं है। वह प्राचीन को प्रश्रय देता है, यद्यपि तत्कालीन काव्य-जगत् में स्वयं अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए उसने 'मालविकाग्निमित्र' में जो उद्गार प्रकट किए हैं, वे अद्भुत क्रांतिकारी हैं।

अध्यात्म के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण अधिकतर सांख्य-योग का है। रघुवंश में अनेक स्थलों पर योग का विस्तृत विवेचन आता है। आध्यात्मिक प्रसंगों के लिए उपनिषदों का भी सहारा कालिदास ने लिया है। पर उनकी आख्यायिकाओं के भाण्डार पुराण हैं। वास्तव में महाकवि का ज्ञान अद्भुत है और उसका सांस्कृतिक पाण्डित्य तो अद्वितीय है।

कालिदास की शैली

कालिदास 'रस', 'ध्वनि', 'पदलालित्य' आदि के अपूर्व कवि हैं। शैली में तो भारतीय साहित्य में उनकी जोड़ का कोई कवि उत्पन्न नहीं हुआ। सब से बड़ी बात तो यह है कि इस महाकवि ने कभी अपनी प्रतिभा का अनुचित प्रयोग नहीं किया। उनकी मेधा का दूसरा कोई कवि दर्प से मर्यादा का उल्लंघन करके भी पूजित हो सकता था, परन्तु यह दुर्बलता कालिदास में न थी और उन्होंने काव्य-मर्यादा का जान-बूझकर उल्लंघन कभी नहीं किया। दण्डी द्वारा गिनाए गए महाकाव्य के सारे लक्षण उनके रघुवंश में मिलते हैं। नवरसों का पुट, षड्ऋतु, धीरोदात्त नायक, नगर, पर्वत, नदी, समुद्र, गाँव आदि सब कुछ का वर्णन उनके महाकाव्य में मिलता है। सन्धियों को भी उन्होंने खूब निबाहा है। वैदर्भी शैली का जैसा निर्वाह उन्होंने किया है, वैसा कहीं और प्राप्य नहीं है।

प्रसाद और ध्वनि में भी वह अद्वितीय हैं। शकुन्तला के वर्णन में एक स्थल पर वह ध्वनि और चित्र का अद्भुत सामंजस्य उपस्थित करते हुए कहते हैं—'वसने परिधूसरे वसाना।' असमासित पदों से चित्र उत्पन्न करते हुए उसका पोषण और अलंकारों से काव्य-चमत्कार प्रस्तुत करना इसी कवि का कार्य है। रति और अज के विलाप विषाद और करुणरस के प्रतीक हैं।

विरह-विकल यक्ष मेघदूत में अपनी विरह-विदग्धा यक्षिणी का आकुल रूप इस प्रकार व्यक्त करता है--

उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥

फिर वह अपने विषाद की प्रतिध्वनि मेघ के हृदय में उठाता हुआ वह चित्र खड़ा कर देता है, जो विरह-प्रसंग में एक आदर्श प्रस्तुत कर देता है--

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

विदग्धा रति में भस्मीभूत काम के प्रति इस प्रकार रस उमड़ पड़ता है--

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥

रति की क्षीण शक्ति उसका कष्ट सहन करने में समर्थ नहीं, फिर भी विलाप में उसके प्रिय का स्मरण था, वह स्मृति-संपर्क भी अब नियति ने उसे संज्ञाहीन करके छीन लिया——

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेनसंस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव॥

अज का विलाप भी करुणा के जगत् में अनूठा है——

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजाप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपिमार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु॥

फिर अज का वह विलाप पति-पत्नी के लिए एक सर्वकालिक आदर्श उपस्थित करता है—

गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रिय शिष्या ललितेकलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम्॥

कालिदास का चमत्कार विशेषकर उनकी अलंकृत परंतु अकृत्रिम शैली है। भाषा के सारल्य और उसकी गुरुता में कोई संस्कृत कवि उनका मुकाबला नहीं कर सकता। काव्यादर्श के काव्यलक्षण विशेषकर वैदर्भी के संबंध में जितने कालिदास में हैं, उतने और कहीं देखने में नहीं आते। उपमाओं के वरण और मानवहृदय के संकल्प-विकल्प की स्थितियों को दर्शाने में कवि की अपनी समता केवल उन्हीं की कृतियों में है। प्रकृति का पद-पद पर वह वर्णन करते हैं और प्रत्येक स्थल पर उसका संबंध मानव के अंतरतम के तारों से स्थापित कर देते हैं।

छन्दों के प्रयोग में तो उन्होंने अद्भुत कौशल पाया है। ऋग्वेद तक के छंदों का सादृश्य उन्होंने अपने काव्य में उपस्थित कर दिया है। इतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग कवि की असाधारण क्षमता का द्योतक है। उन्होंने अपने कव्य में निम्नलिखित छन्दों का प्रयोग किया है:—आर्या, श्लोक, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित, उपजाति, प्रहर्षिणी, रुचिरा, शालिनी, स्रग्धरा, रथोद्धता, मंजुभाषिणी, अपरवक्त्रा, औपच्छन्दसिका, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वंशस्थ, शिखरिणी, हरिणी, इन्द्रवज्रा मत्तमयूर, स्वगता, तोटक, और महामालिका।

कालिदास निस्संदेह संस्कृत-काव्य-गगन के चन्द्रमा हैं। अपनी सुधा से उन्होंने उसे खूब सींचा है।

संस्कृत-वाङ्मय—(१०)

उत्तरकालीन काव्य और नाटक

कालिदास के बाद भी काव्य और नाटक में वह परम्परा चलती रही, जिसे उन्होंने 'रघुवंश' और 'शाकुन्तल' जैसी कृतियों द्वारा चरम ऊँचाई तक पहुँचा दिया था । भारवि, दंडिन्, विशाखदत्त, भट्टि, कुमारदास, बाणभट्ट, माघ, भर्तृहरि, अमरु, भवभूति, श्रीहर्ष, बिल्हण, कल्हण और जयदेव जैसे महाकवि और नाटककार इसी काल में हुए । आइए, इस उत्तरकालीन युग की आठ-नौ शताब्दिव्यापी सुदीर्घ कालावधि में प्रस्तुत होनेवाली काव्य-नाटच-क्षेत्र की महती साहित्य-साधना का सिंहावलोकन करें ।

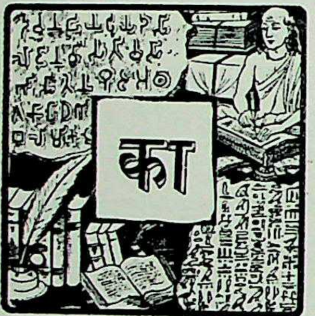

कालिदास के बाद प्रस्तुत होनेवाले महान् काव्यों में न केवल तिथिक्रम के लिहाज से ही प्रत्युत काव्य-परंपरा की दृष्टि से भी हमारे सामने जो सब से पहला नाम आता है, वह है 'किरातार्जुनीय' और उसके रचयिता महाकवि भारवि का नाम, जिनकी ख्याति संस्कृत-वाङ्मय में अजरामर है । तो फिर आइए, कालिदासोत्तरकाल की काव्यधारा की यह समीक्षा इसी महाकवि के साथ आरंभ करें ।

भारवि :: 'किरातार्जुनीय'

संस्कृत-कवि-परम्परा के अनुसार अपने जीवन के सम्बन्ध में भारवि भी हमें कुछ नहीं बताते—उन्होंने अपने जीवन-चरित के संबंध में कोई चिह्न नहीं छोड़े हैं । पर बाह्य प्रमाणों से भारवि ६३४ ई० के पूर्व के ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसी साल के खुदे ऐहोल के लेख में कालिदास के साथ उनका नाम भी उद्धृत है । फिर 'काशिका-वृत्ति' में भी उनका उद्धरण दिया गया है । इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि उनका महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' जहाँ एक ओर कालिदास का ऋणी है, वहाँ दूसरी ओर उसी ने माघ के 'शिशुपालवध' को प्रभावित भी किया है । बाण ने भारवि का उल्लेख नहीं किया । इससे जान पड़ता है कि भारवि बाण से कुछ ही पूर्व हुए थे । अतः भारवि को ५०० ई० के बाद और ५५० ई० के आसपास ही रखना उचित होगा ।

भारवि द्वारा प्रणीत महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' है । इस महाकाव्य की कथावस्तु महाभारत से ली गई है । महाभारत में एक प्रसंग आता है, जब पाण्डव अपनी पत्नी के साथ बारह वर्ष तक वनवास करने को बाध्य होते हैं । उस समय द्वैत वन में द्रौपदी पाण्डवों को अपनी प्रतिज्ञा भंग करने के लिए उकसाती है । युधिष्ठिर दिए हुए वचन के पक्ष में बोलते हैं और भीम द्रौपदी का पक्ष लेकर युक्तियों का खंडन करते हैं । महर्षि व्यास पाण्डवों को द्वैत वन छोड़कर काम्यक वन चले जाने की सलाह देते हैं । वहाँ पहुँचने पर युधिष्ठिर अर्जुन को भारत-युद्ध से पूर्व शिव का अस्त्र प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं । अर्जुन हिमालय में जाकर कठोर तप करते हैं । वहाँ एक प्रबल किरात से उनका युद्ध होता है । वह किरात वास्तव में शिव हैं जो अर्जुन को दिव्य पाशुपतास्त्र के साथ अन्य अनेक वर प्रदान करते हैं । अन्य देवता भी उन्हें वर देते हैं । महाभारत की इस कथा को भारवि ने अपनी कला और काव्यधारा से चमत्कृत कर दिया है । किरातार्जुनीय के आरम्भ में ही पाठक को कलाकार भारवि का साक्षात्कार होता है । उनकी परिमार्जित शैली महाभारत से कहीं सुन्दर प्रतीत होती है, जब महाकवि प्राचीन आख्यायिका की अनलंकृत मानव-पीड़ा से ऊपर उठ जाते हैं और अपने काव्य का आरम्भ उस चर के

प्रत्यावर्तन के साथ करते हैं, जो दुर्योधन का आचरण जानने के अर्थ युधिष्ठिर द्वारा नियुक्त हुआ था। अभिनय-शक्ति को परिवर्द्धित करने में चर का यह संवाद निस्सन्देह अत्यन्त शक्तिपूर्ण है। चर कहता है कि दुर्योधन ने अपने धर्माचरण से प्रजा का हृदय हर लिया है। इस पर द्रौपदी युधिष्ठिर पर व्यंग-बाण छोड़ती हुई उन्हें युद्ध करने को उत्तेजित करती है। किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग में इसी विषय का वर्णन है।

द्वितीय सर्ग में द्रौपदी के पक्ष में प्रयुक्त युक्तियाँ हैं। युधिष्ठिर आचार और वचन के गौरव का सहारा लेते हैं। तीसरे सर्ग में वह व्यास की सम्मति लेते हैं। व्यास कहते हैं कि युद्ध तो होगा ही, परन्तु चूँकि शत्रु प्रबल है, इसलिए अर्जुन हिमालय में इन्द्र की सहायता के लिए तप करे। उनकी बात मानकर अर्जुन तपस्या करते हैं। एक यक्ष अर्जुन को राह दिखाता हुआ हिमालय की ओर ले जाता है। चौथे सर्ग में कवि की कृति अत्यन्त नवीन आकार धारण करती है। उसकी शैली प्रौढ़ और अलंकृत हो जाती है। कवि की भाषा के ऊपर पूरी-पूरी शक्ति प्रदर्शित होती है। यक्ष अर्जुन को लिए चला जाता है और शरद् का वर्णन मूर्तिमान हो उठता है।

पाँचवें सर्ग में हिमालय की सुन्दरताओं का वर्णन है। यक्ष शिव और पार्वती के इन्द्रकील शिखर पर अर्जुन को तप का स्थल बताकर अन्तर्द्धान हो जाता है। अर्जुन का घोर तप गुह्यकों को डरा देता है और वे उससे त्राण पाने के लिए इन्द्र से प्रार्थना करते हैं। इन्द्र अर्जुन का तप नष्ट करने को गन्धर्वों और अप्सराओं को भेजते हैं (सर्ग छः)।

सातवें सर्ग में इन्द्रकील पर्वत पर देवताओं का अवतरण वर्णित है। आठवें में अप्सराएँ अपने प्रासादों को छोड़कर वन में पुष्पचयन करती फिरती हैं। गंगा उन्हें स्नान के निमित्त आमंत्रित करती है और कवि अप्सराओं के जल-विहार, स्नान आदि का अत्यन्त मार्मिकता से वर्णन करता है। नवें सर्ग में संध्या समय सूर्य क्षितिज के ओट में हो जाता है और उसकी मूर्द्धा पर धीरे-धीरे चन्द्रमा चढ़ता है। जब रजनी की चन्द्रकिरणों के नीचे अप्सराएँ अपने प्रणय से गन्धर्वों का अभिसिञ्चन करती हैं, तब कवि की लेखनी से मानो सुधा बरसने लगती है।

आगे के सर्ग में अप्सराएँ फिर अपने विनिश्चित कार्यक्रम की ओर झुकती हैं। ऋतुएँ अपने नवाभरणों से उनकी सहायता करती हैं, परन्तु उस नववयस्क कठिन तपस्वी अर्जुन को वे नहीं जीत सकतीं। ग्यारहवें सर्ग में अपने भेजे हुए निमित्तों के असफल होने पर स्वयं इन्द्र ऋषि के रूप में अर्जुन के सम्मुख उपस्थित होते हैं और उनके तप की कठोरता देख स्तब्ध रह जाते हैं। फिर भी वह कहते हैं कि तप और शस्त्र दोनों का एक साथ व्यवहार अनुचित है। अर्जुन उनकी इस युक्ति को मानते हुए भी कहते हैं कि वह अपने कुल गौरव की रक्षा करेंगे। इन्द्र उनके अध्यवसाय और उत्साह से प्रसन्न होकर अपने को प्रकट करते हैं और उन्हें शिव का अनुग्रह प्राप्त करने की सम्मति देते हैं।

ग्यारहवें सर्ग के बाद कवि फिर महाभारत के कथाभाग का आश्रय लेता है। बारहवें सर्ग में अर्जुन शिव की प्रसन्नता के लिए तप करते हैं। महर्षि लोग स्वयं विचलित होकर शिव की प्रार्थना करते हैं और शिव अर्जुन को 'नर' की संज्ञा देकर उनके अमानवीय रूप का उनके प्रति व्याख्यान करते हैं। तभी मूक नाम का असुर शूकर का रूप धारण कर अर्जुन का वध करने का प्रयत्न करता है। शिव अपने भूतों को अर्जुन की रक्षा के लिए भेजते हैं। तेरहवें सर्ग में शूकर अर्जुन के सामने आता है और उनके तथा शिव के बाणों से एक साथ बिंध जाता है। अर्जुन अपना बाण लेने के लिए उसकी ओर बढ़ते हैं, परन्तु एक किरात शूकर को अपने मालिक शिव के नाम में माँगता है। इस पर चौदहवें सर्ग में अर्जुन शूकर को अपने शिकार की वस्तु बताते हुए एक लम्बी व्याख्या करते हैं। किरात लौटकर शिव को यह सन्देश सुनाता है और शिव अपने गणों को अर्जुन के विरुद्ध भेजते हैं। परन्तु अर्जुन उनके शरों को विफल कर देते हैं।

पन्द्रहवें सर्ग में शिव और स्कन्द भागी हुई गण-सेना को लौटा लाते हैं एवं शिव और अर्जुन के बीच भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। सोलहवें सर्ग में शिव के दिव्य अस्त्रों की प्रबल मार से अर्जुन जर्जर हो जाते हैं। फिर भी सत्रहवें में वह अपना धनुष धारण करते हैं और शिव पर चट्टानों तथा पेड़ों से प्रहार करते हैं। परन्तु उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ होता है। अन्त में दोनों में द्वन्द्व-युद्ध होता है और शिव अपना रूप अर्जुन पर प्रकट करते हैं। अर्जुन शिव की पूजा और उनकी स्तुति करते हैं और शिव तथा अन्य दिग्पाल अर्जुन को अनेक दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं। इस प्रकार अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्राप्त होता है, जिसके लिए उन्होंने कठिन तप किया था। यही किरातार्जुनीय की कथा है, जो निस्सन्देह महाभारत में वर्णित प्रसंग से कहीं सुन्दर है, कारण उसे भारवि के 'अर्थगौरव' की शैली परिमार्जित करती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'किरातार्जुनीय' के अनेक स्थल सजीव और हृदयग्राही हैं और यद्यपि भारवि प्रसाद और काव्यरंजन में कालिदास की समता नहीं कर सकते, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उच्चाशयता और अर्थ की गुरुता में वह असाधारण हैं। वैसे भारवि ने जहाँ-तहाँ शब्दों की बाजीगरी भी की है। भारवि का काव्य अर्थगौरवविशिष्ट है, परन्तु उनकी शैली कालिदास की भाँति न तो प्रसादपरक है, न वह त्रुटियों से रहित है। कितने ही स्थलों पर तो अपने पांडित्य-प्रदर्शन से उन्होंने शैली को बोझिल कर दिया है। व्याकरण का चमत्कार दिखाने के भी प्रयत्न अनेक प्रसंगों में किए गए हैं। पाणिनि के कई 'अलौकिक' नियम अकारण बरते गए हैं। अलंकारों और छन्दों के प्रयोग में अवश्य भारवि का स्थान बहुत ऊँचा है। साधारणतया वह सरल छन्दों का ही प्रयोग करते हैं। केवल एक ही कठिन छन्द 'उद्गाता' का प्रयोग उन्होंने सत्रहवें सर्ग में किया है। इस सर्ग का अन्तिम श्लोक प्रहर्षिणी है। पाँचवें और अठारहवें सर्गों में उन्होंने सोलह प्रकार के विविध छन्दों का उपयोग किया है। तीसरे, सोलहवें और सत्रहवें में इन्द्रवज्रा की शाखा उपजाति का, पहले चौथे और चौदहवें सर्गों में वंशस्था का और दूसरे में वैतालीय का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अठारहवें सर्ग में द्रुतविलम्बित, छठे में प्रमिताक्षण, सातवें में प्रहर्षिणी, नवें में स्वागता और दसवें में पुष्पिताग्रा प्रयुक्त हुई है। ग्यारहवें और बारहवें सर्गों में श्लोक और तेरहवें में औपच्छन्दसिक का प्रयोग कवि ने किया है।

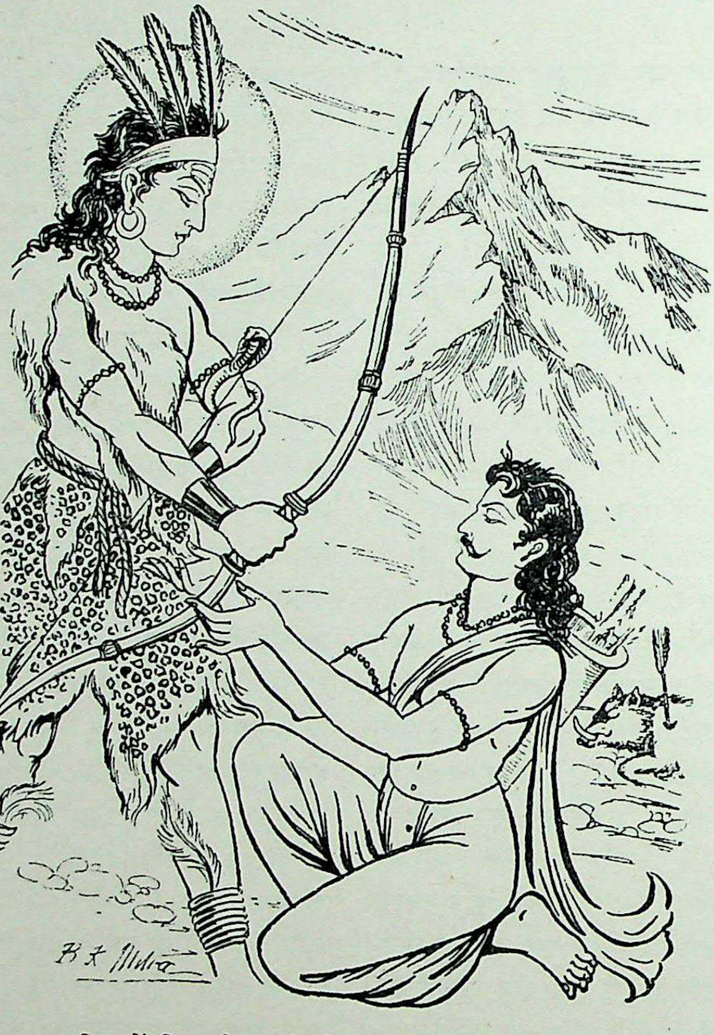

प्रस्तुत चित्र में किरातवेशधारी शिव अर्जुन के साथ अपने द्वन्द्व-युद्ध के उपरान्त प्रसन्न होकर उन्हें पाशुपतास्त्र आदि दिव्यास्त्र प्रदान कर रहे हैं। कुछ दूर वह शूकर मरा पड़ा है, जिसके कारण यह द्वन्द्व-युद्ध हुआ था। यह प्रसंग भारवि के 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य का विषय है।

भट्टि :: 'रावणवध'

भट्टि एक विचक्षण कवि है, जिसका 'रावणवध' काव्य 'भट्टिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कवि की विचक्षणता इस बात में है कि उसकी रचना श्लेषात्मिका है और उसका 'रावणवध' काव्य होते हुए भी व्याकरण का भी ग्रन्थ है! कवि का कहना है कि उसने वलभी के राजा श्रीधरसेन के आश्रम में अपना काव्य लिखा। परन्तु श्रीधरसेन नाम के वलभी में चार राजा हुए हैं, जिनमें से आखिरी ६४१ ई० में मरा था। इस प्रकार यद्यपि हम भट्टि का काल ठीक-ठीक तो निर्धारित नहीं कर सकते, परन्तु उसकी निचली सीमा अवश्य प्रस्तुत कर सकते हैं। वह निचली रेखा ६४१ ई० है, जिसके पूर्व ही भट्टि को रखा जा सकता है। मजूमदार ने इस भट्टि को मन्दसौर के प्रशस्ति-लेख का कवि वत्सभट्टि माना है, परंतु नाम की एकता को छोड़कर दोनों कवियों में अन्य कोई समानता नहीं है। मजूमदार महोदय इस बात को सर्वथा भूल गए हैं कि वत्सभट्टि मन्दसौर के अपने प्रशस्ति-लेख में जहाँ व्याकरण की भद्दी भूलें करता है, वहाँ भट्टि न केवल व्याकरण का महान् पण्डित ही है, वरन् व्याकरण-परक ग्रन्थ भी लिखता है! इन बातों को देखते हुए भट्टि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और वत्सभट्टि को एक कदापि नहीं माना जा सकता। हाँ, इसके साथ ही एक दूसरा विचार अवश्य उपस्थित हो जाता है। 'भट्टि' शब्द संस्कृत 'भर्तृ' का प्राकृत रूप है। कोई आश्चर्य नहीं कि अनुश्रुति की परम्परा में यह नाम भर्तृहरि के नाम से मिल गया हो। उसी परम्परा के अनुसार कभी-कभी भट्टि भर्तृहरि का पुत्र या भाई भी माना जाता है। परन्तु इन नामों की शाब्दिक समानता के अतिरिक्त उनकी एकता के कोई अन्य बाह्य प्रमाण नहीं हैं। एक बात स्पष्ट है कि भट्टि-काव्य ने माघ को काफी प्रभावित किया है। उस महाकवि ने 'शिशुपालवध' में व्याकरण की अनेक प्रक्रियाओं का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि भट्टि निस्संदेह माघ का पूर्वकालिक कवि था। एक और बात ध्यान देने की यह है कि भट्टि का उल्लेख भामह ने किया है। अपने काव्य के अन्त में भट्टि लिखता है कि उसकी रचना व्याख्या द्वारा ही समझी जा सकती है—वह मतिमानों के लिए उत्सव है और मूर्खों के लिए शूल। भामह ने भी ठीक इसी प्रकार के भावों के एक श्लोक का प्रयोग किया है। भट्टि ने अलंकारों की जो तालिका दी है, वह कई अंशों में मौलिक है। यह प्रसंग विशेषतया तब स्पष्ट हो जाता है, जब हम भट्टि को दंडी और भामह से मिलाते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'भट्टिकाव्य' श्लेषात्मक है। इसका प्रयत्न द्विधा है। जहाँ यह व्याकरण की रचना है, वहाँ इसका उद्देश्य राम की कथा का वर्णन भी है। यह काव्य बाईस सर्गों में विभक्त है और इसके चार कांड हैं। पहले चार सर्गों तक व्याकरण के विविध नियमों का उल्लेख है। पाँचवें से नवें तक के सर्गों में प्रमुख विधान हैं और दसवें से तेरहवें तक के चार सर्ग काव्यालंकारों का निरूपण करते हैं। भारतीय आलोचकों ने भट्टि को महाकवि की उपाधि दी है। इसमें सन्देह नहीं कि एक पूरे काव्य को श्लेषात्मक रूप में लिखना यद्यपि पहले दर्जे के कवि का चमत्कार नहीं, तथापि इस कार्य का सम्पादन नगण्य कवि द्वारा भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए भट्टि को कवि-परम्परा में उच्च स्थान देना ही उचित होगा। उसकी शैली में श्लेष होते हुए भी असमस्त पदों का प्रचुर समावेश है। भट्टि की शैली अनलंकृत और साधारण है, असमस्त और सरल। परन्तु उसमें वर्णरंजन का निश्चय ही अभाव है। उसमें आभरण की क्षीणता स्पष्ट है।

भट्टि के काव्य में छन्दों का क्रम इस प्रकार है। श्लोक का प्रयोग अधिकतर हुआ है--विशेषकर चार से नवें और चौदह से बाईसवें सर्ग में। इन्द्रवज्रा की उपजाति शाखा पहले, दूसरे, ग्यारहवें और बारहवें में प्रयुक्त हुई है। तेरहवें सर्ग में आर्या का गीति रूप मिलता है। पुष्पिताग्रा अधिकतर दसवें में प्रयुक्त हुई है। प्रहर्षिणी, मालिनी, वंशस्था, औपच्छन्दसिक और वैतालीय लगभग छः बार व्यवहृत हुए हैं और अश्वललित, नन्दन, नर्कुटक, पृथ्वी और रुचिरा केवल एक-एक बार। अन्य छन्दों में से निम्नलिखित का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है--त्रोटक, द्रुतविलंबित, शार्दूल-विक्रीड़ित, तनुमध्या, प्रमिताक्षरा, प्रहरणकलिका, मन्दाक्रान्ता और स्रग्धरा।

कुमारदास :: 'जानकीहरण'

कुमारदास का भी व्यक्तित्व अस्पष्ट है और उसके जीवन के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान थोड़ा है। अनुश्रुति उसे कालिदास का मित्र मानती है। तदनुसार कालिदास सिंहल में मरे थे और मित्र को खोकर शोक में कुमारदास ने सजीव चितारोहण किया था। पर यह किंवदन्ती सारहीन है।

कवि कुमारदास की रचना 'जानकीहरण' है, जो एक लम्बे काल तक उपलब्ध नहीं थी। इसका एक शब्दशः सिंहली अनुवाद मात्र प्राप्य था। परन्तु अब दक्षिण से उसका एक संस्कृत पाठ भी उपलब्ध हो गया है। सिंहली अनुश्रुति के अनुसार कुमारदास इसी नाम का सिंहल का राजा था। कुमारदास नाम के एक राजा ने निस्सन्देह सन् ५१७ से ५२६ ईस्वी तक वहाँ राज्य भी किया था। परन्तु यह अनुश्रुति सिंहल में बहुत पुरानी नहीं ठहराई जा सकती। निश्चित बात यह है कि कुमारदास कालिदास की काव्यकला से काफी प्रभावित हुआ था और उसने उस महाकवि की शैली और वस्तु-सामग्री का अनेक प्रकार से अनुकरण किया था। इस वक्तव्य की सार्थकता 'जानकीहरण' के अनेक स्थलों का रघुवंश के बारहवें सर्ग से मिलान करने से स्पष्ट हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुमारदास को 'काशिकावृत्ति' का ज्ञान था, जो ६५० ई० के लगभग लिखी गई थी। अतः वह इस तिथि से पूर्व नहीं रखा जा सकता। फिर वामन को निश्चय ही कुमारदास का ज्ञान था। वामन ने कुमारदास के काव्य में मिलनेवाले 'खलु' शब्द के आरंभ में प्रयोग की निन्दा की है। उसने जिस श्लोक को उद्धृत किया है, वह विद्वानों की सम्मति में 'जानकीहरण' के ही लुप्त भाग का है। इस कारण इस कवि को वामन के समय अर्थात् लगभग ८०० ईस्वी के पूर्व ही रखना होगा। संभवतः कुमारदास माघ का पूर्ववर्ती था। उसके एक श्लोक की स्पष्ट प्रतिध्वनि माघ के एक श्लोक में सुन पड़ती है।

अपनी काव्य-मीमांसा में राजशेखर ने 'जानकीहरण' के रचयिता कुमारदास को 'अन्ध' लिखा है। सम्भव है, राजशेखर का यह वक्तव्य सही हो। राजशेखर की यह विज्ञप्ति भी कि रघुवंश के रहते 'जानकीहरण' की रचना करना कुछ हँसी-खेल न था, प्रचुर अर्थ रखती है। एक ही वस्तु पर दो कवियों का लिखना उत्तरकालीन कवि के लिए एक समस्या खड़ी कर देता है, विशेषकर जबकि पूर्वकालीन कवि काव्य-शक्ति में प्रबल हो गया हो। 'जानकीहरण' का रघुवंश से विषय-साम्य निस्संदेह इसी प्रकार की एक समस्या उपस्थित करता है। परन्तु इससे इस कृति के रचयिता की प्रतिभा भी स्थापित हो जाती है। कुमारदास ने जिस कुशलता से अपने काव्य की 'वस्तु' का निर्वाह किया है, वह सर्वथा सराहनीय है—विशेषकर इस कारण कि उसका पूर्ववर्ती कवि कालिदास है। जहाँ-जहाँ गुंजायश रही है, वहाँ-वहाँ कुमारदास ने नवीनता का भी सहारा लिया है और स्थान-स्थान पर उसका वर्णन काफी मार्मिक बन पड़ा है। यहाँ इस महाकाव्य के प्रबंध-प्रवाह पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

'जानकीहरण' बीस सर्गों में प्रणीत महाकाव्य है। इसके पहले सर्ग में दशरथ, उनकी रानियों और अयोध्या का सुन्दर काव्यपरक वर्णन है। दूसरे में बृहस्पति रावण की साहसिकता का वर्णन करते हुए विष्णु से सहायता की प्रार्थना करते हैं। तीसरे में दशरथ अपनी रानियों के साथ प्रमदवन में विहार करते हैं। इस सर्ग में, किरातार्जुनीय की भाँति स्वयं राजा ही ऋतुओं का वर्णन करता है। फिर कवि जल-विहार का वर्णन करता है और राजा सूर्यास्त का। तदनन्तर रात्रि और सूर्योदय के सौन्दर्य-वर्णन हैं। चौथे सर्ग में दशरथ के पुत्रों का जन्म तथा विश्वामित्र के आश्रम में राक्षसी ताड़का के उत्पात और अन्त में उसके वध का उल्लेख है। फिर पाँचवें में इस राक्षस-संहार का कुछ विस्तार से वर्णन है। छठा सर्ग मिथिला में जनक और विश्वामित्र के बीच खुलता है और सातवें में सीता और राम का मिलाप है। राम-सीता के सौन्दर्य की सराहना करते हैं और कवि दोनों के प्रेम और विवाह का वर्णन करता है। आठवें सर्ग में राम-सीता के दाम्पत्य जीवन के कुछ मार्मिक स्थल वर्णित हैं। कुमारदास के सूर्यास्त और रात्रि-वर्णन अत्यन्त रोचक हैं। नवें की कथा अयोध्या में खुलती है और दसवें सर्ग में दशरथ राम का युवराज-तिलक करना चाहते हैं एवं राजधर्म पर एक लम्बा व्याख्यान देते हैं, जिससे कथा-प्रवाह कुछ शिथिल पड़ जाता है। इसी सर्ग के अन्तर्गत वनगमन और सीताहरण के प्रसंग भी हैं। अगले सर्ग में काफी वेग और शीघ्रता के साथ हनुमान और राम का साहचर्य, बालि का मदमर्दन आदि वर्णित हैं। इसी में वर्षा का भी अत्यन्त रोचक वर्णन है। बारहवें सर्ग में शरद् का आरंभ होता है। सुग्रीव और लक्ष्मण वाद-प्रतिवाद करते हैं और राम को सीता के विरह में विषाद होता है। यह प्रसंग जहाँ-तहाँ बदलता हुआ तेरहवें सर्ग तक चलता है। चौदहवें सर्ग में वानरों द्वारा समुद्र पर सेतुबन्धन का दृश्य है और अगले सर्ग में अंगद राम का दूत बनकर रावण की सभा में जाता है। सोलहवें सर्ग में राक्षसों और उनकी लंका का वर्णन है और शेष पाँच सर्गों (१७-२२) में राम की विजय का। इस प्रकार कुमारदास के 'जानकीहरण' के प्रबन्धानुक्रम के वस्तु-बन्ध में काफी कुशलता है।

ऊपर कुमारदास पर कालिदास की शैली और वस्तु दोनों के ऋण की बात कही गई है। उस पर यहाँ कुछ विचार कर लेना युक्तिसंगत होगा। कुमारदास ने भी कालिदास की भाँति वैदर्भी शैली का ही प्रयोग किया। एकाध विद्वान् कुमारदास की शैली को 'गौड़ी' भी मानते हैं। इनके अग्रणी श्री नन्दार्गिकर हैं। परन्तु जानकीहरणकार की शैली अधिकतर वैदर्भी ही प्रतीत होती है। कुमारदास ने अनुप्रास का अच्छा प्रयोग किया है, परन्तु यह प्रयोग काफी संयत है। यमक का प्रयोग भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता।

कहीं-कहीं तो कुमारदास काव्य-सौन्दर्य में बहुत ऊँचा उठ जाता है। उसकी शली में अद्भुत विलास और ध्वनि है और छन्द में एक अनुपम रमणीयता लहराने लगती है।

छन्दों का अनुक्रम और प्रयोग कुमारदास में काफी पुष्ट है। इस विचार से वह कवि भारवि से दूर और कालिदास का समाश्रयी है। जानकीहरण में श्लोक, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, इन्द्रवज्रा, वंशस्था, वैतालीय, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, अवितथ, शिखरिणी, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रांता और मालिनी छंदों का प्रयोग हुआ है। कुमारदास माधुर्य और रस के प्रवाह में कालिदास के नितान्त समीप पहुँच जाता है।

विशाखदत्त :: 'मुद्राराक्षस'

जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में कालिदास के बाद के युग में सब से पहले हमारे सामने भारवि, भट्टि, कुमारदास आदि के नाम आते हैं, उसी तरह नाटक के क्षेत्र में जो नाम सब से पहले हमारे समक्ष आता है, वह है 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त का नाम, जो महाकवि कालिदास के समकालीन ही माने जाते हैं। वैसे उनकी अपनी कृति 'मुद्राराक्षस' के

अनुसार वह महाराज पृथु के पुत्र और सामन्त वटेश्वरदत्त के पुत्र थे । परन्तु इस बात की पुष्टि अभी तक किसी ऐतिहासिक सामग्री द्वारा नहीं हुई है । पर इतना स्पष्ट सा है कि विशाखदत्त गुप्तों के किसी सामन्त घराने के थे । उनके केवल दो नाटक हैं, 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त', जिनमें दूसरा केवल उद्धरणों में ही इधर-उधर अपूर्णरूपेण प्राप्त है । विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' के भरतवाक्य में नाटक के बीज-संकेत के व्याज से शकारि विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय की विदेश-बहिष्कारिणी नीति की सराहना की है । इसके अतिरिक्त 'देवीचन्द्रगुप्त' में उन्होंने चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्पष्ट वर्णन किया है, इसलिए वह चन्द्रगुप्त और कालिदास के समकालीन तथा पाँचवीं सदी ईस्वी के नाटककार ठहरते हैं ।

'मुद्राराक्षस' राजनीति का एक अद्भुत नाटक है । वह सात अंकों में प्रस्तुत है । इसमें अद्भुत शक्ति है और इसके पात्र सजीव और स्पष्ट हैं । राजनीतिक षड्यंत्रों और दाँव-पेचों का जितना अनोखा, यथार्थ और पेचीदा चित्रण इसमें है, उतना शायद संसार की और किसी कृति में नहीं ! इसका वस्तु-निर्माण इस प्रकार है । राक्षस नन्द का मंत्री है । चाणक्य नन्दवंश का ध्वंस कर चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बनाता है और स्वयं उसका मंत्री बनता है । फिर दोनों मंत्रियों के परस्पर चक्र चलते हैं और अंत में चाणक्य राक्षस को भी चन्द्रगुप्त की ओर करके उसे उसका मंत्री बना देता है । इतना अवश्य मानना होगा कि राजनीतिक दाँवपेंच के इस नाटक में कालिदास की सुकुमार स्वाभाविक कला या भवभूति की गम्भीरता का अभाव है । 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक जो एक और नाटक लिखा था, वह आज उपलब्ध नहीं है । परन्तु उसके उद्धरण साहित्य के अनेक स्थलों में बिखरे पड़े हैं । इसका एक अपूर्ण भाग सिलवाँ लेवी ने फ्रेंच 'जर्नल एशियाटिक' में सन् १९२४ में पहलेपहल छापा था । यह नाटक भी राजनीतिक ही है और अत्यन्त मनोरंजक है । इसका ऐतिहासिक शोध पर बड़ा प्रभाव पड़ा है । इसने गुप्तवंश के एक लुप्त सम्राट् का पुनरुद्धार किया है । इससे ज्ञात हुआ है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच में एक और राजा रामगुप्त भी हो गया है, जो समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय का बड़ा भाई था । उसके निन्द्य आचरण के कारण ही संभवतः चन्द्रगुप्त ने उसे मार डाला था और स्वयं राजा बन गया था । इसी घृणित आचरण के कारण गुप्तकाल के लेखों की राजवंशावलियों में रामगुप्त का नाम तक नहीं मिलता । यह निन्दनीय आचरण ही इस 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक का वस्तु-विषय है । प्रसंग इस प्रकार है । समुद्रगुप्त ने जो भारत-दिग्विजय की थी, उसमें शक, मुरुण्ड, शाहि-शाहानुशाहि, कुषाणादि अनेक विदेशी भी आक्रान्त हुए थे । जब मृत्यु के कारण समुद्रगुप्त का शक्तिपूर्ण व्यक्तित्व हट गया और 'क्लीव' रामगुप्त ने अपने दुर्बल करों में गुप्त सम्राटों का असाधारण राजदण्ड धारण किया, तब विदेशी एक बार फिर मगध पर टूटे । शकों की वाहिनी से डरकर रामगुप्त ने सन्धि की बात चलाई । इस पर शकपति ने उससे उसकी सुन्दरी रानी ध्रुवदेवी माँगी ! रामगुप्त उसे देकर सन्धि करने को प्रस्तुत हो गया ! इस पर उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में जाकर शकपति का वध कर डाला ! बाद में उसने शायद अपने भाई को भी मार डाला और राज्य तथा ध्रुवदेवी दोनों पर अधिकार कर लिया । मनोरंजक बात यह है कि हिन्दू धर्म के प्राण होते हुए भी चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी से विधवा-विवाह किया ! ध्रुवदेवी से उसने पुनर्विवाह किया था, यह इस बात से सिद्ध है कि गुप्त आलेखों में चन्द्रगुप्त के पुत्र सम्राट् कुमारगुप्त को ध्रुवदेवी से उत्पन्न कहा गया है । फिर रामगुप्त को चन्द्रगुप्त ने मार डाला था, यह बात भी मध्यकालीन राष्ट्रकूटों के एक उत्कीर्ण लेख से स्पष्ट विदित होती है । इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से 'देवीचन्द्रगुप्त' एक असाधारण महत्व की रचना है ।

हर्षवर्धन :: 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'नागानन्द'

विशाखदत्त के नाटकों के बाद कालक्रम से जिन नाट्य-कृतियों पर हमारा ध्यान जाता है, वे थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन के नाम से विख्यात तीन नाटक हैं । हर्ष ने ६०६ से ६४८ ईस्वी तक राज्य किया था । बाणभट्ट उसकी ही सभा के कवि थे और उन्होंने 'हर्षचरित' के नाम से अपने राजा की जीवनी लिखी है । हर्ष के इन नाटकों के नाम हैं—(१) रत्नावली, (२) प्रियदर्शिका, और (३) नागानन्द । 'रत्नावली' चार अंकों में प्रस्तुत एक नाटिका है, जिसमें राजा उदयन और सिंहल की राजकुमारी रत्नावली का प्रेम-प्रसंग है । 'प्रियदर्शिका' भी चार अंकों की नाटिका है । इसमें भी उदयन के ही प्रणय-प्रसंग का निरूपण है । प्रियदर्शिका अंगराज दृढ़वर्मा की कन्या थी, जिसे वत्सराज उदयन ने ब्याहा । 'नागानन्द' पाँच अंकों का नाटक है और इसमें विद्याधरों के राजकुमार जीमूतवाहन का आत्मत्याग प्रदर्शित है । हर्ष की शैली में तो विशेष चमत्कार नहीं है, परन्तु उसकी वस्तुकथा का गठन अच्छा है ।

माघ :: 'शिशुपालवध'

आइए, अब नाटकों के इस सिलसिले को फिलहाल यहीं छोड़कर पुनः काव्य के तारतम्य को हाथों में लें। इस सिलसिले में आगे बढ़ने पर एक बहुत बड़ा नाम हमारे सामने आ खड़ा होता है। यह है 'शिशुपालवध' महाकाव्य के स्रष्टा माघ का नाम। माघ संस्कृत-साहित्य के महाकवियों में से एक हैं। पदलालित्य में उनकी जोड़ का दूसरा कवि नहीं—ऐसा संस्कृत के समालोचकों का मत है। माघ कौन थे, यह कहना तो इतना सरल नहीं, परन्तु अन्य कवियों की अपेक्षा इस कवि ने अपने संबंध में कुछ अधिक वक्तव्य दिया है। और यद्यपि हम उनके दिए हुए आँकड़ों से माघ का चरित संकलित नहीं कर सकते, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनसे कुछ अंशों में हमें उसका कुछ भान अवश्य हो जाता है। माघ के कथनानुसार उनके पिता का नाम दत्तक सर्वाश्रय था और उनके पितामह का सुप्रभदेव। सुप्रभदेव वर्मलात अथवा वर्मलाख्य नामक किसी राजा के अमात्य थे। कीलहार्न ने वर्मलात नामक राजा के संबंध का एक शिलालेख छापा है, जो सन् ६२५ ईस्वी का है। माघ के पितामह सुप्रभदेव संभवतः इसी वर्मलात के मंत्री थे। इस विवरण से माघ का समय प्रायः निश्चित हो जाता है और उन्हें सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रख सकते हैं। इस तिथि की अन्य बाह्य प्रमाणों से भी पुष्टि हो जाती है। माघ निस्सन्देह भारवि के बाद के कवि हैं। भारवि को उन्होंने अपना आदर्श भी बनाया जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग के ११२वें श्लोक में काशिका के टीकाकार 'न्यासकार' जिनेन्द्रबुद्धि के प्रति स्पष्ट संकेत है। जिनेन्द्रबुद्धि का काल ७०० ईस्वी के लगभग है। माघ भी इसी समय के आसपास हुए होंगे। इसके माघ का काल अनुमानतः ७०० ईस्वी के आसपास ही रहा होगा।

माघ का यश उनके महाकाव्य 'शिशुपालवध' पर अवलंबित है। यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के अमूल्य रत्नों में से एक है और इसी के कारण माघ कालिदास और भारवि के समकक्ष गिने जाते हैं। कुछ साहित्य-मर्मज्ञ तो माघ को कालिदास से भी ऊँचा मानते हैं। परन्तु इस महाकवि की शैली और काव्यगुणों पर विचार करने के पूर्व उसके काव्य-प्रबन्ध पर एक दृष्टि डाल लेना अधिक उचित होगा। 'शिशुपालवध' का कथा प्रसंग महाभारत से लिया गया है। महाभारत की कथा में कृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय का अनुष्ठान करने के लिए उत्साहित करते हैं। इस यज्ञ में भीष्म की सम्मति से कृष्ण को प्रमुख स्थान मिलता है। चेदिराज शिशुपाल इस कार्य के अनौचित्य पर बिगड़कर सभाभवन छोड़ देता है। युधिष्ठिर उसे मनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु साथ ही कृष्ण की बड़ाई भी करते हैं। शिशुपाल सभा में विद्रोह का सूत्रपात करता है और यज्ञ नष्ट कर देने की चेष्टा करता है। जब युधिष्ठिर भीष्म की ओर देखते हैं, तो भीष्म कृष्ण की पूजा और शिशुपाल की उपेक्षा करने की सलाह देते हैं। इस पर शिशुपाल भीष्म का अपमान करता है। भीष्म उसका प्रतिकार करते हुए याद दिलाते हैं कि कृष्ण शिशुपाल के सौ अपशब्दों को सहन करने के लिए उनकी माता के प्रति प्रणबद्ध हैं। इस पर शिशुपाल कृष्ण की निन्दा करता है। कृष्ण को वह अपनी वधू चुरानेवाला चोर और ग्वाल कहता है। कृष्ण अपशब्दों से आहत होकर अपने चक्र से शिशुपाल का मस्तक काट लेते हैं। इस महाभारत की कथा का माघ ने अपनी काव्यकला द्वारा काफी परिमार्जन किया है। उनके प्रबन्ध का काव्य-प्रवाह महाभारत से कहीं तरल है।

अब किंचित् 'शिशुपालवध' के प्रबन्ध का दिग्दर्शन करें। उसके पहले सर्ग में ही माघ ने एक मनोहर परिवर्तन किया है। नारद इन्द्र की ओर से दूत बनकर वसुदेव के घर जाते और मानवों तथा देवताओं के शत्रु शिशुपाल का वध करने की कृष्ण से प्रार्थना करते हैं। कृष्ण उद्धव और बलराम से सम्मति लेते हैं। इस पर बलराम युद्ध की सलाह देते हैं और उद्धव युधिष्ठिर के राजसूय का निमन्त्रण स्वीकार करने की। इस सम्बन्ध में राजनीति की भी काफी छानबीन होती है। फिर कृष्ण द्वारका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान करते हैं। यह प्रसंग तीसरे सर्ग तक चलता है। चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का वर्णन है। पांचवें सर्ग में स्कन्धावारों में ठहरी सेना का सुन्दर वर्णन है। छठे सर्ग के दृश्य बड़े सुन्दर हैं। सेना के साथ रानियाँ भी पालकियों पर सवार हैं और अनेक सवारियाँ घोड़ों और खच्चरों पर भी आरूढ़ हैं! मार्ग में जल-विहार और प्रसाधन के मनोरम वर्णन कवि ने किए हैं। सातवें और आठवें सर्गों में अन्य यादव अग्रणी भी कृष्ण का अनुकरण करते हुए वन और जल में विहार करते हैं। यह प्रसंग हमारे सामने शृंगार का अद्भुत वर्णन रखता है और नवें सर्ग तक चलता रहता है। दसवें में यादवों के आपान और रमण का वर्णन है। यादवों का मद्यपान प्रसिद्ध है। इसमें उनकी आसक्ति इतनी बढ़ी थी कि उनका संहार भी अन्त में इसी कारण से हुआ। ग्यारहवें में रजनी के अवसान के बाद सुप्रभात होता है और बारहवें में यादव-

सेना यमुना पार करती है। तेरहवें सर्ग में कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश करते हैं, जहाँ युधिष्ठिर उनका स्वागत करते हैं। अश्वघोष और कालिदास की भाँति राजमार्ग पर जाते हुए कृष्ण के दर्शन के लिए लालायित पुरनारियों को कवि प्रकोष्ठवातायनों में ला खड़ा करता है। चौदहवें सर्ग में कवि फिर महाभारत का सहारा लेता है, परन्तु उसका पदलालित्य महाभारतकार से कहीं अधिक रुचिकर है। इसमें कृष्ण की पूजा होती है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल कृष्ण का विरोध और भीष्म से वाद-विवाद करता है, फिर सभा छोड़कर युद्ध के निमित्त अपनी सेना प्रस्तुत करता है। सोलहवें में शिशुपाल का दूत युद्ध का संदेश लाता है। सात्यकि और उस दूत में, कहा-सुनी होती है और दूत सगर्व उत्तर देता है। सत्रहवें सर्ग में दोनों सेनाएँ युद्ध के निमित्त बढ़ती हैं। अन्त में कृष्ण और शिशुपाल युद्ध करते हैं तथा शिशुपाल मारा जाता है (१९)।

कुछ भारतीय जिज्ञासुओं ने माघ में कालिदास और भारवि दोनों के गुणों का होना बताया है और दोनों से उन्हें विशिष्ट कहा है। इसे स्वीकार करना कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि माघ में पदलालित्य उच्च कोटि का है, परंतु कालिदास की काव्य-कला के सम्मुख वह सचमुच ही सर्वथा विजित हैं। इतना जरूर है कि माघ का अनेक स्थलों का सौन्दर्य भारवि में नहीं मिलने का—विशेषकर उनका प्रणय का रोमांचक वर्णन तो अपूर्व है। माघ का वर्णन-वैचित्र्य, विलास-व्यंजना, पदध्वनि की झंकृति आदि भारवि में अप्राप्य हैं, फिर भी भारवि का अर्थगाम्भीर्य, शब्दशक्ति और काव्य की गुरुता माघ के बस की नहीं। दोनों ही वास्तव में अपने-अपने स्थान पर स्तुत्य हैं। माघ वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के ऋणी हैं, जैसा वह अपने वर्णनों में स्वीकार भी करते हैं। परन्तु माघ ऐसे पदलालित्य के स्रष्टा होते हुए भी शाब्दिक बाजीगरी से अपने को नहीं बचा सके। कालिदास को छोड़कर संस्कृत कवियों में बहुत कम ऐसे हुए हैं, जिन्होंने अपने को काव्य की कृत्रिम कलाबाजी से बचा पाया हो। शिशुपालवध के उन्नीसवें सर्ग में इस शाब्दिक इन्द्रजाल का अच्छा उदाहरण मिलता है। यहाँ माघ सेना के व्यूह की उपमा सर्वतोभद्र, चक्र, गोमूत्रिका आदि छन्दों से युक्त महाकाव्य से देते हैं। निस्सन्देह माघ वहाँ सुरुचि से अत्यन्त दूर जा पड़ते हैं। श्लेष का प्रयोग संस्कृत कवियों ने बहुलता से किया है--

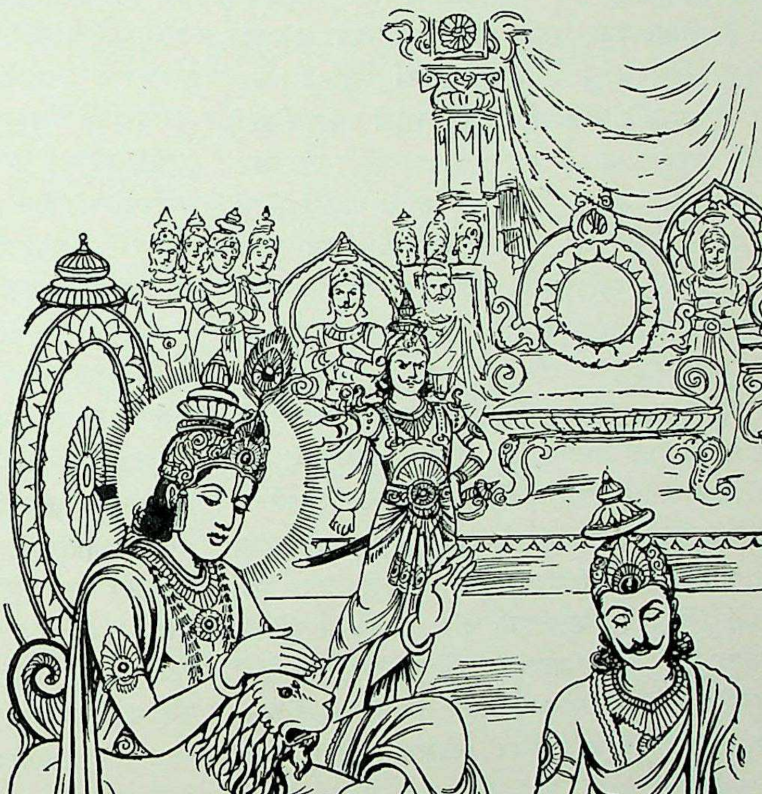

युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में युग की सर्वश्रेष्ठ विभूति के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा होने पर चेदिराज शिशुपाल द्वारा भरी सभा में तत्संबंधी विरोध-प्रदर्शन का दृश्य, जो माघकृत 'शिशुपालवध' महाकाव्य का प्रमुख प्रसंग है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्वयं कालिदास भी इससे बरी नहीं है। परन्तु उस महाकवि की सुरुचि और कला की मर्यादा का ज्ञान उसे बचा लेता है। इधर माघ और भारवि दोनों उस शृंखला में जकड़कर कभी-कभी अनर्थ कर बैठते हैं। फिर भी जहाँ-तहाँ माघ ने श्लेष पर सुन्दर आधिपत्य दर्शाया है। माघ ने कहीं-कहीं तो ऐसे स्थलों की अभिसृष्टि कर दी है, जो प्रसाद और भावगुरुता में साधारणतया अप्राप्य हैं। माघ के अलंकार बोझिल नहीं, सरल हैं। उनके अनुप्रासों में शक्ति है। भाषा के प्रयोग में माघ असाधारण हैं। व्याकरण में वह भट्टि के टक्कर के पण्डित हैं। छन्दों के प्रयोग में भी वह कम कुशल नहीं हैं। साधारणतया श्लोक ही शिशुपालवध में प्रयुक्त हुआ है, विशेषकर दूसरे और उन्नीसवें सर्गों में। वंशस्था की उपजाति शाखा पहले और बारहवें सर्ग में मिलती है तथा इन्द्रवज्रा और उद्गाता क्रमशः तीसरे और पन्द्रहवें में। इसी प्रकार औपच्छन्दसिक का प्रयोग बीसवें, द्रुतविलम्बित् का छठे, पुष्पिताग्रा का सातवें, प्रमिताक्षरा का नवें, प्रहर्षिणी का आठवें, मंजुभाषिणी का तेरहवें, मालिनी का ग्यारहवें और रथोद्धता का चौदहवें सर्ग में प्रयोग हुआ है। रुचिरा, वसन्ततिलका, वैतालीय और शालिनी क्रमशः सत्रहवें, पाँचवें, सोलहवें और अठारहवें में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छन्दों का प्रयोग भी माघ ने किया है, जैसे स्वागता, गीति, उत्सर, कलहंस, चित्रलेखा, जलधरमाला, जलोद्धतगति, तोटक, दोधक, भूतश्री, पृथ्वी, रमा, रुक्मवती, भ्रमरविलसित, मंजरी, महामालिका, वंशपत्रपतित, वैश्वदेवी, शिखरिणी, स्रग्धरा, स्रग्विणी, हरिणी, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित। इतने छन्दों का एक ग्रन्थ में प्रयोग शायद अन्य किसी कवि ने नहीं किया। इससे माघ का छन्द पर अधिकार स्पष्ट है।

शतक-युग

सातवीं-आठवीं शताब्दी ईस्वी के संस्कृत-काव्य क्षेत्र में एक अनूठे साहित्यिक प्रयास का आविर्भाव होते हुए पाते हैं। यह प्रयास शतकों की रचना है, जो इस युग की एक विशिष्ट देन है। शतकों में एक सौ अथवा उससे कुछ ऊँची-नीची संख्या में श्लोक मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मौलिक रूप में शतक में सौ श्लोक ही रहे होंगे और पश्चात्काल में उनकी संख्या बढ़ा-घटा दी गई होगी। इन शतकों की संख्याओं का घटना-बढ़ना काव्यों की अपेक्षा सरल था, क्योंकि इनमें वस्तु अथवा प्रबन्ध जैसी तो कोई चीज थी नहीं, जिसमें पूर्व और पर के मिलान की आवश्यकता होती। इस कारण ऐसी कृतियों में प्रक्षेपकों के लिए सुविधा हो गई। प्रक्षिप्त श्लोकों की गुंजाइश जब काव्यों और प्रबन्धपरक अन्य ग्रन्थों तक हो गई थी, तो असम्बद्ध स्वतः पूरित शतक-श्लोकों के बीच उनका खप जाना तो साधारण-सी बात थी!

भर्तृहरि

इस प्रकार के काव्य की पूर्ति में योग देनेवाले मनीषियों में दो विशिष्ट शतककार हुए हैं। इनमें से एक तो हैं भर्तृहरि और दूसरे का नाम है अमरु। भर्तृहरि का सम्बन्ध तीन शतकों से है, जिनके नाम हैं—(१) नीतिशतक, (२) शृंगारशतक, और (३) वैराग्यशतक। ये तीनों एक ही व्यक्ति के हैं, इसमें कतिपय विद्वानों ने सन्देह किया है, परन्तु प्राचीन अनुश्रुति और साहित्यजिज्ञासुओं ने इन तीनों शतकों को भर्तृहरि की ही रचना मानी है। भाषा और वर्णन-संबंधी जिन बातों के आधार पर कोई कृति व्यक्ति-विशेष की रचना मानी जाती है, उनके पैमाने से भी इन तीनों शतकों का कर्त्ता एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। इनकी ध्वनि, रस, रुचि-वैचित्र्य, शब्द-कौशल आदि सब एक ही व्यक्ति-विशेष के लगते हैं। इससे तीनों को भर्तृहरि की कृतियाँ मानना ही उचित है।

भर्तृहरि कौन थे, यह कहना अति कठिन है। संस्कृत कवियों और ग्रन्थकारों में जो निरीहता रही है, उसके कारण उन्होंने अपनी कृतियों में किंचित् ही अपने विषय में कुछ कहा है। वास्तव में वे अपने को काल की गणना से विमुक्त कर काल और देश दोनों को लाँघ गए। उस काल का अतिक्रमण कर गए कवियों में भर्तृहरि प्रमुख हैं। किंवदन्तियाँ उन्हें प्रख्यात राजा विक्रम का भाई और स्वयं एक राजा बतलाती हैं। परन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य का पुट कहाँ तक है, यह कहना इस समय असंभव है। उनके समय और व्यक्तित्व पर आठवीं सदी ईस्वी के आरम्भ में भारत-भ्रमण करनेवाले चीनी यात्री ईत्सिंग ने कुछ प्रकाश डाला है। ईत्सिंग ने नालन्द के बौद्ध महाविहार और विश्वविद्यालय में वर्षों रहकर बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया था। उसने भारत सम्बन्धी अपने ग्रन्थ में नालन्द में पढ़ाए जानेवाले पाठ्यक्रम का उल्लेख किया है। उससे एक ओर तो यह जान पड़ता है कि कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि दोनों एक ही व्यक्ति थे। दूसरी ओर भर्तृहरिकृत व्याकरण-ग्रन्थ के नाम भी मिल जाते हैं। ईत्सिंग ने लिखा है कि उसके नालन्द-निवास के चालीस वर्ष पूर्व भारत का भर्तृहरि नाम का एक अत्यन्त कुशल वैयाकरण मरा था। निस्सन्देह ईत्सिंग

का संकेत वैयकारण भर्तृहरि के प्रति ही था, जिसके व्याकरण-ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' को देखने का उसे अवसर मिला था। यह 'वाक्यपदीय' प्राचीन भारतीय व्याकरण-परम्परा का अन्तिम रत्न था। ईत्सिंग के कथनानुसार इस भर्तृहरि का उसके समय से चालीस वर्ष पूर्व देहान्त हुआ था। इस प्रकार भर्तृहरि का देहावसान ६५० ई० के लगभग हुआ जान पड़ता है। इस चीनी यात्री के लेख से यह भी विदित होता है कि भर्तृहरि बौद्ध थे और बौद्ध संप्रदाय द्वारा समर्थित प्रथा के अनुसार वह सात बार संसार का त्याग और सात बार गार्हस्थ्य का ग्रहण कर चुके थे। इसमें उस भारतीय किंवदन्ती का भी कुछ आभास मिलता है, जिसके अनुसार भर्तृहरि ने अपनी रानी के असंयत चित्त और विलास के कारण वैराग्य ग्रहण कर लिया था।

ईत्सिंग ने जिस कहानी का सहारा लिया है, उसके अनुसार एक बार भर्तृहरि ने जब विहार में पदार्पण किया, तब उसमें प्रवेश करते ही उन्होंने एक छात्र को रथ जोतकर द्वार पर खड़ा रखने का आदेश किया, जिस में सांसारिक भोग की कामना बलवती हो उठने पर वह शीघ्र ही अपने प्रासाद को लौट सके। ईत्सिंग ने ऐसे एक श्लोक का भी उद्धरण दिया है, जिसमें भर्तृहरि ने अपने दुर्बल चित्त और द्विधा जीवन की निन्दा की है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि शतकों के भर्तृहरि 'वेदान्त-शैव' हैं, बौद्ध नहीं, जैसा उनके अनेक श्लोकों से विदित होता है। एक में तो उन्होंने देवता केवल 'केशव' या 'शिव' को ही माना है—'एको देवः केशवो वा शिवो वा।' यदि भर्तृहरि बौद्ध होते तो कम से कम इन देवों में से एक को तो बुद्ध मानते! वैराग्य का देव उन्होंने यहाँ बुद्ध को न मानकर शिव को माना है। इससे भर्तृहरि को बौद्ध नहीं माना जा सकता। फिर उत्तर भारत में जो एक विशेष प्रकार के वैरागी गा-गाकर भिक्षाटन करते हैं, वे अपने को 'भरथरी-संप्रदाय' के बताते हैं और अपने भजनों को भी वे 'भरथरी' कहते हैं। संभवतः शैव-वैरागियों का यह संप्रदाय भर्तृहरि द्वारा ही प्रवर्तित हुआ हो।

इस सिद्धान्त को मानने में विशेष कठिनाई नहीं होगी कि भर्तृहरि का संबंध कभी किसी राजसभा से भी था, या शायद वह स्वयं एक राजा रहे हों और युवावस्था में शैव होते हुए भी वृद्धावस्था में बौद्ध हो गए हों। तभी नालन्द के बौद्ध महाविहार में उनके ग्रन्थों का अध्यापन और स्तवन संभव हो सका होगा। जिस श्लोक का एकांश ऊपर उद्धृत किया गया है, उसके अन्य अंशों से ज्ञात होता है कि यौवन-काल में इस महापुरुष की विलास की ओर विशेष प्रवृत्ति थी।

श्री पाठक ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वैयाकरण भर्तृहरि बौद्ध थे और ईत्सिंग का प्रासंगिक वर्णन भी इस बात की पुष्टि करता है। उनके ग्रन्थों का नालन्द के बौद्ध विश्वविद्यालय में पाया जाना इसे और सिद्ध कर देता है। संभव है, शतकों के ब्राह्मण-धर्मपरक होने से ईत्सिंग ने उसका स्पष्ट उल्लेख न किया हो। ईत्सिंग कम से कम इतना तो अवश्य लिखता है कि भर्तृहरि वैयाकरण होने के अतिरिक्त मानव-जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों के भी रचियता थे। 'मानव-जीवन-संबन्धी सिद्धान्त' या विचार क्या नीतिपरक नहीं हो सकते? संभवतः ये मानव-जीवन-संबंधी विचार नीति, श्रृंगार और वैराग्यशतक में ही निरूपित थे। पर बौद्ध संप्रदाय-विरोधी होने के कारण उनका स्पष्टतः उल्लेख ईत्सिंग न कर सका हो। अधिक संभव यह है कि शतकों की रचना भर्तृहरि ने व्याकरण की रचना अथवा बौद्ध दीक्षा के पूर्व ही की होगी। इसी कारण ईत्सिंग उनके प्रति केवल संकेतमात्र कर सका।

कुछ आश्चर्य नहीं कि भर्तृहरि के शतकों के सारे श्लोक उनके अपने न हों, बल्कि उनमें से कुछ औरों के भी हों। संकलन में इस प्रकार का प्रक्षेप संभव है। 'नीति' और 'वैराग्य' शतकों में इस प्रकार की संभावना अधिक थी, क्योंकि 'पंचतंत्र' का भी तो किसी-न-किसी रूप में इसी तरह निर्माण हुआ था। फिर इस नीतिपरक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य नीति-सुभाषित ग्रंथ भी उपलब्ध थे और वैराग्य के संबंध में तो अनेक ब्राह्मण-बौद्ध गाथाएँ प्रसिद्ध और प्रचलित थीं। श्रृंगारशतक में अवश्य इस प्रकार के प्रक्षेपकों की संभावना कम दिखाई देती है, क्योंकि उसमें आए श्लोकों की शब्द-योजना और शैली प्रायः एक हाथ द्वारा ही प्रणीत प्रतीत होती है। इसमें भी यद्यपि प्रक्षेप की संभावना सर्वथा असंभावित नहीं समझी जा सकती, तथापि कई कारणों से हम इसे एक व्यक्ति की कृति मान सकते हैं। फिर भी इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि इसमें भी कुछ श्लोक जोड़े जा सके होंगे, यद्यपि उनकी संख्या प्रचुर न रही हो। श्रृंगारशतक के प्रारंभिक श्लोक प्रणय और नारी-सौन्दर्य संबंधी हैं। उसके बाद दृश्य बदल जाता है और प्रणय की ऋतुपरक स्थितियों और विलासानन्द से हम नीति और तप से प्रादुर्भूत सुख की ओर झुकते हैं। इस दृश्य में जिन श्लोकों का ग्रन्थन है, वे बुद्धिपरक हैं। तदनन्तर का प्रसंग वैराग्य के छोरों को छू लेता है। कवि को नारी का सौन्दर्य विष-सा लगता है और विलास मानव को पार्थिव पाश में जकड़नेवाला साधन-सा प्रतीत होता है। मानव श्रम का सुखद

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अन्त कवि की इस अन्तिम चेष्टा में वैराग्य और शिव तथा ब्रह्मा के स्तवन में ही है। कवि की मेधा इसे अद्भुत काव्य-क्षमता से घोषित करती है।

भर्तृहरि की भाषा परिमार्जित और शैली नितान्त सरल है। यद्यपि कहीं-कहीं पद समस्त हो जाते हैं, परन्तु फिर भी कवि की कृतियों में अटूट प्रवाह है। भावों के संक्षिप्त करने की उसमें अद्भुत क्षमता है। रत्नों की भाँति उसके श्लोक स्वतः पूर्ण होते हुए भी एक अटूट शृंखला का सर्जन करते हैं। श्लोकों में पाण्डित्य, माधुर्य, तर्क, शक्ति सब कुछ मिल जाते हैं और काव्यपरक सौंदर्य की भी उसमें कमी नहीं है। जो विद्वान् भट्टि-काव्य के रचयिता कविवर भट्टि को ही कविगुण से विभूषित होने के कारण भर्तृहरि मानते हैं, वे अवश्य इस बात को भूलते हैं कि दोनों में काव्यशक्ति प्रचुर होने पर भी दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न हैं और उनमें पर्याप्त अंतर है। दोनों दो विभिन्न व्यक्ति ही होने चाहिए। उनके एक व्यक्ति होने का संदेह अधिकतर इस कारण भी हो जाता है कि दोनों ही कवि होने के अतिरिक्त वैयाकरण हैं। इसमें संदेह नहीं कि भट्टि के काव्य का माधुर्य भर्तृहरि के श्लोकों में मिल जाता है, यद्यपि वे प्रबन्ध-काव्य में नहीं पिरोए गए हैं। नीति, शृंगार, करुणा, वैराग्य, जिस-जिस प्रसंग में भर्तृहरि ने श्लोक कहे हैं, वे श्लोक उस-उस प्रसंग को पूर्णतया चरितार्थ करते हैं। साफ-सुथरी भाषा में, स्वच्छ अकृत्रिम शैली में, स्पष्टतापूर्वक और शक्तिपूर्वक भाव हमारे सामने आते हैं। संस्कृत भाषा का वह गुण, जिसे 'संश्लिष्टि' कह सकते हैं, प्रचुर मात्रा में भर्तृहरि में विद्यमान है। विश्लेषण से परस्पर दूर के भावों को एकत्र कर संश्लिष्ट पदावली में प्रस्तुत करना संस्कृत कवियों का ही काम रहा है, जिसमें भाषा ने उनकी विशेष सहायता की है। अधिक से अधिक दूरीभूत भावों को भी एकत्र कर संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने की इस शक्ति में भर्तृहरि निस्सन्देह बेजोड़ हैं। उनके श्लोकों का एक-एक पद एक-एक ग्रन्थि है, जिसके खुलने से भावों की शृंखलाएँ एक के बाद एक अनवरत निकल पड़ती हैं।

शृंगार-शतक के श्लोक प्रसाद, ध्वनि और माधुर्य में आसाधारण हैं। हमें खेद है कि स्थानाभाववश कोई उद्धरण यहाँ प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं। भर्तृहरि ने अपनी रचनाओं में निम्नलिखित छन्दों का उपयोग किया है—— शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, श्लोक, वसन्ततिलका, स्रग्धरा, आर्या, गीति, इन्द्रवज्रा, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, वंशस्था, शालिनी, रथोद्धता, वैतालीय दोधक, पुष्पिताग्रा और मात्रासमक। इनमें से पहले पाँच छन्द मुख्य हैं और उनमें भी शार्दूलविक्रीड़ित प्रमुख है।

भर्तृहरि का नाम संस्कृत-साहित्य में पर्याप्त आदर से लिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि उन्होंने कोई महाकाव्य नहीं लिखा, परन्तु उनके तीनों शतक माधुर्य में एक ऊँचा स्थान रखते हैं। नीति और वैराग्यशतक के अतिरिक्त शृंगारशतक तो विशेष औत्सुक्य से पढ़ा जाता है। यह कुछ कम महत्व की बात नहीं कि वैयाकरण होते हुए भी भर्तृहरि ने मधुर कविता की। इस विषय में कवि भट्टि से उनकी समता है।

अमरु

शतककारों की शृंगारिक पदावली में अमरु का स्थान सब से ऊँचा है। 'अमरु-शतक' असाधारणतया लोकप्रिय हो गया है। अपने बाद की कविता पर जितना प्रभाव अमरु ने डाला है, उतना अन्य कम व्यक्तियों ने डाला है। आज की प्रान्तीय भाषाओं का प्राचीन काव्य अधिकतर इसी कवि द्वारा प्रभावित है। बिहारी आदि हिन्दी के रीतिकाल के कवि और दोहाकार अमरु के विशेष प्रकार से ऋणी हैं। जैसे हिन्दी अथवा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के नीतिकार कवियों पर भर्तृहरि के नीतिशतक का प्रभाव है, वैसे ही हिन्दी के शृंगारी दोहाकार अथवा अन्य प्रान्तीय आरंभिक कवि अमरु-शतक का ऋण वहन कर रहे हैं। परन्तु भर्तृहरि की ही भाँति अमरु अथवा अमरुक के भी जीवन के आँकड़े नहीं मिलते। उसका काल निश्चित करना भी टेढ़ी खीर है। उसके प्राचीनतम टीकाकार अर्जुन वर्मा १२१५ ईस्वी में हुए थे। इससे अमरु इस काल से पूर्व के तो ठहर ही जाते हैं। इससे काफी पहले आनन्दवर्धन ने भी अमरु-शतक का हवाला दिया है और आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० के लगभग हमें ज्ञात है। इससे अमरु इस काल से भी पूर्व के सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार लगभग ८०० ईस्वी में होने-वाले विचक्षण काव्यजिज्ञासु वामन ने भी अमरु का नाम न देकर उनके शतक से तीन श्लोक उद्धृत किए हैं। इन प्रमाणों से अमरु-शतक का प्रणयन ७५० ईस्वी से पूर्व रखा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने अमरु को कालिदास के आस-पास और भर्तृहरि का पूर्ववर्ती माना है, पर ऐसा मानने में प्रमाण हमारे सहायक नहीं हैं। भाषा, शैली और शतक-प्रणाली पर विचार करने से भी विदित होता है कि अमरु का समय ६५० ईस्वी से पहले अर्थात् भर्तृहरि से पूर्व नहीं हो सकता।

अमरु-शतक के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती यह है कि शंकराचार्य ने काम के रहस्य को जानने के लिए योग द्वारा एक काश्मीरी राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया था। फिर उस राजा के अन्तःपुर की सौ नारियों के साथ रमण करने से जिस-जिस रस और सुख का उन्हें अनुभव हुआ, उन्हीं का निरूपण अमरु-शतक में है ! निस्सन्देह इस किंवदन्ती पर विचार करने का कोई कारण नहीं हो सकता। यह भी कहा गया है कि अलंकार-पुस्तकों में दी गई नायिकाओं का इसमें नख-शिख वर्णन है। यह मत चौदहवीं सदी के शतकटीकाकार वेमभूपाल का है। इसी प्रकार एक मत यह भी है कि यह नायिका-भेद का शतक है। वास्तव में इन दोनों विचारों में कोई यथार्थता नहीं। इसे तो शृंगार का ही एक शतक मानना चाहिए। अमरु-शतक और भर्तृहरि के शृंगार-शतक में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ भर्तृहरि ने प्रणय और नारियों के जीवन का साधारण वर्णन किया है, उनका जीवन में स्थान बताया है, वहाँ अमरु ने जीवन की अन्य सारी अवस्थाओं को छोड़कर केवल प्रेमियों का पारस्परिक सम्बन्ध, विरह, मिलन, विषाद, आनन्द का ही शृंगारिक चित्रण किया है। अमरु के शतक में भर्तृहरि के शोच और अन्त्य वैराग्य का अभाव है। वह जीवन का रमणीय प्रभात है। उसका कवि जीवन के संध्यागम की कल्पना भी नहीं करता।

अमरु के दमकते प्रणय-राग पर फलाशंका की श्यामता नहीं चढ़ती। विवेकशून्य अल्हड़ प्रेम ही उस कवि के तुणीर का एकमात्र शर है। उसी से वह अपने असंख्य विविध घाव पैदा करता है। परन्तु उसके किए घावों से प्रणयी रोते नहीं, वरन् स्मित हास्य करते हैं। जीवन के गम्भीर रहस्य, उसकी जटिल आध्यामिकता, और उसके विडम्बनाभरे चक्र अमरु के सुमधुर तरल भावों को बोझिल नहीं करते । अमरु की शतक-शैली काव्य-कामिनी का अट्टहास है। इसमें प्रणय की प्रक्रियाएँ हैं, उसमें भी प्रणयी बिंधते हैं, उच्छ्वसित होते हैं, विरहानल में प्रज्वलित होते हैं, पर अन्त उनका मुस्कान में होता है।

अमरु के छन्दों में शार्दूलविक्रीड़ित की बहुलता है। वसंततिलका, हरिणी, स्रग्धरा और शिखरिणी का भी उस कवि ने प्रायः प्रयोग किया है, और जहाँ-तहाँ श्लोक, द्रुतविलम्बित, मालिनी, तथा मन्दाक्रान्ता आदि भी मिल जाते हैं। प्रांजल भाषा में सुन्दर अभिव्यञ्जना और समर्थ शैली में रचा अमरु का यह शतक संस्कृत-साहित्य में एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

भवभूति

उधर काव्य के क्षेत्र में 'शतकों' और 'महाकाव्यों' की धूम मची थी, इधर संस्कृत-नाटक के विकास का भी तारतम्य जारी था, जिसका परिचय हमें आठवीं शताब्दी के भवभूति और भट्टनारायण तथा नवीं शताब्दी के मुरारी और राजशेखर जैसे समर्थ नाटककारों के आविर्भाव द्वारा मिलता है। भवभूति संस्कृत-साहित्य के सबसे सुन्दर नाटककारों में से हैं। इस संबंध में कालिदास के बाद उन्हीं का स्थान है और वर्णन तथा शैली के गांभीर्य में तो वह कालिदास से भी ऊँचे उठ जाते हैं। कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' में भवभूति को कान्यकुब्ज (कन्नौज) नरेश यशोवर्मन् का राजकवि लिखा है। यशोवर्मन् का काल ७३६ ईस्वी के लगभग है। अतः भवभूति भी प्रायः आठवीं सदी के मध्य के सिद्ध हुए। उनका उल्लेख वाक्पतिराज ने भी अपने 'गौडवहो' में किया है। 'मालती-माधव' से प्रमाणित है कि भवभूति को उनके समकालीन आलोचकों ने चैन न लेने दिया और अपने जीवनकाल में उन्हें यश प्राप्त न हो सका।

भवभूति पात्रचित्रण और भाषा के गांभीर्य में असाधारण हैं। यद्यपि उनका प्रधान रस 'करुण' है, परन्तु 'अद्‌भुत' और 'वीर' रसों के वर्णन में वह कालिदास से भी ऊपर उठ जाते हैं। कालिदास की वैदर्भी वृत्ति के विपरीत उनकी शैली 'गौड़ी' है। उनके तीन नाटक हैं—'महावीरचरित', 'मालती-माधव', और 'उत्तररामचरित्र'। 'महावीरचरित' संभवतः उनकी आरंभिक कृति है। इस नाटक में सात अंक हैं, जिसमें वीर रस में राम का बालपन दर्शित है। कथानक रामायण से लिया गया है, परन्तु नाटककार ने अनेक नवीनताएँ भी प्रस्तुत की हैं। 'मालतीमाधव' एक 'प्रकरण' है, जिसमें दो प्रेमियों के विरह और समागन का वर्णन है। 'उत्तररामचरित' भवभूति की सूक्ष्म लेखनी से प्रसूत सर्वोत्तम रत्न है। करुण-रस से ओतप्रोत इस नाटक की जोड़ की अन्य कोई कृति संस्कृत में नहीं है। यह सात अंकों में है और इसमें राम का सीता-त्याग विषयक करुण प्रसंग दर्शित है !

महेन्द्रविक्रम, भट्टनारायण, मुरारी, राजशेखर आदि

भवभूति के उपरान्त उत्तरकालीन नाटककारों में अन्य प्रमुख नाम महेन्द्रविक्रम, भट्टनारायण, मुरारी और राजशेखर के हैं। महेन्द्रविक्रम सातवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ और इस प्रकार वह हर्ष, बाण आदि का समकालीन रहा होगा।

उसका 'मत्तविलास' एक प्रहसन है जिसमें तत्सामयिक समाज के पतन का नग्न चित्र खींचा गया है। लगभग उसी काल के दण्डी के गद्य-काव्य 'दशकुमारचरित' में भी समाज की इसी पतित दशा का विशद अंकन है।

भट्टनारायण संभवतः आठवीं सदी का नाटककार है। वामन और आनन्दवर्धन दोनों ने उसको उद्धृत किया है। उसका 'वेणीसंहार' नामक एक ही नाटक ज्ञात है। छः अंकों के इस नाटक में महाभारत का एक प्रसंग दर्शाया गया है। भीम ने दुःशासन का वध करके उसके रक्त से द्रौपदी की वेणी बाँधी थी। अन्त में उसने दुर्योधन का भी बध किया था। भट्टनारायण पश्चात्कालीन संस्कृत नाटककारों में विशिष्ट है। वीर रस के चित्रण में वह असामान्य रूप से सशक्त है। 'वेणीसंहार' के प्रथम तीन अंकों में अद्भुत प्रवाह है और उसमें 'उत्साह' रस की प्रधानता है। इस कृति से नाटककार की असाधारण नाटकीय कला प्रकट है।

मुरारी ने नवीं सदी के आरंम्भ में अपना 'अनर्घराघव' नाटक लिखा था। सात अंकों में प्रस्तुत यह नाटक पर्याप्त रोचक है, यद्यपि भवभूति के सूक्ष्म प्रयास के बाद वास्तव में रामकथा के ऊपर और कोई नाटककार सफलतापूर्वक लेखनी नहीं उठा सकता था।

राजशेखर की ख्याति वस्तुतः उसके प्रसिद्ध साहित्य-मीमांसक ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' पर स्थापित है, जिसकी शक्ति से उसका नाम काफी प्रसिद्ध हो गया है। वह कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल (८९३-९०७ ईस्वी) का गुरु था। उसके चार नाटक उपलब्ध हैं। उनमें से 'बालरामायण' दस अंकों में प्रस्तुत किया गया है। 'बालभारत' के केवल दो अंक ही प्राप्य हैं। इनके कथानक रामायण और महाभारत से लिए गए हैं। 'विद्धशालमंजिका' चार अंकों की नाटिका है और 'कर्पूरमंजरी' चार ही अंकों में प्राकृत में एक 'सट्टक' (नाटक का वर्ग विशेष) है। राजशेखर की शैली अत्यन्त कृत्रिम है, परन्तु वह स्वयं अपने को उच्च कोटि का कवि मानता है।

इस युग के क्षेमीश्वर का 'चण्डकौशिक' नामक पाँच अंकों का एक नाटक मिलता है, जिसे नाटककार ने कन्नौज के राजा महीपाल के समय में लिखा था। महीपाल का राज्याभिषेक ९१४ ई० में हुआ। इस प्रकार क्षेमीश्वर दसवीं सदी के आरंभ का है। उसके नाटक का कथानक राजा हरिश्चन्द्र की कथा है।

उधर दामोदर ने ग्यारहवीं सदी में अपना 'महानाटक' अथवा 'हनुमन्नाटक' लिखा। यह नाटक तीन रूपों में उपलब्ध है। एक में नौ अंक हैं, दूसरे में दस, और तीसरे में चौदह! कथानक रामायण से लिया गया है और नाटककार की श्लोक-रचना सुन्दर है। उत्तरकालीन कृतियों में एक अन्य प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' है, जो चौदहवीं सदी के कृष्णमिश्र द्वारा प्रणीत हुआ था। यह नाटक अध्यात्मपरक है। इसके पात्र 'विवेक', 'मनस', 'बुद्धि' आदि हैं। छः अंकों का यह नाटक सारे संस्कृत-साहित्य में 'शान्त' रस का अकेला उदाहरण है।

इन नाटकों के अतिरिक्त और भी अनेक नाटक संस्कृत में रचे गए। श्वीलर ने तो प्रायः ५०० नाटकों के रचे जाने की बात कही है। पर उनमें सब उपलब्ध नहीं हैं।

काश्मीर की काव्य-परम्परा

महाकाव्यों की परम्परा, जो मध्यदेश में टूट-सी चली थी, काश्मीर में अब भी चल रही थी। यह बात विशेष ध्यान देने की है कि अंतिम काल के काव्यकारों में अधिकतर काश्मीर के थे। इसमें संदेह नहीं कि इसमें से कोई वाल्मीकि, कालिदास, भारवि, माघ, आदि के समकक्ष नहीं खड़ा हो सकता, फिर भी उनका उल्लेख अनिवार्य है, क्योंकि इस काल के अच्छे-बुरे काव्य-क्षेत्र के अग्रणी वही हैं।

मेण्ठ

इन पिछले दिनों के कवियों में मेण्ठ अथवा भर्तृमेण्ठ सब से प्राचीन था। उसकी प्रशंसा कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में की है। मेण्ठ ने 'हयग्रीववध' नाम का एक काव्य लिखा था। उस समय काश्मीर का राजा मातृगुप्त था। कल्हण लिखता है कि राजा मातृगुप्त, जो स्वयं कवि था, हयग्रीववध से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने मेण्ठ को पारितोषिक में काव्य-ग्रंथ को रखने के लिए एक स्वर्ण की थाली दी, जिससे उसकी सुरभि निकल न जाय। परन्तु मेण्ठ राजा की प्रशंसा से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने वह थाली स्वीकार न की। उसने मातृगुप्त की प्रसन्नता सौवर्ण थाली से कहीं अधिक मूल्यवान् समझी! कल्हण ने मातृगुप्त को प्रवरसेन का पूर्ववर्ती कहा है। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश मातृगुप्त को कालिदास माना है, परन्तु निस्संदेह इस सिद्धान्त में कोई तथ्य नहीं है। मातृगुप्त के काल का ठीक-ठीक तो पता नहीं चलता, परन्तु उसने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, यह सही है। इस टीका के कुछ उद्धरण मिलते हैं। स्वयं कल्हण ने मातृगुप्त के दो श्लोक उद्धृत किए हैं। अनुश्रुति के अनुसार मेण्ठ का स्थान पर्याप्त ऊँचा है। एक गणना में मेण्ठ का नाम वाल्मीकि के साथ आता है और

दूसरी में सुबन्धु आदि के साथ। मातृगुप्त के उत्तराधिकारी प्रवरसेन की तिथि का ज्ञान हमें है और चूँकि मेण्ठ मातृगुप्त का समसामयिक था, अतः हम उसे ईसा की छठी सदी के उत्तरार्द्ध में रख सकते हैं। इस प्रकार मेण्ठ सेतुबन्धकार का समकालीन सिद्ध होता है! परन्तु इस तिथि को भी सर्वथा सही मानने में आपत्ति हो सकती है। मेण्ठ के कुछ उद्धरण सुभाषितों में मिलते हैं।

भौमक, हलायुध, शिवस्वामी, वासुदेव, रत्नाकर, अभिनन्द, आदि

मेण्ठ के कुछ ही समय बाद भौमक नामक काश्मीरी कवि ने 'रावणार्जुनीय' नाम से एक महाकाव्य लिखा। इसे उलटकर 'आर्जुनरावणीय' भी कहते हैं। इस काव्य का उद्देश्य भी भट्टिकाव्य की भाँति व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करना है। इस काव्य का प्रबन्ध रामायण से लिया गया है। रामायण के उस प्रसंग का, जिसमें कार्त्तवीर्यार्जुन द्वारा रावण-बन्धन का वर्णन है, इसमें रोचकतापूर्वक अंकन हुआ है। रावण और अर्जुन कार्त्तवीर्य के युद्ध अथवा पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण इसके २७ सर्गों में हुआ है। संस्कृत के कुछ ही काव्य इतने सर्गों में संपन्न हुए हैं। भौमक को भीम, भूमि अथवा भूमक भी कहते हैं।

लगभग इसी काल में अथवा इसके कुछ बाद दक्षिण में एक हलायुध नाम का कवि हुआ था। था तो वह भी वैयाकरण, पर उसने भी काव्य के बहाने व्याकरण लिखने की प्रथा का अनुसरण किया है। हलायुध के काव्य का शीर्षक है 'कविरहस्य'। इसमें राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण (तृतीय) की प्रशस्ति दी हुई है। परन्तु प्रथमतः इस काव्य का उद्देश्य धातुओं के वर्तमान काल की बनावट का उदाहरण देना ही है। कृष्ण तृतीय का शासनकाल लगभग ९४० ईस्वी से ९५६ ईस्वी तक है। हलायुध इसी काल में हुआ होगा।

इस काल के कुछ ही पूर्व संभवतः नवीं सदी के अन्त में काश्मीरी बौद्ध कवि शिवस्वामी ने 'कप्फणाभ्युदय' नामक एक बौद्ध महाकाव्य लिखा। यह काव्य काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के शासनकाल में ही लिखा जा चुका था। अवदानशतक में एक कथा है, जिसमें एक दक्षिणात्य राजा का श्रावस्ति-नृपति के प्रति विरोध प्रदर्शित हैं। बाद में उसकी बौद्ध धर्म में दीक्षा हो जाती है। 'कप्फणाभ्युदय' का प्रबन्ध इसी अवदान पर अवलंबित है। शिवस्वामी ने इस बौद्ध काव्य को निबाहा खूब है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उस पर भारवि और माघ दोनों का प्रचुर प्रभाव है।

इस समय से कुछ ही काल बाद संभवतः दशवीं शताब्दी के किसी भाग में वासुदेव नामक एक कवि हुआ, जिसने 'युधिष्ठिर-विजय' और उसी की क्रम-शृंखला में 'धातुकाव्य' लिखा है। हलायुध की ही भाँति इस कवि ने भी काव्य को व्याकरण का वाहन बनाया। यह महाभारत की कथा वास्तव में व्याकरण के नियमों और धातुओं के संबंध में कही गई है। वासुदेव का समय ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता।

वागीश्वर रत्नाकर (राजानक) नामक एक दूसरा काश्मीरी कवि संभवतः शिवस्वामी का समकालीन था। वह काश्मीर-नृपति वृहस्पति अथवा चिप्पट जयापीड़ और अवन्तिवर्मा का आश्रित था। इस प्रकार वह लगभग ८५० ईस्वी में हुआ होगा। रत्नाकर के महाकाव्य का नाम है— 'हरविजय'। पश्चात्कालीन कवियों पर भारवि और माघ ने काफी प्रभाव डाला है। 'हरविजय' पर भी शिशुपालवध की छाप दीख पड़ती है।

५० सर्गों में प्रस्तुत 'हरविजय' शायद संस्कृत-साहित्य का सब से विशद महाकाव्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कवि का काव्य यदि घटिया नहीं; तो कम से कम उच्च कोटि का भी नहीं है। निरर्थक वर्णनों से इसका प्रबन्ध-तन्तु ढीला होगया है, कई स्थलों पर तो नितान्त कृत्रिम। यमकों के प्रयोग ने 'हरविजय' की शैली को नितान्त बोझिल कर दिया है। रत्नाकर में प्रचुर पांडित्य है, परन्तु पांडित्य और काव्य के लाक्षणिक ज्ञानबाहुल्य से प्रबंध-कौशल की अनुपस्थिति में महाकाव्य किस प्रकार विकृत हो सकता है, इस बात का ज्वलंत उदाहरण 'हरविजय' है। हरविजय असंबद्ध प्रबन्ध का एक अद्भुत काव्य-विप्लव है; साहित्य में बेजोड़!

नैयायिक जयन्त भट्ट का पुत्र अभिनन्द भी, जो इसी नवीं शताब्दी में हुआ, काश्मीर का ही कवि था। स्वयं अपने कथनानुसार अभिनन्द राजशेखर का समकालीन था। उसने बाण की 'कादम्बरी' के आधार पर अपने महाकाव्य 'कादम्बरीकथासार' की रचना की। उसी के नाम का एक और कवि था, जो शतानन्द का पुत्र और 'रामचरित' का रचयिता था।

क्षेमेन्द्र

काश्मीर देश में इस समय साहित्य का विशेष प्रचार था। उसका कानन निरंतर फूल-फल रहा था। ग्यारहवीं सदी में वहाँ उस कवि का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके प्रयास का संस्कृत-साहित्य पर्याप्त ऋणी है। इस कवि क्षेमेन्द्र की

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

प्रतिभा बहुमुखी थी। उसमें कथा कहने की विचित्र क्षमता थी और यद्यपि उसकी काव्य-शैली विशिष्ट न थी, फिर भी उसकी कृतियों की उपादेयता में किंचित् भी संदेह नहीं किया जा सकता। उसका सामर्थ्य और श्रम दोनों सराहनीय हैं। उसका प्रारम्भिक प्रयास 'रामायणमंजरी' था। निस्संदेह इस काव्य में शैली अथवा कला का सौन्दर्य तो इतना नहीं है, परन्तु इतिहास के दृष्टिकोण से यह एक प्रशस्त वस्तु-संकलन है। क्षेमेन्द्र ने बाण की गद्य-रचना 'कादम्बरी' को भी अपनी पद्यमय 'कादम्बरी' में परिवर्तित कर दिया था। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि इसमें कहीं-कहीं चतुर कवि का हस्तलाघव दृष्टिगोचर होता है, पर वास्तव में इसका यत्किंचित् चमत्कार बाण के कथावैचित्र्य का ही है। साधारणतया काव्य क्षेत्र में क्षेमेन्द्र का ऊँचा स्थान उसकी दो विशिष्ट रचनाओं पर अवलम्बित है। वे हैं--(१) 'भारतमंजरी' और (२) 'दशावतारचरित'। इनमें से पहली रचना १०३० ई० और दूसरी १०६६ ई० की है। 'भारतमंजरी' में महाभारत की कथा का होना तो नाम से ही स्पष्ट है और 'दशावतारचरित' में विष्णु के दसों अवतारों की कथा निरूपित है। इन अवतारों में नवाँ अवतार बुद्ध हैं, जिससे जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्र के समय तक ब्राह्मणों की मेधा ने बुद्ध को अपने विष्णु की अवतार-पंक्ति में बिठा लिया था। बौद्ध धर्म की वर्णाश्रम-व्यवस्था-भंजक नीति ने ब्राह्मणधर्म पर निस्सन्देह गहरा आघात किया था और बौद्धों की तर्कशक्ति निश्चय ही ब्राह्मणों की अपेक्षाकृत बुद्धि को तिरोहित कर चुकी थी। परन्तु जान पड़ता है कि इसी समय ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म पर अपना वह अचूक अस्त्र फेंका, जिसके कारण बौद्धों का केन्द्रीय आराध्यदेव ब्राह्मणों का साधारण देवमात्र बन गया! इसमें शायद ही कोई सन्देह कर सकता है कि दशावतारों की पंक्ति में बुद्ध की प्रभा धूमिल हो गई है। ब्राह्मणों ने बौद्धों के इष्टदेव को अपने देवताओं में डालकर उन्हें खपा लिया! यह ऐतिहासिक और साम्प्रदायिक क्रिया क्षेमेन्द्र से शायद कुछ ही कालपूर्व संपन्न हुई होगी—संभवतः गुप्त सम्राटों के शीघ्र बाद ही।

इतिहासपरक काव्य

इतिहासपरक कुछ काव्यों का वर्णन पहले किया जा चुका है। इतिहास-पुराण इसी प्रकार के साहित्य के प्रति संकेत करते हैं एवं रामायण और महाभारत इसी शृंखला की दो अनमोल कड़ियाँ हैं। फिर भी रामायण, महाभारत और पुराणों को इतिहास कहना आधुनिक विचार से अनुचित जान पड़ता है। इसका कारण प्रथम तो यह है कि पुराणों को छोड़कर उक्त दोनों काव्यों में कुल अथवा व्यक्ति-विशेष का ही वर्णन है और दूसरे उस वर्णन में भी कवि ने अलौकिकता पर अधिक जोर दिया है। इस प्रकार अतिमानवीय प्रसंगों से युक्त इन काव्यों का इतिहास अत्यन्त अग्राह्य हो जाता है—विशेषकर इस कारण से कि उनमें कवि का व्यक्तित्व अपनी कल्पना को अधिकाधिक स्थान देने लगता है। बौद्धों के 'दीपवंश' और 'महावंश' भी इसी प्रकार के प्रयत्न थे।

जान पड़ता है, शुद्ध इतिहासपरक ग्रंथों का अनुशीलन ही भारतीयों को अरुचिकर प्रतीत हुआ है। 'रघुवंश' और 'नैषधीय' पर तो अनेक टीकाकार मिलेंगे, परन्तु 'नवसाहसांकचरित' और 'गौड़वहो' पर मानो टीकाकारों की भारती स्तंभित हो जाती है! कुछ व्यक्तिगत जीवनचरित अवश्य संस्कृत और प्राकृत में उपलब्ध हैं, परन्तु थोड़ी राजनीतिक सामग्री के अतिरिक्त उनमें और कुछ नहीं मिलता और जो राजनीतिक अथवा सामाजिक स्थिति उनसे ज्ञात भी होती है, वह अधिकतर राजा के व्यक्तिगत जीवन से अधिक संबंधित होती है तथा उसका सामाजिक रूप भी साधारणतया ऊपरी श्रेणी का ही होता है। हाँ, संस्कृत-वाङ्मय में एक प्रयत्न इतिहास लिखने का निस्संदेह स्तुत्य हुआ है और समसामयिक अथवा कुछ काल पूर्व की सामग्री के संबंध में तो यह सचमुच ही अनुपम है—यह है कल्हणकृत 'राजतरङ्गिणी'। परन्तु इतिहास-विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण से देखने पर यह रचना भी निर्दोष नहीं प्रतीत होती। इसमें सन्देह नहीं कि कल्हण ने काश्मीर के इतिहास की खोज में अत्यधिक परिश्रम किया है, फिर भी 'पुराण' और रुचि-कल्पना से वह अपने को मुक्त न कर सका। फिर भी उसकी 'राजतरङ्गिणी' को हम बारहवीं सदी के निकट पूर्व की सदियों के काश्मीरी इतिहास का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं।

इतिहास-पुराण, रामायण-महाभारत, दीपवंश-महावंश के अतिरिक्त जिन काव्यों ने भारतीय इतिहास की रूपरेखा सँवारी है, उनमें प्रशस्तियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। ये प्रशस्तियाँ शिला-स्तंभ, ताम्रपत्र, प्रस्तर-धातु-काष्ठ-मृत्तिकानिर्मित मूर्तियों अथवा मन्दिरों और प्रासादों की दीवारों पर उत्कीर्ण मिलती हैं। इनमें अधिकतर राजाओं के पारस्परिक संघर्ष, जय-पराजय, वंशावली अथवा शासन-संबंधी घोषणाएँ हैं। इन प्रशस्ति-काव्यों में सब से ऊँचा स्थान गुप्तकालीन कृतियों का है, जब उन सम्राटों ने अपनी मुद्राओं तक पर छन्दयुक्त वाक्यावली उत्कीर्ण कराई थी। इन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्कीर्ण लेखों में कभी-कभी स्तोत्र भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार का एक स्तोत्र आठवीं सदी के कवि राम द्वारा विरचित मिला है। राम अपने को ‘कवीश्वर’ कहता है। उसकी गर्वमयी उक्ति है कि उसके मुख में अभी माता के दूध का स्वाद बना हुआ था कि उसकी बाल-जिह्वा पर सरस्वती का नर्त्तन होने लगा! परन्तु उसके स्तोत्र-काव्य में काव्योचित गुणों का पर्याप्त अभाव है। वत्सभट्टि उससे कहीं ऊँचा है। पर उसकी कविता में भी वैचित्र्य का प्राचुर्य है, क्योंकि उसके चौदह श्लोकों का स्तोत्र पार्वती और शिव दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, और वर्णन-वैचित्र्य आखिर काव्य का कलेवर मात्र है और सो भी कुरुचिपूर्ण। कालिदास और जयदेव में यह बात हमें नहीं मिलती। इसी प्रकार का एक अन्य उत्कीर्ण स्तोत्र नवीं सदी के ललितसुरदेव का मिला है। ऐहोल का प्रसिद्ध शिलालेख, जिसमें चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय द्वारा सम्राट् हर्षवर्धन की पराजय का विरुद खुदा है, बड़ा सुन्दर और तरल है।

‘हर्षचरित’, ‘गौड़वहो’, ‘नवसाहसांकचरित’, ‘भुवनाभ्युदय’, आदि

इस प्रकार के ऐतिहासिक ग्रंथों में से दो—‘हर्षचरित’ और ‘गौड़वहो’—प्रमुख हैं। ‘हर्षचरित’ राजा हर्षवर्धन के सभासद् महाकवि बाण की कृति है। बाण और उनकी कृतियों का विशेष परिचय अगले अध्याय में दिया गया है। ‘हर्षचरित’ इतिहास की दृष्टि से नितान्त अपर्याप्त है। उसमें हर्ष के पूर्व-पुरुषों के सम्बन्ध की कुछ राजनीतिक बातें अवश्य उपलब्ध होती हैं, परन्तु इसे इतिहास कहना इतिहास की विडम्बना है। इससे कहीं अच्छा प्रयास ‘गौड़वहो’ के रचयिता प्राकृति कवि वाक्पतिराज का है। वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा का दरबारी कवि था। ‘गौड़वहो’ में यशोवर्मा द्वारा गौड़ (बंगाल) पर चढ़ाई और वहाँ के राजा का वध वर्णित है। यशोवर्मा का काल हमें मालूम है। काश्मीर-नृपति ललितादित्य से पहले उसकी घनिष्ठ मित्रता थी, परन्तु बाद में ललितादित्य ने उसे मारकर ७४० ईस्वी के लगभग कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार वाक्पतिराज का समय आठवीं शती के मध्य में होना चाहिए। इस काव्य में अधिकतर ऋतुओं के सौन्दर्य, राजाओं के विलास और पौराणिक कथानकों का वर्णन है। महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी यह कृति चरित से अधिक एक काव्य-ग्रंथ है और अपूर्ण-सी है। ललितादित्य द्वारा यशोवर्मा का पराभव ही सम्भवतः इसकी अपूर्णता का कारण हुआ होगा।

इसी कोटि की दूसरी कृति पद्मगुप्त (परिमल) द्वारा विरचित ‘नवसाहसांकचरित’ है, जिस में अठारह सर्ग हैं और जो लगभग १००५ ई० की है। इसमें यद्यपि शशिप्रभा के प्रणय-सम्बन्धी पौराणिकी कथा है, तथापि यह एक प्रकार से मालवपति सिन्धुराज नवसाहसांक का चरित है। पद्मगुप्त मुञ्ज (९७४-९४ ईस्वी) और सिन्धुराज (९९५-१०१० ईस्वी) का दरबारी कवि था। सिन्धुराज राजा भोज का पिता था।

‘भुवनाभ्युदय’ नामक एक और ऐतिहासिक काव्य का उल्लेख कल्हण की ‘राजतरङ्गिणी’ में मिलता है। इस काव्य का रचयिता शंकुक नाम का कवि था। कल्हण के अनुसार इस काव्य में मम्म और उत्पल के झेलम तट पर घोर संग्राम का वर्णन था। उस युद्ध में आहत शवों से वितस्ता का प्रवाह अवरुद्ध हो गया था!

इन वितस्ता-तट के योद्धाओं में से उत्पल का समय लगभग ८५० ईस्वी है, अतः कवि शंकुक को भी इस के आस-पास ही रखना होगा। सुभाषितों में शंकुक नामक एक कवि के कुछ श्लोक उद्‌धृत हैं, परन्तु उस शंकुक और ‘भुवनाभ्युदय’ के रचयिता के एक ही व्यक्ति होने में सन्देह है। कवि मयूर के पुत्र एक और शंकुक का उल्लेख भी सुभाषितों के एक श्लोक के सम्बन्ध में हुआ है। परन्तु मयूर-पुत्र शंकुक और उत्पल-सम्बन्धी कवि तो किसी प्रकार भी एक व्यक्ति नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें से पहले का पिता तो सातवीं सदी के प्रथम चरण के हर्षवर्धन के समकालीन बाण का साला था और दूसरा प्रायः ८५० ईस्वी के उत्पल का समसामयिक या उससे बाद का है। एक तीसरे शंकुक का हवाला उस श्लोक से मिलता है, जो विक्रमादित्य के रत्नों के सम्बन्ध में उपलब्ध है। यह तीसरा शंकु ऊपर के दोनों शंकुओं में से कोई भी हो सकता है, यद्यपि उसका तीसरा होना भी कुछ अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। शंकुक के काव्य ‘भुवनाभ्युदय’ पर अभिनव गुप्त ने ‘अभिनव-भारती’ नाम की एक टीका लिखी है। इस पर एक और टीका भट्टनायक की भी मिलती है।

बिल्हण :: ‘विक्रमांकदेवचरित’

उत्तरकालीन संस्कृत-काव्यकारों की अधिकतम संख्या काश्मीर प्रदेश की है। यहाँ की कानन-परम्परा और हिम-मण्डित पर्वतमालाओं ने भावुकों में काव्य-संचार किया और इन कवियों ने वहाँ काव्यमर्मज्ञों की भी एक शृंखला-सी बाँध दी। जिस प्रकार वहाँ उद्‌भट कवि उत्पन्न हुए, उसी प्रकार

काव्य के सच्चे पारखी भी। अलंकारों और काव्यालोचना पर ग्रंथ लिखनेवाले पंडित अधिकतर काश्मीरी ही थे। इसी प्रकार भारतवर्ष के आरंभिक इतिहासकार भी काश्मीर के ही दो पंडित कवि हुए। इनमें से पहला था बिल्हण और दूसरा कल्हण।

बिल्हण की प्रसिद्धि उसके विशिष्ट इतिहास-काव्य ग्रन्थ 'विक्रमांकदेवचरित' के कारण है। बिल्हण का जन्म तो काश्मीर ही में हुआ, परन्तु वह वहाँ टिका नहीं। संभवतः कलश के राज्यकाल में काश्मीर छोड़ वह बाहर निकल गया और चिरकाल तक मथुरा, कन्नौज, प्रयाग तथा काञ्ची आदि नगरों में भ्रमण करता रहा। कुछ काल तक वह डाहल के नृपति कर्ण (संभवतः चेदि का, कर्णसुन्दरी का कर्ण नहीं) की राजसभा में रहा, फिर अन्हिलवाड़ा के चालुक्य-नरेश कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (१०६४-९४ ई०) के दरबार में। अन्त में कल्याण के चालुक्यराज विक्रमादित्य (षष्ठम्) ने बिल्हण को 'विद्यापति' की उपाधि देकर अपने पास रख लिया। विक्रमादित्य (१०७६-११२७ ईस्वी) ने उसे एक नीला छत्र और गज देकर समादृत किया। कर्ण के दरबार में उसने गंगाधर नामक एक कवि को काव्यरचना में परास्त किया था। वहीं उसने राम के ऊपर शायद कोई काव्यरचना भी की थी, जो इस समय अप्राप्य है। एक स्थान पर वह कहता है कि उसके काव्यचमत्कार को देखकर धारानगरी का राजा भोज भी अवश्य अपनी राजसभा में उसका स्वागत करता! इस प्रकार मालूम होता है कि वह भोज का समकालीन था, यद्यपि भोज का यह अन्त्यकाल रहा होगा।

बिल्हण का सब से सुन्दर काव्य-ग्रंथ 'विक्रमांकदेवचरित' ही है, जिसे उसने अपने संरक्षक चालुक्यराज विक्रमादित्य (षष्ठम्) की प्रशस्ति में लिखा था। यह काव्य सन् १०८८ ईस्वी के पूर्व ही समाप्त हो चुका होगा। इसके कई कारण हैं। पहले तो उस तिथि के शीघ्र बाद ही विक्रमादित्य ने दक्षिण पर जो भयंकर आक्रमण किया था, उसका कोई संकेत इस काव्य में नहीं है। दूसरे, काश्मीर के हर्षदेव को वह राजा नहीं, वरन् केवल कुमार कहता है। हर्षदेव १०८८ ईस्वी में ही काश्मीर की गद्दी पर बैठा था और यदि यह काव्य इस वर्ष के बाद समाप्त हुआ होता, तो निश्चय ही कवि उसे कुमार न कहकर राजा कहता। ऐसा भी नहीं हो सकता कि बिल्हण ने हर्षदेव का राजा होना न सुना हो, वह पहले ही मर गया हो, क्योंकि कल्हण का स्पष्ट कथन है कि बिल्हण उसके राजा होने के बाद तक जीवित था। इससे सिद्ध है कि 'विक्रमांकदेवचरित' की रचना सन् १०८८ ई० के पूर्व ही हो चुकी थी। बिल्हण ब्राह्मण था और उसके कुल में वैदिक यज्ञ, अग्निहोत्र आदि करने की प्रथा थी। उसके पिता का नाम ज्येष्ठकलश, पितामह का राजकलश और प्रपितामह का मुक्तिकलश था। उसकी माता का नाम नागदेवी था। बिल्हण के दो अन्य भ्राताओं के नाम थे इष्टराम और आनन्द। दोनों ही पण्डित और कवि थे। स्वयं बिल्हण ने वेद, पतञ्जलि के महाभाष्य और अलङ्कार की शिक्षा पाई थी।

बिल्हण का महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' आरंभ में पुराणपरक है। उसका कहना है कि देश और काल जब कुकर्मों से विपन्न हो गया, तब उनकी रक्षा के लिए ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु से एक वीर उत्पन्न किया, जो चालुक्य-कुल का प्रतिष्ठापक हुआ। अपनी प्राचीन राजधानी अयोध्या को छोड़कर उसके पश्चात्कालीन उत्तराधिकारी दक्षिण की ओर कल्याण में जा कर बसे। इस किंवदन्ती में ऐतिहासिक सार तो नहीं है, परन्तु इससे यह माना जा सकता है कि चालुक्यों का आदि-स्थान अयोध्या रहा होगा। कम-से-कम यह स्वीकार करने में अलौकिकता बाधा नहीं डालती। फिर बीच के इतिहास और ख्यातों को छोड़कर कवि एकदम दसवीं सदी के राजा तैलप (९७३-९७ ई०) के समीप आ जाता है, यद्यपि मालवराज द्वारा उसके पराभव की बात का वह संकेत भी नहीं करता। हमें इतिहास से विदित है कि धारा के राजा भोज के चाचा और सिन्धुराज के ज्येष्ठभ्राता वाक्पति मुञ्ज ने इस राजा तैलप (द्वितीय) को कम-से-कम छः बार हराया था। अन्त में जब अपने मंत्री की सम्मति की सर्वथा अवहेलना कर मुञ्ज गोदावरी के दक्षिण में अन्धाधुन्ध बढ़ता गया, तभी चालुक्यराज्य तैलप उसे हराकर बन्दी कर सका था। मुञ्ज अन्त में हाथी द्वारा कुचलवा डाला गया था। बिल्हण अपने महाकाव्य में तैलप द्वारा राष्ट्रकूटों का पराभव तो लिखता है, परन्तु मुञ्ज की विजय का हवाला वह नहीं देता—इससे उसका इतिहास-विरुद्ध पक्षपात सिद्ध है। पर बाद के सारे राजाओं का, सिवा एक के, इसमें उल्लेख हुआ है। विक्रमादित्य के पिता आहवमल्ल (१०४०-६९ ईस्वी) पर आकर ही कवि की लेखनी रुकी है और उसके संबंध में वर्णन काफी नाट्यपूर्ण हो गया है।

आहवमल्ल के पुत्र नहीं है। वह अपनी रानी के साथ शिव की आराधना करता है। शिव प्रसन्न होकर उसे सोमेश्वर, विक्रमादित्य और जयसिंह नामक तीन पुत्र देते हैं। आहवमल्ल अपने पुत्रों को विक्रमादित्य को युवराज स्वीकार

करने को कहता है, परन्तु स्वयं विक्रमादित्य ज्येष्ठ भ्राता के अधिकारों को छीनना नहीं चाहता, इसलिए वह उक्त पद को अस्वीकार कर देता है। अपने पिता के राज्यकाल में विक्रमादित्य कई युद्धों में उसकी सहायता करता और अनेक विजय प्राप्त करता है। इन्हीं विजयों के बीच एक बार उसे ज्वर हो आता है और उसका पिता घबराकर अपना जीवन-विसर्जन करने का निश्चय कर लेता है। मंत्रियों के बहुत रोकने पर भी आहवमल्ल पुत्र की मृत्यु की आशंका करता हुआ दक्षिण की गंगा तुंगभद्रा में प्रविष्ट होता है और शिव पर चित्त स्थापित कर स्वर्गारोहण करता है। इस स्थल पर कवि का वर्णन सुन्दर हो जाता है। पिता की मृत्यु पर विक्रमादित्य बड़ा दुःखी होता है, परन्तु शान्तिपूर्वक वह अपने बड़े भाई का राज्यरोहण कराता है और उसके साथ कुछ काल तक रहता है। बाद में जब उसके ज्येष्ठ भ्राता सोमेश्वर को उस पर संदेह होता है, तो वह अपने अनुज जयसिंह को लेकर तुंगभद्रा की ओर जाता है और वहाँ एक स्थल जीतकर बस जाता है। इसके बाद वह चोलराज से मैत्री करता है। चोलराज के मरने पर बचाव की कोशिश करने पर भी चोलों का राज्य राजिग नामक व्यक्ति हस्तगत कर लेता है। राजिग विक्रमादित्य के विरुद्ध उसके भाई चालुक्यराज सोमेश्वर से मैत्री कर लेता है। इस पर युद्ध होता है और विक्रमादित्य चोलराज और भ्राता की सम्मिलित वाहिनी को पराजित कर चालुक्य-सिंहासन हस्तगत करता है। अपने अनुज जयसिंह को वह फिर एक प्रान्त का शासक नियुक्त करता है। तदनंतर विक्रमादित्य एक (राजपूत) राजकन्या के स्वयंवर में जाकर वधू को जीत लाता है। इसके बाद इस काव्य में राजा के विहार, ऋतुओं के सौंदर्य और वधू का नखशिख वर्णन है। इसके अनंतर आपानकों का वर्णन है, जिसमें राजपूत रमणियाँ भी खुलकर सुरापान करती हैं। राजा कल्याण को लौटकर जल-विहार करता है। जयसिंह फिर विद्रोह करता है, पर राजा उसे दबाकर क्षमा कर देता है। उसके बाद राजा के आखेटों के चित्रांकन हैं। विक्रमादित्य के पुत्र उत्पन्न होते हैं। वह विक्रमपुर नामक नगर और कमलाविलासिन विष्णु का मंदिर निर्मित कराता है। इस अवसर पर चोलों के उपद्रव आरंभ हो जाते हैं। विक्रम उन्हें जीतकर कुछ काल के लिए उनकी राजधानी काञ्ची पर भी अधिकार कर लेता है।

अन्तिम अर्थात् अठारहवें सर्ग में बिल्हण के स्वयं अपने कुल तथा पर्यटनों का वर्णन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक शिलालेख बिल्हण के चरित-विस्तार को प्रमाणित करते हैं, परन्तु उसका तिथिक्रम नितान्त दोषपूर्ण है। उसे वास्तव में तिथि-गणना का कोई ज्ञान नहीं है। प्रायः वह घटनाओं के क्रम को 'कुछ काल बाद' अथवा 'बहुत काल पश्चात' कहकर परिचालित करता है। इस प्रकार के कथन से उसके काल-ज्ञान की कमी ही प्रकट होती है। वास्तव में बिल्हण की यह कृति भारतीय काव्य-परंपरा के अनुरूप ही है। इसका उद्देश्य संरक्षक नायक का प्रशस्ति-गान और काव्याङ्कन ही है, चरित का तिथिक्रम-निदर्शन नहीं।

काव्य की दृष्टि से 'विक्रमाङ्कदेवचरित' साधारणतः निर्दोष है। बिल्हण की शैली परिमार्जित और भाषा सरल है। उसका वर्णन अनिन्द्य और कथन स्पष्ट है। उसमें दुरूहता नहीं के बराबर है। उसकी वृत्ति वैदर्भी है और उसने समस्त पदों का यथासंभव कम प्रयोग किया है। इस काव्य का सब से सुन्दर स्थल, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आहवमल्ल का तुंगभद्रा-प्रवेश है। पाँचवें सर्ग में उसका वर्णन अत्यन्त गम्भीर और करुण है। मंत्रियों के अनुनय के विरुद्ध दशरथवत् आचरण करनेवाले इस पिता का गौरव और साहस सराहनीय है।

बिल्हण ने अपने काव्य के छः सर्गों में इन्द्रवज्रा, तीन में वंशस्था, दो में श्लोक, दो में रथोद्धता और एक-एक में मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा और स्वागता का प्रयोग किया है। वैतालीय का व्यवहार मुख्यतः पन्द्रहवें सर्ग में है। इनके अतिरिक्त, हरिणी, स्रग्धरा, शिखरिणी, पृथ्वी, औपच्छन्दसिक, मालिनी, वसन्ततिलका और शार्दूलविक्रीड़ित का भी क्रमशः उत्तरोत्तर प्रयोग हुआ है।

'चौरपंचाशिका'

बिल्हण की एक रचना का नाम है 'चौरपञ्चाशिका' अथवा 'चौरीसुरतपञ्चाशिका'। इसमें प्रेमसम्बन्धी ५० श्लोक हैं। यह 'चौरपञ्चाशिका' 'बिल्हण-काव्य' नामक रचना का एक अन्तरङ्ग अंश है। कहते हैं कि इसके ५० श्लोकों की रचना एक राजकुमारी के गुह्य प्रेम के संबन्ध में हुई थी। जब उस प्रेम का पता चल गया, तब राजा ने बिल्हण के वध की आज्ञा दे दी। परन्तु जब उसे वधस्थल की ओर ले जाने लगे, तब वह अपने प्रणय-संबंधी विहारों के शृंगारमय वर्णन का भावपूर्ण और रोमाञ्चक गायन करने लगा। उसकी प्रेम-कातरता से प्रभावित होकर राजा ने न केवल उसे छोड़ ही दिया, वरन् उसका विवाह भी राजकुमारी के साथ कर दिया। यह जान पड़ता है कि बिल्हण ने इस कविता में एक राजकुमारी पर किसी चोर या दस्यु का प्रेम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दर्शाया है। कविता से यह सिद्ध है कि इसकी नायिका राजकुमारी थी। वधवाले श्लोक प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। चाहे जितना अंश इस कविता का प्रक्षिप्त हो, पर इतना निस्संदेह सत्य है कि इसका केन्द्रीय भाग बिल्हण का ही है। 'विक्रमांकदेवचरित' और 'पञ्चाशिका' दोनों ही की शैली परिमार्जित और भाषा सरल है। वसन्ततिलका का जितना सुन्दर और सुष्ठु प्रयोग 'पञ्चाशिका' में बिल्हण ने किया है, उतना अन्यत्र कम देखने में आता है।

बिल्हण ने 'कर्णसुन्दरी' नामक एक नाटक भी लिखा था, जिसमें विद्याधरों की एक राजकन्या से एक चालुक्य राजा के विवाह का वर्णन है। यह विवाह वास्तव में एक ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है। चालुक्यराज अन्हिलवाड़ा का कर्णदेव है और विद्याधरराज की कन्या है। यथार्थतः कर्णात (कर्णटक) नरेश जयकेशी की पुत्री मियनल्लदेवी। इस नाटक में भी काव्यों की भाँति ही ऐतिहासिक विवरण अत्यन्त न्यून है। परन्तु इसमें जहाँ-तहाँ बिल्हण की हृदय-लहरी तरंगित हो पड़ी है और भाव तरल हो गए हैं।

कल्हण :: 'राजतरङ्गिणी'

कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' प्राचीनकालीन इतिहास-निर्माण का स्तुत्य भारतीय प्रयत्न है। हम इसके ऐतिह्य दृष्टिकोण और काव्य-शैली पर तो यथास्थान विचार करेंगे, यहाँ पहले कल्हण के व्यक्तिगत जीवन से संबंध रखनेवाले आँकड़ों को एकत्र कर लें। 'राजतरङ्गिणी' जहाँ ऐतिहासिक प्रयास का एक कुशल उदाहरण है, वहाँ इसके रचयिता के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सामग्री इसमें मिल जाती है। संस्कृत कवियों ने साधारणतया अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। कालिदास इस बात के सबल प्रमाण हैं। बिल्हण ने अवश्य अपने विषय में कुछ वृत्तान्त बताकर साहित्य के इतिहासकार को काफी अनुग्रहीत किया है। पर कल्हण ने इस संबंध के आँकड़े और भी अधिक मात्रा में तथा सप्रमाण छोड़े हैं।

कल्हण काश्मीरी ब्राह्मण था। उसका पिता काश्मीर के राजा हर्ष (१०८९-११०१ ईस्वी) का स्वामिभक्त अनुचर था। वह अपने स्वामी हर्ष की विपत्ति में भी उसके साथ बना रहा। हर्ष उस पर इतना विश्वास करता था कि अपनी हत्या के पूर्व उसने उसे ही अपना विश्वासपात्र बनाकर दौत्य के लिए चुना था। कल्हण का पिता अपने स्वामी की मृत्यु के बहुत काल बाद तक जीवित रहा, परन्तु बाद में उसने राजनीतिक वातावरण छोड़ दिया। कल्हण का जन्म ११०० ईस्वी के लगभग हुआ और पिता की राजनीतिक उदासीनता के कारण वह न तो राजसभ्य बन सका और न उसे काश्मीर का राजनीतिक वातावरण ही मिल सका। यदि उसका पिता राजनीतिक कार्यक्षेत्र में होता, तो संभवतः कल्हण को भी मंत्रिपद प्राप्त हो जाता, परन्तु अब उसकी संभावना जाती रही। कल्हण का पितृव्य कनक भी हर्ष का स्वामिभक्त सेवक था। राजा संगीत का प्रेमी और उसका आचार्य था। कनक ने उससे संगीत सीखा और उसके शुल्क के व्याज से राजा को एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट कीं। कल्हण संभवतः परिहासपुर का था। वहाँ की बुद्धमूर्ति को जब राजा ने क्रोधपूर्वक नष्ट करना चाहा, तब कनक ने अपनी प्रार्थना से उसे प्रसन्न कर मूर्ति की रक्षा की। स्वामी की मृत्यु के पश्चात् कनक काशी चला गया।

कल्हण और उसके पिता दोनों शिव के उपासक थे। कल्हण को काश्मीरी शैव सम्प्रदाय और शैव शास्त्र प्रिय थे, यद्यपि तांत्रिक शैवों के प्रति उसके हृदय में आदर न था। बौद्ध धर्म के प्रति अवश्य उसकी प्रचुर श्रद्धा ज्ञात होती है और कतिपय काश्मीरी राजाओं की पशुहिंसा-निवृत्ति की वह बड़ी प्रशंसा करता है।

काश्मीरी कवि मंख ने अपने 'श्रीकंठचरित' में कल्हण के संरक्षक अलकदत्त का नाम लिया है। कल्हण का संस्कृत नाम उसने अपने काव्य में 'कल्याण' दिया है। संभवतः इसी संरक्षक अलकदत्त के कहने से कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' के निर्माण में हाथ लगाया हो। कहना न होगा कि इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। इसकी केवल संभावना ही मानी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्हण विद्वान् था और वह अपने पूर्व के कवियों तथा साहित्यकारों की कृतियाँ पढ़ चुका था। बिल्हण का उसे भली भाँति ज्ञान था और उसने उसके 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का उपयोग भी किया है। मंख स्पष्टतया कहता है कि कल्हण की शैली इतनी परिमार्जित हो गई थी कि उसमें बिल्हण की काव्य-कला साफ-साफ प्रतिबिम्बित होती थी। रामायण और महाभारत तो कल्हण के इष्ट ग्रन्थ रहे होंगे, क्योंकि उनके—विशेषकर महाभारत के—पात्रों की ओर वह बार-बार संकेत करता है। गणित और फलित ज्तोतिष का भी वह जानकार मालूम होता है, क्योंकि उसने वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' के प्रति कितने ही निर्देश किए हैं। इतिहास के प्रति कल्हण की निश्चय ही विशेष अभिरुचि रही होगी।

जैसा कि 'राजतरंगिणी' से व्यक्त है, काश्मीर का रक्तमय इतिहास कल्हण के काल में अपनी खूँखराबी की चरमसीमा को पहुँच चुका था। कल्हण का समसामयिक राजनीतिक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वातावरण अत्यन्त कलुषित और लोमहर्षक था । उसमें जलते रक्त-मांस और चिरायँध की गन्ध आती थी ! राजा हर्ष की हत्या के अनन्तर उसके शत्रुओं--उच्चल और सुस्सल--ने राज्य को परस्पर विभाजित कर लिया था । तत्कालीन काश्मीर में जमींदार डामरों के घराने बड़े शक्तिशाली थे । उच्चल ने फूट की शासन-नीति पर चलकर डामरों को परस्पर लड़ाया और इस प्रकार अपनी शक्ति कायम रखी । इस कार्य में उसका प्रमुख सहकारी गर्गचन्द्र था । इस काल में हत्याओं का काफी बोलबाला था और एक राजा अपने पूर्ववर्ती की हत्या कर जहाँ उसका राज्य हड़पता, वहाँ अपने उत्तराधिकारियों के लिए वह मानो आदर्श उपस्थित कर देता था, जिसको अपनाने में न उन्हें किसी प्रकार की असुविधा होती थी, न हिचक ही ।

हर्ष को मारकर उच्चल गद्दी पर बैठा था, परन्तु ११११ ई० में राजकर्मचारियों के षड्यंत्र से स्वयं उसकी भी हत्या हो गई । उसके बाद उसके हत्याकारियों में से रड्ड नामक एक व्यक्ति सिंहासन पर बैठा । पर वह उस कण्टकाकीर्ण स्थान पर एक दिन से अधिक न टिक सका । उसके बाद राजा के बदले प्रायः चार महीनों तक शासन गर्गचन्द्र ने चलाया, और तब शीघ्र उससे मैत्री स्थापित कर सुस्सल राजगद्दी पर जा बैठा, जिसके समय में काश्मीर विप्लव और मार-काट का केन्द्र बन गया । जब गर्गचन्द्र की भी हत्या कर डाली गई, तब भिक्षाचर के नेतृत्व में डामर उठ खड़े हुए । भिक्षाचर हर्ष का पौत्र था और उसने सुस्सल से गद्दी छीनकर प्रायः दो वर्ष (११२०-२१ ई०) तक राज्य किया। पर सुस्सल ने शीघ्र उससे राज्यरज्जु वापस लौटा ली । उसके राज्यकाल में फिर पहले जैसे ही उत्पात होने लगे और वे तब तक होते रहे, जब तक ११२८ ई० में वह स्वयं न मार डाला गया । मनोरंजक बात तो यह है कि उसकी हत्या उन्हीं षड्यंत्रकारियों द्वारा हुई, जिन्हें उसने अपने प्रतिद्वंद्वी की हत्या के लिए तैयार किया था । सुस्सल के पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह राजा हुआ, परन्तु उसमें पिता की साहसिकता न थी । फिर भी कूटनीति और सामन्तों की मैत्री से उसने अपने हाथों में कुछ काल तक राजदण्ड बनाए रखा । दो साल बाद भिक्षाचर मार डाला गया, और उसके स्थान में एक नया हकदार खड़ा हो गया । ११३५ ई० के बाद थोड़ी बहुत शान्ति रही, परन्तु ११४३ ई० में फिर एक बखेड़ा खड़ा हो गया । उस साल कुमारभोज की अध्यक्षता में दरदों ने विद्रोह कर दिया । पर कूटनीति ने इस झगड़े को भी किनारे लगा दिया ।

इन्हीं दिनों ११४८ ई० में कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना प्रारम्भ की और वर्ष भर बाद ही उसने उसे पूरा कर लिया । कल्हण प्रायः काश्मीर की उथल-पुथल से दूर रहा था । उसने अपना प्रसिद्ध इतिहास-काव्य राजा जयसिंह के समय में लिखा था । निस्सन्देह वह वीरधर्मा और नितान्त निर्भीक व्यक्ति था । उसने अन्य दरबारी कवियों की भाँति समकालीन राजा के विरुद नहीं गाए, बल्कि अपने राजा के पिता और काश्मीर के पूर्वनृपति क्रूरकर्मा सुस्सल के कृत्यों की घोर निन्दा ही की ! काश्मीर की राजगद्दी के जयसिंहकालीन हकदार लोठन और मल्लार्जुन को भी उनके अनाचारों के कारण उसने आड़े हाथों ही लिया । हाँ भिक्षाचर के प्रति उसका आदर-भाव प्रकट होता है, परन्तु इससे यह हरगिज न समझना चाहिए कि उस राजा द्वारा उपकृत होकर उसने ऐसा किया हो, क्योंकि उसके कथन से स्पष्टतया प्रमाणित है कि भिक्षाचर के मितकालिक शासन में कल्हण के कुल को राजकुल की ओर से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ । इसी प्रकार भोज के प्रति भी उसकी सहानुभूति प्रकट होती है ।

कल्हण की मेधा ने इतिहास के आँकड़ों को पक्षपातरहित दृष्टिकोण से देखा, विशेषकर समसामयिक सामग्री को, जबकि संभावना इस बात की हो सकती थी कि वह स्वयं तात्कालिक संघर्ष में खिंच जाता अथवा कम-से-कम उस संघर्ष के पात्रों के प्रति उसका रागद्वेष उसे अपने इतिहास में उनके प्रति विशेष सद्भाव या शत्रुभाव रखने को बाध्य करता । उसके पक्षपातरहित होकर इतिहास लिखने का एक कारण समसामयिक संघर्ष से उसका दूर रहना भी था । उसने स्वयं काश्मीरी चरित्र को यथातथ्य सुन्दर, वञ्चक और चञ्चल कहा है । वह काश्मीरी सेना की कायरता की खूब भर्त्सना करता है और कहता है कि यदि किसी प्रकार कोई व्यक्ति राजा की हत्या कर सका, तो अप्रयास राजप्रासादरक्षक, सेना और राजकर्मचारी सभी उसके अनुचर हो जाते हैं ! इसके विरुद्ध विदेशी सैनिकों और राजपुत्रों को वह वीर और विश्वासपात्र कहता है । नागरिकों को वह प्रमादी, विलासी, वञ्चक और चंचल कहता है । डामरों ने काश्मीर की प्रजा पर क्रूरतापूर्ण अत्याचार किए थे । उन्होंने सारे देश को उजाड़ कर दिया था । स्वयं कल्हण के कुटुम्ब को भी उनके हाथों बहुत-कुछ झेलना पड़ा था । अतः कल्हण ने उनकी क्रूरता और अत्याचार का लोमहर्षक और हृदय-विदारक वर्णन किया है । साथ ही पदाधिकारी वर्ग को भी उसने नहीं छोड़ा है । उसे आड़े हाथों लेते हुए उनके लोभ, तृष्णा,

देशद्रोहिता और क्रूरता का खुला वर्णन उसने किया है। पुरोहितों की भी उसने बड़ी निन्दा की है। इनके पास दान में मिली अथवा देवोत्तर सम्पत्ति होती थी, जिससे ये स्वयं तो ऐश्वर्य में रहते और लोगों को अनशन (प्रायोपवेश) की धमकी देकर मनमानी करते थे। पर जो भले थे, उनकी भलाई ने भी कल्हण को आकर्षित किया और वह रिल्हण और अलंकार नामक दो मंत्रियों की काफी प्रशंसा करता है। मंख के कथनानुसार अलंकार कवियों का संरक्षक था। स्वयं मंख का उल्लेख कल्हण ने केवल मंत्री की हैसियत से किया है, कवि की हैसियत से नहीं। अन्तपाल उदय के प्रति उसका बड़ा आदर है। काश्मीर की गद्दी के दो हकदार—भोज और राजवदन—कल्हण के मित्र जान पड़ते हैं। इनमें से राजवदन ने राजा जयसिंह पर आक्रमण किया था। इन सब तथ्यों से जान पड़ता है कि कम-से-कम समसामयिक और शीघ्र पूर्व के काश्मीरी इतिहास की प्रचुर सामग्री कल्हण के हाथ में थी। इसमें सन्देह नहीं कि 'राजतरंगिणी' में भी भ्रान्तियाँ हैं, प्रचुर और गम्भीर; परन्तु कल्हण ने अपनी ओर से सामग्री का संग्रह करने में पर्याप्त प्रयास और परिश्रम किया है। उसका दृष्टिकोण पक्षपात-रहित है।

'राजतरङ्गिणी' की सामग्री और उसका ऐतिह्य

कल्हण के कथनानुसार काश्मीर में इतिहास की सामग्री पहले पर्याप्त थी। तत्सम्बधी अनेक ग्रन्थ थे, जो कालान्तर में नष्ट हो गए थे। उनमें से अनेक की सामग्री को सुव्रत नामक एक कवि ने काव्यबद्ध भी किया था। स्वयं कल्हण ने प्राचीन विद्वानों के ग्यारह ग्रन्थों से अपने काव्य के लिए सामग्री ली थी। इनके अतिरिक्त काश्मीर का 'नीलमत-पुराण' नामक ख्यातों का भाण्डार भी, जो आज भी प्राप्त है, उसे उपलब्ध था। बिल्हण का 'नृपावलि' नाम का एक ग्रन्थ भी कल्हण के सामने था, यद्यपि वह उसकी ऐतिहासिक असावधानियों की निन्दा करता है। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। 'राजतरङ्गिणी' के पहले अध्याय में पैंतीस राजाओं के लुप्त प्रसंगों के बाद लव आदि आठ राजाओं के प्रसंग आते हैं। उनके संबंध की सामग्री कल्हण को पद्ममिहिर से मिली थी और स्वयं पद्ममिहिर का भाण्डार पाशुपत हेलाराज की कृति थी, जो तरङ्गिणीकार के समय तक नष्ट हो चुकी थी। अशोक-संबंधी सामग्री छविल्लाकर नामक एक ग्रंथकार से मिली थी। इनके अतिरिक्त कल्हण ने प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से भी ऐतिहासिक मसाला प्राप्त किया था। मन्दिरों, राजप्रासादों, दानादि के ताम्रपत्र, प्रशस्तियों के लेखों और प्राचीन हस्तलिपियों से भी उसने काफी सामग्री एकत्र की थी। अपने देश के कोने-कोने का वह जानकार था और आधुनिक इतिहासकार की भाँति उसने सिक्कों और विविध कुलों के कागज-पत्रों को भी देखा-भाला था।

कल्हण कहता है कि आरंभ के ५२ राजाओं का उल्लेख प्राचीनों ने नहीं किया था। उनमें से पहले चार का उसने 'नीलमतपुराण' से, लुप्त पैंतीस राजाओं के बाद के आठ का हेलाराज से, और बाद के पाँच का छविल्लाकर से पुनरुद्धार किया। पहला राजा गोनन्द उसी वर्ष राज्याभिषिक्त हुआ, जिस वर्ष युधिष्ठिर ने राज्यारोहण किया था। 'राजतरङ्गिणी' का तिथिक्रम अभाग्यवश गोनन्द और युधिष्ठिर की असंभावित समसायिकता पर बाँधा गया है। यह गोनन्द मथुरा के कृष्ण पर आक्रमण करता है और बलराम द्वारा मारा जाता है। उसका पुत्र दामोदर अपने पिता का बदला लेना चाहता है, पर मारा जाता है। उसकी गर्भवती स्त्री को कृष्ण गद्दी पर बिठा देते हैं। गोनन्द द्वितीय बालक होने के कारण महाभारत-युद्ध में शामिल नहीं हो सकता। तीसरे अध्याय में गोनन्द तृतीय को काश्मीरी राजपरम्परा का आरंभिक पुरुष माना गया है। पहले अध्याय में अन्य राजाओं के साथ राजा अशोक के पुत्र जलौक का उल्लेख है, जो अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। फिर वहीं कुषाण राजाओं के नाम—हुष्क, जुष्क और कनिष्क—उलटे क्रम से मिलते हैं। महाभाष्य के अध्ययन का पुनरुद्धार करनेवाले राजा अभिमन्यु के समय में नीलनाग की सहायता से एक ब्राह्मण काश्मीर की बौद्धों और हिम से रक्षा करता है। दूसरे अध्याय में राजाओं का एक नया कुल चलता है, जो अनैतिहासिक प्रतीत होता है। तीसरे अध्याय में फिर गोनन्द की शाखा चलती है। मेघवाहन उसी कुल का बताया जाता है। आगे एक नई तालिका चलती है, जिसमें कवि मातृगुप्त के अल्पकालिका राज्य का निर्देश है। इसी समय छठी सदी ईस्वी के मालव शीलादित्य का हवाला मिलता है। आश्चर्य यह है कि गोनन्द की कुल-परम्परा में ही तोरमाण राज्य करता है और हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि तोरमाण हूण था, जिसका पिता मिहिरकुल बालादित्य द्वारा हराया गया था। उसकी तिथि ७०० वर्ष ई० पू० दी हुई है! बालादित्य के बाद दुर्लभवर्धन प्रथम नामक राजा राज करता है। इस नए कुल के साथ ऐतिहासिक युग के सही आँकड़ों का प्रवाह शुरू होता है। यह सातवीं सदी का काल है। दुर्लभवर्धन शायद ह्वानचवाङ् का समकालीन था। काश्मीर के लौकिक संवत्

(३०७६-७५ ई० पू०) का प्रयोग पहले-पहल विनयट जयापीड़ अथवा बृहस्पति के संबंध में किया गया है। उसे कल्हण ८०१-३३ ईस्वी में रखता है, जो प्रमाणतः अशुद्ध है, क्योंकि 'हरविजय' का रचयिता रत्नाकर स्पष्टतया कहता है कि उसने अपना ग्रंथ जयापीड़ की संरक्षता में लिखा था, यद्यपि कल्हण लिखता है कि रत्नाकर अवन्तिवर्मा के समय में था और निस्संदेह अवन्तिवर्मा ने ८५५ ई० में राज्यारोहण किया। यह पचीस से पचास वर्षों की स्पष्ट भूल है। उत्पल के पौत्र और सुखवर्मा के पुत्र अवन्ति वर्मा ने इस कुल का अंत किया। अवन्तिवर्मा साधारण परिवार का था और उसके समय से 'राजतरंगिणी' का इतिहास स्पष्ट और पर्याप्त शुद्ध हो जाता है। अध्याय पाँच में इस कुल का इतिहास ९३९ ईस्वी तक चलता है और छठे में १००३ ई० में रानी दिद्दा के साथ इस वंश का अन्त होता है। दिद्दा की मृत्यु के बाद लोहर कुल का उसका भतीजा काश्मीर के सिंहासन पर आरूढ़ होता है। सातवें अध्याय में हर्ष का लोमहर्षक अन्त वर्णित है और आठवें में उच्चल के समय से ५० वर्ष बाद तक का पूरा इतिहास है। यहाँ कल्हण ने फिर एक भूल की है। त्रिलोचनपाल ने महमूद गजनवी के विरुद्ध राजाओं का जो एक दल प्रस्तुत किया था, उसमें काश्मीर भी शामिल हुआ था। कल्हण तुंग की अध्यक्षता में शाहिराजा की सहायता के लिए भेजी गई काश्मीरी सेना का हवाला तो देता है, लेकिन उसके बाद के ही १०१५ ईस्वी के मुसलमानों द्वारा काश्मीर पर आक्रमण के प्रति वह संकेत तक नहीं करता! यह आक्रमण लोहर कुल के प्राचीन दुर्ग द्वारा रोक लिया गया था और मुसलमान खदेड़ दिए गए थे। परन्तु कल्हण की तत्संबंधी चुप्पी इस बात को प्रकट करती है कि वह उस प्रबल प्रवाह की शक्ति को समझ नहीं सका था, जिसने भारत को आगे चलकर अपने ज्वार में डुबा लिया।

कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण

कल्हण का ऐतिहासिक दृष्टिकोण निस्संदेह वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से न तो वह आधुनिक ऐतिहासिकों की पंक्ति में खड़ा हो सकता है और न हिरोडोटस, लिवि और प्लिनी जैसे प्राचीन विदेशी इतिहासकारों की पंक्ति में ही। इससे यह हरगिज न समझना चाहिए कि स्वयं हिरोडोटस आदि आधुनिक ऐतिहासकों की शृंखला में आते हैं। स्वयं हिरोडोटस ने अनेक गढ़ी हुई गप्पों को इतिहास की सच्ची घटनाओं का कलेवर दिया है! एक स्थल पर तो वह भारत में होनेवाले दो पूँछोंवाले सिंह तक का उल्लेख करता है और दूसरी जगह वहाँ की दीमकों की ऊँचाई वह लोमड़ियों के बराबर बताता है!

कल्हण को हम जानबूझकर ऐतिहासिक भूलों का सृष्टि-कर्त्ता नहीं कह सकते। जो कुछ उसकी भूल है वह व्यक्ति-परक नहीं, जातिपरक है। यदि वह ऐतिहासिक घटनाओं के परिघटन में प्रारब्ध की परिणति और पूर्वकर्मों का फल देखता है, तो वास्तव में वह केवल भारतीय विश्वास-परंपरा की ही शृंखला का वहन करता है, ऐतिहासिक वृत्ति को विकृत करने का प्रयास नहीं। इसके साथ ही उसका एक अन्य मौलिक दोष यह है कि प्राचीन किंवदन्तियों और पौराणिक गप्पों को वह इतिहास की सामग्री मानता है। वह किसी राजा के ३०० वर्ष तक राज्य करने की कल्पना भी कर सकता है! प्राचीन अंधविश्वासों और अप्रमाणित ख्यातों को वह आरम्भ के इतिहास में घटी घटनाओं की श्रेणी में ही स्वीकार कर लेता है! पुरश्चरण से मृत्यु हो सकती है, इस बात में भी उसका विश्वास है! फिर भी पिछले इतिहास की शृंखला प्रस्तुत करने में उसने ऐतिहासिक युक्ति और प्रयास दोनों का अद्भुत सहारा लिया है। वह अपने पात्रों को पक्षपात-रहित दृष्टि से देखता है। उसके चरित्र औचित्य की कसौटी पर कसे जाते हैं। यद्यपि राजा हर्ष उसके पिता और पितृव्य दोनों का ही संरक्षक था, तथापि उसकी सशक्त आलोचना करने से वह नहीं चूकता। बाद के युद्धों और स्थल-वर्णनों के संबंध में तो उसकी जानकारी नितान्त अपूर्व है। काश्मीर का कोना-कोना जैसे उसका जाना हुआ है। इस दृष्टि से वह लिवि से कहीं ऊपर उठ जाता है, क्योंकि वह रोमन इतिहासकार कमरे में बैठे-बैठे ही इतिहास का निर्माण करता था—उन सैकड़ों युद्धों में से किसी का भी घटनास्थल उसने नहीं देखा था, जिनका उसने वर्णन किया है। कल्हण पश्चातकालीन प्रत्येक युद्ध के घटना-स्थल से सुपरिचित था। कल्हण सचमुच भारत का पहला और प्रबल इतिहासकार है, यद्यपि उसकी त्रुटियाँ कम नहीं हैं। इस संबंध में पद्मगुप्त, बिल्हण और उनके पूर्ववर्ती बाण को उसने कोसों पीछे छोड़ दिया है।

'राजतरङ्गिणी' की काव्य-शैली

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्हण अन्य कवियों की भाँति नहीं था और उसने अपने ग्रंथ को उनके आधार पर लिखा भी नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह काव्य नहीं बल्कि इतिहास लिख रहा था। इसी कारण उसके लिए कल्पना में रमण करने की गुंजायश नहीं थी।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इसमें सन्देह नहीं कि यदि वह चाहता तो पूरा-पूरा काव्य निरूपण भी कर सकता था, इसकी उसमें क्षमता थी। उदाहरणार्थ युधिष्ठिर के वनगमन और सुस्सल के राजधानी-प्रवेश के विवरण निश्चय ही ऐसे चित्रण हैं, जिनसे उसकी काव्य-क्षमता स्पष्ट है। परन्तु साधारणतः उसका शेष काव्य लगभग गद्यपरक-सा ही है। फिर भी स्थल-स्थल पर 'राजतरंगिणी' प्रसाद, व्यञ्जना और शक्ति की परिचायिका है। इस प्रकार के कुछ स्थल हिममण्डित पर्वत पर दरदों के प्रति भोज के प्रयाण, अनन्त के दाह और सती सूर्यमती के चितारोहण, ब्राह्मणों के कथोपकथन, जयापीड़-चरित और हर्ष के विपद्वर्णन आदि में हमें दिखाई देते हैं। कई स्थानों पर तो नाटकीय संवाद का-सा दृश्य उपस्थित होता है। अपने कथा-प्रवाह को कल्हण अनेक उपमाओं, विरोधी भावों, श्लेषों और अन्य अलंकारों से सजाता है।

अन्य ऐतिहासिक काव्य

संस्कृत-इतिहास-काव्य के क्षेत्र में कल्हण अकेला है। यद्यपि पद्मगुप्त, बिल्हण आदि ने जो प्रयास किए हैं, उन्हें कुछ हद तक इतिहासपरक कह सकते हैं, परन्तु वास्तविक इतिहास वे किसी रूप में भी नहीं हैं। बिल्हण आदि की ही भाँति औरों ने भी कुछ और प्रयास किए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

जल्हण नामक एक और काश्मीरी कवि ने 'सोमपाल-विलास' नामक एक ऐतिहासिक काव्य लिखा था। मंख जल्हण को अलंकार की राजसभा का सभ्य कहता है। सोमपालविलास (सोमपाल नहीं) राजपुरी के राजा का नाम था, जिसे काश्मीरराज सुस्सल ने पराजित किया था। उधर जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने भी अनिलवाड़ा के चालुक्य नृपति कुमारपाल पर लगभग ११६३ ई० में अपना 'कुमारपालचरित' अथवा 'द्व्याश्रय काव्य' नामक इतिहास-काव्य लिखा। इस काव्य के दो नाम होने का एक कारण है। 'द्व्याश्रय काव्य' इसे इसलिए कहते हैं कि इसमें दो भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। यह २८ सर्गों में प्रस्तुत है, परन्तु इसके पहले २० सर्ग संस्कृत में और शेष आठ प्राकृत भाषा में हैं। इसके अतिरिक्त यह द्व्यर्थक भी है। इसी प्रकार यह ग्रंथ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का उपसंहार-सा है! इसमें संस्कृत और प्राकृत व्याकरणों के नियमों के उदाहरण और स्पष्टीकरण हैं। चालुक्यों के इतिहास पर यह काव्य कुछ प्रकाश डालता है। कुमारपाल के पूर्वजों का भी इसमें थोड़ा बहुत समावेश है। परन्तु जैन होने के कारण हेमचन्द्र सब बातों को जैन दृष्टिकोण से ही देखता था। अधिकतर उसने कुमारपाल के उन्हीं कृत्यों का वर्णन किया है, जिनमें जैनधर्म का प्रचार दर्शित है। इस काव्य से ज्ञात होता है कि कुमारपाल की जैनधर्म की ओर प्रवृत्ति हो गई थी। उसने जीवहिंसा के लिए कठोर से कठोर दण्ड घोषित किया था और अनेक जैन-मन्दिरों का निर्माण कराया था। उसकी नीति जैनधर्मानुकूल थी।

किसी अज्ञातनामा कवि द्वारा रचित 'पृथ्वीराजविजय' नाम का एक और ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध है। इसकी जो अकेली हस्तलिपि मिली है, वह असमाप्त है, जिससे यह कहना कठिन है कि इसे कवि ने अपूर्ण ही छोड़ दिया था अथवा कालान्तर में इसका अन्त्यांश नष्ट हो गया है। जो भी हो, चौहानवंशीय पृथ्वीराज तृतीय की शहाबुद्दीन गोरी पर विजय की गाथा पर यह काव्य अवलंबित है। पृथ्वीराज को यह विजय ११९१ ई० में प्राप्त हुई थी और यदि यह इतना ही लिखा गया हो, तो इसे इस विजय के शीघ्र बाद ही लिखा जाना चाहिए, क्योंकि इसमें अगले ही वर्ष पृथ्वीराज पर होनेवाली गोरी की विजय और उसके निधन की बात नहीं लिखी गई है। इसका कवि अधिकतर बिल्हण की शैली का अनुसरण करता है, इससे जान पड़ता है कि वह काश्मीरी रहा होगा, यद्यपि इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। जयरथ ने इस काव्य का उल्लेख अपनी पुस्तक 'अलङ्कार-विमर्शिनी' (लगभग १२०० ई०) में किया है। काश्मीर के जोनराज (लगभग १४४८ ई०) ने इस पर टीका भी लिखी है।

गुजरात में बघेल राजपूतों के घराने में लवणप्रसाद और वीरधवल नामक दो राजा हो गए हैं। उनका वस्तुपाल नामक एक मंत्री था, जिसके प्रोत्साहन से दो काव्य लिखे गए, जिनमें से एक 'कीर्त्तिकौमुदी' स्वयं उसी की प्रशस्ति है। 'कीर्त्तिकौमुदी' का रचयिता सोमेश्वरदत्त है। सोमेश्वरदत्त (११७९-१२६२ ई०) ने कितने ही उत्कीर्ण प्रशस्ति-लेखों की भी रचना की थी, जिनमें उसकी 'कीर्त्तिकौमुदी' के अनेक श्लोक मिलते हैं। उसी कवि ने पन्द्रह सर्गों में 'सुरथोत्सव' नाम का एक और काव्य लिखा था, जो वस्तुतः है तो पुराणपरक, पर जिसमें श्लेष रूप में तात्कालिक राजनीतिक दशानिरूपण भी किया गया जान पड़ता है। इसके अन्त में कवि ने बाण और बिल्हण की भाँति अपने कुल की कथा भी दी है और वस्तुपाल का भी उल्लेख किया है।

इस तेरहवीं सदी में ही अरिसिंह नाम का एक और कवि हुआ, जिसने 'सुकृतसंकीर्तन' नामक ग्यारह सर्गों में प्रस्तुत

सोमेश्वरदेव की प्रशस्ति लिखी है। १२५६-५८ ई० में गुजरात में एक दुर्भिक्ष पड़ा था। उसमें एक पुण्यात्मा जैन गृहस्थ ने लोगों की बड़ी सहायता की थी और नगर की प्राचीरें उठा दी थीं। उसकी प्रशस्ति में सर्वाणन्द ने अपना 'जगडूचरित' लिखा। सात सर्गों में संपन्न यह काव्य कविता की दृष्टि से नितान्त नगण्य है। काश्मीर के राजा हर्षदेव की राजसभा में शम्भु नामक एक कवि था। उसने भी 'राजेन्द्रकर्णपूर' नामक एक प्रशस्ति-काव्य अपने राजा के संबंध में लिखा। साथ ही 'अन्योक्तिमुक्तालताशतक' नामक एक और साधारण काव्य भी उसने लिखा था। कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' को जहाँ समाप्त किया है, उसके आगे भी ऐतिहासिक वृत्तांत के क्रम से अनुवृत्ति जोड़ी जाती रही। जोनराज (मृत्यु १४५९ ईस्वी) ने सुल्तान जैनुल आबिदीन के समय तक का ऐतिहासिक विवरण इसमें जोड़ा और उसके शिष्य श्रीवर ने चार अध्यायों में अपनी 'जैन-राजतरङ्गिणी' लिखकर सन् १४५९ से १४८६ तक का वृत्तांत पूरा किया। उसके बाद प्राज्य भट्ट और उसके शिष्य शुक ने 'राजावलिपताका' में अकबर द्वारा काश्मीर-विजय तक का ऐतिहासिक विवरण जोड़ा। कहना न होगा कि कल्हण के बाद के कवियों में जोनराज को छोड़कर न किसी में इतिहासकार की सूझ है और न काव्य की चित्तहारिणी शैली ही। इनमें से कइयों ने तो स्वयं कल्हण के ही कितने प्रसंगों की नकल कर ली है।

बिल्हण और कल्हण ने जिस इतिहास-परम्परा का निर्माण किया था, वह एक प्रकार से काश्मीरी थी। कालान्तर में वह सर्वथा टूट ही गई। बाद में कुछ प्रयास हुए भी, परंतु यदि उनमें किसी अंश तक कविता थी भी, तो इतिहास न था। उस काल के कवियों ने अधिकतर लालबुझक्कड़ी का सहारा लिया। उनमें इतिहासकार की मेधा न थी। कल्हण के पूर्व भी जो ऐतिहासिक प्रयत्न हुये थे, वे अत्यन्त असंतोषजनक थे। उनमें बाण का 'हर्षचरित', जो गद्य में है और जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे, विशिष्ट है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से यह भी असन्तोषजनक है। ये ऐतिहासिक काव्य अधिकर अपनी सामग्री के साथ मनमानी करते हैं। जब वे शिला-लेखों आदि के अनुकूल हों, तभी उनकी सत्यता कुछ अंश तक असंदिग्ध हो सकती है, और सो भी कुछ ही अंश तक, क्योंकि स्वयं शिला-लेख भी प्रायः प्रशस्तियों ही के रूप में हैं।

आइये, अब इन इतिहासपरक काव्यों से विदा होकर उत्तरकालीन कविता की सामान्य धारा एवं शृंगारिक, गेय, सुभाषितादिक, धार्मिक और नीतिपरक रचनाओं पर विचार करें।

मंख, जयरथ, लोलिम्बराज, अमरचन्द्र, आदि

बारहवीं सदी में होनेवाले काश्मीरी कवि मंख का नाम कल्हण-बिल्हण आदि के प्रसंग में पहले आ चुका है। मंख अलंकारों के पण्डित रुय्यक का शिष्य था। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ 'अलंकार-सर्वस्व' में मंख के काव्य 'श्रितकण्ठचरित' का हवाला दिया है। श्रितकण्ठचरित पचीस सर्गों में प्रस्तुत शिव द्वारा त्रिपुरासुरवध की कथा है। इस महाकाव्य का सब से सुन्दर वर्णन १५ वें सर्ग में है, जिसमें मंख की यथार्थ विशेषता झलकती है। इसमें तत्कालीन राजा जयसिंह के मंत्री अलंकार का, जो कवि का भाई था, दरबार वर्णित है। यह दरबार तत्कालीन विद्वानों का है। यह दरबार उस समय के विद्वानों की तालिका के लिए अद्भुत सामग्री प्रस्तुत करता है। इससे मंख का काल भी साफ-साफ निश्चित हो जाता है। वह राजा जयसिंह का समकालीन था और इस जयसिंह ने सन् ११२९ ई० से ११५० ई० तक राज्य किया था।

जयरथ भी काश्मीर की ही काव्य-परम्परा का कवि था और हुआ भी वह लगभग मंख के ही काल में। उसने 'हरचरितचिन्तामणि' नामक एक काव्य लिखा। परन्तु इससे न तो तत्कालीन ऐतिह्य पर कुछ प्रकाश पड़ता है और न काव्याध्ययन का ही आनन्द सम्पन्न होता है। यह शैव संप्रदाय की पौराणिक कथाओं और अनुश्रुतियों से निस्संदेह भरा पड़ा है।

१०५० ईस्वी के लगभग लोलिम्बराज ने अपना 'हरिविलास' नामक काव्य लिखा, जिसमें कृष्णचरित का वर्णन है। यह भी प्राचीन काव्यों की ही एक साधारण काव्यानुकृति है।

इसी युग में जैन कवि अमरचन्द्र ने 'बालभारत' लिखा। छन्दों के विचार से यह काव्य स्तुत्य है, यद्यपि प्रबंध और लालित्य इसमें शिथिल हैं। यह काव्य तेरहवीं सदी के मध्य में प्रणीत हुआ, क्योंकि अमरचन्द्र का काल १२५० ई० के लगभग माना जाता है।

श्लेषात्मक काव्य :: सन्ध्याकर नन्दी, धनञ्जय, कविराज, हरदत्त, चिदम्बर, वेंकटाध्वरिन् आदि

बारहवीं शताब्दी में उस श्लेषात्मक काव्य का पूरा-पूरा विकास हुआ, जिसका आरम्भ कविवर भट्टि ने कर दिया

था। इस प्रकार के काव्य से दो कथाओं का बोध होता है। सन्ध्याकर नन्दी द्वारा विरचित 'रामपालचरित्र' इसी प्रकार का एक काव्य है। इस प्रकार की काव्य-परम्परा में शायद 'रामपालचरित्र' प्रथम ग्रंथ है। इसमें रामायण की कथा और बंगाल के पालवंश के नृपति रामपाल की जीवनी एक साथ लिखी मिलती है! एक ही श्लोक से रामायण की कथा और ऐतिहासिक रामपाल की जीवन-घटनाओं का बोध होता है! रामपाल ने ग्यारहवीं सदी के अन्त में राज्य किया था। इस प्रकार सन्ध्याकर नन्दी उसका समकालीन या उसके कुछ ही बाद का रहा होगा। धनञ्जय दिगम्बर जैन था और उसका दूसरा नाम संभवतः श्रुतकीर्ति था। उसने अपने काव्य की रचना ११२३ और ११४० ई० के बीच की थी। उसके काव्य का नाम था 'राघवपाण्डवीय'। इसी प्रकार के नाम का एक और ग्रंथ माधव भट्ट (अथवा सूरि और पण्डित उपनामधारी) 'कविराज' ने लिखा था। समाननामा इन दोनों 'राघवपाण्डवीयों' का उद्देश्य एक ही है—अर्थात् श्लेषात्मक रूप से एक ही श्लोक द्वारा रामायण और महाभारत दोनों की कथाओं को व्यक्त करना! संस्कृत की समर्थ पदावली ही इस प्रकार के नट-काव्य को सम्पन्न कर सकती थी! कविराज के काव्य में इस प्रकार के काव्य-प्रणयन में भी काफी चमत्कार है, यद्यपि ऐसी कृति में काव्य का विकास इतना नहीं होने पाता, जितना असाधारण मेधा का। कविराज ने यदि साधारण एकार्थक काव्य पर लेखनी उठाई होती, तो शायद उसका यश अधिक व्यापक होता और उसकी भारती अधिक कान्तिमती होती!

इन तीनों के अतिरिक्त दो और कवियों ने इसी प्रकार के श्लेषात्मक काव्य रचे हैं। उनमें से एक का नाम है हरदत्तसूरि और दूसरे का चिदम्बर। हरदत्तसूरि ने 'राघवनैषधीय' की रचना की, जिसकी एक कथा रामचरित और दूसरी नल की कथा से सम्पर्क रखती है! हरदत्त के काल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु चिदम्बर निस्सन्देह बहुत पीछे का है। चिदम्बर ने इस काव्य-संबंधी बाजीगरी को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, क्योंकि उसके 'राघवपाण्वीययादवीय' नामक काव्य में रामायण और महाभारत की कथाओं के साथ ही साथ एक तीसरी कथा भी चलती है, जो भागवत पुराण में वर्णित यादव-कुल (अथवा कृष्ण) की है! इसके विपरीत, परन्तु इसी वर्ग में वेंकटाध्वरिन् नामक एक अन्य कवि ने एक अनोखा काव्य लिखा। उसका नाम 'यादवराघवीय' है। यह छोटा-सा काव्य ३० श्लोकों में ही समाप्त हो गया है। इसे सीधा पढ़ने से राम की कथा और उल्टा पढ़ने से कृष्ण की कथा का बोध होता है! इस प्रकार का एक दूसरा ग्रंथ लक्ष्मण भट्ट के पुत्र रामचन्द्र ने सन् १५४२ ईस्वी में अयोध्या में लिखा था। इसका नाम है 'रसिकरञ्जन', जिसे एक ओर से पढ़ने से शृंगारपरक वर्णन मिलता है और दूसरी ओर से पढ़ने से वैराग्यपरक! विद्यामाधव नामक एक फलित ज्योतिष का ग्रंथकार हो गया है। उसने भारवि पर टीका लिखी है। इस प्रकार की बाजीगरी में वह बाण, सुबन्धु, कविराज और स्वयं अपने को आदर्श मानता है। उसने इसी प्रकार के एक काव्य 'पार्वतीरुक्मिणीय' में शिव और पार्वती तथा कृष्ण और रुक्मिणी दोनों के विवाहों का एक साथ वर्णन किया है! यह विद्यामाधव चालुक्यराज सोमदेव के संरक्षण में था।

श्रीहर्ष :: 'नैषधचरित'

बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में होनेवाले श्रीहर्ष ने अपना 'नैषधचरित' लिखकर फिर एक बार महाकाव्यों की परम्परा का पुनरुद्धार किया। परन्तु उनके बाद शायद इस परंपरा का अन्त ही हो गया। श्रीहर्ष के संरक्षक कन्नौजाधिपति विजयचन्द्र और जयचन्द्र थे। जयचन्द्र पृथ्वीराज का समकालीन था और मुसलमान आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी द्वारा युद्ध में ११९४ ई० में मारा गया था। श्रीहर्ष ने स्वयं बताया है कि उनके पिता का नाम हरि और माता का मामल्लदेवी था। इस महाकाव्य के अतिरिक्त श्रीहर्ष अन्य ग्रन्थों के भी रचयिता थे। उन्हीं में से एक 'खण्डनखण्डखाद्य' भी है, जिसमें उन्होंने वेदान्त का निरूपण किया है। 'खण्डनखण्डखाद्य' इस बात का सबल प्रमाण है कि जिस प्रकार उस युग के कवि जहाँ एक ओर परिमार्जित काव्य पर प्रभुत्व रखते थे, वहीं दूसरी ओर वे न्याय और तर्क सम्बन्धी विषयों पर भी अबाधरूप से लिख सकते थे! श्रीहर्ष मध्यकाल के बाजीगर-कवियों को लाँघकर आसानी से पुनः उस पूर्ववर्ती युग के प्रकांड काव्यकारों के समक्ष पहुँच जाते हैं, जिसमें भारवि और माघ हैं। श्रीहर्ष का छन्द और अलंकारों पर पूरा प्रभुत्व है। भाषा और शैली पर भी उनका असाधारण अधिकार है। अन्तःपुर और वन दोनों के उनके वर्णन सुन्दर और असामान्य हैं। जिस स्वाभाविकता से वह प्रसादान्तर्गत घटनाओं का वर्णन करते हैं, उसी प्रकार उनकी लेखनी अरण्य के प्रसंगों पर भी चलती है। उनका वन-वर्णन तो कई स्थलों पर वाल्मीकि और कालिदास से टक्कर लेने लगता है। कामसूत्र के भी वह

मार्मिक पण्डित हैं। अतः श्रीहर्ष की गणना जो कालिदास, भारवि और माघ की श्रेणी में की जाती है, सो उचित ही है। कोई-कोई उनके काव्य के ६० से १२० सर्गों तक की संख्या बताते हैं। परंतु यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता कि श्रीहर्ष-सा श्रेष्ठ और असामान्य कवि अपने प्रबन्ध को इतना बोझिल करेगा। पता नहीं, यह कहाँ तक सत्य है। एक 'उत्तरनैषधीय' नामक काव्य भी मिला है, जो सोलह सर्गों में है और जिसका प्रणयन बंदारु भट्ट ने किया है। 'नैषधचरित' का वर्तमान रूप केवल नल और दमयन्ती के वैवाहिक जीवन के आनन्दोपभोगों तक ही पहुँच कर रह जाता है।

ऊपर हमने छंदालंकारों के विषय में इस कवि की प्रौढ़ता का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष की शैली नितान्त परिमार्जित है, और यद्यपि श्लेष का उन्होंने भी प्रचुर उपयोग किया है, परन्तु इस क्षेत्र में उनकी प्रभुता शायद अद्वितीय है। यमकों का अतिशय प्रयोग अवश्य कुछ असंयत-सा दिखाई देता है। फिर भी श्रीहर्ष संस्कृत के उत्तम कवियों में से एक हैं।

श्रीहर्ष ने छन्दों का जो सुन्दर प्रयोग किया है, उसमें प्रमुख स्थान उन्होंने केवल १९ छंदों को ही दिया है। इनमें इन्द्रवज्रा की शाखा उपजाति प्रमुख है, जो लगभग सात सर्गों में प्रचुरता से प्रयुक्त हुई है। वंशस्थ का भी प्रमुख उपयोग कवि ने प्रायः चार सर्गों में किया है। दो-दो सर्गों में श्लोक, वसन्ततिलका और स्वागता का विशिष्ट प्रयोग हुआ है और इसी प्रकार द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वैतालीय और हरिणी का एक-एक में। अन्य छन्दों में कवि ने अचलधृति, तोटक, दोधक, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, मालिनी, शिखरिणी और स्रग्धरा का उपयोग किया है।

यहाँ पर उस किंवदन्ती का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा, जो महान् काव्यालोचक मम्मट और श्रीहर्ष के सम्बन्ध में कही जाती है। कहते हैं, श्रीहर्ष मम्मट का भतीजा था और जब उसने गर्वपूर्वक अपना 'नैषधचरित' उसे दिखाया, तो मम्मट ने कहा कि "तुमने मेरे 'काव्यप्रकाश' लिखने के पूर्व इसे क्यों नहीं दिखाया? यदि तुम ऐसा करते तो मुझे काव्यदोष वाले प्रकरण के लिए अशुद्धियों के लिए विविध काव्यों में भटकना न पड़ता! सब एक ही स्थल पर प्राप्त हो जातीं और मेरा सारा श्रम बच जाता।" परन्तु वास्तव में श्रीहर्ष इस प्रकार की व्यंगपूर्ण आलोचना से बहुत ऊपर हैं। उनकी महान् कृति 'नैषधचरित' की गणना 'रघुवंश', आदि पंच महाकाव्यों में की जाती है।

जैन काव्य

उत्तरकाल में जैन-साहित्य भी खूब फूला-फला। जैन लोग अधिकतर संस्कृत ही में लिखते थे, यद्यपि प्राकृतों में भी उन्होंने पर्याप्त लिखा है। कनकसेन वादिराज नामक एक द्राविड़ जैन ने 'यशोधरचरित' नामक एक काव्य लिखा। इसमें चार सर्ग और २९६ श्लोक हैं। 'यशोधरचरित' की सामग्री कुछ समय बाद होनेवाले सोनदेव के 'यशस्तिलक' से मिलती है। कनकसेन श्रीविजय का गुरु था। यह श्रीविजय ९५० ईस्वी के लगभग जीवित था और यह काफी प्रसिद्ध भी हो गया है। उसका गुरु होने के कारण कनकसेन् दसवीं शती के दूसरे चरण में रहा होगा। ग्यारहवीं सदी के गुजरात के एक श्वेताम्बर जैन माणिक्य सूरि ने प्रायः इसी विषय पर पुनः एक अन्य ग्रन्थ 'यशोधरचरित' नाम का लिखा। यह वादिराज कनकसेन के दिगम्बर साम्प्रदायिक वर्णन के विरोध में श्वेताम्बरीय रचना है, अतः दोनों के वर्णन और कुछ हद तक सामग्री भी भिन्न हैं। हेमचंद्र नाम का प्रख्यात जैनाचार्य भी इसी काल में हुआ। उसका समय १०८८ ई० से ११७२ ई० तक है। उसका विशद काव्यग्रन्थ 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' ११६० और ११७२ ई० के बीच लिखा गया। इसके दस पर्वों में ६३ जैन आदर्श पुरुषों के जीवनचरित दिए हुए हैं। इनमें से २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव, और ९ विष्णुद्विष हैं। इस काव्य की भाषा सरल, किन्तु शैली बोझिल है। इसमें अन्तिम पर्व में तीर्थंकर महावीर-सम्बन्धी कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

हरिश्चन्द्र नामक एक अन्य जैन आचार्य ने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक इक्कीस सर्गों के एक काव्य में जैनों के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित लिखा। हरिश्चंद्र का समय अज्ञात है। बारहवीं सदी के अलंकारों के सुप्रसिद्ध ग्रंथकार वाग्भट ने तेरह सर्गों में नेमिनाथ पर 'नेमिनिर्वाण' नामक एक काव्य लिखा। इसी प्रकार तेरहवीं सदी के देवप्रभसूरि ने 'पाण्डवचरित्र' और 'मृगावतीचरित्र' नामक काव्य लिखे। ११५९ श्लोकों और चौदह सर्गों में समाप्त 'महीपालचरित्र' नाम का एक महाकाव्य चारित्रसुन्दरगणि का बताया जाता है। इन काव्यों में केवल कथानक की प्रमुखता है, भाषा अथवा शैली की नहीं। इस काल में सम्पन्न एक महाकाव्य काफी अच्छा है। इसका नाम है 'पद्यचूड़ामणि' और इसका रचयिता है बुद्धघोषाचार्य, जो कौन था, कहना कठिन है। बुद्धघोष पालि का एक पंडित हुआ है। संभव है, वह यही हो!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जयदेव :: 'गीतगोविन्द'

जयदेव संस्कृत-गगन का सुधाकर है। उसका-सा मधुर कवि संस्कृत भाषा ने दूसरा नहीं जन्माया। कालिदास का प्रबन्ध, उनका पाण्डित्य, उनकी शब्दयोजना, काव्यमर्मज्ञता सब कुछ जयदेव से ऊँची है, परन्तु ध्वनि-माधुर्य और पद-लालित्य में जयदेव स्वयं कालिदास से बढ़ गया है। संस्कृत-काव्य में जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर, अन्तिम सोपान है—उत्तरकालीन कवियों की पिछली श्रृंखला में सब से बड़ा। जयदेव सेनवंश के अन्तिम नृपति लक्ष्मणसेन का समकालीन और दरबारी कवि था। लक्ष्मणसेन ने सन् १११९ ईस्वी में लक्ष्मण संवत् नाम से अपना एक संवत् चलाया था। इस प्रकार जयदेव का काल बारहवीं सदी के आरंभ से लेकर उसके मध्य के आसपास तक ठहरता है। जब भारत के सिंहद्वार पर मुसलमान विजेताओं के भयंकर आघात हो रहे थे, तब जयदेव अपनी मधुर भारती से कृष्ण का स्तवन कर रहा था, और संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय अपने 'गीतगोविन्द' का प्रणयन कर रहा था। वैसे काव्य-क्षेत्र में उस समय वह सर्वथा अकेला भी न था। लक्ष्मणसेन विद्यापारखी और विद्वानों का आदर करनेवाला नरेश था। उसकी राजसभा में जयदेव, गोवर्धन, धोई, शरण, और उमापति-धार नामक पाँच रत्न थे। उन्हीं रत्नों में मुकुट-मणि जयदेव था।

जयदेव किन्दुबिल्व का रहनेवाला था और उसके पिता का नाम भोजदेव था। जयदेव कृष्ण का अनुपम भक्त था। सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में हिन्दी में एक हरिगोविन्द का स्तोत्र है। उसमें और भक्तमाल की कितनी ही अनुश्रुतियों में जयदेव के कृष्ण भक्त होने का उल्लेख है। कहते हैं कि राधा के सौन्दर्य-वर्णन में जब कवि की मानव शक्तियाँ समर्थ न हो सकीं, तब स्वयं कृष्ण ने उस कार्य में उसकी सहायता की थी। इसमें संदेह नहीं कि 'गीतगोविन्द' के अतिरिक्त उसने अन्य काव्य नहीं लिखा, परन्तु निस्सन्देह अकेला यह ग्रंथ ही जयदेव को मूर्धाभिषिक्त कर देने में पर्याप्त है।

'गीतगोविन्द' संस्कृत-काव्य-कला में बारीक सुईकारी जैसा चमत्कार है, साहित्य में कलावन्त का सफल शिल्पकार्य। 'गीतगोविन्द' भारतीय साहित्य में अनुपम, असाधारण और अद्वितीय है। इस काव्य में गोपाल कृष्ण के गोपियों के साथ राग-विलास का गायन है। इस बात से ही उस महाकवि का यश प्रतिष्ठापित है कि उसके जन्म-स्थान पर उसकी स्मृति में सदियों तक प्रत्येक वर्ष मेला लगता और रात्रि में गीतगोविन्द का पाठ होता रहा है। १२९१ ईस्वी ही के एक उत्कीर्ण लेख में 'गीतगोविन्द' का एक श्लोक उद्धृत है, जिससे जयदेव के यश का आशुप्रसार सिद्ध है। पन्द्रहवीं शती के अन्त तक तो वह इतना लोकप्रिय हो गया था कि १४९९ ई० में प्रतापरुद्रदेव ने एक विज्ञप्ति निकालकर नर्त्तकों और वैष्णव गायकों के लिए एकमात्र उसके ही पदों को गाने की घोषणा कर दी थी। जयदेव ने स्वयं अपने लिए 'कविराजराज' पद का व्यवहार किया है। इस प्रयोग का औचित्य तब से भली प्रकार से स्थापित हो चुका है।

जयदेव का यह गीति-काव्य, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नितान्त अनुपम है। विद्वानों ने इसे नाटकीय गुणों से संपन्न काव्य कह डाला है। वास्तव में 'गीतगोविन्द' को गान और नाटक के किसी मिश्रित स्तर में रखना उचित होगा, परन्तु संस्कृत आलोचना-शास्त्र में इस प्रकार के मिश्रकाव्य-प्रबन्ध के लिए कोई संज्ञा नहीं है। कवि ने गीतगोविन्द को सर्गों में विभाजित किया है, इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि कम से कम उसका उद्देश्य इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत करना नहीं था। वह इसे काव्य ही मानता था। गीतगोविन्द के पद गेय हैं और प्रत्येक के आरंभ में उसके राग, ताल, तथा सहगामी नृत्य का लाक्षणिक संकेत भी कवि ने सर्वत्र कर दिया है। इस रूप में गीतगोविन्द संस्कृत साहित्य में रूप-रेखा और भावनिदर्शन में सर्वथा नवीन और नितान्त मौलिक है। गीतगोविन्द लिखते समय जयदेव के लिए काव्य-जगत् में कोई आदर्श न था। 'यात्राओं' नामक ग्राम्य जन-साधारण के गेय नाट्य को ऊपर उठाकर उनसे पर्याप्त पृथक होकर जयदेव ने इस अपूर्व काव्य-विशेष की रचना की और इसके सरल माधुर्य ने ही इसे लोकप्रिय बना दिया। किस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा से नितान्त नागरिक और ऊर्ध्वस्त-रीय साहित्य को भी जनप्रिय बना सकता है, गीतगोविन्द उसी का उदाहरण है।

गीतगोविन्द का गायन सर्वथा श्रुतिमधुर और इसकी पदावली सहज सुकुमार है। प्रसाद का जितना उज्ज्वल तरल रूप इस काव्य में मिलता है, उतना सारे संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र खोजे भी कहीं नहीं मिलता। इस गीति-काव्य में कथोपकथन और गायन अद्भुत सरलता से मिश्रित हैं। प्रत्येक स्थल पर आरंभ में वक्तव्य-श्लोक पहले प्रसंग-विशेष का निरूपण कर देते हैं, फिर गेय श्लोक आते हैं, जो कृष्ण, राधा और उनकी प्रिय सखी के भावों की मृदु व्यञ्जना करते हैं। विदेशी आलोचकों ने जयदेव के काव्य को कामविदग्ध कहा है। कुछ ने देवता के दैहिक विलास

का भक्त द्वारा वर्णन अनुचित भी माना है। परन्तु भारतीय काव्य-प्रथा में यह आचार न तो कुछ नवीन है और न अनुचित। स्वयं कालिदास ने कुमारसंभव के आठवें सर्ग में अपने इष्टदेव शिव के विलास का इसी प्रकार का स्पष्ट मानव-वर्णन किया है। अन्य अनेक कवियों ने भी इस तरह की चर्चा की है। जयदेव इसमें कुछ अपूर्व अथवा असाधारण नहीं हैं। बाद की प्रान्तीय भाषाओं में भी इसी प्रकार के वर्णन के प्रयास हुए हैं।

'गीतगोविन्द' काव्य की दृष्टि से अद्वितीय है। भारतीय साहित्य में कोई कृति ऐसी नहीं, जिससे इसकी तुलना की जा सके। अधिकारी कवि के हाथ से यह अद्भुत कला की वस्तु बन पड़ा है। जहाँ यह वर्ण-चित्र रत्नों की राशि उपस्थित करता है, वहाँ उनको यह इधर-उधर बखेरता नहीं, वरन् वास्तुविशारद की कुशलता से एक-एक को यथास्थान जड़ता है। 'गीतगोविन्द' निस्सन्देह काव्यकला की पच्चीकारी है। इसमें प्रबन्ध को भी भले प्रकार निबाहा गया है। इसके गीतों में जो ध्वनि बसी है, वह केवल शब्द-ध्वनि नहीं, चेष्टा की संस्कृत प्रच्छन्न ध्वनि है। इसका ध्वनि-माधुर्य मानो हृदय को थिरका देता है। 'गीतगोविन्द' के वर्ण-चित्र और शब्द-ध्वनि निस्सन्देह अन्यत्र अप्राप्य हैं।

इसमें संदेह नहीं कि जयदेव मधुर गुंजन में करुण काव्य का मौलमणि है!

शृंगारिक कृतियाँ

शृंगार के प्रसंग के कुछ काव्यों और रचनाओं का हवाला हम पहले दे चुके हैं। यहाँ अन्य उत्तरकालीन फुटकर शृंगारिक कविताओं का अध्ययन उपादेय होगा। शृंगारिक कविताओं से तात्पर्य उन गार्हस्थ्य कविताओं से है, जिनका इष्ट काम है। ऐसी रचनाओं की संख्या थोड़ी नहीं, अत्यन्त अधिक है और स्थानाभाव से यहाँ उनका केवल संक्षिप्त निरूपण ही किया जायगा।

कालिदास के नाम पर जो अनेक कविताएँ हमें आज उपलब्ध हैं, उनमें एक विशिष्ट रचना 'शृंगारितिलक' है। निस्संदेह यह रचना कालिदास की नहीं है। फिर भी इसमें सौंदर्य और मिठास है। इसमें प्रणयपरक २३ श्लोक हैं। इसी प्रकार का, यद्यपि इससे अरोचक, एक काव्य घटकर्पर का है। २२ श्लोकों में प्रस्तुत इस काव्य का नाम भी 'घटकर्पर' ही है। इसमें वर्षागम पर एक नवयौवना प्रोषितपतिका मेघ द्वारा पति के समीप संदेश भेजती है। इसे पढ़ते ही कालिदास के 'मेघदूत' का स्मरण हो आता है। अंतर केवल इतना है कि मेघदूत में पति अपनी पत्नी के पास संदेश भेजता है और इसमें उसके विपरीत पत्नी ही पति के पास संवाद भेजती है। निस्संदेह इस पर 'मेघदूत, का प्रभाव पड़ा है। रचना का शीर्षक 'घटकर्पर' इसलिए पड़ा है कि कवि अन्त में प्रण करता है कि यदि कोई उससे यमकों के प्रयोग में बढ़ जाय, तो वह उसके लिए टूटे घड़े में पानी ढोएगा। जैकोबी ने घटकर्पर को कालिदास का पूर्ववर्ती कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसा स्वीकार करना कठिन है। किंवदन्ती के अनुसार भी अधिक-से-अधिक उसे कालिदास का केवल समकालीन होना चाहिए, क्योंकि उसका नाम भी विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिनाया जाता है। परन्तु जैसे अन्य रत्न परस्पर अथवा विक्रमादित्य के समकालीन नहीं, प्रायः बाद के हैं, वैसे ही यह भी बाद का हो सकता है। यह बात विशेषकर न भूलनी चाहिए कि 'घटकर्पर' का पूर्ववर्ती मेघदूत है! कवि घटकर्पर का संबन्ध 'नीतिसार' नामक २१ श्लोकों की एक और रचना से भी है, जो उसकी मानी जा सकती है।

इस कवि के बाद कालक्रम से अन्य स्थान मयूर का है, जो सातवीं सदी के राजा हर्षवर्धन का सभासद था। किंवदन्तियाँ मयूर को बाणभट्ट का साला या ससुर घोषित करती हैं। कहते हैं कि अपनी कन्या (बाण की पत्नी) का सौन्दर्य-वर्णन करने के कारण उसके द्वारा अभिशप्त हो वह कोढ़ी हो गया और जब उसने 'सूर्यशतक' लिखकर सूर्य की स्तुति की, तभी उस रोग से छट सका। कहानी इस प्रकार है। मयूर कोई रचना लेकर सुबह बाण के पास पहुँचा। बाण की स्त्री मान कर रही थी और पति उसे मना रहा था, साथ ही वह एक श्लोक भी रच रहा था। इस श्लोक के तीन चरण तो बाण ने रच लिये थे, पर चौथा नहीं बन रहा था। वह बार-बार अपने तीनों चरणों को दोहराता, फिर भी चौथा बन न पड़ता। मयूर आकर चुपचाप उसे थोड़ी देर तक तो सुनता रहा, फिर उसे चौथा चरण झट सूझ गया और उसने बाण को वह सुना दिया। इस पर उसकी कन्या या भगिनी ने उसे शाप दे दिया!

इसी प्रकार की कविता फिर जयदेव के समकालीन गोवर्धन की भी मिलती है। गोवर्धन की रचना की जयदेव ने बड़ी प्रशंसा की है। उसने आर्या छन्द में ७०० श्लोकों का एक अपूर्व संग्रह लिखा और इन श्लोकों को उसने वर्णानुक्रम से उसमें स्थान दिया। ये फुटकर कविताएँ हैं, जिनका प्रबंध की भाँति परस्पर संबन्ध नहीं है। इस संग्रह को 'आर्यासप्तशती' कहते हैं और इसका आदर्श पहली सदी के सातवाहन

राजा हाल की 'सत्तसई' (गाथा सप्तशती) था। गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती' से ही मसाला लेकर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल ने सत्रहवीं शताब्दी में अपनी 'सतसई' लिखी और इस हिन्दी सतसई के आधार पर फिर परमानन्द नामक एक संस्कृत-कवि की 'शृंगारसप्तशतिका' नाम की एक रचना हुई। गोवर्धन के उदयन और बलभद्र नामक दो भाइयों ने उसकी कृति को प्रकाशित किया, परन्तु पाठ की अशुद्धियाँ इस सप्तशती में काफी हैं।

सुभाषित

सुभाषितों में पाणिनि नामक एक कवि की भी कविता जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है। यद्यपि यह भारतीय अनुश्रुति है कि वैयाकरण पाणिनि कवि भी थे, परन्तु कुछ विद्वानों ने वैयाकरण पाणिनि और कवि पाणिनि को भिन्न माना है, विशेषकर इसलिए कि इन रचनाओं में व्याकरण की त्रुटियाँ हो गई हैं। परन्तु ये अशुद्धियाँ वास्तव में मूल पाठ में भी थीं, कि नहीं यह कहना कठिन है। सुभाषितों में उन्हीं कविताओं का संग्रह किया गया, जो लोगों के मुख में थीं और इस प्रकार उनमें त्रुटियाँ हुए बिना नहीं रह सकती थीं, चाहे मूल में वे रही हों या न रही हों। फिर जिस कवि ने पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व में लिखा हो, उसको रचनाओं में कालान्तर में पाठ बदल जाने से त्रुटियाँ होना संभव है। पर इन त्रुटियों के अतिरिक्त एक दूसरा कारण भी इन दोनों को दो भिन्न व्यक्ति मानने का हो सकता है। वह है भाषा का प्रश्न। पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व में होनेवाले वैयाकरण पाणिनि की भाषा अवश्य भिन्न रही होगी। उनके कई सौ वर्ष बाद लिखे कौटिलीय अर्थशास्त्र अथवा भरत के नाट्यदर्पण की भाषा भी स्पष्टतः पर्याप्त पुरानी जान पड़ती है, परन्तु सुभाषित के पाणिनि की भाषा निस्सन्देह काव्यकालीन है। उसमें और अन्य उत्तर अथवा मध्यकालीन कवियों में ध्वनि अथवा लक्षण में कोई अन्तर नहीं है। इससे यह मानना पड़ता है कि दोनों संभवतः दो व्यक्ति रहे होंगे।

सुभाषितों में अनेक श्लोक तो अज्ञातनामा कवियों के हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें विविध कवियों का बताया गया है। इस स्थिति में कौन श्लोक किस कवि का है, यह बताना असंभव है।

सुभाषितों में सातवीं सदी के बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति की रचनाएँ भी मिलती हैं। ये रचनाएँ अमरु और भर्तृहरि के संग्रहों में भी हैं। धर्मकीर्त्ति नास्तिक और प्रबल तार्किक था। बौद्ध दार्शनिकों में उसकी जोड़ के कम विद्वान् हुए हैं। कुछ कम कुतूहल का विषय नहीं कि उसने भी कविता की है। पर उनमें भी उसकी आलोचनात्मिका प्रवृत्ति का पुट है।

सुभाषितावलियों में गेय और नीतिपरक दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। ये स्वयं तो पर्याप्त पश्चात्कालीन हैं, पर इनमें संगृहीत रचनाएँ निस्संदेह पुराने कवियों की हैं। इनमें से प्राचीनतम संग्रह 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' है। इसको बारहवीं सदी की एक नैपाली हस्तलिपि से शुद्ध करके टामस ने छापा है। इस संग्रह के ५२५ श्लोकों में से किसी का भी कवि १००० ईस्वी के बाद का नहीं है। वटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने १२०५ ईस्वी में 'सदुक्तिकर्णामृत' अथवा 'सूक्तिकर्णामृत' नामक एक और संग्रह प्रस्तुत किया। ये पिता-पुत्र दोनों बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के समकालीन और सेवक थे। 'सदुक्तिकर्णामृत' में ४४६ कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं। ये कवि अधिकतर बंगाल के ही हैं। कवि गंगाधर भी इन्हीं में से एक है। इस संग्रह के पाँच कवि १०५०-११५० ई० के बीच के हैं।

काश्मीरी कवि जल्हण ने भी 'सुभाषितमुक्तावली' नामक एक संग्रह प्रस्तुत किया था, जो आज लघु और बृहत् दो आकारों में मिलता है। जल्हण लक्ष्मीदेव का पुत्र था और पिता-पुत्र दोनों बारी-बारी से कृष्ण के मंत्री हुए। कृष्ण ने १२४७ ईस्वी में राज्यारोहरण किया था। इस संग्रह में कवियों और उनकी रचनाओं के संबन्ध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है। इसका प्रणयन कुशल करों द्वारा हुआ है। पहले इसमें संपत्ति, उदारता और प्रारब्ध संबंधी संग्रह हैं, फिर विषाद, प्रणय, राजसेवादि संबंधी। इस प्रकार के सुभाषित संग्रहों में शार्ङ्गधर द्वारा प्रस्तुत 'शार्ङ्गधर-पद्धति' प्रचुर प्रसिद्ध है। शार्ङ्गधर दामोदर का पुत्र था और उसने यह संग्रह १३६३ ईस्वी में सम्पादित किया था। इस बृहद्-ग्रन्थ में १६३ प्रकरण और ४,६८९ श्लोक हैं। इनमें कुछ रचनाएँ स्वयं संग्रहकर्ता की भी हैं। पन्द्रहवीं सदी के वल्लभदेव ने 'शार्ङ्गधर-पद्धति' के ही आधार पर १०१ अध्यायों में लगभग ३५० कवियों की ३,५२७ रचनाओं का 'सुभाषितावलि' नामक एक संग्रह प्रस्तुत किया। इसमें भी संग्रहकर्ता ने अपने नाम से कुछ रचनाएँ दी हैं, परन्तु यह फिर भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे सचमुच उसी की हैं अथवा किसी और की उद्धृत की गई हैं। उसी शताब्दी में जोनराज के शिष्य श्रीवर ने भी एक 'सुभाषितावली' संगृहीत की। इसमें ३८० से अधिक कवि-कृतियों का संग्रह है। इसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भी अनेक कवियों द्वारा विरचित कृष्ण-संबंधी श्लोकों का अपनी 'पद्यावली' में संग्रह

किया । इनके अतिरिक्त और भी कई सुभाषित-संग्रह आज उपलब्ध हैं ।

धार्मिक स्तोत्र

इन्हीं दिनों देवी-देवताओं की आराधना-स्तुति में अनेक स्तोत्र भी रचे गए, जिनमें अनेक स्थलों पर प्रायः सुन्दर, सरल और सुरुचिपूर्ण कविता मिल जाती है । इस काल तक हिन्दुओं का देव-समूह बहुसंख्यक हो गया था और उनके गुणगान करनेवालों की भी संख्या परिमित न थी । शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा, चण्डी आदि पर अनेक स्तोत्र आज उपलब्ध हैं ।

बाण का 'चण्डीशतक' इन्हीं प्राचीन स्तोत्रों में से एक है । इसमें १०२ श्लोक हैं । ये अधिकतर स्रग्धरा छन्द में रचित हैं । बाण की कविता से भी सुन्दर उसके स्वजन मयूर की कविता है । उसका 'सूर्यशतक' निस्सन्देह उच्चकोटि का है । मयूर की कुछ रचनाएँ सुभाषितों में भी मिल जाती हैं। मयूर की काव्यशैली गौड़ी है । अनुप्रास और यमकों के प्रयोग में वह सिद्धहस्त है । उसमें उपमाएँ और अतिशयोक्तियाँ काफी हैं । व्यतिरेक, विरोध, दीपक और तुल्ययोगिता आदि भी उसमें काफी देखने को मिलते हैं ।

राजशेखर के अनुसार हर्ष की राजसभा में बाण और मयूर के अतिरिक्त मातंग-दिवाकर नामक कवि भी था, जिसे 'चाण्डाल' भी कहते थे । किस प्रकार उसका ऐसा नाम पड़ा, यह कहना कठिन है !

कुछ विद्वानों ने मातंग-दिवाकर को जैन ग्रन्थकार मानतुङ्ग माना है। मानतुङ्ग 'भक्तामरस्तोत्र' का रचयिता था । कहते हैं कि उसने सूर्य के प्रति इतना सुन्दर स्तोत्र लिखा कि वह कुष्ट रोग से मुक्त हो गया । तब ईर्ष्या के वशीभूत होकर बाण ने अपने हाथ और पाँव काट डाले और फिर 'चण्डीशतक' लिखकर उसने यह प्रदर्शित किया कि उसकी इष्टदेवी में सूर्य से अधिक सामर्थ्य है, क्योंकि जहाँ सूर्य केवल कुष्ट अच्छा कर सकता है, वहाँ चण्डी कटे हाथ-पाँव फिर से दे सकती है ! इस पर मानतुङ्ग जिनों की शक्ति प्रदर्शित करने के लिए अपने को ४२ शृंखलाओं से बँधवाकर एक घर में पड़ गया । फिर उसने अपनी कविता पढ़ी । पढ़ने के साथ ही वह छूटकर निकल आया ! इस किंवदन्ती पर विचार करना निरर्थक है । इससे इतना ही जान पड़ता है कि बाण और मानतुङ्ग समकालीन थे, यद्यपि कुछ प्रमाण इस बात के उपलब्ध हैं, जिनके बल पर मानतुङ्ग डेढ़-दो सौ वर्ष बाद भी रखा जा सकता है ।

मानतुङ्ग काव्य शैली का आचार्य है । उसकी कृति की नकल भी की गई है । सिद्धसेन दिवाकर नामक एक अन्य जैन पण्डित ने उसकी रचना के आधार पर ४२ श्लोकों का अपना 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' लिखा । जैनों के अन्य स्तोत्र भी हैं, परन्तु काव्य की दृष्टि से वे नितान्त नगण्य हैं। अपने समकालीन कवियों के साथ-ही-साथ स्वयं सम्राट् हर्षवर्धन ने भी शायद नाटकों के अतिरिक्त कुछ फुटकर कविता लिखी थी। हर्ष द्वारा कुछ बौद्ध सूक्तों का लिखा जाना तो प्रायः सिद्ध हो चुका है । कहा जाता है कि उसी ने 'अष्टामहाश्रीचैत्यस्तोत्र' और 'सुप्रभातस्तोत्र' लिखा था । परन्तु ये दोनों ही नैषधीयकार श्रीहर्ष के भी रचित कहे जाते हैं । पश्चात्कालीन बौद्ध संप्रदाय की इष्टदेवी तारा की आराधना में बाद के सर्वज्ञमित्र नामक एक बौद्ध कवि ने अपना 'स्रग्धरास्तोत्र' लिखा । सर्वज्ञमित्र के विषय में यह अनुश्रुति है कि पहले वह धनवान् था, परन्तु प्रव्रज्या लेकर दरिद्र हो गया था । राह में उसे एक ब्राह्मण मिला और उसने अपनी कन्या के विवाहार्थ उससे कुछ द्रव्य माँगा । परन्तु वह उसे कुछ दे न सका । तभी उसने सुना कि एक राजा को नरयज्ञ के लिए सौ मनुष्यों की आवश्यकता है । उसने अपने को भी अन्य अभागों के साथ बलि के अर्थ अर्पण कर दिया ! परन्तु उन अभागों के विलाप से वह इतना दुःखी हुआ कि उसने तारा के लिए एक स्तोत्र ही रच डाला । प्रसन्न होकर तारा ने सब के प्राण बचा दिए ।

स्तोत्र तो और भी कई हैं, परन्तु काव्य की दृष्टि से वे संकुचित और अशक्त हैं । हाँ काश्मीरी कवि रत्नाकर ने अपनी 'वक्रोक्ति पञ्चाशिका' के ५० श्लोकों में काव्य की अद्भुत क्षमता दिखाई है ।

आचार्य शंकर (शंकराचार्य) ने भी स्तोत्रों के रूप में अत्यन्त सरस कविता की है। धार्मिक धारा में बह जाने पर भी उनकी रचना में काव्यमाधुर्य का विशद प्रवाह है। आचार्य शंकर के नाम पर अनेक स्तोत्र उपलब्ध हैं । उनमें से आठ श्लोकों का 'भवान्यष्क', 'द्वादशपंजरिका स्तोत्र', तथा शिखरिणी छन्दों में 'आनन्दलहरी' आदि पर्याप्तरूपेण प्रसिद्ध हैं ।

अज्ञातनामा कवियों द्वारा दुर्गा की आराधना में रचित 'अम्बाष्टक' और 'पञ्चस्तवी' नाम के दो और प्रसिद्ध स्तोत्र हैं । कालिदास के नाम से भी कितने ही स्तोत्र विख्यात हैं। 'श्यामलादण्डक', 'सरस्वतीस्तोत्र', और 'मङ्गलाष्टक' इन्हीं में से तीन हैं । इनको पढ़ते ही तुरन्त पता चल जाता है कि ये रघुवंशकार महाकवि के नहीं हो सकते । यदि ये किसी

कालिदास के होंगे भी, तो निस्सदेह इनका रचयिता उस महाकवि से भिन्न ही होगा।

एक कवि मूक नाम का भी हो गया है, जो शंकर का समकालीन बताया जाता है, यद्यपि उसकी और शंकर की समसामयिकता में काफी सन्देह है। मूक के नाम पर ५०० श्लोकों की 'पञ्चस्तवी' नाम की एक रचना उपलब्ध है। अलंकार के महान् पण्डित आनन्दवर्धन (लगभग ८५० ई०) ने भी 'देवीशतक' में पर्याप्त अलंकृत काव्य लिखा है। इसमें १०० श्लोक हैं। परंतु वास्तव में आनन्दवर्धन को सुकवि नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार लगभग ९२५ ईस्वी में शिव की आराधना में बीस स्तोत्रों में लिखी उत्पलदेव की 'स्तोत्रावली' भी कोई उत्तम काव्यरचना नहीं है। दसवीं शती में ही वैष्णव कुलशेखर ने विष्णु की प्रशस्ति में अपनी 'मुकुन्दमाला' लिखी। 'मुकुन्दमाला' का एक श्लोक पागान के दूरवर्ती विदेश में तेरहवीं सदी के लेख में खुदा मिला है। कुलशेखर से पूर्व ग्यारहवीं सदी में ही लीलाशुक अथवा बिल्वमंगल ने कृष्ण की स्तुति में ११० श्लोकों में अपना 'कृष्णकर्णामृत' अथवा 'कृष्णलीलामृत' रचा। बारहवीं सदी के लक्ष्मणसेन और जयदेव के समकालीन कवियों ने भी कई धर्मपरक काव्य लिखे। चैतन्य के अनुयायी और परम वैष्णव रूपगोस्वामी की 'पद्यावली' का उल्लेख पहले हो ही चुका है। शायद स्वयं लक्ष्मणसेन ने भी इसी ढंग की कविता की थी। जयदेव ने अपने समकालीन कवि उमापतिधर और शरण की काफी प्रशंसा की है। शरण आशुकवि था। उसकी रचना शीघ्रकृत होती थी। जयदेव ने उसे 'दुरुहद्रुत' कहा है। लक्ष्मणसेन के रत्नों में से एक धोयी नामक कवि भी था। वह 'कविराज' कहलाता था और उसके अन्य कवि-नाम 'श्रुतधर' अथवा 'श्रुतिधर' थे।

शिव और सूर्य की प्रशस्ति में 'महिम्नःस्तव' नाम की रचना कवि पुष्पदन्त ने की है। इस रचना का उल्लेख जयंत भट्ट ने अपनी 'न्यायमंजरी' में किया है। अतः यह कवि नवीं सदी के बाद का नहीं हो सकता। एक धर्मपरक रचना ५० श्लोकों में 'चण्डीकुचपंचशिका' नाम की है। इसका रचयिता लक्ष्मण आचार्य नामक व्यक्ति था। शिवदास अथवा उत्प्रेक्षा-वल्लभ नामक एक अन्य कवि ने 'भिक्षाटन काव्य' लिखा, जिसमें इन्द्रलोक में यती के वेश में भिक्षा माँगते हुए शिव के रूप का अप्सराओं के ऊपर प्रभाव वर्णित है। संभवतः उत्प्रेक्षावल्लभ शिवदास का काव्यनाम था। सुभाषितों में भी कुछ धर्मपरक रचनाएँ मिल जाती हैं। भट्टासुनन्दन और गंगादत्त नामक ऐसे दो कवियों का निर्देश सुभाषितों में है। इन सुभाषित कवियों में एक विक्रमादित्य का भी उल्लेख है, पर वह कौन है यह कहना कठिन है। उसके नाम पर सुभाषितों में अनेक रचनाएँ मिलती हैं, जो सब एक कवि द्वारा निर्मित नहीं प्रतीत होतीं। वे अधिकतर धर्मपरक ही हैं।

नीतिपरक काव्य-रचनाएँ

नीतिपरक रचनाओं की संस्कृत में प्रचुरता है। इनमें राजनीति अथवा साधारण आचार-नीति से संबंध रखनेवाले अनेक नीतिग्रंथ रचे गए। आज भी इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनका उद्देश्य राजा को आदर्श नीति सिखाना अथवा व्यक्ति को उचितानुचित का बोध कराना है। पहले इनमें उल्लिखित श्लोकों का लौकिक और मौखिक प्रचार रहा होगा और बाद में उन्हें संग्रहों के रूप में एकत्र कर लिया गया होगा। इनमें से अनेकों की संज्ञा में चाणक्य की ध्वनि मिलती है। चन्द्रगुप्त मौर्य के कूटनीतिविशारद महामंत्री कौटिल्य राजनीति के अनुपम आचार्य माने जाते हैं। उनके विष्णुगुप्त, चाणक्यादि अनेक नाम मिलते हैं। प्रायः अपनी कृतियों को प्राचीनता और गौरव प्रदान करने के लिए लोगों ने अपनी-अपनी रचनाएँ चाणक्य के मत्थे ही मढ़ दीं, और फलतः आज चाणक्य के नाम पर अनेक नीतिग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ ये हैं—'चाणक्यनीति', 'चाणक्यराजनीति', 'वृद्ध-चाणक्य,' और 'लघुचाणक्य'। 'राजनीतिसमुच्चय' भी इसी प्रकार का एक नीतिपरक ग्रन्थ है। इस प्रकार के एक दूसरे ग्रन्थ में सत्रह अध्यायों में ३४० श्लोक संगृहीत हैं। हस्तलिपियों में प्राप्त एक संग्रह भोज-राज का मिलता है। यह शारदा लिपि में है और आठ अध्यायों एवं ५७६ श्लोकों में प्रस्तुत है। अन्य नीतिपरक काव्यों की भाँति इसमें भी धन, दारिद्रय, प्रारब्ध, उद्योगादि पर नीति कही गई है।

भोजराज के संग्रह के अतिरिक्त वररुचि, घटकर्पर और वेतालभट्ट के भी नीति-संग्रह प्रचलित हैं। इनके नाम हैं—'नीतिरत्न', 'नीतिसार', और 'नीतिप्रदीप'। इनके कुछ श्लोक तो निस्संदेह बड़े सुन्दर हैं। परन्तु इन रचनाओं का काल अज्ञात है। भर्तृहरि का 'नीतिशतक' इन नीतिग्रन्थों में सर्वोत्तम है, उसका हवाला पहले दिया ही जा चुका है। काश्मीरराज शङ्करवर्मा के राज्यकाल (८८३-९०२ ई०) में भल्लट नाम का एक कवि हुआ। राजा अत्यन्त लोभी था और कवियों को परितुष्ट नहीं करता था। भल्लट ने अपना जीवन गरीबी में बिताया। राजा ने उसे कुछ नहीं दिया। भल्लट ने भी सरल शैली में एक शतक लिखा है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

काश्मीरी कवि शिल्हण ने भी इस प्रकार की कुछ रचनाएँ रची हैं। उसकी रचनाएँ मौलिक नहीं हैं और प्रायः उनमें अन्य प्राचीन कवियों की ध्वनि सुन पड़ती है। उसने अधिकतर भर्तृहरि और कहीं-कहीं हर्ष के 'नागानन्द' को आधार बनाया है। उसने विशेषकर सन्यस्त जीवन पर लिखा है और उसमें हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों धर्मों की छाया मिलती है। उसका काल निश्चित नहीं है, परन्तु उसे १२०५ ईस्वी के पूर्व ही रखना होगा, क्योंकि उस वर्ष में रचित 'सदुक्तिकर्णामृत' में उसका हवाला मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् पिशल ने शिल्हण और बिल्हण को एक ही व्यक्ति माना है, परन्तु उनके इस निश्चय का कोई प्रमाण नहीं है। शिल्हण ने संभवतः बंगाल में अपनी रचना की थी।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त इस वर्ग के अन्तर्गत शम्भु नामक कवि का 'अन्योक्तिमुक्तालताशतक', कुसुमदेव का 'दृष्टान्तशतक', भाव नामक कवि का 'भावशतक', गुमानि का 'उपदेशशतक' आदि अन्य अनेक रचनाएँ मिलती हैं, पर स्थानाभाववश उनका सविस्तर विवरण यहाँ देने में हम असमर्थ हैं। इन नीतिपरक काव्यग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक अध्यात्मपरक काव्यग्रन्थों की भी बहुलता संस्कृत के पश्चात्कालीन वाङ्मय में है, जिनमें शान्तिदेव का 'बोधिचर्यावतार', शंकर की 'शतश्लोकी' एवं 'मोहमुद्गर', आदि कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्राकृत गेय काव्य

यद्यपि प्राकृत काव्य हमारे अध्ययन के बाहर है, तथापि यहाँ उसके प्रति भी संकेत कर देना उपादेय होगा। संस्कृत गेय काव्य के विकास के समानान्तर ही वैसी ही एक धारा प्राकृत गेय काव्य की भी बह चली थी, जो बाद में अपभ्रंश में लुप्त हो गई। इस वर्ग की एक महत्वपूर्ण रचना--सातवाहन राजा हाल की कृति 'सत्तसई'--प्रथम शती ईस्वी में ही प्रस्तुत हो गई थी। भारतीय 'सतसइयों', 'सप्तशतियों' और 'शतकों' की पूर्ववर्ती यही कृति है। जयदेव के समकालीन गोवर्धन ने इसी को अपनी 'सप्तशती' का आदर्श बनाया था। राजा हाल के काल को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस आंध्र सातवाहन कुल का वह राजा था, उस कुल के तिथिक्रम में ही अभी पर्याप्त भ्रम है। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हाल को लगभग प्रथम शती ईस्वी में रखा जा सकता है। 'सत्तसई' प्रेमपरक है और अत्यन्त सरस तथा सजीव काव्य है। इसमें प्रकृति का भी अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन है। ऋतु, वृक्ष, लता, वन, ग्रामादि पर अत्यन्त रोचक काव्य इस प्राकृत-कवि ने प्रस्तुत किया है। दृश्य अत्यन्त स्वाभाविक और उनका चित्रण पूरा सजीव है।

इसके अतिरिक्त प्राकृत में 'वज्जालग्ग' नामक एक और संग्रह प्राप्य है। इसका रचयिता श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ था। जयवल्लभ का काल अज्ञात है। उसने अपने संग्रह को मानव आचार, व्यवहार और प्रेम तीनों के दृष्टिकोण से संपादित किया है। हाल की रचना की भाँति ही उसकी कृति भी महाराष्ट्री प्राकृत में है और उस पर अपभ्रंश का भी कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृत-काव्यधारा का अंतिम दौर

इसमें संदेह नहीं कि बारहवीं शताब्दी के बाद का संस्कृत-साहित्य विषय और शैली दोनों ही के लिहाज से एक अनवरत ह्रास और उतार की दशा का खेदजनक चित्रपट है। श्रीहर्ष के बाद महाकाव्यों की परंपरा का अंत हो चुका था और जो कुछ सामने आ रहा था वह पुरानी कृतियों का भद्दा अनुकरण अथवा नट-बाजीगरों की कलाबाजियों का-सा स्वाँग प्रस्तुत करते दिखाई पड़ता था। फिर भी यह कहना अत्युक्तिपूर्ण होगा कि इस मरुस्थली में आकर संस्कृत-काव्यधारा नितांत मृतप्राय हो चुकी थी। कारण अपनी युगयात्रा के इस अंतिम दौर में भी उसने एक ऐसे प्रतिभावान् प्रकाण्ड मस्तिष्क की झाँकी हमें दरशाई, जिसका स्थान दिग्गजों में रखते हुए हमें कदापि हिचक नहीं होती। यह उद्भट व्यक्ति था 'गंगालहरी' नामक एक सरस काव्य और 'रसगंगाधर' नामक एक उच्चकोटि के प्रसिद्ध साहित्य-मीमांसा-ग्रंथ का रचयिता पंडितराज जगन्नाथ, जो मुगल बादशाह शाहजहाँ और औरंगजेब का समकालीन था। इस विलक्षण पंडित की प्रतिभा की एक झलक केवल इसी एक बात में हमें मिल जाती है कि अपने महान् रस-ग्रंथ 'रसगंगाधर' के लिए उसे जहाँ-जहाँ उदाहरणों की जरूरत हुई, वहाँ अन्य काव्यों से पंक्तियाँ उधृत करने के बजाय उसने तत्संबंधी नितान्त नवीन पद्य ही रच डाले! पंडितराज जगन्नाथ की स्वाभिमानवृत्ति और अक्खड़पन प्रसिद्ध है। उन्होंने भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित जैसे काशी के महापंडितों से लोहा लेकर अकेले ही हाथ उन सब के छक्के छुड़ा दिए थे। परन्तु वह केवल साहित्य के प्रांगण के एक योद्धा ही नहीं थे, प्रत्युत भावुक रसपिपासु भी थे। मुगल बादशाह शाहजहाँ की पौत्री (दाराशिकोह की कन्या) राजकुमारी 'लवंगी' के साथ उनकी प्रणय-गाथा तो एक लोकगाथा-सी बन चुकी है।

संस्कृत-वाङ्मय—(११)

गद्य-साहित्य

संस्कृत-वाङ्मय का अधिकांश काव्यबद्ध है। इसीलिए लगभग तीन सहस्राब्दियों के दीर्घ अंचल में पसरे हुए इसके विशद साहित्य-भाण्डार का सिंहावलोकन करते समय विगत प्रकरणों में अधिकतर काव्य ही की चर्चा हो पाई है—उक्त चर्चा में अनेक गद्य-रचनाओं और उनके महान् लेखकों का पर्यालोचन नहीं हो पाया है। आइए, अब इस अंतिम प्रकरण में तत्सम्बन्धी विवेचन करके इस लेखमाला को समाप्त करें।

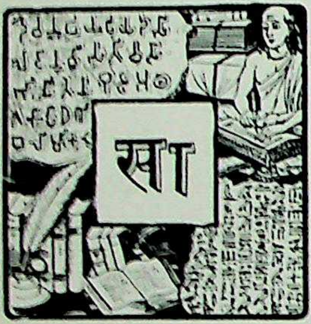

साहित्य में गद्य का प्रयोग प्रायः देर से होता है। पद्य में कुछ ऐसी स्मृति-सुलभ एवं संगीतमूलक विशेषताएं होती हैं, जिनके कारण वह साहित्य में पद्य से पहले प्रयोग में आकर सम्मान पा जाता है। संस्कृत का प्राचीनतम गद्य-साहित्य वेदों के अतिरिक्त निगमों और आगमों का माना जाता है।

आरंभिक गद्य

वैदिक वाङ्मय में गद्य सब से पहले कृष्ण यजुर्वेद संहिता में मिलता है और फिर उसका विकास ब्राह्मण-ग्रंथों में होता है। प्राचीनता के क्रम की दृष्टि से पांचविंश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, जैमिनीय और कौशीतकि ब्राह्मण पहले आते हैं, फिर शतपथ, गोपथ आदि का स्थान है।

प्रायः सभी ब्राह्मण-ग्रंथ गद्य में हैं। उनका विषय भी एक-सा ही है। सभी कर्मकाण्ड की विधि मंत्रों के, अर्थ तथा अध्यात्म का विवेचन करते हैं। ऋग्वेद में पाई जानेवाली पुरुरवा और उर्वशी की वह कहानी, जिसके आधार पर कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक की रचना की है, शतपथ ब्राह्मण में विकसित रूप में गद्य में मिलती है।

ब्राह्मण-ग्रंथों में जब गद्य का अधिक विस्तार होने लगा, तो चिंतनशील लोगों को सूत्रों के रूप में बात को संक्षेप में कहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रकार गद्य में सूत्र-साहित्य का प्रसार हुआ। इनका परिचय पहले दिया जा चुका है।

सूत्रों के साथ-साथ आरण्यक-साहित्य का भी विकास हुआ, जिनमें प्राचीन आर्यों की आध्यात्मिक धारा उपनिषदों के रूप में विकसित हुई। उपनिषदों में प्रतीक-रूपक अधिक प्रयुक्त हुए हैं। पद्य और गद्य दोनों प्रकार की भाषा-शैलियां उपनिषदों में मिलती हैं। उनका गद्य अलंकारों—विशेषकर प्रतीक-रूपकों, कथा-रूपकों, प्रश्नोत्तरों, दृष्टान्तों, उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं तथा उदाहरणों—का प्रयोग करते हुए भी शैली की दृष्टि से स्वच्छंद और सरल है। वे कृत्रिमता से मुक्त हैं। इस युग के गद्य के निर्माण में बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौशीतकि, मैत्रायणी, मांडूक्य आदि उपनिषदों का विशेष हाथ रहा। मैत्रायणी और मांडूक्य का गद्य साहित्यिक गद्य है। अन्य उपनिषदों का गद्य ब्राह्मण-ग्रंथों के गद्य से मेल खाता है।

अरण्यों में जिस समय आरण्यक-उपनिषदों का विकास हो रहा था, उसी समय धर्मशास्त्रों, इतिहास-पुराणों तथा अन्य ग्रंथों का भी प्रणयन चल रहा था। उधर एक ओर रामायण, महाभारत जैसे महाग्रंथ संस्कृत-साहित्य को सम्पन्न कर रहे थे, इधर पालि आदि प्राकृतों में जैन तथा बौद्ध साहित्य भी बनता चला जा रहा था।

ऐतिहासिक काल का आरंभ होने पर कात्यायन या वररुचि (वैय्याकरण), विष्णुगुप्त कौटिल्य (अर्थशास्त्र-प्रणेता), भास (नाटककार), तथा वात्स्यायन (कामसूत्र-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रचयिता) आदि के दर्शन हमें होते हैं, जिनकी रचनाओं में प्रौढ़ संस्कृत गद्य का साक्षात्कार हम करते हैं। भास के नाटकों में पाया जानेवाला गद्य वाल्मीकीय रामायण की संस्कृत की तरह सरल, सुबोध और सरस है।

प्रशस्ति-लेख

संस्कृत-गद्य के विकास का इतिहास खोजते समय हम अपने आपको पहली बार दृढ़ भित्ति पर गिरनार के रुद्रदामन् के १५०-१७० ई० के बीच उत्कीर्ण शिलालेख में ही पाते हैं। वैदर्भी शैली में लिखित इस प्रशस्ति में सुदर्शन झील का इतिहास है। इसमें प्राकृत के प्रभाव सहित महाकाव्यों के युग की भाषा के प्रयोगों की स्वच्छन्दता विद्यमान है। इसके वर्णानुप्रास, उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि के प्रयोग इस बात को बतलाते हैं कि इस समय तक आते-आते साहित्यिक गद्य कितना आगे बढ़ चुका था। उपर्युक्त गद्य-प्रशस्ति में क्रियाओं की कमी और सामासिक शब्दों की बहुलता दर्शनीय है।

आगे की शताब्दियों में गद्य-शैली के लिए समासबहुलता एक आवश्यक गुण माना जाता रहा। इसी कारण हरिषेण-रचित समुद्रगुप्त की प्रसिद्ध प्रयाग-प्रशस्ति में पद्य में सरल भाषा और गद्य में उसके विपरीत समासबहुला भाषा का प्रयोग हुआ है। रुद्रदामन् की प्रशस्ति में जहाँ चार-पाँच वाक्य हैं, वहाँ प्रयाग-प्रशस्ति पद्य-गद्य-मिश्रित एक ही लंबा वाक्य है। शैली और कलात्मकता की दृष्टि से प्रयाग-प्रशस्ति, जो कि रुद्रदामन् की गिरनार-प्रशस्ति के लगभग दो सौ वर्ष बाद (३५० ई० में) उत्कीर्ण की गई थी, कहीं अधिक मँजी हुई और विकसित है।

वर्णानुप्रास, श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, आदि के अच्छे उदाहरण इस प्रशस्ति में हैं। शब्दों के चयन और गुंफन में हरिषेण ने विशेष कौशल दिखलाया है। गद्य-भाग में लम्बी सामासिक पदावली के बीच में निश्चित अवधि के बाद छोटे-छोटे वाक्यांश गूँथ दिए गए हैं, जिससे अर्थ समझने में कठिनाई नहीं रह जाती। लम्बे समासों में शब्दावली इस प्रकार चुनी गई कि भाषा में प्रवाह के साथ लय भी आ जाती है। इस बात का भी ध्यान रक्खा गया है कि आवश्यकता, परिस्थिति और भाव के अनुकूल लय बदल जाए। संक्षेप में हरिषेण का गद्य शास्त्रीय तथा आलंकारिकों का साहित्यिक गद्य है।

पहली शताब्दी से आठवीं शताब्दी के आरंभ तक का समय भारत में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के बहुमुखी विकास को लेकर आता है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति के स्मृतिग्रंथ; भरतमुनि के नाट्यशास्त्र; अश्वघोष, कालिदास, सुबन्धु, दंडी, बाण, भवभूति, आदि की साहित्यिक कृतियों तथा शंकराचार्य आदि के दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त पुराणों, ज्योतिष-गणित शास्त्रों, एवं ललित कलाओं विषयक विशद साहित्य इस युग में निर्मित होता है। दक्षिण और उत्तर दोनों ही के विद्याकेन्द्रों में स्वतंत्र रूप से तथा राजाओं की छत्रछाया में लेखक इन दिनों विविध प्रकार के साहित्य के निर्माण में लगे दिखाई देते हैं। कथा, उपन्यास, नाटक, नीति, धर्म और दर्शन के मौलिक ग्रंथ एवं टीकाएँ, भाष्य आदि पद्य तथा गद्य दोनों में प्रस्तुत होते हैं। इस युग के गद्य के महान् कलाकारों में दंडी, सुबंधु, बाण आदि के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं। कालिदास, विशाखदत्त और भवभूति के नाटकों में भी उत्तम गद्य के दर्शन होते हैं।

आख्यायिका और कथा-ग्रंथ

गद्य में आख्यायिका-साहित्य का आरम्भ वैदिक तथा उपनिषदीय काल से ही हो चुका था। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'सुमनोत्तरा' और 'वासवदत्ता' नामक आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। अन्य प्रसंगों से विदित होता है कि वररुचि या कात्यायन ने भी 'चारुमती' नामक एक आख्यायिका लिखी थी। उधर ईस्वी सन् के आरंभ से पहले ही गुणाढ्य पैशाची प्राकृत में अपनी 'वृहत्कथा' प्रस्तुत कर चुके थे। उसी समय बौद्ध लोग पालि भाषा में अपनी 'जातक-कथाएँ' रच रहे थे और 'पंचतंत्र' के आदि लेखक भी अपनी कथाएँ संस्कृत भाषा में लिख रहे थे। पहली शताब्दी ईस्वी में हाल की राजसभा का कवि श्रीपालित 'तरंगावती' नामक आख्यायिक लिख चुका था। उसके पश्चात् रामिल्ल-सोमिल्ल की 'शूद्रक-कथा' और हरिचन्द्रभद्र की 'मनोवती' तथा 'शटकर्णीहरण' आख्यायिकाओं की रचना हुई। बाण ने हरिचन्द्रभद्र का उल्लेख किया है। 'पंचतंत्र' का दूसरा संस्करण चौथी शताब्दी ईस्वी के आसपास प्रस्तुत हुआ था। पाँचवी, छठी और सातवी शताब्दी ईस्वी में तो पंचतंत्र तथा जातक-कथाएँ चीनी, अरबी, पेह्लवी आदि भाषाओं तक में अनूदित हो चुकी थी। इसी काल में अनेक पौराणिक कथाएँ भी लिखी गई थीं। इन सब कथाओं द्वारा सशक्त गद्य का विकास हुआ था।

सुबन्धु, दण्डी और बाणभट्ट

छठी, सातवीं और आठवीं शताब्दियों में गद्य-कथाओं एवं आख्यायिकाओं के दिग्गज लेखक दंडी, सुबन्धु और बाण-

सामने आते हैं। दंडी और सुबन्धु के समय के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ लोग सुबन्धु को दंडी से पहले (५५०-६०६ ई०) का मानते हैं। दूसरे विद्वान् दंडी को ६३५-७०० ई० के बीच का और सुबन्धु को ६४७ ई० के बाद का तथा ७०० ई० से पहले का मानते हैं। बाण हर्ष के समकालीन थे। हर्ष के समय में चीनी यात्री ह्वानच्वाङ् भारत में ६२९-६५५ ई० तक रहा था। अतः बाण के 'हर्षचरित' का रचनाकाल विद्वानों ने ६०७ ई० के आसपास और 'कादम्बरी' का उसके बाद का माना है।

सुबन्धु :: 'वासवदत्ता'

सुबन्धु की गद्यरचना 'वासवदत्ता' है, जिसे कुछ विद्वान् आख्यायिका के अंतर्गत और कुछ कथा के अंतर्गत लेते हैं। तथ्य यह है कि उसमें कथा की भाँति कल्पना को भी खुलकर खेलने का अवसर मिला है और आख्यायिका की तरह इतिहास तथा रूढ़ि का संगठन भी उसमें है। यह रचना कल्पना-प्रसूत परिस्थितियों के चित्रण और अलंकारों के विधान में मुक्त विचरण करती है और रूढ़ि तथा इतिहासकथा के सूत्र को बटने में भी वह पीछे नहीं रहती। वासवदत्ता की कथा इस प्रकार है:——

राजा चिन्तामणि का पुत्र कंदर्पकेतु एक दिन स्वप्न में एक नवयौवना सुन्दरी को देखता है। उसके लिए वह जागृत अवस्था में भी विकल हो जाता है। उसकी खोज में वह अपने सखा मकरंद सहित चल पड़ता है। घूमते-घूमते वह विंध्याचल में जा पहुँचता है। वहाँ एक रात वह देखता है कि एक मैना अपने तोते को विलम्ब से घर आने के लिए खरी-खोटी सुना रही है। इस पर तोता देर से आने का कारण बताता है और एक कथा सुनाने लगता है। इस कथा से कंदर्पकेतु को स्वप्न-सुन्दरी का कुछ पता मिलता है। वह सुनता है कि कुसुमपुर के राजा शृंगारशेखर की इकलौती बेटी वासवदत्ता ने स्वप्न में कंदर्पकेतु को देखा। जगने पर उसके लिए वह विकल हो गई और उसने अपनी सखी तमालिका को उसको खोजने के लिए भेज दिया। कंदर्पकेतु कुसुमपुर पहुँचता है। एक ही दिन पूर्व विद्याधर राजकुमार पुष्पकेतु के साथ वासवदत्ता के विवाह की बात तय हुई थी। कंदर्पकेतु वासवदत्ता से मिलता है। दोनों ही जादू के घोड़े पर बैठकर विंध्याचल पहुँच जाते हैं। दूसरे दिन सुबह कंदर्पकेतु वासवदत्ता को गायब पाता है तथा आत्मघात करने के लिए तैयार हो जाता है। इसी समय आकाशवाणी होती है कि 'धैर्य धरो वह तुम्हें मिलेगी।' कंदर्पकेतु रुक जाता है। कुछ महीने बाद उसने पत्थर से बनी वासवदत्ता को पाया। यह पाषाणमूर्ति कंदर्पकेतु का स्पर्श पाते ही फिर चेतन हो उठती है। उसके पाषाण बनने का रहस्य पूछने पर वासवदत्ता बतलाती है कि एक मुनि के शाप से वह पत्थर हो गई थी। वह बतलाती है कि उसकी प्राप्ति के लिए दो सेनाओं में युद्ध चल रहा था उसी समय वह उधर जा पहुँची, जहाँ जाने की स्त्रियों के लिये मनाही थी। फलतः वह शापग्रस्त हो पाषाण में बदल गई। यह कथा ज्ञात होने पर कंदर्पकेतु वासवदत्ता को लेकर अपनी नगरी में लौट आता है और वहाँ उनके जीवन के शेष दिन सुख से बीतते हैं।

इस कथा पर वाल्मीकि, कालिदास और पंचतंत्र का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुबंधु अपने युग के विश्वासों को ही इस कथा में प्रकट कर रहे थे।

यह कथा छोटी है, किंतु उसे वातावरण के चित्रों और सामासिक अलंकारों की रंगीन लम्बी शब्दावली से भरा गया है। इसीलिए सुबंधु की शैली गौड़ीय मानी जाती है। श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या, प्रौढ़ोक्ति, मालादीपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अनुप्रास, यमक आदि सुबंधु के प्रिय अलंकार हैं।

वासवदत्ता में सूर्योदय, सूर्यास्त, पतझड़, वसन्त, आदि का वर्णन तथा लोगों के भाव-व्यापारों का चित्रण समास-बहुला भाषा में होते हुए भी अति सजीव, स्वाभाविक और सुन्दर है। वासवदत्ता के आरंभ में नौ पद्य हैं, फिर गद्यकथा आरंभ होती है। बीच-बीच में भी पद्य आते है।

बाणभट्ट :: 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी'

सुबंधु ही की भाँति बाण भी परिश्रम-प्रसूत चमत्कार-वादी लेखक है। संस्कृत-साहित्य में बाण को विशेष सम्मान प्राप्त है। उनके परवर्ती कवियों ने बाण की रचनाओं की जी भरकर प्रशंसा की है। इसका कारण यह है कि बाण में सूक्ष्म निरीक्षण, काव्य-प्रतिभा, भावप्रवणता, अभिव्यक्ति का कौशल और पांडित्य सब एक साथ ही विद्यमान है। बाण हर्षवर्द्धन के दरबारी कवि थे। उनकी साहित्यक कीर्ति 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' नामक रचनाओं पर अवलंबित है। 'हर्षचरित' का ऐतिहासिक महत्व भी है। विद्वानों ने उसका खूब उपयोग किया है। 'कादम्बरी' अपनी कथा और असाधारण गद्य के लिए प्रसिद्ध है।

बाण की रचनाओं में परिस्थिति के अनुकूल भाषा को बदलने का असाधारण कौशल दिखाई देता है। 'हर्षचरित' और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'कादम्बरी' इस भेद को अत्यंत स्पष्ट कर देते हैं। 'कादम्बरी' को आदर्श मानकर बाद की शताब्दियों में सोमदेव (११ वीं सदी) ने 'कथासरित्सागर', धनपाल (१० वीं शताब्दी) ने 'तिलक-मंजरी' और वादीभसिंह (ओडयदेव जैन) ने 'गद्य-चिन्तामणि' नामक ग्रंथ लिखे। बाण की 'कादम्बरी' की कथा संक्षेप में यह है—

राजा शूद्रक की सभा में एक दिन एक चांडाल-कन्या एक तोते को लेकर आती है। तोता अपनी दुःखभरी कथा सुनाता है—"मेरी माता की मृत्यु मेरे जन्मते ही हो गई थी। मेरे पिता को व्याध पकड़ ले गए। जाबालि मुनि मुझे अचेत पड़ा देख अपने आश्रम में ले गए। वहाँ उन्होंने अपने शिष्यों को मेरे पूर्वजन्म की कथा यों सुनाई—'उज्जैन में पूर्वकाल में तारातीड़ नामक एक धर्मात्मा राजा था। राजा की रानी विलासवती अत्यन्त रूपवती थी और राजा का मंत्री शुकनास अत्यन्त बुद्धिमान् था। समय बीतने पर राजा के चन्द्रापीड़ नामक पुत्र हुआ। उन्हीं दिनों मंत्री का पुत्र वैशम्पायन भी जन्मा। समवयस्क राजपुत्र और मंत्रीपुत्र में घनी मैत्री हो गई। १६ वर्ष तक दोनों ने साथ-साथ ही सब विद्याओं की शिक्षा पाई। शिक्षा की समाप्ति पर शुकनास ने राजकुमार को राज्योपदेश दिया। साथ ही पत्रलेखा नामक एक अनुचरी और अद्भुत इंद्रायुद्ध घोड़ा भी उसे दिया गया। राजकुमार दिग्विजय के लिए चल दिया। तीन वर्ष के पश्चात् वह किन्नरवन में पहुँचा, जहाँ उसने सुन्दरी महाश्वेता को तपश्चर्या में संलग्न देखा। महाश्वेता ने राजकुमार को अपनी कथा बताई। पुंडरीक उसका प्रेमी था, किन्तु प्राप्ति से पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। देववाणी ने कहा कि वह फिर मिलेगा। उसने अपनी प्रिय सखी कादम्बरी का भी परिचय दिया। राजकुमार तथा कादम्बरी एक दूसरे पर अनुरक्त हो गए। इसी बीच राजकुमार को राजा का बुलावा मिला। राजकुमार पत्रलेखा को पीछे छोड़कर हृदय में व्यथा भरे घर लौट आया। वैशम्पायन भी पत्रलेखा के साथ ही रह गया था। पीछे पत्रलेखा ने आकर राजकुमार को कादम्बरी की विरहविह्वल दशा बताई। राजकुमार अब कादम्बरी की सुधि लेने लौटता है। वहाँ वह पहले वैशम्पायन को ढूँढ़ता है, पर उसे नहीं पाता। महाश्वेता उसे बतलाती है कि किसी ब्राह्मण-पुत्र ने प्रणय का प्रयास किया, जो उसने (महाश्वेता) ने अस्वीकार किया। अधिक आग्रह करने पर उसने उसे (ब्राह्मण-पुत्र को) शाप दे दिया कि तुम तोता बनो। यह सुनकर चन्द्रापीड़ मूर्च्छित हो गया। महाश्वेता उसे देखकर खिन्न हो गई। इसी समय आकाशवाणी होती है कि निराश न हो, तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। इन्द्रायुध ने सरोवर में प्रवेश किया, तो वहाँ से पुंडरीक का सुहृद कपिंजल प्रकट हुआ। उसने बतलाया कि चन्द्रापीड़ चन्द्रमा का अवतार है, वैशम्पायन पुंडरीक है और इंद्रायुध कपिंजल है।'

इस कहानी को जारी रखते हुए तोते ने कहा कि मुनि से इस कथा को सुनकर मैंने अपने आपको पहचान लिया। मैं समझ गया कि मैं पुंडरीक और वैशम्पायन दोनों हूँ। अब मैं चन्द्रापीड़ को ढूँढ़ने के लिए चल दिया। पर रास्ते में चांडाल-कन्या ने मुझे पकड़ लिया और अब मैं यहाँ हूँ।"

आगे की कहानी बताती है कि चांडाल-कन्या पुंडरीक की माता है और शूद्रक चन्द्रापीड़ की आत्मा है। जब शाप की अवधि समाप्त होती है, तो शूद्रक का शरीरान्त हो जाता है। उसी समय कादम्बरी की गोद में पड़ा हुआ चन्द्रापीड़ पुनः जीवित हो उठता है, मानो गहरी नींद से वह जग पड़ा हो! जल्दी ही पुंडरीक भी वहाँ पहुँच जाता है। युग्म प्रणयी विवाह के बंधन में बँध जाते हैं और आनन्द में उनके दिन बीतते हैं।

इस रोमांचक प्रेम-कथा को संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों ने गद्य में प्रस्तुत रसपूर्ण काव्य माना है। शृंगार के साथ अद्भुत और करुण रस भी इसमें घुल-मिलकर एक हो गए हैं।

दंडी :: 'अवंतिसुंदरी' और 'दशकुमारचरित्र'

दंडी का समय बड़ा वाद-विवाद का विषय रहा है। लोग उन्हें छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक खींचते हैं। किन्तु संभावना यही है कि दंडी बाण के बाद हुए। दंडी पर कादम्बरी का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने बाण की 'कादम्बरी' का उल्लेख भी किया है।

दंडी आख्यान-रचयिता भी थे और साहित्य-शास्त्री भी। उनका अलंकारशास्त्र-विषयक ग्रंथ 'काव्यादर्श' प्रसिद्ध है। उनकी प्रख्यात गद्यकहानी 'अवंतिसुन्दरी' नामक कथा है। यद्यपि गद्य-लेखक के रूप में दण्डी की विशेष ख्याति 'दशकुमारचरित' पर स्थापित है, लेकिन अनुसंधान के फलस्वरूप अब यह निश्चित हो गया है कि अपने प्रस्तुत रूप में 'दशकुमारचरित' दंडी की रचना नहीं है। उसका मध्य भाग ही ऐसा है, जिनको दंडी की 'अवंतिसुन्दरी' कथा से लेकर किन्हीं व्यक्तियों ने पीछे 'दशकुमारचरित' की रचना की है। 'दशकुमारचरित' की मुख्य कथा इस प्रकार है :—

मगध के राजा राजहंस के तीन मंत्री थे। उनके पुत्र भी राजा के मंत्री बने। मालवा के राजा मानसार से उसका

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

युद्ध छिड़ता है। राजहंस अपनी गर्भवती रानी को विंध्याचल के किसी आश्रम में भेज देता है। युद्ध में राजा घायल होता है। उसके घोड़े खाली रथ को विंध्याचल की ओर ले दौड़ते हैं। रानी उसके घायल होने की खबर सुन उसे मरा हुआ समझ लेती है और एक वृक्ष पर रस्सी लगा आत्मघात करने के लिए उद्यत होती है। इसी समय राजहंस पहुँच जाता है। रानी के राजवाहन नामक पुत्र होता है। उसी समय मंत्रियों के भी प्रमति, मित्रगुप्त, मंत्रगुप्त और विश्रुत नाम के पुत्र होते हैं। ये बच्चे राजा के पास पहुँचाए जाते हैं। वयस्क हो जाने पर राजा उन्हें दिग्विजय के लिए भेजता है। उधर एक ब्राह्मण मातंग राजा को फुसलाकर एक गुफा में प्रवेश कराकर पाताललोक तक अपने साथ ले जाता है। जब वे वहाँ पहुँचे, तो उस देश की रानी ने अपने राज्य-सहित अपने को मातंग को अर्पित कर दिया। मातंग वहाँ का राजा हो गया। इस बीच सभी कुमार उज्जैन में फिर मिलने की बात करके अलग-अलग दिशाओं में चले गए। राजवाहन उज्जैन की ओर गया और वहाँ उसने राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया। कुमार अपनी-अपनी दिशाओं से लौटकर अपने अनुभव बताते हैं और अंत में मालवा को जीतकर पुष्पपुर पहुँचते तथा राजा रानी की सेवा में उपस्थित होते हैं। राजा उनके जीते हुए देशों को उन्हीं को दे देता है। राजवाहन पुष्पपुर और उज्जैन का राजा बनता है। राजवाहन के संरक्षण में अन्य कुमार भी अपने-अपने राज्यों का भली-भाँति संचालन करते हैं।

'दशकुमारचरित' की कथा सहसा आरम्भ होती है और सहसा समाप्त होती है। यह ग्रंथ चित्र-विचित्र लोकों के विवरणों का भाण्डार है।

'अवन्तिसुन्दरी' की कथा में दंडी ने अपनी जीवनी के विषय में जो कुछ बातें बताई हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह वीरदत्त के पुत्र थे और गौरी उनकी माता थी। वह काँची के रहनेवाले थे। माता-पिता की मृत्यु के बाद बाण की भाँति वह भी कुछ समय तक निराश्रय घूमते रहे। अंत में पल्लव राजा नरसिंहवर्मन् (६३०-६६० ई०) की सभा में उन्हें आश्रय मिला।

दंडी ने अपने 'काव्यादर्श में अच्छे गद्य के लिए कुछ आवश्यक गुण बतलाए हैं। उन्होंने कहा कि गद्य वही जीवित रहता है, जिसमें ओज हो और ओज समासबहुला भाषा के प्रयोग से आता है। किन्तु स्वयं दंडी का गद्य कहीं-कहीं इस कसौटी का अतिक्रमण भी कर देता है। वह अपने पदलालित्य के कारण ही जीवित रह सके हैं और लोकप्रिय बन पाए हैं। दंडी की शैली में पदलालित्य उपयुक्त शब्दों के चुनाव और उनके कौशलपूर्ण गुँफन के कारण है। इसी से वह प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ है।

साहित्य-शास्त्र का अनुसरण करते हुए जब कथा-आख्यायिकाकार इस प्रकार का गद्य लिख रहे थे, तभी अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्य में स्थान पाने के लिए सिर उठाने लगीं थीं। उधर नाटककार भी अपने नाटकों में गद्य का प्रयोग अब भी पूर्ववत् कर ही रहे थे। 'मुद्राराक्षस' तथा 'देवीचन्द्रगुप्त' के रचयिता विशाखदत्त (लगभग ६७५ ई०) ने इन्हीं दिनों उच्चकोटि का गद्य लिखा था।

उत्तरकालीन गद्य

जिस दक्षिण देश ने सातवीं-आठवीं शताब्दी में साहित्य के आचार्य दंडी को उत्पन्न किया, उसी ने इन्हीं दिनों अद्वैत वेदान्त के सूर्य श्री शंकराचार्य को भी उपजाया। शंकराचार्य ने संस्कृत-गद्य में ब्रह्मसूत्रों तथा उपनिषदों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की। उनका गद्य सरल, स्पष्ट और सुबोध है। शंकराचार्य के बाद चौदहवीं शताब्दी तक वेदान्तभाष्य लिखनेवाले संस्कृत-गद्य के अनेक आचार्य दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए। निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ आदि सब आचार्य दक्षिण के ही थे, जिन्होंने संस्कृत-गद्य को पर्याप्त संपन्न किया है।

अन्तिम दिनों में काश्मीर संस्कृत-साहित्य का केन्द्र बन गया। इतिहास-लेखक, कथा-कहानीकार तथा साहित्य-शास्त्र के आचार्य सभी वहाँ इन दिनों उपजे। 'नलचंपू' के लेखक त्रिविक्रम भट्ट, 'यशतिलक चंपू' तथा 'कथासारित्सागर' के लेखक सोमदेव, 'वृहत्कथामंजरी' के रचयिता क्षेमेन्द्र, 'बेतालपंचविंशति' के लेखक जंगलदास एवं आनन्द वर्द्धन, मम्मट, राजशेखर और शिवदास आदि के नाम इस सम्बन्ध में गिनाने योग्य है। मम्मट का प्रख्यात ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' है, जो उस महान् साहित्य-शास्त्री की प्रकाण्ड प्रतिभा का स्मारक है।

अन्य महान् गद्य-लेखकों में कालिदास के ग्रंथों के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ एवं 'हितोपदेश' के रचयिता विष्णुशर्मा के नाम भी उल्लेखनीय हैं। विष्णुशर्मा कृत 'हितोपदेश' से भला संस्कृत का कौन विद्यार्थी परिचित न होगा? उनका समय १६ वीं शताब्दी ई० माना जाता है। राजनीति सिखानेवाला यह ग्रंथ जातककथा, पंचतंत्र आदि की पशु-पक्षियों की प्राचीन कथा-उपकथाओं के सहारे गद्य-पद्यमय संस्कृत में निर्मित किया गया है।

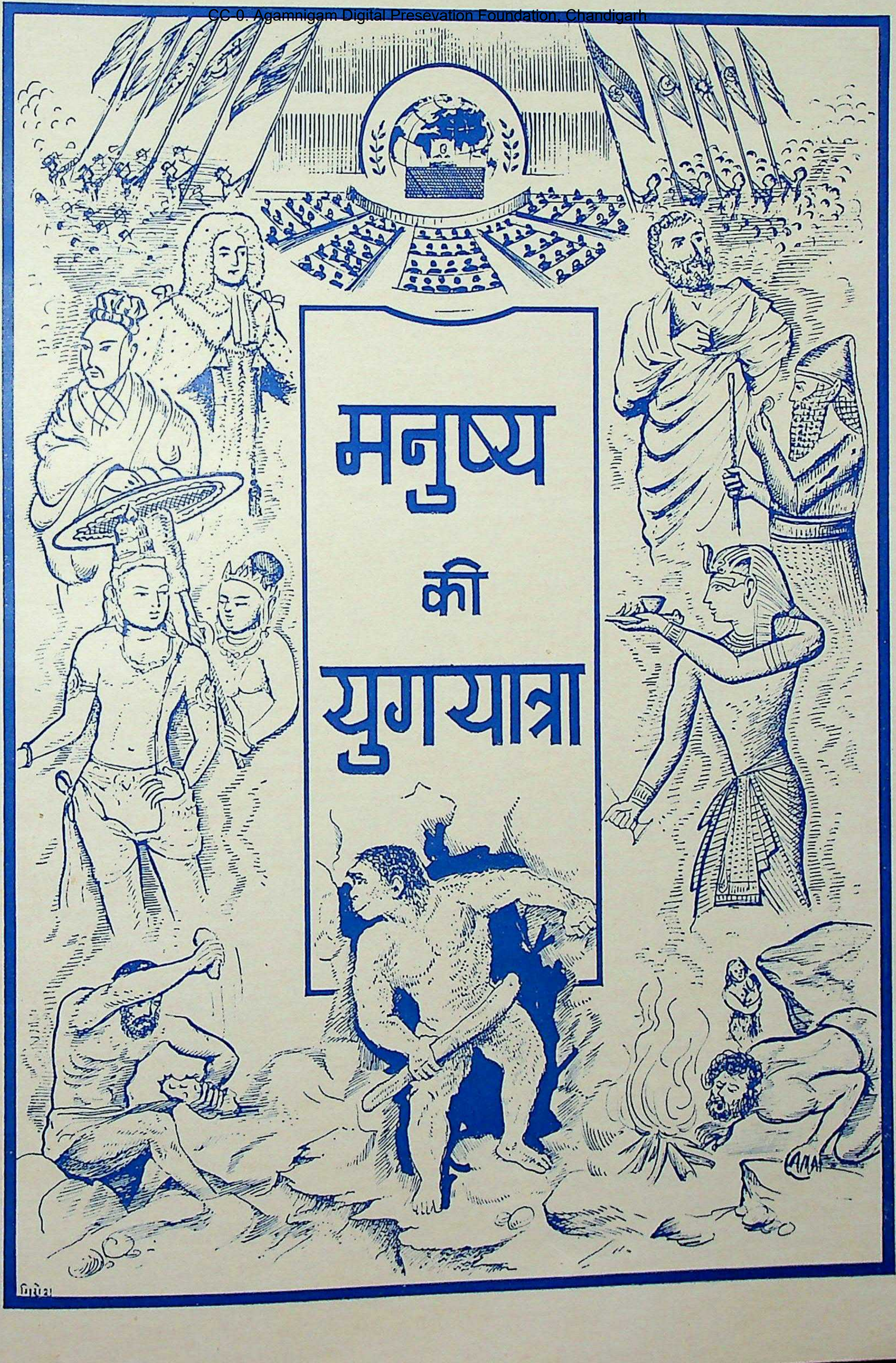

मनुष्य की युगयात्रा

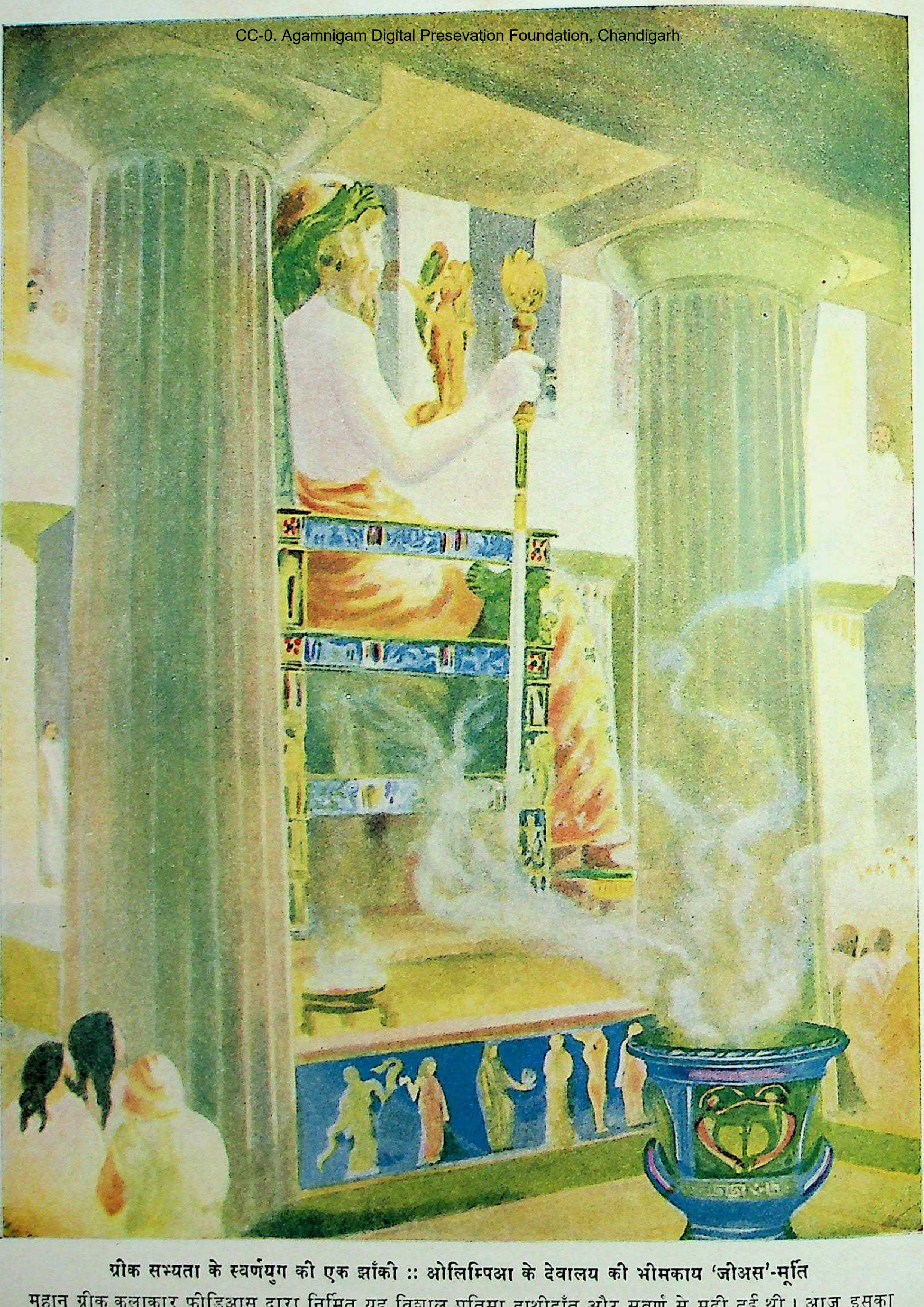

ग्रीक सभ्यता के स्वर्णयुग की एक झाँकी :: ओलिम्पिआ के देवालय की भीमकाय 'जीअस'-मूर्ति

महान् ग्रीक कलाकार फीडिआस द्वारा निर्मित यह विशाल प्रतिमा हाथीदाँत और सुवर्ण से मढ़ी हुई थी। आज इसका नामोनिशान भी बाकी नहीं है; केवल प्राचीन सिक्कों और वर्णन के आधार पर इसका एक काल्पनिक नमूना बनाया गया है। उसी की यह प्रतिलिपि है। (प्रतिलिपिकार––श्री० पन्नालाल)

सभ्यताओं का उदय—(६)

असीरिया की सभ्यता

जिस प्रकार सुमेर का बेबिलोनिया से घनिष्ट सांस्कृतिक-ऐतिहासिक सम्बन्ध है, उसी प्रकार उन दोनों का असीरिया से है। इसी कारण दजला-फरात की सभ्यता का इतिहास प्रस्तुत करते समय इतिहासज्ञ इन तीनों सभ्यताओं का प्रायः एक साथ ही वर्णन करते हैं। सुमेर और बेबिलान की सभ्यताओं का परिचय आप पिछले एक खंड में पा ही चुके हैं। आइए, अब मसोपटामिया की इस तृतीय महत्वपूर्ण सभ्यता का हाल आपको बताएँ। यद्यपि कालक्रम के अनुसार एशिया और योरप में इस समय तक अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घट चुकी थीं, किन्तु उन सब का उल्लेख करने से पहले असीरिया का वर्णन आवश्यक है।

बेबिलान से करीब तीन सौ मील उत्तर की ओर एक पहाड़ी चट्टान पर, दजला नदी के तट पर एक नगर की स्थापना हुई, जो आगे चलकर 'अस्सुर' नाम से प्रसिद्ध हो गया। उस नगर के आसपास का प्रदेश पहाड़ी था, अतएव बेबिलोनिया से वहाँ का जलवायु अधिक सुखकर और स्वास्थ्यप्रद था। वहाँ की घाटियाँ मनोरम और उपजाऊ थीं, जिनमें जौ और गेहूँ खूब पैदा होते थे। इसी कारण वहाँ के निवासी प्रायः कृषि का ही काम करते थे।

युद्धरत सैमिटिक-प्रधान जाति

कहते हैं कि ईसा से ३५०० वर्ष पहले वहाँ सुमेर के लोग जाकर बसे थे। उन्हीं लोगों ने वहाँ पर 'असुर' या 'अस्सुर' देवता की स्थापना की, जिस से उस नगर का नाम अस्सुर हो गया। उसी नाम के आधार पर आगे चलकर वहाँ के साम्राज्य का नाम 'असीरिया' पड़ गया। सुमेरियावालों के क्षीण हो जाने पर वहाँ मित्तानी आदि अन्य जातियों के लोग आ बसे। किन्तु २५०० ईस्वी पूर्व वहाँ पर सैमिटिक जातिवालों का स्थायी प्रभुत्व स्थापित हो गया। यद्यपि असीरियावालों में सैमिटिक जाति का अंश बहुत अधिक मात्रा में था, तथापि वस्तुतः वे मिश्रित रक्त के लोग थे। उनकी सभ्यता भी मिश्रित थी। जातियों के सम्मिश्रण एवं पहाड़ी प्रदेशों में छाए हुए विजातीय शत्रुओं से निरंतर लड़ते रहने के कारण असीरियावाले उद्यतदण्ड, युद्धशील और सतर्क प्रकृति के थे। उन्होंने घोड़े और लोहे का उपयोग करना भी सीख लिया था, जिससे उनकी सैनिक शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि वे शत्रुओं से अपनी रक्षा ही नहीं कर सकते थे, बल्कि अवसर मिलते ही उन पर आक्रमण करने के लिए भी तैयार रहते थे।

टिगलथ-पिलेसर प्रथम

यद्यपि पुरातनकाल में असीरिया में अनेक नेता हुए, किन्तु अब उनके नाम भी कठिनता से मिलते हैं। ज्ञात इतिहास में वहाँ के महत्वशाली व्यक्तियों में सब से पहले 'टिगलथ-पिलेसर प्रथम' का नाम मिलता है। वह बड़ा पराक्रमी था। कहते हैं कि उसने ९२० शेर मारे थे, जिनमें से १२० का तो उसने पैदल ही शिकार किया था! अपने पराक्रम से उसने हित्ती (खत्ती=हिट्टाइट) और आरमीनियन आदि चालीस अन्यान्य जातियों पर विजय प्राप्त की थी। एलामवाले भी उसका लोहा मानने पर मजबूर हो गए थे। उसने दो बार बेबिलोनिया में जाकर अपने यश की पताका गाड़ी थी। दिग्विजयिनी असीरियन सेना ने टिगलथ का आतंक और

आधिपत्य काले समुद्र से भूमध्यसागर तक स्थापित कर दिया था। उसे चारों ओर से कर मिलता था, जिसका अधिकांश उसने देवी-देवताओं के मन्दिरों के निर्माण में लगा दिया था। किन्तु तेरह वर्ष तक चमकने के बाद उसका तेज ऐसा क्षीण हो गया कि बेबिलानवालों ने उसका सारा राज्य छीन लिया और अस्सुर से उसके देवताओं तक को वे उठा ले गए। इसी दुर्भाग्य और लज्जा से घुटकर उसकी मृत्यु हो गई (१०६० या ११०२ ई० पू०)। कुछ समय तक असीरिया का कोई राजा न था। इसके बाद सौ वर्ष तक वहाँ की दशा अस्तव्यस्त अथवा हीन-सी ही रही।

असुरनासिरपाल, आदि

९११ ईस्वी पूर्व असीरिया में 'अदद निरारी' द्वितीय शासक हुआ। उसने दजला-फरात की तलहटी और पश्चिम के कुछ प्रांतों में अपना प्रभुत्व दृढ़ कर लिया। तब से असीरिया की शक्ति और उसका आधिपत्य बढ़ने लगा। उसकी दूसरी पीढ़ी में असुरनासिरपाल (८८४-८५९ ई० पू०) ने अपनी बलवती सेना के जोर पर बाकायदा राज्य बढ़ाना और पाशविक व्यवहार से अपना आतंक जमाना आरम्भ कर दिया। उसका आधिपत्य भूमध्यसागर के पूर्वीय तट तक स्थापित हो गया था। वहाँ के नगरों ने उसे कर दिया। उसके पुत्र शलमन्सर तृतीय (८५९-८२४ ई० पू०) ने दमिश्क पर चढ़ाई की और उसके निकट तक राज्य बढ़ा लिया। उत्तर की ओर भी उसकी सेना 'वान' झील और 'अराराट' पहाड़ तक जा पहुँची। यद्यपि इस वंश का प्रताप बीच में कुछ काल तक कम हो गया, किन्तु अददनिरारी पंचम ने फिर फीनीशिया, दमिश्क और असीरिया पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उसकी सेना प्रबल मन्नाई और मीडिया राज्य तक धँस गई। उसके पश्चात् असीरिया का पतन होना शुरू हुआ और राज्य छिन्न-भिन्न होता चला गया। आखिर नौबत यहाँ तक आ पहुँची कि वहाँ का उक्त राजवंश पूर्णतया नष्ट हो गया।

निनवे से प्राप्त असीरिया के प्रतापी सम्राट् असुरनासिरपाल की एक मूर्ति।

टिगलथ-पिलेसर चतुर्थ तथा सारगन द्वितीय

ऊपर उल्लिखित राजवंश को निर्मूल करनेवाले सरदार 'पुल' ने अपना नाम 'टिगलथ-पिलेसर' चतुर्थ रखकर राज्य करना आरम्भ किया (७२२ ई० पू०)। उसने असीरिया में पुनः जीवन का संचार करके शत्रुओं को मार भगाया और मसोपटामिया, दमिश्क, सीरिया और आरमीनिया में अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। किन्तु उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष बाद ही उसके एक वंशज से 'सारगन' द्वितीय नाम के सरदार ने राज्य छीन लिया। यद्यपि चारों ओर से विरोध हुआ तथापि अपने बाहुबल से सारगन ने सब शत्रुओं का दमन कर दिया। उसने मिस्र की सेना को हराकर सीरिया में एवं एलामवालों को हराकर बेबिलान में अपना प्रभुत्व जमा लिया और अपने लिए निनवे के पास दर-शर्रकिन नामक एक ऐसी सुन्दर राजधानी बनवाई, जिसके समान नगर बेबिलोनिया तक में कभी कोई नहीं था। तभी 'सिमरियन' नामक एक अर्द्ध-सभ्य जाति ने असीरिया पर चढ़ाई की। इन्हीं बर्बर आक्रमणकारियों से युद्ध करते हुए सारगन द्वितीय का निधन हो गया (७०५ ई० पू०)।

सेनाकिरिब

सारगन द्वितीय का पुत्र 'सेनाकिरिब' और भी वीर निकला। उसने सारे अनातोलिया (एशियाई टर्की) पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। उसके नाम से मिस्रवाले भी दहलते थे। बेबिलानवालों की अदमनीय उद्दण्डता और निरन्तर विद्रोह-प्रवृत्ति से क्रुद्ध होकर उसने उनके नगर को अच्छी तरह लुटवा लिया, वहाँ की नहरों का पानी काटकर उन्हें सुखा दिया, और सारे शहर में कत्लआम करवाकर उसे जलवा दिया। बेबिलानवालों को सबसे अधिक दुःख तो इस बात का हुआ कि उनके प्रमुख देवता 'मर्दक' तक को वह कैद करके ले गया और उसे उसने अपने देवता 'असुर' का दास बना दिया! यद्यपि इस क्रूरता का आतंक कुछ दिनों तक बना रहा,

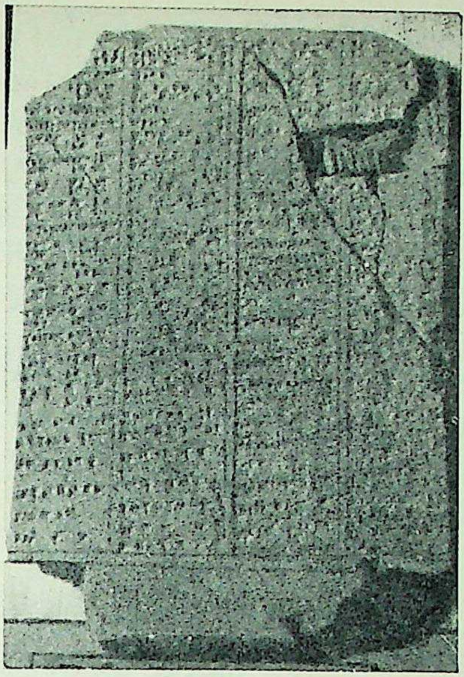

खोरसाबाद नामक स्थान में सम्राट् सारगन के महल से प्राप्त एक मिट्टी की तख्ती, जिस पर कीलाक्षरों में असीरिया के ९५ प्राचीन सम्राटों का हाल लिखा है।

तथापि बेबिलोनियावालों के हृदय में प्रतिहिंसा की आग सुलगती रही। 'सेनाकिरिब' ने अपनी राजधानी निनवे के विस्तार और सौंदर्य में इतना व्यय और श्रम किया कि उसके सौंदर्य की चर्चा दूर-दूर के देशों तक फैल गई। उसने कृषि की उन्नति में भी बहुत धन व्यय किया। राज्य में रुई की खेती का प्रचार करके उसने असीरिया के भविष्य को समृद्धिशाली बना दिया। उसका आतंक इतना जम गया था कि साम्राज्य में विद्रोह सिर नहीं उठा सकता था और दूरस्थ प्रान्तों से भी निश्चित समय पर बिना कष्ट के कर आ जाता था। किन्तु वह समय से पहले ही इस लोक से चल बसा, कारण उसके बड़े पुत्रों ने इसलिए उसकी हत्या कर डाली कि उन्हें उत्तराधिकारी न बनाकर अपने तीसरे पुत्र 'ईसारहद्दो' को उसने राज्य का अधिकारी बनाया था (६८१ ई० पू०)। यह ईसारहद्दो बड़ा योग्य और पराक्रमी शासक निकला। ईसारहद्दो ने भाइयों और अन्य विद्रोहियों का शीघ्र ही दमन करके राज्य में शान्ति स्थापित कर दी। तदुपरांत सीरिया में विद्रोह भड़काने और विद्रोहियों की सहायता करने के आरोप में मिस्र पर चढ़ाई करके उत्तरी मिस्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की उसने ठानी और शीघ्र ही वहाँ के मेम्फिस नगर पर उसका अधिकार जम गया (६७२-७१ ई० पू०)। इस विजय से असीरिया का महत्व बहुत बढ़ गया और उसकी अपूर्व श्रीवृद्धि हो गई। ईसारहद्दो ने बेबिलान और एलाम के प्रति उदारता की नीति से काम लिया। उसने बेबिलान नगर का पुनर्निर्माण करा दिया और उसके देवता 'मर्दक' की एक नए मन्दिर में सादर स्थापना करा दी। इन्हीं दिनों संयोगवश एलाम में भंयकर दुर्भिक्ष पड़ा और प्रजा अत्यन्त पीड़ित हुई। उस घड़ी ईसारहद्दो ने जी खोलकर अन्नदान किया, जिससे प्रजा की रक्षा हो सकी। इस अपूर्व उदार नीति का बेबिलोनिया और एलाम पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इन्हीं दिनों इस राजा को विद्रोह का दमन करने के लिए मिस्र जाना पड़ा। पर दुर्भाग्य से रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई (६६९ ई० पू०), वह मिस्र न जा सका।

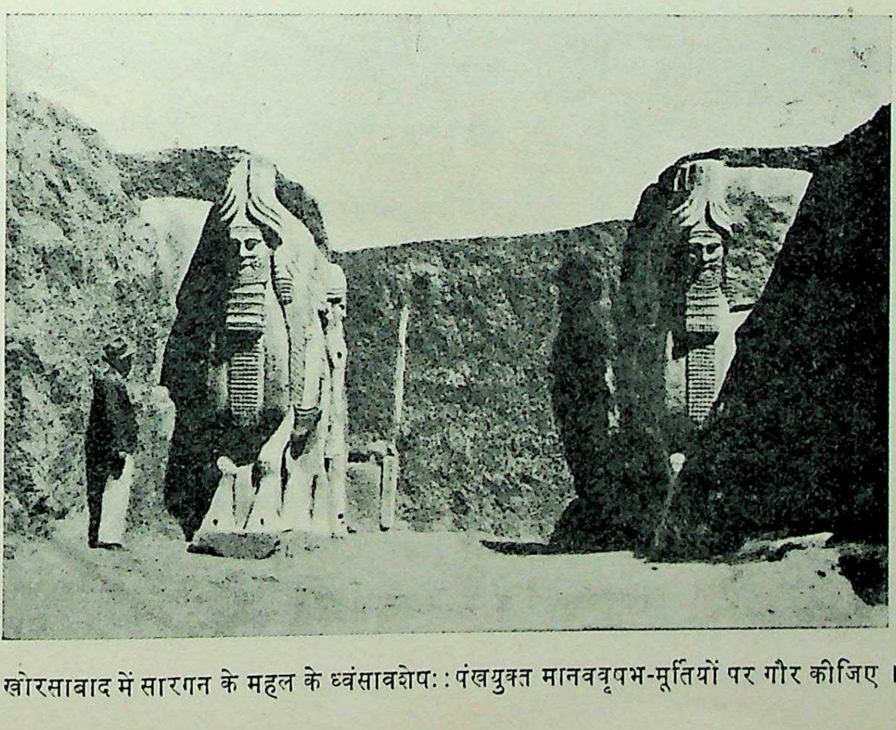

खोरसाबाद में सारगन के महल के ध्वंसावशेष: पंखयुक्त मानववृषभ-मूर्तियों पर गौर कीजिए।

असुरबनिपाल

ईसारहद्दो का छोटा भाई 'असुरबनिपाल' भी बड़ा वीर और प्रतापी हुआ। उसने मिस्र के विद्रोह का दमन करके थेबीज नगर को लूट लिया। धीरे-धीरे उसने सारे मिस्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और उस पर शासन करने के लिए अपनी ओर से एक गवर्नर भी नियुक्त कर दिया। उसने यह नहीं सोचा कि मिस्र ऐसे सभ्य देश का दूर से शासन करना कितना कष्टसाध्य होगा। इससे भी अधिक चिंत्य बात यह थी कि एलामवालों की उदण्डता और उनके बारम्बार बेबिलान में हस्तक्षेप करने के कारण वह ऐसा क्रुद्ध हुआ कि उनकी राजधानी 'सूसा' को उसने सर्वथा नष्ट कर डाला। उसने वहाँ की मिट्टी में नमक मिलवाकर कुश-काँटे बुवा दिए, उनके राजा का सिर काट कर निनवे के सिंह-द्वार पर टँगवा दिया और एलाम के राज्य का सदा के लिए अन्त कर दिया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि ईरान की अन्य जातियों एवं 'सीथियन' लोगों के लिए असीरिया की ओर बढ़ आने का रास्ता खुल गया।

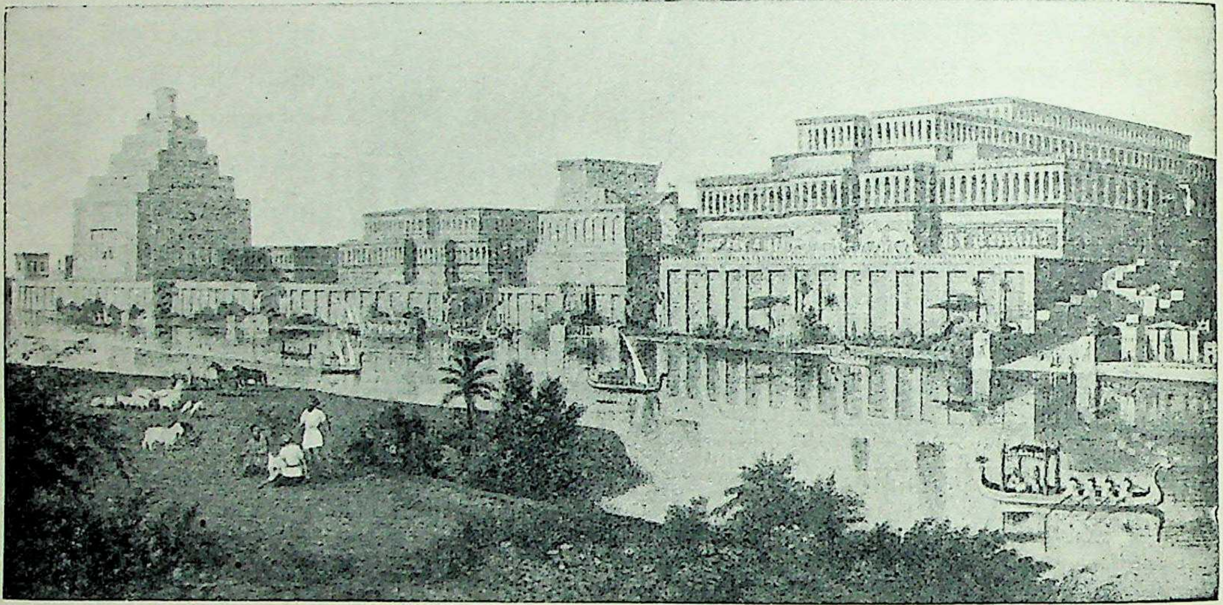

अपनी समृद्धि के मध्याह्नकाल में निनवे नगर कैसा रहा होगा, इसकी एक कल्पना इस चित्र में प्रस्तुत की गई है।

असुरबनिपाल की विजय और दण्डनीति से ऐसा आतंक फैला कि किसी को भी उसके खिलाफ सिर उठाने का साहस न रहा। अपनी विजयों को मनाने के लिए उसने बड़े धूम-धाम से एक महोत्सव किया। इस उत्सव में घोड़ों की जगह चार राजाओं को अपने रथ में जुतवाकर वह फिरता रहा! वस्तुतः उसके समय में असीरिया का पशुबल चरम सीमा तक पहुँच गया था। किन्तु इस बाहरी समृद्धि के अन्तस्तल ही में विनाश के भी बीज छिपे थे। अतः असुरबिनपाल की मृत्यु के पहले ही पतन के लक्षण भी दिखाई देने लगे।

पर असुरबनिपाल केवल विजयी और युद्धप्रेमी ही न था। वह विद्वान् एवं विद्याप्रेमी भी था। वह वास्तुविद्या और कलाओं का बहुत आदर करता था। उसके समय में असीरिया में कला की अच्छी उन्नति हुई। उसने सुमेरिया और बेबिलोनिया के साहित्य को ढूँढ-ढूँढकर एकत्रित करवाया और उनको सजवाकर एक पुस्तकालय में रखवा दिया। तीस हजार ईंटों पर खचित उस अद्भुत साहित्य-भांडार का अधिकांश संसार के पुरातत्त्व-विषयक संग्रहालयों में आज भी सुरक्षित है और उसी के सहारे दजला-फरात की सभ्यता और इतिहास का ज्ञान प्राप्त हो रहा है।

असीरियन शक्ति का ह्रास और निनवे का विनाश

असुरबनिपाल के अन्तिम दिवस अच्छे नहीं रहे। कौटुम्बिक झगड़ों, शारीरिक कष्टों, विद्रोहों के समाचारों और सीथियन आदि शत्रुओं की बढ़ती हुई शक्ति के कारण उसकी चिन्ता बढ़ती गई। इसी दशा में उसकी मृत्यु हो गई (६२६ ई० पू०)। उसकी मृत्यु होते ही राज्य में अराजकता और विद्रोह की आग भड़कने लगी। मिस्र जैसे दूर के प्रान्तों का तो कहना ही क्या, पड़ोसी बेबिलान तक स्वतन्त्र हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वहाँ 'नेबोपोलेसर' नामक एक केल्डियन राजा बन गया। उसने मीडिया के राजा 'साइएक्सारेज' से और सीथियन लोगों से मिलकर निनवे को वैसी ही निर्दयता के साथ (६१२ ई० पू०) नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, जैसी कि असीरियावालों ने बेबिलान और सूसा नगरों के प्रति प्रदर्शित की थी। निनवे के विनाश के साथ ही एलाम की तरह असीरिया भी सदा के लिए नेस्तनाबूद हो गया।

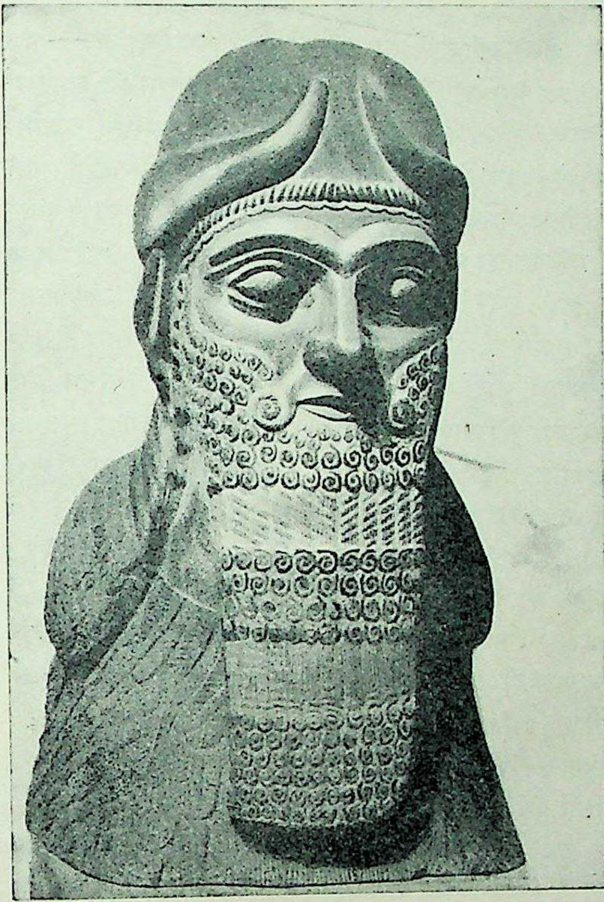

एक मानववृषभ खंडित असीरियन मूर्ति का शीर्षभाग :: ये मूर्तियाँ भीमकाय आकार की होती थीं।

असीरियन समाज-व्यवस्था

असीरिया की जनता में स्वतः असीरियन जाति की संख्या अधिक न थी। निनवे के रहने वालों में अधिक संख्या असीरियनों से भिन्न जातियों के लोगों की ही थी। वहाँ का जन-समाज दो भागों में विभक्त था—एक स्वतंत्र और दूसरा गुलाम। यद्यपि गुलामों के साथ, उनकी उपयोगिता के कारण प्रायः अच्छा व्यवहार होता था और उन्हें जायदाद रखने का भी अधिकार था, तथापि कानून की दृष्टि में उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। उधर स्वतन्त्र समाज के भी तीन वर्ग थे। एक तो 'मरबनूती' अथवा बड़े लोग थे। उनके बाद 'उम्मनी' थे, जो उद्योग-धन्धों में लगे हुए कारीगर थे। तीसरे 'खुबशी' थे, जिनसे साधारण जनता का बोध होता था। 'उम्मनी' वर्ग के लोग अपने-अपने व्यवसाय, पेशों और धन्धों के अनुसार श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक पेशे के लोग अपने वंशानुगत धंधे में ही लगे रहते थे। उम्मनी के अन्तर्गत साहूकारों, बढ़इयों, कुम्हारों इत्यादि की अनेक श्रेणियाँ थीं। वे सब अपनी ही श्रेणी से नियुक्त किए हुए कार्यकर्त्ताओं के निरीक्षण में अपना-अपना प्रबंध किया करते थे। असीरियन कृषकों की परिस्थिति का ठीक पता नहीं चलता। अनुमान किया जाता है कि द्वितीय और तृतीय वर्ग के लोग ही कृषि करते थे। गुलामों से बेगार अथवा बहुत सस्ती मजदूरी पर काम लिया जाता था। इसलिए इन लोगों की आर्थिक दशा सन्तोषजनक नहीं थी। खुबशी वर्ग के लोगों में से ही अधिकतर सैनिक चुने जाते थे। चूँकि असीरिया की नींव सैनिक सत्ता पर स्थापित थी, अतः सैनिकों का वहाँ बड़ा महत्व था।

कृषि और व्यापार

असीरिया कृषिप्रधान देश था। वहाँ कृषि करना उत्तम माना जाता था। इसीलिए वहाँ के श्रेष्ठ लोग प्रायः खेती करवाते अथवा जमींदार बने हुए थे। वे लोग व्यापार को एक मध्यम काम ही नहीं, बल्कि बुरा काम समझते थे। सस्ता माल खरीदकर महँगा बेचना उनकी राय में अच्छा काम न था। यदि वे व्यापार करते थे, तो सिर्फ इसलिए कि उसके बिना बड़ी सेना का खर्च चलाना असम्भव-सा हो जाता था। वे प्रायः गेहूँ, जौ, सरसों और बाजरे की खेती करते थे। कपास की भी खेती होने लगी थी। अन्नों के अलावा वे जैतून, अंगूर, लहसुन, प्याज, सागपात, चुकन्दर, शलजम, मूली, ककड़ी आदि की खेती करते थे। खेती-बारी के सिवा वहाँ के लोग सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा और काँसा आदि धातुओं से अनेक प्रकार की चीजें भी बनाते थे। लोहे के हथियारों का प्रयोग ही उनकी उन्नति का विशेष कारण माना जाता है। उद्योग-धन्धों और व्यापार की सहायता एवं उन्नति के लिए महाजन और साहूकार पचीस रुपया सैकड़ा पर कर्ज देते थे। असीरिया में सोने, चाँदी, ताँबे और राँगे के सिक्कों का प्रचलन था, जिससे व्यापार में सुविधा हो गई थी। वहाँ

धातु की ढलाई, कपड़ों की रँगाई और शीशे का भी अच्छा खासा उद्योग स्थापित था।

घरेलू जीवन

असीरियन समाज में कौटुम्बिक और गृहस्थ-जीवन में पैतृक प्रभुत्व का बोलबाला था। वहाँ गृहपति का बड़ा आतंक रहता था और उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य था। इनके विवाह-सम्बन्धी कानून बेबिलोनियावालों से भी अधिक कठोर थे। विवाह में लड़केवालों को लड़कीवालों को धन देना पड़ता था। विवाह हो जाने पर कुछ लोग तो बहू को ससुर के घर ले आते थे और कुछ उसे अपने पिता के ही घर पर रहने देते थे। असीरियन समाज में विवाहिता स्त्री को पर्दे में रहना पड़ता था। वह बिना घूँघट के बाहर नहीं जा पाती थी। पत्नी के लिए पातिव्रत का पालन करना अत्यंत आवश्यक माना जाता था, चाहे स्वयं पति बहुस्त्रीगामी अथवा वेश्यागामी ही क्यों न हो। पति की आज्ञा के बिना व्यापार करने, पति पर आक्रमण करने, चोरी करने, व्यभिचार करने, भ्रूण-हत्या करने तथा पति को छोड़कर भागनेवाली स्त्री को कठोर अथवा प्राणदण्ड तक दिया जाता था। किन्तु यदि ये दोष साबित न हो सके, तो दोष लगानेवाले को भी भयंकर दण्ड दिया जाता था। पर्दानशीन विवाहिता स्त्रियों का मुख्य काम नाचना-गाना, कशीदा काढ़ना आदि था। गृहस्थी के काम के अलावा वे अपना समय गप-शप करने, लड़ने-झगड़ने और षड़यंत्र करने में ही बिताती थीं। असीरिया में अविवाहित देवदासियाँ, दासियाँ और वेश्याएँ यदि सड़क पर घूँघट काढ़कर निकलतीं, तो उनको ही नहीं बल्कि उन लोगों को भी कड़ी सजा दी जाती थी, जो उन्हें ऐसा करने देते थे। अवैध गमन और अस्वाभाविक कुचालों के लिए कठोर विधान था, किन्तु वेश्यागमन तथा दासियों और उपपत्नियों के रखने में विशेष आपत्ति न थी। वेश्याओं का नियंत्रण शासन द्वारा किया जाता था। यह सब होते हुए भी रानियों और उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिए राजनीतिक क्षेत्र में उन्नति का मार्ग बन्द नहीं था। 'सम्मू रमत' और 'नकीया' नामक दो रानियाँ राजसिंहासन पर बैठकर शासन भी करती रहीं। श्रेष्ठ वर्ग की स्त्रियाँ भी गवर्नरी के काम पर नियुक्त की जा सकती थीं। असीरिया की साधारण स्त्रियों को भी एक विशेष सुविधा थी। यदि किसी स्त्री का पति युद्ध में बंदी बना लिया जाता, तो दो वर्ष तक उसके भोजन-छाजन का प्रबन्ध राज्य की ओर से कर दिया जाता था। दो वर्ष बाद उसे दूसरा विवाह करने की भी स्वतंत्रता थी।

धार्मिक विचार, शिक्षा और साहित्य

असीरियावाले 'सूर्यदेव' के उपासक थे। उसी का नाम उन्होंने 'अस्सुर' (या असुर) रखा था। उन्होंने पंख लगे हुए सूर्यबिम्ब के बीच में तरकस बाँधे और धनुष ताने हुए व्यक्ति के रूप में असुर की कल्पना की थी। संभव है कि सूर्य देवता का यह स्वरूप उन्होंने सीरिया के हित्ती या खत्ती (हिट्टाइट) लोगों के मार्फत मिस्र देश से प्राप्त किया हो। 'अस्सुर' युद्धप्रेमी और भयंकर देवता माना जाता था। असीरिया राज्य की पताकाओं पर उसी का चिह्न अंकित रहता था। वहाँ का राजा भी अपने को सूर्य का पुत्र समझता था। युद्ध में विजय प्राप्त होने पर अस्सुर को संतुष्ट करने के लिए बहुत-से शत्रु बन्दियों का बलिदान किया जाता था! इसी निर्दयता के कारण अस्सुर के प्रति असीरियावालों को छोड़कर अन्य लोगों की श्रद्धा नहीं हो सकी। असीरियनों की प्रमुख देवी नीना थी, जो बेबिलानवालों की ईश्तर देवी के समान प्रेम की अधिष्ठात्री मानी जाती थी। इनके अलावा भूत-प्रेत आदि में भी इन लोगों का विश्वास था। इनके मतानुसार ये भूत-प्रेत ही मनुष्य में शारीरिक और मानसिक विकार पैदा करते थे। उनकी बाधाओं को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के मंत्र-तंत्रों और टोटकों का प्रयोग किया जाता था। असीरियनों में शकुन का बड़ा विचार था। ये लोग देवताओं से बहुत डरते थे, और उनको प्रसन्न करने के लिए अनुष्ठान और प्रार्थनाएँ किया करते थे। यद्यपि इनके देवता कठोर थे, किन्तु उचित अनुष्ठान, अपराधों की स्वीकृति एवं स्तुतियों द्वारा वे लोगों को क्षमा भी कर देते थे। दार्शनिक भावों का असीरियावालों में अभाव-सा था। उन्होंने सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए कोई चेष्टा नहीं की। किन्तु अपने धार्मिक विचारों में वे बड़े कट्टर थे और उनकी रक्षा एवं उत्कर्ष के लिए असहिष्णुता, क्रूरता और नृशंसता से काम लेने में जरा भी संकोच नहीं करते थे।

असीरिया में ज्ञान की कोई मौलिक उन्नति नहीं हुई। जो कुछ उन्होंने सीखा, वह सब बेबिलान से प्राप्त किया। तथापि वनस्पतियों की सूची और पदार्थों की तालिकाओं की रचनाएँ करके वनस्पतिशास्त्र और पदार्थविज्ञान की कुछ सेवा उन्होंने अवश्य की। उनकी एकत्रित की हुई सामग्री से यूनान (ग्रीस) वालों ने भी कुछ लाभ उठाया। उनके कुछ शब्द तो आज तक योरपीय भाषाओं में प्रचलित हैं। उनकी विजय-प्रशस्तियों से इतिहास-लेखनकला और प्राचीन

इतिहास का अक्षय उपकार हुआ है। अक्षरों की रचना को सरल और सुन्दर बनाने में भी उन्होंने अच्छा योग दिया। किन्तु उनका सब से महत्वपूर्ण और आदरणीय कार्य पुस्तकालयों का संस्थापन और मसोपटामिया के प्राचीन साहित्य का संरक्षण माना जाता है। खुदाई में प्राप्त असुरबनिपाल के पुस्तकालय का महत्व पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया जाता है।

कला-कौशल

असीरियावालों ने दूसरों का धन लूट-लूटकर अपने नगरों को खूब सजाया-सँवारा था। इस प्रकार उन्होंने जो आलीशान इमारतें बनवाई, उनसे निर्माण-कला की पर्याप्त उन्नति हुई। उनकी बनाई मेहराबें बेबिलोनियावालों से बहुत बड़ी और अधिक शानदार थीं। मूर्तिकला और शिल्पकला से सजे हुए मेहराबदार बड़े फाटकों का रिवाज रोम ने उन्हीं से सीखा। मेहराब और डाँट की रचना की उन्नति करने के अलावा पहलूदार तराश के खम्भों का ढंग भी शायद उन्होंने ही यूनानवालों को सिखाया। असीरियावालों का आदर्श सौन्दर्य नहीं था, बल्कि वे विशालता और भव्यता के प्रेमी थे। उनके राजमहलों के दरवाजों पर पशुओं की विशाल पाषाण-मूर्तियाँ बनी रहती थीं। उनकी दीवारों पर भी ऐतिहासिक चित्र और मूर्तियाँ खचित होती थीं। फर्श पत्थरों से जड़ी रहती और छत के नीचे का हिस्सा प्राकृतिक चित्रों से सज्जित एवं ऊपर का सुनहले और रुपहले पत्रों से मढ़ा रहता था। कहीं दीवारों पर लकड़ी की नक्काशी भी बनी रहती थी और कहीं बहुमूल्य कामवाले पर्दे पड़े रहते थे। ये ईंटों, पत्थरों और संगमरमर का प्रचुर प्रयोग करते थे। इनके महल प्रायः दो या तीन मंजिल के बनाए जाते थे। पत्थर पर नक्काशी का

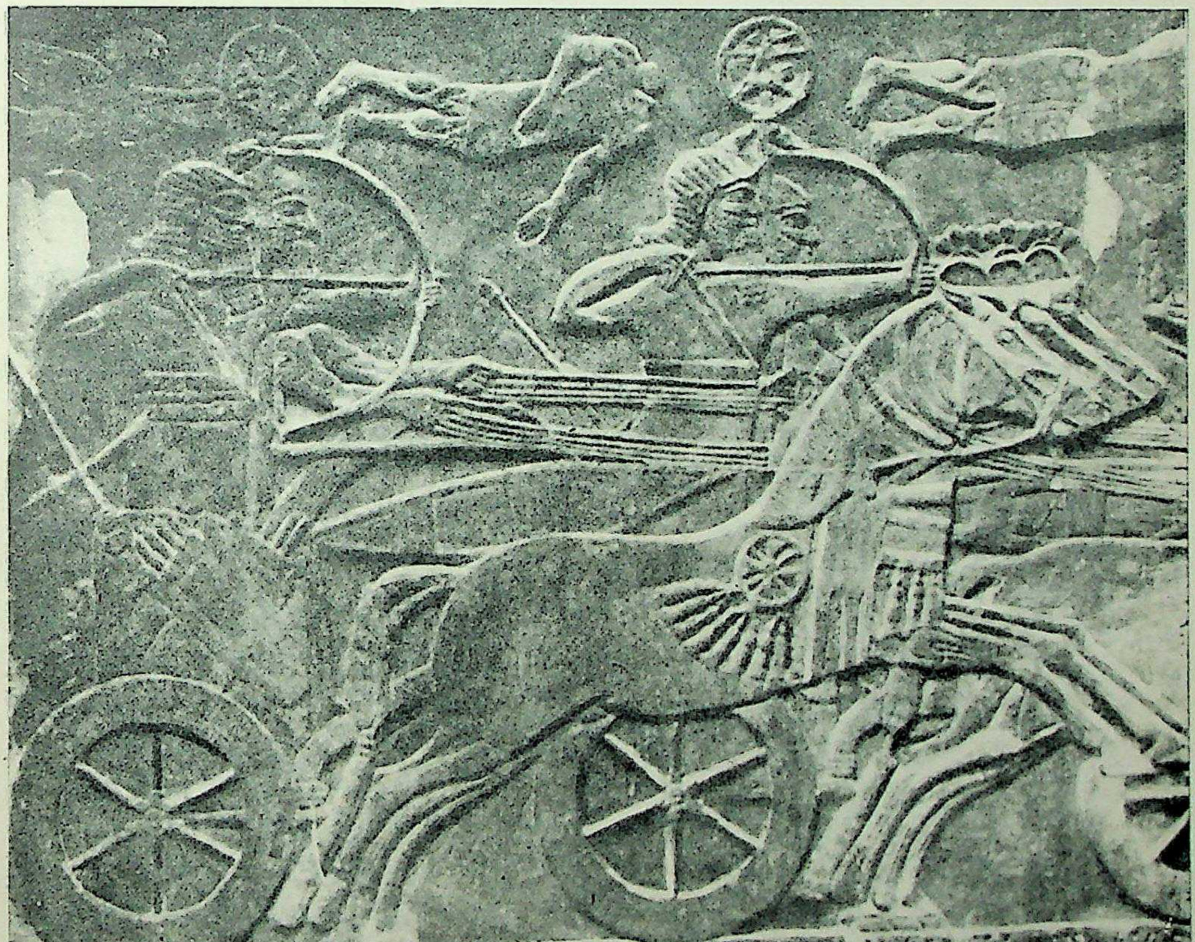

पाषाण पर उत्टंकित इस शिल्प-चित्र में युद्धभूमि में संग्रामरत असीरिया के धनुर्धारी रथी योद्धाओं का दृश्य दिखाया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

काम और दीवारों पर चमकदार चिकने चित्र बनाने में वे बेबिलोनियावालों को भी मात करते थे। जानवरों के, विशेषतः सिंह के, शिल्पचित्र बनाने में ये लोग अत्यधिक कुशल थे। इसके अलावा ये लकड़ी पर हाथी-दाँत तथा सुनहले और रुपहले तारों की जड़ाई का काम भी बहुत अच्छा बनाते थे।

राजनीतिक विधान

असीरिया की प्रबल शक्ति उसकी भौगोलिक परिस्थिति पर अवलम्बित नहीं थी। उसका मुख्य आधार उसका राजनीतिक विधान और सैनिक संगठन था। असीरिया का साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों अथवा स्वतंत्र नगरों का समूह नहीं था। वहाँ एक ही राजा राज्य करता था, जो सूर्य का पुत्र अथवा अवतार माना जाता था। वह असुर देवता के नाम पर दैवी इच्छा के अनुसार शासन करता था। असुरबनिपाल और सेनाकिरिब जैसे प्रबल योद्धा और बलवान् सम्राट भी किसी महत्वपूर्ण कार्य के आरम्भ में देवता की अनुमति पूछते थे। देवता के आदेश से प्रेरित होकर कोई एक व्यक्ति राजा को उत्तर देता था। ऐसे ही व्यक्ति पोशीदा तौर से राजा का नियंत्रण करते थे। अन्यथा राजा के अधिकार असीम और अनियन्त्रित थे। राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना असुर को असन्तुष्ट करने के बराबर पाप था। राजा के लिए लड़ना, उसे कर देना तथा उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा के लिए धार्मिक कर्त्तव्य अथवा देवता को प्रसन्न करने का एक महान् साधन माना जाता था।

राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। बड़े प्रान्तों में राजा अपनी ओर से एक गवर्नर नियुक्त करता था। गवर्नरी किसी का पैतृक अधिकार नहीं था। हर्रान प्रान्त का गवर्नर (लिम्मू) सब से बड़ा माना जाता था, क्योंकि राजा के बाद उसी का पद गिना जाता था। वह प्रमुख सेनापति (तर्तनु) भी कहलाता था। इसी प्रकार अन्य गवर्नरों के दर्जे भी निश्चित कर दिए गए थे। सब गवर्नर (शकनू अथवा उरसू) राजा के नौकर और आज्ञानुवर्ती थे। प्रान्त कई जिलों (पखती) में विभक्त था। बड़े जिले का हाकिम ही 'शकनू' कहलाता था। किन्तु अन्य प्रान्तों में वे 'अमलू' अथवा 'शनू' कहलाते थे। उनकी सहायता के लिए 'खजनू' आदि कई पदाधिकारी होते थे। शान्ति रखना, कर वसूल करना, सरकारी इमारतों आदि के लिए मजदूर जमा करना और सेना एकत्रित करना ये सब गवर्नर के कर्त्तव्य थे। असीरिया का प्रान्तीय शासन करीब-करीब वैसा ही था, जैसा कि रोमन साम्राज्य का था। यह उसके दृढ़ संगठन का प्रमाण है। शासन सुसंगठित और सुव्यवस्थित था। राजद्रोह अथवा अराजकता का बलपूर्वक दमन किया जाता था। यदि किसी प्रान्त या स्थान विशेष में निरन्तर उपद्रव होते रहने की आशङ्का हुई, तो वहाँ की सारी प्रजा को दूरस्थ स्थानों में तितर-बितर करके फैला देने की नीति का अवलम्बन किया जाता था। स्थान-स्थान में घूमकर राजा के दूत और जासूस सब प्रकार के और विशेषतः शासन-सम्बन्धी समाचार राजा के पास निरन्तर भेजा करते थे। इन समाचारों को शीघ्रातिशीघ्र ले जाने के लिए डाक-चौकी का भी खासा प्रबन्ध था। असीरिया का दण्डविधान क्रूर और प्रतिहिंसात्मक था। बेगार कराने, जनता में बेइज्जत करने, कोड़े मारने, कैद करने, नाक-कान-जननेन्द्रिय और गरदन काटने, जीभ और आँख खींच लेने, जहर देने, पानी में डुबाने, जला देने आदि-आदि, तरह-तरह के रोमाञ्चकारी दण्ड देने का विधान था। व्यभिचार, बलात्कार और कतिपय प्रकार की चोरियों के लिए प्राणदण्ड देने का नियम था। इतनी कठोर व्यवस्था के होते हुए भी कुछ-न-कुछ उपद्रव होता ही रहता था। यही प्रवृत्ति अन्त में राज्य के विनाश का एक मुख्य कारण बन गई।

सैनिक-संगठन

असीरिया की शक्ति के मुख्य आधारों में से एक उसकी सेना थी। सेना में धार्मिक जोश और जातीय उत्साह तो था ही, साथ ही उसका संगठन तथा युद्ध-कौशल भी ऊँचे दर्जे का था। कहा जाता है कि सिकन्दर के पहले असीरिया के समान सैनिक-संगठन और युद्ध-कौशल किसी भी प्राचीन जाति का नहीं था। वहाँ के जवानों को शारीरिक सौंदर्य का इतना शौक नहीं था, जितना कि शारीरिक दृढ़ता और बल का था। वहाँ देवता, धर्म, राजा, शासन और प्रजा का संगठन सैनिक शक्ति के लिए ही किया गया था; क्योंकि सैनिक प्रबलता द्वारा अपने प्रभुत्व को स्थापित रखना ही उनका मुख्य ध्येय था। जो कोई सैनिक कर अथवा अपनी एवज में सिपाही दे सकते थे, उन लोगों को छोड़कर, संभवतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य था कि वह सेना में लड़ने के लिए तैयार रहे। सिपाही दो प्रकार के होते थे—एक तो वे, जो बाकायदा कवायद सीखते थे और दूसरे वे, जो खास अवसरों पर अल्प काल के लिए बुला लिए जाते थे। सेना के चार अङ्ग थे—रथारोही, अश्वारोही, पदाती और सफरमैना। सारी सेना दस-दस और पचास-पचास के जत्थों में श्रेणीबद्ध थी। उसके चारों अङ्गों का सामूहिक संगठन अच्छा

था। ये लोग बर्छे, तीर-कमान और ढाल का प्रयोग करते थे। पहियों पर सुरक्षित मचान बाँधकर लड़ने, यंत्र द्वारा संचालित भारी-भारी घनों से दीवारों को तोड़ने, सुरंग लगाने और दुर्जय किलों की रचना करने का उन्हें अच्छा ज्ञान था। ये प्रायः लोहे के शस्त्रास्त्रों का भी प्रयोग करते थे। असाधारण परिस्थिति में कार्यविशेष के लिए सर्वसाधारण जनता से भी सेना एकत्रित की जाती थी। अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक स्वस्थ पुरुष को अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग और सैनिक व्यवहार की साधारण शिक्षा दी जाती थी, ताकि समय पड़ने पर वह व्यवस्थित सेना के साथ कुशलतापूर्वक सहयोग कर सके। जब तक वह सेना में कार्य करता था, तब तक उसके भोजन-छाजन और खर्च का भार राज्य को उठाना पड़ता था। युद्ध समाप्त होने पर सैनिकों में लूट का भारी अंश बाँट दिया जाता था। सफल युद्ध से सैनिकों को शान्तिकाल से अधिक लाभ होता था, इसीलिए वे लोग युद्ध के लिए अधिक लालायित रहते थे। इसी से असीरियावालों ने युद्ध-कौशल में अपूर्व उन्नति की थी। सैनिक बल को ही उन्होंने अपने राष्ट्र की नींव बना रखी थी। निरन्तर युद्ध करने से उनमें क्रूरता और निर्दयता भी बहुत बढ़ गई थी। पराजित शत्रुओं को गुलाम बनाना, उनके साथ पशुओं का-सा व्यवहार करना, उनको अनेक प्रकार से बेइज्जत करना, उन्हें रोमाञ्चकारी शारीरिक दण्ड देना और देवताओं की बलि चढ़ा देना अथवा कत्लआम करा देना, ये असीरियावालों के लिए साधारण बातें थीं! इस सैनिक शक्ति का ह्रास होते ही असीरियावालों का राज्य नष्ट हो गया।

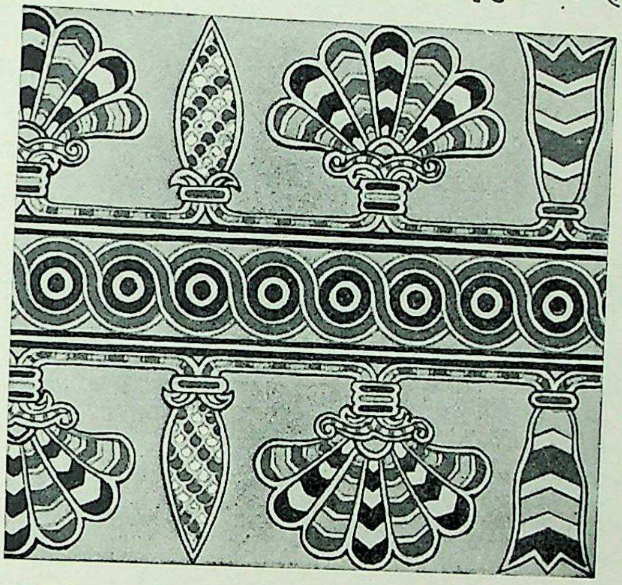

दीवारों पर चमकदार चिकनी ईंटों या टाइल्स की जोड़कर तथा उन पर रंगीन काम करके सुंदर चित्रकारी करने में असीरियावाले बड़े पटु थे। इस काम में वे वेबिलोनियावालों से भी अधिक आगे बढ़े हुए थे। ऊपर के चित्र में निमरूद से प्राप्त इसी प्रकार के एक रंगीन मोजेक का नमूना है।

पतन के कारण

असीरिया के पतन के वे ही कारण कहे जाते हैं, जिनसे मसोपटामिया की सभी सभ्यताओं का विनाश हुआ था। उनमें से एक यह है कि वहाँ के लोगों में निर्दयता का भाव और क्रूरता का व्यसन सब से बढ़ा-चढ़ा था। मनुष्य की मानवता का आदर करना तो दूर रहा, वे उसका सर्वथा निरादर ही करते रहे। दूसरा कारण यह भी था कि असीरियावालों ने स्त्रियों का उचित मान और आदर करना कभी भी नहीं सीखा। उन्होंने इन्हें सदैव दबा रहने दिया और पुरुष की अनुचरी बनाए रखा। अतः व्यभिचार और दुराचार का आधिक्य हो गया, जिससे उनका सामाजिक और मानसिक बल क्षीण हो गया। किन्तु उनके पतन का सब से बड़ा और सम्भवतः एकमात्र कारण यह था कि असुरबनिपाल की मृत्यु के बाद वहाँ कोई पराक्रमी, प्रयत्नशील और तेजस्वी राजा नहीं हुआ। इसी कारण गवर्नर और प्रमुख सेनानायक स्वतंत्र बन गए, जिससे साम्राज्य के जोड़-जोड़ खुल गए और वह शत्रुओं के वेग को न सह सका। निरन्तर युद्ध करने के कारण व्यवसायों का नाश हुआ, जिससे वहाँ की आर्थिक दशा अस्त-व्यस्त हो गई, कृषि में भी विघ्न पड़ गया और अधिकांश योद्धाओं का निधन हो गया। सेना में विजातिओं और गुलामों की वृद्धि के कारण देश-प्रेम और वीरत्व भी क्षीण हो गया।

तथापि इतिहास में असीरियावालों का महत्व कम नहीं है। कहा जाता है कि उन्होंने ही उस सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना और संगठन का मार्ग दिखाया, जो रोमन-साम्राज्य में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा। उनकी गृह-निर्माणकला ने एशिया में नवयुग का आरम्भ कर दिया। उनके राज्यनीतिक और धार्मिक भावों और कृतियों ने वह वातावरण उपस्थित कर दिया, जिससे हिब्रू जातिवालों को ईश्वर की उस विशाल कल्पना का विकास संभव हुआ, जिसके अनुसार ईश्वर एक दयामय, प्रेममय, दीनवत्सल, न्यायकारक अखण्ड सत्ता के रूप में कल्पित किया गया।

सभ्यताओं का उदय—(७)

प्राचीन ईरान की सभ्यता

प्रागैतिहासिक काल के धूमिल परदे से वाहर निकलकर अति प्राचीन काल में मनुष्य ने जहाँ-जहाँ पहले-पहल अपनी सभ्यता के केन्द्र स्थापित किए, उन प्रदेशों में प्राचीन ईरान को भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह एक मानी हुई वात है कि जिस प्रकार महान् आर्य जाति की एक शाखा ने भारतभूमि में आकर वैदिक युग की महान् संस्कृति का चमत्कार दर्शाया, उसी प्रकार उसकी अन्य एक शाखा ने ईरान के पठार में अपना अनूठा रूप विकसित किया। तो फिर आइए, सभ्यता के उदय के इस क्रमबद्ध विवेचन में इस प्राचीन भूभाग की संस्कृति का भी वर्णन करते चलें।

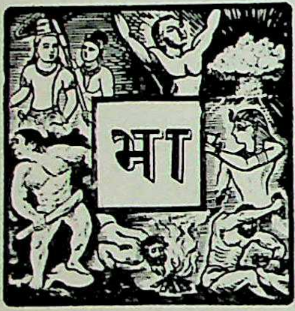

भारत के सिन्धुनद और मसोपटामिया की दजला नदी के बीच की अधित्यका, जिसके दक्षिण में फारस की खाड़ी और उत्तर में केस्पियन सागर तथा सर और आमू नामक नदियाँ हैं, प्राचीन काल ही से ईरान के नाम से प्रसिद्ध है। यह अधित्यका साधारणतया समुद्र की सतह से तीन से पाँच हजार फीट तक ऊँची है। इसके चारों ओर पर्वतमालाएँ हैं, जिनकी साधारण ऊँचाई नौ-दस हजार फीट तक है, और कुछ चोटियाँ तो पन्द्रह से अठारह हजार फीट तक ऊँची हैं। इन्हीं में दमवन्द का ज्वालामुखी और "कोहेबाबा" की हिमाच्छादित चोटी भी है। इस पर्वतीय प्रदेश में इधर-उधर लंबे रेगिस्तान हैं, जिनमें से एक तो ८०० मील लम्बा है, जो सारे महाप्रदेश को दो भागों में विभाजित करता हुआ अलबुर्ज पहाड़ से मेकरान तक फैला हुआ है। किन्तु इसमें बड़ी मनोरम एवं उपजाऊ उपत्यकाएँ भी बिछी हुई हैं। उन्हीं उपजाऊ घाटियों में उस आदरणीय सभ्यता का विकास हुआ, जिसका कि विवरण हम यहाँ प्रस्तुत करने जा रहे हैं। यह सभ्यता प्राचीन ईरान की सभ्यता के नाम से पुकारी जाती है, जिसका कि ईरानवासियों को आज भी अभिमान है।

शुष्क जलवायु का प्रदेश

ईरान की आबहवा प्रायः बहुत ही सूखी है। यद्यपि कुछ प्रदेश वहाँ ऐसे भी हैं, जहाँ काफी जल बरसता है, किन्तु नौयात्रा योग्य केवल एक ही नदी वहाँ है। यों तो जलधाराएँ वहाँ बहुत-सी हैं, किन्तु उनका प्रवाह-मार्ग बहुत टेढ़ा और कुटिल है। समुद्र-तट पर कोई अच्छा बन्दरगाह भी वहाँ नहीं है। जल की इस कमी को पूरा करने के लिए ही वहाँ के निवासियों ने प्राचीन काल से ही जमीन के नीचे-नीचे नालियाँ बनाना आरम्भ कर दिया था, जिनमें झरनों आदि से पानी लाया जाता था। ईरान में कड़ाके का जाड़ा और कड़ी गरमी पड़ती है, किन्तु कुछ प्रान्तों को छोड़कर वहाँ की जलवायु अति स्वास्थ्यप्रद और पुष्टिकारक है। इस प्राकृतिक विचित्रता के कारण यहाँ नाना प्रकार के जीव-जन्तु और फल-फूल होते हैं। वन्य पशुओं में सिंह, बाघ, तेंदुए, भालू, बनबिलाव, जंगली सुअर, भेड़िये, साही, शृगाल, लोमड़ी, खरगोश, पहाड़ी बकरे, हिरन और बारहसिंघे आदि विविध प्रकार के जंतु यहाँ मिलते हैं। किन्तु यहाँ के आर्थिक जीवन में घोड़े, ऊँट, भेड़, बकरी, और कुत्ते की यथाक्रम प्रधानता है। यहाँ सैकड़ों प्रकार के पक्षी मिलते हैं, जिनमें बुलबुल, मुर्ग, बाज, शिकरे और दाढ़ीवाले गिद्ध भी हैं। मछलियों की यहाँ कमी है। फलों में नारंगी, खजूर, खरबूजा, आड़ू, अंजीर, नाशपाती, सेब, अनार, अंगूर, शहतूत,

बादाम, पिस्ता, आदि खूब होते हैं। किन्तु [illegible] और अनाजों की यहाँ कम उपज होती है।

एलाम

ईरान या फारस की सब से पुरानी सभ्यता के अवशेष 'एलाम' में पाए जाते हैं। एलाम-निवासियों का उल्लेख सुमेरिया और बेबिलोनिया के सम्बन्ध में किया जा चुका है। उनका आतंक किसी समय इतना बढ़ा हुआ था कि मसोपटामिया के राज्य और साम्राज्य एलाम से सदैव शंकित रहते थे। एलाम ने 'उर' राज्य को नष्ट कर डाला था। बेबिलान और एलाम का संघर्ष निरंतर होता रहा। अन्त में एलामवालों ने बेबिलान का भी विध्वंस कर दिया। इसके उपरांत उनकी असीरिया के साम्राज्य से टक्करें होने लगीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि असुरबनिपाल ने ईसा से ६४५ वर्ष पूर्व एलाम की राजधानी सूसा को लूटकर जला दिया और उक्त राज्य का सदा के लिए मूलोच्छेद कर डाला। यद्यपि कई हजार वर्ष तक एलाम राज्य जीवित रहा था, किन्तु न तो उसने कभी सुव्यवस्थित संगठन किया और न प्राचीन सभ्यताओं में कोई आदरणीय स्थान ही प्राप्त किया। एलाम न तो ईरान का विशेष अंग था और न वहाँ के निवासियों का ईरान की आर्य जातियों ही से कोई सम्बन्ध था। इन्हीं कारणों से ईरान के इतिहास में एलाम का विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

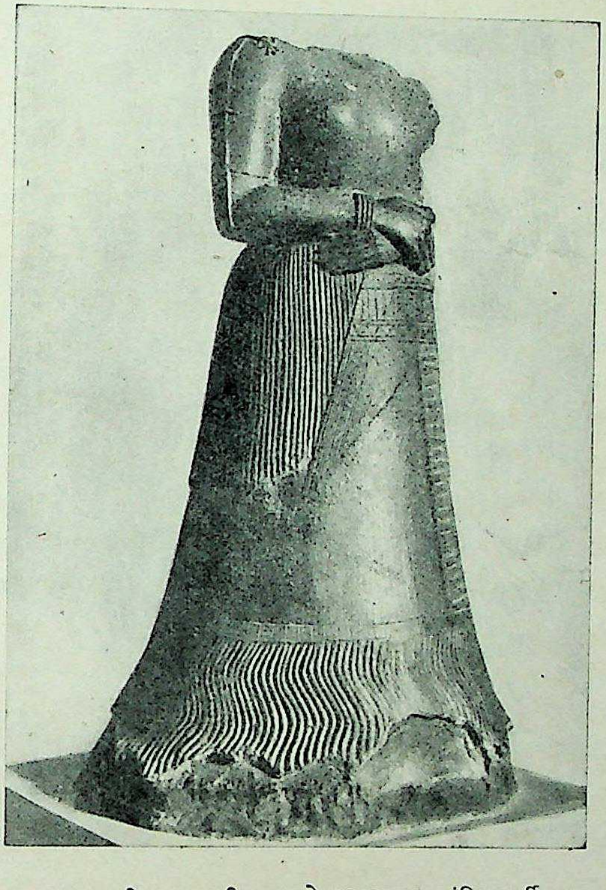

एलाम की राजधानी सूसा से प्राप्त एक खंडित मूर्ति।

मीडियन आर्य

ईरान के इतिहास का पट वस्तुतः ईस्वी पूर्व नवीं शताब्दी में खुलता है। उस समय कुर्दिस्तान की पहाड़ियों में 'परमुअ' और मैदान में 'मड़ई' अथवा 'मीड़' लोग बसते थे। ये दोनों आर्य जाति की शाखाएँ थीं और कुछ शताब्दी पूर्व वहाँ आकर बस गई थीं। इस समय आर्य जातियाँ समरकंद, बल्ख, और खुरासान में भी बसी हुई थीं। 'मीड़' लोग छः कुलों और अनेक कुटुम्बों में विभक्त थे। ये लोग कृषि द्वारा अपना निर्वाह करते थे। साधारणतया ये कुल स्वतंत्र रूप से रहते थे, किन्तु आपत्तिकाल में वे एक होकर लड़ा करते थे। असीरिया के सम्राट् इनका दमन करने के लिए बारम्बार अपनी सेनाएँ भेजते और हजारों की संख्या में उन्हें पकड़कर ले जाते थे। किन्तु इतने पर भी उनका क्षय नहीं हो पाया था! संभव है कि इन्हीं आक्रमणों से व्याकुल होकर उन्होंने दयौक्कू (डियोसीज) नाम के एक न्यायप्रिय और वीर पुरुष को अपना राजा बना लिया और उसके नेतृत्व में वे सब संगठित हो गए। दयौक्कू ने अपनी राजधानी एकबाटन (आधुनिक हमदान) में स्थापित की और एकसत्तात्मक राज्य आरंभ कर दिया (७०८-६५५ ई० पू०)। उसने मीड़ वंशों को एकता के सूत्र में बाँध दिया। चूँकि असीरिया के राजा एलाम और बेबिलान से युद्ध में व्यस्त थे, और मीड़ राजा शांति रखने के लिए उन्हें बराबर कर देते रहते थे, अतएव उनसे उनका कोई युद्ध न हुआ। इसी शान्ति से लाभ उठाकर दयौक्कू और उसके उत्तराधिकारी को अपने सजातीय वंशों को, जिनमें कि परशियन लोग भी थे, अपने अधीन करने का मौका मिल गया। इन विजयों से उत्साहित होकर अगले राजा फ्रवर्तिश (फ्रओर्टीज) ने असीरियनों पर आक्रमण कर दिया। किन्तु इस लड़ाई में वह बुरी तरह से हारा और मार भी डाला गया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हुवक्षत्र

उसके उत्तराधिकारी हुवक्षत्र (सीएकुरीज) ने राज्य के पुनरुत्थान के लिए शासन और विशेषकर सेना का नवीन ढंग से अच्छा संगठन किया। मीडिया में घोड़े अच्छे पैदा होते थे, इसलिए उसने अपनी घुड़सवार सेना को इतना बढ़ाया और चढ़ाया कि वह एक भयंकर शक्ति बन गई। इसी प्रबल सेना से उसने असीरियावलों को हराकर निनवे नगर को घेर लिया। संभव था कि वह उसे जीत भी लेता। किन्तु इसी समय मीडियापर सीथियन लोगों के आक्रमण के कारण उसे वापस लौट आना पड़ा। सीथियनों से युद्ध में यद्यपि उसका पराभव हो गया (६३३ ई०पू०), किन्तु फिर भी उसने सेना एकत्रित करके सीथियन लोगों के नेताओं को धोखे से मार डाला और शत्रु को देश से बाहर भगा दिया। इसके बाद उसने असीरिया के गृह-युद्ध में दखल देकर इस बार निनवे को जलाकर सदा के लिए नष्ट कर दिया। असीरिया के निर्बल होते ही मीडियावालों को चारों ओर अपना आधिपत्य बढ़ाने में सुविधा हो गई। पर तभी पश्चिम की ओर लीडियावालों ने उनका ऐसा सामना किया कि सात वर्ष तक युद्ध करने पर भी सिवाय सन्धि करने के उन्हें दूसरा उपाय न सूझा। ५८४ ई० पू० हुवक्षत्र की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी इश्तुवेगु ने शासन और सेना में ढील डाल दी और ऐश-आराम में वह अपना समय नष्ट करने लगा। फलतः परशियनों द्वारा मीडिया पर आक्रमण होते ही वहाँ का राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया (५५० ई० पू०)।

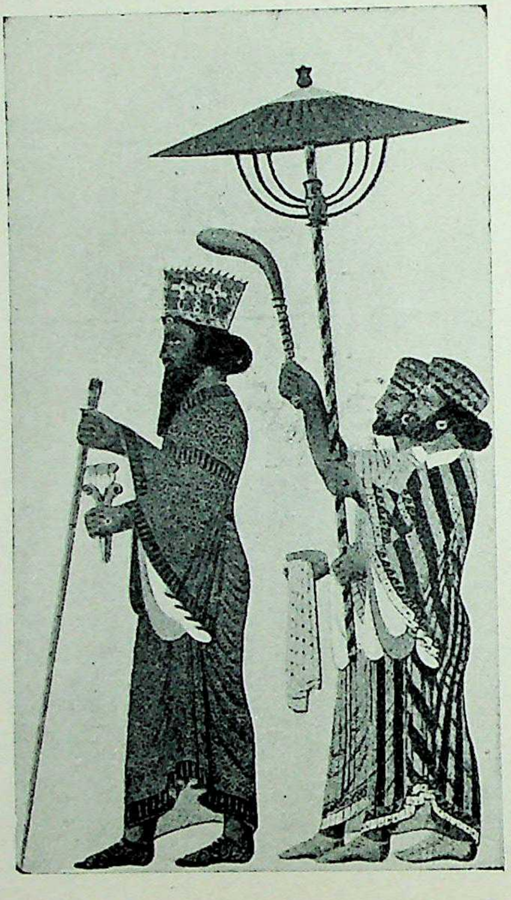

सम्राट् दारा प्रथम का यह चित्र पर्सिपोलिस में स्थित उसके महल के ध्वंसावशेषों में मिला है।

परशियन जाति और उनका राजा कुरश (कोरेश)

मीड़ों की तरह परशियन लोग भी आर्य जाति के थे। वे दस वंशों में विभक्त थे। उनमें से 'पसारगडी' प्रमुख वंश था। इस वंश में 'हखमनिश' (एकेमनीज) नामक कुटुम्ब ने ईरान में एक बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना करके अपना नाम अमर कर दिया। इस कुटुम्ब का सब से पहला प्रतापी राजा कुरश अथवा कोरेश द्वितीय हुआ। वह ५५९ ई० पू० अनजन के छोटे प्रान्त की राजगद्दी पर बैठा था। यह प्रान्त मीडिया राज्य के अधीन था। गद्दी पर बैठने के शीघ्र ही बाद कुरश ने मीडिया से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए युद्ध ठाना और अन्त में विजय प्राप्त करके उसने सारे मीडिया पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया (५५० ई० पू०)। उसी समय 'फारस के सम्राट्' की पदवी ग्रहण करके उसने ईरान के सुप्रसिद्ध साम्राज्य को जन्म दिया। परन्तु जब उसने पश्चिम में राज्य को बढ़ाने का प्रयत्न किया, तो उसकी टक्कर लीडिया के उदीयमान और बलशाली राजा क्रीसस से हो गई। क्रीसस को यूनान की रियासतों की सहायता प्राप्त थी, तथापि कुरश ने उसे हरा दिया और उसकी राजधानी सारडिस को जीत लिया (५४६ ई० पू०)। इसके बाद धीरे-धीरे उसने भूमध्य-सागर के पूर्वीय तट के ग्रीक उपनिवेशों पर भी अपना अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया, जिसके कारण यूनानवालों को बड़ी चिन्ता हो गई।

सम्राट् कुरश ने पूर्व में बलख मर्व, समरकन्द, सिजिस्तान, मकरान आदि प्रदेशों को भी जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। ऐसे विजेता के सामने बेबिलान तक अपनी स्वतंत्रता की रक्षा न कर सका। फलतः ५३८ ई० पू० बेबिलान का भी सदा के लिए अंत हो गया। जब कुरश अपनी विजय की चोटी पर था, तभी मध्य एशिया की जैहूँ नदी के उत्तर की ओर से 'मस्सजेतई' नामक खानाबदोश जाति ने उस पर आक्रमण किया। कुरश ने घोर युद्ध किया, किन्तु वह मारा गया (५२८ ई० पू०)। कुछ लोगों का विचार है कि कुरश की मृत्यु

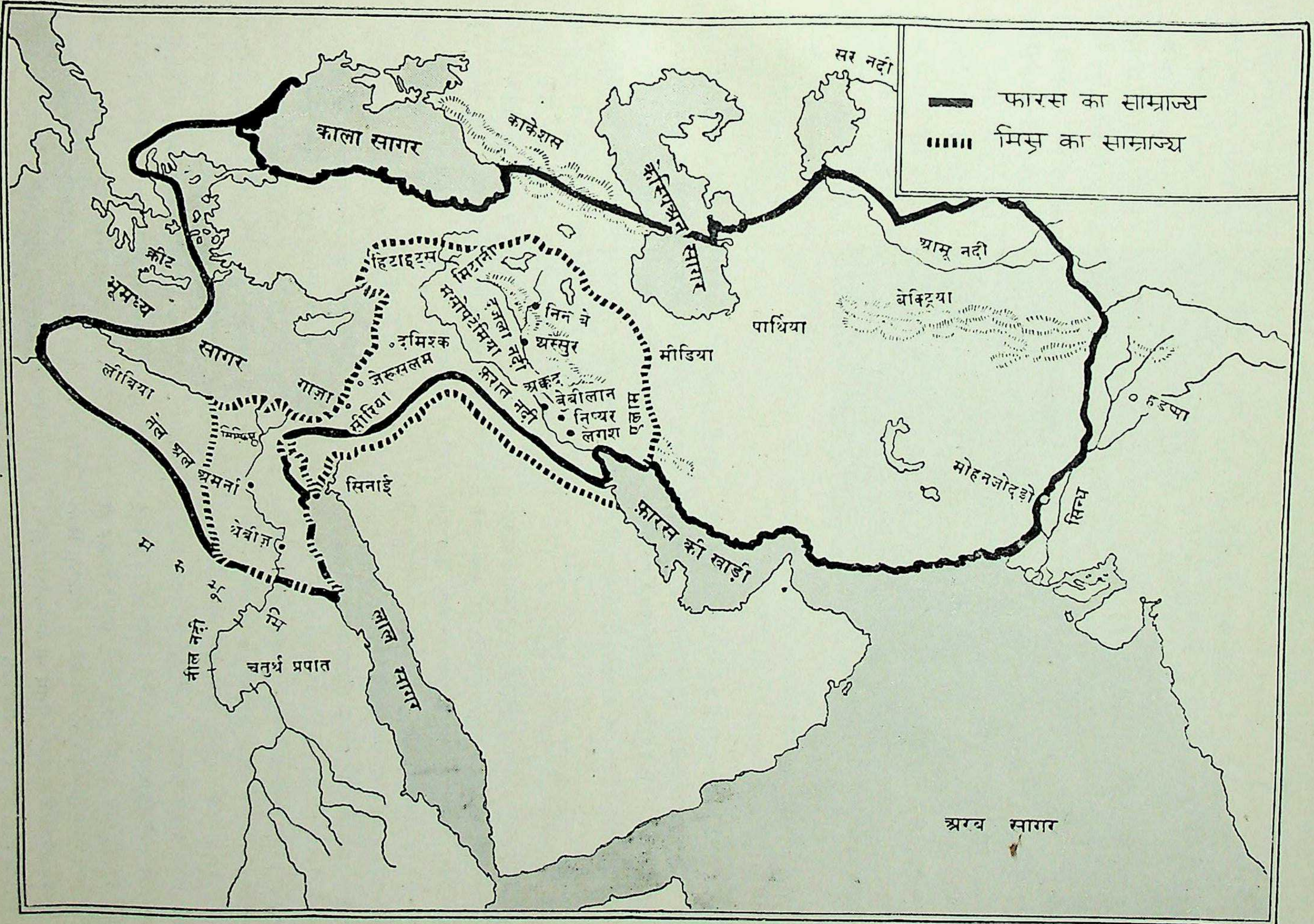
फारस का साम्राज्य
मिस्र का साम्राज्य
सर नदी
काला सागर
काकेशस
कैस्पियन सागर
आमू नदी
बैक्ट्रिया
पार्थिया
मीडिया
हड़प्पा
मोहनजोदड़ो
सिन्ध
क्रीट
भूमध्य सागर
लीबिया
हिटाइट्स
मितन्नी
मसोपटेमिया
दजला नदी
फ़रात नदी
निनवे
असुर
अक्कद
बेबीलान
निप्पर
लगश
एलाम
दमिश्क
जेरुसलम
गाज़ा
सीरिया
मिम्फिस
सिनाई
अमर्ना
थेब्ज़
नील नदी
म रु भू मि
चतुर्थ प्रपात
लाल सागर
फ़ारस की खाड़ी
अरब सागर

अपने चरम उत्कर्ष की घड़ी में ईरान या फारस के साम्राज्य की रूपरेखा:: तुलना के लिए मिस्र के पूर्ववर्ती साम्राज्य की भी सीमाएँ दिग्दर्शित हैं।

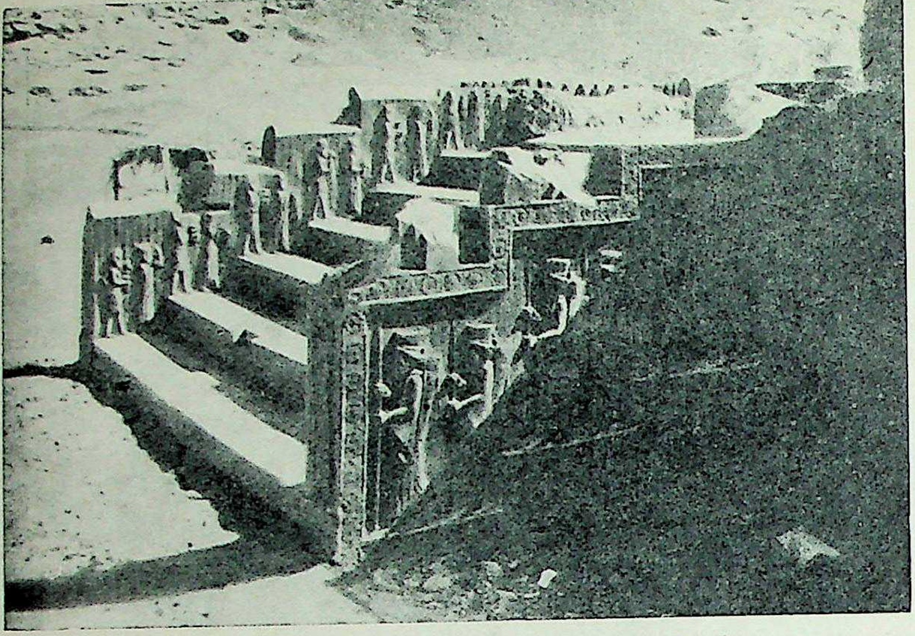

पर्सिपोलिस में दारा के राजप्रासाद की सीढ़ी का यह कलापूर्ण अंश उक्त स्थान की खुदाई के फलस्वरूप निकला है।

पर्थिया के लोगों से युद्ध करने में हुई थी। जो कुछ भी हो, ईरान के साम्राज्य का निर्माता यह कुरश ही था। उसने ही मीड़िया, लीडिया और बेबिलोनिया के तीन प्रसिद्ध राज्यों को सर्वदा के लिए नष्ट करके ईरान की शक्ति की नींव डाली!

कम्बुजिया द्वारा साम्राज्य-विस्तार

कुरश की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कम्बुजिया (केम्बिसेस) सिंहासन पर बैठा। यद्यपि वह क्रूर था, किन्तु उसमें योग्यता और उत्साह का अभाव न था। राज्य में शान्ति स्थापित करके साम्राज्य को बढ़ाने एवं अपने पिता की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए उसने मिस्र पर चढ़ाई की। इस आक्रमण में बद्दुओं, कुछ यूनानियों और फीनिशियनों ने भी उसकी सहायता की। उसने पेलुसियम के युद्ध में मिस्रवालों को परास्त करके उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया और वहाँ एक गवर्नर नियुक्त कर दिया (५२५ ई० पू०)। मिस्रवालों के धार्मिक भावों और तीर्थों का आदर करके उसने विजितों को प्रसन्न करने का भी प्रयत्न किया। इसके बाद उसने पचास हजार सैनिक कार्थेज जीतने के लिए भेजे। पर यह सेना भयंकर मरुभूमि में फँसकर विनष्ट हो गई। उसने न्यूबिया जीतने का भी प्रयत्न किया था, किन्तु मार्ग की कठिनाइयों के कारण उसमें भी वह असफल रहा। इन दुर्घटनाओं के कारण वह पागल सा हो गया और अत्याचार करने लगा। यहाँ तक कि अपनी रानी को, जो उसकी सगी बहन थी, पेट में ठोकर मारकर उसने मार डाला! उसकी असफलता, क्रूरता और दीर्घकाल तक ईरान से बाहर मिस्र में उसके ठहरे रहने के कारण साम्राज्य में अशान्ति और विद्रोहाग्नि भड़क उठी। उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर गौमत नाम के मीडिया के एक दुस्साहसी ने कुरश का पुत्र 'बरदिया' होने का दावा किया और पूर्वीय प्रान्तों पर अपना अधिकार जमा लिया। तदुपरान्त गौमत ने अपने राज्यारोहण की भी घोषणा सारे साम्राज्य में करा दी। कम्बुजिया ने इस विद्रोह के दमन की असमर्थता का अनुभव कर सम्भवतः आत्महत्या कर ली। किंतु जब यह भेद खुला कि गौमत वस्तुतः बदरिया नहीं था, तब सातों प्रमुख कुलों में खलबली मच गई। परिमाण यह हुआ कि सिक्याहुवती के किले में गौमत का वध कर दिया गया। तदुपरान्त सातों कुलों के नेताओं ने गौमत का वध करनेवाले दरयवाश (दारा) को सम्राट् मान लिया। यह दारा उसी वंश का था, जिसका कि पूर्ववर्ती सम्राट् कुरश था।

महाप्रतापी दारा प्रथम

अशान्ति और विप्लवों के कारण साम्राज्य भर में विद्रोह और प्रान्तों में स्वच्छन्दता बढ़ गई थी। अतः दारा को नए सिरे से साम्राज्य के दिग्विजय की आवश्यकता पड़ी। उसने बीस वर्ष की अवस्था से ही कुरश और कम्बुजिया की सेना में रह कर युद्ध और शासन-कला का अच्छा अनुभव प्राप्त कर लिया था। कम्बुजिया ने उसे मिस्र-स्थित सेना का सेनापति बनाया था। अतः अपने सैनिक कौशल से दारा ने धीरे-धीरे पर्शिया, एलाम, मीडिया, असीरिया, पार्थिया, सीथिया, मिस्र आदि सभी प्रदेशों में फिर से आधिपत्य स्थापित कर लिया। अपनी विजयों की स्मृति जीवित रखने के लिए उसने उनकी गाथा एक शिला पर अंकित कराके बेहिस्तन में आरोपित

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर दी। यह शिलालेख बड़े महत्व का है। उससे पता चलता है कि उसका राज्य बल्ख और भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से लेकर मिस्र और भूमध्यसागर के तट तक फैला हुआ था। उसके राज्य की आमदनी करीब चालीस करोड़ रुपए नकद थी। इतना बड़ा साम्राज्य संसार के इतिहास में यह सब से पहला था। इससे भी महत्व की बात यह थी कि फारस ने साम्राज्य-शासन की कला में भी अभूतपूर्व उन्नति की थी। इस सब का श्रेय बहुत अंश में दारा ही को मिलना चाहिए। कमी इस बात ही की रही कि इतने विशाल साम्राज्य की रक्षा और शक्ति को सम्पन्न करनेवाली सेना की अच्छी रचना वह नहीं कर पाया। वस्तुतः सैनिकों की संख्या इतनी बढ़ गई थी कि उनका बेकार रहना भयंकर समझा जाने लगा। इसके सिवा उसे अपनी साम्राज्य-वृद्धि की तृष्णा की तुष्टि की भी आवश्यकता थी। इसीलिए उसने नए-नए सैनिक अभियान किए।

योरप पर चढ़ाई

उसके सुनने में आया कि सीथिया में (जो कि दक्षिणी रूस से डेन्यूब नदी तक का प्रदेश था) सोने की खानें और अपार धन भरा है, किन्तु वहाँ के आदमी बड़े उद्दण्ड, युद्धप्रिय और क्रूर हैं। उनकी जनसंख्या भी इतनी है कि जिस तरफ वे झुक पड़ें, उधर ही आपत्ति पड़ जाने की घोर आशंका है। उपर्युक्त स्थिति और तीव्र जिगीषा से प्रेरित होकर दारा ने कई लाख सेना से सीथिया पर आक्रमण कर दिया। इस अभियान में बास्फरस डमरूमध्य पार कर योरप की भूमि पर उसका पैर रखना इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। योरप की भूमि पर एशिया के विजेता का यह पहला चरण था! उसकी सेना काले समुद्र के पास डेन्यूब नदी के मुहाने तक जा धमकी। राह में यूनानियों ने थोड़ा-बहुत उपद्रव किया, किन्तु वे दबा दिए गए। सीथियन पीछे हटते-हटते ऐसे अज्ञात प्रदेशों में चले गए, जहाँ शत्रु-सेना के निर्वाह के साधन मिलना कठिन था। इससे आक्रमणकारियों की बहुत क्षति हुई और उन्हें पीछे लौटना पड़ा। फिर भी थ्रेस विजय करके दारा ने वहाँ अपनी अस्सी हजार सेना स्थापित कर दी। ५१२ ई० पू० दारा ने पूर्व में भी सिन्धु नद तक अपना साम्राज्य बढ़ा लिया।

यूनान पर आक्रमण :: मराथान का युद्ध

दारा प्रथम की इस बढ़ती हुई शक्ति से शंकित होकर यूनानवालों ने मिस्र को विद्रोह की उत्तेजना दी। इस आन्दोलन में बेबिलोनियावाले भी सम्मिलित हो गए। आयोनियावालों को तो यूनानियों ने खुलमखुल्ला दारा के विरुद्ध सहायता दी। इस विद्रोह और उद्दण्डता के लिए उसने यूनानियों पर आक्रमण किया एवं जल और स्थल दोनों ओर से वह बढ़ा। यद्यपि मराथान के मैदान में यूनानियों को

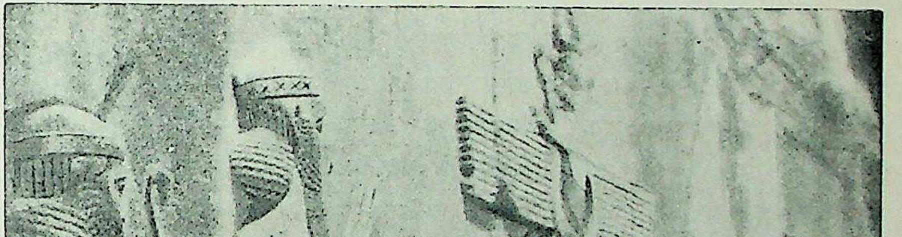

वेहिस्तन की चट्टान पर अंकित दारा महान् (चित्र में बाईं ओर से दूसरा) की अपने शत्रुओं पर विजय का सुप्रसिद्ध स्मारक।

अनेक कारणों से फारस की सेना के एक अंग पर विजय प्राप्त हुई, जिससे ईरान की शक्ति का आतंक और महत्व कुछ घट गया और यूनानियों में नया उत्साह और नवीन आशा चमक उठी, तथापि दारा का उत्साह इससे घटने के बदले और बढ़ गया। उसने भारी सेना एकत्रित करके यूनान और मिस्र को एक साथ जीतने का संकल्प किया। सम्भव था कि वह अपने प्रयत्न में सफल हो जाता, किन्तु ४८५ ई० पू० उसकी मृत्यु हो जाने से उसका यह कार्य पूर्ण न हो सका। दारा प्राचीन काल का एक महान् सम्राट् था, जिसके शासन की प्रशंसा इतिहास में सदा के लिए अङ्कित हो गई है। ईरानी शासकों में उसने कुरश से भी अधिक नाम पैदा किया। अपनी राजधानी 'पर्सिपोलिस' में उसने साम्राज्य के योग्य विशाल सड़कों, महलों और भवनों की रचना कराई थी, जिनके खँडहर आज भी उसकी याद हमें दिलाते हैं।

अक्षयर्ष (जेरक्सीज) :: प्लेटिया और सलमिस के युद्ध

ईरान के राजाओं में एक प्रथा यह थी कि राज्य उसी पुत्र को दिया जाता था, जो कि राज्य-सिंहासन के मिलने के बाद सब से पहले जन्मा हो। तदनुसार दारा के बाद अक्षयर्ष (जेरक्सीज) को राज्य-सिंहासन प्राप्त हुआ (४८५ ई० पू०)। अक्षयर्ष अपने पिता के समान उत्साही तो था, किन्तु पराक्रमी नहीं। उसने मिस्र के उपद्रव को शान्त करके बेबिलान के विद्रोह का ऐसा दमन किया कि बेबिलान सदा के लिए अस्त हो गया। यूनानियों का दमन करने के लिए उसने बारह सौ जंगी और तीन हजार सफरी जहाजों द्वारा जलमार्ग से आक्रमण किया। साथ ही स्थलमार्ग से भी उसने मर्दोनियस के सेनापतित्व में नावों के पुल डालकर लगभग एक लाख सैनिक यूनान पर चढ़ा दिए। कुछ यूनानी राज्यों ने आतङ्क में आकर उससे समझौता भी कर लिया। अंत में प्लेटिआ के मैदान में यूनानियों की संयुक्त शक्ति से ईरानियों का भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें ईरानी सेनाध्यक्ष मर्दोनियस का निधन हो गया (४७९ ई० पू०)। इस दुर्घटना से ईरानी सेना को पीछे हटना पड़ा। इसके सिवा समुद्री बेड़ा भी समय पर न पहुँच सका, जिसके कारण युद्धक्रम के बदलने की आवश्यकता पड़ी। अन्त में जब जहाजी बेड़ा पहुँचा भी, तो भयंकर तूफान के कारण जीर्ण-शीर्ण और क्षीण दशा में। इस दुर्दशाप्राप्त ईरानी बेड़े पर सलमिस में आक्रमण करके यूनानी बेड़े ने उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

प्लेटिआ और सलमिस के युद्ध इस लिए बड़े मार्के के कहे जाते हैं कि इनके बाद से ईरानी शक्ति और उसके आतंक का शीघ्रता से क्षय होने लगा। यहाँ से एशिया के योरप पर आक्रमण के इतिहास के पहले अङ्क की समाप्ति और पलटकर एशिया पर योरप के आक्रमण के ऐतिहासिक युग का आरम्भ होता है। अक्षयर्ष ने साम्राज्य के शासन की व्यवस्था में भी कोई विशेष सफलता न पाई। कुछ काल के बाद अर्तबनुस के हाथ से उसका वध हो गया।

विद्रोहों का ताँता :: दारा द्वितीय

यूनान के साथ युद्ध में ईरान की असफलता एवं यूनानियों की उत्तेजना से प्रेरित होकर मिस्रियों ने विद्रोह कर दिया। किन्तु अर्तक्षत्र ने उनको और उनके यूनानी सहायकों को ऐसी बुरी तरह परास्त किया (४५६ ई० पू०) की विद्रोहियों की कमर टूट गई। फलतः एथेन्स को भी उससे मित्रता करने के सिवा कोई दूसरा मार्ग न दिखाई पड़ा।

अक्षयर्ष की मृत्यु (४२४ ई० पू०) के पश्चात् राज-सिंहासन के लिए झगड़े होते रहे, जिससे साम्राज्य में क्षोभ पैदा हो गया और उपद्रव उठ खड़े हुए। जब दारा द्वितीय सिंहासन पर बैठा, तब उसने विद्रोह का दमन करने के लिए प्रयत्न किया। वह लीडिया, मसोपटामिया के पश्चिमी प्रदेश मीडिया आदि में तो सफल रहा, किन्तु मिस्र देश उसके हाथ से निकल गया। इसके सिवा कर्दोची (आधुनिक बोहतान) में जब उसने लोगों पर स्वयं भारी सेना लेकर आक्रमण किया, तब वह सर्वथा असफल रहा। उसकी समस्त सेना पहाड़ों के बीच में फँसकर नष्ट हो गई। इन दुर्घटनाओं से आहत होकर तथा उत्तराधिकारी को निश्चित करने की चिंता में दारा परलोक चल बसा (४०५ ई० पू०)।

अरतक्षयर्ष द्वितीय और तृतीय :: मिस्र विजय

पुनः राज्यसिंहासन के लिए युद्ध ठना। यूनानी एक पक्ष का समर्थन करते रहे, किन्तु उनको और उनके मित्र को हरा कर अरतक्षयर्ष द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने यूनानियों को दण्ड देने के लिए उन पर चढ़ाई की। पर दस वर्ष तक युद्ध होने पर भी उसको कोई सफलता न मिली, वरन् इस युद्ध में धन का बड़ा अपव्यय और सैनिकों का अपार निधन हुआ। इसका परिणाम कोई अच्छा न हुआ। फिर भी उसने दो लाख सेना लेकर मिस्र पर धावा किया। पहले तो कुछ सफलता मिली, किन्तु बाद को उसकी सेना को वहाँ से हताश होकर लौटना पड़ा। इन असफलताओं से उत्साहित होकर सूबेदारों ने भी अधिकाधिक स्वच्छन्दता-प्रदर्शन आरंभ कर दिया। इन सूबों को वशवर्ती रखने के लिए भी उसे

युद्ध करने पड़े। इस कुसमय में ईरान के द्रोहियों की सहायता के लिए यूनान और मिस्र ने मिलकर प्रयत्न करने का मंसूबा किया, किन्तु सम्राट् की मृत्यु हो जाने के कारण वह इरादा क्रियान्वित न हो सका।

सम्राट् का पुत्र अरतक्षयर्ष तृतीय (अरटाजेरेक्सीज) की पदवी ग्रहण करके राज्य करने लगा। भविष्य की आशंका से बचने के लिए उसने अपने सब प्रतिद्वन्द्वियों का वध करा दिया। पश्चिमी एशिया (एशियाई कोचक) में मिस्र और यूनानियों की उत्तेजना से उपद्रव होते रहे। अतः ईरान के लिए मिस्र पर चढ़ाई करना आवश्यक हो गया। पहली बार तो मिस्रवालों ने बाढ़ रोकी, किन्तु ३४५ ई० पू० ईरानवालों ने मिस्र को जीत कर फिर उसे अपने साम्राज्य का सूबा बना लिया। एशिया कोचक में भी शान्ति स्थापित कर दी गई। कुछ दिनों से मकदूनिया के राजा फिलिप ने साम्राज्य पर हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया था। अरतक्षयर्ष उसका दमन करने का विचार कर ही रहा था कि विष देकर एक नौकर ने उसे मार डाला (३३६ ई० पू०)।

दारा तृतीय :: अलेक्जेन्डर द्वारा ईरान की विजय

हत्या करनेवाले ने अरतक्षयर्ष के पुत्रों का भी वध करके दारा द्वितीय के पौत्र को दारा तृतीय की उपाधि देकर सिंहासन पर बिठा दिया। किन्तु दारा तृतीय ने उसे प्राणदण्ड दिया। दारा तृतीय वीर, अनुभवी और अपने कई पूर्वजों से योग्यता में भी अधिक था। पर जिस वर्ष वह सिंहासनासीन हुआ, उसी वर्ष मकदूनिया के फिलिप का भी वध हुआ और उसका बाईसवर्षीय पुत्र अलेक्जेन्डर (सिकन्दर) सिंहासन पर बैठा। अलेक्जेन्डर के पिता फिलिप ने ईरान के साम्राज्य में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था और उसके पुत्र ने भी उसी नीति पर चलने की ठानी। दारा यह जानता था। अतः उसने यूनान की रियासतों को मकदूनिया के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उत्तेजित किया। पर स्पार्टा को छोड़कर अन्य किसी का भी साहस न पड़ा कि इस विरोध के लिए तैयार होते। अलेक्जेन्डर ने अधिक विलम्ब अनुचित समझकर तुरन्त यूनान पर चढ़ाई कर दी। थीबियावालों ने उसका सामना किया, किन्तु वे परास्त हो गए। अन्य लोगों ने भी उसके सामने सिर झुका दिया।

पर्सिपोलिस से प्राप्त दारा के महल के द्वार पर की एक उभड़ी हुई मूर्ति। इससे प्राचीन इरानी कला का कुछ अनुमान हमें हो सकता है।

३३४ ई० पू० अलेक्जेन्डर ने अपनी सेना ईरानी साम्राज्य की ओर बढ़ाई। उसके पास बीस हजार अश्वारोही और बत्तीस हजार पैदल सैनिक थे। उसका समुद्री बेड़ा केवल १६० जंगी जहाजों का था। यद्यपि ईरानी बेड़ा इससे कहीं बड़ा था, किन्तु ढील और आलस्य के कारण वह अलेक्जेन्डर को समुद्र पार करने से रोक न सका। एशिया कोचक के नगरों को नष्ट-भ्रष्ट करके और वहाँ सैनिकों को स्थापित करके अलेक्जेन्डर आगे बढ़ा। ईरानी सरदार उसको रोकने में असमर्थ रहे। दमिश्क में दारा की माँ, लड़कियाँ और एक रानी यूनानियों द्वारा पकड़ ली गईं। दारा ने सन्धि का प्रस्ताव किया, किन्तु वह स्वीकृत न हुआ। यद्यपि अलेक्जेन्डर को टायर नगर के जीतने में (३३२ ई० पू०) सात महीने लगे, किन्तु वह आगे बढ़ता ही गया। ईरानी सम्राट् की इस समय की अकर्मण्यता का परिणाम यह हुआ कि सीरिया और मिस्र भी उसके हाथ से निकल गए। आखिर यूनानी सेना ने निनवे के पास गौगमेल में ईरानी सेना को बुरी तरह परास्त करके (३३१ ई० पू०) बेबिलान, सूसा आदि नगर ले लिए।

कहते हैं कि थाया नाम की अपनी प्रेमिका को प्रसन्न करने के लिए अलेक्जेन्डर ने साम्राज्य की राजधानी पर्सिपोलिस को लूटकर जला दिया। दारा भागता चला गया और आखिर बल्ख के क्षत्रप ने अन्य एक सरदार के साथ मिल कर उसका (दारा का) वध कर दिया। बल्ख के क्षत्रप का विचार स्वयं सम्राट् बनने का था, किंतु एलेक्जेन्डर ने उसको दम न लेने दिया। वह पकड़ लिया गया और बेइज्जती के साथ मरवा डाला गया। दारा की लाश पर सिकन्दर ने अपना लाल वस्त्र डालकर उसका सम्मान किया और आदरसहित उसे दफन करा दिया। दारा की मृत्यु के साथ ही ईरान के विशाल साम्राज्य का अंत और एक नए युग का आरम्भ हो गया।

ईरान की विजय के बाद अलेक्जेन्डर की विजयाकांक्षा और बलवती हो उठी और वह भारत-विजय के सपने देखता हुआ पूर्व की ओर और आगे बढ़ा। जब यूनानियों का आधिपत्य पूर्व में पंजाब तक और मध्य एशिया तक स्थापित हो गया (३२७ ई० पू०), तो राजनीति और सभ्यता के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति हो गई। किन्तु इतने बड़े साम्राज्य को संगठित कर उसे एकशासनवर्ती रखने की शक्ति और योग्यता यूनानियों में नहीं थी। इसीलिए अलेक्जेन्डर की मृत्यु (३२३ ई० पू०) होते ही उसका यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। वस्तुतः इस यूनानी दिग्विजय ने यूनान को बलवान बनाने के बदले उसे निर्बल करना आरम्भ कर दिया।

ईरानी सभ्यता :: ईरानी लोगों का रूप और पहनावा, भाषा और आचार-व्यवहार

ईरान के प्राचीन चित्रों को देखने से यह जान पड़ता है कि उस देश के प्राचीन निवासी सुन्दर, सुडौल, बलिष्ठ और गंभीर होते थे। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि वे उसी आर्य जाति के थे, जिसकी एक शाखा ने भारत पर अपना आधिपत्य जमाया था। पुरुष प्रायः लम्बी दाढ़ी और लम्बे किन्तु घुंघराले बाल रखते थे। चेहरे को छोड़कर अपना सारा शरीर वे वस्त्रों से ढाँपे रखते थे। स्त्रियों और पुरुषों की पोशाक में केवल इतना ही भेद था कि उनकी छाती पर कपड़ा कुछ खुला रहता था सिर पर पगड़ी या टोपी बदन पर कमरबन्द से कसा अचकननुमा आस्तीनदार लम्बा कुर्ता और पायजामा एवं पैरों में जूता, यही उनकी पोशाक थी। स्त्री एवं पुरुष दोनों को खुशबू, लेप और क्रीम आदि सौन्दर्यवर्द्धक सामग्री का बड़ा शौक था। आँखों में अंजन लगाकर ये लोग अपना सौन्दर्य बढ़ाते थे।

प्राचीन ईरान में यों तो कई भाषाएँ बोली जाती थीं, किंतु उनकी राजभाषा संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती एक भाषा थी, जिससे आगे चलकर जैन्द और पैह्लवी भाषाएँ निकलीं। उनके अक्षर यद्यपि बेबिलान के अक्षरों से निकले थे, परंतु उन्हें उन्होंने ऐसा सुलझा लिया था कि तीन सौ अक्षरों का काम केवल ३६ अक्षरों ही से चलने लगा था। लोगों को साधारणतया लिखने-पढ़ने का शौक नहीं था। पैसेवालों को तो युद्ध, शिकार और इंद्रिय सुख से ही फुरसत नहीं मिलती थी। अतः पढ़ने-लिखने, व्यापार और उद्योग-धन्धों आदि में उनकी रुचि नहीं थी।

ईरानियों का सम्भाषण शिष्ट और बर्ताव उदार था। शिष्टाचार का वे विशेष ध्यान रखते थे। जब परिचित व्यक्ति मिलते, तो यदि वे बराबर की श्रेणी के हुए तो आलिंगन करके ओष्ठ-चुम्बन करते थे। बड़ों का झुककर वे स्वागत करते, अपने से छोटों को कपोल-चुम्बन देते और साधारण व्यक्तियों का भी झुककर सत्कार करते थे। खाने-पीने में वे बहुत अधिक शुद्धता का विचार रखते थे। प्रायः वे एक बार ही भोजन करते थे और शुद्ध जल पीते थे। मदिरा का उन्हें शौक नहीं था। शारीरिक और मानसिक पवित्रता का वे विशेष ध्यान रखते थे। व्यभिचार एवं गणिकागमन को वे गर्हणीय और सर्वथा दण्डनीय समझते थे।

विवाह-संबंधी रिवाज और स्त्रियों की स्थिति

विवाह करना ईरानी लोग आवश्यक कर्त्तव्य मानते और पुरुष या स्त्री का अविवाहित रहना वे अत्यन्त अनुचित समझते थे। गृहस्थ-जीवन को वे सब से अच्छा मानते थे। बिना पुत्र-कलत्र के उनके यहाँ समाज में आदर नहीं होता था। ईरानियों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। ये लोग अपनी बहनों और लड़कियों एवं माता से भी विवाह करना अनुचित नहीं समझते थे! विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त वे उपपत्नियाँ भी रख लेते थे। मँगनी बचपन ही में हो जाती थी और पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ब्याह करना अच्छा समझा जाता था। दारा के युग के पहले ईरानी स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता थी। वे परदा नहीं करती थीं। वे धन और सम्पत्ति भी रख सकती थीं और स्वयं उसका प्रबन्ध करती थीं। अपने पति के नाम से वे लेन-देन भी करती थीं। यह परिस्थित दारा के युग के बाद बदलने लगी। तब से स्त्रियाँ परदे में रखी जाने लगीं। अब विवाहिता स्त्रियों का अपने पिता, भाई और बन्धुओं तक से मिलना कठिन हो गया। जब कभी वे बाहर जातीं, तो ढकी हुई पालकियों ही में निकलती थीं। इसी कारण ईरान के प्राचीन शिल्प और लेखों में स्त्रियों का कहीं संकेत भी नहीं पाया जाता है।

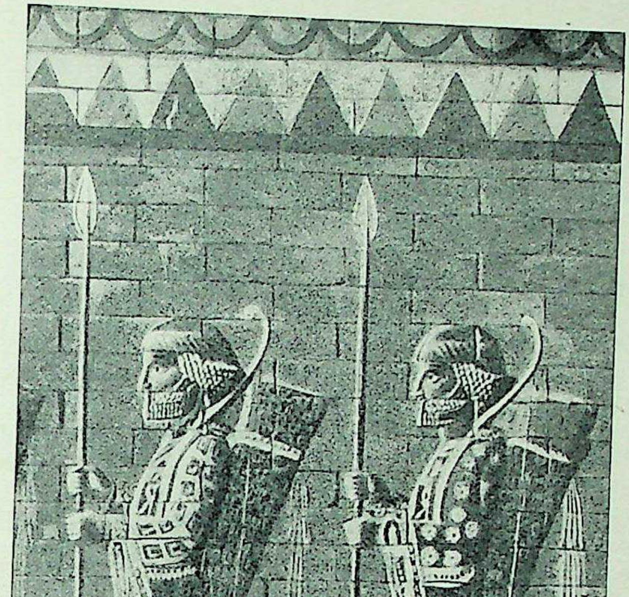

सूसा के राजप्रासाद से प्राप्त ईरानी धनुषधारी सैनिकों का रंगीन ईटों पर अंकित एक चित्र।

शिक्षा-दीक्षा

ईरानी कुटुम्ब में लड़कों का जन्म लेना शुभ और लड़कियों का जन्म बुरा समझा जाता था। किन्तु भ्रूणहत्या किसी भी दशा में क्षम्य नहीं थी। उसके लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। पाँच वर्ष की आयु तक बच्चे माता के और सात वर्ष की अवस्था तक पिता के शिक्षण में रहते थे। यदि माता-पिता सम्पन्न हुए, तो वे पुत्रों को शिक्षा के लिए पुरोहित के पास भेजते थे, जो उन्हें बस्तियों से दूर किसी मन्दिर अथवा अपने घर में शिक्षा देते थे। वहाँ प्रायः बीस या चौबीस वर्ष की अवस्था तक उन्हें उच्च शिक्षा दी जाती थी। साधारण मनुष्यों को उच्च शिक्षा पाने का अवसर प्राप्त नहीं होता था। तथापि उन्हें भी घुड़सवारी, धनुर्विद्या और सत्य बोलने की शिक्षा अवश्य दी जाती थी। शिक्षा के यही तीन मुख्य आदर्श माने जाते थे। ईरानी विद्यार्थी का जीवन परिश्रमपूर्ण था। उसे प्रातःकाल उठना, लम्बी दौड़ लगाना, घोड़े की तेज सवारी करना, तैरना, शिकार करना, खेती करना, पेड़ लगाना आदि सिखाया जाता था। खाने को सादा और मोटा भोजन उसे दिया जाता था। उसके चरित्र में सहिष्णुता और दृढ़ता की क्षमता बढ़ाने के लिए घोर गरमी, जाड़ा और बरसात में परिश्रम करने का अभ्यास उसे कराया जाता था।

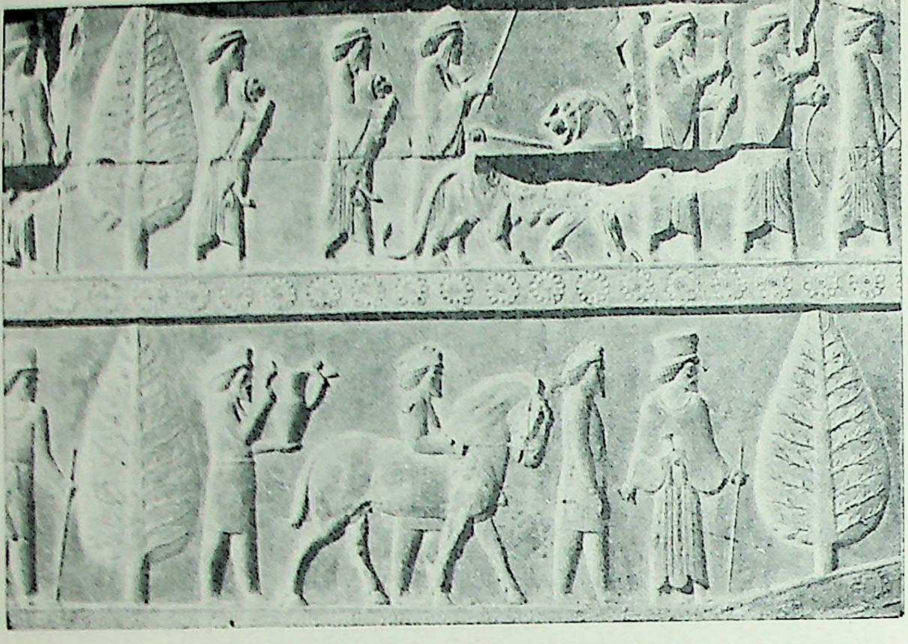

पर्सिपोलिस के खुदाई के फलस्वरूप प्रकाश में आनेवाले दारा प्रथम के राजप्रासाद की सीढ़ी की दीवार पर खुदा हुआ एक उभरा हुआ प्रस्तर-चित्र। (ऊपर) प्राचीन सूसावासी सम्राट् को भेंट देने के लिए धनुष, कटारें आदि शस्त्र और दो शावकों सहित एक सिंहनी लिए जा रहे हैं। (नीचे) आर्मीनियावासी प्रजाजन उपहार के लिए एक घोड़ा और पात्र लिए जा रहे हैं।

सारांश यह है कि प्राचीन ईरान की शिक्षा का मुख्य ध्येय जीवन-संग्राम के लिए वीर-धीर व्यक्ति तैयार करना था। उनकी दृष्टि में किताबी विद्या अथवा साहित्य की बहुत कम उपयोगिता थी। जो कुछ विज्ञान उन्हें बेबिलानवालों से मिला था, उसे ही वे काफी समझते थे। कविता-कहानी आदि को वे रुचिकर तो मानते थे, किंतु इनकी रचना करना वे घटिया और भाड़े के टट्टुओं के उपयुक्त काम समझते थे। साधारण जनता पूर्णतया अशिक्षित थी। उसका मुख्य धन्धा कृषि करना था। कृषि को ही ईरानी सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय मानते और उसी से संतुष्ट रहते थे।

विलासिता की वृद्धि के साथ पतन का आरम्भ

साम्राज्य एवं सम्पत्ति बढ़ने के साथ ही ईरानियों के उपर्युक्त गुणों में ऐसी क्षीणता आई कि उनका शीघ्रता से ह्रास होने लगा। समाज में लोलुपता और ऐय्याशी बढ़ती चली गई। फलतः उदरपोषण, चटोरापन, मद्यपान और व्यभिचार उन लोगों को स्वाभाविक से प्रतीत होने लगे। उनके आचार-विचार और रहन-सहन में स्त्रैण भावना का प्रभुत्व छा गया। यहाँ तक कि रणक्षेत्र में भी उनके लिए स्त्रियों की मौजूदगी अनिवार्य हो गई। लोग सुंदर भवनों में रहते और बाग-बगीचे लगवाते, जिनमें विविध प्रकार के पशु-पक्षी पाले जाते थे। उनका फर्नीचर बहुमूल्य होता था। अमीरों की मेजों और काउचों पर सोना-चाँदी का कीमती काम बना रहता था। घरों में रंग-बिरंगे बहुमूल्य कालीन बिछे रहते थे। क्रमशः लोग व्यंजनों और पेय सामग्री के आस्वादन के आदी होते गए और उन्हें जर्क-बर्क पोशाकों का, जिनमें रत्न जड़े हों, शौक पैदा हो गया। यहाँ तक कि जूतों तक में वे रत्न जड़वाने लगे! अब जेवरों और मोती-जवाहर का शौक सब को हो चला और सोने के प्यालों में मदिरा पीने और नाच-रंग एवं गाने-बजाने में व्यस्त रहने का फैशन फैल गया। अपनी पूर्व-संगठित पुरुषार्थयुक्त सभ्यता एवं मानुषिक आदर्शों और जीवन के ध्येयों में इस विध्वंसकारी क्रान्ति से आक्रांत होकर आखिर ईरानी समाज एवं साम्राज्य शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

राजनीतिक संगठन

प्राचीन संसार के इतिहास में ईरान का साम्राज्य कदाचित् सब से विशाल था। अपनी प्रौढ़ावस्था में वह यूनान और मिस्र से लेकर सिंधु नदी तक और आर्मीनिया से समरकन्द, बोखारा और मध्य एशिया तक फैला था। यह साम्राज्य तेईस सूबों में विभक्त था। साम्राज्य के एक ओर से दूसरी ओर तक सड़कें बनी हुई थीं। सूसा से सार्डिस की सड़क तो १,५०० मील लम्बी थी। सूसा से सिन्धु नदी के तट तक भी सड़क बनी थी। सड़कों के पास हर तीन या चार मील के फासले पर सरायें और राजभवन बने हुए थे। इन स्थानों पर डाक आदि ले जाने के लिए तैयार तेज घोड़े रहते थे। जिस रास्ते के तय करने में तीन महीने लगते, उसे डाकचौकीवाले सात दिन में ही पूरा कर देते थे। नदियाँ आदि

नावों से पार की जाती थीं, किन्तु ईरानी लोग मजबूत और बड़े पुल भी आवश्यकतानुसार शीघ्रता से बना लेते थे। सड़कों और मार्गों पर शान्ति रखने का अच्छा प्रबन्ध था, जिससे आवागमन में सुविधा थी। यद्यपि ईरानियों को व्यापार से घृणा थी, फिर भी शासन, सेना-संचालन और सामाजिक व्यवहार के लिए उसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध थी। मिस्र का मार्ग सुगम करने के लिए दारा ने एक नहर खुदवाकर लाल सागर और नील नदी को मिला दिया था ! इससे भूमध्य-सागर से लाल सागर का सीधा सम्बन्ध हो गया था।

सम्राट् और केन्द्रीय शासन-व्यवस्था

इतने विशाल साम्राज्य का एकछत्र अधिपति सम्राट् था। अतः उसकी शक्ति और अधिकार अपार थे। उसकी इच्छा के प्रतिकूल बड़े-से-बड़े पदाधिकारी भी कुछ कहने का साहस नहीं कर सकते थे। उसका लोगों के जान-माल और आबरू पर पूरा अधिकार माना जाता था। तथापि व्यवहार में उसकी शक्ति अमर्यादित न थी। सात प्रमुख ईरानी वंशों का यह अधिकार था कि वे गंभीर विषयों पर जिस समय चाहें सम्राट् से मिलें और उसे राय दें। ये लोग एक प्रकार से स्थायी मंत्री जैसे थे और उनकी सम्मति का राजा यथा-साध्य आदर करता था। परन्तु उच्च श्रेणी के सभी व्यक्ति सम्राट् से पुरस्कृत होने एवं जागीरें पाने के कारण उसके अधीन थे। इसीलिए बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी 'बन्दक' अर्थात् दास कहा जाता था। सेना, शासन, कानून और न्याय का अन्तिम अधिपति सम्राट् ही था। उसे ही अपने राज्य का उत्तराधिकारी चुनने का भी अधिकार था। वह प्रायः अपने किसी पुत्र को ही उत्तराधिकारी बनाता था। केन्द्रीय शासन अनेक विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग का एक सर्वोपरि अध्यक्ष होता था, जो उसका मंत्री कहलाता था। ऐसे प्रमुख पदाधिकारियों की संख्या और कर्त्तव्यों की अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है, तथापि इतना ज्ञात है कि सम्राट् की अंगरक्षक सेना का सेनापति, न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश, प्रतिहार, राजसम्पत्ति का मुख्य निरीक्षक और खोजे-चाकरों के मुख्य सरदार प्रमुख पदाधिकारियों में गिने जाते थे।

प्रान्तीय शासन-व्यवस्था और 'क्षत्रप'

प्रान्तों अथवा सूबों के शासन का अध्यक्ष 'क्षत्रप' कहलाता था। वही सम्राट् के नाम से प्रान्त का शासन करता

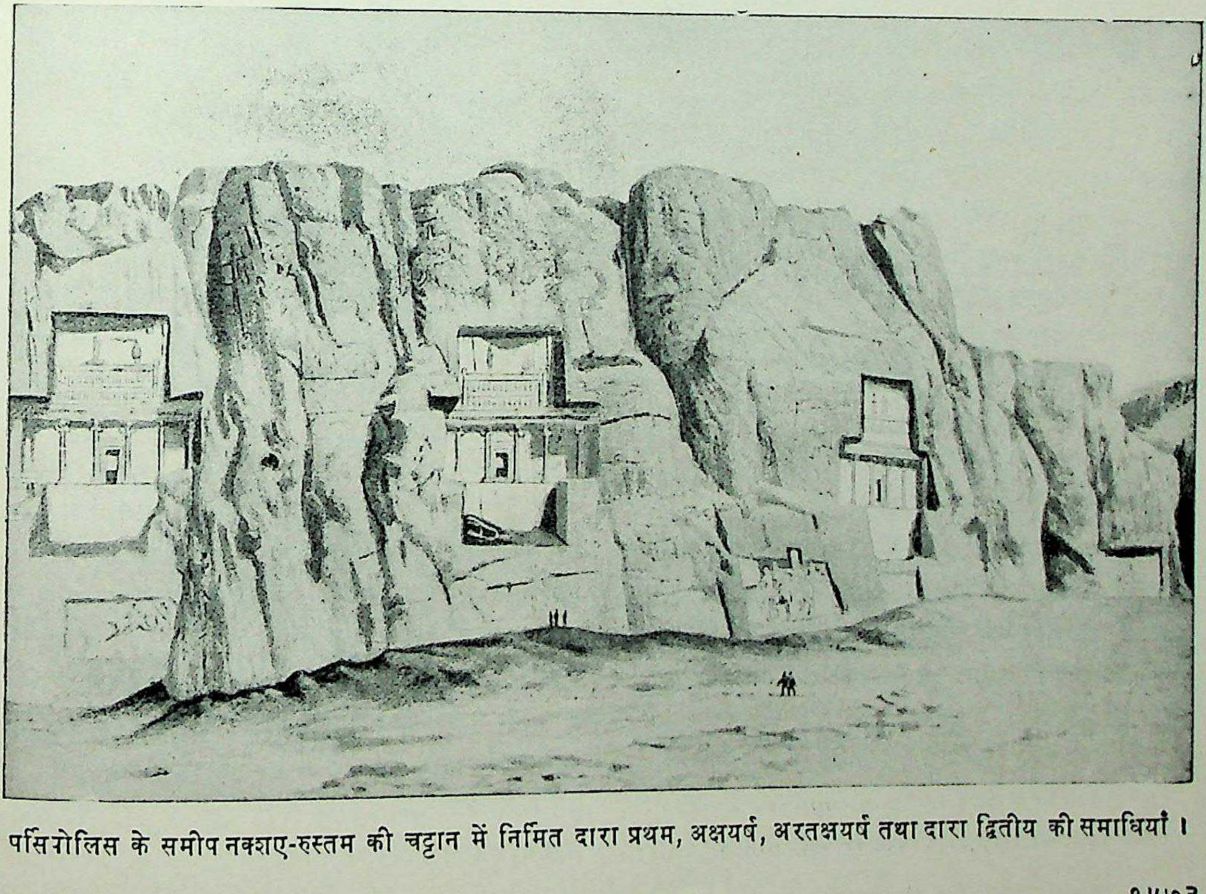

पर्सिपोलिस के समीप नक्शए-रुस्तम की चट्टान में निर्मित दारा प्रथम, अक्षयर्ष, अरतक्षयर्ष तथा दारा द्वितीय की समाधियाँ।

था। प्रान्त की सेना का जो अध्यक्ष होता था, वह 'क्षत्रप' की स्वच्छन्दता पर एक तरह से लगाम-सी लगाए रहता था। इसके अलावा सम्राट् द्वारा सूबे में एक प्रमुख लेखक भी नियुक्त होता था, जो क्षत्रप अथवा सूबे के सेनापति के समान अपने क्षेत्र में स्वतंत्र था। वह सूबे की सब बातों की सूचना सम्राट् को स्वतंत्र रूप से भेजा करता था। सूबे की प्रगति और शासन के कार्यों के निरीक्षण के लिए सम्राट् समय-समय पर अपना प्रतिनिधि भी भेज दिया करता था। सूबे के दफ्तर में लेखकों (क्लर्कों) की एक बड़ी संख्या काम करती रहती थी। सूबे का 'क्षत्रप' प्रायः उच्च वंश अथवा राजवंश का ही होता था। उसका कर्त्तव्य था कि सूबे में शान्ति रखे, वहाँ की सड़कों की रक्षा करे, न्याय करे, आय-व्यय का निरीक्षण करे और सूबे का खर्च निकालकर एक बँधी हुई रकम सम्राट् की सेवा में भेज दिया करे। ये क्षत्रप भी बड़े ठाठ-बाट और शान-शौकत के साथ रहते थे। कभी-कभी उनमें स्वतन्त्रता की भावना भी जग उठती और वे विद्रोह कर बैठते थे, जिससे उपद्रव खड़ा हो जाता था। तमाम सूबों से ईरानी सम्राट् को १४,५६० 'टेलेन्ट' की आमदनी होती थी, जो पचास या पैंसठ करोड़ रुपयों के लगभग थी। इसके अलावा प्रत्येक सूबे से अन्न, पशु, वस्त्र, दास एवं अनेक प्रकार के दुर्लभ पदार्थ भी बराबर आया करते थे।

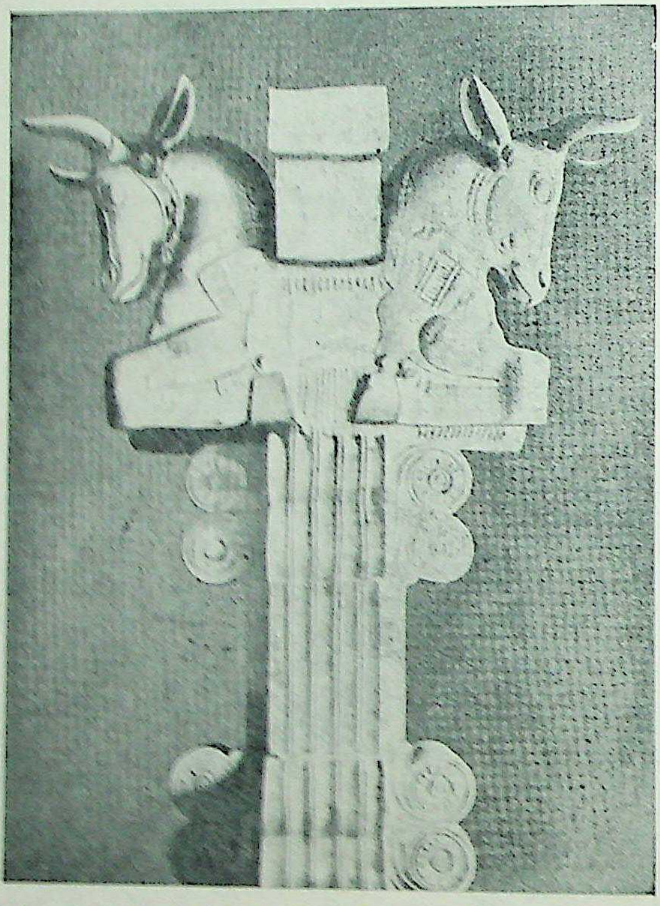

प्राचीन ईरान के वैभव का एक कलापूर्ण स्मारक :: यह सूसा के राजप्रासाद के एक स्तंभ का अवशेष है।

न्याय और दण्ड-व्यवस्था

न्याय करने के लिए एक मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर दिया जाता था। उसकी अध्यक्षता में एक न्यायालय स्थापित था, जिसमें सात 'दातबर' (जज) काम करते थे। इस मुख्य न्यायालय के अतिरिक्त राज्य में अनेक स्थानिक न्यायालय भी थे। यों तो न्यायकर्त्ता प्रायः पुरुष ही होते थे, किन्तु कभी-कभी स्त्रियाँ भी जज बना दी जाती थीं! मुकद्दमों का फैसला, जहाँ तक सम्भव हो सकता था, शीघ्रता के साथ कर दिया जाता था। इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि अभियोगी और अभियुक्त अपने चुने हुए पञ्चों के द्वारा मामला तय कर लिया करें। कालान्तर में मुकद्दमा लड़नेवालों को परामर्श देनेवालों का भी प्रादुर्भाव हुआ। यदि कोई जज अन्याय करता अथवा रिश्वत खा लेता, तो साबित हो जाने पर उसे शारीरिक दण्ड ही नहीं, बल्कि कभी-कभी प्राणदण्ड भी दे दिया जाता था!

राज्य का कानून पहले सरल था, किन्तु धीरे-धीरे वह पेचीदा होता चला गया। न्याय के लिए शपथ और कभी-कभी कठिन परीक्षाओं का भी प्रयोग होता था। प्रायः एक जुर्म के लिए, चाहे वह प्राणदण्ड ही के उपयुक्त क्यों न हो, दण्ड नहीं दिया जाता था। बारम्बार राजद्रोह, बलात्कार, अस्वाभाविक गमन, कत्ल, राजभवन में अनाधिकार प्रवेश, राजा की उपपत्नियों से संसर्ग, एवं मृतक को जलाने अथवा गाड़ने आदि विषयक अपराध करने के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी।

ईरान के दण्डविधानुसार सजाएँ विष देकर, रक्तशोषण करके, सूली चढ़ाकर, फाँसी देकर, अंग-भंग करके, पत्थरों से मारकर, गाड़कर, कोड़ों से मारकर एवं जुर्माने और कैद के रूप में दी जाती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि ईरान का दण्ड-विधान अत्यन्त कठोर और निर्दय था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सैनिक संगठन

अन्य साम्राज्यों की तरह ईरानी साम्राज्य की शक्ति भी उसकी सेना ही पर अवलम्बित थी। वहाँ पन्द्रह से पचास वर्ष के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य था कि वह युद्ध-कला सीखे और आवश्यकता पड़ने पर सेना में भर्ती हो। यदि कोई युद्ध में सम्मिलित होने से इन्कार करता या बचने की चेष्टा करता, तो उसे प्राणदण्ड तक दिया जाता था। इस प्रकार सैनिक सेवा अनिवार्य थी। अक्षयर्ष के समय में अठारह लाख सैनिक एकत्रित किए गए थे। ईरान की विशाल सेना साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में फैली रहती थी, और आवश्यकता पड़ने पर वह एकत्रित की जाती थी। सेना दस हजार सैनिकों के समूहों में संगठित थी। यह दस हजार का समूह हजार-हजार के दस टुकड़ों से युक्त था। प्रत्येक हजारवाला टुकड़ा सौ-सौ के दस टुकड़ों में, जो दस-दस की टुकड़ियों से युक्त थे, संगठित था। इस प्रकार दस, सौ, हजार और दस हजार की श्रेणीबद्ध सेनाएँ थीं। सेना का सब से श्रेष्ठ, संगठित और सुसज्जित भाग वह था, जो सम्राट् की अंग-रक्षा करता था। इस दल में दो सहस्र अश्वारोही और दो सहस्र पैदल होते थे। ये लोग मीड़, सूसा और फारस की ऊँची श्रेणियों में से लिए जाते थे। ये तीन भागों में विभक्त थे। प्रत्येक भाग नियत समय पर सम्राट् की सेवा में प्रस्तुत रहता था। यूनानवाले इस दल को 'मेलोफोरॉय' कहते थे। इनके बाद दश सहस्र चुने हुए सैनिकों की एक सेना थी, जो 'अमरदी सेना' के नाम से प्रसिद्ध थी। इनकी संख्या में कभी कमी नहीं पड़ने दी जाती थी। सेना के नायक प्रायः फारसी होते थे। प्रत्येक सूबे में कुछ-न-कुछ फारसी सेना तैनात रहती थी। प्रत्येक सूबे की सेना अपनी-अपनी प्रान्तीय पोशाक पहनती थी। सैनिक भाले, तलवार, बर्छे, खंजर, छुरी और तीर कमानों का प्रयोग करते थे। सेना में हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदलों के अलग-अलग दल थे। स्थल-सेना के अतिरिक्त सम्राट् की सेवा में बारह सौ जहाज भी थे। इनमें मुख्य कार्यभाग फीनीशियनों का था। विविध भाषाओं, प्रान्तों और रहन-सहनवाले एवं विभिन्न विधानों से युद्ध करनेवाले सैनिकों से संयुक्त इस विशाल सेना का मुख्य दोष यह था कि उसका संगठत अत्यंत शिथिल था, जिससे भली-भाँति उसका समन्वय और संचालन नहीं हो सकता था।

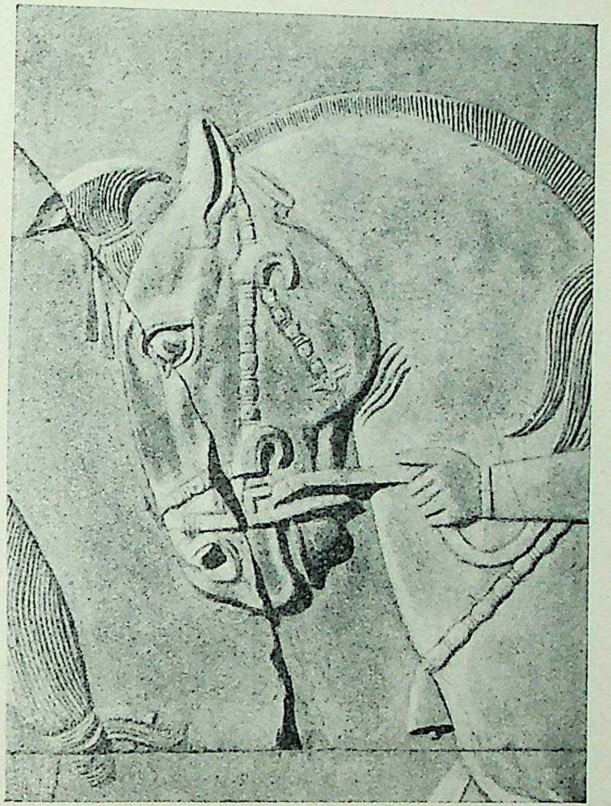

एक उभड़ा हुआ ईरानी पाषाण-चित्र।

धर्म और देवी-देवता

प्राचीन ईरानी सम्राटों की धार्मिक नीति सहिष्णुता से युक्त और उनके विचार उदार थे। वे अपने धार्मिक विचारों और सिद्धान्तों को येनकेनप्रकारेण दूसरों पर लादने की कभी चेष्टा नहीं करते थे और न किसी धर्म विशेष के प्रचार के लिए शक्ति का उपयोग करते थे। वे अन्य धर्मों और विचारों का पूरा आदर करते, उन्हें उत्तेजना देते और यथासम्भव अपनी विचारधारा और विश्वासों का उनके साथ समन्वय करने का भी प्रयत्न करते थे। कभी-कभी वे अन्य धर्मों की भी दीक्षा ले लेते, तथा दूसरों के देवालयों और तीर्थों का पुनरुद्धार अथवा निर्माण कराते थे। इस उदार नीति से उनकी कोई हानि नहीं होती थी, वरन् उन्हें लाभ ही होता था।

पुरातनकाल में प्राचीन ईरानियों का प्रधान देवता 'वरुण' था, जो आकाश और पृथ्वी का स्वामी माना जाता था। किंतु कालान्तर में पुराने विश्वास अथवा नामों में परिवर्तन हो गया और नए देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। मीड़ और फारसियों में तीन देवताओं की पूजा प्रचलित थी—'आहुरमजदा', 'मिथ्र' और अनाहिता'। आहुरमजदा सब देवताओं में

श्रेष्ठ और स्वयं सम्राट् का उपास्यदेव था। वही विश्व का एकमात्र अपार शक्तिशाली देवाधिदेव कल्पित किया जाता था। अन्य सब देवता उसके अधीन माने जाते थे। दृष्टिगोचर न होने के कारण उसने अपने उपासकों को अपना भावात्मक चिह्न दे दिया था, जो कि बेबिलानवालों में पहले ही से पूज्य माना जाता था। यह चिह्न या प्रतीक था वह विशाल पक्षधर सूर्यबिम्ब, जिसके मध्य में एक पुरुषाकृति स्थित थी। यह प्रतीक ईरानियों ने सम्भवतः बेबिलान से ही अपना लिया होगा। आहुरमजदा ने जरथुस्त्र को अपना प्रतिनिधि बनाकर लोकहित के लिए 'अवेस्ता' नामक धर्मग्रन्थ के सिद्धान्तों का प्रचार करने के हेतु इस लोक में भेजा था। उसका मुख्य उद्देश्य था कि केवल आहुरमजदा ही ईश्वर है।

आहुरमजदा के सात रूप अथवा गुण माने जाते थे। वे थे ज्योति, ज्ञान, सत्य, आधिपतित्व, पावित्रत्व, क्षेम और कल्याण। आगे चलकर लोगों ने इन गुणों को साकार और मूर्तिमान बना दिया। वे एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे। मिथ् नामक सूर्य, अनाहिता नाम की उत्पादिका, शक्ति और 'होम' नामक वृषभ देवता, आदि अनेक देवताओं की उपासना के सिद्धान्त को अब ये लोग नहीं मानने लगे। 'मग' अथवा पुजारियों के बलिदानात्मक पूजन-विधानों को भी वे व्यर्थ और आडम्बरपूर्ण समझते थे। इन सुधारात्मक सिद्धान्तों को राजनीतिक दृष्टिबिन्दु से हितकारी समझकर सम्राट् दारा प्रथम ने उन्हें अपना धर्म बना लिया। दारा के राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ इस धर्म के सिद्धांतों का अच्छा मेल मिलता था। प्राचीन ईरान में न तो मूर्तियाँ थीं और न देवालय ही। ऊँचे 'जिग्गुरात' पर खुले आकाश के नीचे पूजन किया जाता था। उनकी पूजन-विधि हवन और प्रार्थना थी। उनके विश्वास और पूजनविधि की ऋग्वेद-काल के आर्यों के भावों और विधानों के साथ बहुत-कुछ समानता थी। अवेस्ता के कुछ मंत्रों के शब्द और पदावली ऋग्वेद के मंत्रों से अक्षरशः मिलते हैं।

देवाधिदेव आहुरमजदा के सात साकार गुणों के अतिरिक्त उनके अधीन अनेक देवदूत माने जाते थे, जो मनुष्य को धर्ममार्ग पर आरूढ़ करते रहते हैं। किन्तु उनके इस पवित्र कार्य में विघ्न डालनेवाले सात अमंगलकारी दुरात्माएँ (देव) भी थे, जो सदा मनुष्य को धर्मच्युत करा देने में दत्तचित्त रहती हैं। इन दुष्ट आत्माओं का भी एक नेता था, जो अहिरमन अथवा अंग्रमैन्यु नाम से विख्यात था। इन दोनों प्रकार की शक्तियों का आदिकाल से ही वैमनस्य और संघर्ष चला आ रहा है। किन्तु अन्ततोगत्वा विजय मंगलकारी शक्तियों की ही होगी, यद्यपि यह शुभाशुभ का द्वन्द्व आदि से अन्त तक चलेगा। यह द्वैतात्मक विश्वास प्राचीन ईरान या फारस की विचारधाराओं में निरंतर ओत-प्रोत रहा है।

दूसरे प्रमुख देव मिथ् की पूजा जरथुस्त्र से भी पहले से ईरान में प्रचलित थी। वरुण, मित्र आदि की पूजा मित्तानी लोगों में भी पाई जाती थी। ये देवता प्रकाश और अन्धकार के लोकों के मध्यस्थ थे। आगे चलकर लोग उन्हें सूर्य का प्रतिरूप मानने लगे। शपथ-ग्रहण, युद्ध में विजय और राजमहिमा प्राप्त करने के लिए उनकी कृपा आवश्यक मानी जाती थी। क्रमशः मिथ् देवता की उपासना अधिकाधिक लोकप्रिय होती गई, यहाँ तक कि वह ईरान से परे रोमवासियों का भी उपास्यदेव हो गया।

तीसरा नाम अनाहिता का है। यह परमेश्वरी जगद्धात्री देवी थी। ईरान में संभवतः इसका आगमन बेबिलान से हुआ था। इस देवी की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं और अनेक नगरों में स्थापित की गईं। इसके संबंध में अनेक प्रकार के मंत्र-तंत्र आदि प्रचलित थे।

ईरानवाले चार तत्त्व—ज्योति, जल, वायु और क्षिति—की पूजा करते थे। साधारण जनता मग नामक पुरोहित की अध्यक्षता में फूल, फल, सुगन्धित पदार्थ और पशुओं की बलि दिया करती थी। बलि के लिए बैल, भेड़, ऊँट, घोड़े, बारहसिंघे और गधे काम आते थे। मगवंशवाले मीड़ जाति के थे और वे पुरोहित का कार्य करते थे। उनके विश्वास और यज्ञ-विधि कुछ अंशों में प्राचीन वैदिक ब्राह्मणों से मिलते थे। ये लोग मांस नहीं खाते, एकपत्नीव्रत रहते और अनेक संस्कारों एवं सरल जीवनचर्या द्वारा यथाशक्ति पवित्रता रखते थे। ईरान में मृत शरीर को कुत्तों और पक्षियों को खिला दिया जाता था। क्षत-विक्षत हो जाने के बाद उसे गाड़ दिया जाता था।

प्राचीन ईरान के धार्मिक विचार और संस्कार उनकी अन्य संस्थाओं के समान आर्य और सैमिटिक जातियों की सभ्यताओं के सम्मिश्रण से बने थे। ईरानी लोगों का विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् जीव को एक झूलनेवाले पुल के ऊपर से जाना पड़ता है। पापी नीचे गिर जाते हैं और अपने कुकर्मों के अनुसार अन्धकारग्रस्त लोक में अनेक प्रकार की यातनाएँ भोगते हैं। जब उनका भोग पूरा हो जाता है, तब वे भी स्वर्ग भेज दिए जाते हैं। किन्तु पुण्यात्माएँ पुल को पार करके दूसरे तट पर पहुंच जाती हैं, जहाँ सुन्दरियाँ उनका स्वागत करती हैं। ये पुण्यात्माएँ अनन्त काल तक आहुरमजदा के साथ आनन्दपूर्वक रहती हैं।

सभ्यताओं का उदय—(८)

प्राचीन ग्रीस :: स्पार्टा और एथेन्स

प्राचीन सभ्यताओं की गौरव-मंडली में ग्रीस या यूनान को जो प्रतिष्ठित पद प्राप्त है, उसका बहुत-कुछ आभास तो पिछले एक खंड में उस पुरातन देश की महान् कला-साधना का परिचय पाते समय आपको मिल ही चुका है। आइए, अब इतिहासकार की दृष्टि से सिंहावलोकन करके पाश्चात्य संस्कृति के इस महान् उद्गमस्थल के उद्भव और विकास की क्रमबद्ध झाँकी आपको दिखाएँ।

प्राचीन काल में ग्रीस के निवासी अपने देश के लिए 'ग्रीस' या 'यूनान' शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। 'ग्रीस' शब्द का प्रयोग तो रोमवालों ने और 'यूनान' का प्रयोग पश्चिमी एशियावालों ने प्रचलित किया है। उन दिनों वहाँ के निवासी अपने देश को 'हेलास' और अपनी जाति को 'हेलनीज' नाम से पुकारते थे। यह प्रदेश योरप महाद्वीप के दक्षिणी भाग में है। इसके पूर्व में ईजियन नामक उपसागर और काला समुद्र है, दक्षिण में भूमध्यसागर है और पश्चिम में एड्रियाटिक की खाड़ी है। इस प्रदेश की उत्तरी सीमा अनिश्चित-सी है। इस सीमा को लोग समय और रुचि के अनुसार ऊपर या नीचे करते रहे हैं। मोटे तौर पर यह कहा जाता है कि उसकी यह उत्तरी सीमा 'एपिरस' से 'थेसेली' प्रान्त तक फैली है। यह सीमा उस स्थान के पास से होकर गई है, जहाँ कि एपिनाइन पर्वतमाला 'पिन्डस' के नाम से प्रख्यात है।

'हेलास' पहाड़ी प्रदेश है। उसमें अनेक पर्वतमालाएँ और उनकी शाखाएँ फैली हैं। इस पहाड़ी प्रदेश में छोटी-बड़ी उपत्यकाओं का एक जाल-सा बिछा है। इनके सिवा समुद्र और पहाड़ों के बीच कुछ मैदान भी हैं। पर सब से मार्के की चीज तो इस प्रदेश के साथ संबद्ध ईजियन उपसागर के वे लगभग पाँच सौ छोटे-बड़े टापू हैं, जो नजदीक-नजदीक बिखरे हैं। इनमें क्रीट और साइप्रस सब से बड़े माने जाते हैं। स्वतः ग्रीस के प्रधान भूभाग को भी कोरिन्थियन खाड़ी ने दो टुकड़ों में ऐसा काटा है कि यदि वह एक संकीर्ण संयोजक नाड़ी से दूसरे भाग से न जुड़ा होता, तो 'पेलोपोनेसस' नामक भूभाग कटकर क्रीट के समान एक टापू बन जाता।

'हेलास' के उद्भव में भौगोलिक परिस्थिति का हाथ

भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव यों तो प्रत्येक देश और जनता पर पड़ता ही है, किन्तु कुछ इतिहासज्ञों का कथन है कि ग्रीस पर उसका प्रभाव विशेष मात्रा में पड़ा है। उपर्युक्त विवरण से आपको यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि 'हेलास' को जल ने न केवल तीन ओर से घेरा ही है, बल्कि वह उसके कटिबन्ध में भी लिपटा है। इस भूभाग में हर जगह पर जल ने स्थल में घुसने का प्रयत्न किया, जिससे अनेकों छोटी-छोटी खाड़ियाँ बन गई हैं। इसीलिए यहाँ के सारे तट-प्रान्त कटे-फटे से हैं। देश के भीतरी भाग की पहाड़ियों के कारण स्थल से आने-जाने में कभी भी उतना सुभीता नहीं रहा, जितना जलमार्ग से। टापुओं के पास-पास होने के कारण छोटी-छोटी नावें आसानी से एक से दूसरे स्थान को आ जा सकती थीं। यही नहीं, वे उतनी ही सरलता से एशिया के तट तक भी जा पहुँचती थीं। इससे तटवर्त्ती नगरों और राज्यों को आदान-प्रदान, व्यापार और सामाजिक एवं राजनीतिक संसर्गों के संस्थापन में भी आसानी रहती थी। इस परिस्थिति का हेलनीज लोगों के विकास पर विशिष्ट प्रभाव पड़ा। उन्हें समुद्र अपने फूलने-फलने का महान् साधन

प्रतीत हुआ, और फलतः उससे उन्हें विशेष अनुराग हो गया। इसका उनकी राजनीति और सभ्यता पर गहरा प्रभाव पड़ा। वस्तुतः उनके जिन प्रान्तों का सामुद्रिक जीवन से कम सम्बन्ध था, उनकी उन्नति सीमित रही और सभ्यता के क्षेत्र में उनका अधिक विकास नहीं हो सका।

पहाड़ी प्रदेश होने के कारण ग्रीस की उपत्यकाओं का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। अतः प्रत्येक उपत्यका का अपना पृथक् सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संगठन बन गया। इसी प्रकार समुद्र-तटस्थ प्रत्येक नगर-राज्य और प्रत्येक टापू या द्वीप-समूह की रीति-नीति भी विभिन्न बनी रही। इन पहाड़ियों के कारण साम्राज्य का तो बनना तक दुस्तर था, उसके सफल होने की तो चर्चा ही क्या!

यूनान के उत्तरी भाग में थेसेली प्रान्त है, जिसका विशाल मैदान पहाड़ियों के एक गुण्डल में घिरा है। यही यूनान का सब से बड़ा और उर्वर मैदान है। उसके अन्दर घुसने का एक ही दर्रा है, जो कहीं-कहीं इतना संकीर्ण है कि उससे केवल एक नदी भर के बहने की गुंजाइश है। इसी प्रकार का अन्य एक मैदान 'बिओशिया' का मैदान है, जो बड़ा उपजाऊ है। किन्तु 'एटिका' का पथरीला मैदान इन दोनों से कम उपजाऊ है। इसी में समुद्र के निकट 'एथेन्स' नाम का नगर स्थापित हुआ, जो आगे चलकर एक दिन न केवल सारे यूनान ही का वरन् समस्त प्राचीन पाश्चात्य संसार का सिरमौर बन गया। इस भूभाग के अन्य प्रान्त छोटे थे।

दक्षिणी भाग पेलोपोनेसस में लेकोनिया, मेसेनिया, आर्गोलिस आदि काफी उपजाऊ और जल-सिंचित प्रांत थे। लेकोनिया में ही 'स्पार्टा' नाम का नगर था, जिसका पेलोपोनेसस में वही स्थान था, जो उत्तरी भाग में एथेन्स का था।

यूनान के उत्तरी भाग में सिंचाई के लिए जल की कमी थी, किन्तु दक्षिण में पेलोपोनेसस में जल काफी था। इसके सिवा उत्तरी भाग में यूबिया की ताँबे की और एटिका की चाँदी की खानों एवं संगमर्मर की चट्टानों को छोड़कर खनिज पदार्थों की भी कमी थी। किन्तु पेलोपोनेसस में ताँबे और लोहे की खानों के अतिरिक्त अन्य बहुमूल्य खनिज पदार्थ भी प्राप्त थे। वहाँ का संगमर्मर भी घटिया नहीं था। कृषिसाध्य पदार्थों में जौ की अच्छी पैदावार होती थी। हाँ, गेहूँ कठिनाई से होता था। फल अनेक प्रकार के होते थे, जिनमें अंगूर का बाहुल्य था। किन्तु घटिया होने के कारण वे प्रायः सुरा बनाने के ही काम में आते थे। सारे देश में जैतून के पेड़ों की बहुतायत थी, जिससे तेल बहुत निकलता था। लकड़ी भी बहुत बढ़िया और कई प्रकार की होती थी। सारांश यह है कि ग्रीस में घास, चारा, लकड़ी, तेल, शराब, सफेद पत्थर आदि तो काफी थे, किन्तु अन्न एवं मूल्यवान् खनिज पदार्थों की वहाँ कमी थी। इसी कारण जब वहाँ की जनसंख्या बढ़ी और क्रीट, मिस्र एवं एशिया के सुख-समृद्धि के साधनों को प्राप्त करने का चस्का वहाँ के निवासियों को लगा, तब वे अन्न और व्यापार की खोज में इधर-उधर दौड़ पड़े।

यूनान की जलवायु भी उसके प्रान्तों की तरह निराली थी। वहाँ एक ओर तो पर्वत-शृंग थे, जो सदा बर्फ से ढके रहते थे; दूसरी ओर समुद्र-तट की सौम्यता थी। समुद्र एवं पहाड़ियों की शीतल हवा से वहाँ की जलवायु पुष्टिकारक, स्वास्थ्यवर्धक, उल्लासकर और उत्साहजनक थी। विशेषकर वहाँ के निर्मल आकाश का हेलनीज लोगों के शारीरिक संगठन और मानसिक विकास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, जिसका साक्षी उनका साहित्य और जीवनादर्श है।

ईजियन संस्कृति

इस भूभाग में हेलनीज लोगों के आने के बहुत पहले से ही ईजियन सागर के तटों और टापुओं पर जो लोग बसते थे, उनका ठीक-ठीक ज्ञान अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। यद्यपि दक्षिणी योरप, पश्चिमी एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका में भी ऐसी ही जाति के लोग बसते थे, किन्तु उनके विषय में भी केवल यही ज्ञात है कि वे हेलनीज जाति के न थे। ठीक नाम न मिलने के कारण वे 'मेडिटरेनियन' अथवा 'ईजियन जाति' के नाम से पुकारे जाते हैं। उन पर एशिया और मिस्र की सभ्यता का काफी प्रभाव पड़ा था, किन्तु उसे उन्होंने अपनाकर निजी ढंग से ग्रहण किया था। वे उद्योगशील व्यवसायी और साहसी व्यापारी थे। ग्रीस में उनकी सभ्यता का काफी अनुकरण हुआ था। उन्होंने ही ग्रीस के मुख्य स्थानों का उद्‌घाटन और नामकरण किया। अपने किलों एवं सुरक्षित नगरों से निकलकर वे दूर तक सामुद्रिक व्यापार करते थे। उनकी शक्ति और सभ्यता का सब से प्रमुख केन्द्र और पोषक क्रीट टापू था, जहाँ के ध्वंसावशेषों से पता चलता है कि उनके नगर समृद्धिशाली थे। वहाँ उन्होंने बड़े संगीन महल बनाए थे, जिनमें आराम और स्वास्थ्य का अच्छा ध्यान रखा गया था। कतिपय मकानों में भूलभुलैयाँ भी बनी थीं। उनकी दीवारों पर सुंदर और सजीव चित्र थे। उन विशाल भवनों की ऊँची और बड़ी छतों पर बैठकर स्त्रियाँ मेले-तमाशे, जलसे, खेल-कूद, और जानवरों की लड़ाइयाँ आदि देखती थीं। स्त्रियाँ फ्रॉक पहनतीं और कमर में पेटियाँ

बाँधती थीं । वहाँ से प्राप्त हाथीदाँत की बनी हुई कतिपय महिला-मूर्तियाँ, जो अमेरिका और योरप के अजायबघरों में सुरक्षित हैं, बड़ी ही सजीव और सुन्दर हैं । उनके मिट्टी और पत्थर के बर्तन और उन पर किया गया रंगीन फूल-पत्तियों आदि का काम तो मिस्र देश की कला को भी मात करता है । धातुओं में वहाँ ताँबे का तो खूब प्रचलन था, किन्तु लोहे का उन्हें ज्ञान न था । वे बड़े-बड़े मकान और महल बनाते, किन्तु किलाबन्दी करना उन्हें अच्छी तरह नहीं आता था । उस आदिकालीन सभ्यता की शक्ति और संस्कृति का प्रतिनिधित्व विशेष रूप से क्रीट का 'नोसास' और एशिया-तट पर स्थिति 'ट्रॉय' नामक नगर करते थे । क्रीट में उस आरंभिक सभ्यता के काफी चिह्न मिलते हैं ।

हेलनीज आए

जब हेलनीज इस भाग में आए, तब वे लगभग अर्द्धसभ्य-से थे । यूनानी इतिहासकार थ्यूसीडाइडीज लिखता है कि वे लोग बड़े बदतमीज थे और उनका रहन-सहन पशुओं का-सा था । वे दूसरी जाति के लोगों के साथ बुरा बर्ताव करते थे और उनको या तो गुलाम बना लेते या उन्हें काटकर कुत्तों को खिला देते थे । हेलनीज के मूलस्थान का हमें कोई पता नहीं है । कहा जाता है कि यूनान में आने से पहले वे एपिरस और थेसेली में रहते थे । उनमें एक अंश आर्य भाषा-भाषी आर्यों का भी था । परन्तु अधिकांश वे 'केल्टिक' वंश के थे । यह मिश्रित जनसमूह ग्रीस में धीरे-धीरे बढ़ता हुआ आया और वहाँ के पूर्व-निवासियों में मिलजुलकर एक हो गया । इसी समिश्रण से उस जनसमाज और सभ्यता का विकास हुआ, जो इतिहास में 'ग्रीक' अथवा यूनानी सभ्यता के नाम से प्रख्यात है । ये लोग ग्रीस के अन्तरीप में ही नहीं वरन् ईजियन सागर को पार करके एशियाई तट पर भी जाकर बस गए । यद्यपि उन्हें रोकने का वहाँ के आदिवासियों ने घोर प्रयत्न किया, किन्तु वे इस कार्य में विफल ही रहे । यहाँ तक कि सुदृढ़ ट्रॉय नगर भी भयंकर युद्ध के बाद उन के आगे घुटने टेक देने को विवश हो गया । इस प्रकार रास्ता खुल जाने पर धीरे-धीरे ईजियन सागर के तटप्रदेश एवं टापुओं पर ग्रीक लोगों का एकछत्र अधिकार हो गया ।

आरम्भ में ग्रीक लोगों का समाज-संगठन साधारण और शिथिल था । उनके समाज का आधार 'कुटुम्ब' था । जिन

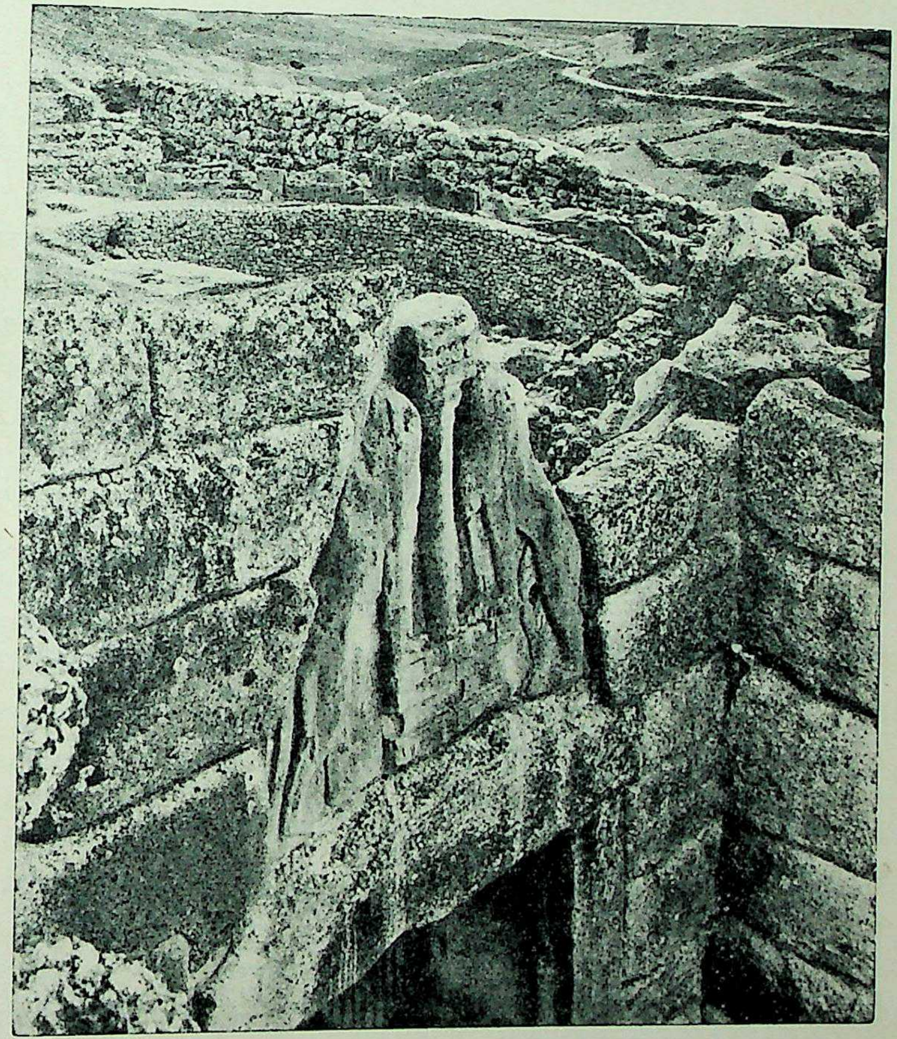

माइकिनी नामक स्थान में खुदाई करने पर निकले हुए सुप्रसिद्ध सिंह-द्वार और उसके भीतर सुरक्षित वर्तुलाकार समाधिस्थान का दृश्य। यह हेलनीज जाति के उदय से पूर्व की यूनान में प्रचलित ईजियन संस्कृति के अद्‌भुत स्मारकों में से एक है ।

कुटुम्बों में पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ था, वे एक ही भैयाचारे के कुटुम्ब कहे जाते थे। ऐसे कई भैयाचारों के समूह को ही ये लोग 'जाति' कहते थे। जाति के बड़े-बूढ़े लोग कभी-कभी 'सभा' में एकत्र होकर जातीय समस्याओं का निर्णय करते थे। संभव है कि प्रति वर्ष सब शस्त्रधारी लोग भी एक 'समिति' में बैठकर युद्ध आदि विषयों पर अपनी सम्मति प्रकट करते रहे हों। उन लोगों में नेता और सरदार तो थे, किन्तु राजत्व की भावना का उदय उनमें तब जाकर हुआ, जब उनका संसर्ग ईजियन लोगों से हुआ। इस संसर्ग का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि ग्रीक लोगों ने भ्रमणशीलता का परित्याग करके स्थिर होकर खेती-बाड़ी करना आरम्भ कर दिया। किन्तु आरम्भ में उनकी खेती-बाड़ी का काम स्त्रियाँ ही करती थीं। पुरुष जानवरों को चराते और उनकी देखभाल का काम करते। जीवनचर्य्या के इस परिवर्तन से गाँवों की स्थापना हो गई और भूमि-सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करने के लिए कानून और शासन की आवश्यकता भी बढ़ गई। धनी और निर्धन का भी भेद बढ़ने लगा, जिससे नई-नई समस्याएँ पैदा हो गईं। लेखन-कला की अनभिज्ञता के कारण भी अनेक असुविधाओं का अनुभव उन्हें होने लगा।

नगर-राज्यों का उदय

उपर्युक्त स्थिति कई सौ वर्ष तक चलती रही। फिर भी ग्रीक समाज में इस बीच कुछ-न-कुछ उन्नति होती ही गई। कालान्तर में अधिक उद्यमशील और सौभाग्यशाली गाँव बढ़कर नगर बन गए और आसपास के गाँवों के सजातीय लोगों का जीवन नगरों में केन्द्रित होने के कारण 'नगर-राज्यों' का उदय होने लगा। ग्रीस के इतिहास में इन नगर-राज्यों का बड़ा महत्व है, कारण ग्रीक लोगों के सामाजिक और नैतिक आदर्शों की पूर्णता इन नगर-राज्यों ही तक सीमित बनी रही। उनकी कल्पना नगर-राज्य से आगे कभी बढ़ी ही नहीं। वस्तुतः जब-जब भी ग्रीसवालों ने इस नगर-राज्य की सीमा से बाहर बढ़ने की चेष्टा की, तभी उनके पतन का आरम्भ हो गया। यद्यपि ग्रीस कुछ बहुत बड़ा भूभाग नहीं है, तथापि प्राचीन काल में वहाँ इस तरह के सैकड़ों नगर-राज्य स्थापित हो गए थे।

ग्रीक लोगों ने धीरे-धीरे लोहा धातु के लाभ का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया और चमड़े की पोशाकों के बदले वे ऊनी वस्त्र को काम में लाने लगे। उन्होंने मिस्र और पश्चिमी एशिया से चीनी के बर्तन, शीशे की बोतलें, हाथीदाँत की नक्काशीदार कंघियाँ, नक्काशीवाले फर्नीचर, जेवर, ताँबे की ढली चीजें आदि मँगाना शुरू किया और उन्हें देख-देखकर वैसी ही चीजें वे स्वयं भी अब बनाने लग गए, यद्यपि उनकी कारीगरी उतनी अच्छी न थी। यही नहीं, उन्होंने एशिया के फीनीशियन लोगों से लेखन-कला का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया और उसमें पर्याप्त सुधार भी कर लिया। लेखन-कला के साथ ही उन्हें लेखनी, स्याही और कागज के प्रयोग का भी ज्ञान हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भिक काल के उन ग्रीसवासियों पर मिस्र और एशिया का कितना भारी ऋण है!

ग्रीक देवी-देवता

'वीर-काल' में ग्रीक लोगों में धार्मिक भाव का भी उदय हो गया। वे आरम्भ में वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, पशु-पक्षी, धरती आदि में विविध गुप्त शक्तियों की कल्पना करते थे, जिनके प्रभाव से प्रत्येक वस्तु का व्यापार होना वे मानते थे। उनके मत में ये शक्तियाँ प्रसन्न अथवा रुष्ट हो सकती थीं, फलतः उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनेक विधान थे। यही शक्तियाँ आगे चलकर उनके विविध देवताओं और देवियों में परिणत हो गईं।

ग्रीक लोगों के प्रमुख देवता थे जोयस (आकाश का देवता), अपोलो (सूर्य), डियोनिसस (पृथ्वी का देवता), और पोसीडान (जल का देवता)। वे देवियों को भी मानते थे। वे थीं—एथीना (वायु की देवी, जो नगरों की रक्षक थी), डेमेटर (धरती माता), हरमीज (चन्द्रमा देवी), हेर (विवाह की संरक्षणी), एफ्रोडाइट (प्रेम की देवी) और हेस्टिया (गृहदेवी)। इन देवियों और देवताओं के व्यापार और व्यवहार मनुष्यों के समान ही माने जाते थे। उनके लिए न देवालयों के निर्माण की ओर न उनकी पूजा करने के लिए पुजारियों ही की आवश्यकता थी। लोग उनके लाक्षणिक चिह्नों को घरों में रखते थे।

प्राचीन ग्रीक लोगों का विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य पाताल लोक में चला जाता है। उस स्थान को वे 'हेडस' कहते थे। उस अधोलोक का राजा 'प्लूटो' (यम) था, जो भले या बुरे व्यक्तियों में कोई भेद नहीं करता था। हाँ, वीरों से वह अवश्य प्रसन्न रहता था और उन्हें अमर बनाकर 'एलीसियन मैदान' अथवा 'ब्लेस्ट' के टापू में भेज देता था। वहाँ वे अक्षय सुख का आनन्द उठाते थे। मृत शरीर को ग्रीक लोग प्रायः जला देते थे, किन्तु कभी-कभी वे उसे गाड़ भी देते थे। गड़े हुए व्यक्तियों को खाने-पीने के लिए वे उन्हें अनेक पदार्थ भेंट करते रहते थे। उनकी कब्रों को वे पवित्र स्थान मानते थे।

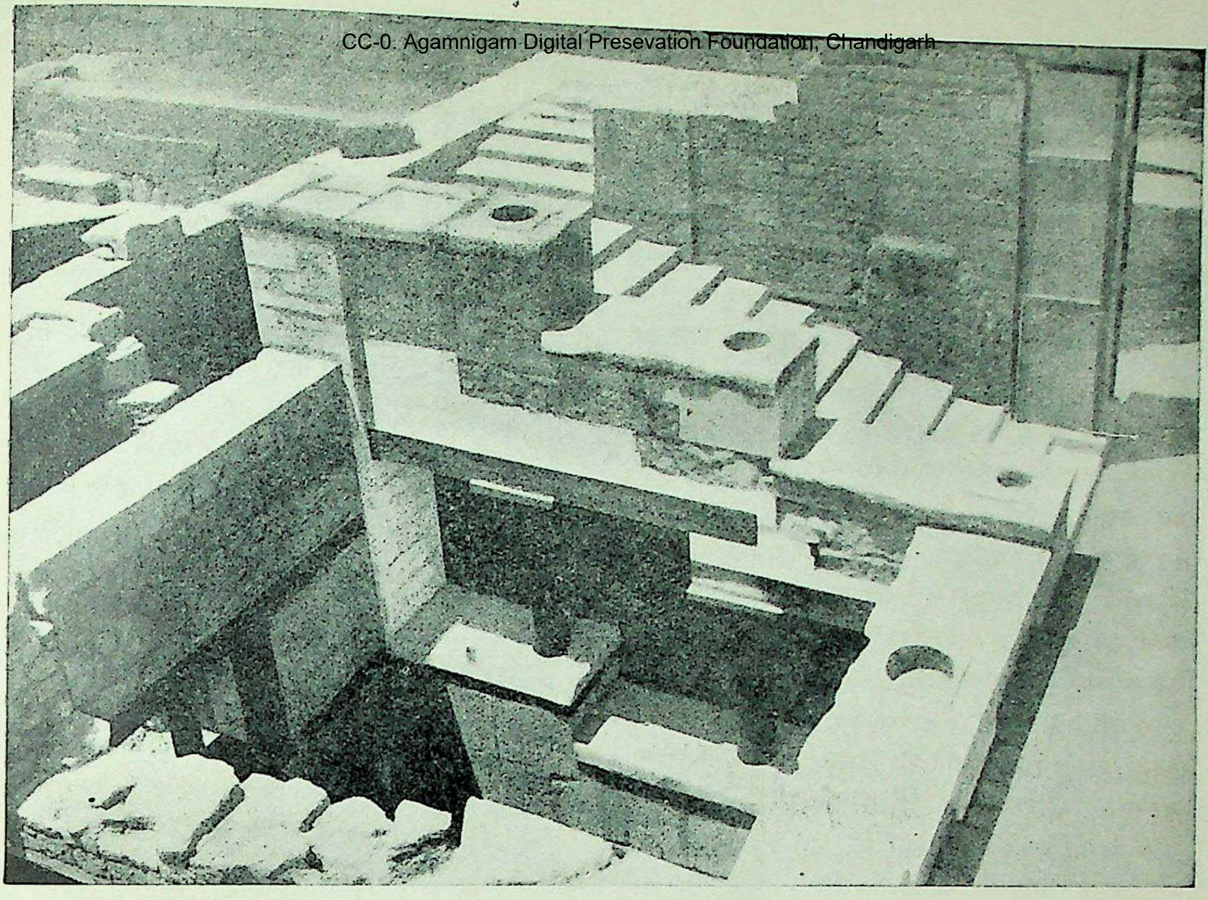

क्रीट में नोसास नामक स्थान की खुदाई में निकले ४,००० वर्ष पूर्व के एक राजप्रासाद का अंश । इस इमारत में आज जैसी जो सुगठित सीढ़ियाँ, खंभे, दालान, खिड़कियाँ, मंजिलें, आदि पाई गई हैं, इससे स्पष्ट है कि हेलास के उदय के पहिले भूमध्यसागर के द्वीपों में जो जाति बसती थी, वह कितनी अधिक सभ्य थी ।

सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक गठन

आदि अथवा वीर-काल में ग्रीक लोगों में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी । उनके स्वतंत्र समाज में दो प्रकार के लोग थे–एक तो साधारण, दूसरे उत्कृष्ट श्रेणी के । उनमें मनुष्य जन्म से नहीं, प्रत्युत अपने कर्म से उत्कृष्ट श्रेणी में गिना जाता था । ग्रीक समाज में उत्कृष्टता की कसौटी शारीरिक बल, वीरता और युद्ध-कुशलता थी । जिन व्यक्तियों अथवा कुटुंबों में ये गुण विशेष रूप से पाए जाते थे, वे ही विशेष आदर और सम्मान के पात्र होते थे । वे ही राज्य का काम करते थे । उन्हीं की सम्मति के अनुसार राजा शासन और न्याय करता था । राजा केवल इसलिये उनका नेता था कि वह युद्ध में मुख्य सेनापति और समाज का मुखिया एवं पुरोहित होता था । इन सब कामों के सम्पादन के लिए लोग स्वेच्छानुकूल उसे दान अथवा कर देते थे । उत्कृष्ट समुदाय में अपनी स्थिति स्थिर रखने के लिए लोग अपनी जीवन-चर्य्या ऐसी बनाते थे कि उनमें वीरोचित गुणों का यथासाध्य उत्कर्ष हो तथा उनका ह्रास न होने पाए । इस प्रकार कुछ कुटुम्ब कालान्तर में ऐसे प्रभावशाली हो गए कि वे स्थायी उच्च कुल के माने जाने लगे । वे लोग अधिक जमीन के मालिक बन बैठे तथा धनी और समृद्धिशाली हो गए । वे पक्के मकानों में ठाठ-बाट से रहते और सिपाहियों को अपनी नौकरी में रखते थे । उनके पास बढ़िया अस्त्र थे, जिनके संचालन में प्रवीण बनने एवं कुश्ती और व्यायाम के लिए काफी अवकाश उन्हें रहता था । इन्हीं लोगों का दल राज्य और शासन का काम भी करता था । इनका मुख्य काम था लड़ना, शिकार खेलना और लूटमार करना ।

उत्कृष्ट कुटुम्बों को छोड़कर ग्रीस का साधारण समाज छोटे-छोटे स्वतन्त्र जमींदारों और व्यवसायियों से बना था । व्यवसायों में बढ़ई का काम सब से ऊँचा माना जाता था ।

प्राचीन ग्रीस में बढ़इयों का प्रायः उतना ही आदर होता था, जितना कि भाटों और चारणों का। लोहार, चर्मकार, भविष्यवक्ता, कवि एवं मछली मारनेवालों का भी ग्रीक समाज में अच्छा आदर था। पशुपालन का वहाँ इतना प्रचलन था कि किसी व्यक्ति की हैसियत प्रायः उसकी पशु-संख्या से आँकी जाती थी। साधारण लोगों का भोजन मांस और रोटी था। लोग कृषि-कार्य और पशु-सेवा का काम गुलामों ही से करवाते थे। यों तो गुलामों की दशा आम तौर ही से कुछ अच्छी न थी, क्योंकि उनके तन-मन पूर्णतया स्वामी के अधीन थे और उनके कोई राजनीतिक अधिकार न थे। इस पर गुलाम स्त्रियों की दशा तो और भी अधिक शोचनीय थी। उन पर इतना काम लादा जाता था कि उन्हें दम मारने की भी फुरसत नहीं मिलती थी। उनका शरीर परिश्रम के मारे थककर चूर हो जाता था। जलाशयों से पानी भरकर लाना, सारे परिवार के लिए आटा पीसना और भोजन बनाना, कातना और बुनना, कपड़े धोना एवं घरलू पशुओं की साल-सँभाल करना, आदि-आदि सभी कार्य उनके साधारण कर्त्तव्य थे। स्वतंत्र होने पर भी जो लोग गरीब थे, उनकी भी अर्थिक दशा और जीवनचर्य्या करीब-करीब गुलामों की-सी ही थी। गरीब लोगों के पास इतना अवकाश ही कहाँ था कि वे अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति करते ?

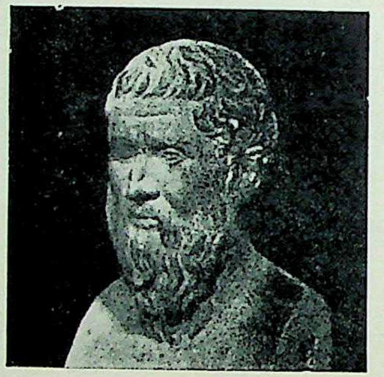

हेरोडोटस, जो यूनान में इतिहास-लेखन का जन्मदाता माना जाता है।

ग्रीक लोगों में अतिथि का बड़ा मान किया जाता था। उपकार और कृतज्ञताज्ञापन उनके जीवन की विशेषताएँ थीं। किन्तु युद्ध के अवसर पर पराजित शत्रुओं की अत्यंत दुर्दशा की जाती थी। वे शत्रु की लाश तक के साथ बुरा व्यवहार करते थे। पराजित व्यक्तियों को वे गुलाम बना लेते थे।

कुलीन-तंत्र :: नगर-राज्यों के चार प्रमुख दल

उत्कृष्ट कुलों के धन और वैभव बढ़ने का यह परिणाम हुआ कि धीरे-धीरे राजा एवं जनसमिति का महत्व नष्ट हो गया। अधिकांश राज्यों में राजत्व का लोप हो गया और जहाँ वह जीवित भी रहा, वहाँ उसका प्रभाव क्षीण हो गया। इस प्रकार ईस्वी पूर्व आठवीं या सातवीं शताब्दी में ग्रीस के द्वितीय युग का आरम्भ हुआ, जिसमें शक्ति कुलीनों के हाथों में केन्द्रित हो गई। आपस की लागडाँट, युद्धप्रेम तथा लूट के लोभ की आशा से एक नगर दूसरे से लड़ता-भिड़ता रहता था। राजनीतिक एकता का ग्रीस में नितान्त अभाव था। धीरे-धीरे कमजोर नगरों का दमन करके, अपनी शक्ति बढ़ाने या आत्मरक्षा के लिए, कुछ प्रमुख नगरों ने संगठन कर लिया। इस प्रकार ग्रीस में चार प्रमुख दल हो गए। एक का स्पार्टा, दूसरे का आरगस, तीसरे का एथेन्स और चौथे का थेबीज केन्द्र था।

उच्च कुलों के अत्याचारों और लूटमार से घबराकर ग्रीक किसान ग्रीस छोड़कर इधर-उधर बसने लगे। इस प्रकार ग्रीस के मुख्य भूभाग के अलावा काले समुद्र के किनारे पर एवं दक्षिणी इटली, फ्रांस, स्पेन और भूमध्यसागर के टापुओं में ग्रीक प्रवासियों एवं व्यापारियों की अनेक औपनिवेशिक बस्तियाँ स्थापित हो गईं।

स्पार्टा :: विविध सामाजिक श्रेणियाँ

ग्रीस के इतिहास में 'स्पार्टा' और 'एथेन्स' विशेष महत्व रखते हैं। इनका इतिहास एक प्रकार से समूचे ग्रीस का इतिहास समझना चाहिए। यद्यपि दोनों में कुछ-कुछ समानता थी, तथापि उनके आदर्श और सामाजिक व्यवस्था विभिन्न थी। स्पार्टा ग्रीस अन्तरीप के पूर्व-दक्षिणी भाग में स्थित था। उसके मैदान का क्षेत्र सौ मील के लगभग था। यह मैदान चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ था—केवल दक्षिणी कोने में वह समुद्र की ओर खुला था। इसमें वहाँ के निवासियों के लिए आवश्यक पदार्थ पैदा हो सकते थे। अतः उनको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कहीं बाहर दौड़ने-धूपने की जरूरत नहीं थी। चारों ओर से सुरक्षित होने के कारण उस पर बाहर से आक्रमण होना भी कठिन था। किन्तु साथ-ही-साथ इसी कारण से दूसरे लोगों के साथ व्यवहार और व्यापार में भी बड़ी अड़चनें पड़ती थीं।

जब ग्रीक लोगों की डोरियन जाति स्पार्टा में आकर बसी, तब वहाँ के समाज में तीन श्रेणियों के लोग थे——एक तो आगन्तुक विजयी डोरियन थे, जो असली स्पार्टन कहलाए। ये लोग प्रायः खुले नगरों में रहते थे। इन्हीं के अधिकार में राजधानी के आसपास की सारी अच्छी जमीन

थी और यही लोग शासन करते थे। दूसरे 'हेलट' थे, जो उन लोगों के वंशज थे, जिन्होंने डोरियन लोगों के आक्रमण का घोर विरोध करके उनके साथ युद्ध किया था। पराजित होने पर ये लोग गुलाम बना लिए गए थे। ये गुलामी के द्योतक विशेष वस्त्र पहनकर आते-जाते थे। उनसे स्वतन्त्र लोग घृणा करते और जरा-जरा-सी बातों का बहाना बनाकर उन पर अत्याचार करते अथवा उनका शिकार करते थे। डोरियन लोग निरन्तर युद्ध और राजनीति में दत्तचित्त रहते थे। इनकी खेती-बारी और सेवा 'हेलट' लोग ही करते थे। तीसरे उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के बीच की एक श्रेणी के लोग थे, जो 'लेकोनियन' कहलाते थे। यह मिश्रित समुदाय था, जिसमें वे विदेशी लोग थे, जो डोरियन लोगों के साथ आए थे और जिन्होंने उनके आक्रमण का विरोध न करके उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। ये लोग गुलाम तो नहीं थे, किन्तु इनके कोई राजनीतिक अधिकार भी नहीं थे। ये प्रायः जमींदारी, व्यापार आदि में लगे रहते थे।

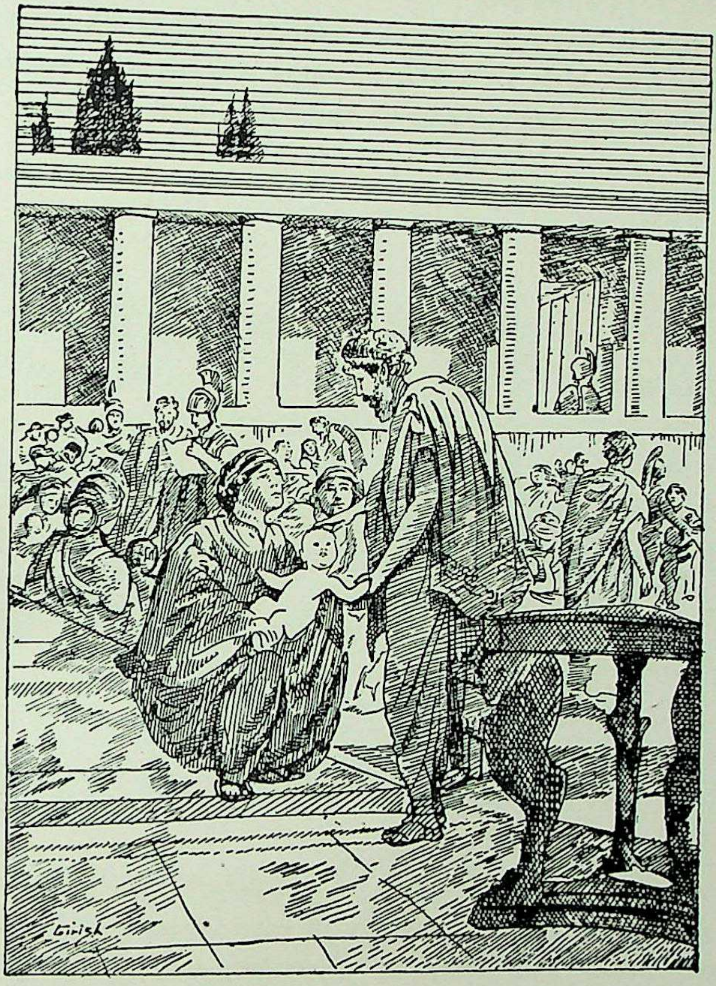

छँटनी करते समय स्पार्टा के बच्चों की स्वास्थ्य-परीक्षा।

लाइकर्गस :: नए विधान और राज्यनियंत्रक समिति का निर्माण

उपर्युक्त तीनों श्रेणियों का पारस्परिक सम्बन्ध अनिश्चित और अव्यवस्थित था। अतः स्पार्टा में दिनोंदिन कानूनों की आवश्यकता बढ़ती जाती थी। इस कमी की पूर्ति 'लाइकर्गस' ने की। लाइकर्गस की जीवन-घटनाओं की कौन कहे, यह भी संदिग्ध है कि इस नाम का कानून बनानेवाला वस्तुतः कोई विशेष व्यक्ति हुआ भी था या नहीं। किम्वदन्ती के अनुसार वह एक राजा का पुत्र था। राजनीतिक षड़यंत्रों और उपद्रवों से खिन्न होकर वह स्पार्टा छोड़कर क्रीट द्वीप, पश्चिमी एशिया और मिस्र में भ्रमण करने तथा वहाँ की संस्थाओं का अध्ययन करने चला गया था। कई वर्षों के बाद जब वह अपने देश को वापस लौटा, तब उसकी सम्मति से वहाँ नए कानूनों की रचना की गई। ये कानून अनूठे थे। स्पार्टा में राजा तो पहले ही से था। लाइकर्गस ने उसकी सहायता एवं उसके नियंत्रण के लिए एक समिति स्थापित कर दी। यह समिति साधारण जनसभा और राजा के बीच एक प्रकार का साम्य रखती थी। तीस वर्ष की अवस्था से कम आयु के व्यक्ति इसके सदस्य नहीं बन सकते थे। सदस्यों का चुनाव उनके गुणों, कृतियों और लोकप्रियता पर अवलम्बित था। जो व्यक्ति इस समिति का सदस्य चुना जाता था, उसका आदर सभी स्त्री-पुरुष करते थे—उसकी सर्वत्र धूम-सी मच जाती थी।

आर्थिक असाम्य को मिटाने के लिये क्रान्तिकारी कदम

अधिकांश भूमि पर अधिकार स्थापित कर लेने से कुछ लोग अत्यधिक धनी हो गए थे और साधारण जनता में गरीबी बढ़ चली थी। धनी लोग अभिमानी, विलासी, धृष्ट और लालची हो गए थे। लाइकर्गस की राय में ये दोष समाज और राष्ट्र के लिये सर्वथा अहितकर थे। अतएव उसने जमींदारों

से सब जमीन छीनकर उसका फिर से इस ढंग से बँटवारा किया, जिससे किसी के पास आवश्यकता से अधिक अथवा कम जमीन न रहे। उसकी तो यह भी इच्छा थी कि अस्थायी संपत्ति का भी उसी सिद्धान्त पर वह बँटवारा कर डाले। किन्तु लोगों ने इस छीना-झपटी का अधिक विरोध किया। तब उसने सोने और चाँदी के सिक्कों का प्रचलन रोककर लोहे के सिक्के चलाए! इन सिक्कों का इतना कम मूल्य रक्खा गया कि इनको जमा करना असंभव-सा हो गया। इसका फल यह हुआ कि बाहर के लोगों ने वहाँ का सिक्का स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, जिससे बाहरी व्यापार बन्द-सा हो गया। व्यापार द्वारा अमीर बनने की सम्भावना भी जाती रही। इसके अलावा लोहे के सिक्कों को चुराना या उनसे रिश्वत देना भी बन्द हो गया। इस प्रकार अमीरों के ठाठ-बाट बिगड़ गए। ऐश-आराम और व्यभिचार आदि के मार्ग में भी बहुत भारी अड़चनें पड़ गई। अमीरों और गरीबों की सामाजिक विषमता का नाश करने के लिए लाइकर्गस ने सहभोज का नियम बनाया। उसने लोगों को अपने घर में भोजन करने की मनाही कर दी थी। सब लोग जातीय भोजनालय में ही भोजन करते, जहाँ सब को एक ही प्रकार का भोजन मिलता था। इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि अमीर होने का प्रलोभन ही मिट गया। अब धनी होने का कोई लाभ नहीं रह गया। लाइकर्गस की धारणा थी कि धन और सम्पत्ति पर अवलम्बित बड़ाई और छोटाई सर्वथा अनिष्टकारक और पतित करनेवाली है। बड़प्पन और छोटेपन की जाँच के लिए उसने गुण, कर्म और स्वभाव की कसौटी निश्चित कर दी।

अपूर्व सामाजिक सुधार

सामाजिक सुधार के लिए लाइकर्गस ने स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध की नई कल्पना की। नए विधान के अनुसार कुमारियों के लिए व्यायाम, दौड़ना, कुश्ती लड़ना, अस्त्र-संचालन आदि आवश्यक कर्त्तव्य बना दिया गया। युवकों और युवतियों की व्रीड़ा और भीरुता को हटाने, कामुकता को कुंठित करने एवं स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को गम्भीर, गौरवपूर्ण, आदरणीय तथा संयमित बनाने के लिये उसने सार्वजनिक नाचघर की स्थापना की। इस नाचघर में युवक-युवतियाँ मिलकर नृत्य करते थे। कभी-कभी दोनों नंगे होकर नाचते! किन्तु वहाँ का शिष्टाचार ऐसा था कि कोई मर्यादा का उल्लंघन, अनुचित व्यवहार या अशिष्ट वाक्यों अथवा संकेतों का प्रयोग करने का साहस ही नहीं कर सकता था। यदि कुमारियाँ किसी की भीरुता अथवा दुष्कृत्य की आलोचना को साङ्केतिक ढंग से अभिव्यक्त करतीं, तो वह अत्यन्त लज्जित और तिरस्कृत होता था। इसके विपरीत यदि वे किसी के शारीरिक गुण, वीरता और दाक्षिण्य की प्रशंसा करतीं, तो वह कृतकृत्य और

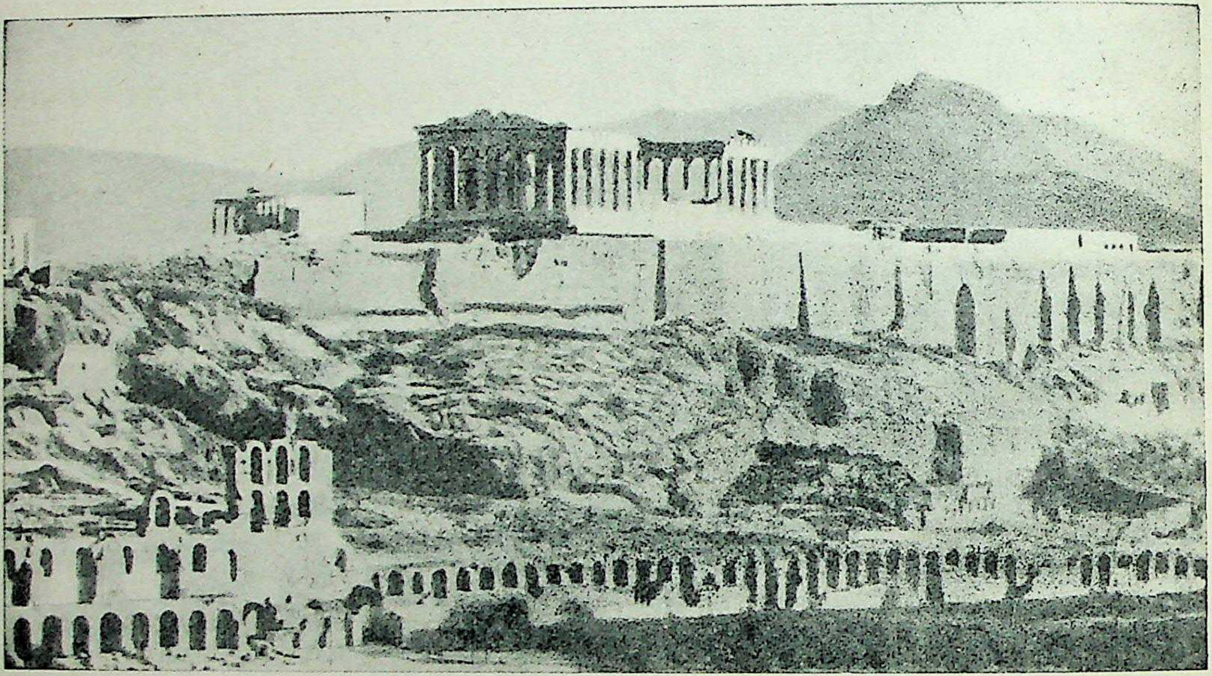

एथेन्स नगर के ध्वंसावशेष, जो आज भी उसके विगत गौरव की याद संसार को दिलाते हैं।

समाज के आदर का पात्र समझा जाता था। इस वातावरण के कारण प्रत्येक युवक अपने शरीर के संगठन, गुणों के उत्कर्ष, व्यवहार की शिष्टता और वीरोचित कर्म की सिद्धि में एक दूसरे की स्पर्धा करता था। प्रसिद्ध वीर लियानिउस की पत्नी से जब किसी विदेशिनी ने पूछा कि केवल स्पार्टा की स्त्रियाँ ही पुरुषों को क्यों वशवर्ती रख सकती हैं, तो उसने उत्तर दिया कि इसका मुख्य कारण यह है कि वे ही वास्तविक पुरुषों को जन्म देती हैं !

स्पार्टावाले विवाहित लोगों का सम्मान और अविवाहित पुरुषों का निरादर करते थे। विवाह-योग्य अविवाहित पुरुषों को दण्डस्वरूप बाजार में अपनी निन्दा के गीतों को गाते हुए नंगा घूमना पड़ता था ! पुत्रहीन होना किंपुरुषत्व का प्रमाण और सर्वथा निन्दनीय माना जाता था। वहाँ की विवाह-प्रथा के अनुसार वर बलपूर्वक वधू का हरण करके ले जाता था। पर बिना पूर्ण यौवन प्राप्त किए विवाह नहीं होता था। विवाह के समय वधू के सिर के बाल बहुत बारीक काट दिए जाते थे और उसे मर्दों की पोशाक पहनाकर अँधेरी कोठरी में छोड़ दिया जाता था। पति उसे वहाँ से दूसरे कमरे में ले जाता था ! पति अपनी पत्नी से लुक-छिपकर केवल रात्रि में ही थोड़ी देर के लिए मिल सकता था, क्योंकि प्रत्येक पुरुष को सार्वजनिक शय्यागृह में ही सोना पड़ता था ! दिन में स्त्री से मिलना-जुलना अशिष्ट और लज्जाजनक माना जाता था। परंतु कई सन्तान हो जाने के बाद फिर दिन में स्त्री-पुरुष का मिलना उतना बुरा नहीं समझा जाता था। इस प्रथा के कारण ब्रह्मचर्य की रक्षा होती थी और दाम्पत्य जीवन में अम्लानता और सरसता बनी रहती थी। इससे पुरुष को शारीरिक और मानसिक उमङ्ग क्षीण नहीं होने पाती थी। वहाँ के लोगों में सब से विचित्र बात तो यह थी कि सुन्दर और सुयोग्य सन्तान पैदा करने की आकांक्षा से विवाहिता स्त्री अथवा विवाहित पुरुष भी पति अथवा स्त्री की आज्ञा लेकर परपुरुष या परस्त्री से संसर्ग करते थे ! इस प्रकार से पैदा हुई सन्तान को वे अनादर की दृष्टि से नहीं देखते थे। पातिव्रत या एकपत्नीव्रत को ये लोग आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं समझते थे। पति-पत्नी का व्यक्तिगत सम्बन्ध उसी अंश तक माननीय था, जब तक कि उससे सामूहिक हित को किसी प्रकार हानि न होने पावे। योग्य पुरुषों और योग्य स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न होना समाज और राष्ट्र के लिए हितकर समझा जाता था, अतएव उस रिवाज में बाधा नहीं डाली जाती थी।

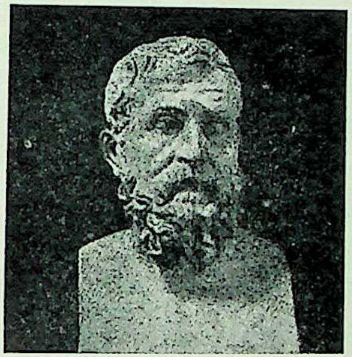

एथेन्स का कानून-निर्माता सोलन।

बच्चों की छँटनी :: दुर्बल शिशु का सर्वथा त्याग

स्पार्टन समाज में माता-पिता को यह अधिकार नहीं था कि वे सन्तान को जैसा चाहें रखें या बनावें, क्योंकि जितने बच्चे पैदा होते थे, वे राष्ट्र के बच्चे माने जाते थे। पैदा होने पर लोग बच्चों को शराब से स्नान कराते, ताकि यदि वे कमजोर और अस्वस्थ हों, तो शराब की तेजी से मर जायँ। यदि इस परीक्षा से बच्चा पार हो गया, तो लोग उसे 'लेस्शे' नामक स्थान में ले जाते, जहाँ उसकी परीक्षा की जाती थी। यदि वह स्वस्थ और पुष्ट होता, तो उसके पोषण और शिक्षा का उचित प्रबन्ध कर दिया जाता था। यदि वह अस्वस्थ, दुर्बल और कुरूप हुआ, तो उसे 'अपोथेटी' नामक पहाड़ी गुफा में फेंक दिया जाता था। तीन दिन बीतने पर लोग उसे वहाँ देखने जाते। यदि वह जीवित रहता, तो वे उसे उठा लाते। लोगों की यह धारणा थी कि जिस व्यक्ति को प्रकृति ने ही दुर्बल और कुरूप बनाया है, उससे भविष्य में क्या आशा की जा सकती है ! जो स्वस्थ और होनहार होते, उन बच्चों के भरण-पोषण के लिए भूमि का एक अंश दे दिया जाता था, जिसकी आमदनी से उनके भरण-पोषण और शिक्षा का यथोचित प्रबन्ध हो सकता था। उनकी धाइयाँ अत्यन्त कुशल, चतुर और शिक्षित होती थीं। उनकी माँग दूसरे देशों में भी थी।

शिक्षण-क्रम और युवकों का आदर्श

सात वर्ष की अवस्था होने पर बच्चे 'कम्पनी' में भेज दिए जाते थे। सब बच्चों का भरण-पोषण, रहन-सहन और शिक्षण एक ही नियम के अनुसार होता था। शिक्षा का मुख्य आदर्श संयम, शारीरिक संगठन एवं वीरोचित गुणों का उत्पादन और संवर्द्धन करना था। उनको मितभाषी किन्तु हास्यात्मक, विचारपूर्ण और समयोचित भाषण की भी शिक्षा दी जाती थी। सत्यान्वेषण करना अथवा उच्च एवं व्यापक शिक्षा प्राप्त करना वे व्यर्थ और कुछ अंशों में हानिकारक

समझते थे । वीरता के गान और वीर-काव्य का वे आदर करते थे, किन्तु साहित्य के अन्य अंगों में उनकी रुचि न थी । शारीरिक परिश्रम और कष्टों को सहन करने, नेतृत्व करने, युद्ध करने और विजय पाने की क्षमता प्राप्त करना ही उनकी शिक्षा का मुख्य ध्येय था । इसलिए बन-ठनकर साज-सिंगार के साथ रहना पतनात्मक समझा जाता था । स्पार्टन लोग बालों को छोटे कटवाते, नंगे पैर रहते और केवल एक सादा वस्त्र पहनते थे । तेल-फुलेल, उबटन आदि का उनमें प्रचलन नहीं था । वे नदीतट से झाऊ या सरकंडों को बिना काटे उखाड़ या तोड़ लाते और उन्हीं से अपनी शय्या बनाते । उनका भोजन भी सदा और हल्का होता था, जिससे कि वे स्थूलकाय न होकर छरहरे बदन के सुन्दर युवक बने रहें । यदि कोई खाने की चीज को चुराता, तो उसे भूखा रहने का दण्ड दिया जाता था ।

कठोर संयम का जीवन

स्पार्टा के निवासी जीवन भर संयम ही में लगे रहते थे । वैयक्तिक स्वतंत्रता का वे आदर नहीं करते थे । वहाँ किसी को भी यह अधिकार नहीं था कि वह जिस प्रकार चाहे अपना जीवन बनावे या अपनी जीवनचर्य्या निर्धारित कर ले । उनका समाज एक प्रकार का सैनिक संगठन था । वहाँ व्यापार अथवा उद्योग-धन्धा करना कानून के अनुसार मना था । उद्योग-धन्धा करना दासों का काम था, न कि स्वतंत्र व्यक्तियों का । वे अपनी थोड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति से ही संतुष्ट रहते थे । अमीर-गरीब का कोई भेद नहीं था । लोगों का समय अधिकतर नृत्य, गायन, व्यायाम और परस्पर वार्त्तालाप एवं शिकार आदि में कटता था । क्रय-विक्रय से वे बचने की कोशिश करते थे । तीस वर्ष तक की अवस्था के लोग बाजार जाना अच्छा नहीं समझते थे । वृद्ध लोग भी बहुत कम बाजार जाते थे । रुपये-पैसे की उनमें कभी चर्चा ही नहीं होती थी ।

सीमित विकास

इस प्रकार के केन्द्रित जीवन और कसे हुए आदर्शों के कारण उनके मानसिक विकास का संकीर्ण होना और विचारधारा का संकुचित होना स्वाभाविक ही था । जिन 'हेलट' दासों के परिश्रम से उनके जीवन का निर्वाह होता था, उन्हें खुले आम अथवा लुक-छिपकर मारना वे अपना मनोविनोद समझते थे । उनकी अनुदार वृत्ति का एक उदाहरण यह भी था कि ये लोग विदेश-यात्रा के विरुद्ध थे, कारण अन्यान्य सभ्यताओं एवं समाजों के संसर्ग से उन्हें पतित, भ्रान्त अथवा संकर होने का भय था । उनके सामाजिक आदर्शों के अनुसार वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं था । नाचने-गाने तथा विशेष ढंग की कविता करने के सिवा उन्होंने कला-कौशल आदि में कभी कोई उन्नति नहीं की । वे लड़ना और मरना जानते थे, किन्तु जीवन का पूर्ण उपयोग तथा मानसिक अथवा आत्मिक उन्नति करने का उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया । अतएव उनकी गणना ग्रीस के इतिहास में संगठित असभ्यों में की जाती है । तथापि अपने कुछ विशेष गुणों के कारण ग्रीस की रियासतों के संघर्ष एवं विदेशी आक्रमणकारियों के आघातों को अन्य राज्यों की अपेक्षा वे अधिक काल तक सहन करने में समर्थ रहे ।

एथेन्स का नगर-राज्य

ग्रीस में कितने ही छोटे और बड़े नगर थे । वहाँ एकछत्र राज्य नहीं था । प्रत्येक नगर स्वतंत्र था । वहाँ की राजनीतिक संस्थाएँ तथा आर्थिक, सामाजिक और मानसिक जीवन वहाँ के निवासियों के मनोनुकूल और उनकी योग्यता के अनुसार विकसित हो रहा था । आवश्यकता पड़ने पर व्यापार के लिए एवं शत्रु के भय से विशेष प्रयोजन और काल के लिए ये नगर सम्मिलित भी हो जाते थे । अन्यथा वे एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र थे । उनमें प्रायः आपस में युद्ध और दाँव-पेच चलते रहते थे । इनमें स्पार्टा ने अपने संगठन और पराक्रम से सभी पर ऐसा रोब जमा दिया था कि वही सब नगरों का नेता-सा गिना जाने लगा था । युद्ध और रक्षा के अवसर पर प्रायः स्पार्टा का ही नेतृत्व माना जाता था । स्पार्टा के इस प्राधान्य का प्रतिस्पर्द्धी केवल एथेन्स का नगर-राज्य था । इन दोनों नगर-राज्यों का संघर्ष ग्रीस के इतिहास की न केवल एक अति महत्वपूर्ण वरन् निर्णायक घटना है ।

ग्रीस के पूर्व कोण में एक अन्तरीप है, जो प्राचीन काल में 'एटिका' के नाम से प्रख्यात था । वहाँ अनेक छोटे-छोटे नगर थे । इनमें जो जनसमूह बसा था, वह 'एथेन्स' के नाम से प्रसिद्ध था और वहाँ के निवासी 'एथीनियन' कहे जाते थे । वहाँ के छोटे-छोटे नगरों पर एक नगर ने अपना प्रभुत्व स्थापित करके उन्हें एक कर दिया । यही नागरिक प्रान्त इतिहास में 'एथेन्स' के नाम से प्रसिद्ध है । एथेन्स में पहले राजा का शासन था । उस समय सब अधिकार जमींदारों और धनी व्यापारी लोगों के ही हाथ में थे । कृषक लोगों

की दशा शोचनीय थी। वे बिल्कुल दरिद्र थे। उनके पास जमीन के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े थे, जिनसे विशेष लाभ नहीं होता था। वे लोग बकरी की खाल से शरीर ढाँके हुए दिन-रात मजदूरी करते रहते। उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। उन्हें जीविकोपार्जन से इतना अवकाश ही नहीं मिलता था कि अधिकारों की चिन्ता या सामूहिक संगठन का प्रयास वे कर सकें अथवा सैनिक शिक्षा प्राप्त कर सकें। कालान्तर में जमींदारों और धनिकों का बल इतना बढ़ गया कि वहाँ के राजा नाममात्र के ही रह गए और अन्त में वे एक दिन लुप्त ही हो गए।

एथीनियन जमींदारों और धनिकों का काम लूट-मार करना, जल-थल में डाके मारना और व्यापार करना था। उनके अत्याचार के कारण गरीब लोग क्रमशः भाग-भागकर इधर-उधर बसने लगे। इस प्रकार काले समुद्र के तट पर, एशिया माइनर के किनारे, इटली के समुद्र-तट पर और भूमध्यसागर के टापुओं में इन लोगों के कई उपनिवेश स्थापित हो गए। इस तरह बिखर जाने पर भी भाषा, साहित्य, जातीय उत्सव तथा धर्म आदि उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे रहे।

एथेन्स का सर्वश्रेष्ठ शासक पेरीक्लीज, जिसका शासन-काल 'एथेन्स का स्वर्ण-युग' माना जाता है।

ग्रीक लोग अन्य जातियों से श्रेष्ठ होने का अभिमान रखते थे। कालान्तर में ज्यों-ज्यों उनका व्यापार बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनका सामुद्रिक बेड़ा और शक्ति भी बढ़ती गई। उनके माल की माँग बढ़ने लगी, जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने गुलामों से काम लेना शुरू कर दिया। उनमें सिक्कों का भी अच्छी तरह प्रचलन हो गया और फलतः लोग सिक्के जमा करके धनी होने लगे। गरीब लोगों को सूद पर कर्ज देकर पैसेवाले उनकी जमीन पर अधिकर जमाते चले गए और ऐसे रुपएवालों के मन में अपने राज्याधिकार बढ़ाने की कामना बढ़ने लगी। ऐसी परिस्थिति में वह जमींदार जो धनिकों और किसानों के अधिकारों को बढ़ाने का प्रयत्न करता था, प्रायः उनका पूज्य नेता बन जाता और उनकी सहायता से अपने प्रतिस्पर्द्धी जमींदारों को निर्बल करके वह अपना प्राबल्य स्थापित कर देता था। ऐसे ही नेता को राजा न कहकर वहाँ के लोग "टाइरेन्ट" कहते थे। यह शब्द उस समय घृणासूचक जालिम के अर्थ में नहीं माना जाता था—वस्तुतः ये लोग हिटलर आदि के-से डिक्टेटर थे।

कानून-निर्माता ड्रेको और सोलन

छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का युग उपर्युक्त 'टाइरेन्ट-काल' का सब से उत्कृष्ट समय था, यद्यपि उसका आरंभ पहले ही हो चुका था। इसी काल में ग्रीस में कानून लिखे जाने लगे। ऐसा सब से पहला कानून का संग्रह ड्रेको ने किया। ड्रेको के कानून बड़े कठोर थे। उनमें छोटे-छोटे-से जुर्म के लिए भी मृत्यु-दण्ड का विधान था। एथेंस के कानून-निर्माताओं में सोलन का वही स्थान है, जो स्पार्टा में लाइकर्गस और भारतवर्ष में मनु का है। सोलन व्यापारी, देशभक्त, दार्शनिक और कवि भी था। अतः उसके कानूनों में इन सब के गुणों की कुछ-न-कुछ छाया दिखाई देती है। उसने उन लोगों को जो कर्ज न अदा कर सकने के कारण गुलाम बना लिए गए थे, स्वतंत्र कर दिया। धरोहर में रखी हुई जमीन को भी उसने छुड़ा दिया और अपने कुटुंब को बेचने अथवा किसी के शरीर को धरोहर रखकर कर्ज लेने की प्रथा उठा दी। उसने गरीब नागरिकों को सभासद होने का अधिकार दिला दिया, यद्यपि ये लोग पदाधिकारी नहीं चुने जा सकते थे। अब से न्यायालयों में सब नागरिकों के समान अधिकार माने जाने लगे। मुकदमा हारने पर लोग जूरी को अपील कर सकते थे। साधारण लोगों के लिए अठारह से बीस वर्ष की अवस्था तक सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई और प्रत्येक युवक के लिए किसी-न-किसी व्यापार की शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक बना दिया गया। कुशल कारीगरों के लिए भी नागरिक अधिकार मिलने की व्यवस्था की गई।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नागरिकों में राजनीतिक जागृति कायम रखने के लिए यह नियम बनाया गया कि जो लोग राजनीतिक कारवाइयों में भाग लेने से विमुख हों, उनके नागरिक अधिकार छीन लिए जाएँ। सोलन ने व्यापार-संघों की भी स्थापना की और चाँदी के हल्के सिक्कों का प्रचलन कराया। साधारण नागरिकों की स्थिति सुधारने की चेष्टा करने के अलावा उसने उन्हें राजनीति और व्यापार में अधिकाधिक भाग लेने की भी उत्तेजना दी। लाइकर्गस की तरह उसने सैनिक जीवन को प्रधानता नहीं दी। सोलन के कानन स्त्रियों के प्रति उदार नहीं थे। उसने गृह को ही उनका एकमात्र कार्यक्षेत्र बना दिया। वे रात में घर से बाहर नहीं निकलने पाती थीं। यद्यपि राजनीतिक अधिकारों का आधार उसने आर्थिक रखा था, तथापि व्यापार द्वारा अमीर बननेवालों को राज्य के उच्च पदों से उसने वंचित रखा। उच्च कुल के जमींदारों द्वारा पदग्रहण किएजाने के एकमात्र अधिकार को क्लिस्थनीज नामकसुधारक ने कम किया। उसने व्यापार द्वारा उठनेवाले लोगों के अधिकारों की वृद्धि की। साथ ही 'टाइरेन्ट' लोगों को नियंत्रण में रखने के लिए उसने "निर्वासन" प्रणाली का विधान प्रचलित किया, जिसके अनुसार जिस व्यक्ति के विरुद्ध जनता मत प्रकट करती, उसे दस वर्ष के लिए देश से बाहर निकलना पड़ता था !

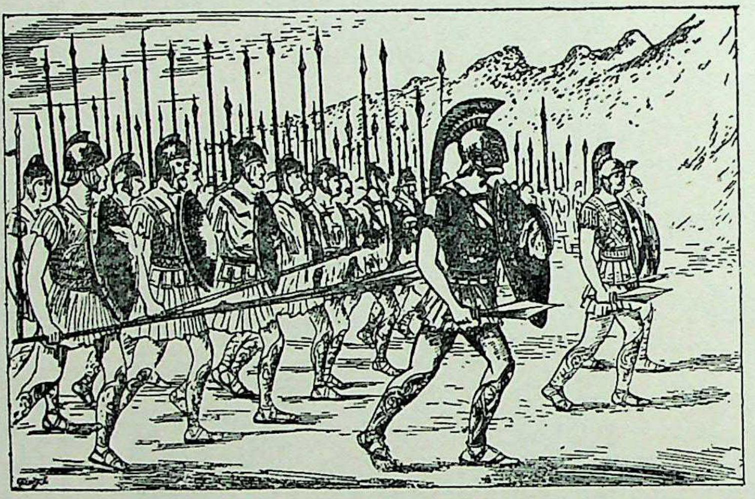

कूच करती हुई यूनानी सेना की झाँकी।

एथेन्स के आदर्श स्पार्टा से भिन्न थे

उपर्युक्त कानूनों से लोगों को राजनीति एवं व्यापार में अधिकाधिक भाग लेने की प्रबल प्रेरणा मिली। एथेन्स का नागरिक आदर्श, वहाँ के लोगों की शिक्षा-दीक्षा एवं उनकी जीवनचर्य्या स्पार्टावालों से विभिन्न थी। एथेन्सवाले उदारचेता, जनसत्तावादी, व्यापार-प्रेमी, धनलोलुप, ऐश-आराम पसन्द, साहित्य-विज्ञान-सेवी, कला-विलासी और प्रगतिशील थे। यद्यपि वे जनसत्तावादी थे, तथापि उनमें साम्राज्य के विस्तार की कामना भी जाग्रत थी। इसी काल में पिसिस्ट्रेटस ने एथेन्स की सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया। तब से एथेन्स का सामुद्रिक बेड़ा उत्तरोत्तर बढ़ने लगा।

उपर्युक्त आदर्श-भेद के कारण एथेन्स और स्पार्टा का संघर्ष अवश्यम्भावी था। स्पार्टा का आतंक एथेन्स पर तभी तक रहा जब तक कि एथेन्सवालों को अपनी शक्ति का अनुभव नहीं हुआ। यह अनुभव उन्हें फारस के साथ युद्ध करने से हुआ।

फारस के साथ युद्ध :: एथेन्स की शक्ति का उदय

लीडिया राज्य के पतन से फारस के सम्राट् के अधिकार में एशिया माइनर और ईजियन समुद्र के अनेक टापू चले गए। फलतः फारस और ग्रीस का अब आमना-सामना हो गया। जब आयोनियन नगरों ने विद्रोह का झंडा उठाया, तो एथेन्सवालों ने उनकी सहायता की। इस पर क्रुद्ध होकर ४९२ ईस्वी पूर्व फारस के सम्राट् दारा ने ग्रीस पर आक्रमण कर दिया और स्थल-मार्ग की कठिनाइयों के कारण ४९० ई० पू० उसने जलमार्ग द्वारा फिर द्वितीय बार आक्रमण किया। जब फारस की सेना मराथान की खाड़ी के तट पर उतरी, तो कुछ ग्रीक नगरों ने एथेन्स की सहायता के लिए सेनाएँ भेजीं। ग्रीक लोग पहाड़ों की आड़ में होकर युद्ध करने लगे और एक ही मोर्चे में फारस की सेना के छः सहस्र सैनिक मारे गए। इससे चकित होकर फारसी सेना लौट गई। इस विजय ने एथेन्सवालों का आत्मविश्वास और उत्साह बहुत अधिक बढ़ा दिया। अनुभव से उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि स्थलसेना से अधिक उपयोगी जलसेना है। अतएव थेमिस्टाकलीज के निरीक्षण में सशक्त ग्रीक सामुद्रिक बेड़ा सुसंगठित किया जाने लगा।

४८० ई० पू० फारस के सम्राट् जेरेक्सीज ने ग्रीस पर जल और स्थल दोनों मार्गों से पुनः आक्रमण किया। इस प्रयत्न में उसको कार्थेजवालों ने भी सहायता दी। इधर एथेन्स और स्पार्टा ने मिलकर अपनी संयुक्त शक्ति से उनका विरोध किया। यद्यपि तूफान आ जाने से फारस के कार्यक्रम में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विघ्न पड़ गया, तथापि स्थल पर ग्रीक सेना को परास्त करके फारसी सैनिक एथेन्स तक पहुँच गए और उन्होंने एथेन्स में आग लगा दी। किन्तु 'सलमिस' की खाड़ी में फारस का जहाजी बेड़ा ग्रीक बेड़े द्वारा नष्टप्राय कर दिया गया। उधर सिराक्यूज के ग्रीक निवासियों ने कार्थेजवालों को भी परास्त कर दिया। इन विजयों से एथेन्स का सामुद्रिक प्रभुत्व पूर्णतया स्थापित हो गया। स्थल युद्ध में भी एथेन्स और स्पार्टा को प्लेटिआ के युद्ध में सफलता प्राप्त हुई। उक्त युद्ध में फारसी सेनापति मर्दोनियस मारा गया। फलतः फारसी सेना को सदा के लिए ग्रीस की भूमि छोड़ देना पड़ी।

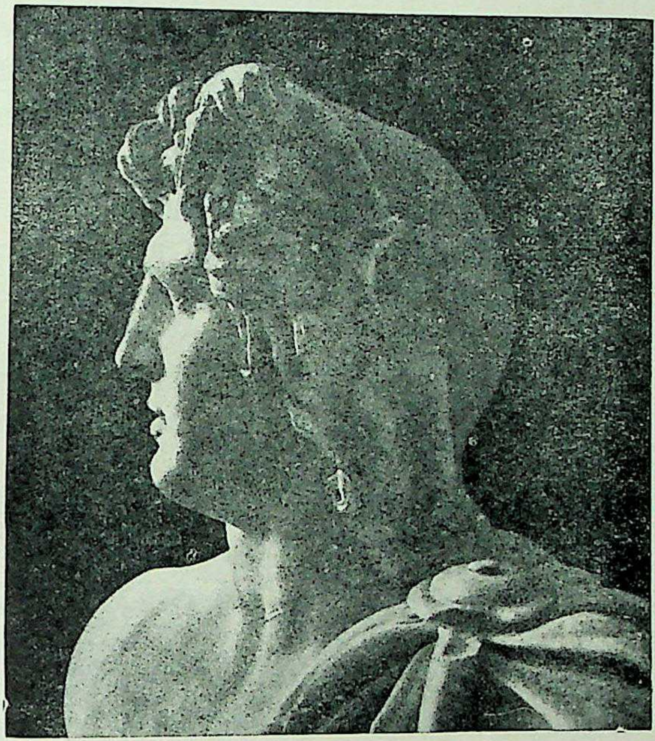

महान् विजेता सिकन्दर या अलेक्जैंडर, जिसने अपने बाहुबल से ग्रीस की शक्ति और सभ्यता का झंडा दूर-दूर देशों तक फहरा दिया था।

डीलियन लीग

फारस का भय दूर हो जाने से स्पार्टा और एथेन्स में अब अधिक स्पर्द्धा जाग्रत हो गई। स्पार्टा के राजनीतिक और सामाजिक आदर्श एथेन्सवालों से भिन्न थे ही। जहाँ स्पार्टा प्राचीन अधिकारों, आदर्शों और संस्थाओं का संरक्षक एवं नेता था, वहाँ इसके ठीक विपरीत एथेन्स नवीन भावों का समर्थक और पदप्रदर्शक था। अतः उन दोनों का संघर्ष अवश्यम्भावी-सा हो गया। एथेन्सवालों ने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अपने सहयोगी नगरों को एक सूत्र में बाँधकर "डीलियन लीग" नाम के एक संघ का संगठन किया। एथेन्स के इस बल-सञ्चय और प्रबल संगठन से स्पार्टा को चिन्ता होने लगी।

पेरीक्लीज का युग :: एथेन्स के वैभव की पराकाष्ठा :: 'पेलोपोनेशियन युद्ध'

एथेन्स की उन्नति केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी हुई और पाँचवीं शती ईस्वी पूर्व के उत्तरार्द्ध तक वह अपने ऐश्वर्य और वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। एथेन्स के निर्माताओं में 'पेरिक्लीज' का प्रमुख स्थान है। उसका समय 'एथेन्स का स्वर्ण युग' माना जाता है। उसी के समय में एथेन्स और स्पार्टा का प्रथम युद्ध छिड़ा, जो चौदह वर्ष तक (४५९-४४६ ई० पू०) चलता रहा। इतिहास में यह 'पेलोपोनेशियन युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं दिनों एथेन्स ने अपनी सामुद्रिक शक्ति के अभिमान में फारस के खिलाफ मिस्र देश की सहायता के लिए एक बेड़ा भेजा था। किन्तु वह सारा बेड़ा नष्ट हो गया था। फलस्वरूप दो टापुओं को छोड़कर एथेन्स के अधिकार में अब कोई अन्य स्थान नहीं रहा। हाँ, इससे इतना भला अवश्य हुआ कि 'डीलियन लीग' का खजाना डिलास से उठकर एथेन्स चला आया। चौदह वर्ष के व्यर्थ के युद्ध से एथेन्स और स्पार्टा की शक्ति क्षीण हो गई। किन्तु इस पर भी उनकी लाग-डाँट का अन्त नहीं हो पाया। आग धीरे-धीरे सुलगती ही रही।

यद्यपि एथेन्स प्रजातंत्र राज्य था, किन्तु अपने अधीनस्थ एवं सहयोगी राज्यों के प्रति उसका व्यवहार स्वार्थपूर्ण था। चूँकि फारस का भय हट-सा गया था, इसलिए 'डीलियन लीग' के सदस्य एथेन्स को जन और धन से सहायता देना अनावश्यक समझने लगे। इस पर एथेन्स ने उनसे जबर्दस्ती कर वसूल करना आरम्भ कर दिया और उस धन से एथेन्स नगर की शोभा एवं समृद्धि बढ़ाई जाने लगी। इस नीति से करद राज्यों में असन्तोष फैलता गया। अब एथीनियनों को छोड़कर अन्य लोगों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाने लगा, मानो वे एथेन्स की प्रजा हों। इसी से क्षुब्ध होकर लीग के कुछ सदस्य तो भीतर ही भीतर और कुछ खुल्लमखुल्ला स्पार्टा से सहायता माँगने लगे और विद्रोह करने लगे। परिणाम यह

हुआ कि 'द्वतीय पेलोपोनेशियन युद्ध' छिड़ गया। एथेन्स ने अपनी सामुद्रिक शक्ति तो बढ़ा ही ली थी, किन्तु स्थलसेना की ओर उसने ध्यान नहीं दिया था। इसी कारण स्थल पर स्पार्टावालों को विशेष सफलता मिली। स्वयं एथेन्स नगर किलेबन्दी के कारण बचता रहा, किन्तु जनसंख्या के बढ़ जाने एवं प्लेग फैलने से उसे बड़ी आपत्ति उठाना पड़ी। पेरीक्लीज भी उसी आपत्ति से मर गया। दस वर्ष तक व्यर्थ शक्तिक्षय करने पर आखिर एथेन्स को यह अनुभव हो गया कि वह ग्रीस में अपना एकमात्र प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सकता। स्पार्टा ने भी जान लिया कि एथेन्स की सामुद्रिक शक्ति को तोड़ना या उसकी अवहेलना करना असम्भव-सा है। अतएव शिथिल होकर वे कुछ वर्षों के लिए शान्त हो गए।

स्पार्टा द्वारा एथेन्स की स्वतंत्रता का अपहरण

पर आदर्श की विभिन्नता एवं महत्वाकांक्षाओं के कारण यह शान्ति अधिक समय तक न रह सकी। एथेन्स चाहता था कि उन राज्यों को जिन्होंने उसका साथ छोड़ दिया था, फिरसे उसकी शरण में आने के लिए स्पार्टा मजबूर करे। स्पार्टा इस पर राजी नहीं था। जब एथेन्स ने सिसली द्वीप के सिराक्यूज नामक राज्य पर आक्रमण किया, तब स्पार्टा ने सिराक्यूज की सहायता की। इस युद्ध में एथेन्स की जल सेना पूर्णतया नष्ट हो गई। इधर स्पार्टा ने ऐथेन्स का अवरोध कर दिया। परिणाम यह हुआ कि ऐथेन्स का साथ सब ने छोड़ दिया। उसकी आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। जनतंत्र राज्य के प्रति लोगों की श्रद्धा हटने लगी और आपसी झगड़े बढ़ने लगे। ऐसी विषम स्थिति में भी एलसीबिएडीज के नेतृत्व में कुछ समय तक एथेन्स ने आत्मरक्षा का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें अधिक सफलता न मिली। आखिर एगोस्पोटेमी के युद्ध में एथेन्स का जहाजी बेड़ा पकड़ लिया गया और नगर पर स्पार्टावालों का अधिकार हो गया (४०५-४०४ ई० पू०)। पेरीक्लीज की मृत्यु के सत्ताइस वर्ष बाद ही एथेन्स का राज्य और उसकी स्वतंत्रता का नाश हो गया।

'कॉरिन्थियन युद्ध'

स्पार्टावालों के हाथ में ग्रीस का अधिपत्य आ जाने से अब वहाँ जनतंत्र के स्थान पर सैनिक शासन का प्राबल्य बढ़ा। ग्रीस के तमाम नगरों में फौजी पड़ाव डाल दिए गए और स्वेच्छापूर्वक शासन होने लगा, जिसमें राज्य की शक्ति मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में चली गई। इस प्रकार के शासन का नाम 'ऑलीगार्की' था। हर जगह धर-पकड़, मार-पीट, कैद, निर्वासन और हत्याकांड के तांडव का दृश्य उपस्थित हो गया। जनतंत्र के सिद्धान्त की ओर से लोगों की श्रद्धा हट गई। जनतंत्र की कमजोरी थी स्वार्थपरता, खर्राची, विभिन्न मतों के कारण शीघ्र निश्चय एवं कार्य-सम्पादन की अक्षमता तथा पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और लोभ आदि के कारण बना रहनेवाला षड़यंत्रपूर्ण वातावरण। इन दोषों के फलस्वरूप लोग उससे सर्वथा विमुख हो गए। किन्तु स्पार्टावालों के उस कठोर एवं निष्ठुर शासन से व्याकुल होकर उसके नाश के लिए भी योजनाएँ होने लगीं। स्पार्टा की उस सैनिक शक्ति को क्षीण और नष्ट करनेवाली योजनाओं को फारस के राज्य से भी उत्तेजना और सहायता मिलती रही। फलतः एथेन्स, थेबीज और कॉरिन्थ के निवासियों ने स्पार्टा के विरुद्ध एक संघ की रचना की और युद्ध छेड़ दिया। यह युद्ध इतिहास में 'कॉरिन्थियन युद्ध' के नाम से मशहूर है। यह युद्ध आठ वर्ष तक चलता रहा। लाचार होकर स्पार्टा को फारस की शरण लेना पड़ी। जब फारस के बादशाह ने स्पार्टा के विरोधियों की सहायता करना बन्द कर दिया, तब यह युद्ध शान्त हुआ (३९५-३८७ ई० पू०)। इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि ग्रीसवालों के एशिया कोचक के सभी नगर फारस के हाथ में चले गए। फिर भी अन्य राज्यवाले स्पार्टावालों को घृणा से ही देखते रहे। एपेमिनोण्डेस के नेतृत्व में थेबीजवाले उसके प्रमुख विरोधी थे। उसने ल्यूकट्रा के युद्ध में (३७१ ई० पू०) स्पार्टा को ऐसी बुरी तरह परास्त किया कि उसका प्रताप बहुत क्षीण हो गया। पर इस विजय से थेबीज को कोई विशेष लाभ न हुआ। नौ वर्ष के बाद स्पार्टावालों ने युद्ध में एपेमिनोण्डेस को मेन्टीनिया के युद्ध (३६२ ई० पू०) में हराकर मार डाला। उसके मरते ही थेबीज का बल टूट गया। अब ग्रीस में ऐसा कोई राज्य न रहा, जो सभी को अपने नेतृत्व में संयुक्त कर सकता। वहाँ के राज्य दिनोंदिन कमजोर होते चले गए।

मकदूनिया का उदय :: सिकन्दर या अलेक्जेंडर

उपर्युक्त परिस्थिति से लाभ उठाकर उत्तर का मकदूनिया (मैसीडोनिया) राज्य प्रबल होने लगा। वहाँ के लोग इतने सभ्य तो नहीं थे, किन्तु युद्ध करने में वे अधिक कुशल और पराक्रमी थे। ३६० ई० पू० वहाँ का राजा फिलिप हुआ। उसने सेना को अच्छे ढंग से संगठित करके केरीनिया के युद्ध (३३८ ई० पू०) में ग्रीस के राज्यों को हराकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया। केवल स्पार्टा ही ने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसके आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया। फिलिप की हत्या के पाश्चात् उसका पुत्र सिकन्दर (अलेक्जैण्डर) सिंहासनासीन हुआ। वह इतिहास में 'अलेक्जैण्डर महान्' के नाम से प्रख्यात है, कारण अपने अल्पकालिक जीवन ही में उसने मकदूनिया (मेसिडोनिया) जैसे एक छोटे-से राज्य के झंडे के नीचे सारे यूनान को लाकर न केवल ग्रीस की राजनीतिक शक्ति ही को पुनर्संगठित कर दिया, प्रत्युत एशिया कोचक, मिस्र, ईरान, आदि को जीतकर इतिहास में पहली बार उसने ग्रीक साम्राज्य की एक अपूर्व झाँकी प्रस्तुत कर दिखाई। अलेक्जैण्डर जन्मजात रणकुशल योद्धा था। उसकी गणना संसार के महान् विजेताओं में की जाती है। वह केवल योद्धा ही नहीं था, प्रत्युत अनेक मानवोचित उदात्त गुणों से भी संपन्न था। उसने अपनी शिक्षा-दीक्षा महान् ग्रीक विचारक अरिस्टॉटल से पाई थी और ग्रीक सभ्यता का वह अनन्य प्रेमी और पोषक था। उसकी नौजवान नसों में आरम्भ ही से दिग्विजय की महत्वाकांक्षा की प्रबल उमंगें उमड़ रही थीं। अतः जब उसने ग्रीस पर अपना अधिकार दृढ़ कर लिया, तब फारस के साम्राज्य पर भी चढ़ाई कर दी। अपने इस विजय-अभियाय में एशिया कोचक, उत्तरी मिस्र और फारस को जीतता हुआ वह पंजाब तक जा पहुँचा। उसकी इस महान् दिग्विजय का कुछ हाल पिछले प्रकरण में ईरान के इतिहास के वर्णन के क्रम में दिया जा चुका है। उसके साहसपूर्ण अभियानों का परिणाम यह हुआ कि ग्रीस की सभ्यता का प्रसार दूर-दूर तक हो गया। पंजाब से लौटकर वह बेबिलान पहुँचा। वहीं तेंतीस वर्ष की अवस्था में अचानक विषम ज्वर से उसकी मृत्यु हो गई (३२३ ई० पू०)।

अलेक्जैण्डर महान् के मरते ही उसका साम्राज्य तीन टुकड़ों में विभक्त हो गया। वे थे—(१) मकदूनिया, जो दिमित्रस के पुत्र एंटीगोनस गोनाटस के अधीन था; (२) सीरिया, जिसमें पश्चिमी एशिया का अधिकतर भूभाग सम्मिलित था और जिसे सिल्युकस के उत्तराधिकारियों ने अपने कब्जे में कर रक्खा था; और (३) मिस्र, जिस पर टालमी वंश ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। परन्तु ग्रीस की शक्ति के अब वस्तुतः गिने-चुने दिन बाकी रह गए थे, कारण पश्चिम में रोमन साम्राज्य के रूप में एक नई शक्ति का उदय हो चुका था। उस नवोदित शक्ति के आगे ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी की समाप्ति से पूर्व ही ग्रीस की राज्य-शक्ति का किला सदा के लिए ढह पड़ा, यद्यपि संस्कृति और ज्ञान के क्षेत्र में यूनान अब भी गुरुपद पर बना रहा।

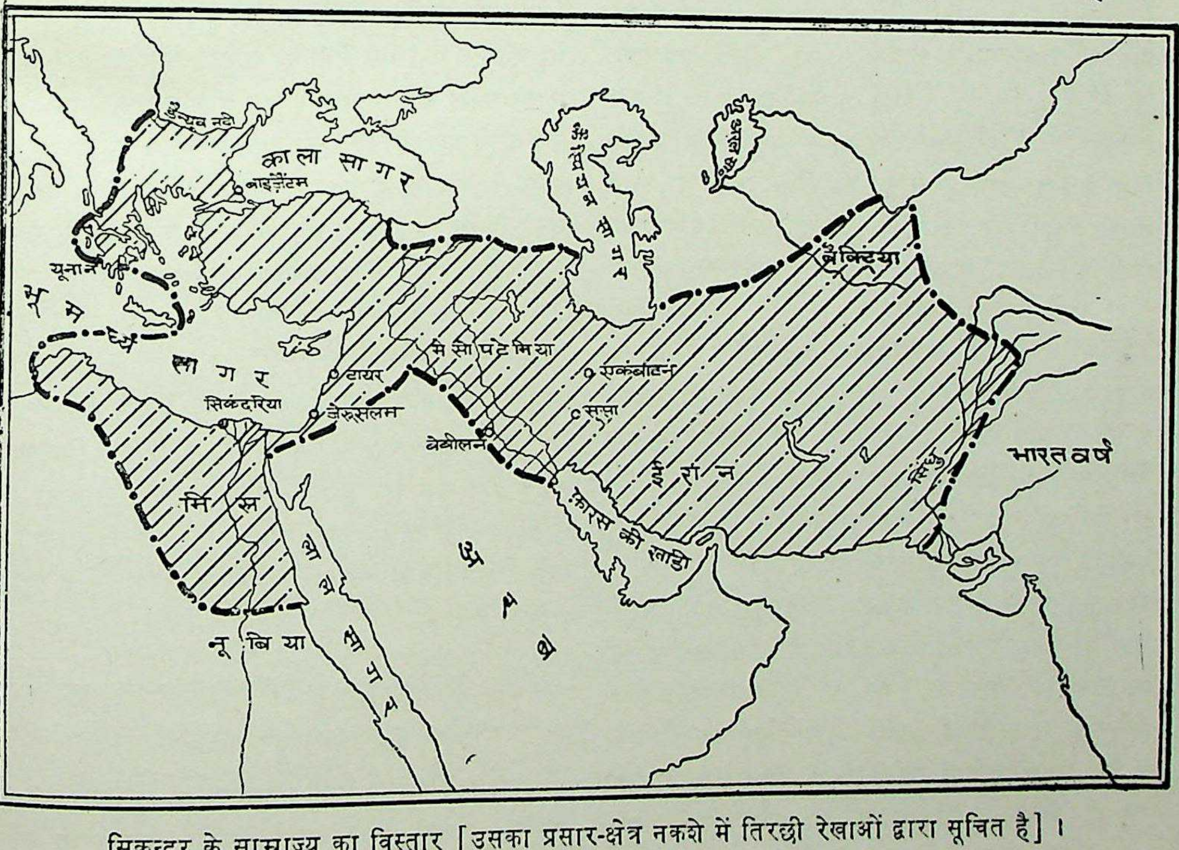

सिकन्दर के साम्राज्य का विस्तार [उसका प्रसार-क्षेत्र नकशे में तिरछी रेखाओं द्वारा सूचित है]।

सभ्यताओं का उदय—(६)

प्राचीन यूनान की सांस्कृतिक साधना

पिछले अध्याय में प्राचीन ग्रीस के राजनीतिक उदय एवं अवसान की गाथा संक्षेप में सुनाई जा चुकी है। किन्तु इस राजनीतिक उतार-चढ़ाव की कहानी से कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथा गौरवगरिमामय तो है संस्कृति के विशद प्राङ्गण में ग्रीक जाति की व्यापक साधना और कमाई की वह अजरामर गाथा, जोकि इतिहास के पृष्ठों पर सदा के लिए उज्ज्वल अक्षरों में अंकित हो चुकी है। तो फिर आइए, प्रस्तुत प्रकरण में उसी गौरवकथा का सारांश प्रस्तुत करें।

समय की गति के साथ देश और जातियों के उत्थान-पतन का क्रम भी चलता रहता है। 'यूनान, मिस्र, रोमा, सब मिट गए जहाँ से'—इस पंक्ति में कवि ने यही भाव ध्वनित किया है। जो यूनान कभी सूर्य की भाँति चमका था, आज उसकी कहानी भर रह गई है—उसकी उस गौरवगाथा का पता हमें केवल उसके प्राचीन साहित्य तथा पुरातत्त्व-सामग्री ही से लगता है।

किसी भी देश की संस्कृति वहाँ के प्राकृतिक वातावरण के साथ घने रूप से संबद्ध रहती है। यूनान के सम्बन्ध में भी यह बात विशेष रूप से लागू होती जान पड़ती है। योरप के तीन दक्षिणी पठारों में यूनान अंतिम पठार है। इसके पश्चिम में 'आइओनियन समुद्र' और पूर्व में 'ईजियन समुद्र' है। यूनान का समुद्रतट झालर की भाँति कटा-फटा है। प्राचीन यूनान में उक्त दोनों समुद्रों में स्थित द्वीप भी सम्मिलित थे। इस सम्मिलित प्रदेश को उसी तरह 'बृहत्तर यूनान' का नाम दिया जाता था, जिस तरह कि जावा आदि द्वीपसमूहों सहित भारत को 'बृहत्तर भारत' कहा जाता था।

इस देश की नदियाँ उथली हैं, जो सिंचाई के काम की नहीं हैं। मैदान भी यहाँ कटे-फटे हैं। भूमध्यसागरीय जलवायु होने से अंगूर, सेब, नाशपाती, नारंगी, जैतून, अंजीर, अखरोट, नींबू, आदि फल प्रचुरता से यहाँ उत्पन्न होते हैं। कृषि की फसलों में कठिनाई से कुछ गेहूँ, जौ, चना, तम्बाकू भी उत्पन्न होते हैं। भेड़-बकरियों तथा अन्य पालतू ढोरों के लिए यहाँ अच्छी घास उत्पन्न होती है। इसलिए ये जानवर बहुतायत से यहाँ पाले जाते हैं। धातुओं में जस्ता और चाँदी काफी मात्रा में मिलती है। इन प्राकृतिक विशेषताओं के कारण ही यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन और सामुद्रिक व्यापार हो गया। ये लोग सदैव बाहरी देशों में घूमते-फिरते रहे, जिससे तरह-तरह की संस्कृतियों से इनका संपर्क होता रहा। ग्रीक लोगों के जीवन का विकास उनके देश के वातावरण और निजी स्वभाव के अनुकूल जो हुआ है, उसकी उनकी संस्कृति में पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिए, हम वहाँ एक प्रख्यात पर्वत-शिखर 'ओलिम्पस' को ही लें। इस पर्वत का यूनान के सांस्कृतिक विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है। आजकल ओलिम्पक खेलों का इतिहास इसी पर्वत से शुरू होता है। इस हिमाच्छादित पर्वत का यूनान में वही महत्व रहा है, जो भारत में हिमालय का है!

यूनानी संस्कृति के प्रसार की तीन प्रमुख धाराएँ :: 'एकियन', 'इओनिक' और 'डोरिक'

भारतवर्ष में जिस समय महाभारत का युद्ध चल रहा था, कहते हैं, उन्हीं दिनों आर्यों का एक दल यूराल पर्वतों

को पार करता हुआ रूस के दक्षिणी भाग से भूमध्य-सागर की ओर बढ़ रहा था। इस समय भूमध्यसागर के पूर्वीय अंचल में परिपक्व ईजियन संस्कृति का साम्राज्य था, ठीक उसी तरह जिस तरह कि भारत में आर्यों के प्रसार से पहले द्रविड़ों की संस्कृति का प्रभुत्व था। भारत में आर्य समय-समय पर क्रमशः तीन धाराओं में फैलते दिखाई दिए थे। उन तीनों धाराओं के रहन-सहन में काफ़ी अन्तर था। वे लोग द्रविड़ों की संस्कृति से स्वयं प्रभावित हुए थे और उनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा था। बदले में उन्होंने अपना सामना करनेवालों को भी प्रभावित किया था तथा अंत में उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर उन्हें अपना दास बना लिया था, या अपने में आत्मसात् कर लिया था! ठीक इसी प्रकार यूनान में भी तीन प्रमुख धाराएं उत्तर-पूरब से फैलीं। पहली धारा उज्जवल-केशी 'ऐकियन' लोगों की थी, जिन्होंने ईजियन संस्कृति को इतनी शीघ्रता से अपना लिया कि वे उनके अंग जैसे बन गए। दूसरी धारा 'इओलिक' लोगों की आई, और तीसरी उन सब से अधिक शक्तिसंपन्न एवं उग्र 'डोरिक' लोगों की, जिन्होंने पूर्वोल्लिखित ईजियन संस्कृति को पराभूत कर उसके अच्छे अंशों को अपने में आत्मसात कर लिया और इस प्रकार अपने से पहले के लोगों को अपने में मिलाकर नए यूनान का निर्माण किया। इस कार्य के पूर्ण होते-होते लगभग एक हजार वर्ष लग गए।

यूनान पर भारत का बहुमुखी प्रभाव

यूनानी संस्कृति का इतिहास ईस्वी पूर्व के एक हजार वर्षों के अंचल में पसरा हुआ है, जिसमें आरंभिक सात सौ वर्ष विशेष महत्व के हैं। प्राचीन यूनान ने अन्य देशों से जो कुछ अपनाया तथा जो कुछ भी महत्वपूर्ण देन उसने संसार को दी, उसका संबंध इन सात सौ वर्षों से ही है। इस युग में यूनान ने अपने समाज, राजतंत्र, धर्म, व्यापार, कला-कौशल, विज्ञान, साहित्य और दर्शन का बहुमुखी विकास किया और संसार को वे विचारधाराएँ दीं, जिनकी भित्ति पर आज का पाश्चात्य जीवन विकसित हुआ है। यूनानी संस्कृति विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण और समन्वय के परिणामस्वरूप विकसित हुई थी। भारत ने भी उस पर अपनी अमिट छाया छोड़ी है। हमारे देश के

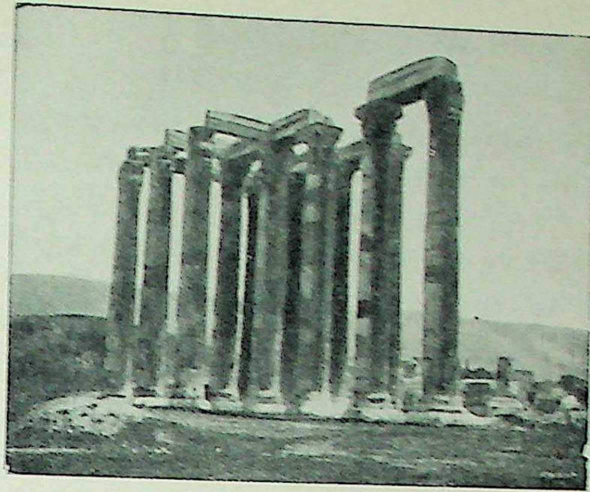

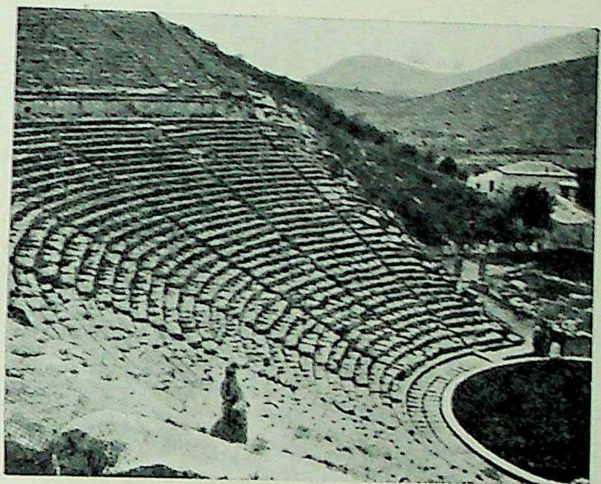

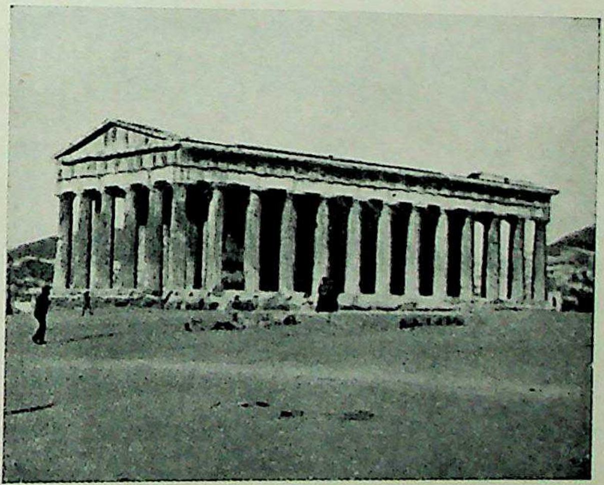

प्राचीन ग्रीस के कुछ गौरव-स्मारक :: (ऊपर) ओलिम्पिया में स्थित जीअस के प्रसिद्ध मंदिर के ध्वंसावशेष। (बीच में) एपिडॉरस की प्रख्यात रंगभूमि। (नीचे) थीसिऑन का सुन्दर देवालय।

चिकित्सा-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, गणित, ज्योतिष एवं सांख्य न्याय, वैशेषिक, योग और वेदान्त आदि दर्शनों का स्पष्ट प्रभाव प्राचीन ग्रीस पर पड़ा है, जिसके साक्षी वहाँ के एनेक्षिमेंडर (६१०-५४५ ई० पू०), एनेक्षिमेनीस (५९०-५२५ ई० पू०), थेल्स (६४०-५५०ई० पू०), एनेक्षिगोरस (५००-४२८ ई० पू०), पाइथागोरस (५७०-५०० ई० पू०), जेनोफीनीज (५००-४०० ई०पू०), हिरेक्लिटस, एम्पिडोक्लीज, डेमोक्रीटस (४६०-३७० ई० पू०), सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०), प्लेटो (४२७-३६० ई० पू०), एवं कि यूनान की दार्शनिक विचारधाराओं में 'पेरिपेटेटिक' विचारधारा की न्याय से, 'आयोनिक' का वैशेषिक से, 'प्लेटोनिक' का वेदान्त से, 'इटेलिक' का सांख्य से और 'स्टोइक' का योग से अत्यधिक साम्य है। पीकॉक ने 'इंडिया इन ग्रीस' नामक ग्रंथ में अनेक प्रमाणों द्वारा यूनान पर भारत की बहुमुखी छाप को सिद्ध कर दिखलाया है। वहाँ के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, देवी-देवता, नामकरण की विधि, त्योहार-उत्सव, एवं काव्य-साहित्य आदि सभी बातें इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

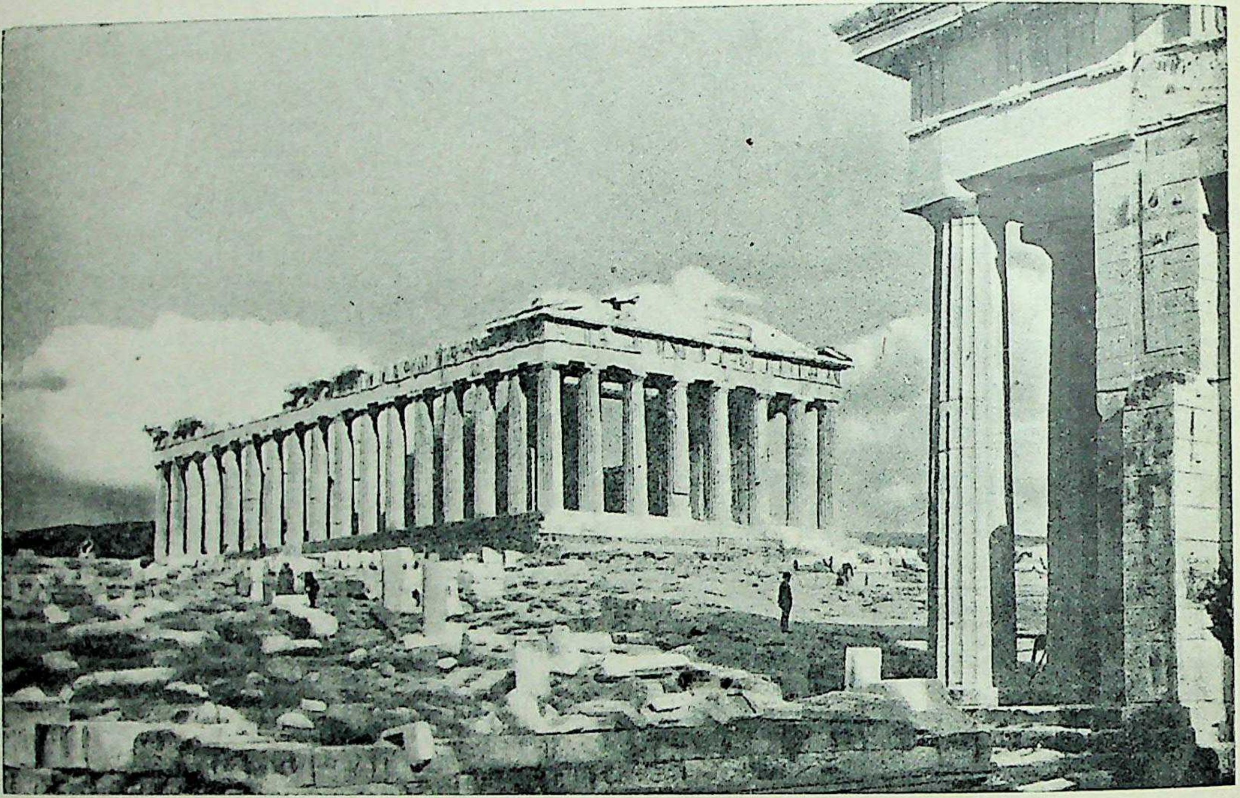

ग्रीक संस्कृति के गौरव-प्रतीक के रूप में स्थित एथेन्स के 'पार्थेनन' नामक देवालय के भग्नावशेषों की भव्य झाँकी।

अरिस्टॉटल (३२४-३२२ ई० पू०) आदि के विचार हैं। पश्चिम के विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है कि यूनान और भारत के प्राचीन दर्शन, विज्ञान आदि संबंधी विचारों का साम्य अप्रासंगिक नहीं है।

यूनान ही की जनश्रुति के अनुसार थेल्स, एम्पिडोक्लीज, एनेक्षिगोरस और डेमोक्रीटस ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष तक पहुँचे थे। सर विलियम जोन्स ने सुकरात की जैमिनी से, अरस्तू की गौतम से, प्लेटो की व्यास से, पाइथागोरस की कपिल से और जेनो (४९०-४२० ई० पू०) की पतंजलि से समानता दिखलाते हुए यह बताया है

सुकरात से पहले के यूनानी दार्शनिक मानवेतर बहिर्जगत् के अध्ययन में लगे रहे। उनका चिन्तन भौतिक वस्तुओं का चिंतन था। उनका दर्शन, धर्म और काव्य केवल समाज ही तक सीमित था, वह अन्तर्मुखी नहीं हो पाया था। प्रकृति की भौतिक सत्ताओं की उपासना के साथ-साथ अपने यशस्वी पुरखाओं के महान् चरित्रों का सामाजिक गान भी उनमें चलता था। हमारे यहाँ की सिंहवाहिनी दुर्गा की भाँति, वे भी गुहावासिनी योगिनी 'नेमेसिस' के रूप में प्रकृति की उपासना करते थे। इस देवी के मंदिर कभी-कभी मानवीय बस्तियों और राजप्रासादों के निकट भी बनाए जाते

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

थे, किन्तु अधिकांशतः वे उच्च गिरिशिखरों पर स्थापित होते थे। इस देवी का भूत-प्रेतों पर अधिकार माना जाता था और उसकी उपासना के साथ वृक्षों तथा ध्वज-स्तंभों का भी संबंध था। इन ध्वज-स्तंभों पर प्रायः उसके प्रतीक अंकित किए जाते थे।

ग्रीक लोगों में मृत व्यक्ति जला दिए जाते थे और उनकी राख बर्तनों में बंद करके कभी-कभी मंदिरों में स्थापित कर दी जाती थी, तथा उसके ऊपर मृतक की संगमरमर की मूर्ति अंकित कर दी जाती थी। इस प्रकार के पितरालय भारत में भी मिलते रहे हैं। भास के 'प्रतिमा नाटक' में इसका उल्लेख आता है। यूनानियों में विशेष अवसरों पर पितरों की पूजा होती थी और उनके साथ-साथ देवताओं की भी अर्चना की जाती थी। देवता अमर, सर्वव्यापी, एवं सर्वान्तर्यामी समझे जाते थे। पितरों और देवों की कृपा प्राप्त करने के लिए उन्हें बलि दी जाती थी और उनके भोग बाँटे जाते थे, जिनमें मांस, रोटी, मधु, फल, पनीर, आदि पदार्थ सम्मिलित होते थे। उत्सवों के अवसरों पर मछलियाँ भी पकती थीं। पूजा-अर्चना के समय ऊनी-सूती वस्त्रों और रंगीन कांच के आभूषणों को धारण किया जाता था तथा सितार और बाँसुरी के साथ संगीत और नृत्य का भी क्रम चलता था। इन गीतों में देवों की वंदनाएँ, विवाह आदि के मंगल-गीत, पितरों और यशस्वी पूर्वजों के गीत होते थे। अधिकतर धरती माता, द्यौपिता आदि के भी गीत गाए जाते थे।

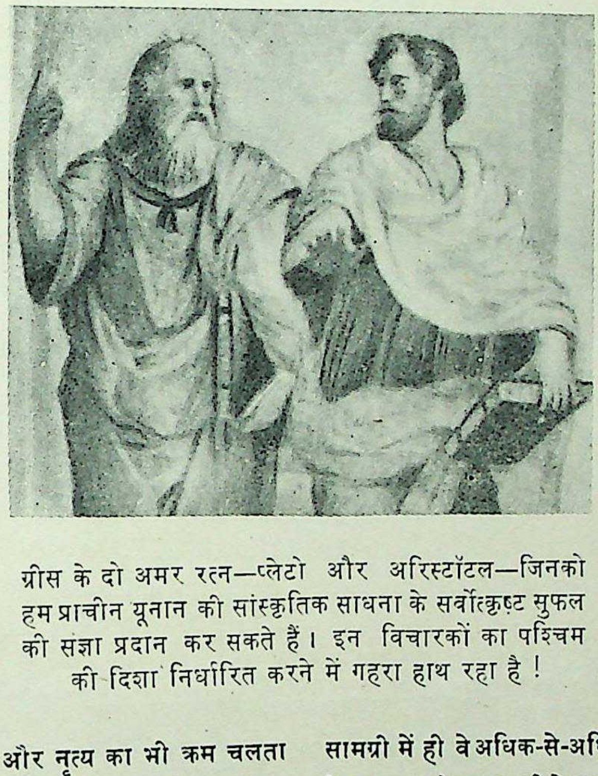

ग्रीस के दो अमर रत्न—प्लेटो और अरिस्टॉटल—जिनको हम प्राचीन यूनान की सांस्कृतिक साधना के सर्वोत्कृष्ट सुफल की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। इन विचारकों का पश्चिम की दिशा निर्धारित करने में गहरा हाथ रहा है!

ग्रीक देवी-देवता

भारतीय इन्द्र और द्यौपिता का ही समकक्ष यूनान में 'जीअस' नामक देव था, जो उनका मुख्य कुल-देवता था। वह आकाश का स्वामी एवं गर्जन, आँधी और विद्युत् का प्रेरक समझा जाता था। उसका सिंहासन ओलिम्पस पर्वत पर था तथा उसकी सभा में हेर, एथिना, अपोलो, आर्टेमिस, हर्मिज, हेफेस्टस, एफ्रोडाइट, पोसीडान, डियोनिसस आदि अन्य अनेक देवी-देवता विद्यमान रहते थे। जिसे हमारे यहाँ वरुण कहते हैं, उसी को यूनानी लोग पोसीडान कहते थे। वह समुद्र और भूकंपों का देवता माना जाता था और अश्वों पर भी उसका अधिकार समझा जाता था। उनका अन्य एक देवता डियोनिसस था, जो सुरा और उन्माद का स्वामी था। अपोलो (या सूर्य-देवता) का मल्लविद्या, संगीत, वैद्यक, धनुर्विद्या और काव्य पर अधिकार समझा जाता था।

यूनानी कला का स्वर्ण-युग

यूनान के पर्वतों में संगमरमर का बाहुल्य था और जस्ता सुलभ होने से काँसे को भी वे लोग आसानी से तैयार कर लेते थे। मिट्टी भी सब जगह सुलभ थी। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक वस्तुओं से वे लोग रंग भी तैयार कर लेते थे। इन्हीं सामग्रियों के उपयोग से यूनानियों ने अपने देवताओं की मूर्तियाँ, उनके मंदिर, अपने भवन तथा पात्र, चित्र, आदि तैयार किए। इन वस्तुओं को तैयार करने में यूनानियों को प्रचुर धन व्यय करना पड़ता था, इस लिए आकार-प्रकार का विस्तार बढ़ाने की अपेक्षा कम-से-कम स्थान और सामग्री में ही वे अधिक-से-अधिक सुन्दर भावाभिव्यक्ति करने के अभ्यस्त हो गए। इसी से उनकी कला में पवित्र रूपरेखाओं में निबद्ध संयमशील आदर्श एवं भावनाओं तथा सौन्दर्यानुभूतियों का सानुपातिक दिव्य सौष्ठव पाया जाता है।

उनकी कला ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचते दिखाई देती है। यह वह युग था, जबकि एथेन्स का गौरव-सूर्य प्रखर मध्याह्न में चमक रहा था और पेरीक्लीज (४६०-४२९ ई० पू०) के संरक्षण में ग्रीस में ललित कलाएँ अपूर्व रूप से फूल-फल रही थीं। इस युग में कलाकारों को वहाँ वही सम्मान प्राप्त था, जो कि दार्शनिकों और कवियों को मिलता था। इस युग

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में एथेन्स में चारों ओर का धन नदियों की धाराओं की तरह खिचा चला आ रहा था । अभी-अभी एथेन्स सलमिस के युद्ध (४८० ई० पू०) में ईरान को हरा चुका था और ग्रीस के अधिकांश छोटे-छोटे नगरों का संघ उसके केन्द्र में बँध चुका था। अतः दूर-दूर से लोग अपने झगड़ों का फैसला कराने के लिए एथेन्स पहुँचते थे । कहते हैं, इस समय एथेन्स में प्रति दिन ६ हजार न्यायाधीश काम करते थे ! इतना बढ़ा-चढ़ा था उसका वैभव कि सामान्य जन भी शिष्ट जनों के साथ-साथ राजनीति, दर्शन एवं ललित कला आदि में उत्साह से भाग लेते थे । उस समय धन-वैभव, शक्ति ओर स्वतन्त्र चिंतन के कारण एथेन्स का जीवनस्तर असाधारणतया सुसंस्कृत था ।

पेरीक्लीज के संरक्षण में एथेन्स में पार्थेनन और इरेक्थियम जैसे भव्य भवन बने थे। इस युग के प्रसिद्ध कलाकारों में माइरान (४८० ई० पू०), पॉलिक्लीटस (४०० ई० पू०), फिडिआस, स्कोपास, प्रेक्सीटीलीज (४०९-३३० ई० पू०), लाइसिपस, पॉलिग्नोटस, पैरेहेसियस, अपोलस, आदि के नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। पॉलिग्नोटस भवन निर्माण-कला का विशेषज्ञ था। पैरेहेसियस, अपोलस आदि रंगों के सम्मिश्रण करनेवाले निपुण कलाकार थे। इन लोगों ने फीनीशियनों के हाथ बेबिलान, असीरिया और मिस्र की कलाएँ सीखीं, उनके रूपचित्र अपनाए और उनके शुल्वसूत्रों का उपयोग मिट्टी, संगमरमर एवं रंगों के मिश्रण से बनाई जानेवाली वस्तुओं में किया। ये नील-लोहित-अरुण रंगों का विशेष रूप से उपयोग करते थे। अपने देश के वातावरण में कुहासे के अभाव में इनकी स्थापत्य तथा मूर्ति-कलाओं पर उत्तरी देशों की रोमांचक रहस्यमयी भावनाओं के बजाय दिव्य सरलता से युक्त देश-प्रेम एवं शरीर और मन की स्वस्थ दशाओं की एकता की ही छाप पड़ी है ।

मूर्ति-कला में संगमरमर के उपयोग द्वारा आश्चर्य और विस्मय के भावों तथा नाटकीय क्रियाओं की बृहत् रूप में भावाभिव्यक्ति कर सकने में माइरान को सब से अधिक सफलता प्राप्त हुई। उसकी बनाई हुई 'डिस्कोबोलस' की मूर्ति संसार-प्रसिद्ध है ।

पॉलिक्लीटस ने काँसे की मूर्तियाँ बनाई, जिनमें तक्षण-कला की यूनानी विशेषताओं की दृष्टि से सब से श्रेष्ठ मूर्ति 'डोरिफोरस' है, जिसको वहाँ के कलाकार शताब्दियों तक आदर्श मानकर चलते रहे हैं ।

किन्तु यूनानी मूर्ति-कला में सब से महत्वपूर्ण नाम फीडिआस का है, जिसने अपनी मूर्तियों में यूनानी धर्म और जीवन के आदर्शों की दिव्य अभिव्यक्ति की है। उसकी बनाई हुई 'एथिना' और 'जीअस' की सोने तथा हाथीदाँत की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं (दे० इस विभाग के आरंभ में पृ० १५५२ का रंगीन चित्र)। उसकी शैली का अनुकरण बाद के अनेक कलाकारों ने किया। उसी की शैली में बाद को वीनस की वह सुन्दर मूर्ति बनी, जो कि अब पेरिस में है ।

घनीभूत नाटकीय भावस्थितियों को मूर्तिमान करने में स्कोपास ने विशेष ख्याति प्राप्त की और भिन्न-भिन्न मनोदशाओं को चित्रित करने

एथेन्स का प्रसिद्ध कवि और दुःखान्त-नाटककार सोफोक्लीज ।

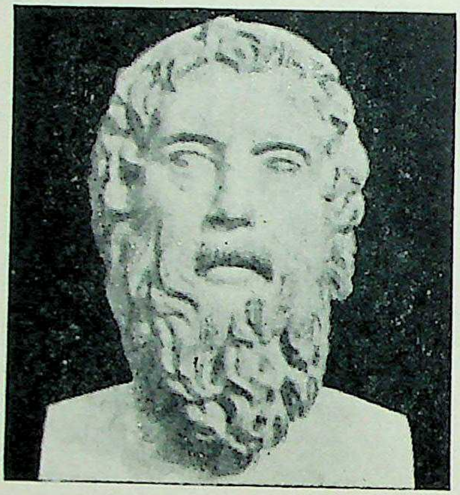

प्राचीन यूनान का सब से मशहूर प्रहसन-लेखक एरिस्टाफेनीज ।

ग्रीक दुःखान्त नाटकों का अन्य एक महान् रचयिता यूरीपीडीज ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में प्रैक्सीटीलिज ने। प्रैक्सीटीलिज की बनाई हुई हर्मिज की मूर्ति यूनानी पौरुष की सब से सुन्दर प्रतीक मानी जाती है।

इसके बाद अलेक्जैण्डर के समय का प्रख्यात कलाकार लाइसिपस आता है, जिसकी बनाई हुई 'हरक्यूलीज' और 'पदत्राण बाँधते हुए जेसन' की मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। यूनानी कला ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में अधिक से अधिक ऊँची उठती है। तीसरी शताब्दी ई० पू० उसमें परिवर्तन का क्रम शुरू होता है और रोमनों के आक्रमण के पश्चात् उसमें मानवीय दुःखवाद की बहुलता हो जाती है।

घरों की रचना और स्त्रियों का जीवन

यूनानी लोग मिट्टी, संगमरमर और धातु का उपयोग केवल मंदिरों और मूर्तियों के बनाने में ही नहीं, प्रत्युत अपने घरों के बनाने में भी करते थे। वहाँ के महाकाव्यों में आए हुए विवरणों और खुदाई द्वारा प्राप्त पुरातत्त्व-विषयक सामग्री से मालूम होता है कि घरों को बनाने में वे लोग लकड़ी का उपयोग बहुतायत से करते थे। प्राचीन यूनानियों के घर आयताकार दुमंजिले हुआ करते थे। वे अधिकांशतः लकड़ी और ईंटों के बने होते थे। ईंटें आग में पकी नहीं होती थीं, बल्कि धूप में सुखाई जाती थीं। निचली मंजिल में केवल प्रवेशद्वार होता था। ऊपरी मंजिल में एक-दो खिड़कियाँ होती थीं, जो गलियों की तरफ खुलती थीं। गलियाँ सीधी नहीं, बल्कि घुमावदार और तंग होती थीं। खिड़कियों से लोग गलियों में कूड़ा-कबाड़ फेंक देते थे। घरों में खाना पकाने और आग तापने भर का प्रबन्ध था। चिमनियों की जगह छत पर छेद होते थे, जिसकी वजह से धुआँ कमरे में भर जाता था। इन्हीं घरों में रहकर स्त्रियाँ काम करतीं, चर्खा कातती, कपड़ा बुनतीं, और घर की देखभाल करती थीं। किसी भी बाहरी आदमी के सामने (चाहे वह प्रीतिभोज में ही क्यों न निमंत्रित हो) स्त्रियाँ कभी नहीं आती थीं। घर से बाहर जाने का अवसर उन्हें केवल धार्मिक उत्सवों के समय ही मिलता था, या फिर नाटकों के अभिनय के समय। नाटकों में भी उन्हें दुःखान्त नाटक ही देखने की आज्ञा थी—सुखान्त प्रहसन मर्यादा की दृष्टि से उनके लिए छिछोरी चीजें समझी जाती थीं।

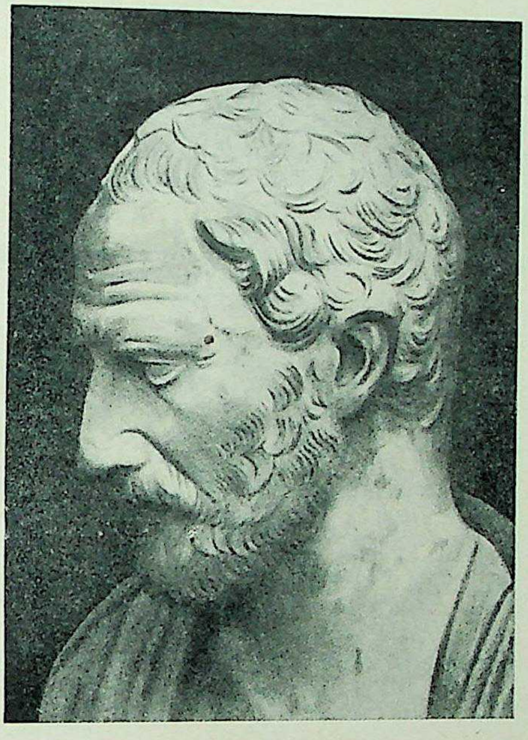

प्राचीन ग्रीस का महान् वक्ता डिमास्थिनीज, जिसकी टक्कर के भाषण देनेवाले संसार में गिने-चुने व्यक्ति ही हुए हैं!

दास-प्रथा

घर-गृहस्थी तथा बाहर के कामों में हाथ बँटाने के लिए दास होते थे, जिनमें यूनानी भी होते थे और बाहर के लोग भी। जब कभी कोई नगर जीता जाता, तो उसके निवासी—विशेषकर बच्चे—दास बना लिए जाते थे। उनमें जो उद्योग-धन्धों को जानते, वे तो शहर में रख लिए जाते थे और जो कुछ भी नहीं जानते थे, उन्हें चाँदी की खानों में काम करने को भेज दिया जाता था। भत्ते पर ये घरेलू दास दूसरों का काम करने के लिए भी भेज दिए जाते थे। यदि मालिक की कृपा हुई अथवा कोई दास अपना मूल्य चुका सका, तो वह स्वतंत्र कर दिया जाता था। स्वतंत्र होने पर वह 'मेटिक' कहलाता था।

यूनान ने अपने नगरों में अनेक प्रकार के राज्य-तंत्रों का प्रयोग किया। गण-तंत्र, समिति-तंत्र, जन-तंत्र, राज्य-तंत्र, सभी वहाँ पर चले, किन्तु दास-प्रथा सब में रही। नागरिकों में ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-काव्य-नाटक, ललित कला, आदि का विकास हो सके और उन्हें उसके लिए पर्याप्त अवसर मिल सके, इसलिए अपने घरेलू तथा सामाजिक उद्योग-धंधों को सँभालने के लिये उन्होंने दासों की प्रणाली चलाई। बिना दासों के उनका काम ही नहीं चल सकता था। यह दूसरी बात थी कि उनके साथ भी सद्व्यवहार किया जाता था। किन्तु राज्य-तंत्र और समाज-तंत्र में उन्हें नागरिक अधिकार नहीं दिए जा सकते थे। न नगरों में बसे हुए विदेशियों को ही ये अधिकार

प्राप्त थे। यूनान के नगरों में जिस समय जनसत्तात्मक तंत्र चल रहे थे, उस समय उन नगरों की जनसंख्या का दो-तिहाई भाग दासों का था और कुछ भाग विदेशियों का भी रहा ही होगा। इस प्रकार यूनान के जनसत्तात्मक राज्यतंत्र श्रीमान-धीमानों के ही जनतंत्र थे, जिनमें ये लोग प्रत्यक्ष रूप से भाग लेकर वाद-विवाद करते, चुनाव द्वारा कर्मचारियों को चुनते और जनता की सहायता से प्रधान अधिकारी को स्थानच्युत भी कर सकते थे।

साहित्य, दर्शन, इतिहास

यूनानी समाज को इस दशा तक लाने में वहाँ के साहित्य, दर्शन, काव्य, विज्ञान आदि का महत्वपूर्ण हाथ था। साथ ही वहाँ के सुधारकों, वक्ताओं, आदि ने भी उसे आगे बढ़ाने में गहरा हाथ बँटाया था।

यूनान के साहित्यिक इतिहास में प्राचीनतम नाम होमर और हैसियड के हैं, जिनके महाकाव्यों का वहाँ वही महत्व रहा है, जो भारत में रामायण और महाभारत का है। होमर यूनान के वाल्मीकि और हेसियड व्यास कहे जा सकते हैं। 'ईलियड' और 'ओडेसी' नामक अपने महाकाव्यों में होमर ने प्राचीन जनवाणी में चली आती हुई वीरगाथाओं, जन-विश्वासों एवं धार्मिक आदर्शों को सुव्यवस्थित संगीतप्रवाहमय साहित्यिक रूप दिया है। उनके महाकाव्य जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करनेवाले महान् ग्रंथ हैं। होमर की जन्मभूमि निश्चित नहीं है। लगभग सात भिन्न नगर उन्हें अपनाते हैं। उनका समय भी निश्चित नहीं—वह प्रायः १००० से ८०० ईस्वी पूर्व के बीच के माने जाते हैं। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व दो शताब्दियों के बीच फैला हुआ है।

हेसियड को ईस्वी पूर्व की आठवीं शताब्दी का ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाता है। वह बीओलिया प्रदेश के हेलिकान पर्वतशिखर पर स्थित ऐस्क्रा के निवासी थे। उन्होंने अपने काव्य में मानव-जीवन के प्रति दिन के व्यावहारिक चित्रों को अंकित किया है।

ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी से यूनानी साहित्य में कई प्रकार की शैलियाँ चलते हुए हम देखते हैं। इस समय से देश-प्रेम,

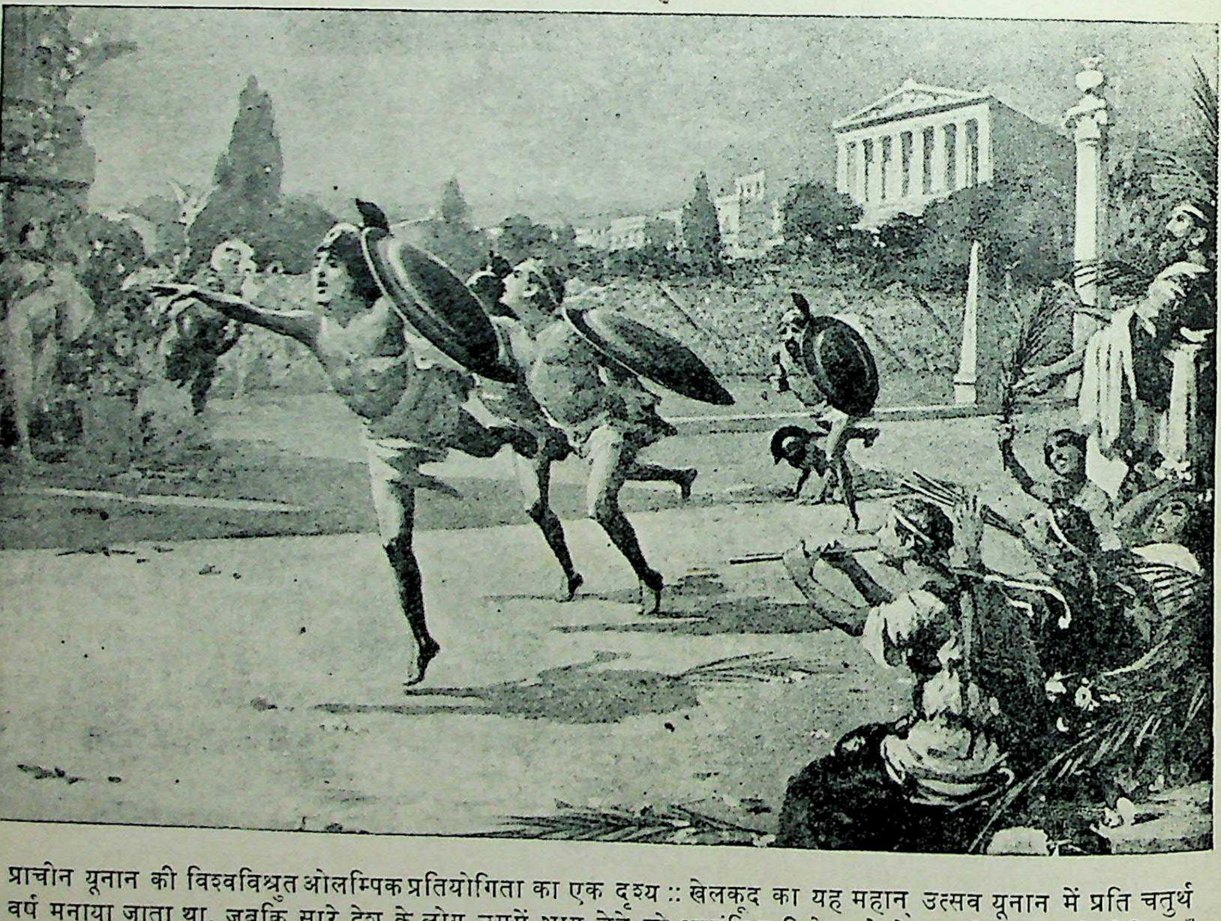

प्राचीन यूनान की विश्वविश्रुत ओलम्पिक प्रतियोगिता का एक दृश्य :: खेलकूद का यह महान् उत्सव यूनान में प्रति चतुर्थ वर्ष मनाया जाता था, जबकि सारे देश के लोग उसमें भाग लेने को आमंत्रित किये जाते थे। इनमें मुख्य प्रतियोगिताएँ पैदल दौड़, घुड़दौड़, रथों की दौड़ तथा कुश्ती आदि की होती थीं। इनमें जो विजयी होते थे, वे राष्ट्रवीर माने जाते थे।

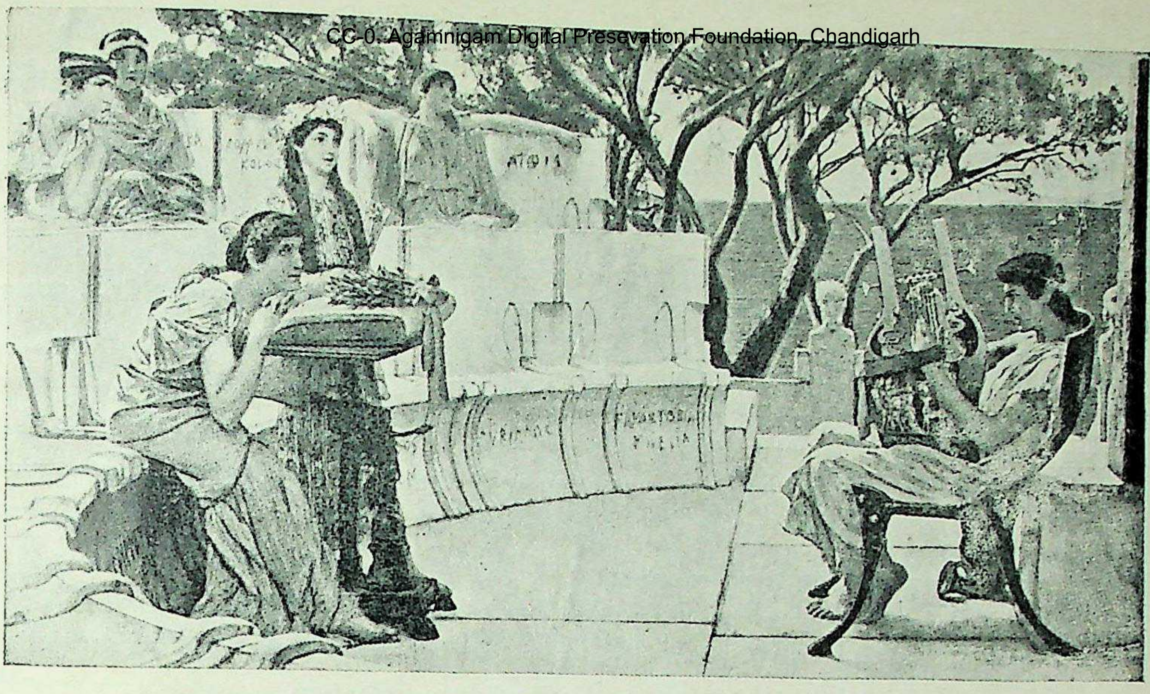

प्राचीन यूनानियों की साहित्य-साधना की एक झाँकी :: इस काल्पनिक चित्र में आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व की प्रसिद्ध यूनानी कवियत्री सैफो के कवितापाठ का दृश्य अंकित है ।

युद्ध, राजनीति, दर्शन-शास्त्र, इतिहास, विज्ञान, नाटक, काव्यशास्त्र, वैद्यक आदि सभी विषयों के ग्रंथ रचे जाने लगे। पद्य में छप्पय, मुक्तगीति, गाथागीति, शोकगीति, विजयगीति आदि की नई-नई शैलियाँ चलीं । आर्किलोकस, मिम्नैर्मस और धर्मशास्त्री सोलन आदि ने इन शैलियों से काम लिया। मुक्तगीति के क्षेत्र में प्रसिद्ध संगीतज्ञ कवि पिंडार (५२२-४४३ ई० पू०) और लोकप्रिय कवियत्री सैफो (६०० ई० पू०) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

ग्रीक दुःखान्त नाटकों के रचयिताओं में इस्कीलस, सोफोक्लीज (एथेन्सवासी, जन्म ४९५ ई० पू०) तथा यूरीपीडीज के नाम प्रख्यात हैं और सुखान्त नाटक रचनेवालों में एरिस्टाफेनोज का नाम अधिक प्रसिद्ध है। उसने अपने नाटकों में प्रहसनों के रूप में समसामयिक सामाजिक जीवन की कुरीतियों की प्रभावशाली आलोचनाएँ की हैं। इन प्रहसनों का नाट्यशालाओं में विधिवत् अभिनय भी किया जाता था ।

दार्शनिकों में एनेक्षिमेंडर ने बतलाया कि जगत् के नियन्ता का स्वरूप असीम है—उसे निश्चित नहीं किया जा सकता । हिरेक्लिटस ने कहा कि विश्व और ईश्वर एक हैं, अनेकता मिथ्याज्ञान का आभास है, तथा मानस शक्ति और वैयक्तिक अस्तित्व दो विभिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। एम्पिडोक्लीज ने कहा कि प्रकृति अनादि अनन्त है। पाइथागोरस ने पदार्थ की अपेक्षा रूपों को प्रधानता दी । उसने संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन से विश्व में सानुपात का तत्त्व समझा और प्रत्येक क्षेत्र में उसका उपयोग किया । उसने भारतीय शुल्व-सूत्रों का उपयोग रेखागणित में किया, पंचतत्त्वों को माना और पुनर्जन्म में विश्वास प्रकट किया । थेल्स वैज्ञानिक दार्शनिक था । ५८५ ईस्वी पूर्व जो ग्रहण लगा था, उसकी उसने पहले ही से ठीक-ठीक रूप में भविष्यवाणी कर दी थी । पंचतत्त्वों में उसने जल तत्त्व की प्रधानता मानी थी। एनेक्षिमेनीस वायु तत्त्व को महत्त्व देता था । ल्यूसीपस (५००-४३० ई० पू०) ने यूनान में परमाणुवाद को व्यवस्थित रूप दिया । इस सिद्धान्त का विकास उसके शिष्य डेमोक्रीटस (४६०-३७० ई० पू०) ने किया। हेपोक्रिटीज ने आयुर्वेदशास्त्र तैयार किया। उसकी प्रमुख रचना 'मेटीरिया मेडिका' भारतीय वैद्यक ग्रंथों के आधार पर बनी थी ।

ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी से ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी तक का समय यूनान में दार्शनिकों, वक्ताओं और अलंकारशास्त्रियों का स्वर्ण-युग माना जाता है । न्यायालयों तथा सभा-समाजों के संभाषणों एवं वादविवादों की चहल-पहल ने इस युग में उच्चकोटि के वक्ताओं को जन्म दिया । इनमें सब से पहला और महत्वपूर्ण नाम सॉक्रेटीज या सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) का आता है। वह सामान्य जनशिक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एवं मानव-सदाचार का विशेष समर्थक था। उसने प्रश्नोत्तर-शैली को अपनाया। उसके प्रश्नोत्तरों को उसके शिष्य प्लेटो या अफलातून ने लिपिबद्ध किया। जनता में भाषण देने की कला में पटु व्यक्तियों में डिमास्थिनीज (जन्म ३८५ ईस्वी पूर्व), लायसियेस, आइसोक्रेटस, आदि के नाम प्रमुख हैं। डिमास्थिनीज में आग उगलनेवाली शक्ति थी। उसकी बुद्धि-प्रतिभा सूक्ष्म थी। वह दूर तक की सोचता था। मकदूनिया का फिलिप जब ग्रीस को लोलुप दृष्टि से देख रहा था, तब इसने अपने भाषणों में ग्रीस की क्षितिज पर मँडरानेवाले उस बवण्डररूपी शत्रु की सूचना बारंबार चेतावनी के रूप में लोगों को दी थी। लेकिन लोग चेते नहीं और परिणाम वही हुआ जो होने को था, अर्थात् ग्रीस पर मकदूनिया का प्रभुत्व हो गया!

यूनान के इतिहासकारों ने देश-देश का खूब भ्रमण किया था, अनेक जातियों और संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया था और पुरातन रहस्यों की विवेकसम्मत व्याख्या करके अपने ग्रंथों को प्रस्तुत किया था। हेकेटियस (जन्म ५४९ ई० पू०) ने यूनानियों के उद्भव और आरंभिक प्रसार का इतिहास लिखा था। हेरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) ने यूनानियों और ईरानियों के युद्ध का इतिहास लिखा। वह यूनान में इतिहास-लेखन का जन्मदाता माना जाता है। उसके बाद थ्यूसीडिडेस (४७१-३९१ ई० पू०) ने स्पार्टा और एथेन्स के युद्ध का इतिहास प्रस्तुत किया।

कानूनी ग्रंथ लिखने में ड्रेको का नाम सब से पहले आता है। उसने परंपरागत यूनानी कानूनों का संकलन ई० पू० ६२१ में किया था। उसके कानून 'ड्रैकोनिक लॉज' कहलाते हैं। फिर आगे चलकर सोलन ने उनमें सुधार किया।

यूनानी भाषा संस्कृत की भाँति अपनी धातुओं के लोच, भावों की बारीकियों तथा समास और समाहार शक्ति के लिए प्रसिद्ध है। उसके गद्य को इतिहास, दर्शन तथा विज्ञान के पारंगत विद्वानों का स्थायी वरदान प्राप्त हुआ है।

प्राचीन यूनान के त्रिशिखर—सुकरात, प्लेटो, और अरिस्टॉटल

यूनानी दार्शनिकों में तीन व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिनकी विचारधाराओं ने सदियों तक योरप के लिए प्रकाशस्तंभ का काम किया। ये हैं सुकरात या सॉक्रेटीज, प्लेटो या अफलातून और अरस्तू या अरिस्टॉटल। ये तीनों प्राचीन यूनान के सांस्कृतिक त्रिशिखर जैसे हैं और यद्यपि उन्हें हुए लगभग ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी उनके विचारों का अनुशीलन आज भी आदरपूर्वक किया जाता है। उनकी वाणी और ग्रंथों ने अध्यात्म, दर्शन, विज्ञान, राजनीति और साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में शताब्दियों तक लोगों को चेतना प्रदान की है।

प्लेटो ने पदार्थ की अपेक्षा रूप को अधिक महत्व दिया। उसने अपने चिन्तन में हिरेक्लिटस, पाइथागोरस तथा सुकरात के विचारों का समन्वय किया और उन्हें अपने ढंग से लिपिबद्ध किया। मानव मनोव्यापारों के अध्ययन के परिणामस्वरूप मनोविज्ञान का वैज्ञानिक आरंभ भी इन तीनों ही के चिन्तन में आरम्भ हुआ है। इनसे पहले के दार्शनिकों के चिन्तन में मनस्तत्त्व को महत्व नहीं मिला था। यह याद रखना चाहिए कि प्लेटो अपनी रचनाएँ एथेन्स की चेतना को लेकर कर रहा था। इसी से उसकी रचनाओं में स्पार्टा को भी एथेन्स के रंग में रँगने की प्रवृत्ति प्रमुख है। किन्तु एथेन्स अपना प्रभुत्व खो चुका था—उसे स्पार्टा जीत चुका था। इसलिए उसका ध्यान इतिहास की वास्तविकताओं पर नहीं रहा। प्लेटो आदर्श राज्य की सृष्टि कर रहा था। वह धन-जन पर राज्य का अधिकार चाहता था, किन्तु विवाह और संपत्ति के इस प्रकार के साम्यवाद के विषय में अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में उसने अपनी विचारधारा बदल दी थी। वह इस बात को मानता था कि मनुष्य के व्यक्तित्व के तीन अंग हैं—ज्ञान, शक्ति और इन्द्रियों की वासना। ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है, शक्ति उसकी सहायक है और इंद्रियजन्य वासना निम्न कोटि की है। समाज में शक्ति ज्ञानी दार्शनिकों के हाथ में रहे, सैनिक उसकी सहायता करें तथा अन्य सामान्य जन सब की सेवा करें, यही उसकी योजना का सार था। यह भारतीय वर्ण-व्यवस्था का यूनानी रूप था। प्लेटो के अनुसार राज्य-शासन के लिए सत्य ज्ञान, शिव ज्ञान और साधन ज्ञान अपेक्षित थे। वह मानता था कि राज्य धीमानों और श्रीमानों के हाथ में रहे।

अरिस्टॉटल, जो कि मकदूनिया के सम्राट् के वैद्य का पुत्र था, अपने समय की वास्तविक शासन-प्रणालियों को आँख खोलकर देख रहा था। इसलिए उसने अपनी रचनाएँ इतिहास के ज्ञान और वास्तविकताओं की व्यावहारिकता को देखते हुए की थी। वह वैधानिक राजतंत्र का समर्थक था। सदाचार और नैतिकता से भी ऊपर उसने राजतन्त्र की व्यवस्था घोषित की थी। एक प्रकार से वह एथेन्स को स्पार्टा के रंग में रँग रहा था और अप्रत्यक्ष रूप से मकदूनिया के साम्राज्यवाद का भी समर्थन कर रहा था। उसका पाश्चात्य विचारधारा पर काफी प्रभाव पड़ा है।